॥ ओ३म् ॥

दयानन्द-यजुर्वेदभाष्य-भास्कर

(महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य की अनुपम व्याख्या)

चतुर्थभाग

(३१-४० अध्याय)

व्याख्याता

श्री पण्डित सुदर्शनदेव आचार्य, एम० ए०

प्रकाशकः

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट

४५५ खारी बावली, दिल्ली-६

फोन : २२९५४७, २६८३६०

संवत् २०३१ वि०

सन् १९७४ ई०

सृष्टि संवत् १,९६,०८,५३,०७५

प्रथम वार

मूल्य २८)

मुद्रक—आर० के० प्रिन्टर्स, ८० डी, कमला नगर, दिल्ली-७

प्रकाशकीय

परमपिता परमात्मा की असीम कृपा से 'दयानन्द-यजुर्वेदभाष्य-भास्कर' का अन्तिम चतुर्थ भाग पाठकों को समर्पित करते हुए बड़ा हर्ष हो रहा है। वेद ईश्वरीय ज्ञान है वेद का पढ़ना पढ़ाना व सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है यह सृष्टि की आदि से लेकर महर्षि दयानन्द पर्यन्त ऋषियों की मान्यता है, जो यथार्थ है। किन्तु इस समय दुर्भाग्यवश संस्कृत का पठन-पाठन उतना नहीं जो वेदमन्त्रार्थ को सीधा समझ सके। वेदों के परम्परागत अर्थों का भी प्रचलन नहीं रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि अधूरे, काल्पनिक, मिथ्या, दूषितार्थ व अनार्ष वेदभाष्यों का प्रचलन जोर पकड़ गया। वेद-मन्त्रों के मनचाहे अर्थ निकालने की प्रवृत्ति प्रबल हुई। इस भाग के चालीसवें अध्याय में संक्षिप्त रूप से वेदभाष्य के नाम पर किस प्रकार अनर्थ हुए हैं इसका दिग्दर्शन कराया गया है। जिसका पाठकों को विशेष रूप से मनन करना चाहिए।

महर्षि कृत भाष्य की विद्यमानता में नवीन अर्थ निकालने में भाष्यकारों से पदे पदे भ्रान्तियाँ हुई हैं। महर्षि दयानन्द तो ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखते हैं—"यह भाष्य प्राचीन आर्यों के भाष्यों के अनुकूल बनाया जाता है। परन्तु जो रावण उवट और सायण आदि ने भाष्य बनाए हैं वे सब मूल मन्त्र और ऋषिकृत व्याख्यानों से विरुद्ध हैं, मैं वैसा भाष्य नहीं बनाता।......जो यह मेरा भाष्य बनता है सो तो वेद, वेदाङ्ग, ऐतरेय, शतपथब्राह्मणादि ग्रन्थों के अनुसार होता है। क्योंकि जो-जो वेदों के सनातन व्याख्यान हैं उनके प्रमाणों से युक्त बनाया जाता है; यही इसमें अपूर्वता है। क्योंकि जो-जो प्रामाण्या-प्रामाण्यविषय में वेदों से भिन्न शास्त्र गिनाए हैं वे सब वेदों के ही व्याख्यान हैं वैसे ही ग्यारह सौ सत्ताईस शाखाएँ भी उनके व्याख्यान ही हैं उन सब ग्रन्थों के प्रमाण युक्त यह भाष्य बनाया जाता है और दूसरा इसके अपूर्व होने का कारण यह भी है कि इसमें कोई बात अप्रमाण वा अपनी रीति से नहीं लिखी जाती और जो-जो भाष्य उवट, सायण, महीधर आदि ने बनाए हैं वे सब मूल अर्थ और सनातन वेद-व्याख्यानों से विरुद्ध हैं।" लेकिन वर्त्तमान काल में वेदार्थ-कर्त्ता इसके विपरीत नवीन अर्थ अर्थात् जो अर्थ आज तक किसी ने नहीं किया उसको करने की अपनी विशेषता समझते हैं यह वेदार्थ शैली के विरुद्ध है। क्योंकि महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश (सप्तम समुल्लास) में वेदार्थ का ज्ञान किस प्रकार हुआ इस पर पूर्ण प्रकाश डाला है—

"**प्रश्न**—वेद संस्कृत में प्रकाशित हुए और अग्नि आदि ऋषि लोग उस संस्कृतभाषा को नहीं जानते थे फिर वेदों का अर्थ उन्होंने कैसा जाना?

उत्तर—परमेश्वर ने जनाया और धर्मात्मा योगी महर्षि लोग जब-जब जिस-जिस के अर्थ जानने की इच्छा करके ध्यानावस्थित हो परमेश्वर के स्वरूप में समाधिस्थ हुए तब-तब परमात्मा ने अभीष्ट मन्त्रों के अर्थ जनाए।"

महर्षि दयानन्द के इस लेख से यह तथ्य सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि वेदमन्त्रों के अर्थों का ज्ञान सर्वप्रथम जिन्हें परमात्मा का साक्षात्कार हो अर्थात् धर्मात्मा योगी महर्षि हों, जो समाधि में स्थित होकर परमात्मा से वेदों के अर्थों को जान सकें, उन्ही को होता है।

वेदार्थ ज्ञान के लिए महर्षि ने निम्नलिखित विचार प्रकट किए हैं—

"मनुष्य लोग वेदार्थ जानने के लिए अर्थ योजना सहित "व्याकरण—अष्टाध्यायी, धातुपाठ, उणादिगण, गणपाठ, और महाभाष्य" शिक्षा, कल्प, निघण्टुनिरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छः वेदों के अङ्ग, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त ये छः शास्त्र जो वेदों के उपाङ्ग अर्थात् जिनसे वेदार्थ ठीक-ठीक जाना जाता है, तथा ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ ये चार ब्राह्मण, इन सब ग्रन्थों को क्रम से पढ़के अथवा जिन्होंने इन सम्पूर्ण ग्रन्थों को पढ़के जो सत्य-सत्य वेद व्याख्यान किए हों उनको देखके वेद का अर्थ यथावत् जान लेवें"।

—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पठनपाठनविषय

वेदार्थ ज्ञान के लिए उपरोक्त सम्पूर्ण पुस्तकों का ज्ञान आवश्यक है। साधारण व्याकरणादि के ज्ञान को प्राप्त व्यक्ति की अपनी कल्पना से की गई वेद व्याख्या आदर के योग्य नहीं समझनी चाहिये। यह बात ऋषि के वचन से सुस्पष्ट है अतः श्रोता या विद्वान् जिसको भी इन ग्रन्थों का सम्पूर्ण ज्ञान नहीं है वह इन ग्रन्थों के आधार पर की गई वेद व्याख्या को ही पढ़ें, पढ़ावें और सुनें सुनावें।

दूसरे स्थान पर महर्षि ने यास्क-वचनों के अनुसार निम्न प्रकार अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया हैं—

"अयं मन्त्रार्थाभ्यूढोऽभ्यूढोऽपिश्रुतितोऽपितर्कतो, न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः, प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्या, न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा। पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति·················। तस्माद्यदेव किं चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद् भवति" (नि० १३। १२)॥

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इस उल्लिखित महर्षि यास्क वचन की व्याख्या इस प्रकार की है।

"नैते श्रुतितः श्रवणमात्रेणैव तर्कमात्रेण च पृथक् २ मन्त्रार्था निर्वक्तव्याः। किन्तु प्रकरणानुकूलतया पूर्वापर सम्बन्धेनैव नितरां वक्तव्याः। किं च नैवैतेषु मन्त्रेष्वनृषेरतपसोऽशुद्धान्तःकरणस्याविदुषः प्रत्यक्षज्ञानं भवति। न यावद् वा पारोवर्यवित्सु कृतप्रत्यक्षमन्त्रार्थेषु भूयोविद्यो बहुविद्यान्वितः प्रशस्योऽत्युत्तमो विद्वान् भवति, न तावदभ्यूढः सुतर्केण वेदार्थमपि वक्तुमर्हतीत्युक्तं सिद्धमस्ति········। यः कश्चिदनूचानो, विद्यापारगः, पुरुषोऽभ्यूहति वेदार्थमभ्यूहते प्रकाशयते तदेवार्षमृषिप्रोक्तं वेदव्याख्यानं भवतीति मन्तव्यम्। किं च यदल्पविद्येनाल्पबुद्धिना, पक्षपातिना मनुष्येण चाभ्यूह्यते तदनार्षमनृतं भवति। नैतत्केनाप्यादर्तव्यमिति। ······तस्यानर्थयुक्तत्वात्। तदादरेण मनुष्याणामप्यनर्थापत्तेश्चेति"।

इन मन्त्रों का अर्थ केवल श्रवण मात्र से अथवा शुष्क तर्क से उन्हें अपने प्रकरण से पृथक् करके नहीं किया जा सकता, किन्तु उन मन्त्रों का पूर्वापर सम्बन्ध देखकर प्रकरणानुकूल ही अर्थ करना चाहिए। इन मन्त्रों के अर्थ का प्रत्यक्ष वे लोग कभी नहीं कर सकते जो ऋषि नहीं और तपस्वी नहीं अर्थात् जिनका अन्तःकरण अशुद्ध है तथा जो अविद्वान् है।········। वेदार्थज्ञ मनुष्यों में भी अधिक विद्यावान् मनुष्य

ही प्रशस्त होता है और वही वेदाविरोधी सुतर्क के द्वारा ही मन्त्रों का उपयुक्त अर्थ कर सकता है।......।
यदि कोई पूर्ण विद्वान् पुरुष वेदार्थ का प्रकाश करता है तो वही ऋषि प्रोक्त व्याख्यान समझना चाहिये।
और जो अल्प बुद्धि पुरुष करता है वह अनार्ष होता है। उसका किसी को आदर नहीं करना
चाहिए।............क्योंकि वह अनर्थ युक्त हैं। उसका आदर करने से मनुष्यों की भी अनर्थापत्ति
होगी।" (ऋग्वेदादि० वेदविषय०)॥

इस महर्षि दयानन्द के लेख से स्पष्ट सिद्ध है कि वेदभाष्य करने का अधिकार तपस्वी, शुद्ध अन्तःकरण वाले, विद्या से परिपूर्ण साक्षात् द्रष्टा महर्षियों को ही है। तपस्या से रहित, मलिन अन्तःकरण वाले, अल्प विद्या वाले पक्षपाती मनुष्य वेदभाष्य करने का अधिकार नहीं रखते। उनके किए वेदभाष्य दोषरहित न रहने से जनता के लिए अनर्थ का कारण बनते हैं। अतः महर्षि ने स्पष्ट लिख दिया है कि ऐसे मनुष्यकृत वेदभाष्यों का कदापि आदर नहीं करना चाहिए। ऋषियों के किये वेद व्याख्यान सब प्रकार के दोषों से रहित हैं। अतः आर्षवेदभाष्यों का ही सब को अध्ययन एवं सत्कार करना योग्य है।

उपर्युक्त मान्यताओं के अनुसार वेदमन्त्रों का क्रमशः अर्थ केवल महर्षि दयानन्द का ही मिलता है। महर्षि ने अपने कार्यों में सबसे अधिक समय इस कार्य में लगाया। उन्होंने लिखा—जिस समय मेरा यह वेदभाष्य बन जाएगा तो सूर्य का सा प्रकाश हो जाएगा जिसको मेंटने और झंपने का किसी को सामर्थ्य न होगा ऐसे महत्त्वपूर्ण भाष्य का पठन पाठन बहुत ही न्यून हुआ। इसका कारण साधारण पाठकों का वेदभाष्य समझने में कठिनाई थी। **इस भास्कर की रचना में यह प्रयत्न किया है कि महर्षि का भाष्य हस्तामलकवत् समझ में आ जाए।** इसके लिए इस भास्कर में अनेक कार्य किए हैं जिनका अनुभव स्वाध्यायशील पाठक स्वयं ही करेंगें।

कागज की महगाई और अभाव इस कार्य की पूर्त्ति में बड़ा बाधक बना रहा परन्तु इस कार्य को प्रारम्भ कर दिया था अतः बड़े उत्साह और परिश्रम से पूर्ण किया गया है।

श्री पण्डित सुदर्शन देव जी आचार्य ने यह ग्रन्थ बड़े पुरुषार्थ और योग्यता से तैयार किया है। इससे महर्षि के वेदभाष्य को समझने में जो कठिनाई जो पाठकों के सामने थी वह अब सर्वथा दूर हो गई हैं। इस योग्यतापूर्ण प्रशंसनीय कार्य के लिए मैं श्री आचार्य जी का हार्दिक धन्यवाद करता हूँ। श्री पं० रामहौसला जी मिश्र, श्री जयराम त्रिपाठी, श्री हरिहरानन्द मिश्र, श्री गुलाब चन्द मिश्र, श्री अरविन्द कुमार यादव आदि प्रेस कर्मचारियों ने इस भास्कर को बड़े उत्साह व पुरुषार्थ से पूर्ण किया है। श्री पं० विश्वदेव जी शास्त्री ने प्रूफ संशोधन का कार्य किया है। मैं इन महानुभावों का भी आभारी हूँ।

ऋषि चरणों का अनुचर
दीपचन्द आर्य
प्रधान-आर्षसाहित्य प्रचार ट्रस्ट
२ एफ, कमला नगर, दिल्ली-७

६-१०-१९७४

॥ ओ३म् ॥

अथैकत्रिंशत्तमाध्यायारम्भः

ओ३म् विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑ सुव । यद्भ॒द्रं तन्न॒ऽआसु॑व ॥ १ ॥

॥ य० ३० । ३ ॥

नारायणः । **पुरुषः=परमात्मा** । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ॥

अथ परमात्मन उपासनास्तुतिपूर्वकं सृष्टिविद्याविषयमाह ॥

अब इकतीसवें अध्याय का आरम्भ है । उसके प्रथम मन्त्र में परमात्मा की उपासना तथा स्तुतिपूर्वक सृष्टिविद्या के विषय को कहते हैं ॥

स॒हस्र॑शीर्षा॒ पुरु॑षः सहस्रा॒क्षः स॒हस्र॑पात् ।
स भूमि॑ꣳ स॒र्वत॑ स्पृ॒त्वात्य॑तिष्ठद्दशाङ्गु॒लम् ॥ १ ॥

पदार्थः—(**सहस्रशीर्षा**) सहस्राण्यसङ्ख्यातानि शिरांसि यस्मिन् सः (**पुरुषः**) सर्वत्र पूर्णो जगदीश्वरः । 'पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूर्यतेर्वा पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य । यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्य-स्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित् वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वमित्यपि निगमो भवति' ॥ निरु० अ० २ । ख० ३ ॥ (**सहस्राक्षः**) सहस्राण्यसंख्यातान्यक्षीणि यस्मिन् सः (**सहस्रपात्**) सहस्राण्यसंख्याताः पादा यस्मिन् सः (**सः**) (**भूमिम्**) भूगोलम् (**सर्वतः**) सर्वस्माद्देशात् (**स्पृत्वा**) अभिव्याप्य (**अति**) उल्लङ्घने (**अतिष्ठत्**) तिष्ठति (**दशाङ्गुलम्**) पञ्चस्थूलसूक्ष्मभूतानि दशाङ्गुलान्यङ्गानि यस्य तज्जगत् ॥ १ ॥

प्रमाणार्थ—(पुरुषः) सर्वत्र पूर्णो जगदीश्वरः ।

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यः सहस्रशीर्षा सहस्राक्षः सहस्रपात्पुरुषोऽस्ति स सर्वतो भूमिं स्पृत्वा दशाङ्गुलमत्यतिष्ठत्तमेवोपासीध्वम् ॥ १ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे मनुष्याः ! यः सहस्रशीर्षा** सहस्राण्यसङ्ख्यातानि शिरांसि यस्मिन् सः, **सहस्राक्षः** सहस्राण्यसंख्यातान्यक्षीणि यस्मिन्

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जो (सहस्रशीर्षा) जिसमें सहस्र=असंख्य शिर हैं; (सहस्राक्षः) जिसमें सहस्र=असंख्य आँखें हैं; (सहस्रपात्) जिसमें

सः, **सहस्रपात्** सहस्राण्यसंख्याताः पादा यस्मिन् सः, **पुरुषः** सर्वत्र पूर्णो जगदीश्वरः, **अस्ति; स सर्वतः** सर्वस्माद्देशात् **भूमिं** भूगोलं **स्पृत्वा** अभिव्याप्य **दशाङ्गुलं** पञ्चस्थूलसूक्ष्मभूतानि दशाङ्गुलान्यङ्गानि यस्य तज्जगत् **अति+अतिष्ठद्** उल्लङ्घ्य तिष्ठति **तमेवोपासीध्वम्** ॥ ३१ । १ ॥

सहस्र=असंख्य पाद=पांव हैं; (पुरुषः) सर्वत्र पूर्ण जगदीश्वर है—(सः) वह (सर्वतः) सब देश से (भूमिम्) भूगोल को (स्पृत्वा) व्याप्त करके, (दशाङ्गुलम्) पाँच स्थूल और पाँच सूक्ष्म भूत अर्थात् दस अंगुलियाँ=अंगों वाले जगत् को (अति+अतिष्ठत्) लाँघ कर स्थित है; उसी जगदीश्वर की उपासना करो ॥ ३१ । १ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः! यस्मिन् पूर्णे परमात्मन्यस्मदादीनामसंख्यातानि शिरांस्यक्षीणि पदादीन्यङ्गानि च सन्ति, यो भूम्याद्युपलक्षितं पञ्चभिः स्थूलैः सूक्ष्मैश्च युक्तं जगत् स्वसत्तया प्रपूर्य्य यत्र जगन्नास्ति तत्रापि पूर्णोऽस्ति, तं सर्वनिर्मातारं परिपूर्णं सच्चिदानन्दस्वरूपं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं परमेश्वरं विहायाऽन्यस्योपासनां यूयं कदाचिन्नैव कुरुत, किन्त्वस्योपासनेन धर्मार्थकाममोक्षमलं कुर्यात ॥ ३१ । १ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो! जिस पूर्ण परमात्मा में हम मनुष्य आदि प्राणियों के असंख्य शिर, आँख, पाँव आदि विद्यमान हैं; जो भूमि आदि पाँच स्थूल और पाँच सूक्ष्म भूतों से युक्त जगत् को अपनी सत्ता से पूर्ण करके; जहाँ जगत् नहीं है, वहाँ भी पूर्ण हो रहा है; उस सब के निर्माता, परिपूर्ण, सच्चिदानन्दस्वरूप, नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव, वाले परमेश्वर को छोड़कर अन्य की उपासना तुम कभी न करो; किन्तु इसकी उपासना से धर्म, अर्थ काम मोक्ष को प्राप्त करो ॥ ३१ । १ ॥

भा० पदार्थः—सहस्रशीर्षा=यस्मिन् पूर्णे परमात्मन्यस्मदादीनामसंख्यातानि शिरांसि सन्ति ॥ सहस्राक्षः=यस्मिन् पूर्णे······अक्षीणि सन्ति । सहस्रपात्=यस्मिन् पूर्णे······पादादीन्यङ्गानि सन्ति ॥ दशांगुलम्=पञ्चभिः स्थूलैः सूक्ष्मैश्च युक्तं जगत् ॥ अत्यतिष्ठत्=यत्र जगन्नास्ति तत्रापि पूर्णोऽस्ति ॥

अन्यत्र व्याख्यात—(सहस्रशी०) इस मन्त्र में पुरुष शब्द विशेष्य और अन्य सब पद उसके विशेषण हैं। पुरुष उसको कहते हैं कि जो इस सब जगत् में पूर्ण हो रहा है अर्थात् जिसने अपनी व्यापकता से इस जगत् को पूर्ण कर रखा है। पूर कहते हैं ब्रह्मांड और शरीर को, उसमें जो सर्वत्र व्याप्त और जो जीव के भीतर भी व्यापक अर्थात् अन्तर्यामी है। इस अर्थ में निरुक्त आदि का प्रमाण संस्कृत भाष्य में लिखा है सो देख लेना। सहस्र नाम है, सम्पूर्ण जगत् का और असंख्यात का भी नाम है। सो जिसके बीच में सब जगत् के असंख्यात शिर आँख और पग ठहर रहे हैं उसको सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष और सहस्रपात् भी कहते हैं, क्योंकि वह अनन्त है। जैसे आकाश के बीच में सब पदार्थ रहते और आकाश सब से अलग रहता है अर्थात् किसी के साथ बंधता नहीं है, उसी प्रकार परमेश्वर को भी जानो। (स भूमिं सर्वत स्पृत्वा) सो पुरुष सब जगह से पूर्ण होके पृथिवी को तथा सब लोकों को धारण कर रहा है (अत्यतिष्ठद्०) दशांगुल शब्द ब्रह्माण्ड और हृदय का वाची है, अंगुलि शब्द अंग का अवयव वाची है, पाँच स्थूल भूत और पाँच सूक्ष्म ये दोनों मिल के जगत् के दश अवयव होते हैं; तथा पाँच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चार और दशमा जीव और शरीर में जो हृदय देश हैं सो भी दश अंगुल के प्रमाण से लिया जाता है। जो इन तीनों में व्यापक होके इनके चारों ओर भी परिपूर्ण हो रहा है, इससे वह पुरुष कहाता है, क्योंकि जो उस दशांगुल स्थान का भी उल्लंघन करके सर्वत्र स्थिर है, वही सब जगत् का बनाने वाला है।

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सृष्टिविद्याविषयः)

भाष्यसार—**परमात्मा की उपासना, स्तुतिपूर्वक सृष्टि विद्या**—परमात्मा में असंख्य प्राणियों के शिर विद्यमान हैं अतः वह 'सहस्रशीर्षा' है। उस में असंख्य प्राणियों की आँखें विद्यमान हैं अतः वह 'सहस्राक्ष' है। उसमें असंख्य प्राणियों के पाद=चरण विद्यमान हैं अतः वह 'सहस्रपात्' है। सर्वत्र परिपूर्ण होने से वह पुरुष कहलाता है। वह सब ओर से भूगोल को व्याप्त कर रहा है तथा दशांगुल परिमाण वाले इस जगत् को लांघ कर भी विद्यमान है। पांच स्थूल भूत और पाँच सूक्ष्म भूत रूप में इस जगत् का परिमाण दशांगुल कहलाता है। जहाँ यह भौतिक जगत् नहीं है वहाँ भी परमात्मा परिपूर्ण हो रहा है।

सब मनुष्य—सब के निर्माता, सर्वत्र परिपूर्ण, सच्चिदानन्द स्वरूप, नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव परमेश्वर को छोड़कर अन्य की उपासना कभी न करें; अपि मन्त्रोक्त परमात्मा की उपासना करके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त करें ॥ ३१ । १ ॥

नारायणः । **ईशानः**=ईश्वरः । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

सृष्टिविद्या का फिर उपदेश किया जाता है ॥

पुरुषऽएवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्चं भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ २ ॥

पदार्थः—(**पुरुषः**) सत्यैर्गुणकर्मस्वभावैः परिपूर्णः (**एव**) (**इदम्**) प्रत्यक्षाऽप्रत्यक्षात्मकं जगत् (**सर्वम्**) सम्पूर्णम् (**यत्**) (**भूतम्**) उत्पन्नम् (**यत्**) (**च**) (**भाव्यम्**) उत्पत्स्यमानम् (**उत**) अपि (**अमृतत्वस्य**) अविनाशिनो मोक्षसुखस्य कारणस्य वा (**ईशानः**) अधिष्ठाता (**यत्**) (**अन्नेन**) पृथिव्यादिना (**अतिरोहति**) अत्यन्तं वर्द्धते ॥ २ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यद्भूतं यच्च भाव्यमुतापि यदन्नेनाऽतिरोहति तदिदं सर्वममृतत्वस्येशानः पुरुष एव रचयति ॥ २ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! **यद्भूतम्** उत्पन्नं **यच्च भाव्यम्** उत्पत्स्यमानम् **उत**=**अपि यदन्नेन** पृथिव्यादिना **अतिरोहति** अत्यन्तं वर्द्धते **तदिदं** प्रत्यक्षाऽप्रत्यक्षात्मकं जगत् **सर्वं** सम्पूर्णम् **अमृतत्वस्य** अविनाशिनो मोक्षसुखस्य कारणस्य वा **ईशानः** अधिष्ठाता **पुरुषः** सत्यैर्गुणकर्मस्वभावैः परिपूर्णः **एव रचयति** ॥ ३१ । २ ॥

भाषार्थः—हे मनुष्यो ! (यत्) जो (भूतम्) उत्पन्न हुआ (यच्च) और (भाव्यम्) उत्पन्न होगा, (उत) और (यत्) जो (अन्नेन) पृथिवी से (अतिरोहति) अत्यन्त विस्तृत है; उस (इदम्) इस प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष आत्मक (सर्वम्) सम्पूर्ण जगत् को (अमृतत्वस्य) अविनाशी मोक्ष सुख का एवं कारण=प्रकृति का (ईशानः) अधिष्ठाता (पुरुषः) सत्य गुण-कर्म-स्वभाव से परिपूर्ण ईश्वर ही रचता है ॥ ३१ । २ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! येनेश्वरेण यदा यदा सृष्टिरभूत् तदा तदा निर्मिता, इदानीं धरति, पुनर्विनाश्य रचिष्यति, यदाधारेण सर्वं वर्त्तते वर्द्धते

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जिस ईश्वर ने जब-जब सृष्टि हुई है तब-तब रची है; अब उसे धारण कर रहा है; फिर उसका विनाश करके

च, तमेव परेशं परमात्मानमुपासीध्वं; नाऽस्मादितरम् ॥ ३१ । २ ॥

रचेगा; जिसके आधार से सब वर्त्तमान है और बढ़ रहा है; उसी परेश परमात्मा की उपासना करो; उससे अन्य की नहीं ॥ ३१ । २ ॥

भा० पदार्थः—अन्नेन=आधारेण । अतिरोहति=वर्त्तते वर्द्धते च ॥

अन्यत्र व्याख्यात—[क] हे मनुष्यो ! जो सब में पूर्ण पुरुष और जो नाशरहित कारण और जीव का स्वामी जो पृथिव्यादि जड़ और जीव से अतिरिक्त है, वही पुरुष सबका भूत, भविष्यत् और वर्तमानस्थ जगत् को बनाने वाला है (सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समुल्लास) ॥

[ख] (पुरुष एवे०) जो पूर्वोक्त विशेषण सहित पुरुष अर्थात् परमेश्वर है सो जो जगत् उत्पन्न हुआ था, जो होगा और इस समय में है, इस तीन प्रकार के जगत् को वही रचता है, उससे भिन्न दूसरा कोई जगत् का रचने वाला नहीं है, क्योंकि वह (ईशानः) अर्थात् सर्वशक्तिमान् है (अमृत) जो मोक्ष है उसका देने वाला एक वही है दूसरा कोई नहीं सो परमेश्वर (अन्न) अर्थात् पृथिव्यादि जगत् के साथ व्यापक होके स्थित है और इससे अलग भी है, क्योंकि उसमें जन्म आदि व्यवहार नहीं है । और अपनी सामर्थ्य से सब जगत् को उत्पन्न भी करता है और आप कभी जन्म नहीं लेता ।

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सृष्टिविद्याविषय) ।

भाष्यसार—सृष्टिविद्या का उपदेश—जो यह जगत् उत्पन्न करता हुआ दिखाई देता है और जो उत्पन्न होगा तथा जो यह पृथिवी आदि के रूप में अत्यन्त विस्तृत दृष्टिगोचर हो रहा है; इस प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सम्पूर्ण जगत् को अविनाशी मोक्ष सुख का तथा कारण रूप प्रकृति का अधिष्ठाता, सत्य गुण-कर्म-स्वभाव से परिपूर्ण परमात्मा ही रचता है । तात्पर्य यह है कि जब-जब सृष्टि हुई है तब-तब परमेश्वर ने ही इसे रचा है । वही वर्तमान में इसे धारण कर रहा है, इसका विनाश=प्रलय करके फिर वही रचेगा । उसी के आधार से सब वर्तमान है और बढ़ रहा है । सब मनुष्य उसी की उपासना करें; अन्यों की नहीं ॥ ३१ । २ ॥ ●

नारायणः । **पुरुषः=परमेश्वरः** । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

सृष्टिविद्या का फिर उपदेश किया जाता है ॥

एतावा॑नस्य महि॒मातो॒ ज्याया॑ँश्च॒ पूरु॑षः ।
पादो॑ऽस्य॒ विश्वा॑ भू॒तानि॑ त्रिपाद॑स्या॒मृतं॑ दि॒वि ॥ ३ ॥

पदार्थः—(**एतावान्**) दृश्यादृश्यं ब्रह्माण्डरूपम् (**अस्य**) जगदीश्वरस्य (**महिमा**) माहात्म्यम् (**अतः**) अस्मात् (**ज्यायान्**) अतिशयेन प्रशस्तो=महान् (**च**) (**पूरुषः**) परिपूर्णः (**पादः**) एकोंशः (**अस्य**) (**विश्वा**) विश्वानि=सर्वाणि (**भूतानि**) पृथिव्यादीनि (**त्रिपात्**) त्रयः पादा यस्मिन् (**अस्य**) जगत्स्रष्टुः (**अमृतम्**) नाशरहितम् (**दिवि**) द्योतनात्मके स्वस्वरूपे ॥ ३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! अस्य परमेश्वरस्यैतावान्महिमाऽतोऽयं पूरुषो ज्यायानस्य च विश्वा भूतान्येकः पादोऽस्य त्रिपादमृतं दिवि वर्त्तते ॥ ३ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! **अस्य**=**परमेश्वरस्य** जगदीश्वरस्य **एतावान्** दृश्यादृश्यं ब्रह्माण्डरूपं **महिमा** माहात्म्यम्, **अतः** अस्मात् **अयं पूरुषः** परिपूर्णः **ज्यायान्** अतिशयेन प्रशस्तो=महान्, **अस्य** जगदीश्वरस्य **च विश्वा** विश्वानि=सर्वाणि **भूतानि** पृथिव्यादीनि **एकः पाद** एकोंशः, **अस्य** जगत्स्रष्टुः **त्रिपाद्** त्रयः पादा यस्मिन् **अमृतं** नाशरहितं **दिवि** द्योतनात्मके स्वस्वरूपे **वर्त्तते** ।। ३१ । ३ ।।

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! (अस्य) इस परमेश्वर एवं जगदीश्वर की (एतावान्) दृश्य-अदृश्य ब्रह्माण्ड रूप इतनी (महिमा) माहात्म्य है कि (अतः) इससे यह—(पूरुषः) परिपूर्ण, (ज्यायान्) अत्यन्त प्रशस्त एवं महान्, है; और (अस्य) इस जगदीश्वर के (विश्वा) सब (भूतानि) पृथिवी आदि भूत एक (पादः) अंश के तुल्य हैं; (अस्य) इस जगत्स्रष्टा के (त्रिपाद्) तीन पांव (अमृतम्) नाश रहित हैं जो (दिवि) प्रकाशात्म स्वस्वरूप में विद्यमान रहते हैं ।। ३१ । ३ ।।

भावार्थः—इदं सर्वं सूर्यचन्द्रादिलोकलोकान्तरं चराचरं यावज्जगदस्ति तच्चित्रविचित्ररचनानुमानेनेश्वरस्य महत्त्वं सम्पाद्य उत्पत्तिस्थितिप्रलयरूपेण कालत्रये ह्रासवृद्ध्यादिनाऽपि परमेश्वरस्य चतुर्थांशे तिष्ठति, नैवास्य तुरीयांशस्याप्यवधिं प्राप्नोति । अस्य सामर्थ्यस्यांशत्रयं स्वेऽविनाशिनि मोक्षस्वरूपे सदैव वर्त्तते । नानेन कथनेन तस्याऽनन्तत्वं विहन्यते, किन्तु जगदपेक्षया तस्य महत्त्वं जगतो न्यूनत्वं च ज्ञाप्यते ।। ३१ । ३ ।।

भावार्थ—यह सब सूर्य, चन्द्र आदि लोक-लोकान्तर रूप चराचर जितना भी जगत् है; वह चित्र विचित्र रचना के अनुमान से ईश्वर के महत्त्व को सिद्ध करके—उत्पत्ति, स्थिति, और प्रलय रूप से तीन काल में ह्रास और वृद्धि आदि से भी परमेश्वर के चतुर्थ अंश में स्थित है; इसके चतुर्थ अंश की भी अवधि को प्राप्त नहीं होता। इस सामर्थ्य के तीन अंश अपने अविनाशी मोक्षस्वरूप में सदा वर्तमान रहते हैं। इस कथन से उसकी अनन्तता का नाश नहीं होता; किन्तु जगत् की अपेक्षा उसका महत्त्व और जगत् की न्यूनता बतलाई है ।। ३१ । ३ ।।

भा० पदार्थः—एतावान्=इदं सर्वं सूर्यचन्द्रादिलोकलोकान्तरं चराचरं यावज्जगदस्ति तत् । महिमा=महत्त्वम् । पादः=चतुर्थांशः । तुरीयांशः । त्रिपाद्=अंशत्रयम् । दिवि=स्वेऽविनाशिनि मोक्षस्वरूपे ।

अन्यत्र व्याख्यात—(एतावानस्य०) तीनों काल में जितना संसार है सो सब इस पुरुष का ही महिमा है। प्रश्न—जब उसके महिमा का परिमाण है तो अन्त भी होगा। उत्तर—(अतो ज्यायांश्च पूरुषः) उस पुरुष का अनन्त महिमा है, क्योंकि (पादोऽस्य विश्वा भूतानि) जो यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित हो रहा है सो इस पुरुष के एक देश में बसता है। (त्रिपादस्यामृतं दिवि) और जो प्रकाश गुणवाला जगत् है सो उससे तिगुना है तथा मोक्ष, सुख भी उसी ज्ञानस्वरूप प्रकाश में है और वह पुरुष सब प्रकाश का भी प्रकाश करने वाला है। (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सृष्टिविद्याविषय) ।।

भाष्यसार—**सृष्टि विद्या का उपदेश**—यह दृश्य और अदृश्य ब्रह्माण्ड रूप जगत् इस परमेश्वर की महिमा है अर्थात् सूर्य, चन्द्र आदि लोक-लोकान्तर चराचर जितना भी जगत् है वह चित्र-विचित्र रचना से परिपूर्ण होने से ईश्वर का अनुमान कराता है; उसकी महिमा को बतलाता है। परमात्मा इस जगत् में परिपूर्ण है तथा इससे अत्यन्त महान् है। सब पृथिवी आदि भूत इस जगदीश्वर के एक पाद हैं अर्थात् चतुर्थ अंश में स्थित हैं। वस्तुतः ये भूत इसके चतुर्थ अंश की अवधि को भी प्राप्त

नहीं हैं। जगत् के स्रष्टा परमेश्वर के तीन पाद अर्थात् तीन अंश अपने अविनाशी मोक्ष स्वरूप में ही सदा वर्तमान रहते हैं।

यहाँ पुरुष=परमात्मा के चार पादों के कथन से उसकी अनन्तता का विघात नहीं होता। यहाँ जगत् की अपेक्षा परमेश्वर का महत्त्व तथा जगत् की न्यूनता=अल्पता बतलाई गई है॥ ३१। ३॥

नारायणः। **पुरुषः=परमेश्वरः**। अनुष्टुप्। गान्धारः॥

पुनस्तमेव विषयमाह॥

सृष्टिविद्या का फिर उपदेश किया जाता है॥

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने ऽअभि॥ ४॥

पदार्थः—(**त्रिपात्**) त्रयः पादा=अंशा यस्य सः (**ऊर्ध्वः**) सर्वेभ्य उत्कृष्टः=संसारात् पृथक् मुक्तिरूपः (**उत्**) (**ऐत्**) उदेति (**पुरुषः**) पालकः (**पादः**) एको भागः (**अस्य**) (**इह**) जगति (**अभवत्**) भवति (**पुनः**) पुनः पुनः (**ततः**) ततोऽनन्तरम् (**विष्वङ्**) यो विषु सर्वत्राञ्चति=प्राप्नोति (**वि**) विशेषेण (**अक्रामत्**) व्याप्नोति (**साशनानशने**) अशनेन=भोजनेन सह वर्त्तमानं साशनं, न विद्यतेऽशनं यस्य तदनशनं साशनञ्चानशनञ्च ते प्राण्यप्राणिनौ (**अभि**) अभिलक्ष्य॥ ४॥

अन्वयः—पूर्वोक्तस्त्रिपात्पुरुष ऊर्ध्व उदैत्। अस्य पाद इह पुनरभवत्। ततः साशनानशने अभि विष्वङ् सन् व्यक्रामत्॥ ४॥

सपदार्थान्वयः—**पूर्वोक्तस्त्रिपात्** त्रयः पादा=अंशा यस्य सः **पुरुषः** पालकः **ऊर्ध्वः** सर्वेभ्य उत्कृष्टः=संसारात् पृथक् मुक्तिरूपः **उदैत्** उदेति। **अस्य पादः** एको भागः **इह** जगति **पुनः** पुनः पुनः **अभवत्** भवति। **ततः** ततोऽनन्तरं **साशनानशने** अशनेन=भोजनेन सह वर्त्तमानं साशनं, न विद्यतेऽशनं यस्य तदनशनं, साशनञ्चानशनञ्च ते प्राण्यप्राणिनौ **अभिविष्वङ्** अभिलक्ष्य यो विषु=सर्वत्राञ्चति=प्राप्नोति, **सन्; वि+अक्रामत्** विशेषेण व्याप्नोति॥ ३१। ४॥

भाषार्थ—पूर्वोक्त (त्रिपात्) तीन पाद=अंशों वाला (पुरुषः) पालक परमेश्वर—(ऊर्ध्वः) सबसे उत्कृष्ट एवं संसार से पृथक् मुक्ति रूप में (उदैत्) उदित है। (अस्य) इसका (पादः) एक (इह) इस जगत् में (पुनः) बार-बार (अभवत्) प्रकट होता है। (ततः) तत्पश्चात् (साशनानशने) साशन=भोजन करने वाले प्राणी, अनशन=भोजन न करने वाले अप्राणी रूप दो प्रकार के जगत् को (अभिविष्वङ्) लक्षित करके सर्वत्र प्राप्त होता हुआ (वि+अक्रामत्) उसे विशेष रूप से व्याप्त करता है॥ ३१। ४॥

भावार्थः—अयं परमेश्वरः कार्यजगतः पृथग् अंशत्रयेण प्रकाशितः सन्, एकांशस्वसामर्थ्येन सर्वं जगत् पुनः पुनरुत्पादयति, पश्चात् तस्मिन् चराचरे जगति व्याप्य तिष्ठति॥ ३२। ४॥

भावार्थ—यह परमेश्वर कार्य जगत् से भिन्न तीन अंश में प्रकाशित होता हुआ, एकांश रूप अपने सामर्थ्य से सब जगत् को बार-बार उत्पन्न करता है। तत्पश्चात् उस चराचर जगत् में व्यापक होकर स्थित होता है॥ ३२। ४॥

भा० पदार्थः—त्रिपात्=अंशत्रयेण प्रकाशितः। पुरुषः=परमेश्वरः । ऊर्ध्वः=पृथक् । पादः=एकांशस्वसामर्थ्यम् । अभवत्=उत्पादयति । ततः=पश्चात् । साशनानशने=चराचरे जगति । व्यक्रामत्=व्याप्य तिष्ठति ।

अन्यत्र व्याख्यात—(त्रिपादूर्ध्व उदैत्पु०) पुरुष जो परमेश्वर है सो पूर्वोक्त त्रिपाद् जगत् से ऊपर भी व्यापक हो रहा है, तथा सदा प्रकाशस्वरूप, सब में भीतर व्यापक और सबसे अलग भी है। (पादोऽस्येहाभवत्पुनः०) इस पुरुष की अपेक्षा से यह सब जगत् किञ्चित् मात्र देश में है, और इस संसार के चार पाद होते हैं, वे सब परमेश्वर के बीच में ही रहते हैं। इस स्थूल जगत् का जन्म और विनाश सदा होता रहा है। और पुरुष तो जन्म विनाश आदि धर्म से अलग और सदा प्रकाशमान है। (ततो विष्वङ् व्यक्रामत्) अर्थात् यह नाना प्रकार का जगत् उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है। (साशनान०) सो दो प्रकार का है—एक चेतन जो कि भोजनादि के लिए चेष्टा करता है और जीव संयुक्त है, और दूसरा अनशन अर्थात् जो जड़ और भोजन के लिए बना है क्योंकि उसमें ज्ञान ही नहीं है, और अपने आप चेष्टा भी नहीं कर सकता, परन्तु उस जगत् का अनन्त सामर्थ्य ही इस जगत् के बनाने की सामग्री है कि जिससे यह सब जगत् उत्पन्न होता है। सो पुरुष सर्वहितकारक हो के उस दो प्रकार के जगत् को अनेक प्रकार से आनन्दित करता है। वह पुरुष इसका बनाने वाला संसार में सर्वत्र व्यापक होके, धारण करके देख रहा है। और वही सब जगत् का सब प्रकार से आकर्षण कर रहा है। (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सृष्टिविद्याविषय०)

भाष्यसार—**सृष्टिविद्या का उपदेश**—पूर्व मन्त्र में प्रतिपादित त्रिपात्, पालक परमेश्वर-सबसे उत्कृष्ट है, संसार से पृथक् मुक्तिरूप है। इस परमेश्वर का एक पाद=भाग इस जगत् में बार-बार प्रकट होता है। तत्पश्चात् वह—भोजन करने वाली अर्थात् प्राणी और भोजन न करने वाले अर्थात् अप्राणी, चेतन और जड़ रूप जगत् को सर्वत्र प्राप्त होता है; उसे विशेष रूप से व्याप्त करता है। तात्पर्य यह है परमेश्वर कार्य जगत् से पृथक् भी तीन भाग में प्रकाशित है। एकांश में अपने सामर्थ्य से सब जगत् को बार-बार उत्पन्न करता है। तथा उस चराचर जगत् में व्यापक होकर रहता है ॥ ३१ । ४ ॥

नारायणः । **स्रष्टा=परमेश्वरः** । अनुष्टुप् । गान्धारः ।

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

सृष्टिविद्या का फिर उपदेश किया जाता है ॥

ततो॑ वि॒राड॑जायत वि॒राजो॒ऽ अधि॒ पूरु॑षः ।
स जा॒तो ऽ अत्य॑रिच्यत प॒श्चाद्भूमि॒मथो॑ पु॒रः ॥ ५ ॥

पदार्थः—(**ततः**) तस्मात्पूर्णादादिपुरुषात् (**विराट्**) विविधैः पदार्थै राजते प्रकाशते स विराट्=ब्रह्माण्डरूपः (**अजायत**) जायते (**विराजः**) (**अधि**) उपरि अधिष्ठाता (**पूरुषः**) परिपूर्णः परमात्मा (**सः**) (**जातः**) प्रादुर्भूतः (**अति**) (**अरिच्यत**) अतिरिक्तो भवति (**पश्चात्**) (**भूमिम्**) (**अथो**) (**पुरः**) पुरस्ताद्वर्त्तमानः ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे मनुष्यास्ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुष अथो स पुरो जातोऽत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिं जनयति तं विजानीत ॥ ५ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! ततः तस्मात्पूर्णादादिपुरुषाद् **विराड्** विविधैः पदार्थैः राजते=प्रकाशते स विराट्=ब्रह्माण्डरूपः **अजायत** जायते। **विराजो अधि** उपरि अधिष्ठाता **पूरुषः** परिपूर्णः परमात्मा **अथो स पुरः** पुरस्ताद्वर्त्तमानः **जातः** प्रादुर्भूतः **अत्यरिच्यत** अतिरिक्तो भवति **पश्चाद् भूमिं जनयति, तं विजानीत** ॥ ३१ । ५ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! (ततः) उस पूर्ण आदि पुरुष से (विराट्) विविध पदार्थों से प्रकाशमान ब्रह्माण्ड रूप जगत् (अजायत) उत्पन्न होता है। (विराजः) इस विराट् जगत् का (अधि) सर्वोपरि अधिष्ठाता (पूरुषः) परिपूर्ण परमात्मा है। (अथो) और (सः) वह (पुरः) प्रथम से वर्तमान, (जातः) प्रादुर्भूत=प्रसिद्ध तथा (अत्यरिच्यत) जगत् से पृथक् रहता है, (पश्चात्) पश्चात् वह (भूमिम्) भूमि को उत्पन्न करता है; उसे जानो ॥ ३१ । ५ ॥

भावार्थः—परमेश्वरादेव सर्वं समष्टिरूपं जगज्जायते स च तस्मात् पृथग्भूतो व्याप्तोऽपि तत्कल्मषालिप्तोऽस्य सर्वस्याधिष्ठाता भवति। एवं सामान्येन जगन्निर्माणमुक्त्वा विशेषतया भूम्यादि-निर्माणं क्रमेणोच्यते ॥ ३१ । ५ ॥

भावार्थ—परमेश्वर से ही सब समष्टि रूप जगत् उत्पन्न होता है; और वह उससे पृथक् अर्थात् उसमें व्याप्त होकर भी उसके कलमष=पाप से अलिप्त है तथा सब का अधिष्ठाता है इस प्रकार सामान्य से जगत् निर्माण कहकर विशेषता से भूमि आदि का निर्माण क्रम से कहा जाता है ॥ ३१।५ ॥

भा० पदार्थः—ततः=परमेश्वरादेव। विराट्=सर्वं समष्टिरूपं जगत्। अधि=सर्व-स्याधिष्ठाता भवति। अत्यरिच्यत=पृथग्भूतः, तत्कल्मषालिप्तो भवति।

अन्यत्र व्याख्यात—(ततो विराडजायत) विराट् जिसका ब्रह्माण्ड के अलंकार से वर्णन किया है जो उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है, जिसको मूल प्रकृति कहते हैं, जिसका शरीर ब्रह्माण्ड के समतुल्य जिसके सूर्य चन्द्रमा नेत्र स्थानी हैं, वायु जिसका प्राण और पृथिवी जिसका पग है, इत्यादि लक्षण वाला जो यह आकाश है सो विराट् कहाता है। वह प्रथम कलारूप परमेश्वर के सामर्थ्य से उत्पन्न होके प्रकाशमान हो रहा है। (विराजोऽअधि०) उस विराट् के तत्त्वों के पूर्व भागों से सब अप्राणी और प्राणियों का देह पृथक्-पृथक् उत्पन्न हुआ है। जिसमें सब जीव वास करते हैं और जो देह उसी पृथिवी आदि के अवयव अन्न आदि ओषधियों से वृद्धि को प्राप्त होता है। (स जातोऽअत्यरिच्यत) सो विराट् परमेश्वर से अलग, परमेश्वर भी संसार रूप देह से सदा अलग रहता है (पश्चाद्भूमिमथो पुरः) फिर भूमि आदि जगत् को प्रथम उत्पन्न करके पश्चात् जो धारण कर रहा है (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सृष्टिविद्याविषय) ॥

यह तैत्तिरीयोपनिषद् का वचन है ऐसे प्रमाणों में विराट् पुरुष, देव, आकाश, वायु, अग्नि, जल, भूमि आदि नाम लौकिक पदार्थों के होते हैं। क्योंकि जहाँ-जहाँ उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, अल्पज्ञ, जड़, दृश्य आदि विशेषण भी लिखे हों वहाँ वहाँ पर परमेश्वर का ग्रहण नहीं होता। वह उत्पत्ति आदि व्यवहारों से पृथक् है और उपरोक्त मन्त्र में उत्पत्ति आदि व्यवहार हैं, इसी से यहाँ विराट् आदि नामों से परमात्मा का ग्रहण न होके संसारी पदार्थों का ग्रहण होता है किन्तु जहाँ जहाँ सर्वज्ञादि विशेषण हों वहीं-वहीं परमात्मा और जहाँ-जहाँ इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुःख, दुख और अल्पज्ञादि विशेषण हों वहाँ-वहाँ जीव का ग्रहण होता है। ऐसा सर्वत्र समझना चाहिए, क्योंकि परमेश्वर का जन्म, मरण कभी नहीं होता। इससे विराट् आदि नाम और जन्मादि विशेषणों से जगत् के जड़ और जीवादि पदार्थों का ग्रहण करना उचित है;

परमेश्वर का नहीं। अब जिस प्रकार विराट् आदि नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है वह प्रकार नीचे प्रमाणे जानो।

अथ ओंकारार्थः। (वि) उपसर्ग पूर्वक् (राजृ दीप्तौ) इस धातु से क्विप् प्रत्यय करके "विराट्" शब्द सिद्ध होता है। "यो विविधं नाम चराऽचरं जगद्राजयति प्रकाशयति स विराट्" विविध अर्थात् जो बहु प्रकार के जगत् को प्रकाशित करे इससे विराट् नाम से परमेश्वर का ग्रहण होता है। (अञ्चु गतिपूजनयोः) अग, अगि, इण गत्यर्थक धातु हैं। इनसे "अग्नि" शब्द सिद्ध होता है। "गतेस्त्रयोऽर्थाः" ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति। पूजनं नाम सत्कारः "योऽञ्चति अच्यतेऽगत्यङ्गत्येति सोऽयमग्निः" जो ज्ञान स्वरूप, सर्वज्ञ, जानने, प्राप्त होने और पूजा करने योग्य है, इससे उस परमेश्वर का नाम "अग्नि" है। (विश प्रवेशने) इस धातु से "विश्व" शब्द सिद्ध होता है। "विशन्ति प्रविष्टानि सर्वाण्याकाशादीनि भूतानि यस्मिन् यो वाऽऽकाशादिषु सर्वेषु भूतेषु प्रविष्टः स विश्व ईश्वरः" जिसमें आकाशादि सब भूत प्रवेश कर रहे हैं, अथवा जो इनमें व्याप्त होके प्रविष्ट हो रहा है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम "विश्व" है। इत्यादि नामों का ग्रहण अकार मात्र से होता है। "ज्योतिर्वै हिरण्यम्। तेजो वै हिरण्यमित्यैतरेय शतपथब्राह्मणे" "यो हिरण्यानां सूर्यादीनां तेजसां गर्भ उत्पत्तिनिमित्तमधिकरणं स हिरण्यगर्भः" जिसमें सूर्य्यादि तेज वाले लोक उत्पन्न होके जिसके आधार रहते हैं अथवा जो सूर्यादि तेजः स्वरूप पदार्थों का गर्भ नाम और निवास स्थान है इससे उस परमेश्वर का नाम "हिरण्यगर्भ" है। (सत्यार्थप्रकाश, प्रथमसमुल्लासः) ॥

भाष्यसार—सृष्टि विद्या का उपदेश—उस पूर्ण आदिपुरुष से विराट् अर्थात् पदार्थों से प्रकाशमान ब्रह्माण्ड रूप जगत् उत्पन्न होता है। विराट् जगत् का सर्वोपरि अधिष्ठाता परिपूर्ण परमात्मा है। और वह इस जगत् से पूर्व भी प्रसिद्ध है तथा जगत् से पृथक् रहता है अर्थात् वह इस जगत् में व्यापक होकर भी इसके कल्माष=पाप से अलिप्त है। सामान्य से जगत्-निर्माण का कथन करके विशेषता से भूमि आदि के निर्माण का उपदेश किया जाता है॥ ३१। ५॥

नारायणः। **पुरुषः**=**ईश्वरः**। विराडनुष्टुप्। गान्धारः॥

पुनस्तमेव विषयमाह॥

सृष्टिविद्या का फिर उपदेश किया जाता है॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्। पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये॥ ६॥

पदार्थः—(**तस्मात्**) पूर्वोक्तात् (**यज्ञात्**) पूजनीयात् पुरुषात् (**सर्वहुतः**) सर्वैर्हूयत=आदीयते तस्मात् (**सम्भृतम्**) सम्यक् सिद्धं जातम् (**पृषदाज्यम्**) दध्याज्यादि भोज्यं वस्तु (**पशून्**) (**तान्**) (**चक्रे**) करोति (**वायव्यान्**) वायुवद् गुणान् (**आरण्याः**) अरण्ये भवाः सिंहादयः (**ग्राम्याः**) ग्रामे भवा गवादयः (**च**) (**ये**)॥ ६॥

अन्वयः—हे मनुष्यास्तस्मात्सर्वहुतो यज्ञात्सर्वं पृषदाज्यं सम्भृतं य आरण्या ग्राम्याश्च तान् वायव्यान् पशून् यश्चक्रे तं विजानीत॥ ६॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः! **तस्मात्** पूर्वोक्तात् **सर्वहुतः** सर्वैर्हूयत=आदीयते तस्माद् **यज्ञात्** पूजनीयात् पुरुषात् **सर्वं पृषदाज्यं** दध्याज्यादिभोज्यं **सम्भृतं** सम्यक् सिद्धं जातम्।

भावार्थ—हे मनुष्यो! (तस्मात्) उस पूर्वोक्त (सर्वहुतः) सब से ग्रहण करने योग्य (यज्ञात्) पूजनीय पुरुष से—सब (पृषदाज्यम्) दधि=दही आदि भोज्य वस्तुएँ (सम्भृतम्) सम्यक् सिद्ध हुई हैं।

य आरण्याः अरण्ये भवाः सिंहादयः **ग्राम्याः** ग्रामे भवा गवादयः **च तान् वायव्यान्** वायुवद् गुणान् पशून् **यश्चक्रे** करोति **तं विजानीत** ॥ ६ ॥

और जो—(आरण्याः) अरण्य में रहने वाले सिंह आदि तथा (ग्राम्याः) ग्राम में रहने वाले गौ आदि पशु हैं; उन (वायव्यान्) वायु के तुल्य गुणवान् पशुओं को (करोति) उत्पन्न करता है; उसे तुम जानो ॥ ३१ । ६ ॥

भावार्थः—येन सर्वैर्ग्रहीतव्येन पूज्येन जगदीश्वरेण सर्वजगद्धिताय दध्यादि भोग्यं वस्तु ग्रामस्था वनस्थाश्च पशवो निर्मिताः, तं सर्वं उपासीरन् ॥ ३१ । ६ ॥

भावार्थ—जिस सब से ग्रहण करने योग्य, पूज्य जगदीश्वर ने सब जगत् के हित के लिए दधि=दही आदि भोज्य वस्तुएँ तथा ग्राम और वन के पशु बनाए हैं; उसकी सब उपासना करो ॥ ३१ । ६ ॥

भा० पदार्थः—सर्वहुतः=सर्वैर्ग्रहीतव्येन । यज्ञात्=पूज्येन । पृषदाज्यम्=दध्यादि भोग्यं वस्तु । आरण्याः=वनस्थाः पशवः । ग्राम्याः=ग्रामस्थाः पशवः । चक्रे=निर्मिताः ।

अन्यत्र व्याख्यात—[क] प्रथम ईश्वर को नमस्कार और प्रार्थना करके पश्चात् वेदों की उत्पत्ति का विषय लिखा जाता है कि वेद किसने उत्पन्न किए हैं (तस्माद्यज्ञात्स०) सत् जिसका कभी नाश नहीं होता चित् जो सदा ज्ञानस्वरूप है जिसको अज्ञान का लेश भी कभी नहीं होता, आनन्द जो सदा सुखस्वरूप और सब को सुख देने वाला है, इत्यादि लक्षणों से युक्त पुरुष जो सब जगह में परिपूर्ण हो रहा है जो सब मनुष्यों को उपासना के योग्य इष्टदेव और सब सामर्थ्य से युक्त है, उसी परब्रह्म से (ऋचः) ऋग्वेद (यजुः) यजुर्वेद (सामानि) सामवेद (छन्दांसि) इस शब्द से अथर्व भी, ये चारों वेद उत्पन्न हुए हैं। इसलिए सब मनुष्यों को उचित है कि वेदों को ग्रहण करें और वेदोक्त रीति से ही चलें। (जज्ञिरे) और (अजायत) इन दोनों क्रियाओं के अधिक होने से वेद अनेक विद्याओं से युक्त हैं ऐसा जाना जाता है, वैसे ही (तस्मात्) इन दोनों पदों के अधिक होने से यह निश्चय जानना चाहिए कि ईश्वर से ही वेद उत्पन्न हुए हैं किसी मनुष्य से नहीं। वेदों में सब मन्त्र गायत्र्यादि छन्दों से युक्त ही हैं फिर (छन्दांसि) इस पद के कहने से चौथा जो अथर्ववेद है उसकी उत्पत्ति का प्रकाश होता है। शतपथ आदि ब्राह्मण और वेदमन्त्रों के प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि यज्ञ शब्द से विष्णु का और विष्णु शब्द से सर्वव्यापक जो परमेश्वर है उसी का ग्रहण होता है, क्योंकि सब जगत् की उत्पत्ति करनी परमेश्वर में ही घटती है; अन्यत्र नहीं। (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदोत्पत्तिविषय) ॥

[ख] (तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः०) इस मन्त्र का अर्थ वेदोत्पत्ति प्रकरण में कुछ कर दिया है, पूर्वोक्त पुरुष से ही (संभृतः पृषदाज्यम्) सब भोजन, वस्त्र, अन्न, जल आदि पदार्थों को सब मनुष्य लोगों ने धारण अर्थात् प्राप्त किया है, क्योंकि उसी के सामर्थ्य से ये सब पदार्थ उत्पन्न हुए और उन्हीं से सब का जीवन भी होता है। इससे सब मनुष्य लोगों को उचित है कि उसको छोड़ के किसी दूसरे की उपासना न करें। (पशूँस्तांश्चक्रे०) ग्राम और वन के सब पशुओं को भी उसी ने उत्पन्न किया है, तथा सब पक्षियों को भी बनाया है, और भी सूक्ष्म देहधारी कीट पतंग आदि जीवों के देह भी उसी ने उत्पन्न किए हैं। (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सृष्टिविद्याविषय) ॥

भाष्यसार—**सृष्टिविद्या का उपदेश**—उस पूर्वोक्त, सब से ग्रहण करने योग्य, पूजनीय पुरुष ने दही, घृत आदि सब भोज्य पदार्थ सब जगत् के हित के लिए बनाए हैं। जंगली सिंह आदि

और ग्राम्य गौ आदि पशु भी उसी ने बनाए हैं जो वायु के सदृश गुणों वाले हैं। सब मनुष्य उस परमेश्वर की उपासना करें ॥ ३१ । ६ ॥

नारायणः । **स्रष्टेश्वरः**=स्पष्टम् । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

सृष्टिविद्या का फिर उपदेश किया जाता है ॥

तस्मा॑द्य॒ज्ञात्स॑र्व॒हुत॒ऽ ऋच॒ः सामा॑नि जज्ञिरे ।
छन्दा॑ᳪसि जज्ञि॒रे तस्मा॒द्यजु॒स्तस्मा॑दजायत ॥ ७ ॥

पदार्थः—(**तस्मात्**) पूर्णात् (**यज्ञात्**) पूजनीयतमात् (**सर्वहुतः**) सर्वं जुह्वति=सर्वं समर्पयन्ति वा यस्मै (**ऋचः**) ऋग्वेदः (**सामानि**) सामवेदः (**जज्ञिरे**) जायन्ते (**छन्दांसि**) अथर्ववेदः (**जज्ञिरे**) (**तस्मात्**) परमात्मनः (**यजुः**) यजुर्वेदः (**तस्मात्**) (**अजायत**) जायते ॥ ७ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः! युष्माभिस्तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः परमात्मन ऋचः सामानि जज्ञिरे तस्माच्छन्दाᳪसि जज्ञिरे तस्माद्यजुरजायत स विज्ञातव्यः ॥ ७ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः! युष्माभिस्तस्मात् पूर्णाद् **यज्ञात्** पूजनीयतमात् **सर्वहुतः**=**परमात्मनः** सर्वं जुह्वति, सर्वं समर्पयन्ति वा यस्मै **ऋचः** ऋग्वेदः **सामानि** सामवेदः **जज्ञिरे** जायन्ते । **तस्मात्** परमात्मनः **छन्दांसि** अथर्ववेदः **जज्ञिरे** जायन्ते । **तस्मात्** परमात्मनः **यजुः** यजुर्वेदः **अजायत** जायते, **स विज्ञातव्यः** ॥ ३१ । ७ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो! तुम—(तस्मात्) उस पूर्ण, (यज्ञात्) पूजनीयतम, (सर्वहुतः) सब जिसे ग्रहण करते हैं अथवा जिसे सब कुछ सौंप देते हैं उस परमात्मा से (ऋचः) ऋग्वेद और (सामानि) सामवेद (जज्ञिरे) उत्पन्न हुए हैं। (तस्मात्) उस परमात्मा से (छन्दांसि) अथर्ववेद (जज्ञिरे) उत्पन्न हुआ है। (तस्मात्) उस परमात्मा से (यजुः) यजुर्वेद (अजायत) उत्पन्न हुआ है;—उसे जानो ॥ ३१ । ७ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः! भवन्तो यस्मात् सर्वे वेदा जायन्ते तं परमात्मानमुपासीरन्, वेदाँश्चाधीयोरन्, तदाज्ञानुकूलं च वर्त्तित्वा सुखिनो भवन्तु ॥ ३१ । ७ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो! आप—जिससे सब वेद उत्पन्न होते हैं; उस परमात्मा की उपासना करो, और वेदों का अध्ययन करो, उसकी आज्ञा के अनुकूल वर्ताव करके सुखी रहो ॥ ३१ । ७ ॥

भाष्यसार—**सृष्टि-विद्या का उपदेश**—उस पूर्ण, पूजनीयतम, सब से ग्रहण करने योग्य वा सर्वस्व समर्पण करने योग्य परमात्मा से ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और यजुर्वेद उत्पन्न हुए हैं। उस परमात्मा की उपासना करो। वेदों का अध्ययन करो। वेदों एवं परमात्मा की आज्ञा के अनुकूल वर्त्ताव करके सुखी रहो ॥ ३१ । ७ ॥

नारायणः । **पुरुषः**=ईश्वरः । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

सृष्टिविद्या का फिर उपदेश किया जाता है ॥

तस्मा॒दश्वा॑ ऽ अजायन्त॒ ये के चो॑भ॒याद॑तः ।
गावो॑ ह जज्ञिरे॒ तस्मा॒त्तस्मा॑ज्जा॒ता ऽ अ॑जा॒वय॑ः ॥ ८ ॥

पदार्थः—(**तस्मात्**) परमेश्वरात् (**अश्वाः**) तुरङ्गाः (**अजायन्त**) उत्पन्नाः (**ये**) (**के**) (**च**) गर्दभादयः (**उभयादतः**) उभयोरधऊर्ध्वभागयोर्दन्ता येषान्ते (**गावः**) धेनवः । गाव इत्युपलक्षणमेकदन्ताम् (**ह**) किल (**जज्ञिरे**) उत्पन्नाः (**तस्मात्**) (**तस्मात्**) (**जाताः**) उत्पन्नाः (**अजावयः**) अजाश्चावयश्च ते ॥ ८॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! युष्माकमश्वा ये के चोभयादतः सन्ति ते तस्मादजायन्त । तस्माद् गावो ह जज्ञिरे तस्मादजावयो जाता इति वेद्यम् ॥ ८ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **मनुष्याः** ! **युष्माकमश्वाः** तुरङ्गाः, **ये के च** गर्दभादयः **उभयादतः** उभयोरध ऊर्ध्वभागयोर्दन्ता येषान्ते **सन्ति, ते तस्मात्** परमेश्वराद् **अजायन्त** उत्पन्नाः । **तस्मात्** परमेश्वरात् **गावः** धेनवः **ह** किल **जज्ञिरे** उत्पन्नाः । **तस्मात्** परमेश्वराद् **अजावयः** अजाश्चावयश्च ते, **जाताः** उत्पन्नाः **इति वेद्यम्** ॥ ३१ । ८ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! तुम्हारे (अश्वाः) घोड़े और (ये के च) जो कुछ गर्दभ आदि तथा (उभयादतः) ऊपर-नीचे दोनों ओर दांतों वाले पशु हैं; वे (तस्मात्) उस परमेश्वर से (अजायन्त) उत्पन्न हुए हैं । (तस्मात्) उस परमेश्वर से (गावः) दुधारु गौवें (ह) भी (जज्ञिरे) उत्पन्न हुई हैं । (तस्मात्) उस परमेश्वर से (अजावयः) अजा=बकरी और अवि=भेड़ें (जाताः) उत्पन्न हुई हैं; ऐसा जानो ॥ ३१ । ८ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यूयं गवाश्वादयो ग्राम्याः सर्वे पशवो यस्मात् सनातनात् पूर्णात् पुरुषादेवोत्पन्नास्तस्याज्ञोल्लङ्घनं कदापि मा कुरुत ॥ ३१ । ८ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! तुम—गौ, घोड़े आदि ग्राम्य सब पशु जिस सनातन, पूर्ण पुरुष से उत्पन्न हुए हैं; उसकी आज्ञा का उल्लंघन कभी मत करो ॥ ३१ । ८ ॥

अन्यत्र व्याख्यात—(तस्मादश्वा अजायन्त) उसी पुरुष के सामर्थ्य से. अश्व अर्थात् घोड़े और बिजुली आदि सब पदार्थ उत्पन्न हुए हैं । (ये के चोभयादतः) जिनके मुख में दोनों ओर दांत होते हैं उन पशुओं को 'उभयदत' कहते हैं; वे ऊंट, गधा आदि उसी से उत्पन्न हुए हैं । (गावो ह ज०) उसी से गो जाति अर्थात् गाय, पृथिवी, किरण और इन्द्रिय उत्पन्न हुई हैं । (तस्माज्जाता अ०) इसी प्रकार छेरी और भेड़ें भी उसी कारण से उत्पन्न हुई हैं (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सृष्टिविद्याविषयः) ॥

भाष्यसार—**सृष्टिविद्या का उपदेश**—घोड़े, गधे आदि तथा जिनके दोनों ओर दांत हैं ऐसे अन्य पशु, धेनु=दुधारु गौ, बकरी और भेड़ ये उस सनातन पूर्ण पुरुष से उत्पन्न हुए हैं । उसकी आज्ञा का कभी उल्लंघन मत करो ॥ ३१ । ८ ॥

नारायणः । **पुरुषः**=ईश्वरः । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

सृष्टिविद्या का फिर उपदेश किया जाता है ॥

तं य॒ज्ञं ब॒र्हिषि॒ प्रौक्ष॑न् पुरु॑षं जा॒तम॑ग्र॒तः ।
तेन॑ दे॒वा ऽ अ॑यजन्त सा॒ध्या ऽ ऋष॑यश्च॒ ये ॥ ९ ॥

पदार्थः—(**तम्**) उक्तम् (**यज्ञम्**) संपूजनीयम् (**बर्हिषि**) मानसे ज्ञानयज्ञे (**प्र**) प्रकर्षेण (**औक्षन्**) सिञ्चन्ति (**पुरुषम्**) पूर्णम् (**जातम्**) प्रादुर्भूतञ्जगत्कर्त्तारम् (**अग्रतः**) सृष्टेः प्राक् (**तेन**) तदुपदिष्टेन वेदेन (**देवाः**) विद्वांसः (**अयजन्त**) पूजयन्ति (**साध्याः**) साधनं=योगाभ्यासादिकं कुर्वन्तो ज्ञानिनः (**ऋषयः**) मन्त्रार्थविदः (**च**) (**ये**) ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! ये देवाः साध्या ऋषयश्च यमग्रतो जातं यज्ञं पुरुषं बर्हिषि प्रौक्षन् त एव तेनायजन्त च तं यूयं विजानीत ॥ ९ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! **ये देवाः** विद्वांसः, **साध्याः** साधनं=योगाभ्यासादिकं कुर्वन्तो ज्ञानिनः, **ऋषयः** मन्त्रार्थविदः **च, यमग्रतः** सृष्टेः प्राक् **जातं** प्रादुर्भूतञ्जगत्कर्त्तारं **यज्ञं** संपूजनीयं **पुरुषं** पूर्णं **बर्हिषि** मानसे ज्ञानयज्ञे **प्र+उक्षन्** प्रकर्षेण सिञ्चन्ति, **त एव तेन** तदुपदिष्टेन वेदेन **अयजन्त** पूजयन्ति **च, तम्** उक्तं **यूयं विजानीत** ॥ ३१ । ९ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! (ये) जो (देवाः) विद्वान्, (साध्याः) साधन=योगाभ्यास आदि करने वाले ज्ञानी, और (ऋषयः) मन्त्रार्थ के ज्ञाता ऋषि हैं; वे—जिस (अग्रतः) सृष्टि से पूर्व (जातम्) प्रादुर्भूत, जगत् के कर्त्ता, (यज्ञम्) पूजनीय (पुरुषम्) पूर्ण ईश्वर को (बर्हिषि) मानस ज्ञानयज्ञ में (प्र+उक्षन्) उत्तम रीति से सींचते हैं, और वे ही (तेन) उसके द्वारा उपदिष्ट वेद से (अयजन्त) पूजा करते हैं; (तम्) उसे तुम जानो ॥ ३१ । ९ ॥

भावार्थः—विद्वद्भिर्मनुष्यैः सृष्टिकर्त्तेश्वरो योगाभ्यासादिना सदा हृदयान्तरिक्षे ध्यातव्यः पूजनीयश्च ॥ ३१ । ९ ॥

भावार्थ—विद्वान् मनुष्य—सृष्टि के कर्त्ता ईश्वर का योगाभ्यास आदि से सदा हृदयाकाश में ध्यान करें और उसकी पूजा करें ॥ ३१ । ९ ॥

भा० पदार्थः—जातम्=सृष्टिकर्त्तेश्वरः । दिवि=हृदयान्तरिक्षे ॥

अन्यत्र व्याख्यात—(तं यज्ञं बर्हि०) सो सब से प्रथम प्रकट था, जो सब जगत् का बनाने वाला है और सब जगत् में पूर्ण हो रहा है, उस यज्ञ अर्थात् पूजने के योग्य परमेश्वर को जो मनुष्य हृदय रूप आकाश में अच्छी प्रकार से प्रेम भक्ति, सत्य आचरण करके पूजन करता है, वही उत्तम मनुष्य है। ईश्वर का यह उपदेश सब के लिए है। (तेन देवा अजयन्त सा०) उसी परमेश्वर के वेदोक्त उपदेशों से (देवाः) जो विद्वान् (साध्याः) जो ज्ञानी लोग (ऋषयश्च ये) ऋषि लोग जो वेद मन्त्रों के अर्थ जानने वाले, और अन्य भी मनुष्य जो परमेश्वर के सत्कारपूर्वक सब उत्तम ही काम करते हैं, वे ही सुखी होते हैं; क्योंकि सब श्रेष्ठ कर्मों के करने के पूर्व ही उसका स्मरण और प्रार्थना अवश्य करनी चाहिए और दुष्ट कर्म करना तो किसी को उचित ही नहीं। (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सृष्टिविद्याविषय) ॥

भाष्यसार—**सृष्टिविद्या का उपदेश**—देव अर्थात् विद्वान्, साध्य अर्थात् योगाभ्यास आदि करने वाले ज्ञानी, और मन्त्रार्थ के ज्ञाता ऋषि लोग—सृष्टि से प्रथम प्रसिद्ध, जगत् कर्त्ता, पूजनीय, पूर्ण ईश्वर को मानस ज्ञानयज्ञ में उत्तम रीति से हृदय में सींचते हैं अर्थात् हृदय में उसका ध्यान करते हैं और उससे उपदिष्ट वेद के द्वारा उसकी पूजा करते हैं। सब मनुष्य मन्त्रोक्त ईश्वर को अवश्य जानें ॥ ३१ । ९ ॥

नारायणः । **पुरुषः=ईश्वरः** । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

सृष्टिविद्या का फिर उपदेश किया जाता है ॥

यत्पुरु॑षं॒ व्यद॑धुः कति॒धा व्य॑कल्पयन् ।
मुखं॒ किम॑स्यासी॒त्किं बा॒हू किमू॒रू पादा॑ ऽ उच्येते ॥ १० ॥

पदार्थः—(**यत्**) यम् (**पुरुषम्**) पूर्णम् (**वि**) विविधप्रकारेण (**अदधुः**) धरन्ति (**कतिधा**) कतिप्रकारैः (**वि**) विशेषेण (**अकल्पयन्**) कथयन्ति (**मुखम्**) मुखस्थानीयं श्रेष्ठम् (**किम्**) (**अस्य**) पुरुषस्य (**आसीत्**) अस्ति (**किम्**) (**बाहू**) भुजबलभृत् (**किम्**) (**ऊरू**) जानुन ऊर्द्ध्वावयवस्थानीयम् (**पादौ**) नीचस्थानीयम् (**उच्येते**) ॥ १० ॥

अन्वयः—हे विद्वांसो ! भवन्तो यद्यं पुरुषं व्यदधुस्तं कतिधा व्यकलपयन्नस्य सृष्टौ मुखं किमासीद्‌बाहू किमुच्यते । ऊरू पादौ च किमुच्येते ॥ १० ॥

सपदार्थान्वयः—हे **विद्वांसो** ! **भवन्तो यत्=यं पुरुषं** पूर्णं **वि+अदधुः** विविधप्रकारेण धरन्ति **तं कतिधा** कतिप्रकारैः **वि+अकल्पयन्** विशेषेण कथयन्ति **अस्य** पुरुषस्य **सृष्टौ मुखं** मुखस्थानीयं श्रेष्ठं **किमासीद्** अस्ति ? **बाहू** भुजबलभृत् **किमुच्येते** ? **ऊरू** जानुन उद्ध्वावयवस्थानीयं **पादौ** नीचस्थानीयं **च किमुच्येते** ? ॥ ३१ । १०॥

भाषार्थ—हे विद्वानो ! आप—(यत्) जिस (पुरुषम्) पूर्ण ईश्वर को (वि+अदधुः) विविध प्रकार से धारण करते हैं, उसे (कतिधा) कितने प्रकार से (वि+अकल्पयन्) विशेष रूप से कहते हैं; (अस्य) इस पुरुष की सृष्टि में (मुखम्) मुखस्थानीय श्रेष्ठ वस्तु (किम्) क्या (आसीत्) है ? (बाहू) भुजाबल को धारण करने वाला (किम्) कौन (उच्येते) कहलाता है ? (ऊरू) जानु से ऊर्ध्व अवयव-स्थानीय और (पादौ) नीच-स्थानीय (किम्) कौन (उच्येते) कहलाते हैं ॥ ३१ । १० ॥

भावार्थः—हे विद्वांसोऽत्र संसारेऽसंख्यं सामर्थ्यमीश्वरस्यास्ति, तत्र समुदाये मुखमुत्तमाङ्गं, बाह्वादीनि चाङ्गानि कानि सन्ति, इति ब्रूत ॥ ३१ । १०॥

भावार्थ—हे विद्वानो ! इस संसार में असंख्य सामर्थ्य ईश्वर का है; उस समुदाय में मुख=उत्तमाङ्ग और बाहु आदि अङ्ग कौन हैं ? यह बतलाओ ॥ ३१ । १० ॥

भा० पदार्थः—मुखम्=उत्तमाङ्गम् ॥

अन्यत्र व्याख्यात—(यत् पुरुषं०) पुरुष उसको कहते हैं कि जो सर्वशक्तिमान् ईश्वर कहाता है। (कतिधा व्य०) जिसके सामर्थ्य को अनेक प्रकार से प्रतिपादन करते हैं क्योंकि उसमें चित्र-विचित्र बहुत प्रकार का सामर्थ्य है। अनेक कल्पनाओं से जिसका कथन करते हैं। (मुखं किमस्यासीत्) इस पुरुष के मुख अर्थात् मुख्य गुणों से इस संसार में क्या उत्पन्न हुआ है। (किं बाहु) बल, वीर्य्य, शूरता और युद्ध आदि विद्या गुणों से इस संसार में कौन पदार्थ उत्पन्न हुआ है। (किमूरू) व्यापार आदि मध्यम गुणों से किसकी उत्पत्ति हुई है । (पादा उच्येते) मूर्खपन आदि नीच गुणों में किसकी उत्पत्ति होती है। इन चारों प्रश्नों के उत्तर ग्यारहवें मन्त्र में हैं।

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सृष्टिविद्याविषय)

भाष्यसार—**सृष्टिविद्या का उपदेश**—विद्वान् लोग जिस पूर्ण परमेश्वर को विविध प्रकार से धारण करते हैं तथा कितने ही प्रकारों से उसका विशेष कथन करते हैं। इस संसार में ईश्वर का असंख्य सामर्थ्य है। हे विद्वानो ! यह बतलाओ कि—

इस पुरुष (ईश्वर) की सृष्टि में मुख के तुल्य श्रेष्ठ कौन है? बाहु के तुल्य बल को धारण करने वाला कौन है? जानु के ऊद्धर्व भाग के तुल्य कौन है? नीच स्थानीय पांव के तुल्य कौन है? ॥ ३१ । १० ॥

नारायणः । **पुरुषः**=ईश्वरः । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

सृष्टिविद्या का फिर उपदेश किया जाता है ॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳬ शूद्रो ऽ अजायत ॥ ११ ॥

पदार्थः—(**ब्राह्मणः**) वेदेश्वरविदनयोः सेवक उपासको वा (**अस्य**) ईश्वरस्य (**मुखम्**) मुखमिवोत्तमः (**आसीत्**) अस्ति (**बाहू**) भुजाविव बलवीर्य्ययुक्तः (**राजन्यः**) राजपुत्रः (**कृतः**) निष्पन्नः (**ऊरू**) ऊरू इव वेगादिकर्मकारी (**तत्**) (**अस्य**) (**यत्**) (**वैश्यः**) यो यत्र तत्र विशति=प्रविशति तदपत्यम् (**पद्भ्याम्**) सेवानिरभिमानाभ्याम् (**शूद्रः**) मूर्खत्वादिगुणविशिष्टो मनुष्यः (**अजायत**) जायते ॥ ११ ॥

अन्वयः—हे जिज्ञासवो ! यूयमस्य सृष्टौ ब्राह्मणो मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतो यदूरू तदस्य वैश्य आसीत्पद्भ्यां शूद्रोऽजायतेत्युत्तराणि यथाक्रमं विजानीत ॥ ११ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **जिज्ञासवो** ! **यूयमस्य** ईश्वरस्य **सृष्टौ ब्राह्मणः** वेदेश्वरविदनयोः सेवक उपासको वा **मुखं** मुखमिवोत्तमः **आसीत्** अस्ति । **बाहू** भुजाविव बलवीर्य्ययुक्तः **राजन्यः** राजपुत्रः **कृतः** निष्पन्नः । **यदूरू** ऊरू इव वेगादिकर्मकारी **तदस्य वैश्यः** यो यत्र तत्र विशति=प्रविशति तदपत्यम् **आसीद्** अस्ति । **पद्भ्यां** सेवानिरभिमानाभ्यां **शूद्रः** मूर्खत्वादिगुणविशिष्टो मनुष्यः **अजायत** जायते **इत्युत्तराणि यथाक्रमं विजानीत** ॥ ३१ । ११ ॥

भाषार्थ—हे जिज्ञासु लोगो! तुम—(अस्य) इस ईश्वर की सृष्टि में (ब्राह्मणः) वेद और ईश्वर का ज्ञाता, इनका सेवक वा उपासक पुरुष (मुखम्) मुख के तुल्य उत्तम (आसीत्) है। (बाहू) भुजाओं के तुल्य बल-वीर्य से युक्त (राजन्यः) राजपुत्र=क्षत्रिय (कृतः) बनाया है। (यत्) जो (ऊरू) ऊरू=जंघाओं के तुल्य वेग आदि कर्म करने वाला है (तद्) वह (अस्य) इस ईश्वर की सृष्टि में (वैश्यः) यत्र-तत्र देश में प्रवेश करने वाले का पुत्र वैश्य (आसीत्) है। (पद्भ्याम्) सेवा और निरभिमान से (शूद्रः) मूर्खता आदि गुणों से युक्त मनुष्य (अजायत) उत्पन्न होता है;—ये उत्तम कर्म से जानो ॥ ३१ । ११ ॥

भावार्थः—ये विद्याशमदमादिषूत्तमेषु गुणेषु मुखमिवोत्तमास्ते ब्राह्मणाः, येऽधिकवीर्या बाहुवत् कार्यसाधकास्ते क्षत्रियाः, ये व्यवहारविद्याकुशलास्ते वैश्याः, ये च सेवायां साधवो विद्याहीनाः पादाविव मूर्खत्वादिनीचगुणयुक्तास्ते शूद्राः कार्या मन्तव्याश्च ॥ ३१ । ११ ॥

भावार्थ—जो विद्या, शम, दम आदि उत्तम गुणों में मुख के तुल्य उत्तम हैं; उन्हें ब्राह्मण; जो अधिक वीर्य=बल वाले मनुष्य बाहु के तुल्य कार्य-साधक हैं, उन्हें क्षत्रिय; जो व्यवहार विद्या में कुशल हैं, वे वैश्य; और जो सेवा में श्रेष्ठ, विद्या से हीन, पांव के तुल्य मूर्खता आदि नीच गुणों से युक्त हैं, उन्हें शूद्र बनावें और मानें ॥ ३१ । ११ ॥

भा० पदार्थः—ब्राह्मणः=विद्याशमदमादिषूत्तमेषु गुणेषु मुखमिवोत्तमः। राजन्यः=अधिकवीर्यो बाहुवत् कार्यसाधकः क्षत्रियः। वैश्यः=व्यवहारविद्याकुशलः। शूद्रः=सेवायां साधुः, विद्याहीनः, पादाविव मूर्खत्वादिनीचगुणयुक्तः।

अन्यत्र व्याख्यात—[क] (ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीत्) इस पुरुष की आज्ञा के अनुसार जो विद्या, सत्यभाषणादि उत्तम गुण और श्रेष्ठ कर्मों से ब्राह्मण वर्ण उत्पन्न होता है, वह मुख्य कर्म गुणों के सहित होने से मनुष्यों में उत्तम कहाता है। (बाहू राजन्यः कृतः) और ईश्वर ने बल, पराक्रम आदि पूर्वोक्त गुणों से युक्त क्षत्रिय वर्ण को उत्पन्न किया है। (ऊरू तदस्य०) खेती व्यापार और सब देशों की भाषाओं को जानना तथा पशुपालन आदि मध्यम गुणों से वैश्य वर्ण सिद्ध होता है। (पद्भ्याᳫ शूद्रो०) जैसे पग सब से नीच अङ्ग है वैसे मूर्खता आदि नीच गुणों से शूद्र वर्ण सिद्ध होता है॥ (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सृष्टिविद्याविषय)॥

[ख] (प्रश्न) इसका अर्थ यह है कि ब्राह्मण ईश्वर के मुख, क्षत्रिय बाहू, वैश्य ऊरू और शूद्र पगों से उत्पन्न हुआ है। इसलिए जैसे मुख न बाहु आदि और बाहु आदि न मुख होते हैं इसी प्रकार ब्राह्मण न क्षत्रियादि और क्षत्रियादि न ब्राह्मण हो सकते हैं। (उत्तर) इस मन्त्र का अर्थ जो तुमने किया वह ठीक नहीं क्योंकि यहाँ पुरुष अर्थात् निराकार व्यापक परमात्मा की अनुवृत्ति है। जब वह निराकार है तो उस के मुखादि अंग नहीं हो सकते, जो मुखादि अंग वाला हो वह पुरुष अर्थात् व्यापक नहीं, और जो व्यापक नहीं वह सर्वशक्तिमान् जगत् का स्रष्टा, धर्त्ता, प्रलयकर्त्ता, जीवों के पुण्यपापों की व्यवस्था करने हारा, सर्वज्ञ, आत्मा मृत्युरहित आदि विशेषण वाला नहीं हो सकता। इसलिए इसका यह अर्थ है कि जो (अस्य) पूर्ण व्यापक परमात्मा की सृष्टि में मुख के सदृश सब में मुख्य उत्तम हो वह (ब्राह्मणः) ब्राह्मण; (बाहू) "बाहुर्वै बलं बाहुर्वै वीर्यम्" शतपथ ब्राह्मण। बल वीर्य्य का नाम बाहु है, वह जिसमें अधिक हो सो (राजन्यः) क्षत्रिय; (ऊरू) कटि के अधो और जानु उपरिस्थ भाग का नाम है, जो सब पदार्थों और सब देशों में ऊरू के बल से जावे, आवे, प्रवेश करे वह (वैश्यः) वैश्य और (पद्भ्याम्) जो पग के अर्थात्, नीच अंग के सदृश मूर्खत्वादि गुण वाला हो; वह शूद्र है (सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास)॥

भाष्यसार—**सृष्टिविद्या का उपदेश**—इस ईश्वर की सृष्टि में ब्राह्मण अर्थात् वेद और ईश्वर का ज्ञाता अथवा इन दोनों का सेवक और उपासक मुख के तुल्य श्रेष्ठ है। जो मनुष्य विद्या, शम, दम आदि उत्तम गुणों में मुख के तुल्य उत्तम होते हैं वे ब्राह्मण कहलाते हैं। जो भुजाओं के तुल्य बल-वीर्य से युक्त होता है वह क्षत्रिय है। जो ऊरू=जंघाओं के तुल्य वेग आदि कर्म अर्थात् व्यापार के लिए यातायात करता है एवं व्यवहार विद्या में कुशल है वह वैश्य है। जो सेवा और निरभिमान से उत्पन्न मूर्खता आदि नीच गुणों से युक्त मनुष्य है वह शूद्र कहलाता है॥ ३१। ११॥

नारायणः। **पुरुषः**=ईश्वरः। अनुष्टुप्। गान्धारः॥

पुनस्तमेव विषयमाह॥

सृष्टिविद्या का फिर उपदेश किया जाता है॥

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो ऽ अजायत।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत॥ १२॥

पदार्थः—(**चन्द्रमाः**) चन्द्रलोकः (**मनसः**) मननशीलातसामर्थ्यात् (**जातः**) (**चक्षोः**) ज्योतिःस्वरूपात् (**सूर्यः**) सूर्यलोकः (**अजायत**) जातः (**श्रोत्राद्**) श्रोत्रावकाशरूपसामर्थ्यात् (**वायुः**) (**च**)

आकाशप्रदेशाः (**प्राणः**) जीवननिमित्तः (**च**) (**मुखात्**) मुख्यज्योतिर्मयाद्भक्षणरूपात् (**अग्निः**) पावकः (**अजायत**) ।। १२ ।।

अन्वयः—हे मनुष्याः ! अस्य ब्रह्मणः पुरुषस्य मनसश्चन्द्रमा जातश्चक्षोः सूर्य्योऽजायत श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायतेति बुध्यध्वम् ।। १२ ।।

सपदार्थान्वयः—**हे मनुष्याः ! अस्य ब्रह्मणः पुरुषस्य मनसः** मननशीलात्सामर्थ्यात् **चन्द्रमाः** चन्द्रलोकः **जातश्चक्षोः** ज्योतिःस्वरूपात् **सूर्यः** सूर्यलोकः **अजायत** जातः, **श्रोत्राद्** श्रोत्रावकाशरूपसामर्थ्याद् **वायुश्च** आकाशप्रदेशाः **प्राणः** जीवननिमित्तः **च, मुखात्** मुख्यज्योतिर्मयाद् भक्षणरूपात् **अग्निः** पावकः **अजायत** जातः **इति बुध्यध्वम्** ।। ३१ । १२ ।।

भावार्थः—यदिदं सर्वं जगत्कारणादीश्वरेणोत्पादितं वर्त्तते, तत्र—चन्द्रलोको मनःस्वरूपः, सूर्यः चक्षुःस्थानी, वायुः प्राणश्च श्रोत्रवत्, मुखमिवाग्निः, लोमवदोषधिर्वनस्पतयो, नाडीवन्नद्यो, ऽस्थिवत् पर्वतादिर्वर्तत इति वेदितव्यम् ।।३१।१२।।

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! तुम—इस ब्रह्म पुरुष के (मनसः) मननशील सामर्थ्य से (चन्द्रमाः) चन्द्रलोक (जातः) उत्पन्न हुआ है; (चक्षोः) ज्योतिःस्वरूप सामर्थ्य से (सूर्यः) सूर्यलोक (अजायत) उत्पन्न हुआ है; (श्रोत्रात्) श्रोत्र अवकाश रूप सामर्थ्य से (वायुः) वायु (च) आकाश के प्रदेश और (प्राणश्च) जीवन का निमित्त प्राण तथा (मुखात्) मुख्य ज्योतिर्मय भक्षण रूप सामर्थ्य से (अग्निः) अग्नि (अजायत) उत्पन्न हुआ है; ऐसा जानो ।। ३१ । १२ ।।

भावार्थ—जो यह सब जगत् कारण= प्रकृति से ईश्वर ने उत्पन्न किया है; उसमें—चन्द्रलोक मन स्वरूप है; सूर्य चक्षु स्थानीय है; वायु और प्राण श्रोत्र के तुल्य हैं; मुख के तुल्य अग्नि है; लोम के तुल्य ओषधि और वनस्पतियाँ हैं; नाडियों के तुल्य नदियाँ हैं; अस्थि=हड्डियों के तुल्य पर्वत आदि हैं; ऐसा जानो ।। ३१ । १२ ।।

अन्यत्र व्याख्यात—(चन्द्रमा०) उस पुरुष के मनन अर्थात् ज्ञानस्वरूप सामर्थ्य से चन्द्रमा और तेजस्वरूप से सूर्य्य उत्पन्न हुआ है। (श्रोत्राद्वा०) श्रोत्र अर्थात् अवकाश रूप सामर्थ्य से और वायु रूप सामर्थ्य से वायु उत्पन्न हुआ है तथा सब इन्द्रियाँ भी अपने अपने कारण से उत्पन्न हुई हैं, आकाश और मुख्य ज्योतिरूप सामर्थ्य से अग्नि उत्पन्न हुआ है। (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सृष्टिविद्याविषय) ।।

भाष्यसार—**सृष्टिविद्या का उपदेश**—इस ब्रह्म पुरुष के मन अर्थात् मननशील सामर्थ्य से चन्द्रलोक, चक्षु अर्थात् ज्योति स्वरूप सामर्थ्य से सूर्यलोक, श्रोत्र एवं अवकाश रूप सामर्थ्य से वायु, आकाश प्रदेश और प्राण, मुख अर्थात् मुख्य ज्योतिर्मय भक्षण रूप सामर्थ्य से अग्नि उत्पन्न हुआ है। तात्पर्य यह है कि यह सब जगत् ईश्वर ने कारण=प्रकृति से उत्पन्न किया है। इसमें चन्द्रमा मन है, सूर्य चक्षु है, वायु और प्राण श्रोत्र हैं, अग्नि मुख है, ओषधियाँ तथा वनस्पतियाँ लोम हैं, नदियाँ नाडी हैं, पर्वत आदि हड्डियाँ हैं ।। ३१ । १२ ।।

नारायणः । **पुरुषः**=ईश्वरः । अनुष्टुप् । गान्धारः ।।

पुनस्तमेव विषयमाह ।।

सृष्टिविद्या का फिर उपदेश किया जाता है ।।

नाभ्या ऽ आसीद॒न्तरि॑क्ष॒ᳪ शी॒र्ष्णो द्यौः सम॑वर्त्तत ।
प॒द्भ्यां भूमि॒र्दिशः॒ श्रोत्रा॒त्तथा लो॒काँ२ऽ अ॑कल्पयन् ॥ १३ ॥

पदार्थः—(नाभ्याः) अवकाशमयान्मध्यवर्त्तिसामर्थ्यात् (**आसीत्**) अस्ति (**अन्तरिक्षम्**) मध्यवर्त्याकाशम् (**शीर्ष्णः**) शिरइवोत्तमसामर्थ्यात् (**द्यौः**) प्रकाशयुक्तलोकः (**सम्**) (**अवर्त्तत**) (**पद्भ्याम्**) पृथिवीकारणरूपसामर्थ्यात् (**भूमिः**) (**दिशः**) पूर्वाद्याः (**श्रोत्रात्**) अवकाशमयात् (**तथा**) तेनैव प्रकारेण (**लोकान्**) (**अकल्पयन्**) कथयन्ति ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथाऽस्य नाभ्या अन्तरिक्षमासीच्छीर्ष्णो द्यौः पद्भ्यां भूमिः समवर्त्तत श्रोत्राद्दिशोऽकल्पयँस्तथाऽन्यांल्लोकानुत्पन्नान् विजानीत ॥ १३ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! यथाऽस्य **नाभ्याः** अवकाशमयान्मध्यवर्त्तिसामर्थ्याद् **अन्तरिक्षं** मध्यवर्त्याकाशम् **आसीत्** अस्ति । **शीर्ष्णः** शिर इवोत्तमसामर्थ्याद् **द्यौः** प्रकाशयुक्तलोकः **पद्भ्यां** पृथिवीकारणरूपसामर्थ्याद् **भूमिः समवर्त्तत** । **श्रोत्रात्** अवकाशमयाद् **दिशः** पूर्वाद्याः **अकल्पयन्** कथयन्ति **तथा** तेनैव प्रकारेण **अन्यांल्लोकानुत्पन्नान् विजानीत** ॥ ३१ । १३ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे—इस ब्रह्म पुरुष के (नाभ्याः) अवकाशमय मध्यवर्ती सामर्थ्य से (अन्तरिक्षम्) मध्यवर्ती आकाश (आसीत्) उत्पन्न हुआ है । (शीर्ष्णः) शिर के तुल्य उत्तम सामर्थ्य से (द्यौः) प्रकाशयुक्त लोक तथा (पद्भ्याम्) पृथिवी के कारण रूप सामर्थ्य से (भूमिः) भूमि (समवर्तत) उत्पन्न हुई है । (श्रोत्रात्) अवकाशमय सामर्थ्य से (दिशः) पूर्व आदि दिशाओं को उत्पन्न (अकल्पयन्) बतलाते हैं; (तथा) उसी प्रकार से अन्य लोकों को भी उत्पन्न हुआ जानो ॥ ३१ । १३ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यद् यदत्र सृष्टौ कार्यभूतं वस्तु वर्त्तते, तत् तत्सर्वं विराडाख्यस्य कार्यकारणस्याऽवयवरूपं वर्त्तत, इति वेद्यम् ॥१३॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जो इस सृष्टि में कार्य रूप वस्तु है; वह-वह सब विराट् नामक कार्य-कारण की अवयव रूप वस्तु है; ऐसा जानो ॥ ३१ । १३ ॥

अन्यत्र व्याख्यात—(नाभ्या आसीदन्त०) इस पुरुष के अत्यन्त सूक्ष्म सामर्थ्य से अन्तरिक्ष अर्थात् जो भूमि और सूर्य्यादि लोकों के बीच में पोल है सो भी नियत किया हुआ है । (शीर्ष्णो द्यौः०) और जिसके उत्तम सामर्थ्य से सब लोकों के प्रकाश करने वाले सूर्य्य आदि लोक उत्पन्न हुए हैं । (पद्भ्यां भूमिः) पृथिवी के परमाणु कारणरूप सामर्थ्य से परमेश्वर ने पृथिवी उत्पन्न की है, तथा जल को भी उसके कारण से उत्पन्न किया है । (दिशः श्रोत्रात्) उसने श्रोत्ररूप सामर्थ्य से दिशाओं को उत्पन्न किया है । (तथा लोकां२ऽ अकल्पयन्) इसी प्रकार सब लोकों के कारणरूप सामर्थ्य से परमेश्वर ने सब लोक और उनमें बसने वाले सब पदार्थों को उत्पन्न किया है ॥

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सृष्टिविद्याविषय) ॥

भाष्यसार—**सृष्टिविद्या का उपदेश**—इस ईश्वर की नाभि अर्थात् अवकाशमय मध्यवर्ती सामर्थ्य से आकाश, शिर के तुल्य उत्तम सामर्थ्य से द्युलोक, पृथिवी के कारण रूप सामर्थ्य से भूमि, श्रोत्र अर्थात् अवकाशमय सामर्थ्य से पूर्व आदि दिशाएँ उत्पन्न हुईं । इसी प्रकार अन्य लोक भी ईश्वर के तत्सम्बद्ध सामर्थ्य से उत्पन्न हुए हैं ॥ ३१ । १३ ॥

नारायणः । पुरुषः=ईश्वरः । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ।।

पुनस्तमेव विषयमाह ।।

सृष्टिविद्या का फिर उपदेश किया जाता है ।।

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म ऽ इध्मः शरद्धविः ।। १४ ।।

पदार्थः—(**यत्**) यदा (**पुरुषेण**) पूर्णेन परमात्मना (**हविषा**) होतुमादातुमर्हेण (**देवाः**) विद्वांसः (**यज्ञम्**) मानसं ज्ञानमयम् (**अतन्वत**) तन्वते=विस्तृणन्ति (**वसन्तः**) पूर्वाह्णः (**अस्य**) यज्ञस्य (**आसीत्**) अस्ति (**आज्यम्**) (**ग्रीष्मः**) मध्याह्नः (**इध्मः**) प्रदीपकः (**शरत्**) अर्द्धरात्रः (**हविः**) होतव्यं द्रव्यम् ।। १४ ।।

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यद्धविषा पुरुषेण सह देवा यज्ञमतन्वत तदाऽस्य वसन्त आज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविरासीदिति यूयमपि विजानीत ।। १४ ।।

सपदार्थान्वयः—हे **मनुष्याः** ! **यद्** यदा **हविषा** होतुमादातुमर्हेण **पुरुषेण** पूर्णेन परमात्मना **सह देवाः** विद्वांसः **यज्ञं** मानसं ज्ञानमयम् **अतन्वत** तन्वते=विस्तृणन्ति । **तदाऽस्य** यज्ञस्य **वसन्तः** पूर्वाह्णः **आज्यं, ग्रीष्मः** मध्याह्नः **इध्मः** प्रदीपकः, **शरत्** अर्द्धरात्रः **हविः** होतव्यं द्रव्यं **आसीद्** अस्ति, **इति यूयमपि विजानीत** ।। ३१। १४।।

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! (यत्) जब (हविषा) ग्रहण करने योग्य (पुरुषेण) पूर्ण परमात्मा के साथ (देवाः) विद्वान् लोग (यज्ञम्) मानसिक ज्ञानमय यज्ञ को (अतन्वत) विस्तृत करते हैं; तब (अस्य) इस यज्ञ का (वसन्तः) वसन्त रूप पूर्वाह्ण (आज्यम्) घृत है; (ग्रीष्मः) ग्रीष्म रूप मध्याह्न (इध्म) प्रदीपक=इन्धन है; (शरत्) अर्द्ध रात्रि रूप शरत् (हविः) होम के योग्य द्रव्य (आसीत्) है; ऐसा तुम जानो ।। ३१ । १४ ।।

भावार्थः—यदा बाह्यसामग्र्यभावे विद्वांसः सृष्टिकर्त्तुरीश्वरस्योपासनाख्यं मानसं ज्ञानयज्ञं विस्तारयेयुः, तदा पूर्वाह्णादिकाल एव साधन-रूपेण कल्पनीयः ।। ३१ । १४ ।।

भावार्थ—जब बाह्य सामग्री के अभाव में विद्वान् लोग सृष्टिकर्ता ईश्वर की उपासना नामक मानसिक ज्ञानयज्ञ का विस्तार करते हैं; तब पूर्वाह्ण आदिकाल ही साधक रूप में कल्पित होता है ।। ३१ । १४ ।।

भा० पदार्थः—यज्ञम्=उपासनाख्यं मानसं ज्ञानयज्ञम् । अतन्वत=विस्तारयेयुः ।।

अन्यत्र व्याख्यात—(यत्पुरुषेण०) देव अर्थात् जो विद्वान् लोग होते हैं उनको भी ईश्वर ने अपने-अपने कर्मों के अनुसार उत्पन्न किया है। और वे ईश्वर के दिए पदार्थों का ग्रहण करके पूर्वोक्त यज्ञ का विस्तारपूर्वक अनुष्ठान करते हैं। और जो ब्रह्माण्ड का रचन, पालन और प्रलय करना रूप यज्ञ है उसी को जगत् बनाने की सामग्री कहते हैं। (वसन्तो०) पुरुष ने उत्पन्न किया जो यह ब्रह्माण्ड रूप यज्ञ है, इसमें वसन्त ऋतु जो ज्येष्ठ और अषाढ इंधन है। श्रवण और भाद्रपद वर्षा ऋतु। आश्विन और कार्त्तिक शरद् ऋतु। मार्गशीर्ष और पौष हिम ऋतु और माघ तथा फाल्गुन शिशिर ऋतु कहाती है। यह इस यज्ञ में आहुति है। सो यहाँ रूपकालंकार से सब ब्रह्माण्ड का व्याख्यान जानना चाहिए।

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सृष्टिविद्याविषय) ।।

भाष्यसार—**सृष्टि विद्या का उपदेश**—जब बाह्य सामग्री के अभाव में विद्वान् लोग सृष्टिकर्त्ता ईश्वर के उपासना नामक मानस ज्ञानयज्ञ का विस्तार करते हैं; तब इस यज्ञ का वसन्त रूप पूर्वाह्ण घृत, ग्रीष्म रूप मध्याह्न इन्धन, शरत् रूप अर्द्धरात्रि होम द्रव्य साधन रूप में कल्पित होता है ॥ ३१ । १४ ॥

नारायणः । **पुरुषः**=ईश्वरः । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

सृष्टिविद्या का फिर उपदेश किया जाता है ॥

स॒प्तास्या॑सन प॒रि॒धय॒स्त्रिः स॒प्त स॒मिध॑ः कृ॒ताः ।
दे॒वा यद्य॒ज्ञं त॑न्वा॒ना ऽ अब॑ध्न॒न् पुरु॑षं प॒शुम् ॥ १५ ॥

पदार्थः—(सप्त) गायत्र्यादीनि छन्दांसि (**अस्य**) यज्ञस्य (**आसन्**) सन्ति (**परिधयः**) परितः=सर्वतः सूत्रवद्धीयन्ते ये ते (**त्रिः**) त्रिवारम् (**सप्त**) एकविंशतिः=प्रकृतिः, महत्तत्वम्, अहंकारः, पञ्च स्थूलानि, पञ्चसूक्ष्मभूतानि, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि, सत्वरजस्तमांसि त्रयो गुणाश्चेत्येकविंशतिः (**समिधः**) सामग्रीभूताः (**कृताः**) निष्पादिताः (**देवाः**) विद्वांसः (**यत्**) यम् (**यज्ञम्**) मानसं ज्ञानमयम् (**तन्वानाः**) विस्तृणवन्तः (**अबध्नन्**) बध्नन्ति (**पुरुषम्**) परमात्मानम् (**पशुम्**) द्रष्टव्यम् ॥ १५ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यद्यं यज्ञं तन्वाना देवाः पशुं पुरुषं हृद्यबध्नन्तस्याऽस्य सप्त परिधय आसंस्त्रिः सप्त समिधः कृतास्तं यथावत् विजानीत ॥ १५ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **मनुष्याः** ! **यत्**=**यं यज्ञं** मानसं ज्ञानमयं **तन्वानाः** विस्तृणवन्तः **देवाः** विद्वांसः **पशुं** द्रष्टव्यं **पुरुषं** परमात्मानं **हृद्यबध्नन्** बध्नन्ति; **तस्याऽस्य** यज्ञस्य **सप्त** गायत्र्यादीनि छन्दांसि **परिधयः** परितः=सर्वतः सूत्रवद्धीयन्ते ये ते **आसन्** सन्ति; **त्रिः** त्रिवारम् सप्त [त्रिवारं सप्त] एकविंशतिः=प्रकृतिः, महत्तत्वं, अहङ्कारः, पञ्च स्थूलानि, पञ्च सूक्ष्मभूतानि, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि, सत्वरजस्तमांसि त्रयो गुणाश्चेत्येकविंशतिः **समिधः** सामग्रीभूताः **कृताः** निष्पादिताः; **तं यथावत् विजानीत** ॥ ३१ । १५ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! (यत्) जिस (यज्ञम्) मानसिक ज्ञानमय यज्ञ को (तन्वानाः) विस्तृत करते हुए (देवाः) विद्वान् लोग—(पशुम्) दर्शन करने के योग्य (पुरुषम्) परमात्मा को हृदय में बाँधते हैं; उस (अस्य) इस यज्ञ की (सप्त) गायत्री आदि सात छन्द (परिधयः) सूत्र के तुल्य धारण करने वाली परिधियाँ (आसन्) हैं; (त्रिः, सप्त) तीन बार सात ३×७=२१ **इक्कीस—प्रकृति**, महतत्त्व, अहङ्कार, पाँच स्थूल भूत, पाँच सूक्ष्म भूत, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, सत्त्व, रज, तम तीन गुण, ये इक्कीस (समिधः) सामग्री रूप (कृताः) बनाए हैं; उसे यथावत् जानो ॥ ३१ । १५ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यूयमिममनेकविधकल्पितपरिध्यादिसामग्रीयुक्तं मानसं यज्ञं कृत्वा, पूर्णमीश्वरं विज्ञाय, सर्वाणि प्रयोजनानि साध्नुत ॥ ३१ । १५ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! तुम—इस अनेक प्रकार से कल्पित, परिधि आदि सामग्री से युक्त मानस यज्ञ को करके, पूर्ण ईश्वर को जानकर सब प्रयोजनों को सिद्ध करो ॥ ३१ । १५ ॥

भा० पदार्थः—यज्ञम्=इममनेकविधकल्पितपरिध्यादिसामग्रीयुक्तं मानसं यज्ञम् । पुरुषम्=पूर्णमीश्वरम् ।

अन्यत्र व्याख्यात—(सप्तास्या०) ईश्वर ने एक-एक लोक के चारों ओर सात-सात परिधि ऊपर-ऊपर रची हैं। जो गोल चीज के चारों ओर एक सूत से नाप के जितना परिमाण होता है उसको परिधि कहते हैं। सो जितने ब्रह्माण्ड में लोक हैं ईश्वर ने उन एक एक के ऊपर सात-सात आवरण बनाए—एक समुद्र, दूसरा त्रसरेणु, तीसरा मेघमण्डल का वायु, चौथा वृष्टिजल और पाँचवाँ वृष्टि जल के ऊपर एक प्रकार का वायु, छठा अत्यन्त सूक्ष्म वायु जिस को धनञ्जय कहते हैं, सातवाँ सूत्रात्मा वायु जो कि धनञ्जय से भी सूक्ष्म है ये सात परिधि कहाते हैं (त्रिःसप्त समिधः०) और ब्रह्माण्ड की सामग्री २१ इक्कीस प्रकार की कहाती है। जिसमें से एक प्रकृति बुद्धि और जीव ये तीनों मिल के है क्योंकि यह अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ है, दूसरा श्रोत्र, तीसरी त्वचा, चौथा नेत्र, पांचमी जिह्वा; छठी नासिका, सातवी वाक्, आठमा पग, नवमा हाथ, दशमी गुदा, ग्यारहमा उपस्थ जिसको लिंग इन्द्रिय कहते हैं। बारहमा शब्द, तेरहमा स्पर्श, चौदहमा रूप, पन्द्रहमा रस, सोलहमा गन्ध, सत्रहमी पृथिवी, अठारहमा जल, उन्नीसमा अग्नि, बीसमा वायु, इक्कीसमा आकाश, ये इक्कीस समिधा कहाते हैं। (देवाय०) जो परमेश्वर पुरुष इस सब जगत् का रचने वाला सब का देखने वाला और पूज्य है; उस को विद्वान् लोग सुन के और उसी के उपदेश से उसी के कर्म और गुणों का कथन, प्रकाश और ध्यान करते हैं। उस को छोड़ के दूसरों को ईश्वर किसी ने नहीं माना और उसी के ध्यान में अपने आत्माओं को दृढ़ बांधने से कल्याण जानते हैं।

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सृष्टिविद्याविषय)॥

भाष्यसार—**सृष्टिविद्या का उपदेश**—जिस मानस ज्ञानमय यज्ञ का विस्तार करते हुए विद्वान् लोग—दर्शन करने योग्य परमात्मा को हृदय में बांधते हैं; उस यज्ञ की गायत्री आदि छन्दोरूप सात परिधियाँ हैं। प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, पांच स्थूल भूत, पाँच सूक्ष्म भूत, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, सत्त्व-रज-तम तीन गुण ये इक्कीस उस यज्ञ की समिधाएँ हैं; सामग्री हैं। मनुष्य इस मानस ज्ञानमय यज्ञ को करके पूर्ण ईश्वर को जानकर सब प्रयोजनों को सिद्ध करें॥ ३१। १५॥

नारायणः। **पुरुषः**=ईश्वरः। विराट् त्रिष्टुप्। धैवतः॥

पुनस्तमेव विषयमाह॥

सृष्टिविद्या का फिर उपदेश किया जाता है॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥ १६॥

पदार्थः—(**यज्ञेन**) उक्तेन ज्ञानेन (**यज्ञम्**) पूजनीयं सर्वरक्षकमग्निवत्तपनम् (**अयजन्त**) पूजयन्ति (**देवाः**) विद्वांसः (**तानि**) ईश्वरपूजनादीनि (**धर्माणि**) धारणात्मकानि (**प्रथमानि**) अनादिभूतानि मुख्यानि (**आसन्**) सन्ति (**ते**) (**ह**) एव (**नाकम्**) अविद्यमानदुखं मुक्तिसुखम् (**महिमानः**) महत्त्वयुक्ताः (**सचन्त**) समवयन्ति =प्राप्नुवन्ति (**यत्र**) यस्मिन् सुखे (**पूर्वे**) इतः पूर्वसम्भवाः (**साध्याः**) कृतसाधनाः (**सन्ति**) (**देवाः**) देदीप्यमाना विद्वांसः॥ १६॥

अन्वयः—हे मनुष्याः! ये देवा यज्ञेन यज्ञमयजन्त तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ते महिमानः सन्तो यत्र पूर्वे साध्या देवाः सन्ति तन्नाकं ह सचन्त तद्यूयमप्याप्नुत॥ १६॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! ये **देवाः** विद्वांसः **यज्ञेन** उक्तेन ज्ञानेन **यज्ञं** पूजनीयं सर्वरक्षकमग्निवत्तपनम् **अयजन्त** पूजयन्ति; **तानि** ईश्वरपूजनादीनि **धर्माणि** धारणात्मकानि **प्रथमानि** अनादिभूतानि मुख्यानि **आसन्** सन्ति । **ते महिमानः** महत्त्वयुक्ताः **सन्तो यत्र** यस्मिन् सुखे **पूर्वे** इतः पूर्वसम्भवाः **साध्याः** कृतसाधनाः **देवाः** देदीप्यमाना विद्वांसः **सन्ति; तन्नाकम्** अविद्यमान-दुःखं मुक्तिसुखं **ह** एव **सचन्त** समवयन्ति=प्राप्नुवन्ति **तद्यूयमप्याप्नुत** ।। ३१ । १६ ।।

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जो (देवाः) विद्वान् (यज्ञेन) उक्त ज्ञान यज्ञ से (यज्ञम्) पूजनीय, सर्वरक्षक, अग्नि के तुल्य तेजस्वी परमेश्वर की (अयजन्त) पूजा करते हैं; उनके (तानि) वे ईश्वर-पूजन आदि (धर्माणि) धारणात्मक धर्म (प्रथमानि) अनादि एवं मुख्य (आसन्) हैं। वे (महिमानः) महत्त्व युक्त होकर (यत्र) जिस सुख में (पूर्वे) पूर्वज (साध्याः) साधन करने वाले (देवाः) विद्यादि से देदीप्यमान विद्वान् (सन्ति) होते हैं; उस (नाकम्) दुःख रहित मुक्ति सुख को (ह) ही (सचन्त) प्राप्त करते हैं;—उसे तुम भी प्राप्त करो ।। ३१ । १६ ।।

भावार्थः—मनुष्यैर्योगाभ्यासादिना सदा परमेश्वर उपासनीयः । अनेनादिकालीनधर्मेण मुक्तिसुखं प्राप्य, पूर्वविद्वद्वदानन्दितव्यम् ।। १६ ।।

भावार्थ—मनुष्य योगाभ्यास आदि से सदा परमेश्वर की उपासना करें। इस अनादि कालीन धर्म से मुक्ति-सुख को प्राप्त करके पूर्वज विद्वानों के तुल्य आनन्दित रहें ।। ३१ । १६ ।।

भा० पदार्थः—यज्ञेन=योगाभ्यासादिना ।

अन्यत्र व्याख्यात—(यज्ञेन यज्ञम०) विद्वानों को देव कहते हैं, और वे सब के पूज्य होते हैं, क्योंकि वे सब दिन परमेश्वर ही की स्तुति, प्रार्थना, उपासना और आज्ञापालन आदि विधान से पूजा करते हैं। इस से सब मनुष्यों को उचित है कि वेदमन्त्रों से प्रथम ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना करके शुभ कर्मों का आरम्भ करें। (ते ह नाकं०) जो जो ईश्वर की उपासना करने वाले लोग हैं, वे वे सब दुःखों से छूट के सब मनुष्यों में अत्यन्त पूज्य होते हैं। (यत्र पूर्वे सा०) जहाँ जहाँ विद्वान् लोग परम पुरुषार्थ से जिस पद को प्राप्त होके नित्य आनन्द में रहते हैं; उसी को मोक्ष कहते हैं; क्योंकि उससे निवृत्त होके संसार के दुखों में कभी नहीं गिरते।

इस अर्थ में निरुक्तकार का भी यही अभिप्राय है कि जो परमेश्वर के अनन्त प्रकाश में मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, वे परमेश्वर ही के प्रकाश में सदा रहते हैं; उनको अज्ञान रूप अन्धकार कभी नहीं होता।

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सृष्टिविद्याविषय) ।।

भाष्यसार—**सृष्टिविद्या का उपदेश**—जो विद्वान लोग उक्त ज्ञानमय यज्ञ से पूजनीय, सर्वरक्षक, अग्नि के तुल्य तेजस्वी परमेश्वर की पूजा करते हैं; ईश्वर-पूजन आदि धर्मों को मुख्य समझते हैं, वे महत्त्वशाली होते हैं तथा जिस सुख में पूर्वज, योगाभ्यासादि साधन करने वाले, विद्या से देदीप्यमान विद्वान् लोग रहते हैं उस मुक्ति सुख को प्राप्त करते हैं ।। ३१ । १६ ।। ●

उत्तरनारायणः । **आदित्यः**=ईश्वरः । भुरिक्त्रिष्टुप् । धैवतः ।।

पुनस्तमेव विषयमाह ।।

सृष्टिविद्या का फिर उपदेश किया जाता है।।

अ॒द्भ्यः सम्भृ॑तः पृथि॒व्यै रसा॑च्च वि॒श्वक॑र्मणः॒ सम॑वर्त्त॒ताग्रे॑ ।
तस्य॒ त्वष्टा॑ वि॒दध॑द्रू॒पमे॑ति॒ तन्मर्त्य॑स्य दे॒व॒त्वमा॒जान॒मग्रे॑ ॥ १७ ॥

पदार्थः—(**अद्भ्यः**) जलेभ्यः (**सम्भृतः**) सम्यक् पुष्टः (**पृथिव्यै**) पृथिव्याः । **अत्र पञ्चम्यर्थे चतुर्थी** (**रसात्**) जिह्वाविषयात् (**च**) (**विश्वकर्मणः**) विश्वानि=सर्वाणि सत्यानि कर्माणि यस्याश्रयेण तस्मात्सूर्य्यात् (**सम्**) (**अवर्त्तत**) वर्त्तते (**अग्रे**) प्राक् (**तस्य**) (**त्वष्टा**) तनूकर्त्ता (**विदधत्**) विधानं कुर्वन् (**रूपम्**) स्वरूपम् (**एति**) (**तत्**) (**मर्त्यस्य**) मनुष्यस्य (**देवत्वम्**) विद्वत्त्वम् (**आजानत्**) समन्ताज्जनानां= मनुष्याणामिदं कर्त्तव्यं कर्म (**अग्रे**) आदितः ॥ १७ ॥

प्रमाणार्थ—(पृथिव्यै) पृथिव्याः । यहाँ पंचमी विभक्ति के अर्थ में चतुर्थी है ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! योऽद्भ्यः पृथिव्यै विश्वकर्मणश्च सम्भृतस्तस्माद्रसादग्र इदं सर्वं समवर्त्तत तस्याऽस्य जगतो तद्रूपं त्वष्टा विदधदग्रे मर्त्यस्याजानं देवत्वमेति ॥ १७ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! **योऽद्भ्यः** जलेभ्यः **पृथिव्यै** पृथिव्याः **विश्वकर्मणः** विश्वानि=सर्वाणि सत्यानि कर्माणि यस्याश्रयेण तस्मात्सूर्य्यात् **च सम्भृतः** सम्यक् पुष्टः **तस्माद् रसाद्** जिह्वाविषयाद् **अग्रे** प्राक् **इदं सर्वं समवर्त्तत** वर्त्तते; **तस्याऽस्य जगतो तद्रूपं** स्वरूपं **त्वष्टा** तनूकर्त्ता **विदधत्** विधानं कुर्वन् **अग्रे** आदितः **मर्त्यस्य** मनुष्यस्य **आजानं** समन्ताज्जनानां= मनुष्याणामिदं कर्त्तव्यं कर्म **देवत्वं** विद्वत्त्वम् **एति** ॥ ३१ । १७ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! योऽखिलकार्यकर्त्ता परमात्मा कारणात् कार्याणि निर्मिमीते, सकलस्य जगतः शरीराणां रूपाणि विदधाति, तज्ज्ञानं, तदाज्ञापालनमेव देवत्वमस्तीति जानीत ॥३१।१७॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जो—(अद्भ्यः) जलों से, (पृथिव्यै) पृथिवी से और (विश्वकर्मणः) सब सत्य कर्म जिसके आश्रय से होते हैं, उस सूर्य से (सम्भृतः) सम्यक् पुष्ट है; उस (रसात्) जिह्वा विषयक रस से (अग्रे) पहले यह सब जगत् (समवर्त्तत) वर्तमान रहता है; इस जगत् के उस (रूपम्) स्वरूप को (त्वष्टा) छीनने वाला परमात्मा (विदधत्) बनाता हुआ—(अग्रे) प्रथम से (मर्त्यस्य) मनुष्य के (आजानम्) कर्त्तव्य कर्म एवं (देवत्वम्) देवत्व को (एति) जानता है ॥३१।१७॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जो सब कार्य करने वाला परमात्मा कारण से कार्यों का निर्माण करता है; सकल जगत् के शरीरों के रूपों को बनाता है; उसका ज्ञान तथा उसकी आज्ञा का पालन करना ही 'देवत्व' है; ऐसा जानो ॥ ३१ । १७ ॥

भा० पदार्थः—रूपम्=शरीराणां रूपाणि । विदधत्=विदधाति । आजानम्=तज्ज्ञानं तदाज्ञापालनम् ।

अन्यत्र व्याख्यात—(अद्भ्यः संभृतः०) उस परमेश्वर पुरुष ने पृथिवी की उत्पत्ति के लिए जल से सारांश रस को ग्रहण करके पृथिवी और अग्नि के परमाणुओं को मिला के पृथिवी रची है । इसी प्रकार अग्नि के परमाणु के साथ जल के परमाणुओं को मिला के जल को, वायु के परमाणुओं के साथ अग्नि के परमाणुओं को मिला के अग्नि को, वायु के परमाणुओं से वायु को रचा है । वैसे ही अपने सामर्थ्य से आकाश को भी रचा है, जो कि सब तत्त्वों के ठहरने का स्थान है । ईश्वर ने प्रकृति से लेके घास पर्यन्त जगत् को रचा है । इससे ये सब पदार्थ ईश्वर के रचे होने से उसका नाम विश्वकर्मा है । जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था तब वह ईश्वर के सामर्थ्य में कारण रूप में वर्तमान था । (तस्य०) जब ईश्वर अपने सामर्थ्य से इस कार्य रूप जगत् को रचता है, तब-तब काय्र्य जगत् रूप गुण वाला होके

स्थूल बनके देखने में आता है। (तन्मर्त्यस्य देवत्व०) जब परमेश्वर ने मनुष्य शरीर आदि को रचा है, तब मनुष्य भी दिव्य कर्म करके देव कहाते हैं, और जब ईश्वर की उपासना से विद्या विज्ञान आदि अत्युत्तम गुणों को प्राप्त होते हैं तब भी उन मनुष्यों का नाम देव होता है; क्योंकि कर्म से उपासना और ज्ञान उत्तम हैं। इसमें ईश्वर की यह आज्ञा है कि जो मनुष्य उत्तम कर्म में शरीर आदि पदार्थों को चलाता है वह संसार में उत्तम सुख पाता है और जो परमेश्वर ही की प्राप्ति रूप मोक्ष की इच्छा करके उत्तम कर्म, उपासना और ज्ञान में पुरुषार्थ करता है वह उत्तम देव होता है।

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सृष्टिविद्याविषय)॥

भाष्यसार—सृष्टिविद्या का उपदेश—जो जगत् जल, पृथिवी और सूर्य से सम्यक् पुष्ट है। जिह्वा विषयक रस (जल) से पूर्व भी यह सब जगत् वर्तमान रहता है। त्वष्टा परमात्मा इस जगत् के स्वरूप का निर्माण करता है। कारण से कार्य रूप बनाता है। सकल जगत् के शरीरों के रूपों को बनाता है। वह मनुष्य के कर्त्तव्य कर्म को तथा विद्वत्ता को प्रथम से जानता है। उस परमात्मा का ज्ञान और उसकी आज्ञा का पालन करना देवत्व है॥ ३१। १७॥

उत्तरनारायणः। **आदित्यः**=ईश्वरः। निचृत्त्रिष्टुप्। धैवतः॥

अथ विज्ञानं जिज्ञासवे कथमुपदिशेदित्याह॥

विज्ञान के जिज्ञासु के लिए कैसा उपदेश करे॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ १८॥

पदार्थः—(वेद) जानामि (अहम्) (एतम्) पूर्वोक्तं परमात्मानम् (पुरुषम्) स्वस्वरूपेण पूर्णम् (महान्तम्) महागुणविशिष्टम् (आदित्यवर्णम्) आदित्यस्य वर्णः=स्वरूपमिव स्वरूपं यस्य तं स्वप्रकाशम् (तमसः) अज्ञानादन्धकाराद्वा (परस्तात्) परस्मिन् वर्त्तमानम् (तम्) (एव) (विदित्वा) विज्ञाय (अति) उल्लङ्घने (मृत्युम्) दुःखप्रदं मरणम् (एति) गच्छति (न) (अन्यः) भिन्नः (पन्थाः) मार्गः (विद्यते) भवति (अयनाय) अभीष्टस्थानाय मोक्षाय॥ १८॥

अन्वयः—हे जिज्ञासोऽहं यमेतं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्ताद्वर्त्तमानं पुरुषं वेद तमेव विदित्वा भवान्मृत्युमत्येति। अन्यः पन्था अयनाय न विद्यते॥ १८॥

सपदार्थान्वयः—हे जिज्ञासो! **अहं यमेतं** पूर्वोक्तं परमात्मानं **महान्तं** महागुणविशिष्टम् **आदित्यवर्णम्** आदित्यस्य वर्णः=स्वरूपमिव स्वरूपं यस्य तं स्वप्रकाशं **तमसः** अज्ञानादन्धकाराद्वा **परस्तात्** परस्मिन् **वर्त्तमानं पुरुषं** स्वस्वरूपेण पूर्णं **वेद** जानामि; **तमेव विदित्वा** विज्ञाय **भवान्मृत्युं** दुःखप्रदं मरणम् **अति+एति** उल्लङ्घ्य गच्छति। **अन्यः** भिन्नः **पन्थाः** मार्गः **अयनाय** अभीष्टस्थानाय मोक्षाय **न विद्यते** भवति॥ ३१। १८॥

भाषार्थ—हे जिज्ञासु! मैं जिस (एतम्) इस पूर्वोक्त, (महान्तम्) महान् गुणों से युक्त, (आदित्यवर्णम्) आदित्य=सूर्य के स्वरूप के तुल्य जिसका स्वरूप है उस स्वप्रकाशस्वरूप परमात्मा को (तमसः) अज्ञान वा अन्धकार से (परस्तात्) परे वर्तमान (पुरुषम्) स्वस्वरूप से पूर्ण (वेद) जानता हूँ। (तमेव) उसी को (विदित्वा) जानकर आप—(मृत्युम्) दुःखदायक मृत्यु को (अति+एति) लाँघते हो; (अन्यः) इससे भिन्न (पन्थाः)

मार्ग (अयनाय) अभीष्ट स्थान मोक्ष के लिए (न, विद्यते) नहीं है ॥ ३१ । १८ ॥

भावार्थः—यदि मनुष्या ऐहिकपारमार्थिके सुखे इच्छेयुस्तर्हि सर्वेभ्यो बृहत्तमं स्वप्रकाशानन्दस्वरूपमज्ञानलेशाद् दूरे वर्त्तमानं परमात्मानं ज्ञात्वैव, मरणाद्यगाधदुःखसागरात् पृथग् भवितुं शक्नुवन्ति । अयमेव सुखप्रदो मार्गोऽस्ति, अस्मादन्यः कश्चिदपि मनुष्याणां मुक्तिमार्गो न भवति ॥ ३१ । १८ ॥

भावार्थ—यदि मनुष्य ऐहिक और पारमार्थिक सुख को चाहें तो—सबसे महान् स्वप्रकाश स्वरूप, आनन्दस्वरूप, अज्ञान के लेश से दूर परमात्मा को जानकर ही मृत्यु आदि अगाध दुःखसागर से पृथक् हो सकते हैं; यही सुखदायक मार्ग है, इससे भिन्न दूसरा कोई भी मनुष्यों के लिए मुक्ति का मार्ग नहीं है ॥ ३१ । १८ ॥

भा० पदार्थः—महान्तम्=सर्वेभ्यो बृहत्तमम् । आदित्यवर्णम्=स्वप्रकाशानन्दस्वरूपम् । तमसः=अज्ञानलेशाद् । परस्तात्=दूरे वर्त्तमानम् । पुरुषम्=परमात्मानम् । विदित्वा=ज्ञात्वा । मृत्युम्=मरणादिदुःखसागरम् । अत्येति+पृथग् भवितुं शक्नोति । पन्थाः=सुखप्रदो मार्गः । अयनाय=मुक्तिमार्गः । विद्यते=भवति ।

अन्यत्र व्याख्यात—[क] (वेदाहमेतं०) प्र०—किस पदार्थ को जान के मनुष्य ज्ञानी होता है ? (उत्तर)—उस पूर्वोक्त लक्षण सहित परमेश्वर ही को यथावत् जान के ठीक-ठीक ज्ञानी होता है; अन्यथा नहीं । सब से बड़ा सब का प्रकाश करने वाला और अविद्या अन्धकार अर्थात् अज्ञान आदि दोषों से अलग है, उसी पुरुष को मैं परमेश्वर और इष्टदेव जानता हूँ । उसको जाने बिना कोई मनुष्य यथावत् ज्ञानवान् नहीं हो सकता; क्योंकि—(तमेव विदित्वा०) उसी परमात्मा को जान के और प्राप्त होके जन्म-मरण आदि क्लेशों के समुद्र समान दुःख से छूट के परमानन्द स्वरूप मोक्ष को प्राप्त होता है; अन्यथा किसी प्रकार से मोक्ष सुख नहीं हो सकता । इससे क्या सिद्ध हुआ कि उसकी उपासना सब मनुष्य लोगों को करनी उचित है । इससे भिन्न की उपासना करना किसी मनुष्य को न चाहिए; क्योंकि मोक्ष का देने वाला एक परमेश्वर के विना दूसरा कोई भी नहीं है । इसमें यह प्रमाण है कि—(नान्यः पन्था०) व्यवहार और परमार्थ के दोनों सुख का मार्ग एक परमेश्वर की उपासना और उसका जानना ही है, क्योंकि इसके विना मनुष्य को किसी प्रकार से सुख नहीं हो सकता । (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सृष्टिविद्याविषयः) ॥

[ख]—सहस्रशीर्षादि विशेषणोक्त पुरुष सर्वत्र परिपूर्ण (पूर्णत्वात्पुरि शयनाद्वा पुरुष इति निरुक्तोक्तेः) है, उस पुरुष को मैं जानता हूँ; अर्थात् सब मनुष्यों को उचित है कि उस परमात्मा को अवश्य जानें, उसको कभी न भूलें, अन्य किसी को ईश्वर न जानें । वह कैसा है कि "महान्तम्" बड़ों से भी बड़ा उससे बड़ा वा तुल्य कोई नहीं है । "आदित्यवर्णम्" आदित्यादि का रचक और प्रकाशक वही एक परमात्मा है, तथा वह सदा स्वप्रकाशस्वरूप ही है । किं च "तमसः परस्तात्" तम जो अन्धकार अविद्यादि दोष उससे रहित ही है, तथा स्वभक्त, धर्मात्मा सत्यप्रेमी जनों को भी अविद्यादि दोषरहित सद्यः करने वाला वही परमात्मा है ।

विद्वानों को ऐसा निश्चय है कि परब्रह्म के ज्ञान और उसकी कृपा के विना कोई जीव कभी सुखी नहीं होता । "तमेव विदित्वेत्यादि०" उस परमात्मा को जान के जीव मृत्यु को उल्लङ्घन कर सकता है; अन्यथा नहीं क्योंकि "नाऽन्यः, विद्यतेऽयनाय" विना परमेश्वर की भक्ति और उसके ज्ञान के मुक्ति का मार्ग कोई नहीं है, ऐसी परमात्मा की दृढ़ आज्ञा है ।

सब मनुष्यों को इसमें वर्त्तना चाहिए और सब पाखण्ड और जंजाल अवश्य छोड़ देना चाहिए (आर्याभिविनय २ । ८) ॥

भाष्यसार—विज्ञान के जिज्ञासु को उपदेश—विद्वान्—जिज्ञासु को उपदेश करता है कि—महान् गुणों से युक्त, आदित्य के समान स्वप्रकाश स्वरूप, अज्ञान वा अन्धकार से दूर, स्व स्वरूप से सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मा को मैं जानता हूँ। उसी को जानकर तू दुःखदायक मृत्यु का उल्लङ्घन कर, मृत्यु को जीत। मोक्ष की प्राप्ति के लिए इससे भिन्न दूसरा कोई मार्ग नहीं है ॥ ३१ । १८ ॥ ●

उत्तरनारायणः । **आदित्यः**=ईश्वरः । भुरिक्त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

पुनरीश्वरः कीदृश इत्याह ॥

फिर ईश्वर कैसा है, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

प्रजापतिश्चरति गर्भे ऽ अन्तरजायमानो बहुधा वि जायते ।
तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ १९ ॥

पदार्थः—(**प्रजापतिः**) प्रजापालको जगदीश्वरः (**चरति**) (**गर्भे**) गर्भस्थे जीवात्मनि (**अन्तः**) हृदि (**अजायमानः**) स्वस्वरूपेणानुत्पन्नः सन् (**बहुधा**) बहुप्रकारैः (**वि**) विशेषेण (**जायते**) प्रकटो भवति (**तस्य**) प्रजापतेः (**योनिम्**) स्वरूपम् (**परि**) सर्वतः (**पश्यन्ति**) प्रेक्षन्ते (**धीराः**) ध्यानवन्तः (**तस्मिन्**) जगदीश्वरे (**ह**) प्रसिद्धम् (**तस्थुः**) तिष्ठन्ति (**भुवनानि**) भवन्ति येषु तानि लोकजातानि (**विश्वा**) सर्वाणि ॥ १९ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! योऽजायमानः प्रजापतिर्गर्भेऽन्तश्चरति बहुधा विजायते तस्य योनिं धीराः परिपश्यन्ति तस्मिन् ह विश्वा भुवनानि तस्थुः ॥ १९ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! योऽजायमानः स्वस्वरूपेणानुत्पन्नः सन् **प्रजापतिः** प्रजापालको जगदीश्वरः **गर्भे** गर्भस्थे जीवात्मनि **अन्तः** हृदि **चरति**, **बहुधा** बहुप्रकारैः **विजायते** विशेषेण प्रकटो भवति; **तस्य** प्रजापतेः **योनिं** स्वरूपं **धीराः** ध्यानवन्तः **परि+पश्यन्ति** सर्वतः प्रेक्षन्ते ।

तस्मिन् जगदीश्वरे **ह** प्रसिद्धं **विश्वा** सर्वाणि **भुवनानि** भवन्ति येषु तानि लोकजातानि **तस्थुः** तिष्ठन्ति ॥ ३१ । १९ ॥

भावार्थः—योऽयं सर्वरक्षक ईश्वरः स्वयमनुत्पन्नः सन् स्वसामर्थ्याज्जगदुत्पाद्य तत्रान्तः प्रविश्य सर्वत्र विचरति, यमनेकप्रकारेण प्रसिद्धं विद्वांस एव जानन्ति, तं जगदधिकरणं सर्वव्यापकं परमात्मानं

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जो (अजायमानः) अपने स्वरूप से उत्पन्न न होने वाला, (प्रजापतिः) प्रजा का पालक जगदीश्वर (गर्भे) गर्भस्थ जीवात्मा में (अन्तः) हृदय में (चरति) विचरण करता है; (बहुधा) बहुत प्रकार से (विजायते) विशेष रूप से प्रकट होता है; (तस्य) उस प्रजापति के (योनिम्) स्वरूप को (धीराः) ध्यानी=योगी लोग (परि+पश्यन्ति) सब ओर देखते हैं ।

(तस्मिन्) उस जगदीश्वर में (ह) ही (विश्वा) सब (भुवनानि) भुवन=लोक-लोकान्तर (तस्थुः) स्थित हैं ॥ ३१ । १९ ॥

भावार्थ—जो यह सब का रक्षक ईश्वर, स्वयं उत्पन्न न होकर अपने सामर्थ्य से जगत् को उत्पन्न करके, उसके अन्दर प्रविष्ट होकर, सर्वत्र विचरण कर रहा है; जिस अनेक प्रकार से प्रसिद्ध

विज्ञाय मनुष्यैरानन्दितव्यम् ।। ३१ । १९ ।।

ईश्वर को विद्वान् ही जानते हैं; उस जगदाधार, सर्वव्यापक परमात्मा को जानकर सब मनुष्य आनन्दित रहें ।। ३१ । १९ ।।

भा० पदार्थः—अजायमानः=स्वयमनुत्पन्नः सन् । प्रजापतिः=सर्वरक्षकः । चरति=विचरति । बहुधा=अनेकप्रकारेण । विजायते=प्रसिद्धमस्ति । धीराः=विद्वांसः । परिपश्यन्ति=जानन्ति ।।

अन्यत्र व्याख्यात—(प्रजापति०) जो प्रजा का पति अर्थात् सब जगत् का स्वामी है वही जड़ और चेतन के भीतर और बाहर अन्तर्यामिरूप से सर्वत्र प्राप्त हो रहा है। जो सब जगत् को उत्पन्न करके, अपने आप सदा अजन्मा रहता है। (तस्य योनिं०) जो उस परब्रह्म की प्राप्ति का कारण सत्य का आचरण और सत्य विद्या है, उसको विद्वान् ध्यान से देख के परमेश्वर को सब प्रकार से प्राप्त होते हैं। (तस्मिन् ह त०) जिसमें ये सब भुवन अर्थात् लोक ठहर रहे हैं; उसी परमेश्वर में ज्ञानी लोग भी सत्य निश्चय से मोक्ष सुख को प्राप्त होके जन्म-मरण आदि आने जाने से छूट के आनन्द में सदा रहते हैं। (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सृष्टिविद्याविषय) ।।

भाष्यसार—**ईश्वर कैसा है**—ईश्वर स्वरूप से उत्पन्न न होने वाला तथा प्रजा का पालक है। गर्भस्थ जीवात्मा के हृदय में विचरण करता है। बहुत प्रकारों से विशेष रूप में प्रकट होता है। उस प्रजापति के स्वरूप को धीर अर्थात् ध्यानी लोग सब ओर देखते हैं। उस जगदीश्वर में ही सब लोक लोकान्तर स्थित हैं। उस जगत् के आधार, सर्वव्यापक परमात्मा को जानकर मनुष्य सदा आनन्दित रहें ।। ३१ । १९ ।।

उत्तरनारायणः । **सूर्य्यः**=स्पष्टम् । अनुष्टुप् । गान्धारः ।।

अथ सूर्यः कीदृश इत्याह ।।

अब सूर्य्य कैसा है, इस विषय का उपदेश किया जाता है ।।

यो दे॒वेभ्य॑ऽ आ॒तप॑ति॒ यो दे॒वानां॑ पु॒रोहि॑तः ।
पूर्वो॒ यो दे॒वेभ्यो॑ जा॒तो नमो॑ रु॒चाय॒ ब्राह्म॑ये ।। २० ।।

पदार्थः—(**यः**) सूर्यः (**देवेभ्यः**) दिव्यगुणेभ्यः पृथिव्यादिभ्यः (**आतपति**) समन्तात्तपति (**यः**) (**देवानाम्**) पृथिव्यादिलोकानाम् (**पुरोहितः**) पुरस्ताद्धिताय मध्ये धृतः (**पूर्वः**) (**यः**) (**देवेभ्यः**) पृथिव्यादिभ्यः (**जातः**) उत्पन्नः (**नमः**) अन्नम् (**रुचाय**) रुचिकरात् (**ब्राह्मये**) यो ब्रह्मणः=परमेश्वरस्यापत्यमिव तस्मात् । **अत्रोभयत्र पञ्चम्यर्थे चतुर्थी** ।। २० ।।

प्रमाणार्थ—(**रुचाय**) रुचिकरात्, (**ब्राह्मये**) यो ब्रह्मणः ···तस्मात् । यहाँ दोनों स्थानों में पञ्चमी विभक्ति के अर्थ में चतुर्थी विभक्ति है ।।

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यो देवेभ्यः आतपति यो देवानां पुरोहितो यो देवेभ्यः पूर्वो जातस्तस्माद् रुचाय ब्राह्मये नमो जायते ।। २० ।।

सपदार्थान्वयः—हे **मनुष्याः** ! **यः** सूर्यः **देवेभ्यः** दिव्यगुणेभ्यः पृथिव्यादिभ्यः **आ**+

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! (यः) जो सूर्य (देवेभ्यः) दिव्य गुणों से युक्त पृथिवी आदि के लिए

तपति समन्तात्तपति; यः सूर्यः **देवानां** पृथिव्यादिलोकानां **पुरोहितः** पुरस्ताद् हिताय मध्ये धृतः **यो देवेभ्यः** पृथिव्यादिभ्यः **पूर्वो जातः** उत्पन्नः **तस्माद् रुचाय** रुचिकराद् **ब्राह्मये** यो ब्रह्मणः=परमेश्वरस्यापत्यमिव तस्मात् **नमः** अन्नं **जायते** ।।३१।२०।।

(आ+तपति) सब ओर तप रहा है; (यः) जो सूर्य (देवानाम्) पृथिवी आदि लोकों के (पुरोहितः) प्रथम से हित के लिए मध्य में रखा हुआ है; (यः) जो (देवेभ्यः) पृथिवी आदि से (पूर्वः) पहले (जातः) उत्पन्न हुआ है; उस (रुचाय) रुचिकर (ब्राह्मये) ब्रह्म=परमेश्वर के पुत्र के तुल्य सूर्य से (नमः) अन्न उत्पन्न होता है ।। ३१ । २० ।।

भावार्थः—हे मनुष्याः ! येन जगदीश्वरेण सर्वेषां हितायान्नाद्युत्पादननिमित्तः सूर्यो निर्मितः, तमेव सततमुपासीध्वम् ।। ३१ । २० ।।

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जिस जगदीश्वर ने सबके हित के लिए अन्नादि के उत्पादन का निमित्त सूर्य बनाया है; उसकी ही सदा उपासना करो ।। ३१ । २० ।।

भा० पदार्थः—पुरोहितः=सर्वेषां हितायोत्पादननिमित्तः सूर्यः । नमः=अन्नादि ।

अन्यत्र व्याख्यात—(यो देवेभ्यः०) जो परमात्मा विद्वानों के लिए सदा प्रकाश स्वरूप है अर्थात् उनके आत्माओं को प्रकाश में कर देता और वही उनका पुरोहित अर्थात् अत्यन्त सुखों से धारण और पोषण करने वाला है । इससे वे फिर दुःखसागर में कभी नहीं गिरते । (पूर्वो यो देवेभ्यो जातो०) जो सब विद्वानों से आदि विद्वान् और जो विद्वानों के ही ज्ञान से प्रसिद्ध अर्थात् प्रत्यक्ष होता है । (नमो रुचाय०) इस अत्यन्त आनन्दस्वरूप और सत्य में रुचि कराने वाले ब्रह्म को हमारा नमस्कार हो; और जो विद्वानों से वेद विद्यादि को यथावत् पढ़ के धर्मात्मा अर्थात् ब्रह्म को पिता के समान मान के सत्य भाव से प्रेम प्रीति करके सेवा करने वाला जो विद्वान् मनुष्य है, उसको भी हम लोग नमस्कार करते हैं ।
(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सृष्टिविद्याविषय) ।।

भाष्यसार—**सूर्य कैसा है**—सूर्य दिव्य गुणों से युक्त पृथिवी आदि के लिए सब ओर तपता है; सूर्य पृथिवी आदि लोकों के मध्य में प्रथम से उनके हित के लिए मध्य में स्थित है; सूर्य पृथिवी आदि से पूर्व उत्पन्न हुआ है । सूर्य रुचि=दीप्ति करने वाला तथा परमेश्वर के पुत्र के तुल्य है, उससे अन्न उत्पन्न होता है । जिस जगदीश्वर ने सूर्य बनाया है उसकी सदा उपासना करें ।। ३१ । २० ।।

उत्तरनारायणः । **विश्वेदेवाः=विद्वांसः** । अनुष्टुप् । गान्धारः ।।

अथ विद्वत्कृत्यमाह ।।

अब विद्वानों के कर्त्तव्य का उपदेश किया जाता है ।।

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा ऽ अग्रे तदब्रुवन् ।
यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा ऽ असन्वशे ।। २१ ।।

पदार्थः—(**रुचम्**) रुचिकरम् (**ब्राह्मम्**) ब्रह्मोपासकम् (**जनयन्तः**) निष्पादयन्तः (**देवाः**) विद्वांसः (**अग्रे**) (**तत्**) ब्रह्मजीवप्रकृतिस्वरूपम् (**अब्रुवन्**) ब्रुवन्तु (यः) (**त्वा**) (**एवम्**) अमुना प्रकारेण (**ब्राह्मणः**) (**विद्यात्**) विजानीयात् (**तस्य**) (**देवाः**) विद्वांसः (**असन्**) स्युः (**वशे**) तदधीनाः ।। २१ ।।

अन्वयः—हे ब्रह्मनिष्ठ ! ये रुचं ब्राह्मं त्वा जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन् यो ब्राह्मण एवं विद्यात्तस्य ते देवा वशे असन् ।। २१ ।।

सपदार्थान्वयः—हे **ब्रह्मनिष्ठ** ! **ये** **रुचं** रुचिकरं **ब्राह्मं** ब्रह्मोपासकं **त्वा** **जनयन्तः** निष्पादयन्तः **देवाः** विद्वांसः **अग्रे** **तद्** ब्रह्मजीव-प्रकृतिस्वरूपम् । **अब्रुवन्** ब्रुवन्तु । **यो ब्राह्मण एवम्** अमुना प्रकारेण **विद्यात्** विजानीयात्, **तस्य ते देवाः** विद्वांसः **वशे** तदधीनाः **असन्** स्युः ॥ ३१ । २१ ॥

भाषार्थ—हे ब्रह्मनिष्ठ जिज्ञासु ! जो—(रुचम्) रुचिकर, (ब्राह्मम्) ब्रह्म का उपासक तुझे (जनयन्तः) बनाते हुए (अग्रे) प्रथम (तद्) उस ब्रह्म, जीव और प्रकृति के स्वरूप को (अब्रुवन्) उपदेश करते हैं। (यः) जो (ब्राह्मणः) विद्वान् (एवम्) उस प्रकार से (विद्यात्) ब्रह्म आदि को जान लेता है (तस्य) उसके वे (देवाः) विद्वान् (वशे) अधीन (असन्) हो जाते हैं ॥ ३१ । २१ ॥

भावार्थः—इदमेवाद्यं विद्वत्कृत्यमस्ति यत् वेदेश्वरधर्मादिषु रुचिरुपदेशाध्यापनधार्मिकत्व जितेन्द्रियत्वशरीरात्मबलवर्द्धनमेवं कृते सति सर्वे दिव्या गुणा भोगाश्च प्राप्तुं शक्याः ॥ ३१ । २१ ॥

भावार्थ—यही प्रथम विद्वानों का कर्त्तव्य है कि—वेद, ईश्वर और धर्म आदि में रुचि, उपदेश, अध्यापन, धार्मिकता, जितेन्द्रियता, शरीर और आत्मा के बल को बढ़ाना; इस प्रकार करने पर सब दिव्य गुण और भोग प्राप्त हो सकते हैं ॥३१।२१॥

भा० पदार्थः—रुचम्=वेदेश्वरधर्मादिषु रुचिः ॥

अन्यत्र व्याख्यात—(रुचं ब्राह्मं०) जो ब्रह्म का ज्ञान है वही अत्यन्त आनन्द करने वाला और उस मनुष्य की उसमें रुचि का बढ़ाने वाला है। जिस ज्ञान को विद्वान् लोग अन्य मनुष्यों के आगे उपदेश करके उनको आनन्दित कर देते हैं। (यस्त्वेवं ब्राह्मणो०) जो मनुष्य इस प्रकार से ब्रह्म को जानता है उसी विद्वान् से सब मन आदि इन्द्रिय वश में हो जाते हैं; अन्य के नहीं।

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सृष्टिविद्याविषय) ॥

भाष्यसार—**विद्वानों का कर्त्तव्य**—ब्रह्म में रुचि रखने वाले, ब्रह्म के उपासक ब्रह्म-निष्ठ जिज्ञासु को विद्वान् लोग—ब्रह्म, जीव और प्रकृति के स्वरूप का उपदेश करें। जो ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्म का जिज्ञासु इस प्रकार से ब्रह्म को जान लेता है; सब विद्वान् लोग उसके वश में हो जाते हैं।

विद्वानों का यह पहला कर्त्तव्य है कि वे वेद, ईश्वर तथा धर्म आदि में रुचि रखें। उपदेश, अध्यापन, धार्मिकता, जितेन्द्रियता को प्राप्त करें तथा शरीर और आत्मा के बल को बढ़ावें। ऐसा करने से सब दिव्य गुण और भोग प्राप्त होते हैं ॥ ३१ । २१ ॥

उत्तरनारायणः । **आदित्यः**=ईश्वरः । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

अथेश्वरः कीदृश इत्याह ॥

अब ईश्वर कैसा है, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

श्रीश्च॑ ते ल॒क्ष्मीश्च॒ पत्न्या॑वहोरा॒त्रे पा॒र्श्वे नक्ष॑त्राणि रू॒पम॒श्विनौ॒ व्यात्त॑म् ।
इ॒ष्णन्नि॑षाणा॒मुं म॑ऽइषाण सर्वलो॒कं म॑ऽइषाण ॥ २२ ॥

पदार्थः—(**श्रीः**) सकला शोभा (**च**) (**ते**) तव (**लक्ष्मीः**) सर्वमैश्वर्य्यम् (**च**) (**पत्न्यौ**) स्त्रीवद्वर्त्तमाने (**अहोरात्रे**) (**पार्श्वे**) (**नक्षत्राणि**) (**रूपम्**) (**अश्विनौ**) सूर्याचन्द्रमसौ (**व्यात्तम्**) विकासितं

मुखमिव । अत्र वि, आङ् पूर्वाड्डुदाञ्धातोः क्तः । (**इष्णन्**) इच्छन् (**इषाण**) कामय (**अमुम्**) इतः परं=परोक्षं सुखम् (**मे**) मह्यम् (**इषाण**) प्रापय (**सर्वलोकम्**) सर्वेषां दर्शनम् (**मे**) मह्यम् (**इषाण**) ॥ २२ ॥

प्रमाणार्थ—(व्यात्तम्) यहाँ वि, आङ् उपासक पूर्वक 'डुदाञ्' धातु से क्त प्रत्यय है ॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर ! यस्य ते श्रीश्च लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे यस्य ते सृष्टावश्विनौ व्यात्तं नक्षत्राणि रूपं स त्वं मेऽमुमिष्णन्निषाण मे सर्वलोकमिषाण मे सर्वाणि सुखानीषाण ॥ २२ ॥

सपदार्थान्वयः—हे जगदीश्वर ! **यस्य ते** तव **श्रीः** सकला शोभा **च, लक्ष्मीः** सर्वमैश्वर्यं **च, पत्न्यौ** स्त्रीवद् वर्त्तमाने **अहोरात्रे पार्श्वे, यस्य ते** तव **सृष्टावश्विनौ** सूर्याचन्द्रमसौ **व्यात्तं** विकासितं मुखमिव, **नक्षत्राणि रूपं, स त्वं मे** मह्यं **अमुम्** इतः परं=परोक्षं सुखम् **इष्णन्** इच्छन् **इषाण** कामय । **मे** मह्यं **सर्वलोकं** सर्वेषां दर्शनम् **इषाण** प्रापय, **मे** मह्यं **सर्वाणि सुखानीषाण** प्रापय ॥ ३१ । २२ ॥

भाषार्थ—हे जगदीश्वर ! (ते) तेरी (श्रीः) सकल शोभा है (च) और (लक्ष्मीः) सब ऐश्वर्य है; (पत्न्यौ) स्त्री के तुल्य वर्तमान (अहोरात्रे) दिन-रात तेरे (पार्श्वे) दो पार्श्वभाग हैं; (ते) तेरी सृष्टि में (अश्विनौ) सूर्य और चन्द्रमा (व्यात्तम्) विकसित मुख के तुल्य हैं; (नक्षत्राणि) नक्षत्र (रूपम्) रूप हैं। सो तू—(मे) मेरे लिए (अमुम्) परोक्ष सुख को (इष्णन्) चाहता हुआ (इषाण) मुझे प्राप्त कराने की कामना कर । (मे) मेरे लिए (सर्वलोकम्) सब के दर्शन को (इषाण) प्राप्त करा, (मे) मेरे लिए सब सुखों को (इषाण) प्राप्त करा ॥ ३१ । २२ ॥

भावार्थः—हे राजादयो मनुष्याः ! यथेश्वरस्य न्यायादयो गुणा, व्याप्तिः, कृपा, पुरुषार्थः, सत्यं रचनं, सत्या नियमाश्च सन्ति तथैव युष्माकमपि सन्तु, यतो युष्माकमुत्तरोत्तरं सुखं वर्द्धेतेति ॥३१॥

भावार्थ—हे राजा आदि मनुष्यो ! जैसे ईश्वर के न्याय आदि गुण, व्याप्ति, कृपा, पुरुषार्थ, सत्य रचना और सत्य नियम हैं; वैसे ही तुम्हारे भी हों; जिससे तुम्हारा उत्तरोत्तर सुख बढ़ता रहे ॥ ३१ । २२ ॥

भा० पदार्थः—श्रीः=व्याप्तिः । लक्ष्मीः=कृपा । अहोरात्रे=पुरुषार्थः (व्यंग्यार्थः) । अश्विनौ=सत्यं रचनम् (व्यंग्यार्थः) । नक्षत्राणि=सत्या नियमाः (व्यंग्यार्थः) ॥

अन्यत्र व्याख्यात—(श्रीश्च ते) हे परमेश्वर जो आप की अनन्त शोभारूप श्री और जो अनन्त शुभलक्षण युक्त लक्ष्मी है वे दोनों स्त्री के समान हैं, अर्थात् जैसे स्त्री पति की सेवा करती है इसी प्रकार आप की सेवा आप ही को प्राप्त होती है, क्योंकि आपने ही सब जगत् को शोभा और शुभलक्षणों से युक्त कर रखा है, परन्तु ये सब शोभा और सत्यभाषणादि धर्म के लक्षणों से लाभ ये दोनों आपकी ही सेवा के लिए हैं। सब पदार्थ ईश्वर के अधीन होने से उसके विषय में यहाँ पत्नी शब्द को रूपकालंकार से वर्णन किया है। वैसे ही जो दिन और रात्रि ये दोनों बगल के समान हैं तथा सूर्य और चन्द्रमा दोनों आप के बगल के समान वा नेत्रस्थानी हैं, और जितने ये नक्षत्र हैं वे आपके रूपस्थानी हैं, और द्यौः जो सूर्य आदि का प्रकाश और विद्युत् अर्थात् बिजुली ये दोनों मुख स्थानी हैं, तथा ओठ के तुल्य और जैसा खुला मुख होता है इसी प्रकार पृथिवी और सूर्यलोक के बीच में जो पोल है सो मुख के सदृश है, (इष्णन्) हे परमेश्वर आप की दया से (अमुम्) परलोक जो मोक्षसुख है उसको हम लोग प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार की कृपादृष्टि से हमारे लिए इच्छा करो, तथा मैं सब संसार में सब गुणों से युक्त होके सब लोकों के सुखों का अधिकारी जैसे होऊँ, वैसी कृपा, और इस जगत् में मुझको सर्वोत्तम शोभा और लक्ष्मी से युक्त सदा कीजिए। यह आप से हमारी प्रार्थना है, सो आप कृपा से पूरी कोजिए।

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सृष्टिविद्याविषय) ॥

भाष्यसार—**ईश्वर कैसा है**—हे जगदीश्वर ! यह सकल शोभा तेरी है। यह सब ऐश्वर्य तेरा है। स्त्री के तुल्य सुखदायक दिन-रात तेरे दो पार्श्व हैं। सूर्य और चन्द्रमा तेरे विकसित मुख के समान हैं। नक्षत्र तेरा रूप है। सो तू मेरे लिए परोक्ष सुख को प्राप्त कराने की इच्छा उत्पन्न कर। मेरे लिए सब के दर्शन प्राप्त करा। मेरे लिए सब सुखों को प्राप्त करा।

जैसे ईश्वर के न्याय आदि गुण, व्याप्ति, कृपा, पुरुषार्थ, सत्य रचना और सत्य नियम हैं वैसे ही राजा आदि मनुष्यों के होने चाहिए। जिससे उनकी उत्तरोत्तर सुख की वृद्धि हो ॥ ३१। २२॥

[पूर्वापराध्यायार्थसंगतिमाह—]

अत्रेश्वरसृष्टिराजगुणवर्णनादेतदध्यायोक्तार्थस्य पूर्वाऽध्यायोक्तार्थेन यह सङ्गतिरस्तीति वेद्यम् ।।३१।।

इस अध्याय में ईश्वर की सृष्टि और राजा के गुणों के वर्णन से इस अध्याय में प्रतिपादित अर्थ की पूर्व अध्याय में प्रतिपादित अर्थ के साथ संगति है; ऐसा जानो ॥ ३१ ॥

इति श्रीयुतपण्डितसुदर्शनदेवाचार्यविरचिते दयानन्द-यजुर्वेदभाष्य-भास्करे एकत्रिंशोऽध्यायः सम्पूर्णः ॥

॥ ओ३म् ॥

* अथ द्वात्रिंशत्तमाध्यायारम्भः *

ओ३म् विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑ सुव । यद्भ॒द्रं तन्न॒ऽआसु॑व ॥ १ ॥

य० ३० । ३ ॥

स्वयम्भुब्रह्मा । **परमात्मा**=ईश्वरः । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

अथ परमेश्वरः कीदृश इत्याह ॥

अब परमेश्वर कैसा है, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

तदे॒वाग्निस्तदा॑दि॒त्यस्तद्वा॒युस्तदु॑ च॒न्द्रमाः॑ । तदे॒व शु॒क्रं तद् ब्रह्म॒ ता ऽ आपः॒ स प्र॒जाप॑तिः ॥ १ ॥

पदार्थः—(तत्) सर्वज्ञं सर्वव्यापि सनातनमनादि सच्चिदानन्दस्वरूपं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं न्यायकारि दयालु जगत्स्रष्टृ जगद्धर्त्तृ सर्वान्तर्यामि (**एव**) निश्चये (**अग्निः**) ज्ञानस्वरूपत्वात्स्वप्रकाशत्वाच्च (**तत्**) (**आदित्यः**) प्रलये सर्वस्यादातृत्वात् (**तत्**) (**वायुः**) अनन्तबलत्वसर्वधर्तृत्वाभ्याम् (**तत्**) (**उ**) (**चन्द्रमाः**) आनन्दस्वरूपत्वादाह्लादकत्वाच्च (**तत्**) (एव) (**शुक्रम्**) आशुकारित्वाच्छुद्धभावाच्च (तत्) (**ब्रह्म**) सर्वेभ्यो महत्वात् (**ताः**) (**आपः**) सर्वत्र व्यापकत्वात् (**सः**) (**प्रजापतिः**) सर्वस्याः प्रजायाः स्वामित्वात् ॥ १ ॥

अन्वयः—हे मनुष्यास्तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तच्चन्द्रमास्तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स उ प्रजापतिरस्त्येवं यूयं विजानीत ॥ १ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **मनुष्याः**! **तत्** सर्वज्ञं सर्वव्यापि सनातनमनादि सच्चिदानन्दस्वरूपं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं न्यायकारि दयालु जगत्स्रष्टृ जगद्धर्त्तृ सर्वान्तर्यामि **एव** निश्चये **अग्निः** ज्ञानस्वरूपत्वात्स्वप्रकाशत्वाच्च **तदादित्यः** प्रलये सर्वस्यादातृत्वात् **तद्वायुः** अनन्तबलत्वसर्वधर्तृत्वाभ्यां **तच्चन्द्रमाः** आनन्दस्वरूपत्वादाह्लादकत्वाच्च **तदेव**

भावार्थ—हे मनुष्यो! (तत्) वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सनातन, अनादि, सच्चिदानन्द स्वरूप, नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव, न्यायकारी, दयालु, जगत् का स्रष्टा, जगत् का हर्त्ता, सर्वान्तर्यामी ईश्वर (एव) ही (अग्निः) ज्ञानस्वरूप और स्वप्रकाश-स्वरूप होने से अग्नि है; (तत्) वह (आदित्यः) प्रलय में सब को लेने वाला होने से आदित्य है; (तत्)

शुक्रम् आशुकारित्वाच्छुद्धभावाच्च **तद् ब्रह्म** सर्वेभ्यो महत्त्वात् **ता आपः** सर्वत्र व्यापकत्वात् **स उ प्रजापतिः** सर्वस्याः प्रजायाः स्वामित्वाद् **अस्त्येवं यूयं विजानीत** ।। ३२ । १ ।।

वह (वायुः) अनन्त बलवान् और सब का धारक होने से वायु है; (तत्) वह (चन्द्रमाः) आनन्द स्वरूप और आह्लादक होने से चन्द्रमा है; (तदेव) वही (शुक्रम्) शीघ्रकारी और शुद्धस्वभाव होने से शुक्र है; (तत्) वह (ब्रह्म) सब से महान् होने से ब्रह्म है; (ताः) वह (आपः) सर्वत्र व्यापक होने से आपः है, (स, उ) और वह (प्रजापतिः) सब प्रजा का स्वामी होने से प्रजापति है; ऐसा तुम जानो ।। १ ।।

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यथेश्वरस्येमान्यग्न्यादीनि गौणिकानि नामानि सन्ति तथान्यानीन्द्रादीन्यपि वर्त्तन्ते । अस्यैवोपासना फलवती भवतीति वेद्यम् ।। ३२ । १ ।।

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे ईश्वर के ये अग्नि आदि गौणिक नाम हैं; वैसे अन्य इन्द्र आदि नाम भी हैं; इस ईश्वर की ही उपासना फलवती होती है; ऐसा जानो ।। ३२ । १ ।।

अन्यत्र व्याख्यात—जो सब जगत् का कारण एक परमेश्वर है, उसी का नाम अग्नि है (ब्रह्म ह्यग्निः शतपथे) सर्वोत्तम ज्ञानस्वरूप जानने के योग्य, प्रापणीय स्वरूप और पूज्यतमेत्यादि अग्नि शब्द का अर्थ है । "आदित्यो वै ब्रह्म, वायुर्वै ब्रह्म, चन्द्रमा वै ब्रह्म, शुक्रं हि ब्रह्म, सर्वं जगत्कर्तृ ब्रह्म, ब्रह्म वै बृहत्, आपो वै ब्रह्मेत्यादि" शतपथ तथा ऐतरेय ब्राह्मण के प्रमाण हैं । "तदादित्यः" जिसका कभी नाश न हो और स्वप्रकाश स्वरूप हो, इससे परमात्मा का नाम आदित्य है । "तद्वायुः" सब जगत् का धारण करने वाला, अनन्त बलवान्, प्राणों से भी जो प्रियस्वरूप है, इससे ईश्वर का नाम वायु है । पूर्वोक्त प्रमाण से "तदु चन्द्रमाः" जो आनन्दस्वरूप और स्वसेवकों को परमानन्द देने वाला है, इससे पूर्वोक्त प्रकार से चन्द्रमा परमात्मा को जानना ।

"तदेव शुक्रम्" वही चेतनस्वरूप ब्रह्म सब जगत् का कर्त्ता है, "तद् ब्रह्म" सो अनन्त सुख विद्यादि सद्गुणों से बढ़ाने वाला है । "ता आपः" उसी को सर्वज्ञ चेतन सर्वत्र व्याप्त होने से 'आप' नामक जानना । "स प्रजापतिः" सो ही सब जगत् का पति (स्वामी) और पालन करने वाला है; अन्य कोई नहीं । उसी को हम लोग इष्टदेव तथा पालक मानें; अन्य को नहीं । (आर्याभिविनय २ । ४) ।।

भाष्यसार—**१. परमेश्वर कैसा है**—वह परमेश्वर सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सनातन, अनादि, सच्चिदानन्दस्वरूप, नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव, न्यायकारी, दयालु, जगत् का स्रष्टा और हर्ता तथा सर्वान्तर्यामी है । ज्ञानस्वरूप और स्वप्रकाशस्वरूप होने से परमेश्वर का नाम अग्नि है । प्रलय समय में सब पदार्थों को वापस लेने वाला होने से परमेश्वर का नाम 'आदित्य' है । अनन्त बलवान् और सर्वाधार होने से परमेश्वर का नाम 'वायु' है । स्वयं आनन्दस्वरूप और अपने उपासकों को आह्लादित करने वाला होने से परमेश्वर का नाम 'चन्द्रमा' है । आशुकारी और शुद्धस्वभाव वाला होने से परमेश्वर का नाम 'शुक्र' है । सब से महान् होने से परमेश्वर का नाम 'ब्रह्म' है । सर्वत्र व्यापक होने से परमेश्वर 'आपः' है । सब प्रजा का स्वामी होने से परमेश्वर का नाम 'प्रजापति' है । परमेश्वर के ये 'अग्नि' आदि गौणिक नाम हैं, इसी प्रकार इन्द्र आदि भी उसके गौणिक नाम हैं । इन गुणों से युक्त परमेश्वर की उपासना ही फलदायक होती है ।

२. परमेश्वरगौणिक के नाम—अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आपः प्रजापति ।। ३२ । १ ।। ●

स्वयम्भुर्ब्रह्मा । **परमात्मा**=ईश्वरः । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

परमेश्वर कैसा है, यह फिर उपदेश किया है ॥

सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि । नैनमूर्ध्वं न तिर्य्यञ्चं न मध्ये परि जग्रभत् ॥ २ ॥

पदार्थः—(**सर्वे**) (**निमेषाः**) नेत्रोन्मीलनादिलक्षणाः कलाकाष्ठादिकालाऽवयवाः (**जज्ञिरे**) जायन्ते (**विद्युतः**) विशेषेण द्योतमानात् (**पुरुषात्**) पूर्णाद्विभोः (**अधि**) (**न**) निषेधे (**एनम्**) परमात्मानम् (**ऊर्द्ध्वम्**) उपरिस्थम् (**न**) (**तिर्य्यञ्चम्**) तिर्य्यक्स्थितमधस्थं वा (**न**) (**मध्ये**) (**परि**) सर्वतः (**जग्रभत्**) गृह्णाति ॥ २ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यस्माद्विद्युतः पुरुषात्सर्वे निमेषा अधि जज्ञिरे तमेनं कोऽपि नोर्ध्वं न तिर्य्यञ्चं न मध्ये परि जग्रभत्तं यूयं सेवध्वम् ॥ २ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! **यस्माद्विद्युतः** विशेषेण द्योतमानात् **पुरुषात्** पूर्णाद्विभोः **सर्वे निमेषाः** नेत्रोन्मीलनादिलक्षणाः कलाकाष्ठादिकालाऽवयवाः **अधिजज्ञिरे** जायन्ते, **तमेनं** परमात्मानं **कोऽपि नोद्र्ध्वम्** उपरिस्थं **न तिर्य्यञ्चं** तिर्य्यक् स्थितमधस्थं वा **न मध्ये परि+जग्रभत्** सर्वतो गृह्णाति, **तं यूयं सेवध्वम्** ॥ ३२ । २ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जिस (विद्युतः) विशेष प्रकाशमान, (पुरुषात्) पूर्ण, विभु ब्रह्म से (सर्वे) सब (निमेषाः) नेत्रोन्मीलन=आँख का खोलना आदि लक्षण वाले कला, काष्ठादि काल अवयव (अधिजज्ञिरे) उत्पन्न होता है; उस (एनम्) परमात्मा को कोई भी (न, ऊर्ध्वम्) न ऊपर से, (न, तिर्यञ्चम्) न टेढ़ा वा नीचे से और (न, मध्ये) न मध्य में से (परि+जग्रभत्) ग्रहण कर सकता है; उसकी तुम सेवा=उपासना करो ॥ ३२ । २ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यस्य निर्माणेन सर्वे कालावयवा जाताः, यच्चोर्ध्वमधो मध्ये पार्श्वतो दूरे निकटे वा कथयितुमशक्यम् । यत् सर्वत्र पूर्णं ब्रह्माऽस्ति तद् योगाभ्यासेन विज्ञाय सर्वे भवन्त उपासीरन् ॥ ३२ । २ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जिसके निर्माण करने से सब कालावयव उत्पन्न हुए हैं; जिसे ऊपर, नीचे, पार्श्व=बराबर, दूर वा निकट नहीं कहा जा सकता, जो सर्वत्र पूर्ण ब्रह्म है; उसे योगाभ्यास से जानकर आप सब उपासना करो ॥ ३२ । २ ॥

भा० पदार्थः—निमेषाः=कालावयवाः । जज्ञिरे=जाताः । तिर्यञ्चम्=अधः ॥

भाष्यसार—१. **परमेश्वर कैसा है**—विशेष रूप से प्रकाशमान, पूर्ण, विभु परमेश्वर से निमेष अर्थात् आँख का मींचना आदि लक्षणयुक्त तथा कला, काष्ठा आदि कालावयव उत्पन्न हुए हैं। उस परमेश्वर के विषय में यह कोई नहीं कह सकता कि वह ऊपर है, नीचे है, मध्य में है, पार्श्व में है, दूर वा निकट है। वह परमेश्वर सर्वत्र पूर्ण ब्रह्म है। योगाभ्यास से उसके स्वरूप को जानकर उसकी नित्य उपासना करें।

२. **कालावयव**—१ निमेष=पलक गिरने का समय। १८ निमेष=१ काष्ठा। ३० काष्ठा=१ कला। ३० कला=१ मुहूर्त। ३० महूर्त=१ अहोरात्र। १५ अहोरात्र=एक पक्ष। २ पक्ष=१ मास। ६ मास=१ अयन। २ अयन=१ वर्ष ॥ ३२ । २ ॥ ●

स्वयम्भुब्रह्मा । **हिरण्यगर्भः परमात्मा**=ईश्वरः । निचृत् पङ्क्तिः । पञ्चमः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

वह परमेश्वर कैसा है, यह फिर उपदेश किया है ॥

न तस्य प्रतिमा ऽ अस्ति यस्य नाम महद्यशः ।

हिरण्यगर्भ ऽ इत्येष मा मा हिंसीदित्येषा यस्मान्न जातऽइत्येषः ॥ ३ ॥

पदार्थः—(**न**) निषेधे (**तस्य**) परमेश्वरस्य (**प्रतिमा**) प्रतिमीयते यया तत्परिमापकं=सदृशं तोलनसाधनं प्रतिकृतिराकृतिर्वा (**अस्ति**) वर्त्तते (**यस्य**) (**नाम**) नामस्मरणम् (**महत्**) पूज्यं बृहत् (**यशः**) कीर्त्तिकरं धर्म्यकर्माचरणम् (**हिरण्यगर्भः**) सूर्यविद्युदादिपदाधिकरणः (**इति**) (**एषः**) अन्तर्यामितया प्रत्यक्षः (**मा**) निषेधे (**मा**) मां जीवात्मानम् (**हिंसीत्**) हन्यात्ताडयेद्विमुखं कुर्यात् (**इति**) (**एषा**) प्रार्थना प्रज्ञा वा (**यस्मात्**) कारणात् (**न**) निषेधे (**जातः**) उत्पन्नः (**इति**) (**एषः**) परमात्मा ॥ ३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यस्य महद्यशो नामास्ति यो हिरण्यगर्भ इत्येषो यस्य मा मा हिंसीदित्येषा यस्मान्न जात इत्येष उपासनीयोऽस्ति तस्य प्रतिमा नास्ति । यद्वा पक्षान्तरम्—हिरण्यगर्भ इत्येष (२५ । १०-१३) उक्तोऽनुवाको मा मा हिंसीदित्येषोक्ता (१२, १०२) ऋग् यस्मान्न जात इत्येष (८ । ३६-३७) उक्तोऽनुवाकश्च । यस्य भगवतो नाम महद्यशोऽस्ति तस्य प्रतिमा नास्ति ॥ ३ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे मनुष्याः ! यस्य महद्** पूज्यं बृहद् **यशः** कीर्त्तिकरं धर्म्यकर्म्माचरणं **नाम** नामस्मरणं **अस्ति** वर्त्तते; **यो हिरण्यगर्भः** सूर्यविद्युदादिपदाधिकरणः **इत्येषः** अन्तर्यामितया प्रत्यक्षः, **यस्य मा** मां जीवात्मानं **मा न हिंसीद्** हन्यात्ताडयेद्विमुखं कुर्याद् **इत्येषा** प्रार्थना प्रज्ञा वा, **यस्मात्** कारणात् **न न जातः** उत्पन्नः **इत्येषः** परमात्मा **उपासनीयोस्ति । तस्य** परमेश्वरस्य **प्रतिमा** प्रतिमीयते यया तत्परिमापकं, सदृशं तोलन-साधनं प्रतिकृतिराकृतिर्वा **न न अस्ति** वर्त्तते ॥ ३ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जिसका—(महत्) पूज्य एवं बड़ा, (यशः) कीर्ति करने वाले धर्मयुक्त कर्मों का आचरण (नाम) नाम-स्मरण है; जो (हिरण्यगर्भः) सूर्य, विद्युत् आदि पदों का आधार, (इत्येषः) अन्तर्यामी होने से प्रत्यक्ष है; जिसकी (मा) मुझ जीवात्मा को (मा) मत (हिंसीत्) मार, ताडना कर, विमुख कर (इत्येषा) यह प्रार्थना वा प्रज्ञा है; (यस्मात्) जिस किसी भी कारण से (न) न (जातः) उत्पन्न हुआ (इत्येषः) यह परमात्मा उपासनीय है । (तस्य) उस परमेश्वर की (प्रतिमा) प्रतिमा अर्थात् मापने वाला, उसके सदृश तोलने का साधन, प्रतिकृति एवं आकृति (न) नहीं (अस्ति) है ॥ ३२ । ३ ॥

यद्वा पक्षान्तरम्

हिरण्यगर्भ इत्येष (२५ । १०-१३) उक्तोऽनुवाको मा मा हिंसीदित्येषोक्ता (१२ । १०२) ऋग्, यस्मान्न जात इत्येष (८ । ३६—३७) उक्तोऽनुवाकश्च यस्य भगवतो नाम महद्यशोऽस्ति, तस्य प्रतिमा नास्ति ॥ ३२ । ३ ॥

॥ दूसरा पक्ष ॥

'हिरण्यगर्भ' यह (२५ । १०-१३) कहा हुआ अनुवाक, 'मा मा हिंसीत्' (१२ । १०२) यह कही हुई ऋचा और यस्मान्न जात (८ । ३६-३७) यह कहा हुआ अनुवाक जिस भगवान् का महान् यश गाता है; उसकी प्रतिमा नहीं है ॥ ३२ । ३ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यः कदाचिद् देहधारी न भवति । यस्य किञ्चिदपि परिमाणं

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जो कभी देहधारी नहीं होता, जिसका कोई परिमाण नहीं है, जिसकी

नास्ति । यस्याज्ञापालनमेव नामस्मरणमस्ति, य उपासितः सन्नुपासकाननुगृह्णाति वेदानामनेकस्थलेषु यस्य महत्त्वं प्रतिपाद्यते । यो न म्रियते, न विक्रियते, न क्षीयते तस्यैवोपासनां सततं कुरुत । यद्यस्माद् भिन्नस्योपासनां करिष्यन्ति तर्ह्यनेन महता पापेन युक्ताः सन्तो भवन्तो दुःखक्लेशैर्हता भविष्यन्ति ।। ३२ । ३ ।।

आज्ञा का पालन ही नाम-स्मरण है, जो उपासना करने से उपासकों पर अनुग्रह करता है, वेदों के अनेक स्थलों में जिसके महत्त्व का प्रतिपादन है, जो न मरता है, न विकार युक्त होता है, न क्षीण होता है, उसकी ही उपासना सदा करो; यदि इससे भिन्न की उपासना करोगे तो इस महान् पाप से युक्त हुए आप लोग दुःख एवं क्लेशों से मारे जाओगे ।। ३२ । ३ ।।

आ० पदार्थः—जातः=देहधारी । प्रतिमा=परिमाणम् । नाम=यस्याज्ञापालनमेव नामस्मरणम् । महत्=महत्त्वम् ।

अन्यत्र व्याख्यात—[क] (न तस्य०) उस परमेश्वर का प्रतिमा अर्थात् नाप का साधन तथा प्रतिबिम्ब वा सदृश अर्थात् जिसको तसवीर कहते हैं, सो किसी प्रकार नहीं है; क्योंकि वह मूर्त्ति रहित, अनन्त, सीमा रहित और सब में व्यापक है । इससे निराकार ही की उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिए । कदाचित् कोई शंका करे कि शरीरधारी की उपासना करने में क्या दोष है तो यह बात समझनी चाहिए कि जो प्रथम जन्म लेके शरीर धारण करेगा और फिर वृद्ध होकर मर जाएगा तब किसकी पूजा करोगे । इस प्रकार मूर्त्ति-पूजन का निषेध वेद से सिद्ध हो गया (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ग्रन्थ प्रामाण्याप्रामाण्यविषय) ।।

[ख]—न तस्य प्रतिमा अस्ति (यजु० ३२ । ३) जो सब जगत् में व्यापक है, उस निराकार परमात्मा की प्रतिमा, परिमाण, सादृश्य वा मूर्त्ति नहीं है । (सत्यार्थप्रकाश, एकादशसमु०) ।। ३२ । ३ ।।

भाष्यसार—**परमेश्वर कैसा है**—परमेश्वर का मुख्य निज नाम 'ओ३म्' है, जो पूज्य और महान् है । धर्मयुक्त कर्मों के आचरण रूप उसकी आज्ञा का पालन करना ही उसके नाम का स्मरण करना है, जो यश एवं कीर्ति का हेतु है । परमेश्वर अपने उपासकों पर अनुग्रह करता है । अनेक स्थलों पर वेदों में उसकी महिमा का प्रतिपादन किया गया है ।

परमेश्वर—सूर्य, विद्युत् आदि पदार्थों का आधार होने से अन्तर्यामी रूप से प्रत्यक्ष है । परमेश्वर से प्रार्थना है कि वह मुझ जीवात्मा का हनन न करे अर्थात् मुझे अपने से विमुख न होने दे, मेरी प्रज्ञा को धर्माचरण में सदा युक्त रखे ।

परमेश्वर किसी कारण से उत्पन्न नहीं हुआ है । वह सदा से वर्तमान है । वह कभी भी शरीर धारण नहीं करता । इसलिए वह न कभी मरता है, न कभी विकृत होता है और न कभी क्षीण होता है । सब दुःखों से दूर होने से वह उपासना करने के योग्य है । जो परमेश्वर से भिन्न की उपासना करते हैं वे महान् पाप से युक्त होकर दुःख और क्लेशों से सदा पीड़ित रहते हैं ।

परमेश्वर का परिमाण बतलाने वाली कोई तुला नहीं है । उसकी आकृति भी नहीं है । जब आकृति ही नहीं फिर प्रतिकृति (मूर्त्ति) कैसे हो सकती है । इसलिए किसी मूर्त्ति को भगवान् मानकर उसकी उपासना करना वेद-विरुद्ध है ।। ३२ । ३ ।।

स्वयम्भुब्रह्मा । **आत्मा**=ईश्वरः । भुरिक्त्रिष्टुप् । धैवतः ।।

पुनस्तमेव विषयमाह ।।

वह परमेश्वर कैसा है, यह फिर उपदेश किया है ।।

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स ऽ उ गर्भे ऽ अन्तः ।
स ऽ एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ।। ४ ।।

पदार्थः—(एषः) परमात्मा । **अत्र विभक्तेरलुक्** (**ह**) प्रसिद्धम् (**देवः**) दिव्यस्वरूपः (**प्रदिशः**) (**अनु**) आनुकूल्ये (**सर्वाः**) दिशश्च (**पूर्वः**) प्रथमः (**ह**) प्रसिद्धम् (**जातः**) प्राकट्यं प्राप्तः (**सः**) (**उ**) एव (**गर्भे**) अन्तःकरणे (**अन्तः**) मध्ये (**सः**) (**एव**) (**जातः**) प्रसिद्धः (**सः**) (**जनिष्यमाणः**) प्रसिद्धिं प्राप्स्यमानः (**प्रत्यङ्**) प्रतिपदार्थमञ्चति=प्राप्नोति (**जनाः**) विद्वांसः (**तिष्ठति**) वर्त्तते (**सर्वतोमुखः**) सर्वतो मुखाद्यवयवा यस्य सः ।। ४ ।।

प्रमाणार्थ—(**एषः**) यहाँ विभक्ति (**सु**) का अलुक् है ।

अन्वयः—हे जनाः ! एषो ह देवः सर्वाः प्रदिशोऽनुव्याप्य स उ गर्भेऽन्तः पूर्वो ह जातः स एव जातः स जनिष्यमाणः सर्वतोमुखः प्रत्यङ् तिष्ठति स युष्माभिरुपासनीयो वेदितव्यश्च ।। ४ ।।

सपदार्थान्वयः—**हे जनाः** विद्वांसः ! **एषः** परमात्मा **ह** प्रसिद्धः **देवः** दिव्यस्वरूपः **सर्वाः** दिशश्च **प्रदिशोऽनु** अनुकूलं **व्याप्य स उ** एव **गर्भे** अन्तःकरणे **अन्तः**, मध्ये **पूर्वः** प्रथमः **ह** प्रसिद्धः **जातः** प्राकट्यं प्राप्तः, **स एव जातः** प्रसिद्धः, **स जनिष्यमाणः** प्रसिद्धिं प्राप्यमानः **सर्वतोमुखः** सर्वतो मुखाद्यवयवा यस्य सः **प्रत्यङ्** प्रतिपदार्थमञ्चति=प्राप्नोति **तिष्ठति** वर्त्तते, **स युष्माभिरुपासनीयो वेदितव्यश्च** ।। ३२ । ४ ।।

भाषार्थ—हे (जनाः) विद्वान् लोगो ! (एषः) यह (ह) ही (देवः) दिव्यस्वरूप परमात्मा (सर्वाः) सब दिशाओं तथा (प्रदिशः) उपदिशाओं को (अनु) अनुकूलतापूर्वक व्याप्त करके--(सः) वह (उ) ही (गर्भे) अन्तःकरण के (अन्तः) मध्य में (पूर्व) प्रथम (ह) ही (जातः) प्रकट है; (सः) वह (एव) ही (जातः) सुप्रसिद्ध, (सः) वह (जनिष्यमाणः) प्रसिद्धि को प्राप्त होता हुआ (सर्वतोमुखः) सब ओर मुख आदि अवयवों वाला, (प्रत्यङ्) प्रत्येक पदार्थ को प्राप्त होकर (तिष्ठति) स्थित है;—उसकी तुम उपासना करो और उसे जानो ।। ३२ । ४ ।।

भावार्थः--अयं पूर्वोक्त ईश्वरो जगदुत्पाद्य प्रकाशितः सन् सर्वासु दिक्षु व्याप्येन्द्रियाण्यन्तरेण सर्वेन्द्रियकर्माणि सर्वगतत्वेन कुर्वन् सर्वप्राणिनां हृदये तिष्ठति । सोऽतीतानागतेषु कल्पेषु जगदुत्पादनाय पूर्वं प्रकटो भवति, स ध्यानशीलेन मनुष्येण ज्ञातव्यो नान्येनेति भावः ।।३२।४।।

भावार्थ—यह पूर्वोक्त ईश्वर जगत् को उत्पन्न करके प्रकाशित हुआ, सब दिशाओं में व्याप्त होकर इन्द्रियों के विना सब इन्द्रिय-कर्मों को सर्वव्यापकता से करता हुआ सब प्राणियों के हृदय में स्थित है । वह अतीत (भूत) अनागत (भविष्यत्) कल्पों में जगत् को उत्पन्न करने के लिए पहले प्रकट होता है; उसे ध्यानशील मनुष्य ही जान सकता है; अन्य नहीं ।। ३२ । ४ ।।

भा० पदार्थः—सर्वतोमुखः=सर्वगतः । गर्भे=सर्वप्राणिनां हृदये । जातः=प्रकटो भवति । जनिष्यमाणः=जगदुत्पादनाय पूर्वं प्रकटः ।

भाष्यसार—परमेश्वर कैसा है—दिव्यस्वरूप वाला प्रसिद्ध परमेश्वर जगत् को उत्पन्न करके सर्वत्र प्रकाशित है । वह सब दिशा एवं उपदिशाओं में व्यापक होकर अपनी व्यापकता से इन्द्रियों के विना ही सब इन्द्रिय-कर्मों को करता है। वह सब प्राणियों के हृदय में विराजमान है । वह जगत् को उत्पन्न करने के लिए पूर्व से प्रकट है और आगामी कल्पों में भी उसी प्रकार प्रकट (प्रसिद्ध) रहेगा। मनुष्य मुखमण्डल में विद्यमान ज्ञानेन्द्रियों से अपने व्यवहार सिद्ध करता है, किन्तु परमेश्वर सर्वतोमुख है। वह प्रत्येक पदार्थ में व्यापक होने से सर्वत्र सब को देख रहा है। इसलिए सब मनुष्यों को योग्य है कि परमेश्वर की उपासना करें और उसे जानें। जो मनुष्य उसका ध्यान करते हैं, वे ही उसको जान सकते हैं; दूसरे नहीं हैं ।। ३२ । ४ ।।

स्वयम्भुब्रह्मा । **परमेश्वरः**=ईश्वरः । भुरिक्त्रिष्टुप् । धैवतः ।।

पुनस्तमेव विषयमाह ।।

वह परमेश्वर कैसा है, यह फिर उपदेश किया है ।।

यस्माज्जातं न पुरा किं चनैव य आबभूव भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतींꣳषि सचते स षोडशी ।। ५ ।।

पदार्थः—(**यस्मात्**) परमेश्वरात् (**जातम्**) उत्पन्नम् (**न**) निषेधे (**पुरा**) पुरस्तात् (**किम्**) (**चन**) किञ्चिदपि (**एव**) (**यः**) (**आबभूव**) समन्ताद्भवति (**भुवनानि**) लोकजातानि सर्वाऽधिकरणानि (**विश्वा**) सर्वाणि (**प्रजापतिः**) प्रजायाः पालकोऽधिष्ठाता (**प्रजया**) प्रजातया (**सम्**) (**रराणः**) सम्यक् रममाणः (**त्रीणि**) विद्युत्सूर्यचन्द्ररूपाणि (**ज्योतींषि**) तेजोमयानि प्रकाशकानि (**सचते**) समवैति (**सः**) (**षोडशी**) षोडश कला यस्मिन् सन्ति सः ।। ५ ।।

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यस्मात् पुरा किञ्चन न जातं, यस्सर्वत आबभूव यस्मिन् विश्वा भुवनानि वर्त्तन्ते, स एव षोडशी प्रजया सह संरराणः प्रजापतिस्त्रीणि ज्योतींषि सचते ।। ५ ।।

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! **यस्मात्** परमेश्वरात् **पुरा** पुरस्तात् **किञ्चन** किञ्चिदपि **न न जातम्** उत्पन्नं, **यस्सर्वत आ+बभूव** समन्ताद्भवति, **यस्मिन् विश्वा** सर्वाणि **भुवनानि** लोकजातानि सर्वाऽधिकरणानि **वर्त्तन्ते** ।

स एव षोडशी षोडश कला यस्मिन् सन्ति सः **प्रजया** प्रजातया **सह संरराणः** सम्यक् रममाणः **प्रजापतिः** प्रजायाः पालकोऽधिष्ठाता **त्रीणि** विद्युत्सूर्यचन्द्ररूपाणि **ज्योतींषि** तेजोमयानि प्रकाशकानि **सचते** समवैति ।। ३२ । ५ ।।

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! (यस्मात्) जिस परमेश्वर से (पुरा) पहले (किञ्चन) कुछ भी (न) नहीं (जातम्) उत्पन्न हुआ है; (यः) जो (आ+बभूव) सब ओर विद्यमान है; जिसमें (विश्वा) सब (भुवनानि) लोक समूह सब के आधार हैं ।

(सः) वही (षोडशी) सोलह कला वाला ईश्वर (प्रजया) प्रजा के साथ (संरराणः) सम्यक् रमण करता हुआ (प्रजापतिः) प्रजा का पालक एवं अधिष्ठाता होकर (त्रीणि) विद्युत्, सूर्य और चन्द्र रूप तीन (ज्योतींषि) तेजोमय प्रकाशक ज्योतियों को (सचते) व्याप्त करता है ।। ३२ । ५ ।।

भावार्थः—यस्मादीश्वरोऽनादिर्वर्त्तते ततस्तस्मात् पूर्वं किमपि भवितुं न शक्यम् ।

स एव सर्वासु प्रजासु व्याप्तो जीवानां कर्माणि पश्यन् संस्तदनुकूलफलं ददन्न्यायं करोति ।

येन प्राणादीनि षोडश वस्तूनि सृष्टान्यतः स षोडशीत्युच्यते । प्राणः, श्रद्धा, आकाशं, वायुः, अग्निः, जलं, पृथिवी, इन्द्रियं, मनः, अन्नं, वीर्यं, तपः, मन्त्राः, कर्म, लोकाः, नाम च षोडशकलाः प्रश्नोपनिषदि षष्ठे प्रश्ने वर्णिताः ।

एतत्सर्वं षोडशात्मकं जगत् परमात्मनि वर्त्तते, तेनैव निर्मितं, पाल्यते च ॥ ३२ । ५ ॥

भावार्थ—क्योंकि ईश्वर अनादि है, अतः उससे पूर्व कोई भी वस्तु नहीं हो सकती ।

वही सब प्रजा में व्याप्त होकर जीवों के कर्मों को देखता हुआ कर्मानुकूल फल देता हुआ न्याय करता है ।

जिसने प्राण आदि सोलह वस्तुएँ बनाई हैं; अतः वह षोडशी कहलाता है । प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम ये सोलह कला प्रश्नोपनिषद् में षष्ठ प्रश्न में बतलाई हैं ।

यह सोलह कलात्मक जगत् परमात्मा में वर्तमान है; उसी ने बनाया है और वही पालन कर रहा है ॥ ३२ । ५ ॥

भाष्यसार—**परमेश्वर कैसा है**—परमेश्वर अनादि है, इसलिए उससे पूर्व कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ और न ही हो सकता है । वही सब प्रजा में व्याप्त होकर जीवों के कर्मों को देखता हुआ कर्मों के अनुसार फल-प्रदान करके न्याय कर रहा है । सब के आधारभूत सब लोक उसी में विद्यमान हैं । उसने १. प्राण, २. श्रद्धा, ३. आकाश, ४. वायु, ५. अग्नि, ६. जल, ७. पृथिवी, ८. इन्द्रिय, ९, मन, १०. अन्न, ११. वीर्य, १२. तप, १३. मन्त्र, १४. कर्म, १५. लोक और १६. नाम, ये सोलह वस्तुएँ बनाई हैं । इसलिए वह 'षोडशी' कहलाता है । षोडशी परमेश्वर प्रजा के साथ रमण करता हुआ प्रजा का पालन करता है । यह षोडश-आत्मक जगत् उसी परमेश्वर में विद्यमान है । विद्युत्, सूर्य और चन्द्र इन तीन प्रकार की तेजोमय प्रकाशक ज्योतियों को भी उसी ने रचा है ॥ ३२ । ५ ॥

स्वयम्भुर्ब्रह्मा । **परमात्मा**=ईश्वरः । निचृत्त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

वह परमेश्वर कैसा है, यह फिर उपदेश किया है ॥

येन॒ द्यौरु॒ग्रा पृ॑थि॒वी च॑ दृ॒ढा येन॒ स्व॒ स्त॒भि॒तं येन॒ नाकः॑ ।
यो ऽ अ॒न्तरि॑क्षे॒ रज॑सो वि॒मानः॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ ६ ॥

पदार्थः—(**येन**) जगदीश्वरेण (**द्यौः**) सूर्यादिप्रकाशवान् पदार्थः (**उग्रा**) तीव्रतेजस्का (**पृथिवी**) भूमिः (**च**) (**दृढा**) दृढीकृता (**येन**) (**स्वः**) सुखम् (**स्तभितम्**) धृतम् (**येन**) (**नाकः**) अविद्यमान-दुःखो मोक्षः (**यः**) (**अन्तरिक्षे**) मध्यवर्त्तिन्याकाशे (**रजसः**) लोकसमूहस्य । **लोका रजांस्युच्यन्त इति निरुक्तम्** । (**विमानः**) विविधं मानं यस्मिन् सः (**कस्मै**) सुखस्वरूपाय (**देवाय**) स्वप्रकाशाय सकलसुखदात्रे (**हविषा**) प्रेमभक्तिभावेन (**विधेम**) परिचरेम प्राप्नुयाम वा ॥ ६ ॥

प्रमाणार्थ—(**रजसः**) निरुक्त [४ । ३ । १९] के अनुसार 'रजस्' शब्द का अर्थ लोक है ॥ ३२ । ६ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! येनोग्रा द्यौः पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः स्तभितो योऽन्तरिक्षे वर्त्तमानस्य रजसो विमानोऽस्ति तस्मै कस्मै देवाय वयं हविषा विधेमैवं यूयमप्येनं सेवध्वम् ॥ ६ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **मनुष्याः** ! **येन** जगदीश्वरेण **उग्रा** तीव्रतेजस्का **द्यौः** सूर्यादिप्रकाशवान् पदार्थः, **पृथिवी** भूमिः **च दृढा** दृढीकृता, **येन** जगदीश्वरेण **स्वः** सुखं **स्तभितं** धृतं, **येन** जगदीश्वरेण **नाकः** अविद्यमानदुःखो मोक्षः **स्तभितो, योऽन्तरिक्षे** मध्यवर्तिन्याकाशे **वर्त्तमानस्य रजसः** लोकसमूहस्य **विमानः** विविधं मानं यस्मिन् सः **अस्ति, तस्मै कस्मै** सुखस्वरूपाय **देवाय** स्वप्रकाशाय सकलसुखदात्रे **वयं हविषा** प्रेमभक्तिभावेन **विधेम** परिचरेम प्राप्नुयाम वा, **एवं यूयमप्येनं सेवध्वम्** ॥ ३२ । ६ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! (येन) जिस जगदीश्वर ने (उग्रा) तीव्र तेज वाले (द्यौः) सूर्य आदि प्रकाशवान् पदार्थ, (च) और (पृथिवी) भूमि (दृढा) दृढ़ की है; (येन) जिस जगदीश्वर ने (स्वः) सुख को (स्तभितम्) धारण किया है; (येन) जिस जगदीश्वर ने (नाकः) दुःख रहित मोक्ष को धारण किया है; (यः) जो (अन्तरिक्षे) मध्यवर्ती आकाश में वर्तमान (रजसः) लोक—समूह का (विमानः) विविध प्रकार से निर्माण करने वाला है; उस (कस्मै) सुखस्वरूप (देवाय) स्वप्रकाशस्वरूप सकल सुखदाता ईश्वर के लिए हम—(हविषा) प्रेम भक्तिभाव से (विधेम) सेवा करें वा उसे प्राप्त करें; इस प्रकार तुम भी इसकी सेवा करो ॥ ३२ । ६ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या ! यः सकलस्य जगतो धर्त्ता, सर्वसुखप्रदाता, मोक्षसाधक, आकाश इव व्याप्तः परमेश्वरोऽस्ति, तस्यैव भक्तिं कुरुत ॥ ३२ । ६ ॥

भावार्थ—जो सकल जगत् को धारण करने वाला, सब सुखों का दाता, मोक्ष का साधक, आकाश के समान व्याप्त परमेश्वर है; उसकी ही भक्ति करो ॥ ३२ । ६ ॥

भा० पदार्थः—स्वः=सर्वसुखम् । नाकः=मोक्षः ।

अन्यत्र व्याख्यात—(येन) जिस परमात्मा ने (उग्रा) तीक्ष्ण स्वभाव वाले (द्यौः) सूर्य आदि (च) और (पृथिवी) भूमि को (दृढा) धारण, (येन) जिस जगदीश्वर ने (स्वः) सुख को (स्तभितम्) धारण और (येन) जिस ईश्वर ने (नाकः) दुःख रहित मोक्ष को धारण किया है; (यः) जो (अन्तरिक्षे) आकाश में (रजसः) सब लोक लोकान्तरों को (विमानः) विशेष मान युक्त अर्थात् जैसे आकाश में पक्षी उड़ते हैं; वैसे सब लोकों का निर्माण करता और भ्रमण कराता है, हम लोग उस (कस्मै) सुखदायक (देवाय) कामना करने के योग्य परब्रह्म की प्राप्ति के लिए (हविषा) सब सामर्थ्य से (विधेम) विशेष भक्ति करें । (संस्कारविधि, ईश्वरस्तुति प्रार्थनोपासना) ॥ ३२ । ६ ॥

भाष्यसार—**परमेश्वर कैसा है**—तीव्र तेज वाले सूर्य आदि प्रकाशवान् पदार्थ तथा भूमि परमेश्वर ने रची है । वह सब सुखों को धारण किए हुए है । इसलिए सब सुखों का दाता है । दुःख-रहित मोक्ष को भी उसी ने धारण किया है । इसलिए मोक्ष का साधक भी वही है । वह स्वयं आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त है तथा आकाश में वर्त्तमान लोकों का विशेष निर्माण करता है । इसलिए हम उस सुखस्वरूप, स्वप्रकाश, सकल सुखदाता परमेश्वर की प्रेमपूर्ण भक्ति भाव से पूजा करें, उसे प्राप्त करें ॥ ३२ । ६ ॥

स्वयम्भु ब्रह्मा । **परमात्मा**=ईश्वरः । स्वराडतिजगती । निषादः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

वह परमेश्वर कैसा है, यह फिर उपदेश किया है ॥

यं क्रन्दसी ऽ अवसा तस्तभाने ऽ अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने ।
यत्राधि सूर ऽ उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम ।
आपो ह यद्बृहतीर्यश्चिदापः ॥ ७ ॥

पदार्थः—(**यम्**) (**क्रन्दसी**) गुणैः प्रशंसनीये (**अवसा**) रक्षणादिना (**तस्तभाने**) धारिके (**अभि**) आभिमुख्ये (**ऐक्षेताम्**) ईक्षेतां=पश्यतः (**मनसा**) विज्ञानेन (**रेजमाने**) चलन्त्यौ=भ्रमन्त्यौ (**यत्र**) यस्मिन् (**अधि**) उपरि (**शूरः**) सूर्यः (**उदितः**) उदयं प्राप्तः (**विभाति**) विशेषेण प्रकाशयन् प्रकाशयिता भवति (**कस्मै**) सुखसाधकाय (**देवाय**) शुद्धस्वरूपाय (**हविषा**) आदातव्येन योगाभ्यासेन (**विधेम**) (**आपः**) व्याप्ताः (**ह**) किल (**यत्**) याः (**बृहतीः**) महत्यः (**यः**) (**चित्**) अपि (**आपः**) आकाशः ॥ ७ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यं परमात्मानं प्राप्ते तस्तभाने रेजमाने क्रन्दसी द्यावापृथिव्याववसा सर्वं धरतो यत्र सूरोऽध्युदितो यद् या बृहतीरापो ह यश्चिदापः सन्ति ताश्चिदपि विभाति तं तौ चाऽध्यापकोपदेशकौ मनसा अभ्यैक्षेतां तस्मै कस्मै देवाय हविषा वयं विधेमैनं यूयमपि भजत ॥ ७ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! **यं**=**परमात्मानं प्राप्ते तस्तभाने** धारिके **रेजमाने** चलन्त्यौ=भ्रमन्त्यौ **क्रन्दसी**=**द्यावापृथिव्यौ** गुणैः प्रशंसनीये **अवसा** रक्षणादिना **सर्वं धरतो; यत्र सूरः** सूर्यः **अध्युदित** उपर्युदयं प्राप्तः, **यद्**=**या बृहतीः** महत्यः **आपः** व्याप्ताः, ह किल **यश्चित्** अपि **आपः** आकाशः **सन्ति, ताश्चित्**=**अपि वि+भाति** विशेषेण प्रकाशयन् प्रकाशयिता भवति ।

तं तौ चाऽध्यापकोपदेशकौ मनसा विज्ञानेन **अभि+ऐक्षेतां** आभिमुख्येन ईक्षेतां=पश्यतः, **तस्मै कस्मै** सुखसाधकाय **देवाय** शुद्धस्वरूपाय **हविषा** आदातव्येन योगाभ्यासेन **वयं विधेम, यूयमपि भजत** ॥ ३२ । ७ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! (यम्) जिस परमात्मा को (तस्तभाने) धारण करने वाली, (रेजमाने) चलती हुई, घूमती हुई, (क्रन्दसी) गुणों से प्रशंसनीय द्यावा और पृथिवी—(अवसा) रक्षा आदि से सब को धारण करती हैं । (यत्र) जिसमें (सूरः) सूर्य (अध्युदितः) उदित होता है तथा—(यत्) जो (बृहतीः) बड़े (आपः) व्यापक जल हैं; (ह) निश्चय ही (यश्चित्) और जो (आपः) आकाश हैं, उन्हें (चित्) भी (वि+भाति) विशेष रूप से प्रकाशित करता है;

उस ईश्वर तथा द्यावापृथिवी को अध्यापक और उपदेशक लोग (मनसा) विज्ञान से (अभि+ऐक्षेताम्) मुख्य रूप से देखें; और उस (कस्मै) सुख साधक (देवाय) शुद्ध स्वरूप ईश्वर की प्राप्ति के लिए (हविषा) ग्रहण करने योग्य योगाभ्यास से हम (विधेम) उपासना करते हैं, तुम भी इसकी उपासना करो ॥ ३२ । ७ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यत्र सर्वाभिव्यापकेश्वरे सूर्यपृथिव्यादयो लोका भ्रमन्तः सन्तो

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जिस सर्वव्यापक ईश्वर में सूर्य, पृथिवी आदि लोक भ्रमण करते हुए

दृश्यन्ते, येन प्राण आकाशोऽपि व्याप्तः, तं स्वात्मस्थं यूयमुपासीध्वम् ॥ ३२ । ७ ॥

दिखाई देते हैं; जिससे प्राण और आकाश भी व्याप्त है, उस अपने आत्मा में स्थित ईश्वर की तुम उपासना करो ॥ ३२ । ७ ॥

भा० पदार्थः—क्रन्दसी=सूर्यपृथिव्यादयो लोकाः । रेजमाने=भ्रमन्तः सन्तः । अभ्यैक्षेताम्=दृश्यन्ते । सूरः=प्राणः ।

भाष्यसार—परमेश्वर कैसा है—अपने गुणों के कारण प्रशंसा के योग्य, सूर्य और पृथिवी आदि लोक भ्रमण करते हुए सर्वव्यापक ईश्वर में ही विद्यमान हैं। ये सूर्य और पृथिवी आदि लोक रक्षादि से सब का धारण करते हैं, जो ईश्वर ने ही रचे हैं। सूर्य ईश्वर में ही उदय को प्राप्त होता है। प्राण और बृहद् आकाश भी उसी से घिरा हुआ है और ईश्वर ही उन्हें विशेष रूप से प्रकाशित करता है। सूर्य, प्राण और आकाश के अध्यापक और उपदेशक लोग विज्ञान से अभीक्ष्ण करें, इनके स्वरूप को जानें तथा सुखसाधक, शुद्धस्वरूप आत्मा में स्थित परमेश्वर की योगाभ्यास से उपासना करें ॥ ३२ । ७ ॥

स्वयम्भुब्रह्मा । **परमात्मा**=ईश्वरः । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

वह परमेश्वर कैसा है, यह फिर उपदेश किया है ॥

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् ।
तस्मिन्निदꣳ सं च वि चैति सर्वꣳ स ऽ ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ॥ ८ ॥

पदार्थः—(वेनः) पण्डितो विद्वान् (तत्) चेतनब्रह्म (पश्यत्) पश्यति (निहितम्) स्थितम् (गुहा) गुहायां=बुद्धौ गुप्ते कारणे वा (सत्) नित्यम् (यत्र) यस्मिन् (विश्वम्) सर्वम् जगत् (भवति) (एकनीडम्) एकस्थानम् (तस्मिन्) (इदम्) जगत् (सम्) (च) (वि) (च) (एति) (सर्वम्) (सः) (ओतः) ऊर्ध्वतन्तुः पट इव (प्रोतः) तिर्य्यक्तन्तुषु पट इव (च) (विभूः) व्यापकः (प्रजासु) प्रकृति-जीवादिषु ॥ ८ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यत्र विश्वमेकनीडं भवति तद्गुहा निहितं सद्वेनः पश्यत् । तस्मिन्निदं सर्वं समेति च व्येति च स विभूः प्रजास्वोतः प्रोतश्च स एव सर्वैरुपासनीयोऽस्ति ॥ ८ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **मनुष्याः** ! **यत्र** यस्मिन् **विश्वं** सर्वं जगत् **एकनीडं** एकस्थानं **भवति**; **तत्** चेतनब्रह्म **गुहा** गुहायां=बुद्धौ गुप्ते कारणे वा **निहितं** स्थितं **सद्** नित्यं **वेनः** पण्डितो विद्वान् **पश्यत्** पश्यति ।

तस्मिन्निदं जगत् **सर्वं समेति च व्येति च** ।

भावार्थ—हे मनुष्यो ! (यत्र) जिसमें (विश्वम्) सब जगत् (एकनीडम्) एक स्थान के समान (भवति) है; (तत्) उस चेतन ब्रह्म को एवं (गुहा) गुहा=बुद्धि में वा गुप्त कारण में (निहितम्) स्थित (सत्) नित्य ईश्वर को (वेनः) पण्डित विद्वान् (पश्यति) देखता है।

(तस्मिन्) उसमें (इदम्, सर्वम्) यह सब जगत् (समेति च) प्रलय काल में लीन हो जाता है (व्येति, च) और सर्ग काल में विविध रूप में प्रकट होता है।

स विभूः व्यापकः **प्रजासु** प्रकृतिजीवादिषु **ओतः** ऊर्ध्वतन्तुः पट इव **प्रोतः** तिर्य्यक्तन्तुषु पट इव **च, स एव सर्वैरुपासनीयोऽस्ति** ॥ ३२ । ८ ॥

(सः) वह (विभूः) व्यापक ईश्वर (प्रजासु) प्रकृति, जीव आदि में (ओतः) पट के ताने के तुल्य (प्रोतः) पट के बाने के तुल्य व्यापक है; वही सब का उपास्य है ॥ ३२ । ८ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! विद्वानेव यं बुद्धि-बलेन जानाति, यः सर्वेषामाकाशादीनां पदार्था-नामधिकरणमस्ति, यत्र संहारकाले सर्वं जगल्लीयते, सर्गकाले च यतो निस्सरति, येन व्याप्तेन विना किञ्चिदपि वस्तु न वर्त्तते, तं विहायाऽन्यां कञ्चिद-प्युपास्यमीश्वरं मा विजानन्तु ॥ ३२ । ८ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! विद्वान् ही जिसे बुद्धि-बल से जानता है; जो सब आकाश आदि पदार्थों का आधार है; जिसमें प्रलयकाल में सब जगत् लीन हो जाता है; और सर्गकाल में जिससे नकलता है; जिसकी व्याप्ति के विना कोई भी वस्तु नहीं है; उसको छोड़कर इस सृष्टि में किसी को भी उपास्य ईश्वर मत जानो ॥ ३२ । ८ ॥

भा० पदार्थः—गुहा=बुद्धिबलेन । वेनः=विद्वान् । पश्यत्=जानाति । एकनीडम्=अधिकरणम् । समेति=लीयते । व्येति=निस्सरति ।

भाष्यसार—**परमेश्वर कैसा है**—सम्पूर्ण जगत् का परमेश्वर ही एकमात्र निवास स्थान है । आकाश आदि सब पदार्थों का आधार ईश्वर ही है । वह चेतन ब्रह्म बुद्धि वा गुप्त कारण रूप प्रकृति में छुपा हुआ है । जिसे मेधावी विद्वान् ही बुद्धि के बल से जान सकता है । यह सम्पूर्ण जगत् परमेश्वर में ही संगत और विगत होता है अर्थात् सृष्टिकाल में यह जगत् उसी से निकलता है, उदय होता है और प्रलय काल में उसी में लीन हो जाता है, अस्त हो जाता है । सृष्टि काल में वही प्रकृति के परमाणुओं को पृथक्-पृथक् करके प्रलय करता है जैसे पट में तन्तु परस्पर ओत-प्रोत होते हैं; वैसे परमेश्वर प्रकृति और जीवों में ओत-प्रोत है। कोई भी वस्तु परमेश्वर की व्याप्ति के विना नहीं है । इसलिए परमेश्वर सबके लिए उपासनीय है। उसको छोड़ कर इस सृष्टि में किसी अन्य को उपास्य ईश्वर न माने ॥ ३२ । ८ ॥

स्वयम्भुब्रह्मा । **विद्वान्**=पण्डितः । निचृत्त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

परमेश्वर के प्रवक्ता विद्वान् का उपदेश किया जाता है ॥

प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत् ।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पितासत् ॥ ९ ॥

पदार्थः—(**प्र**) (**तत्**) चेतनं ब्रह्म (**वोचेत्**) गुणकर्मस्वभावत उपदिशेत् (**अमृतम्**) नाश-रहितम् (**नु**) सद्यः (**विद्वान्**) पण्डितः (**गन्धर्वः**) यो गां=वेदवाचं धरति सः (**धाम**) मुक्तिसुखस्य स्थानम् (**विभृतम्**) विशेषेण धृतम् (**गुहा**) बुद्धौ (**सत्**) नित्यम् (**त्रीणि**) उत्पत्तिस्थितिप्रलयाः काला वा (**पदानि**) ज्ञातुमर्हाणि (**निहिता**) निहितानि (**गुहा**) बुद्धौ (**अस्य**) अविनाशिनः (**यः**) (**तानि**) (**वेद**) जानाति (**सः**) (**पितुः**) जनकस्येश्वरस्य वा (**पिता**) ज्ञानप्रदानेनास्तिकत्वेन वा रक्षकः (**असत्**) भवेत् ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यो गन्धर्वो विद्वान् गुहा विभृतममृतं धाम तत् सन्न प्रवोचेत् यान्यस्य गुहा निहितानि पदानि त्रीणि सन्ति तानि च वेद स पितुः पिताऽसत् ॥ ६ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! **यो गन्धर्वः** यो गां=वेदवाचं धरति सः **विद्वान्** पण्डितः **गुहा** बुद्धौ **विभृतं** विशेषेण धृतम् **अमृतं** नाशरहितं **धाम** मुक्तिसुखस्य स्थानं **तत्** चेतनं ब्रह्म **सत्** नित्यं **नु** सद्यः **प्रवोचेत्** गुणकर्मस्वभावत उपदिशेत्; **यान्यस्य** अविनाशिनः **गुहा** बुद्धौ [**निहिता**=] **निहितानि पदानि** ज्ञातुमर्हाणि **त्रीणि** उत्पत्तिस्थितिप्रलयाः काला वा **सन्ति**, **तानि च वेद** जानाति, **स पितुः** जनकस्येश्वरस्य वा **पिता** ज्ञानप्रदानेनास्तिकत्वेन वा रक्षकः **असत्** भवेत् ॥ ३२ । ९ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जो (गन्धर्वः) गौ=वेदवाणी को धारण करने वाला (विद्वान्) पण्डित—(गुहा) बुद्धि में (विभृतम्) धारण किए हुए, (अमृतम्) नाश रहित, (धाम) मुक्ति सुख के स्थान, (तत्) चेतन ब्रह्म (सत्) नित्य ईश्वर का (नु) शीघ्र (प्रवोचेत्) गुण, कर्म, स्वभाव से उपदेश करता है; और जो—(अस्य) इस अविनाशी की (गुहा) बुद्धि में [निहिता] निहित (पदानि) जानने योग्य (त्रीणि) उत्पत्ति, स्थिति प्रलय अथवा तीन काल हैं; उन्हें (वेद) जानता है; (सः) वह (पितुः) जनक का वा ईश्वर का (पिता) ज्ञान प्रदान से वा आस्तिकता से रक्षक (असत्) होता है ॥ ३२ । ९ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! य ईश्वरस्य मुक्तिसाधकं बुद्धिस्थं स्वरूपमुपदिशेयुः, यथार्थतया पदार्थानां परमात्मनश्च गुणकर्मस्वभावान् विजानीयुः, ते वयोवृद्धानां पितृणामपि पितरो भवितुं योग्याः सन्तीति विजानीत ॥ ३२ । ९ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जो ईश्वर के मुक्तिसाधक, बुद्धि में स्थित स्वरूप का उपदेश करते हैं; यथार्थता से पदार्थों के और परमात्मा के गुण-कर्म-स्वभाव को जानते हैं; वे वयोवृद्ध पितर जनों के भी पितर बनने योग्य होते हैं; ऐसा जानो ॥ ३२ । ९ ॥

भा० पदार्थः—धाम=ईश्वरस्य मुक्तिसाधकं स्वरूपम् । पदानि=पदार्थानां परमात्मनश्च गुणकर्मस्वभावान् । पितुः=वयोवृद्धाऽस्य पितुः । असत्=भवितुं योग्योऽस्ति ।

अन्यत्र व्याख्यात—हे वेदादिशास्त्र और विद्वानों के प्रतिपादन करने योग्य ! जो अमृत (मरणादि दोषरहित) मुक्तों का धाम (निवासस्थान) सर्वगत, सब का धारण और पोषण करने वाला, सब की बुद्धियों का साक्षी ब्रह्मा है, उस आप का उपदेश तथा धारण जो विद्वान् जानता है, वह गन्धर्व कहाता है (गच्छतीति गं ब्रह्मा तद्धरतीति स गन्धर्वः); सर्वगत ब्रह्म को जो धारण करने वाला है, उसका नाम गन्धर्व है; तथा परमात्मा के तीन पाद हैं—जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने के सामर्थ्य; तथा ईश्वर को जो स्वहृदय से जानता है, वह पिता का भी पिता है अर्थात् विद्वानों में भी विद्वान् है (आर्याभिविनय २ । २४) ॥

भाष्यसार—**परमेश्वर कैसा है**—वेद वाणी को धारण करने वाला विद्वान् गन्धर्व कहलाता है, उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय अथवा भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान काल ये तीनों ईश्वर की बुद्धि में निहित हैं, जो मनुष्यों के लिए जानने की वस्तु हैं, उन्हें उक्त गन्धर्व विद्वान् ही यथार्थ रूप में जानता है इसलिए वह पिता का भी पिता अर्थात् पितामह कहलाता है अथवा पिता अर्थात् ईश्वर भी ज्ञान प्रदान और आस्तिकता के उपदेश करने से पिता=रक्षक है । गन्धर्व विद्वान् ही बुद्धि में विशेष रूप से स्थित नाशरहित, मुक्तिसुख के स्थान एवं मुक्ति के साधक, चेतन, नित्य, ब्रह्म का उसके गुण, कर्म और स्वभाव का वर्णन पूर्वक उपदेश कर सकता है; अन्य नहीं ॥ ३२ । ९ ॥

स्वयम्भुर्ब्रह्मा। **परमात्मा**=ईश्वरः। निचृत्त्रिष्टुप्। धैवतः॥

पुनस्तमेव विषयमाह॥

वह परमेश्वर कैसा है, यह फिर उपदेश किया है॥

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा ऽ अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त॥ १०॥

पदार्थः—(**सः**) (**नः**) अस्माकम् (**बन्धुः**) भ्रातेव मान्यः सहायः (**जनिता**) जनयिता। अत्र जनिता मन्त्र इति॥ अ० ६।४।५३॥ णिलोपः (**सः**) (**विधाता**) सर्वेषां पदार्थानां कर्मफलानां च विधानकर्त्ता (**धामानि**) जन्मस्थाननामानि (**वेद**) जानाति (**भुवनानि**) लोकलोकान्तराणि (**विश्वा**) सर्वाणि (**यत्र**) यस्मिन् जगदीश्वरे (**देवाः**) विद्वांसः (**अमृतम्**) मोक्षसुखम् (**आनशानाः**) प्राप्नुवन्तः (**तृतीये**) जीव-प्रकृतिभ्यां विलक्षणे (**धामन्**) धामन्याधारभूते (**अध्यैरयन्त**) सर्वत्र स्वेच्छया विचरन्ति॥ १०॥

प्रमाणार्थ—(**जनिता**) यहाँ 'जनिता मन्त्रे' (अ० ६।४।५३) इस सूत्र से 'णि' का लोप है।

अन्वयः—हे मनुष्याः! यत्र तृतीये धामन्नमृतमानशाना देवा अध्यैरयन्त यो विश्वा भुवनानि धामानि च वेद स नो बन्धुर्जनिता स विधाताऽस्तीति निश्चिनुत॥ १०॥

सपदार्थान्वयः—**हे मनुष्याः! यत्र** यस्मिन् जगदीश्वरे **तृतीये** जीवप्रकृतिभ्यां विलक्षणे **धामन्** धामन्याधारभूते **अमृतं** मोक्षसुखम् **आनशानाः** प्राप्नुवन्तो **देवाः** विद्वांसः **अध्यैरयन्त** सर्वत्र स्वेच्छया विचरन्ति; **यो विश्वा** सर्वाणि **भुवनानि** लोक-लोकान्तराणि **धामानि** जन्मस्थाननामानि **च वेद** जानाति, **स नः** अस्माकं **बन्धुः** भ्रातेव मान्यः सहायः, **जनिता** जनयिता, **स विधाता** सर्वेषां पदार्थानां कर्मफलानां च विधानकर्त्ता **अस्तीति निश्चिनुत**॥ ३२। १०॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो! (यत्र) जिस (तृतीये) जीव और प्रकृति से विलक्षण तीसरे (धामन्) धाम=आधारभूत जगदीश्वर में—(अमृतम्) मोक्ष सुख को (आनशानाः) प्राप्त करते हुए (देवाः) विद्वान् लोग (अध्यैरयन्त) सर्वत्र स्वेच्छापूर्वक विचरते हैं; और जो—(विश्वा) सब (भुवनानि) लोक-लोकान्तरों को (वेद) जानता है; (सः) वह (नः) हमारा (बन्धुः) भ्राता के समान माननीय, सहायक है; (जनिता) उत्पन्न करने वाला है; (सः) वह (विधाता) सब पदार्थों और कर्मफलों का विधान करने वाला है; ऐसा तुम निश्चय करो॥ ३२। १०॥

भावार्थः—हे मनुष्याः! यस्मिञ्छुद्धस्वरूपे परमात्मनि योगिनो विद्वांसो मुक्तिसुखं प्राप्य मोदन्ते, स एव सर्वज्ञः, सर्वोत्पादकः सर्वदा सहाय-कारी च मन्तव्यो नेतर इति॥ ३२। १०॥

भावार्थ—हे मनुष्यो! जिस शुद्ध स्वरूप परमात्मा में योगी विद्वान् मुक्ति सुख को प्राप्त करके प्रसन्न रहते हैं; उसे ही सर्वज्ञ, सब का उत्पादक और सहायक मानो; अन्य को नहीं॥ ३२। १०॥

भा० पदार्थः—तृतीये=शुद्धस्वरूपे। देवाः=योगिनो विद्वांसः। अमृतम्=मुक्तिसुखम्। अध्यैरयन्त=मोदन्ते। बन्धुः=सर्वदा सहायकारी। जनिता=सर्वोत्पादकः।

अन्यत्र व्याख्यात—[क] हे मनुष्यो (सः) वह परमात्मा (नः) अपने लोगों को (बन्धुः) भ्राता के समान सुखदायक (जनिता) सकल जगत् का उत्पादक (सः) वह (विधाता) सब कामों का पूर्ण करने हारा (विश्वा) संपूर्ण (भुवनानि) लोकमात्र और (धामानि) नाम, स्थान और जन्मों को जानता है। और (यत्र) जिस (तृतीये) सांसारिक सुख-दुःख से रहित नित्यानन्दयुक्त (धामन्) मोक्ष स्वरूप को धारण करने हारे परमात्मा में (अमृतम्) मोक्ष को (आनशानाः) प्राप्त होके (देवाः) विद्वान् लोग (अध्यैरयन्त) स्वेच्छापूर्वक विचरते हैं। वही परमात्मा अपना गुरु, आचार्य, राजा और न्यायाधीश है। अपने लोग मिलकर सदा उसकी भक्ति किया करें। (संस्कारविधि, ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना)॥

[ख] (स नो बन्धु०) सब मनुष्यों को यह जानना चाहिए कि वही परमेश्वर हमारा बन्धु अर्थात् दुःख का नाश करने वाला (जनिता) सब सुखों का उत्पन्न और पालन करने वाला है तथा वही सब कामों का पूर्ण कर्त्ता और लोकों को जानने वाला है, कि जिसमें देव अर्थात् विद्वान् लोग मोक्ष को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं; और वे तीसरे धाम अर्थात् शुद्ध सत्त्व से सहित होके सर्वोत्तम सुख में सदा स्वच्छन्दता से रमण करते हैं। (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, नौविमानादिविद्याविषय)॥

[ग] वह परमेश्वर हमारा "बन्धु", दुःखनाशक और सहायक है तथा "जनिता" सब जगत् तथा हम लोगों का भी पालन करने वाला पिता तथा हम लोगों के कामों की सिद्धि का विधाता पूर्ण काम की सिद्धि करने वाला वह है। सब जगत् का भी विधाता रचने और धारण करने वाला एक परमात्मा ही है; अन्य कोई नहीं। "धामानि वेदेत्यादि" "विश्वा" सब धाम अर्थात् अनेक लोक लोकान्तरों को रच के अनन्त सर्वज्ञता से यथार्थ जानता है।

वह कौन परमेश्वर है कि जिससे देव अर्थात् विद्वान् लोग (विद्वाᳬसो हि देवाः शतपथ ब्रा०) अमृत मरणादि दुःख रहित मोक्षपद में अर्थात् सब दुःखों से छूट के सर्वव्यापी पूर्णानन्दस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होके परमानन्द में रहते हैं?

तृतीयेत्यादि एक स्थूल जगत् (पृथिव्यादि) दूसरा सूक्ष्म (आदिकारण) सर्वदोषरहित अनन्तानन्दस्वरूप परब्रह्म, उस धाम में "अध्यैरयन्त" धर्मात्मा विद्वान् लोग स्वच्छन्द (स्वेच्छा) से वर्तते हैं, सब बाधाओं से छूट के विज्ञानवान् शुद्ध होके देश, काल, वस्तु परिच्छेदरहित सर्वगत "धामन्" आधारस्वरूप परमात्मा में रहते हैं; उससे दुःख सागर में नहीं गिरते। (आर्याभिविनय २।६)॥

भाष्यसार—**परमेश्वर कैसा है**—परमेश्वर जीव और प्रकृति से विलक्षण होने से तृतीय है। जो सब का आधारभूत धाम है। जिस शुद्ध-स्वरूप परमेश्वर में योगी विद्वान् लोग मोक्षसुख को प्राप्त करके प्रसन्न होते हैं, सर्वत्र स्वेच्छापूर्वक विचरते हैं। वही परमेश्वर सब लोक-लोकान्तरों को तथा जन्म, स्थान और नामों को जानता है। इसलिए वह सर्वज्ञ है। वही हमारा भ्राता अर्थात् भाई के समान मान के योग्य एवं सहायक है, सबका उत्पादक है सब पदार्थों और कर्म फलों का विधाता है ऐसा निश्चय रखें॥ ३२। १०॥ ●

स्वयम्भुर्ब्रह्मा। **परमात्मा**=ईश्वरः। निचृत्त्रिष्टुप्। धैवतः॥

पुनस्तमेव विषयमाह॥

वह परमेश्वर कैसा है, यह फिर उपदेश किया है॥

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश॥ ११॥

पदार्थः—(परीत्य) परितः=सर्वतोऽभिव्याप्य (**भूतानि**) (**परीत्य**) (**लोकान्**) द्रष्टव्यान् पृथिवीसूर्यादीन् (**परीत्य**) (**सर्वाः**) (**प्रदिशः**) आग्नेयाद्या उपदिशः (**दिशः**) पूर्वाद्याः (**च**) अधः उपरि च (**उपस्थाय**) पठित्वा संसेव्य वा (**प्रथमजाम्**) प्रथमोत्पन्नां वेदचतुष्टयीम् (**ऋतस्य**) सत्यस्य (**आत्मना**) स्वस्वरूपेणान्तःकरणेन च (**आत्मानम्**) स्वरूपमधिष्ठानं वा (**अभि**) आभिमुख्ये (**सम्**) सम्यक् (**विवेश**) प्रविशति ॥ ११ ॥

अन्वयः—हे विद्वन् ! त्वं यो भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च परीत्य ऋतस्यात्मानमभिसंविवेश प्रथमजामुपस्थायात्मना तं प्राप्नुहि ॥ ११ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे विद्वन् ! त्वं यो भूतानि परीत्य** परितः=सर्वतोऽभिव्याप्य, **लोकान्** द्रष्टव्यान् पृथिवीसूर्यादीन् **परीत्य** परितः=सर्वतोऽभिव्याप्य, **सर्वाः प्रदिशः** आग्नेयाद्या उपदिशः **दिशः** पूर्वाद्याः **च** अधः उपरि च **परीत्य** परितः=सर्वतोऽभिव्याप्य, **ऋतस्य** सत्यस्य **आत्मानं** स्वरूपमधिष्ठानं वा **अभि+सम्+विवेश** आभिमुख्येन सम्यक् प्रविशति **प्रथमजां** प्रथमोत्पन्नां वेदचतुष्टयीम् **उपस्थाय** पठित्वा संसेव्य वा **आत्मना** स्वस्वरूपेणान्तःकरणेन च **तं प्राप्नुहि** ॥ ३२ । ११ ॥

भाषार्थ—हे विद्वान् ! तू—जो (भूतानि) भूतों को (परीत्य) सब ओर से व्याप्त करके; (लोकान्) दर्शनीय पृथिवी, सूर्य आदि लोकों को (परीत्य) सब ओर से व्याप्त करके; (सर्वाः) सब (प्रदिशः) आग्नेय आदि उपदिशाओं, (दिशः) पूर्व आदि दिशाओं (च) और नीचे तथा ऊपर की दिशाओं को (परीत्य) सब ओर से व्याप्त करके; (ऋतस्य) सत्य के (आत्मानम्) स्वरूप वा अधिष्ठान में (अभि+सम्+विवेश) मुख्य रूप से सम्यक् प्रविष्ट हो रहा है। अतः (प्रथमजाम्) प्रथम उत्पन्न हुई वेद चतुष्टयी को (उपस्थाय) पढ़ कर वा सेवन करके (आत्मना) अपने स्वरूप और अन्तःकरण से उसे प्राप्त कर ॥ ३२ । ११ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या ! यूयं धर्माचरणवेदयोगाभ्याससत्सङ्गादिभिः कर्मभिः शरीरपुष्टिमात्मान्तःकरणशुद्धिं च सम्पाद्य, सर्वत्राभिव्याप्तं परमात्मानं लब्ध्वा सुखिनो भवत ॥ ३२ । ११ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! तुम—धर्माचरण, वेद, योगाभ्यास, सत्संग आदि कर्मों से शरीर की पुष्टि, आत्मा और अन्तःकरण की शुद्धि करके, सर्वत्र व्यापक परमात्मा को प्राप्त करके सुखी रहो ॥ ३२ । ११ ॥

भा० पदार्थः—प्रथमजाम्=धर्माचरणवेदयोगाभ्याससत्सङ्गादिभिः कर्मभिः शरीरपुष्टिमात्मान्तःकरणशुद्धिं च। उपस्थाय=सम्पाद्य। आत्मानम्=परमात्मानम्।

अन्यत्र व्याख्यात—[क] इस प्रकार परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना और धर्म में दृढ़ निष्ठा करके जो (भूतानि) संपूर्ण पृथिव्यादि भूतों में (परीत्य) व्याप्त (लोकान्) सम्पूर्ण लोकों में (परीत्य) पूर्ण हो और (सर्वाः) सब (प्रदिशो दिशश्च) दिशा और उपदिशाओं में (परीत्य) व्यापक होके स्थित है; (ऋतस्य) सत्य कारण के योग से (प्रथमजाम्) सब महत्तत्त्वादि सृष्टि को धारण करके पालन कर रहा है, उस (आत्मानम्) परमात्मा को संन्यासी (आत्मना) स्वात्मा से (उपस्थाय) समीप स्थित हो कर उसमें (अभिसंविवेश) प्रतिदिन समाधि योग से प्रवेश किया करें (संस्कारविधि, संन्यासाश्रम प्रकरण) ॥

[ख] (परीत्य भू०) जो परमेश्वर आकाशादि सब भूतों में तथा (परीत्य लोकान्) सूर्य्यादि सब लोकों में व्याप्त हो रहा है (परीत्य सर्वाः०) इसी प्रकार जो पूर्वादि सब दिशा और आग्नेयादि

उपदिशाओं में भी निरन्तर भरपूर हो रहा है अर्थात् जिसकी व्यापकता से एक अणु भी खाली नहीं है, (ऋतस्या०) जो अपने भी सामर्थ्य का आत्मा है (प्रथमजां०) और जो कल्पादि में सृष्टि की उत्पत्ति करने वाला है, उस आनन्द स्वरूप परमेश्वर को जो जीवात्मा अपने सामर्थ्य अर्थात् मन से यथावत् जानता है, वही उसको प्राप्त होके (अभि०) सदा मोक्ष सुख को भोगता है। (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, ब्रह्मविद्याविषय)।

[ग] सब जीवों में (अर्थात् आकाश और प्रकृति से लेके पृथिवी पर्य्यन्त सब संसार में) वह परमेश्वर व्याप्त होके परिपूर्ण भर रहा है, तथा सब लोक, सब पूर्वादि दिशा और ऐशान्यादि उपदिशा, ऊपर नीचे अर्थात् एक कण भी उसके विना अपर्याप्त (खाली) नहीं।

"प्रथमजाम्" मुख्य प्राणी अपने आत्मा से अत्यन्त सत्याचरण, विद्या, श्रद्धा, भक्ति से "ऋतस्य" यथार्थ सत्यस्वरूप परमात्मा को "उपस्थाय" यथावत् जान उपस्थित (निकट प्राप्त) "अभिसंविवेश" अभिमुख होके उसमें प्रविष्ट अर्थात् परमानन्दस्वरूप परमात्मा में प्रवेश करके, सब सब दुःखों से छूट उसी परमानन्द में रहता है। (आर्याभिविनय २। १०)॥

भाष्यसार—१. परमेश्वर कैसा है—परमेश्वर सब भूत, सब पृथिवी-सूर्य आदि लोक, सब पूर्व आदि दिशा, सब आग्नेयी आदि उपदिशा, नीचे और ऊपर अर्थात् सब में व्यापक होकर सत्य के स्वरूप में प्रविष्ट हो रहा है। इसलिए सब मनुष्य धर्माचरण, प्रथम उत्पन्न चारों वेदों के अध्ययन, योगाभ्यास का सेवन श्रेष्ठ जनों का सङ्ग आदि शुभ कर्मों से शरीर की पुष्टि, आत्मा और अन्तःकरण की शुद्धि को सिद्ध करके पवित्र आत्मा एवं शुद्ध अन्तःकरण से सर्वव्यापक परमात्मा को प्राप्त करके सुखी रहें॥

२. **दिशा**—पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ध्रुवा (नीचे की दिशा), ऊर्ध्वा (ऊपर की दिशा)॥ उपदिशा—आग्नेयी (पूर्व-दक्षिण के बीच की दिशा), नैर्ऋति (दक्षिण-पश्चिम के बीच की दिशा), वायवी (पश्चिम-उत्तर के बीच की दिशा), ऐशानी (उत्तर-पूर्व के बीच की दिशा)॥ ३२। ११॥

स्वयम्भुब्रह्मा। **परमात्मा**=**ईश्वरः**। निचृत् त्रिष्टुप्। धैवतः॥

पुनस्तमेव विषयमाह॥

वह परमेश्वर कैसा है, यह फिर उपदेश किया है॥

परि द्यावापृथिवी सद्य ऽ इत्वा परि लोकान् परि दिशः परि स्वः।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत्तदभवत्तदासीत्॥ १२॥

पदार्थः—(**परि**) सर्वतः (**द्यावापृथिवी**) सूर्यभूमी (**सद्यः**) शीघ्रम् (**इत्वा**) प्राप्य (**परि**) सर्वतः (**लोकान्**) द्रष्टव्यान् सृष्टिस्थान् भूगोलान् (**परि**) (**दिशः**) पूर्वाद्याः (**परि**) (**स्वः**) सुखम् (**ऋतस्य**) सत्यस्य (**तन्तुम्**) कारणम् (**विततम्**) विस्तृतम् (**विचृत्य**) विविधतया ग्रन्थित्वा=बद्ध्वा (**तत्**) (**अपश्यत्**) पश्यति (**तत्**) (**अभवत्**) भवति (**तत्**) (**आसीत्**) अस्ति॥ १२॥

अन्वयः—हे मनुष्याः! यः परमेश्वरो द्यावापृथिवी सद्य इत्वा पर्य्यपश्यद्यो लोकान् सद्य इत्वा पर्य्यभवत्। यो दिशः सद्य इत्वा पर्य्यासीद्यः स्वः सद्य इत्वा पर्य्यपश्यद्य ऋतस्य विततं तन्तुं विचृत्य तत्सुखमपश्यद्येन तत्सुखमभवद्यतस्तद्विज्ञानमासीत्तं यथावद्विज्ञायोपासीरन्॥ १२॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! **यः परमेश्वरो द्यावापृथिवी** सूर्यभूमी **सद्यः** शीघ्रम् **इत्वा** प्राप्य **परि+अपश्यत्** सर्वतः पश्यति, **यो लोकान्** द्रष्टव्यान् सृष्टिस्थान् भूगोलान् **सद्यः** शीघ्रम् **इत्वा** प्राप्य **परि+अभवत्** सर्वतो भवति; **यो दिशः** पूर्वाद्याः **सद्यः** शीघ्रम् **इत्वा** प्राप्य **परि+आसीत्** सर्वतोऽस्ति; **यः स्वः** सुखं **सद्यः** शीघ्रम् **इत्वा** प्राप्य **परि+अपश्यत्** सर्वतः पश्यति; **य ऋतस्य** सत्यस्य **विततं** विस्तृतं **तन्तुं** कारणं **विचृत्य** विविधतया ग्रन्थित्वा=बद्ध्वा **तत्सुखमपश्यत्** पश्यति; **येन तत् सुखमभवत्** भवति; **यतस्तद्विज्ञानमासीत्** अस्ति; **तं यथावद्विज्ञायोपासीरन्** ॥ ३२ । १२ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जो परमेश्वर (द्यावापृथिवी) सूर्य और भूमि को (सद्यः) शीघ्र (इत्वा) प्राप्त करके (परि+अपश्यत्) सब ओर देखता है; जो (लोकान्) दर्शनीय सृष्टि के भूगोलों को (सद्यः) शीघ्र (इत्वा) प्राप्त करके (परि+अभवत्) सब ओर रहता है; जो (दिशः) पूर्व आदि दिशाओं को (सद्यः) शीघ्र (इत्वा) प्राप्त करके (परि+आसीत्) सब ओर विद्यमान है; जो (स्वः) सुख को (सद्यः) शीघ्र (इत्वा) प्राप्त करके (परि+अपश्यत्) सब ओर देखता है; जो (ऋतस्य) सत्य के (विततम्) विस्तृत (तन्तुम्) कारण रूप तन्तु को (विचृत्य) विविध प्रकार से गूंथकर, बांधकर उसके सुख को (अपश्यत्) देखता है; जिससे (तत्) वह सुख (अभवत्) होता है; जिससे उसका विज्ञान (आसीत्) है उसको यथावत् जानकर उसकी उपासना करो ॥ ३२ । १२ ॥

भावार्थः—ये मनुष्याः परमेश्वरमेव भजन्ति, तन्निर्मितां सृष्टिं सुखायोपयुञ्जते; ते ऐहिकं पारमार्थिकं विद्याजन्यं सुखं च सद्यः प्राप्य सततमानन्दन्ति ॥ ३२ ॥ १२ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर को ही भजते हैं, उसकी बनाई सृष्टि का सुख के लिए उपयोग करते हैं; वे ऐहिक और पारमार्थिक और विद्याजन्य सुख को शीघ्र प्राप्त करके सदा आनन्दित रहते हैं ॥ ३२ । १२ ॥

भा० पदार्थः—स्वः=ऐहिकं पारमार्थिकं सुखम् ॥

भाष्यसार—**परमेश्वर कैसा है**—परमेश्वर सूर्य, भूमि को अपनी व्याप्ति से प्राप्त होकर सब ओर से देख रहा है, सृष्टि में स्थित भूगोलों को अपनी व्याप्ति से प्राप्त होकर सब ओर विद्यमान हो रहा है, पूर्व आदि दिशाओं को अपनी व्याप्ति से प्राप्त होकर सब ओर विराजमान हो रहा है, सब सुखों को अपनी व्याप्ति से प्राप्त होकर सब ओर से देख रहा है, सत्य (प्रकृति) के विस्तृत तन्तु को विविध रूप में ग्रथित करके जीवों को नाना सुख प्रदान कर रहा है, नाना सुखों को स्वयं देख रहा है। परमेश्वर के उपासक उसकी बनाई सृष्टि का सुख के लिए उपयोग कर रहे हैं, लौकिक पारमार्थिक और विद्याजन्य सुख को शीघ्र प्राप्त करके निरन्तर आनन्द भोग रहे हैं। इस परमेश्वर को यथावत् जानकर उसकी नित्य उपासना करो ॥ ३२ । १२ ॥

मेधाकामः । **इन्द्रः**=ईश्वरः । भुरिग्गायत्री । षड्जः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

वह परमेश्वर कैसा है, यह फिर उपदेश किया है ॥

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् । सनिं मेधामयासिषꣳ स्वाहा ॥ १३ ॥

पदार्थः—(सदसः) सभाया ज्ञानस्य न्यायस्य दण्डस्य वा **(पतिम्)** पालकं स्वामिनम् **(अद्भुतम्)** आश्चर्य्यगुणकर्मस्वभावम् **(प्रियम्)** प्रीतिविषयं प्रसन्नकरं प्रसन्नं वा **(इन्द्रस्य)** इन्द्रियाणां स्वामिनो जीवस्य (काम्यम्) कमनीयम् **(सनिम्)** सनन्ति=संविभजन्ति सत्याऽसत्ये यया ताम् **(मेधाम्)** संगतां प्रज्ञाम् **(अयासिषम्)** प्राप्नुयाम् **(स्वाहा)** सत्यया क्रियया वाचा वा ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! अहं स्वाहा यं सदसस्पतिमद्भुतमिन्द्रस्य काम्यं प्रियं परमात्मानमुपास्य संसेव्य च सनिं मेधामयासिषं तं परिचर्यैतां यूयमपि प्राप्नुत ॥ १३ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **मनुष्याः** ! **अहं स्वाहा** सत्यया क्रियया वाचा वा **यं सदसः** सभाया ज्ञानस्य न्यायस्य दण्डस्य वा **पतिं** पालकं स्वामिनम् **अद्भुतम्** आश्चर्यगुणकर्मस्वभावम्, **इन्द्रस्य** इन्द्रियाणां स्वामिनो जीवस्य **काम्यं** कमनीयं, **प्रियं** प्रीतिविषयं प्रसन्नकरं प्रसन्नं वा **परमात्मानमुपास्य संसेव्य च सनिं** सनन्ति=संविभजन्ति सत्याऽसत्ये यया तां **मेधां** सङ्गतां प्रज्ञाम् **अयासिषं** प्राप्नुयाम्, **तं परिचर्यैतां यूयमपि प्राप्नुत** ॥३२।१३॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! मैं—(स्वाहा) सत्य क्रिया अथवा वाणी से जिस (सदसः) सभा, ज्ञान, न्याय वा दण्ड के (पतिम्) पालक=स्वामी, (अद्भुतम्) आश्चर्यपूर्ण गुण-कर्म-स्वभाव वाले, (इन्द्रस्य) इन्द्रियों के स्वामी जीव के लिए (काम्यम्) कामना करने योग्य; (प्रियम्) प्रीति विषय वाले, प्रसन्न करने वाले वा स्वयं सदा प्रसन्न रहने वाले परमात्मा की उपासना और सेवा करके (सनिम्) सत्य-असत्य का संविभाग करने वाली (मेधाम्) संगत मेधा बुद्धि को (अयासिषम्) प्राप्त करता हूँ—उस की सेवा करके इसे तुम भी प्राप्त करो ॥ ३२ । १३ ॥

भावार्थः—ये मनुष्याः सर्वशक्तिमन्तं परमात्मानं सेवन्ते; ते सर्वा विद्याः प्राप्य, शुद्धया प्रज्ञया सर्वाणि सुखानि लभन्ते ॥ ३२ । १३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य **सर्वशक्तिमान्** परमात्मा की सेवा करते हैं; वे सब विद्याओं को प्राप्त करके शुद्ध बुद्धि से सब सुखों को प्राप्त करते हैं ॥ ३२ । १३ ॥

भा० पदार्थः—सनिम्=सर्वा विद्याः । मेधाम्=शुद्धां प्रज्ञाम् ॥

अन्यत्र व्याख्यात—[क] हे सभापते, विद्यामय, न्यायकारिन्, सभासद, सभाप्रिय ! सभा ही हमारा राजा न्यायकारी हो, ऐसी इच्छा वाले आप हमको कीजिए । किसी एक मनुष्य को हम लोग राजा कभी न मानें, किन्तु आपको ही हम सभापति, सभाध्यक्ष, राजा मानें । आप अद्भुत=आश्चर्य विचित्र शक्तिमय हैं तथा प्रिय स्वरूप ही हैं । इन्द्र जो जीव उसको कमनीय (कामना के योग्य) आप ही हैं । "सनिम्" सम्यक् भजनीय और सेव्य भी जीवों के आप ही हैं । मेधा अर्थात् विद्या, सत्यधर्मादि धारणवाली बुद्धि को हे भगवन् ! मैं याचता हूँ सो आप कृपा करके मुझ को देओ । "स्वाहा" यही स्वकीय वाक् आह=कहती है कि एक ईश्वर से भिन्न कोई जीवों को सेव्य नहीं है । यही वेद में ईश्वराज्ञा है; सो सब मनुष्यों को मानना अवश्य योग्य है । (आर्याभिविनय २ । ५२) ॥

[ख] महर्षि ने संस्कारविधि के जातकर्म प्रकरण में बालक को घृत, मधु प्राशन में तथा वेदारम्भ प्रकरण में भात आहुति में इस मन्त्र का विनियोग किया है ॥ ३२ । १३ ॥

भाष्यसार—**परमेश्वर कैसा है**—परमेश्वर सभापति, ज्ञानपति, न्यायपति और दण्डपति है । उसके गुण, कर्म, स्वभाव आश्चर्य-चकित कर देने वाले हैं, इन्द्र अर्थात् इन्द्रियों के स्वामी जीव

के लिए वह कमनीय है, प्रीति करने का विषय है, उसे प्रसन्न करने वाला है और स्वयं सदा प्रसन्न है। ऐसे परमात्मा की सत्याचरण और सत्यभाषण आदि शुभ कर्मों से उपासना और सेवा करके सत्य-असत्य का विवेक करने वाली मेधाबुद्धि को मैं प्राप्त करूँ, क्योंकि जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा का सेवन करते हैं, वे सब विद्याओं को प्राप्त करके मेधा-बुद्धि से सब सुखों को उपलब्ध करते हैं ।। ३२ । १३ ।।

मेधाकामः । **परमात्मा**=ईश्वरः । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ।।

मनुष्यैरीश्वराद् बुद्धिर्याचनीयेत्याह ।।

मनुष्यों को ईश्वर से बुद्धि की याचना करनी चाहिए, यह फिर उपदेश किया गया है ।।

यां मे॒धां दे॑वग॒णाः पि॒तर॑श्चो॒पास॑ते । तया॒ माम॒द्य मे॒धया॑ग्ने मे॒धावि॑नं कुरु॒ स्वाहा॑ ॥ १४ ॥

पदार्थः—(याम्) (मेधाम्) प्रज्ञां धनं वा । मेधेति धनना० ॥ निघं० २ । १० ॥ (**देवगणाः**) देवानां=विदुषां समूहाः (**पितरः**) पालयितारो विज्ञानिनः (**च**) (**उपासते**) प्राप्य सेवन्ते (**तया**) (**माम्**) (**अद्य**) (**मेधया**) (**अग्ने**) स्वप्रकाशत्वेन विद्याविज्ञापक ! (**मेधाविनम्**) प्रशस्ता मेधा विद्यते यस्य तम् (**कुरु**) (**स्वाहा**) सत्यया वाचा ।। १४ ।।

प्रमाणार्थ—(मेधाम्) 'मेधा' शब्द निघं० (२ । १०) में धन नामों में पढ़ा है ।। ३२।१४ ।।

अन्वयः—हे अग्ने विद्वन्नध्यापक ! जगदीश्वर ! वा देवगणाः पितरश्च यां मेधामुपासते तया मेधया मामद्य स्वाहा मेधाविनं कुरु ।। १४ ।।

सपदार्थान्वयः—हे **अग्ने विद्वन्** ! **अध्यापक** ! **जगदीश्वर** ! **वा** स्वप्रकाशत्वेन विद्याविज्ञापक ! **देवगणाः** देवानां=विदुषां समूहाः **पितरः** पालयितारो विज्ञानिनः **च यां मेधां** प्रज्ञां धनं वा **उपासते** प्राप्य सेवन्ते; **तया मेधया मामद्य स्वाहा** सत्यया वाचा **मेधाविनं** प्रशस्ता मेधा विद्यते यस्य तं **कुरु** ।। ३२ । १४ ।।

भाषार्थ—हे (अग्ने) विद्वान् ! अध्यापक ! वा स्वप्रकाश स्वरूप होने से विद्या के विज्ञापक जगदीश्वर ! (देवगणाः) विद्वानों के वृन्द और (पितरः) पालन करने वाले विज्ञानी लोग (याम्) जिस (मेधाम्) प्रज्ञा वा धन को (उपासते) प्राप्त करके सेवन करते हैं; (तया) उस (मेधया) प्रज्ञा वा धन से (माम्) मुझे (अद्य) शीघ्र (स्वाहा) सत्य वाणी से (मेधाविनम्) प्रशस्त मेधा वाला (कुरु) बना ।। ३२ । १४ ।।

भावार्थः—मनुष्याः परमेश्वरमुपास्याप्तं विद्वांसं संसेव्य, शुद्धं विज्ञानं धर्मजं धनं च प्राप्तुमिच्छेयुरन्यांश्चैवं प्रापयेयुः ।। ३२ । १४ ।।

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की उपासना एवं विद्वान् की सेवा करके शुद्ध विज्ञान और धर्म से अर्जित धन को प्राप्त करने की इच्छा करें और अन्यों को भी इसी प्रकार प्राप्त करावें ।।३२।१४।।

भा० पदार्थः—पितरः=आप्तविद्वांसः । मेधाम्=शुद्धं विज्ञानं धर्मजं धनं च ।

अन्यत्र व्याख्यात—[क]—हे अग्ने ! अर्थात् प्रकाश स्वरूप परमेश्वर आप कृपा से जिस बुद्धि की उपासना विद्वान् ज्ञानी और योगी लोग करते हैं उसी बुद्धि से युक्त हमको इसी वर्तमान समय में बुद्धिमान् आप कीजिए। (सत्यार्थप्रकाश, सप्तमसमुल्लास) ।।

[ख] (यां मेधां) इस मन्त्र का यह अभिप्राय है कि हे परमात्मन् ! आप अपनी कृपा से जो अत्यन्त उत्तम सत्य विद्यादि शुभ गुणों को धारण करने के योग्य बुद्धि है, उससे युक्त हम लोगों को कीजिए, कि जिसके प्रताप से देव अर्थात् विद्वान् और पितर अर्थात् ज्ञानी होके हम लोग आप की उपासना सब दिन करते रहें। (स्वाहा०) इस शब्द का अर्थ निरुक्तकार यास्कमुनि जी ने अनेक प्रकार से कहा है, सो लिखते हैं कि (सु आहेति वा) सब मनुष्यों को अच्छा, मीठा, कल्याण करने वाला और प्रिय वचन सदा बोलना चाहिए; (स्वा वागाहेति वा) अर्थात् मनुष्यों को यह निश्चय करके जानना चाहिए कि जैसी बात उनके ज्ञान के बीच में वर्तमान हो, जीभ से सदा वैसा ही बोलें, उसके विपरीत नहीं; (स्वं प्राहेति वा०) सब मनुष्य अपने ही पदार्थ को अपना कहें, दूसरे के पदार्थ को कभी नहीं, अर्थात् जितना-जितना धर्मयुक्त पुरुषार्थ से उनको पदार्थ प्राप्त हो उतने ही में सदा सन्तोष करें। (स्वाहुतं ह०) अर्थात् सब दिन अच्छी प्रकार सुगन्धादि द्रव्यों का संस्कार करके सब जगत् के उपकार करने वाले होम को किया करें; और स्वाहा शब्द का यह भी अर्थ है कि सब दिन मिथ्यावाद को छोड़ के सत्य ही बोलना चाहिए। (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, प्रार्थनायाचनासमर्पणविषय) ॥

[ग] हे सर्वज्ञाग्ने परमात्मन् ! जिस विज्ञानवती, यथार्थ धारण वाली बुद्धि को देव (विद्वानों) के वृन्द "उपासते" (धारण करते हैं), तथा यथार्थ पदार्थ विज्ञान वाले पितर जिस बुद्धि के उपाश्रित होते हैं, उस बुद्धि के साथ इसी समय कृपा से मुझ को मेधावी कर। "स्वाहा" इसको आप अनुग्रह और प्रीति से स्वीकार कीजिए, जिससे मेरी जड़ता सब दूर हो। (आर्याभिविनय २ । ५३) ॥

भाष्यसार—**ईश्वर से बुद्धि की याचना**—हे अपने प्रकाश से विद्या के विज्ञापक जगदीश्वर ! विद्वानों के वृन्द और विज्ञानी पितर लोग जिस मेधा-बुद्धि का सेवन करते हैं, उस मेधा बुद्धि से मुझे युक्त कर, सत्य वाणी से मुझे मेधावी बना।

सब मनुष्य परमेश्वर की उपासना से मेधा=शुद्ध विज्ञान तथा विद्वानों की सेवा से मेधा=धर्म से उत्पन्न धन को प्राप्त करने की कामना करें। स्वयं मेधावी=विज्ञानवान् और धनवान् होकर अन्यों को भी उक्त विज्ञान और धन प्राप्त करावें ॥ ३२ । १४ ॥

मेधाकामः । **परमेश्वरविद्वांसौ**=स्पष्टम् । निचृद्बृहती । मध्यमः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

परमेश्वर और विद्वान् कैसे हैं, यह फिर उपदेश किया है ॥

मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः ।
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा ॥ १५ ॥

पदार्थः—(**मेधाम्**) शुद्धां धियं धनं वा (**मे**) मह्यम् (**वरुणः**) श्रेष्ठः (**ददातु**) (**मेधाम्**) (**अग्निः**) विद्याप्रकाशितः (**प्रजापतिः**) प्रजायाः पालकः (**मेधाम्**) (**इन्द्रः**) परमैश्वर्य्यवान् (**च**) (**वायुः**) बलिष्ठो बलप्रदः (**च**) (**मेधाम्**) (**धाता**) सर्वस्य संसारस्य राज्यस्य (**ददातु**) (**मे**) मह्यम् (**स्वाहा**) धर्म्यया क्रियया ॥ १५ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथा वरुणः परमेश्वरो विद्वान् वा स्वाहा मे मेधां ददातु अग्निः प्रजापतिर्मेधां ददातु इन्द्रो मेधां ददातु वायुश्च मेधां ददातु धाता च मे मेधां ददातु तथा युष्मभ्यमपि ददातु ॥ १५ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! **यथा वरुणः**=**परमेश्वरो विद्वान् वा** श्रेष्ठः **स्वाहा** धर्म्यया क्रियया **मे** मह्यं **मेधां** शुद्धां धियं धनं वा **ददातु, अग्निः** विद्याप्रकाशितः **प्रजापतिः** प्रजायाः पालकः **मेधां** शुद्धां धियं धनं वा **ददातु, इन्द्रः** परमैश्वर्य्यवान् **मेधां** शुद्धां धियं धनं वा **ददातु, वायुः** बलिष्ठो बलप्रदः **च मेधां** शुद्धां धियं धनं वा **ददातु, धाता** सर्वस्य संसारस्य राज्यस्य **च मे** मह्यं **मेधां** शुद्धां धियं धनं वा **ददातु; तथा युष्मभ्यमपि ददातु** ॥१५॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे—(वरुणः) परमेश्वर वा श्रेष्ठ विद्वान् (स्वाहा) धर्माचरण से (मे) मेरे लिए (मेधाम्) शुद्ध बुद्धि वा धन (ददातु) देता है; (अग्निः) विद्या से प्रकाशित (प्रजापतिः) प्रजा का पालक विद्वान् (मेधाम्) शुद्ध बुद्धि वा धन (ददातु) देता है; (इन्द्रः) परम ऐश्वर्य वाला इन्द्र (मेधाम्) शुद्धि बुद्धि वा धन (ददातु) देता है; (वायुः) बलिष्ठ एवं बल प्रदान करने वाला (मेधाम्) शुद्ध बुद्धि वा धन (ददातु) देता है; और (धाता) सब संसार के राज्य को धारण करने वाला ईश्वर (मे) मेरे लिए (मेधाम्) शुद्ध बुद्धि वा धन (ददातु) देता है; वैसे तुम्हें भी प्रदान करे ॥ ३२ । १५ ॥

भावार्थः—मनुष्या यथाऽऽत्मार्थं गुणकर्मस्वभावं सुखं चेच्छेयुस्तादृशमेवान्यार्थम् । यथा स्वस्योन्नतये प्रार्थयेयुस्तथा परमेश्वरस्य विदुषां च सकाशादन्येषामपि प्रार्थयेयुः । न केवलं प्रार्थनामेव कुर्युः, किं तर्हि सत्याचरणमपि ।

यदा यदा विदुषां समीपं गच्छेयुस्तदा तदा सर्वेषां कल्याणाय प्रश्नोत्तराणि कुर्युः ॥ ३२ । १५ ॥

भावार्थ—मनुष्य जैसे अपने लिए गुण-कर्म-स्वभाव और सुख की इच्छा करें वैसे दूसरों के लिए भी । जैसे अपनी उन्नति के लिए प्रार्थना करें वैसे परमेश्वर और विद्वानों से दूसरों की उन्नति के लिए प्रार्थना करें । न केवल प्रार्थना ही करें अपितु सत्य आचरण भी करें ।

जब जब विद्वानों के समीप जावें तब तब सबके कल्याण के लिए प्रश्नोत्तर करें ॥ ३२ । १५ ॥

भा० पदार्थः—स्वाहा=सत्याचरणम् ॥

अन्यत्र व्याख्यात—हे सर्वोत्कृष्टेश्वर ! आप 'वरुणः' वर (वरणीय) आनन्दस्वरूप हो, कृपा से मुझ को मेधा=सर्वविद्यासम्पन्न बुद्धि दीजिए । तथा "अग्नि" विज्ञानमय, विज्ञानप्रद, "प्रजापतिः" सब संसार के अधिष्ठाता, पालक "इन्द्रः" परमैश्वर्यवान्, "वायुः" विज्ञानवान्, अनन्तबल, "धाता" तथा सब जगत् का धारण और पोषण करने वाले आप, मुझ को अत्युत्तम मेधा (बुद्धि) दीजिए ।
(आर्याभिविनय २ । ५४) ॥

भाष्यसार—**१. ईश्वर से बुद्धि की याचना**—सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर धर्माचरण से मुझे शुद्ध बुद्धि (मेधा) प्रदान करे । विद्या से प्रकाशित, प्रजा का पालक परमेश्वर मुझे शुद्ध बुद्धि प्रदान करे । परम ऐश्वर्यवान् परमेश्वर मुझे शुद्ध बुद्धि प्रदान करे । बलिष्ठ परमेश्वर मुझे शुद्ध बुद्धि प्रदान करे । सब संसार को धारण करने वाला परमेश्वर मुझे शुद्ध बुद्धि प्रदान करे ।

२. विद्वान् से धन की याचना—श्रेष्ठ विद्वान् राजा मुझे धर्माचरण से धन प्रदान करे । विद्या से प्रकाशित, प्रजा का पालक, विद्वान् राजा मुझे धन प्रदान करे । परम ऐश्वर्यवान् विद्वान् राजा मुझे धन प्रदान करे । बल देने वाला विद्वान् राजा मुझे धन प्रदान करे । राज्य का धारण करने वाला विद्वान् राजा मुझे धन प्रदान करे ।

जैसे अपनी आत्मा के लिए गुण, कर्म, स्वभाव और सुख की कामना करें, वैसे दूसरों के लिए भी चाहें। जैसे अपनी उन्नति के लिए प्रार्थना करें, वैसे परमेश्वर और विद्वानों से अन्यों के लिए भी प्रार्थना करें। केवल प्रार्थना से कुछ नहीं बनता, उसके अनुसार सत्याचरण भी करें। जब-जब विद्वानों के समीप जावें तब तब सबके कल्याण के लिए प्रश्न-उत्तर करके संशय को दूर करें ॥ ३२ । १५ ॥

श्रीकामः । **विद्वद्राजानौ**=ब्राह्मणक्षत्रियौ । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

परमेश्वर और विद्वान् कैसे हैं, यह फिर उपदेश किया है ॥

इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम् ।
मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा ॥ १६ ॥

पदार्थः—(**इदम्**) (**मे**) मम (**ब्रह्म**) वेदेश्वरविज्ञानं तद्वत्कुलम् (**च**) (**क्षत्रम्**) राज्यं धनुर्वेदविद्या क्षत्रियकुलम् (**च**) (**उभे**) (**श्रियम्**) राजलक्ष्मीम् (**अश्नुताम्**) प्राप्नुताम् (**मयि**) (**देवाः**) विद्वांसः (**दधतु**) धरन्तु (**श्रियम्**) शोभां लक्ष्मीं च (**उत्तमाम्**) अतिश्रेष्ठाम् (**तस्यै**) श्रियै (**ते**) तुभ्यम् (**स्वाहा**) सत्याचरणया क्रियया ॥ १६ ॥

अन्वयः—हे परमेश्वर ! भवत्कृपया हे विद्वन् ! तव पुरुषार्थेन च स्वाहा मे ममेदं ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुतां यथा देवा मय्युत्तमां श्रियं दधतु तथाऽन्येष्वपि । हे जिज्ञासो ! ते तुभ्यं तस्यै वयं प्रयतेमहि ॥ १६ ॥

सपदार्थान्वयः—हे परमेश्वर ! **भवत्कृपया हे विद्वन् ! तव पुरुषार्थेन च स्वाहा** सत्याचरणया क्रियया **मे=ममेदं ब्रह्म** वेदेश्वरविज्ञानं तद्वत्कुलं **च क्षत्रं** राज्यं धनुर्वेदविद्या क्षत्रियकुलं **चोभे श्रियं** राजलक्ष्मीम् **अश्नुतां** प्राप्नुताम् ।

यथा देवाः विद्वांसः **मय्युत्तमाम्** अतिश्रेष्ठां **श्रियं** शोभां लक्ष्मीं च **दधतु** धरन्तु **तथाऽन्येष्वपि** ।

हे जिज्ञासो ! ते=तुभ्यं तस्यै श्रियै **वयं प्रयतेमहि** ॥ ३२ । १६ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः । ये मनुष्याः परमेश्वराज्ञापालनेन, विदुषां सेवया, सत्कारेण, सर्वेषां मनुष्याणां मध्याद् ब्राह्मणक्षत्रियौ सुशिक्ष्य, विद्यादिसद्गुणैः संयोज्य, सर्वेषामुन्नतिं

भाषार्थ—हे परमेश्वर ! आपकी कृपा से, और हे विद्वान् ! तेरे पुरुषार्थ से (स्वाहा) सत्याचरण रूप क्रिया से (मे) मेरा (इदम्) यह (ब्रह्म) वेद और ईश्वर का विज्ञान एवं उनसे युक्त ब्रह्मकुल, (च) और (क्षत्रम्) राज्य, धनुर्वेद की विद्या तथा क्षत्रियकुल (उभे) दोनों (श्रियम्) राजलक्ष्मी को (अश्नुताम्) प्राप्त करें।

जैसे (देवाः) विद्वान् लोग (मयि) मुझ में (उत्तमाम्) अति श्रेष्ठ (श्रियम्) शोभा और लक्ष्मी को (दधतु) स्थापित करें, वैसे अन्यों में भी करें।

हे जिज्ञासु ! (ते) तेरे लिए (तस्यै) उक्त श्री की प्राप्ति के लिए हम प्रयत्न करें ॥ ३२ । १६ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। जो मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा-पालन से, विद्वानों की सेवा एवं सत्कार से सब मनुष्यों में से ब्राह्मण और क्षत्रिय को सुशिक्षित करके, विद्या

विधाय स्वात्मवत् सर्वेषु वर्त्तेरन्; ते सर्वपूज्याः स्युरिति ॥ ३२ । १६ ॥

आदि शुभ गुणों से संयुक्त कर, सब की उन्नति करके अपने आत्मा के तुल्य सब में वर्त्ताव करते हैं; वे सबके पूज्य होते हैं ॥ ३२ । १६ ॥

भा० पदार्थः—स्वाहा=परमेश्वराज्ञापालनेन, विदुषां सेवया सत्कारेण ॥

अन्यत्र व्याख्यात—हे महाविद्य महाराज सर्वेश्वर ! मेरा ब्रह्म (विद्वान्) और क्षत्रं (राजा, राज्य महाचतुर न्यायकारी शूरवीर राजादि क्षत्रिय) ये दोनों आपकी अनन्त कृपा से यथावत् अनुकूल हों । 'श्रियम्' सर्वोत्तम विद्यादि लक्षण युक्त महाराज श्री को हम प्राप्त हों ।

हे "देवाः" विद्वानो ! दिव्य ईश्वरगुण—परम कृपा आदि, उत्तम विद्यादि लक्षण समन्वित श्री को मुझ में अचलता से धारण कराओ । उसको मैं अत्यन्त प्रीति से स्वीकार करूँ और उस श्री को विद्यादि सद्गुण वा सर्व संसार के हित के लिए तथा राज्यादि प्रबन्ध के लिए व्यय करूँ (आर्याभिविनय २ । ५५) ॥

भाष्यसार—**१. ईश्वर से प्रार्थना**—हे परमेश्वर ! आपकी कृपा से और मेरे सत्याचरण से मेरा यह वेद और ईश्वर विज्ञान तथा वेद और ईश्वर विज्ञान को जानने वाला ब्रह्मकुल शोभा और लक्ष्मी को प्राप्त हो । मेरा राज्य धनुर्वेद-विद्या और क्षत्रियकुल शोभा तथा राजलक्ष्मी को प्राप्त हो ।

२. विद्वान् से प्रार्थना—हे विद्वान् पुरुष ! आपके पुरुषार्थ से और मेरे सत्याचरण से मेरा वेद और ईश्वर-विज्ञान और ब्रह्मकुल शोभा और लक्ष्मी को प्राप्त हो । मेरा राज्य धनुर्वेद विद्या और क्षत्रियकुल शोभा और राजलक्ष्मी को प्राप्त हो । जैसे आप विद्वान् मुझ में अति श्रेष्ठ शोभा और लक्ष्मी को स्थापित करें वैसे अन्यों में भी स्थापित कीजिए ।

उक्त प्रार्थना को सुनकर विद्वान् पुरुष अपने जिज्ञासु शिष्य को उत्तर देवें कि हम तेरे लिए लक्ष्मी प्राप्ति के लिए पूर्ण प्रयत्न करेंगे ।

जो विद्वान् आचार्य लोग परमेश्वर की आज्ञा का पालन तथा विद्वानों की सेवा और सत्कार से सब मनुष्यों में से ब्राह्मण और क्षत्रिय को विशेषरूप से शिक्षित करके विद्यादि सद्गुणों से युक्त कर, सब की उन्नति करके अपने आत्मा के समान सबके साथ वर्ताव करते हैं; वे सबके पूजनीय होते हैं ।

३. अलङ्कार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । उपमा यह है कि विद्वान् लोग मेरे तुल्य सब जनों में श्री को स्थापित करें ॥ ३२ । १६ ॥

[पूर्वापराध्यायार्थसंगतिमाह—]

अत्र परमेश्वरविद्वत्प्रज्ञाधनप्राप्त्युपायगुणवर्णनादेतदर्थस्य पूर्वाध्यायोक्तार्थेन सह सङ्गतिर्वेद्या ॥३२॥

इस अध्याय में परमेश्वर विद्वान्, प्रज्ञा और धन की प्राप्ति के उपाय एवं उनके गुणों के वर्णन से इस अध्याय के अर्थ की पूर्व अध्याय में प्रतिपादित अर्थ के साथ संगति समझें ॥ ३२ ॥

इति श्रीयुतपण्डितसुदर्शनदेवाचार्यविरचिते दयानन्द-यजुर्वेदभाष्य-भास्करे
द्वात्रिंशोऽध्यायः सम्पूर्णः ॥

॥ ओ३म् ॥

अथ त्रयस्त्रिंशत्तमाध्यायारम्भः

ओ३म् विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑ सुव । यद्भ॒द्रं तन्न॒ आ सु॑व ॥ १ ॥

य० ३० । ३ ॥

वत्सप्रीः । **अग्नयः**=अग्न्यादयः पदार्थाः । स्वराट् पङ्क्तिः । पञ्चमः ॥

अथाग्न्यादिपदार्थान् विज्ञाय कार्य्यं साध्यमित्याह ॥

अब तेंतीसवें अध्याय का आरम्भ है, इसके प्रथम मन्त्र में अग्न्यादि पदार्थों को जान कर कार्य सिद्ध करना चाहिए इसका उपदेश किया जाता है ॥

अ॒स्याजरा॑सो द॒माम॒रित्रा॑ ऽ अ॒र्चद्धू॑मासो ऽ अ॒ग्नय॑ः पाव॒काः ।
श्वि॒ती॒चय॑ः श्वा॒त्रासो॑ भु॒रण्यवो॑ वन॒र्षदो॑ वा॒यवो॒ न सोमा॑ः ॥ १ ॥

पदार्थः—(**अस्य**) परमेश्वरस्य (**अजरासः**) वयोहानिरहिताः (**दमाम्**) गृहाणाम् । **अत्र नुडभावे पूर्वसवर्णदीर्घः** (**अरित्राः**) येऽरिभ्यस्त्रायन्ते ते (**अर्चद्धूमासः**) अर्चन्तः सुगन्धियुक्ता धूमा येषान्ते (**अग्नयः**) विद्युदादयः (**पावकाः**) पवित्रीकराः (**श्वितीचयः**) ये श्वितिं=श्वेतवर्णं चिन्वन्ति ते (**श्वात्रासः**) श्वात्रं=प्रवृद्धं धनं येभ्यस्ते । **श्वात्रमिति धनना० ॥ निघं० २ । १० ॥** (**भुरण्यवः**) धर्त्तारो गतिमन्तश्च (**वनर्षदः**) ये वनेषु=रश्मिषु सीदन्ति । ते अत्र छन्दसीति रुडागमः (**वायवः**) पवनाः (**न**) इव (**सोमाः**) ऐश्वर्यप्रापकाः ॥ १ ॥

प्रमाणार्थ—(**दमाम्**) गृहाणाम् । यहां 'नुट्' आगम के अभाव में पूर्वसवर्ण दीर्घ है । (**श्वात्रासः**) 'श्वात्र' यह पद निघण्टु (२ । १०) में धन-नामों में पठित है ।

अन्वयः—हे मनुष्याः ! येऽस्य जगदीश्वरस्य सृष्टावजरासोऽरित्रा अर्चद्धूमासः पावकाः श्वितीचयः श्वात्रासो भुरण्यवः सोमा अग्नयो वनर्षदो वायवो न दमां धारकाः सन्ति तान् यूयं विजानीत ॥ १ ॥

सपदार्थान्वय—हे मनुष्याः ! येऽस्य= जगदीश्वरस्य परमेश्वरस्य **सृष्टावजरासः** वयोहानिरहिता **अरित्राः** येऽरिभ्यस्त्रायन्ते ते **अर्चद्धूमासः**

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जो (अस्य) इस जगदीश्वर एवं परमेश्वर की सृष्टि में—(अजरासः) बूढ़े न होने वाले, (अरित्राः) शत्रुओं से रक्षा करने

अर्चन्तः=सुगन्धियुक्ता धूमा येषान्ते **पावकाः** पवित्रीकराः **श्वितीचयः** ये श्विर्ति=श्वेतवर्णं चिन्वन्ति ते **श्वात्रासः** श्वात्रं=प्रवृद्धं धनं येभ्यस्ते **भुरण्यवः** धर्त्तारो गतिमन्तश्च **सोमाः** ऐश्वर्यप्रापकाः **अग्नयः** विद्युदादयः **वनर्षदः** ये वनेषु=रश्मिषु सीदन्ति ते **वायवः** पवनाः **न** इव **दमां** गृहाणां धारकाः **सन्ति, तान् यूयं विजानीत** ॥ ३३ । १ ॥

करने वाले, (अर्चद्धूमासः) सुगन्धि से युक्त धूम वाले, (पावकाः) पवित्र करने वाले, (श्वितीचयाः) श्वेत वर्ण को चुनने वाले, (श्वात्रासः) धन को बढ़ाने वाले, (भुरण्यवः) धारण और गति करने वाले, (सोमाः) ऐश्वर्य को प्राप्त कराने वाले, (अग्नयः) विद्युत् आदि हैं; वे (वनर्षदः) वन=रश्मियों में रहने वाले (वायवः) पवनों के (न) तुल्य (दमाम्) घरों को धारण करने वाले पदार्थ हैं;—उन्हें तुम जानो ॥ ३३ । १ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः । यदि मनुष्या अग्निवाय्वादीन् सृष्टिस्थान् पदार्थान् विजानीयुस्तर्ह्येतेभ्यो बहूनुपकारान् ग्रहीतुं शक्नुयुः ॥३३।१॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमा अलंकार है। यदि मनुष्य अग्नि और वायु आदि सृष्टि के पदार्थों को जानें तो उनसे बहुत उपकार ग्रहण कर सकते हैं ॥ ३३ । १ ॥

भाष्यसार—**१. अग्नि आदि पदार्थों से कार्य-सिद्धि**—परमेश्वर की सृष्टि में विद्यमान—जरा से रहित, शत्रुओं से रक्षा करने वाले, सुगन्धि से युक्त धूम वाले, पवित्र करने वाले, श्वेत वर्ण को चुनने वाले, धन को बढ़ाने वाले, धारण और गति करने वाले, ऐश्वर्य को प्राप्त कराने वाले जो अग्नि=विद्युत् आदि पदार्थ हैं; वे किरणों में विद्यमान पवनों के समान घरों को धारण करने वाले हैं। उन अग्नि आदि पदार्थों को जानकर कार्यों को सिद्ध करें, उनसे नाना उपकार ग्रहण करें।

२. अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'न' पद है; अतः उपमा-अलंकार है। उपमा यह है कि अग्नि आदि पदार्थ किरणों में विद्यमान पवनों के समान घरों को धारण करने वाले हैं ॥ ३३ । १ ॥

विश्वरूपः । **अग्नयः**=अग्निपदार्थः । गायत्री । षड्जः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

अग्नि पदार्थ को जान कर कार्य साधना चाहिए, इसका फिर उपदेश किया है ॥

हर॑यो धू॒मके॑तवो॒ वात॑जूता॒ऽ उप॒ द्यवि॑ । यत॑न्ते॒ वृथ॑ग॒ग्नय॑ः ॥ २ ॥

पदार्थः—(**हरयः**) हरणशीलाः (**धूमकेतवः**) केतुरिव धूमो ज्ञापको येषान्ते (**वातजूताः**) वायुना प्राप्ततेजस्काः (**उप**) (**द्यवि**) प्रकाशे (**यतन्ते**) (**वृथक्**) पृथक् । वर्णव्यत्ययः (**अग्नयः**) पावकाः ॥ २ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! ये धूमकेतवो वातजूता हरयोऽग्नयो वृथक् द्यवि उप यतन्ते तान् कार्य्यसिद्धये संप्रयुङ्ग्ध्वम् ॥ २ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे मनुष्याः ! ये धूमकेतवः** केतुरिव धूमो ज्ञापको येषान्ते **वातजूताः** वायुना प्राप्ततेजस्का **हरयः** हरणशीला **अग्नयः**

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जो—(धूमकेतवः) केतु=पताका के तुल्य धूम जिनका ज्ञापक है, (वातजूताः) वायु से तेज को प्राप्त होने वाले,

पावका **वृथक्** पृथक् **द्यवि** प्रकाशे **उपयतन्ते, तान् कार्यसिद्धये संप्रयुङ्ग्ध्वम्** ॥ ३३ । २ ॥

(हरयः) हरणशील=देशान्तर में पहुँचाने वाले (अग्नयः) पावक=अग्नियाँ (वृथक्) पृथक् (द्यवि) प्रकाश में (उप+यतन्ते) चेष्टा करते हैं; उनका कार्यों की सिद्धि के लिए सम्यक् प्रयोग करो ॥ ३३ । २ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! येषां धूमो विज्ञापकः, वायुप्रदीपकः, हरणशीलता च येषु वर्त्तते, तेऽग्नयः सन्तीति विजानीत ॥ ३३ । २ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जिनका धूम विज्ञापक है, वायु प्रदीप्त करने वाला है, और जिनमें हरणशीलता है; वे अग्नियाँ हैं; ऐसा जानो ॥ २ ॥

भा० पदार्थः—धूमकेतवः=येषां धूमो विज्ञापकस्ते । वातजूताः=येषां वायुः प्रदीपकस्ते । हरयः=हरणशीलता च येषु वर्त्तते ते ॥

भाष्यसार—**अग्नि आदि पदार्थों से कार्य-सिद्धि**—पताका के तुल्य धूम जिनका ज्ञापक है, वायु से जो तेज होने वाले हैं अर्थात् वायु जिनका प्रदीपक है, और जो हरणशील अर्थात् देशान्तर में पहुँचाने वाले हैं, और जो पृथक् प्रकाश में चेष्टा करते हैं; उन अग्नियों को कार्य की सिद्धि के लिए सम्यक् प्रयोग करें ॥ ३३ । २ ॥

गोतमः । **अग्निः=विद्वान्** । निचृद्गायत्री । षड्जः ॥

विद्वद्भिर्मनुष्यैः किं कार्य्यमित्याह ॥

विद्वान् मनुष्यों को क्या करना चाहिए, यह उपदेश किया है ॥

यजा॑ नो मि॒त्रावरु॑णा॒ यजा॑ दे॒वाँ २ऽ ऋ॒तं बृ॒हत् । अग्ने॒ यक्षि॒ स्वं दम॑म् ॥ ३ ॥

पदार्थः—(**यज**) सत्कुरु (**नः**) अस्माकम् (**मित्रावरुणा**) सुहृच्छ्रेष्ठौ (**यज**) देहि उपदिश । अत्रोभयत्र द्व्यचोतस्तिङ इति दीर्घः । (**देवान्**) विदुषश्च (**ऋतम्**) सत्यम् (**बृहत्**) महत् (**अग्ने**) विद्वन् (**यक्षि**) संगमय (**स्वम्**) स्वकीयम् (**दमम्**) गृहम् ॥ ३ ॥

प्रमाणार्थ—(**यज**) मन्त्र में 'यज' पद में दोनों स्थानों में 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (६ । ३ । १३५) से दीर्घ है—'यजा' ॥

अन्वयः—हे अग्ने ! त्वं नो मित्रावरुणाः देवांश्च यज बृहदृतं यज येन स्वं दमं यक्षि ॥ ३ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे अग्ने** ! विद्वन् ! **त्वं नः** अस्माकं **मित्रावरुणा** सुहृच्छ्रेष्ठौ **देवान्** विदुषश्च **यज** सत्कुरु, **बृहत्** महत् **ऋतं** सत्यं **यज** देहि उपदिश, **येन स्वं** स्वकीयं **दमं** गृहं **यक्षि** सङ्गमय ॥ ३३ । ३ ॥

भाषार्थ—हे (अग्ने) विद्वान् ! तू—(नः) हमारे (मित्रावरुणौ) मित्र, श्रेष्ठ जन और (देवान्) विद्वानों का (यज) सत्कार कर; (बृहत्) महान् (ऋतम्) सत्य (यज) प्रदान कर एवं उसका उपदेश कर; जिससे (स्वम्) अपने (दमम्) घर को (यक्षि) प्राप्त हो ॥ ३३ । ३ ॥

भावार्थः—हे विद्वांसो जनाः ! अस्माकं मित्रश्रेष्ठविदुषां सत्कर्त्तारः, सत्योपदेशकाः स्वगृहकार्यसाधका यूयं भवत ॥ ३३ । ३ ॥

भावार्थ—हे विद्वान् लोगो ! हमारे मित्र, श्रेष्ठ जनों और विद्वानों का सत्कार करने वाले, सत्य के उपदेशक तथा अपने घर के कार्यों को सिद्ध करने वाले तुम बनो ॥ ३३ । ३ ॥

भाष्यसार—विद्वान् मनुष्य क्या करें—विद्वान् मनुष्य—हमारे मित्रों, श्रेष्ठ जनों और विद्वानों का सत्कार करें, महान् सत्य का उपदेश करें, अपने गृह-कार्यों को सिद्ध करें ॥ ३३ । ३ ॥

विश्वरूपः । **अग्निः=विद्वान्** । निचृद्गायत्री । षड्जः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

विद्वान् मनुष्यों को क्या करना चाहिए, यह फिर उपदेश किया है ॥

युक्ष्वा हि देवहूतमाँ२ऽ अश्वाँ२ऽ अग्ने रथीरिव । नि होता पूर्व्यः सदः ॥ ४ ॥

पदार्थः—(**युक्ष्व**) योजय । अत्र द्व्यचोऽतस्तिङ इति दीर्घः । (**हि**) खलु (**देवहूतमान्**) ये देवैर्विद्वद्भिर्हूयन्ते=स्तूयन्ते तेऽतिशयितास्तान् (**अश्वान्**) आशुगामिनोऽग्न्यादीन् तुरङ्गान् वा (**अग्ने**) विद्वन् ! (**रथीरिव**) यथा सारथिस्तथा, अत्र मत्वर्थे ईर प्रत्ययः (**नि**) नितराम् (**होता**) आदाता (**पूर्व्यः**) पूर्वैः कृतविद्यः (**सदः**) अत्राडभावः ॥ ४ ॥

प्रमाणार्थ—(**युक्ष्वा**) इस पद में मन्त्र में द्व्यचोऽतस्तिङः' (६ । ३ । १३५) से दीर्घ है—'युक्ष्वा' । (**रथीरिव**) यहाँ मत्वर्थ में 'ईर' प्रत्यय है । (**सदः**) यहाँ 'अट्' आगम का अभाव है ।

अन्वयः—हे अग्ने ! त्वं रथीरिव देवहूतमानश्वान् युक्ष्व होता पूर्व्यः सन् हि नि सदः ॥ ४ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **अग्ने ! विद्वन् ! त्वं रथीरिव** यथा सारथिस्तथा **देवहूतमान्** ये देवैर्विद्वद्भिर्हूयन्ते=स्तूयन्ते तेऽतिशयितास्तान् **अश्वान्** आशुगामिनोऽग्न्यादीन् तुरङ्गान् वा **युक्ष्व** योजय; **होता** आदाता **पूर्व्यः** पूर्वैः कृतविद्यः **सन् हि** खलु **नि+सदः** नितरां सदः ॥ ३३ । ४ ॥

भाषार्थ—हे (अग्ने) विद्वान्! तू—(रथीरिव) सारथि के समान (देवहूतमान्) देव=विद्वानों के द्वारा अत्यन्त स्तुति किये हुए (अश्वान्) शीघ्रगामी अग्नि आदि अथवा घोड़ों को (युक्ष्व) युक्त कर; और—(होता) विद्यादि को ग्रहण करने वाला (पूर्व्यः) पूर्वजों से शिक्षित होकर (हि) ही (नि+सदः) कार्यों में सर्वथा स्थिर हो ॥ ३३ । ४॥

भावार्थः—अत्रोपमालंकारः । यथा सुशिक्षितः सारथिरश्वैरनेकानि कार्याणि साध्नोति, तथा कृतविद्यो जनोऽग्न्यादिभिरनेकानि कार्याणि साध्नुयात् ॥ ३३ । ४ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमा अलंकार है । जैसे सुशिक्षित सारथि घोड़ों द्वारा अनेक कार्य सिद्ध करता है; वैसे शिक्षित मनुष्य अग्नि आदि से अनेक कार्यों को सिद्ध करे ॥ ३३ । ४॥

भा० पदार्थः—रथीः=सुशिक्षितः सारथिः । पूर्व्यः=सुशिक्षितः । नि-सदः=अनेकानि कार्याणि साध्नुयात् ।

भाष्यसार—१. विद्वान् मनुष्य क्या करें—जैसे सारथि घोड़ों को रथ में संयुक्त करता है, वैसे विद्वान् मनुष्य—विद्वानों से अत्यन्त स्तुति करने योग्य शीघ्रगामी अग्नि आदि पदार्थों को तथा घोड़ों को यानों में संयुक्त करें, शुभ गुणों को ग्रहण करने वाला एवं पूर्वजों से विद्या को प्राप्त करने वाला विद्वान्, कार्यों में सर्वथा स्थिर हो, अग्नि आदि पदार्थों से अनेक कार्यों को सिद्ध करे ।

२. अलङ्कार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' पद है । अतः उपमा अलंकार है । उपमा यह है कि जैसे सुशिक्षित सारथि घोड़ों से अनेक कार्यों को सिद्ध करता है; वैसे विद्वान् मनुष्य अग्नि आदि पदार्थों से अनेक कार्यों को सिद्ध करे ॥ ३३ । ४ ॥

कुत्सः । **अग्निः**=रात्रिदिवसौ । स्वराट् पङ्क्तिः । पञ्चमः ॥

रात्रिदिवसौ जगत्पालकावित्याह ॥

रात्रि और दिन जगत् की रक्षा करने वाले हैं, यह फिर उपदेश किया है ॥

द्वे विरूपे चरतः स्वर्थे ऽ अन्यान्या वत्समुप धापयेते ।
हरिरन्यस्यां भवति स्वधावाञ्छुक्रो ऽ अन्यस्यां ददृशे सुवर्चाः ॥ ५ ॥

पदार्थः—(**द्वे**) (**विरूपे**) विरुद्धस्वरूपे (**चरतः**) (**स्वर्थे**) सुष्ठु अर्थः=प्रयोजनं ययोस्ते (**अन्यान्या**) भिन्ना भिन्ना, एकैका कालभेदेन (**वत्सम्**) वसन्ति भूतान्यस्मिंस्तं संसारं, वदति सततमिति वत्सो बालस्तं वा (**उप**) (**धापयेते**) पाययतः (**हरिः**) मनोहारी चन्द्रो बालो वा (**अन्यस्याम्**) रात्रौ योषिति वा (**भवति**) (**स्वधावान्**) प्रशस्तस्वधा=अमृतरूपा गुणा विद्यन्ते यस्मिन् सः (**शुक्रः**) पावकः सूर्य्य आशुकारी बालश्च (**अन्यस्याम्**) प्रकाशरूपायां दिवसवेलायां जायायां वा (**ददृशे**) दृश्यते (**सुवर्चाः**) सुष्ठु तेजाः ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथा स्वर्थे द्वे विरूपे स्त्रियौ चरतोऽन्यान्या च वत्समुपधापयेते तयोरन्यस्यां स्वधावान् हरिर्भवति शुक्रः सुवर्चा अन्यस्यां ददृशे तथा द्वे रात्र्यहनी वर्त्तेते इति जानीत ॥ ५ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **मनुष्याः** ! **यथा स्वर्थे** सुष्ठु अर्थः=प्रयोजनं ययोस्ते **द्वे विरूपे** विरुद्ध-स्वरूपे **स्त्रियौ चरतोऽन्यान्या** भिन्ना भिन्ना, एकैका कालभेदेन **च वत्सं** वसन्ति भूतान्यस्मिंस्तं संसारं, वदति सततमिति वत्सो=बालस्तं वा **उपधापयेते** पाययतः । **तयोरन्यस्यां** रात्रौ योषिति वा **स्वधावान्** प्रशस्तस्वधा=अमृतरूपा गुणा विद्यन्ते यस्मिन् सः, **हरिः** मनोहारी चन्द्रो बालो वा **भवति**, **शुक्रः** पावकः=सूर्य्य आशुकारी बालश्च **सुवर्चाः** सुष्ठु-तेजाः **अन्यस्यां** प्रकाशरूपायां दिवसवेलायां जायायां वा **ददृशे** दृश्यते, **तथा द्वे रात्र्यहनी वर्त्तेते, इति जानीत** ॥ ३३ । ५ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे—(स्वर्थे) उत्तम अर्थ=प्रयोजन वाली, (द्वे) दो (विरूपे) विरुद्ध स्वरूप वाली स्त्रियाँ (चरतः) आचरण करती हैं और (अन्यान्या) भिन्न, भिन्न एवं एक-एक कालभेद से (वत्सम्) जिसमें सब भूत बसते हैं उस संसार को, अथवा सतत बोलने वाले बालक को (उपधापयेते) पालती हैं, उनमें से (अन्यस्याम्) एक में अर्थात् रात्रि में अथवा स्त्री में (स्वधावान्) उत्तम स्वधा=अमृत रूप गुणों वाला (हरिः) मनोहारी चन्द्र वा बालक (भवति) उत्पन्न होता है; और—(शुक्रः) सूर्य और शीघ्रकारी बालक (सुवर्चाः) उत्तम तेजस्वी (अन्यस्याम्) प्रकाशरूप दिवस वेला में अथवा जाया में (ददृशे) दिखाई देता है; वैसे दोनों रात-दिन हैं; ऐसा जानो ॥ ३३ । ५ ॥

भावार्थः—अत्रानुभयाभेदरूपकोऽलङ्कारः । यथा द्वे स्त्रियौ, वा गावावपत्यप्रयोजने पृथक् पृथक् वर्त्तमाने कालभेदेनैकं बालं पालयेताम्, तयोरेकस्यां हृद्यो महागुणी शान्तिशीलो बालो जायेत, एकस्यां च शीघ्रकारी तेजस्वी शत्रुतापको बालो जायेत,

भावार्थ—यहाँ अनुभयाभेद रूपक अलंकार है । जैसे दो स्त्रियाँ अथवा गौवें सन्तान के प्रयोजन वाली तथा पृथक्-पृथक् वर्तमान होकर कालभेद से एक बालक का पालन करती हैं; उनमें से एक में मनोहर, महान् गुणी, शान्त स्वभाव वाला बालक

तथा द्वे रात्र्यहनी भिन्नस्वरूपे कालभेदेनैकं संसारं पालयतः । कथं—रात्रिरमृतवर्षकं चित्तप्रसादकं चन्द्रमसमुत्पाद्य, दिवसरूपा च पावकरूपं शोभन-प्रकाशं सूर्यमुत्पाद्येति पूर्वान्वयः ॥ ३३ । ५ ॥

उत्पन्न होता है; और दूसरी में शीघ्रकारी, तेजस्वी, शत्रुओं को तपाने वाला बालक उत्पन्न होता है; वैसे दो रात और दिन भिन्न स्वरूप वाले हैं, काल भेद से एक संसार का पालन करते हैं। कैसे?—रात्रि अमृत की वर्षा करने वाले, चित्त को प्रसन्न करने वाले चन्द्रमा को उत्पन्न करके; और दिन अग्नि रूप, सुन्दर प्रकाश वाले सूर्य को उत्पन्न करके संसार का पालन करता है ॥ ३३ । ५ ॥

भा० पदार्थः—स्वर्थे=अपत्यप्रयोजने । अन्यान्या=पृथक् पृथग् वर्त्तमाने । उपधापयेते=पालयेताम् । स्वधावान्=हृद्यो, महागुणी (बालः) । अमृतवर्षकः (चन्द्रः) । हरिः=शान्तिशीलः (बालः) चित्तप्रसादकः (चन्द्रः) । शुक्रः=शीघ्रकारी (बालः) पावकरूपः (सूर्यः) । सुवर्चाः=तेजस्वी, शत्रुतापकः (बालः) शोभनप्रकाशः (सूर्यः) ॥

भाष्यसार—**१. रात और दिन जगत् के पालक हैं**—जैसे उत्तम प्रयोजन वाली, विरुद्ध स्वरूप वाली दो स्त्रियाँ भिन्न-भिन्न कालभेद से बालक का पालन-पोषण करती हैं; उनमें से एक में प्रशस्त अमृत रूप गुणों वाला, शान्त स्वभाव वाला बालक होता है, और दूसरी में शीघ्रकारी, तेजस्वी, शत्रुओं का संतापक बालक दिखाई देता है; वैसे रात और दिन वत्स=संसार का पालन करते हैं। उनमें से एक=रात्रि में प्रशस्त अमृत रूप गुणों वाला मनोहारी चन्द्र उत्पन्न होता है; और दूसरी प्रकाश रूप दिवस=वेला में उत्तम तेज वाला सूर्य दिखाई देता है। इस प्रकार रात और दिन जगत् का पालन करते हैं।

२. अलङ्कार—इस मन्त्र में दो स्त्रियों तथा रात्रि वेला और दिवस वेला में अभेद निरूपण किया गया है; अतः अनुभयाभेद रूपक अलंकार है ॥ ३३ । ५ ॥ ●

कुत्सः । **अग्निः=विद्वान्** । भुरिक्पङ्क्तिः । पञ्चमः ॥

विद्वद्भिः किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

विद्वानों को क्या करना चाहिए, यह उपदेश किया है ॥

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठोऽ अध्वरेष्वीड्यः ।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे ॥ ६ ॥

पदार्थः—(**अयम्**) विद्युदादिस्वरूपः (**इह**) अस्मिन् संसारे (**प्रथमः**) विस्तीर्णः (**धायि**) ध्रियते (**धातृभिः**) धर्तृभिः (**होता**) सुखदाता (**यजिष्ठः**) अतिशयेन यष्टा=सङ्गमयिता (**अध्वरेषु**) अहिंसनीयेषु व्यवहारेषु (**ईड्यः**) अध्येषणीयः (**यम्**) (**अप्नवानः**) सुसन्तानयुक्ताः सुशिष्याः (**भृगवः**) परिपक्वज्ञानाः (**विरुरुचुः**) विशेषेण दीपयेयुः (**वनेषु**) किरणेषु वा (**चित्रम्**) अद्भुतगुणकर्मस्वभावम् (**विभ्वम्**) विभुं=विद्युदाख्यमग्निम् (**विशे, विशे**) प्रजायै, प्रजायै ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथा धातृभिरिह विशे विशेऽयं प्रथमो होता यजिष्ठोऽध्वरेष्वीड्यो धायि यथा भृगवश्चाप्नवानो यं वनेषु चित्रं विभ्वं विरुरुचुस्तं यूयं धरत प्रकाशयत च ॥६ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! **यथा धातृभिः** धर्तृभिः इह अस्मिन् संसारे **विशे-विशे** प्रजायै-प्रजायै **अयं** विद्युदादिस्वरूपः **प्रथमः** विस्तीर्णः **होता** सुखदाता **यजिष्ठः** अतिशयेन यष्टा=सङ्गमयिता **अध्वरेषु** अहिंसनीयेषु व्यवहारेषु **ईड्यः** अध्येषणीयः **धायि** ध्रियते । **यथा भृगवः** परिपक्वज्ञानाः **चाप्नवानः** सुसन्तानयुक्ताः सुशिष्याः **यं वनेषु** किरणेषु वा **चित्रम्** अद्भुतगुणकर्मस्वभावं **विभ्वं** विभुं=विद्युदाख्यमग्निं **वि+रुरुचुः** विशेषेण दीपयेयुः, तं यूयं धरत प्रकाशयत च ।। ३३ । ६ ।।

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे—(धर्तृभिः) धारण करने वाले लोगों से—(इह) संसार में (विशे-विशे) प्रत्येक प्रजा जन के लिए (अयम्) यह विद्युत् आदि स्वरूप वाला अग्नि, जो (प्रथमः) विस्तीर्ण, (होता) सुखदाता, (यजिष्ठः) अत्यन्त संगम कराने वाला, (अध्वरेषु) हिंसा रहित व्यवहारों में (ईड्यः) स्तुति के योग्य है; वह—(ध्रियते) धारण किया जाता है । और जैसे—(भृगवः) परिपक्व ज्ञान वाले तथा (आप्नवानः) उत्तम सन्तान वाले श्रेष्ठ शिष्य लोग (यम्) जिसे (वनेषु) वनों वा किरणों में (चित्रम्) अद्भुत गुण-कर्म-स्वभाव वाले (विभ्वम्) विभु=व्यापक विद्युत् नामक अग्नि को (वि+रुरुचुः) विशेष रूप से दीप्त करते हैं; उसे तुम धारण करो और प्रकाशित करो ।। ३३ । ६ ।।

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । ये विद्वांस इह विद्युद्विद्यां जानन्ति, ते सर्वाः प्रजाः सर्वसुखयुक्ताः कर्त्तुं शक्नुवन्ति ।। ३३ । ६ ।।

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। जो विद्वान् इस संसार में विद्युत्-विद्या को जानते हैं, वे सब प्रजा को सब सुखों से युक्त कर सकते हैं ।। ३३ । ६ ।।

भा० पदार्थः—विशे विशे=सर्वाः प्रजाः । भृगवः=विद्वांसः । विभ्वम्=विद्युद्विद्याम् ।

भाष्यसार—**विद्वान् क्या करें**—अग्नि=विद्युत् धारण करने वाले विद्वान्—इस संसार में प्रत्येक प्रजा जन के लिए अत्यन्त विस्तीर्ण, सुखदायक, संगम कराने वाले, अध्वर=हिंसारहित व्यवहारों में स्तुति करने योग्य अग्नि (विद्युत् आदि स्वरूप) को धारण करें। परिपक्व ज्ञान वाले, उत्तम सन्तान एवं उत्तम शिष्यों वाले विद्वान्—वनों वा किरणों में विद्यमान अद्भुत गुण-कर्म-स्वभाव वाले, विभु=व्यापक विद्युत् रूप अग्नि को विशेष रूप से दीप्त करें। विद्युत्-विद्या को जानकर प्रजा को सब सुखों से युक्त करें ।। ३३ । ६ ।। ●

विश्वामित्रः । **विद्वांसः**=शिल्पिनो विद्वांसः । स्वराट् पङ्क्तिः । पञ्चमः ।।

शिल्पिनो विद्वांसः किं कुर्युरित्याह ।।

शिल्पी विद्वान् क्या करें, यह उपदेश किया है ।।

त्रीणि श॒ता त्री स॒हस्रा॑ण्य॒ग्निं त्रि॒ꣳश॑च्च दे॒वा नव॑ चासपर्यन् ।
औक्ष॑न् घृ॒तैरस्तृ॑णन् ब॒र्हिर॑स्मा ऽ आदिद्धोता॑र॒ं न्य॑सादयन्त ॥ ७ ॥

पदार्थः—(**त्रीणि**) (**शता**) शतानि (**त्री**) त्रीणि (**सहस्राणि**) सहस्रक्रोशमार्गम् (**अग्निम्**) (**त्रिंशत्**) पृथिव्यादीन् (**च**) (**देवाः**) विद्वांसः (**नव**) (**च**) (**असपर्यन्**) सेवेरन् (**औक्षन्**) सिञ्चरेन् (**घृतैः**) घृतादिभिरुदकेन वा (**अस्तृणन्**) आच्छादयन्तु (**बर्हिः**) अन्तरिक्षम् (**अस्मै**) अग्नये (**आत्**) अभितः (**इत्**) एव (**होतारम्**) हवनकर्त्तारम् (**नि**) नितराम् (**असादयन्त**) स्थापयन्तु ।। ७ ।।

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथा त्रिंशच्च नव च देवास्त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निमसपर्यन् घृतैरौक्षन् बर्हिरस्तृणन्नस्मै होतारमादित्यसादयन्त तथा यूयमपि कुरुत ॥ ७ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! यथा **त्रिंशत्** पृथिव्यादयः **च नव च देवाः** विद्वांसः **त्रीणि शता** शतानि **त्री** त्रीणि **सहस्राणि** सहस्रकोश-मार्गम् **अग्निमसपर्यन्** सेवेरन्, घृतैः घृतादिभिरुदकेन वा **औक्षन्** सिञ्चेरन्, **बर्हिः** अन्तरिक्षम् **अस्तृणन्** आच्छादयन्तु; **अस्मै** अग्नये **होतारं** हवनकर्त्तारं **आत्** अभितः **इत्** एव **नि+आसादयन्त** नितरां स्थापयन्तु **तथा यूयमपि कुरुत** ॥ ३३ । ७ ॥

भाषार्थ—हे ! मनुष्यो ! जैसे—(त्रिंशत्, च) पृथिवी आदि तीस, (नव, च) और नौ (देवाः) विद्वान्—(त्रीणि) तीन (शता) सौ (त्री) तीन (सहस्राणि) हजार कोस मार्ग में (अग्निम्) अग्नि का (असर्पयन्) सेवन करते हैं; (घृतैः) घृत आदि पदार्थों से वा जल से उसे (औक्षन्) सींचते हैं; (बर्हिः) आकाश को (अस्तृणन्) आच्छादित करते हैं; (अस्मै) इस अग्नि के लिए (होतारम्) होम करने वाले को (आत्) सब ओर (इत्) ही (नि+आसादयन्त) सर्वथा स्थापित करते हैं; वैसे तुम भी करो ॥ ३३ । ७ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । ये शिल्पिनो विद्वांसोऽग्निजलादिपदार्थान् यानेषु संप्रयोज्योत्तममध्यमनिकृष्टवेगैरनेकानि शतानि सहस्राणि क्रोशान् मार्गं गन्तुं शक्नुयुः, तेऽन्तरिक्षेऽपि यातुं समर्था जायन्ते ॥ ३३ । ७ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । जो शिल्पी विद्वान्—अग्नि और जल आदि पदार्थों को यानों में प्रयुक्त करके उत्तम, मध्यम और निकृष्ट वेगों से अनेक सौ, हजार कोस पर्यन्त मार्ग में जा सकते हैं, वे आकाश में भी जा सकते हैं ॥ ३३ । ७ ॥

भा० पदार्थः—देवाः=शिल्पिनो विद्वांसः । अस्तृणन्=यातुं समर्था जायन्ते ॥

भाष्यसार—१. **शिल्पी विद्वान् क्या करें**—पृथिवी आदि देव तथा अन्य नौ शिल्पी देव=विद्वान्—तीन सौ एवं तीन सहस्र कोस मार्ग में अग्नि का सेवन करें, घृत वा जल से अग्नि को सींचें अर्थात् अग्नि तथा जल आदि पदार्थों को यानों में प्रयुक्त करके उत्तम, मध्यम और निकृष्ट वेग से अनेक सौ एवं अनेक सहस्र कोश पर्यन्त मार्गों में गमन करें । आकाश को भी आच्छादित करें अर्थात् आकाश में यात्रा करने में समर्थ हों । अग्नि के लिए होता को सब ओर स्थापित करें ।

२. **अलङ्कार**—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । उपमा यह है कि शिल्पी विद्वानों के तुल्य सब मनुष्य अग्नि आदि पदार्थों का यानों में प्रयोग करें ॥ ३३ । ७ ॥ ●

विश्वामित्रः । **विद्वांसः**=शिल्पिनो विद्वांसः । भुरिक् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

शिल्पी विद्वान् क्या करें, यह फिर उपदेश किया है ॥

मूर्द्धानं दिवो ऽ अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत ऽ आ जातमग्निम् ।
कविᳬं सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः ॥ ८ ॥

पदार्थः—(**मूर्द्धानम्**) शिरोवदुन्नतप्रदेशे सूर्यरूपेण वर्त्तमानम् (**दिवः**) आकाशस्य (**अरतिम्**) प्राप्तम् (**पृथिव्याः**) (**वैश्वानरम्**) विश्वेभ्यो नरेभ्यो हितम् (**ऋते**) यज्ञनिमित्तम् (**आ**) समन्तात् (**जातम्**) प्रादुर्भूतम् (**अग्निम्**) पावकम् (**कविम्**) क्रान्तदर्शकम् (**सम्राजम्**) यः सम्यग्राजते तम् (**अतिथिम्**) अतिथिवद्वर्त्तमानम् (**जनानाम्**) मनुष्याणाम् (**आसन्**) मुखे उत्पन्नम् (**आ**) समन्तात् (**पात्रम्**) पान्ति= रक्षन्ति येन तम् (**जनयन्त**) प्रादुर्भावयेयुः (**देवाः**) विद्वांसः ॥ ८ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः! यथा देवा दिवो मूर्द्धानं पृथिव्या अरतिं वैश्वानरमृत आजातं कविं सम्राजं जनानामतिथिं पात्रमासन्नग्निमाजनयन्त तथा यूयमप्येनं प्रादुर्भावयत ॥ ८ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः! **यथा देवाः** विद्वांसः **दिवः** आकाशस्य **मूर्द्धानं** शिरोवदुन्नतप्रदेशे सूर्यरूपेण वर्त्तमानं, **पृथिव्या अरतिं** प्राप्तं, **वैश्वानरं** विश्वेभ्यो नरेभ्यो हितम्, **ऋते** यज्ञनिमित्तम्, **आजातं** समन्तात्प्रादुर्भूतं, **कविं** क्रान्तदर्शकं, **सम्राजं** यः सम्यग्राजते तं, **जनानां** मनुष्याणाम् **अतिथिम्** अतिथिवद्वर्त्तमानं, **पात्रं** पान्ति= रक्षन्ति येन तम्, **आसन्** मुखे उत्पन्नम् **अग्निं** पावकम् **आ+जनयन्त** समन्तात्प्रादुर्भावयेयुः **तथा यूयमप्येनं प्रादुर्भावयत** ॥ ३३ । ८ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो! जैसे (देवाः) शिल्पी विद्वान् लोग—(दिवः) आकाश के (मूर्द्धानम्) शिर के तुल्य उन्नत प्रदेश में सूर्य रूप में वर्तमान, (पृथिव्याः) पृथिवी (अरतिम्) प्राप्त, (वैश्वानरम्) सब नरों के लिए हितकारी, (ऋते) यज्ञ का निमित्त, (आजातम्) सब ओर प्रादुर्भूत, (कविम्) क्रान्त दर्शक, (सम्राजम्) सम्यक् प्रदीप्त, (जनानाम्) मनुष्यों के (अतिथिम्) अतिथि के तुल्य वर्तमान, (पात्रम्) रक्षा का साधन (आसन्) मुख में आदि में उत्पन्न (अग्निम्) अग्नि का (आ+जनयन्त) सब ओर प्रादुर्भाव करते हैं; वैसे तुम भी इसका प्रादुर्भाव करो ॥ ३३ । ८ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। ये पृथिव्यप्वाय्वाकाशेषु व्याप्तं विद्युदाख्यमग्निं प्रादुर्भाव्य यन्त्रादिभिर्युक्त्या चालयेयुस्ते किं किं न साधयेयुः ॥ ३३ । ८ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। जो विद्वान्—पृथिवी, जल, वायु और आकाश में व्याप्त विद्युत् नामक अग्नि को प्रकट करके यन्त्र आदि से युक्तिपूर्वक चलाते हैं; वे क्या क्या सिद्ध नहीं कर सकते ॥ ३३ । ८ ॥

भा० पदार्थः—अग्निम्=विद्युदाख्यमग्निम्।

भाष्यसार—**१. शिल्पी विद्वान् क्या करें**—शिल्पी विद्वान्—आकाश के शिर के तुल्य उन्नत प्रदेश में सूर्य रूप में विद्यमान, पृथिवी को प्राप्त, सब नरों के लिए हितकारी, यज्ञ के निमित्त, सब ओर प्रादुर्भूत, क्रान्त दर्शक, सम्यक् प्रकाशमान, मनुष्यों के अतिथि के तुल्य वर्तमान, रक्षा के साधन, मुख=सृष्टि के आदि में उत्पन्न अग्नि को—सब ओर प्रकट करें। यन्त्र आदि से युक्तिपूर्वक उसका संचालन करें तथा उससे कार्यों को सिद्ध करें।

२. **अलंकार**—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि शिल्पी विद्वानों के समान सब मनुष्य मन्त्रोक्त अग्नि को प्रकट करें ॥३३।८॥

भरद्वाजः। **अग्निः=सूर्यः**। गायत्री। षड्जः॥

मनुष्यः सूर्यवद्दोषान् हन्यादित्याह ॥

मनुष्य सूर्य के तुल्य दोषों का विनाश करे, यह उपदेश किया है॥

अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद् द्रविणस्युर्विपन्यया । समिद्धः शुक्र ऽ आहुतः ॥ ९ ॥

पदार्थः—(**अग्निः**) सूर्यादिरूपः (**वृत्राणि**) मेघावयवान् (**जङ्घनत्**) भृशं हन्ति (**द्रविणस्युः**) आत्मनो द्रविणमिच्छुः (**विपन्यया**) विशेषव्यवहारयुक्त्या (**समिद्धः**) सम्यक् प्रदीप्तः (**शुक्रः**) शीघ्रकर्त्ता (**आहुतः**) कृताह्वानः ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे विद्वन् ! यथा समिद्धः शुक्रोऽग्निर्वृत्राणि जङ्घनत्तथा द्रविणस्युराहुतो भवान् विपन्यया दुष्टान् भृशं हन्यात् ॥ ९ ॥

सपदार्थान्वयः—हे विद्वन् ! यथा **समिद्धः** सम्यक् प्रदीप्तः **शुक्रः** शीघ्रकर्त्ता **अग्निः** सूर्य्यादिरूपः **वृत्राणि** मेघावयवान् **जङ्घनत्** भृशं हन्ति, **तथा द्रविणस्युः** आत्मनोद्रविणमिच्छुः **आहुतः** कृताह्वानः **भवान् विपन्यया** विशेषव्यवहारयुक्त्या **दुष्टान् भृशं हन्यात्** ॥ ३३ । ९ ॥

भाषार्थ—हे विद्वान् ! जैसे—(समिद्धः) सम्यक् प्रदीप्त, (शुक्रः) शीघ्रकारी, (अग्निः) सूर्य आदि रूप अग्नि (वृत्राणि) मेघ के अवयवों का (जङ्घनत्) अत्यन्त हनन करता है, वैसे—(द्रविणस्युः) अपने द्रविण=धन की इच्छा करते हुए; (आहुतः) निमन्त्रित किए हुए आप—(विपन्यया) विशेष व्यवहार की युक्ति से दुष्टों का अत्यन्त हनन करो ॥ ३३ । ९ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । यथा व्यवहारवित्पुरुषो धनं प्राप्य सत्कृतो भूत्वा दोषान् हन्ति तथा सूर्यो मेघं ताडयति ॥ ३३ । ९ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलङ्कार है । जैसे व्यवहार का जानने वाला पुरुष धन व सत्कार को प्राप्त होकर दोषों का नाश करता है वैसे सूर्य मेघ का ताड़न करता है ॥ ९ ॥

भाष्यसार—सूर्य के तुल्य दोषों का विनाश—जैसे सम्यक् प्रदीप्त हुआ, शीघ्रकारी सूर्य वृत्र=मेघों का अत्यन्त हनन करता है; वैसे अपने धन की कामना करने वाला, निमन्त्रित विद्वान् मनुष्य विशेष व्यवहार की युक्ति से दोषों का अत्यन्त हनन करे ॥ ३३ । ९ ॥

मेधातिथिः । **अग्निः=सूर्यः** । विराट् गायत्री । षड्जः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

मनुष्य सूर्य के तुल्य दोषों का विनाश करे, यह फिर उपदेश किया है ॥

विश्वेभिः सोम्यं मध्वग्न ऽ इन्द्रेण वायुना । पिबा मित्रस्य धामभिः ॥ १० ॥

पदार्थः—(**विश्वेभिः**) अखिलैः (**सोम्यम्**) सोमेष्वोषधीषु भवम् (**मधु**) मधुरादिगुणयुक्तं रसम् (**अग्ने**) अग्निरिव वर्त्तमान विद्वन् ! (**इन्द्रेण**) सर्वेषां धारकेण (**वायुना**) बलवता पवनेन (**पिब**) अत्र द्व्यचोऽतस्तिङ इति दीर्घः (**मित्रस्य**) सुहृदः (**धामभिः**) स्थानैः ॥ १० ॥

अन्वयः—हे विद्वान् ! यथा समिद्धः शुक्रोऽग्निर्वृत्राणि जङ्घनत्तथा द्रविणस्युराहुतो भवान् विपन्यया दुष्टान् भृशं हन्यात् ॥ १० ॥

प्रमाणार्थ—(**पिब**) यहाँ 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (६ । ३ । १३५) से मन्त्र में दीर्घ है—'पिबा' ॥

सपदार्थान्वयः—**हे अग्ने** ! अग्निरिव वर्त्तमान विद्वन् ! **त्वं यथा सूर्यो विश्वेभिः** अखिलैः **धामभिः** स्थानैः, **इन्द्रेण** सर्वेषां धारकेण **वायुना**

भाषार्थ—हे (अग्ने) अग्नि के तुल्य वर्तमान विद्वान् ! तू—जैसे सूर्य (विश्वेभिः) सब (धामभिः) स्थानों तथा (इन्द्रेण) सब को धारण

बलवता पवनेन **सह सोम्यं** सोमेष्वोषधीषु भवं **मधु** मधुरादिगुणयुक्तं रसं **पिबति; तथा मित्रस्य** सुहृदः **विश्वेभिः** अखिलैः **धामभिः** स्थानैः **सोम्यं** सोमेष्वोषधीषु भवं **मधु=रसं** मधुरादिगुणयुक्तं रसं **त्वं पिब** ॥ ३३ । १० ॥

करने वाले (वायुना) बलवान् के साथ (सोम्यम्) सोम=ओषधियों में विद्यमान (मधु) मधुर आदि गुणों से युक्त रस को पीता है; वैसे—(मित्रस्य) मित्र के (विश्वेभिः) सब (धामभिः) स्थानों से (सोम्यम्) सोम=ओषधियों में विद्यमान (मधु) मधुर आदि गुणों से युक्त रस का तू (पिब) पान कर ॥ ३३ । १० ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। हे मनुष्याः! यूयं यथा सूर्य्यः सर्वस्माद्रसमाकृष्य वर्षित्वा सर्वान् पदार्थान् पुष्णाति तथा विद्याविनयाभ्यां सर्वान् पुष्णीत ॥ ३३ । १० ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। हे मनुष्यो! तुम—जैसे सूर्य सब से रस को खैंच कर, वर्षा करके, सब पदार्थों को पुष्ट करता है; वैसे विद्या और विनय से सब को पुष्ट करो ॥ ३३ । १० ॥

भा० पदार्थः—मधु=विद्या विनयश्च ॥

भाष्यसार—**१. सूर्य के तुल्य दोषों का विनाश**—जैसे सूर्य सब स्थानों एवं सब के धारक बलवान् पवन के साथ सोम आदि ओषधियों में विद्यमान मधुर रस को पीता है; वैसे अग्नि (सूर्य) के तुल्य तेजस्वी विद्वान् मित्र के सब स्थानों से सोम आदि ओषधियों के मधुर रस का पान करे। तात्पर्य यह कि जैसे सूर्य सब स्थानों से रस को खैंचकर, वर्षा करके सब पदार्थों को पुष्ट करता है, वैसे विद्वान् विद्या और विनय रूप मधुर रस से सब को पुष्ट करे।

२. अलङ्कार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि विद्वान् सूर्य के तुल्य आचरण से सब को पुष्ट करे ॥ ३३ । १० ॥

पराशरः। **अग्निः=सूर्यः**। विराट्त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

मनुष्य सूर्य के तुल्य दोषों का विनाश करे, यह फिर उपदेश किया है ॥

आ यदि॒षे नृ॒पतिं॒ तेज॒ऽ आन॑ट् शुचि॒ रेतो॒ निषि॑क्तं॒ द्यौर॒भीके॑।
अ॒ग्निः शर्द्ध॑मनव॒द्यं युवा॑नꣳ स्वा॒ध्यं॒ जनयत्सू॒दय॑च्च ॥ ११ ॥

पदार्थः—(आ) (यत्) यदा (इषे) वृष्ट्यै (नृपतिम्) सूर्यं राजानमिव (तेजः) यज्ञोत्थम् (आनट्) समन्तात् व्याप्नोति। **आनडिति व्याप्तिकर्मा०। निघं० २। १८॥** (शुचि) पवित्रम् (रेतः) वीर्यकरं जलम् (निषिक्तम्) अग्नावाज्यादिप्रक्षेपणेन नितरां सिक्तं=विस्तृतम् (द्यौः) आकाशस्य। **षष्ठयर्थेऽत्र प्रथमा** (अभीके) समीपे (अग्निः) सूर्य्यरूपः (शर्द्धम्) बलहेतुम् (अनवद्यम्) सर्वदोषरहितम् (युवानम्) युवत्वसम्पादकम् (स्वाध्यम्) यः सुष्ठु ध्यायते तम् (जनयत्) जनयति (सूदयत्) क्षरति=वर्षयति (च) ॥ ११ ॥

प्रमाणार्थ—(आनट्) समन्तात् व्याप्नोति। 'आनट्' यह पद निघण्टु (२। १८) में व्याप्ति-अर्थक क्रियाओं में पठित है। (द्यौः) आकाशस्य। यहाँ षष्ठी विभक्ति के अर्थ में प्रथमा विभक्ति है।

अन्वयः--हे मनुष्याः ! यदिषे निषिक्तं शुचि तेजो नृपतिमानट् तदाग्निः शर्द्धमनवद्यं युवानं स्वाध्यं रेतो द्यौरभीके जनयत्सूदयच्च ।। ११ ।।

सपदार्थान्वयः—**हे मनुष्याः ! यत्** यदा **इषे** वृष्ट्यै **निषिक्तम्** अग्नावाज्यादिप्रक्षेपरोन नितरां सिक्तं=विस्तृतं **शुचि** पवित्रं **तेजः** यज्ञोत्थं **नृपतिं** सूर्यं राजानमिव **आनट्** समन्तात् व्याप्नोति, **तदाग्निः** सूर्य्यरूपः **शर्द्धं** बलहेतुम् **अनवद्यं** सर्वदोष-रहितं **युवानं** युवत्वसम्पादकं **स्वाध्यं** यः सुष्ठु ध्यायते तं **रेतः** वीर्यकरं जलं **द्यौः** आकाशस्य **अभीके** समीपे **जनयत्** जनयति, **सूदयत्** क्षरति=वर्षयति **च** ।। ३३ । ११ ।।

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! (यत्) जब (इषे) वर्षा के लिए (निषिक्तम्) अग्नि में घृत आदि डालने से सर्वथा सिक्त=विस्तृत हुआ, (शुचि) पवित्र, (तेजः) यज्ञ से उत्पन्न तेज—(नृपतिम्) राजा के तुल्य सूर्य को (आनट्) सब ओर से व्याप्त करता है; तब (अग्निः) सूर्य रूप अग्नि (शर्द्धम्) बल के हेतु, (अनवद्यम्) सब दोषों से रहित, (युवानम्) युवकता के सम्पादक, (स्वाध्यम्) ध्यान करने योग्य, (रेतः) वीर्य को उत्पन्न करने वाले जल को--(द्यौः) आकाश के (अभीके) समीप (जनयत्) पैदा करता है; और (सूदयत्) झारता है; बरसाता है ।। ३३ । ११ ।।

भावार्थः—यथाऽग्नौ हुतं द्रव्यं तेजसा सहैव सूर्यं प्राप्नोति, सूर्यो वर्षित्वा सर्वान् पालयति, तथा राजा प्रजाभ्यः करानाकृष्य, जलाद्याकृष्य, दुर्भिक्षे पुनर्दत्वा, श्रेष्ठान् सम्पाल्य, दुष्टान् सन्ताड्य प्रागल्भ्यं बलञ्च प्राप्नोति । ३३ । ११ ।।

भावार्थ—जैसे अग्नि में होम किया हुआ द्रव्य तेज के साथ ही सूर्य को प्राप्त होता है, सूर्य वर्षा करके सब का पालन करता है, वैसे राजा प्रजा से कर लेकर, जल आदि का संग्रह करके, दुर्भिक्ष काल में फिर देकर, श्रेष्ठों का पालन करके, दुष्टों का ताडन करके, दृढ़ता और बल को प्राप्त करता है ।। ३३ । ११ ।।

भा० पदार्थः—निषिक्तम्=अग्नौ हुतं द्रव्यम् । आनट्=प्राप्नोति । शर्द्धः=प्रागल्भ्यम् । रेतः=बलम् ।

भाष्यसार--**सूर्य के तुल्य दोषों का विनाश**—जब वर्षा के लिए अग्नि में घृत आदि के होम से सींचा हुआ पवित्र तेज सूर्य को प्राप्त करता है; तब सूर्य बल के हेतु, सब दोषों से रहित, युवकता के साधक, ध्यान करने योग्य, बलकारी जल को आकाश में उत्पन्न करता है, तथा उसे झारता है बरसाता है, सब का पालन करता है । इसी प्रकार राजा भी प्रजा से कर लेकर जल आदि संग्रह करे, दुर्भिक्ष में उसे प्रदान करे, श्रेष्ठों का पालन करे, दुष्टों का ताड़न करे, दृढ़ता और बल को प्राप्त करे ।। ३३ । ११ ।। ❁

विश्ववाराः । **अग्निः**=**विद्वान्** । निचृत्त्रिष्टुप् । धैवतः ।।

पुनर्विद्वद्भिः किं कार्यमित्याह ।।

फिर विद्वानों को क्या करना चाहिए, यह उपदेश किया जाता है ।।

अग्ने शर्द्धं महते सौभगाय तवं द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु ।

सं जास्पत्यꣳ सुयममा कृणुष्व शत्रूयतामभि तिष्ठा महांꣳसि ।। १२ ।।

पदार्थः—(अग्ने) विद्वन् ! राजन् वा ! (शर्द्ध) दुष्टगुणशत्रुनाशकं बलम् । **अत्र सुपां सुलुगिति सोर्लुक्, शर्द्ध इति बलना० ॥ निघं० २ । ६ ॥** (महते) (सौभगाय) शोभनैश्वर्यस्य भावाय (तव) (द्युम्नानि) धनानि यशांसि वा (उत्तमानि) श्रेष्ठानि (सन्तु) (सम्) (जास्पत्यम्) जायापतेर्भावं जास्पत्यम् । **अत्र 'छान्दसो वर्णलोप' इति यालोपः सुडागमश्च** (सुयमम्) सुष्ठु यमो=नियमो यस्मिंस्तम् (आ) (कृणुष्व) कुरुष्व (शत्रूयताम्) शत्रुत्वमिच्छताम् (अभि) (तिष्ठ) **अत्र 'द्व्यचोतस्तिङ' इति दीर्घः** (महांसि) तेजांसि ॥ १२ ॥

प्रमाणार्थ—(शर्द्ध) दुष्टगुणशत्रुनाशकं बलम् । यहाँ 'सुपां सुलुक्०' (७ । १ । ३९) इस सूत्र से 'सु' विभक्ति का लुक् है । 'शर्द्ध' यह पद निघण्टु (२ । ९) में बल-नामों में पठित है । (जास्पत्यम्) यहाँ 'छान्दसो वर्णलोपः' इस विधान से 'या' का लोप और 'सुट्' का आगम है । (तिष्ठ) यहाँ 'द्व्यचो-ऽतस्तिङः' (६ । ३ । १३५) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—'तिष्ठा' ॥

अन्वयः—हे अग्ने ! त्वं महते सौभगाय शर्द्धा कृणुष्व यतस्तव द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु त्वं जास्पत्यं सुयमं समाकृणुष्व शत्रूयतां महांस्यभितिष्ठ ॥ १२ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **अग्ने** ! विद्वन् राजन् वा ! **त्वं महते सौभगाय** शोभनैश्वर्यस्य भावाय **शर्द्ध** दुष्टगुणशत्रुनाशकं बलम् **आ कृणुष्व** कुरुष्व; **यतस्तव द्युम्नानि** धनानि यशांसि वा **उत्तमानि** श्रेष्ठानि **सन्तु** ।

त्वं जास्पत्यं जायापतेर्भावं जास्पत्यं **सुयमं** सुष्ठु यमो=नियमो यस्मिंस्तं **समाकृणुष्व** कुरुष्व; **शत्रूयतां** शत्रुत्वमिच्छतां **महांसि** तेजांसि **अभितिष्ठ** ॥ ३३ । १२ ॥

भाषार्थ—हे (अग्ने) विद्वान् वा राजन् ! तू—(महते) महान् (सौभगाय) उत्तम ऐश्वर्य के लिए (शर्द्ध) दुष्ट गुण एवं शत्रुओं के नाशक बल को (आकृणुष्व) सब ओर उत्पन्न कर, जिससे (तव) तेरे (द्युम्नानि) धन वा यश (उत्तमानि) श्रेष्ठ (सन्तु) हों ।

तू—(जास्पत्यम्) जाया के पतित्व को (सुयमम्) उत्तम नियमों से युक्त (समाकृणुष्व) बना । (शत्रूयताम्) शत्रुता चाहने वाले लोगों के (महांसि) तेजों को (अभितिष्ठ) नष्ट कर ॥ ३३ । १२ ॥

भावार्थः—ये सुसंयमिनो मनुष्याः सन्ति तेषां महदैश्वर्यं, बलं, कीर्तिः, सुशीला भार्या, शत्रु-पराजयश्च भवति ॥ ३३ । १२ ॥

भावार्थ—जो अत्यन्त संयमी मनुष्य हैं; उनका महान् ऐश्वर्य, बल, कीर्ति, सुशीला पत्नी और शत्रुओं का पराजय होता है ॥ ३३ । १२ ॥

भा० पदार्थः—द्युम्नानि=कीर्तयः । जास्पत्यम्=सुशीला भार्या भवति ॥

भाष्यसार—**विद्वान् क्या करें**—विद्वान् वा राजा—महान् उत्तम ऐश्वर्य के लिए दुष्ट गुण एवं शत्रुओं के नाशक बल को सब ओर उत्पन्न करे । जिससे उसके धन वा यश श्रेष्ठ हों । वह उत्तम नियमों से भूषित जाया के पतिभाव को सम्यक् प्रकार से सब ओर उत्पन्न करे । शत्रुता के इच्छुक लोगों के तेजों का विनाश करे । तात्पर्य यह है कि अत्यन्त संयमी मनुष्यों के पास ही महान् ऐश्वर्य, बल, कीर्ति सुशीला भार्या=पत्नी और शत्रु पराजय होता है ॥ ३३ । १२ ॥

भरद्वाजः । **विश्वेदेवाः**=विद्वांसः । भुरिक् पङ्क्तिः । पञ्चमः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

विद्वानों को क्या करना चाहिए, यह फिर उपदेश किया है ॥

त्वाᳬ हि मन्द्रतममर्कशोकैर्ववृमहे महि नः श्रोष्यग्ने ।
इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति राधसा नृतमाः ॥ १३ ॥

पदार्थः—(त्वाम्) (हि) यतः (मन्द्रतमम्) अतिशयेन प्रशंसादिसत्कृतम् (**अर्कशोकैः**) अर्कः=सूर्य्य इव शोकाः=प्रकाशा येषान्तैः (**ववृमहे**) स्वीकुर्महे (**महि**) महद्वचः (**नः**) अस्माकं ब्रह्मचर्य्यादि-सत्कर्मसु प्रवृत्तानाम् (**श्रोषि**) शृणोषि । **अत्र विकरणस्य लुक्** (**अग्ने**) अग्निरिव वर्त्तमान विद्वन् ! (**इन्द्रम्**) सूर्य्यम् (**न**) इव (**त्वा**) त्वाम् (**शवसा**) बलेन (**देवता**) दिव्यगुणयुक्तम् । **अत्र सुपो लुक्** (**वायुम्**) वातमिव (**पृणन्ति**) पिपुरति (**राधसा**) धनेन (**नृतमाः**) येऽतिशयेन नेतारः=श्रेष्ठा जनाः ॥ १३ ॥

प्रमाणार्थ—(**श्रोषि**) शृणोषि । यहाँ 'श्नु' विकरण प्रत्यय का लुक् है । (**देवता**) यहाँ 'सुप्' विभक्ति का लुक् है ।

अन्वयः—हे अग्ने ! हि यतो नो महि श्रोषि तस्मान्मन्द्रतमं त्वामर्कशोकैर्वयं ववृमहे नृतमाः शवसा इन्द्रं न वायुमिव च देवता त्वा राधसा पृणन्ति ॥ १३ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे अग्ने !** अग्निरिव वर्त्तमान विद्वन् ! **हि**=**यतो नः** अस्माकं ब्रह्मचर्यादिसत्कर्मसु प्रवृत्तानां **महि** महद्वचः **श्रोषि** शृणोषि; **तस्मान्मन्द्रतमं** अतिशयेन प्रशंसादिसत्कृतं **त्वामर्कशोकैः** अर्कः=सूर्य्य इव शोकाः=प्रकाशा येषान्तैः **वयं ववृमहे** स्वीकुर्महे ।

नृतमाः येऽतिशयेन नेतारः=श्रेष्ठा जनाः **शवसा** बलेन **इन्द्रं** सूर्यं **न** इव **वायुमिव** वातमिव **च देवता** दिव्यगुणयुक्तं **त्वा** त्वां **राधसा** धनेन **पृणन्ति** पिपुरति ॥ ३३ । १३ ॥

भाषार्थ—हे (अग्ने) सूर्य के समान तेजस्वी विद्वान् ! (हि) क्योंकि तू—(नः) ब्रह्मचर्य आदि शुभ कर्मों में प्रवृत्त हुए हम लोगों के (महि) महान् वचन को (श्रोषि) सुनता है; अतः (मन्द्रतमम्) अत्यन्त प्रशंसा आदि से सत्कृत हुए तुझको— (अर्कशोकैः) अर्क=सूर्य के तुल्य शोक=प्रकाश वाले पदार्थों से हम (ववृमहे) स्वीकार करते हैं । और—

(नृतमाः) जो अत्यन्त श्रेष्ठ जन हैं, वे—(शवसा) बल से (इन्द्रम्) सूर्य के तुल्य और (वातमिव) वायु के तुल्य (देवता) दिव्य गुणों से युक्त (त्वा) तुझको—(राधसा) धन से (पृणन्ति) भरपूर करते हैं ॥ ३३ । १३ ॥

भावार्थः—अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ । ये दुःखानि सोढ्वा सूर्यवत्तेजस्विनो वायुवद्—बलिष्ठा विद्यासुशिक्षे गृह्णन्ति, ते मेघेन सूर्य इव सर्वेषामानन्दकराः पुरुषोत्तमा जायन्ते ॥३३।१३॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमा और वाचकलुप्तोपमा अलंकार हैं । जो मनुष्य दुःखों को सहन करके, सूर्य के समान तेजस्वी, वायु के समान बलिष्ठ होकर विद्या और सुशिक्षा को ग्रहण करते हैं; वे—बादल से सूर्य के तुल्य सबको आनन्दित करने वाले पुरुषोत्तम बनते हैं ॥ ३३ । १३ ॥

भा० पदार्थः—महि=विद्यासुशिक्षे । श्रोषि=गृह्णासि । नृतमाः=सर्वेषामानन्दकराः पुरुषोत्तमाः ।

भाष्यसार—१. **विद्वान् क्या करें**—सूर्य के तुल्य तेजस्वी विद्वान्—ब्रह्मचर्य आदि शुभ कर्मों में प्रवृत्त जनों के महान् वचनों को सुनें । और वे उक्त विद्वान् को अत्यन्त प्रशंसा आदि से सत्कृत करें और सूर्य के तुल्य विद्या-प्रकाशों को प्राप्त करने के निमित उसे स्वीकार करें । अत्यन्त श्रेष्ठ जन

बल के निमित्त— सूर्य के समान तेजस्वी, वायु के समान बलिष्ठ, दिव्य गुणों से युक्त विद्वान् को धन से भरपूर करें।

२. अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'न' पद है अतः उपमा अलंकार है। उपमा यह है कि विद्वान् सूर्य के समान तेजस्वी हो। उपमा-वाचक पद को लुप्त मानकर वाचक लुप्तोपमा अलंकार भी है। उपमा यह है कि विद्वान् वायु के समान बलिष्ठ हो ॥ ३३ । १३ ॥ ●

वसिष्ठः । **विद्वांसः**=स्पष्टम् । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

विद्वद्वदितरजनैर्वर्त्तितव्यमित्याह ॥

विद्वानों के तुल्य अन्य जनों को वर्त्तना चाहिए, यह उपदेश किया है ॥

त्वेऽअंग्ने स्वाहुत प्रियासः सन्तु सूरयः ।
यन्तारो ये मघवानो जनानामूर्वान्दयन्त गोनाम् ॥ १४ ॥

पदार्थः—(त्वे) तव (**अग्ने**) विद्वन् ! (**स्वाहुत**) सुष्ठ्वादत्तविद्य ! (**प्रियासः**) प्रीतिकराः (**सन्तु**) (**सूरयः**) विद्वांसः (**यन्तारः**) निगृहीतेन्द्रियाः (**ये**) (**मघवानः**) बहुधनयुक्ताः (**जनानाम्**) मनुष्याणां मध्ये (**ऊर्वान्**) हिंसकान् (**दयन्त**) दयन्ते=घ्नन्ति (**गोनाम्**) पृथिवीधेन्वादीनाम् । **अत्र गोः** पादान्ते ॥ अ० ७ । १ । ५७ ॥ इति नुडागमः ॥ १४ ॥

प्रमाणार्थ—(**गोनाम्**) यहाँ 'गोः पादान्ते' (७ । १ । ५७) इस सूत्र से 'नुट्' का आगम है ॥

अन्वयः—हे स्वाहुताऽग्ने ! ये जनानां मध्ये वीरा यन्तारो मघवानो गोनामूर्वान्दयन्त ते सूरयस्त्वे प्रियासः सन्तु ॥ १४ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **स्वाहुत** सुष्ठ्वादत्तविद्य **अग्ने** विद्वन् ! **ये जनानां** मनुष्याणां **मध्ये वीरा, यन्तारः** निगृहीतेन्द्रियाः, **मघवानः** बहुधनयुक्ताः, **गोनां** पृथिवीधेन्वादीनाम् **ऊर्वान्** हिंसकान् **दयन्त** दयन्ते=घ्नन्ति, **ते सूरयः** विद्वांसः **त्वे** तव **प्रियासः** प्रीतिकराः **सन्तु** ॥ ३३ । १४ ॥

भाषार्थ—हे (स्वाहुत) उत्तम रीति से विद्या को ग्रहण करने वाले (अग्ने) विद्वान् ! जो (जनानाम्) मनुष्यों के मध्य में वीर (यन्तारः) जितेन्द्रिय, (मघवानः) बहुत धन से युक्त, (गोनाम्) पृथिवी एवं धेनु=दुधारु गाय आदि के (ऊर्वान्) हिंसकों का (दयन्ते) हनन करते हैं; वे (सूरयः) विद्वान् (त्वे) तेरे (प्रियासः) प्रिय (सन्तु) हों ॥ ३३ । १४ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यथा विद्वांसोऽग्न्यादिपदार्थविद्यां गृहीत्वा, विद्वत्प्रिया भूत्वा, दुष्टान् हत्वा, गवादीन् रक्षित्वा मनुष्यप्रिया भवन्ति; तथा यूयमपि भवत ॥ ३३ । १४ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे विद्वान् लोग अग्नि आदि पदार्थ-विद्या को ग्रहण करके, विद्वानों के प्रिय होकर, दुष्टों का हनन तथा गौ आदि पशुओं की रक्षा करके, मनुष्यों के प्रिय होते हैं; वैसे तुम भी बनो ॥ ३३ । १४ ॥

भा० पदार्थः—स्वाहुतः=विद्वांसो, येऽग्न्यादिपदार्थविद्यां गृहीतवन्तः । उर्वान्=दुष्टान् । प्रियासः=विद्वत्प्रियाः, मनुष्यप्रिया वा ।

भाष्यसार—विद्वानों के तुल्य अन्य जनों का वर्त्ताव—जैसे विद्वान् लोग अग्नि आदि पदार्थ-विद्या को ग्रहण करने वाले, मनुष्यों के मध्य में वीर, जितेन्द्रिय, बहुत धन से युक्त, पृथिवी एवं धेनु=दुधारु गौओं के हिंसकों का हनन करने वाले होते हैं,—अन्य जन भी इसी प्रकार का वर्त्ताव करें तथा उक्त विद्वानों से प्रीति करें ॥ ३३ । १४ ॥

प्रस्कण्वः । **अग्निः**=राजा । बृहती । मध्यमः ॥

अथ राजधर्मविषयमाह ॥

अब राजधर्म विषय का उपदेश किया जाता है ॥

श्रुधि श्रुत्कर्ण वह्निभिर्देवैरग्ने सयावभिः ।
आ सीदन्तु बर्हिषि मित्रो ऽ अर्य्यमा प्रातर्यावाणो ऽ अध्वरम् ॥ १५ ॥

पदार्थः—(**श्रुधि**) शृणु (**श्रुत्कर्ण !**) अर्थिवचः श्रोतारौ कर्णौ यस्य तत्सम्बुद्धौ (**वह्निभिः**) कार्यनिर्वाहकैः (**देवैः**) विद्वद्भिः सह (**अग्ने**) पावकवद्वर्त्तमान विद्वन् राजन् वा (**सयावभिः**) ये सह यान्ति तैः (**आ**) (**सीदन्तु**) (**बर्हिषि**) अन्तरिक्ष इव सभायाम् (**मित्रः**) पक्षपातरहितः सर्वेषां सुहृत् (**अर्यमा**) योऽर्यान्=वैश्यान् स्वामिनो वा मन्यते सः (**प्रातर्यावाणः**) ये प्रातर्यान्ति राजकार्याणि प्रापयन्ति (**अध्वरम्**) अहिंसनीयराज्यव्यवहारम् ॥ १५ ॥

अन्वयः—हे श्रुत्कर्णाग्ने ! सयावभिर्वह्निभिर्देवैः सहाध्वरं श्रुधि । प्रातर्यावाणो मित्रोऽर्यमा च बर्हिष्यासीदन्तु ॥ १५ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **श्रुत्कर्ण** अर्थिवचः श्रोतारौ कर्णौ यस्य तत्सम्बद्धौ **अग्ने** पावकवद्वर्त्तमान विद्वन् राजन् वा ! **सयावभिः** ये सह यान्ति तैः **वह्निभिः** कार्यनिर्वाहकैः **देवैः** विद्वद्भिः सह **अध्वरम्** अहिंसनीयराज्यव्यवहारं **श्रुधि** शृणु ।

प्रातर्यावाणः ये प्रातर्यान्ति=राजकार्याणि प्रापयन्ति **मित्रः** पक्षपातरहितः सर्वेषां सुहृद् **अर्यमा** योऽर्यान्=वैश्यान् स्वामिनो वा मन्यते सः **च बर्हिषि** अन्तरिक्ष इव सभायाम् **आसीदन्तु** ॥ ३३ । १५ ॥

भाषार्थ—हे (श्रुत्कर्ण) प्रार्थी के वचन को सुनने वाले कानों से युक्त (अग्ने) अग्नि के तुल्य तेजस्वी विद्वान् वा राजन् ! (सयावभिः) साथ चलने वाले, (वह्निभिः) कार्य के निर्वाहक (देवैः) विद्वानों के साथ (अध्वरम्) हिंसा रहित राज्य व्यवहार को (श्रुधि) सुन ।

(प्रातर्यावाणः) प्रातः राजकार्यों को प्राप्त कराने वाले, (मित्रः) पक्षपात से रहित, सब का मित्र और (अर्यमा) अर्य=वैश्य वा स्वामी जनों का मान करने वाला न्यायाधीश (बर्हिषि) आकाश के तुल्य विशाल सभा में (आसीदन्तु) विराजमान हों ॥ ३३ । १५ ॥

भावार्थः—सभापतिना राज्ञा सुपरीक्षितानमात्यान् स्वीकृत्य तैः सह सदसि स्थित्वा विवदमानवचांसि श्रुत्वा यथार्थो न्यायः कर्त्तव्यः ॥ ३३ । १५ ॥

भावार्थ—सभापति राजा सुपरीक्षित अमात्य जनों को स्वीकार करके, उनके साथ सभा में बैठ कर, विवाद करने वालों के वचनों को सुनकर, यथार्थ न्याय करे ॥ ३३ । १५ ॥

भा० पदार्थः—बर्हिषि=सदसि । अध्वरम्=विवदमानवचांसि श्रुत्वा यथार्थो न्यायकरणम् ।

भाष्यसार—राजा का धर्म—प्रार्थी के वचन को सुनने वाले कानों से युक्त, अग्नि के तुल्य तेजस्वी राजा—साथ चलने वाले, कार्य के निर्वाहक विद्वानों के साथ हिंसा रहित राज्य व्यवहार को सुने। प्रातःकाल राजकार्यों को प्राप्त कराने वाले, पक्षपात रहित सब के मित्र, वैश्य वा स्वामी जनों का मान करने वाले न्यायाधीश उक्त राजा की विशाल सभा में बैठें। तात्पर्य यह है कि सभापति राजा सुपरीक्षित मन्त्रियों को स्वीकार करे। उनके साथ सभा में बैठे। विवाद करने वालों के वचनों को सुनकर यथार्थ न्याय करे ॥ ३३ । १५ ॥

गोतमः । **अग्निः=राजा** । स्वराट् पङ्क्तिः । पञ्चमः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

राजधर्म का फिर उपदेश किया है ॥

विश्वे॑षा॒मदि॑तिर्य॒ज्ञिया॑नां॒ विश्वे॑षा॒मति॑थि॒र्मानु॑षाणाम् ।
अ॒ग्निर्दे॒वाना॒मव॑ ऽ आवृणा॒नः सु॑मृ॒डी॒को भ॑वतु जा॒तवे॑दाः ॥ १६ ॥

पदार्थः—(**विश्वेषाम्**) सर्वेषाम् (**अदितिः**) अखण्डितबुद्धिः (**यज्ञियानाम्**) ये यज्ञं=पूजनमर्हन्ति ते (**विश्वेषाम्**) सर्वेषाम् (**अतिथिः**) पूजनीयः (**मानुषाणाम्**) मनुष्याणाम् (**अग्निः**) तेजस्वी राजा (**देवानाम्**) विदुषाम् (**अवः**) रक्षणादिकम् (**आवृणानः**) समन्तात् स्वीकुर्वन् (**सुमृडीकः**) सुष्ठुसुखप्रदः (**भवतु**) (**जातवेदाः**) आविर्भूतविद्यायोगप्रज्ञः ॥ १६ ॥

अन्वयः—हे सभापते ! भवान् विश्वेषां यज्ञियानां देवानां मध्येऽदितिर्विश्वेषां मानुषाणामतिथिरव आवृणानः सुमृडीको जातवेदा अग्निर्भवतु ॥ १६ ॥

सपदार्थान्वयः—हे सभापते ! भवान् विश्वेषां सर्वेषां **यज्ञियानां** ये यज्ञं=पूजनमर्हन्ति ते **देवानां** विदुषां **मध्येऽदितिः** अखण्डितबुद्धिः **विश्वेषां** सर्वेषां **मानुषाणां** मनुष्याणाम् **अतिथिः** पूजनीयः **अव** रक्षणादिकम् **आवृणानः** समन्तात् स्वीकुर्वन् **सुमृडीकः** सुष्ठुसुखप्रदः **जातवेदाः** आविर्भूतविद्यायोगप्रज्ञः **अग्निः** तेजस्वी राजा **भवतु** ॥ ३३ । १६ ॥

भाषार्थ—हे सभापते ! आप—(विश्वेषाम्) सब (यज्ञियानाम्) यज्ञ=पूजा के योग्य, (देवानाम्) विद्वानों के मध्य में (अदितिः) अखण्डित बुद्धि वाला; (विश्वेषाम्) सब (मानुषाणाम्) मनुष्यों का (अतिथिः) पूजनीय, (अव) रक्षा आदि को (आवृणानः) सब ओर से स्वीकार करता हुआ, (सुमृडीकः) उत्तम सुख प्रदान करने वाला, (जातवेदाः) विद्या, योग और प्रज्ञा में प्रसिद्ध, (अग्निः) तेजस्वी राजा बन ॥ ३३ । १६ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यः सर्वेषु विद्वत्सु गम्भीरबुद्धिः, सर्वमनुष्येषु मान्यः, प्रजारक्षादिराजकार्यं स्वीकुर्वाणः, सर्वसुखदाता, वेदादिशास्त्रवेत्ता, शूरो भवेत्; स राजा कर्त्तव्यः ॥ ३३ । १६ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य—जो सब विद्वानों में गम्भीर बुद्धि वाला, सब मनुष्यों में माननीय, प्रजा की रक्षा आदि कार्य को स्वीकार करने वाला, सब सुखों का दाता, वेदादि शास्त्रों का ज्ञाता और शूर हो—उसे राजा बनावें ॥ ३३ । १६ ॥

भा० पदार्थः—विश्वेषाम्=सर्वेषु । देवानाम्=विद्वत्सु । अदितिः=गम्भीरबुद्धिः । अतिथिः=मान्यः । अवः=प्रजारक्षादिराजकार्यम् । आवृणानः=स्वीकुर्वाणः । सुमृडीकः=सर्वसुखदाता । जातवेदाः=वेदादिशास्त्रवेत्ता । अग्निः=शूरः/राजा ।

भाष्यसार—**राजा का धर्म**—सभापति राजा सब पूजा के योग्य विद्वानों में अखण्डित बुद्धि वाला हो। सब मनुष्यों का अतिथि के तुल्य पूजनीय हो। प्रजा के रक्षा आदि राजकार्य को स्वीकार करे। सब को सुख प्रदान करने वाला हो। वेदादि शास्त्रों का ज्ञाता तथा योग और प्रज्ञा से युक्त हो। तेजस्वी एवं शूर हो ॥ ३३ । १६ ॥

लुशोधानाकः। **सविता**=राजा। भुरिक्त्रिष्टुप्। धैवतः॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

राजधर्म का फिर उपदेश किया है ॥

म॒हो ऽ अ॒ग्नेः स॑मिधा॒नस्य॒ शर्म॒ण्यना॑गा मि॒त्रे वरु॑णे स्व॒स्तये॑।
श्रेष्ठे॑ स्याम सवि॒तुः सवी॑मनि॒ तद्दे॒वाना॒मवो॑ ऽ अ॒द्या वृ॑णीमहे ॥ १७ ॥

पदार्थः—(**महः**) महतः (**अग्नेः**) विज्ञानवतः सभापतेः (**समिधानस्य**) प्रकाशमानस्य (**शर्मणि**) आश्रये (**अनागाः**) अनपराधिनः। **अत्र सुपां सुलुगिति जसः स्थाने सुः** (**मित्रे**) सुहृदि (**वरुणे**) स्वीकर्त्तव्ये जने (**स्वस्तये**) सुखाय (**श्रेष्ठे**) उत्तमे (**स्याम**) भवेम (**सवितुः**) सकलजगदुत्पादकस्य परमेश्वरस्य (**सवीमनि**) आज्ञायाम् (**तत्**) वेदोक्तम् (**देवानाम्**) विदुषाम् (**अवः**) रक्षणादिकम् (**अद्य**) अस्मिन् दिवसे। **अत्र निपातस्य चेति दीर्घः।** (**वृणीमहे**) स्वीकुर्महे ॥ १७ ॥

प्रमाणार्थ—(**अनागाः**) यहाँ 'सुपां सुलुक्०' (७।१।३९) इस सूत्र से 'जस्' के स्थान में 'सु' विभक्ति है। (**अद्य**) यहाँ 'निपातस्य च' (६।३।१३६) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—'अद्या' ॥

अन्वयः—वयं राजपुरुषा महः समिधानस्याग्नेः शर्मणि श्रेष्ठे मित्रे वरुणे चानागाः स्याम। अद्य सवितुः सवीमनि वर्त्तमानाः स्वस्तये देवानां तदवो वृणीमहे ॥ १७ ॥

सपदार्थान्वयः—**वयं राजपुरुषा महः** महतः **समिधानस्य** प्रकाशमानस्य **अग्नेः** विज्ञानवतः सभापतेः **शर्मणि** आश्रये **श्रेष्ठे** उत्तमे **मित्रे** सुहृदि **वरुणे** स्वीकर्त्तव्ये जने **चाऽनागाः** अनपराधिनः **स्याम भवेम।**

अद्य अस्मिन् दिवसे **सवितुः** सकलजगदुत्पादकस्य परमेश्वरस्य **सवीमनि** आज्ञायां **वर्त्तमानाः स्वस्तये** सुखाय **देवानां** विदुषां **तद्** वेदोक्तम् **अवः** रक्षणादिकं **वृणीमहे** स्वीकुर्महे ॥ ३३ । १७ ॥

भाषार्थ—हम राजपुरुष—(महतः) महान्, (समिधानस्य) प्रकाशमान, (अग्नेः) विज्ञानवान् सभापति के (शर्मणि) आश्रय में वर्तमान (श्रेष्ठे) उत्तम (मित्रे) मित्र और (वरुणे) स्वीकार करने योग्य मनुष्य के प्रति (अनागाः) अनपराधी (स्याम) होवें। और—

(अद्य) आज (सवितुः) सकल जगत् के उत्पादक परमेश्वर की (सवीमनि) आज्ञा में रहते हुए (स्वस्तये) सुख के लिए (देवानाम्) विद्वानों की (तद्) वेदोक्त (अवः) रक्षा आदि को (वृणीमहे) स्वीकार करते हैं ॥ ३३ । १७ ॥

भावार्थः—धार्मिकैर्विद्वद्भी राजपुरुषैरधर्मं विहाय, धर्मे प्रवर्त्तित्वा, परमेश्वरस्य सृष्टौ विविधा रचना दृष्ट्वा, स्वेषामन्येषां च रक्षणं

भावार्थ—धार्मिक विद्वान् राजपुरुष—अधर्म को छोड़कर, धर्म में प्रवृत्त होकर, परमेश्वर की सृष्टि में विविध रचना को देखकर, अपनी और

विधायेश्वरस्य धन्यवादा वाच्याः ॥ ३३ । १७ ॥ दूसरों की रक्षा करके, ईश्वर का धन्यवाद कर ॥ ३३ । १७ ॥

आ० पदार्थः—सवीमनि=सृष्टौ । देवानाम्=स्वेषामन्येषां च । अवः=रक्षणम् । स्वस्तये=धन्यवादाः ।

भाष्यसार—**राजा का धर्म**—राजपुरुषों को उचित है कि वे महान्, प्रकाशमान, विज्ञानवान् सभापति राजा के आश्रय में रहते हुए—उत्तम, मित्र एवं स्वीकार करने योग्य जनों के प्रति अनपराधी हों। और आज ही सकल जगत् के उत्पादक परमेश्वर की आज्ञा में रहते हुए सुख की प्राप्ति के लिए विद्वानों के वेदोक्त रक्षा आदि कार्य को स्वीकार करें। तात्पर्य यह है कि धार्मिक विद्वान् राजपुरुष—अधर्म को छोड़ कर धर्म में प्रवृत्त हों। परमेश्वर की सृष्टि में विविध रचना को देखें तथा अपनी और दूसरों की रक्षा करके ईश्वर को धन्यवाद दें ॥ ३३ । १७ ॥

वसिष्ठः । **इन्द्रः=अध्यापकोपदेशकश्च** । स्वराट् पङ्क्तिः । पञ्चमः ॥

अध्यापकोपदेशकौ किं कुर्यातामित्याह ॥

अध्यापक और उपदेशक क्या करें, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

आपश्चित्पिप्यु स्तर्यो न गावो नक्षन्नृतं जरितारस्त ऽ इन्द्र ।
याहि वायुर्न नियुतो नो ऽ अच्छा त्वꣳ हि धीभिर्दयसे वि वाजान् ॥ १८ ॥

पदार्थः—(**आपः**) जलानि (**चित्**) अपि (**पिप्युः**) वर्द्धन्ते (**स्तर्यः**) स्तृणन्ति याभिस्ताः (**न**) इव (**गावः**) किरणाः (**नक्षन्**) व्याप्नुवन्ति (**ऋतम्**) सत्यम् (**जरितारः**) स्तावकाः (**ते**) (**इन्द्र**) परमैश्वर्य्ययुक्त विद्वन्! (**याहि**) (**वायुः**) पवनः (**न**) इव (**नियुतः**) वायोर्वेगादयो गुणाः (**नः**) अस्मान् (**अच्छ**) अत्र निपातस्य चेति दीर्घः (**त्वम्**) (**हि**) (**धीभिः**) प्रज्ञाभिः कर्मभिर्वा (**दयसे**) कृपां करोषि (**वि**) (**वाजान्**) विज्ञानवतः ॥ १८ ॥

प्रमाणार्थ—(**अच्छ**) यहाँ 'निपातस्य च' (६ । ३ । १३६) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—'अच्छा' ॥

अन्वयः—हे इन्द्र! ते तव जरितार आप इव पिप्युः स्तर्य्यो गावो न ऋतं नक्षन् तथा वाजान्नो नियुतश्च वायुर्न त्वमच्छ याहि हि यतो धीभिर्विदयसे तस्माच्चिदपि सत्कर्त्तव्योऽसि ॥ १८ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे इन्द्र**! परमैश्वर्य-युक्त विद्वन्! **ते=तव जरितारः** स्तावकाः **आपः** जलानि **इव पिप्युः** वर्द्धन्ते; **स्तर्यः** स्तृणन्ति याभिस्ताः **गावः** किरणाः **न** इव **ऋतं** सत्यं **नक्षन्** व्याप्नुवन्ति; **तथा वाजान्** विज्ञानवतः **नः** अस्मान् **नियुतः** वायोर्वेगादयो गुणाः **च वायुः** पवनः **न** इव **त्वमच्छ याहि**; **हि=यतो धीभिः** प्रज्ञाभिः कर्मभिर्वा **विदयसे** कृपां करोषि **तस्माच्चिद्=अपि सत्कर्त्तव्योसि** ॥ ३३ । १८ ॥

भाषार्थ—हे (इन्द्र) परम ऐश्वर्य से युक्त विद्वान्! (ते) तेरी (जरितारः) स्तुति करने वाले लोग (आपः) जलों के समान (पिप्युः) बढ़ते हैं; (स्तर्यः) आच्छादित करने वाली (गावः) किरणों के (न) समान (ऋतम्) सत्य को (नक्षन्) व्याप्त करते हैं; तथा (वाजान्) विज्ञानवान् (नः) हम लोगों को—(नियुतः) वायु के वेगादि गुणों और (वायुः) पवन के (न) समान तू (अच्छ) अच्छे प्रकार (याहि) प्राप्त हो; और (हि) क्योंकि

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः। यदि पदार्थानां गुणकर्मस्वभावस्तावका उपदेशकाऽध्यापकाः स्युस्तर्हि सर्वे मनुष्या विद्याव्यापिनः सन्तो दयावन्तो भवेयुः ॥ ३३ । १८ ॥

तू—(धीभिः) प्रज्ञा वा कर्मों से (विदयसे) कृपा करता है; इसलिए (चित्) भी सत्कार के योग्य है ॥ ३३ । १८ ॥

भावार्थ—यहाँ उपमा अलंकार है। यदि पदार्थों के गुण-कर्म-स्वभाव की स्तुति करने वाले उपदेशक और अध्यापक हों तो, सब मनुष्य विद्या में व्यापक होकर दयावान् बनते हैं ॥ १८ ॥

भा० पदार्थः—जरितारः=पदार्थानां गुणकर्मस्वभावस्तावका उपदेशकाध्यापकाः ॥

भाष्यसार—**अध्यापक और उपदेशक क्या करें**—परम ऐश्वर्य से युक्त विद्वान् अध्यापक और उपदेशक की स्तुति करने वाले लोग जल के समान बढ़ें। आकाश को आच्छादित करने वाली किरणों के समान सत्य को व्याप्त करें। अध्यापक और उपदेशक लोग वायु के वेगादि गुणों एवं स्वयं वायु के समान विज्ञानवान् लोगों को प्राप्त करें तथा उन पर प्रज्ञा वा कर्मों के द्वारा कृपा करें और विज्ञानवान् लोग उनका सत्कार करें। अध्यापक और उपदेशक लोग पदार्थों के गुण-कर्म-स्वभाव का सब मनुष्यों को उपदेश करें जिससे वे विद्या में व्यापक होकर दयावान् हों ॥ ३३ । १८ ॥

पुरुमीढाजमीढौ। **इन्द्रवायू=इन्द्रः, वायुश्च**। गायत्री। षड्जः ॥

मनुष्यैराभूषणादि रक्षणीयमित्याह ॥

मनुष्यों को आभूषण आदि की रक्षा करनी चाहिए, यह उपदेश किया है ॥

गाव॒ऽ उपा॑वताव॒तं म॒ही य॒ज्ञस्य॑ र॒प्सुदा॑। उ॒भा कर्णा॑ हिर॒ण्यया॑ ॥ १९ ॥

पदार्थः—(**गावः**) किरणा धेनवो वा (**उप**) समीपे (**अवत**) रक्षत (**अवतम्**) रक्षणीयं वेद्यादिगर्त्तम् (**मही**) महत्यौ द्यावापृथिव्यौ (**यज्ञस्य**) (**रप्सुदा**) ये रप्सुं=रूपं दत्तस्ते (**उभा**) द्वे (**कर्णा**) कर्णौ श्रोत्रे (**हिरण्यया**) हिरण्यप्रचुरे ॥ १९ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथा गाव उभा रप्सुदा मही रक्षन्ति तथा यूयं हिरण्यया कर्णा यज्ञस्यावतमुपावत ॥ १९ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे मनुष्याः ! यथा गावः** किरणा धेनवो वा **उभा** द्वे **रप्सुदा** ये रप्सुं=रूपं दत्तस्ते **मही** महत्यौ द्यावापृथिव्यौ **रक्षन्ति, तथा यूयं हिरण्यया** हिरण्यप्रचुरे **कर्णा** कर्णौ श्रोत्रे **यज्ञस्यावतं** रक्षणीयं वेद्यादिगर्त्तम् **उप+अवत** समीपे रक्षत ॥ ३३ । १९ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे (गावः) किरणें वा धेनु=दुधारु गायें—(उभा) दो (रप्सुदा) रूप प्रदान करने वाली (मही) महान् द्यावा और पृथिवी की रक्षा करती हैं; वैसे तुम—(हिरण्यया) सुवर्णमय (कर्णौ) कर्णभूषणों की एवं (यज्ञस्य) रक्षा के योग्य यज्ञ के (अवतम्) वेदी आदि कुण्ड की (उप+अवत) समीप रहकर रक्षा करो ॥१९॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथा सूर्यकिरणा गवादिपशवश्च सर्वं वस्तुजातं रक्षन्ति, तथैव मनुष्यै रुक्मादिनिर्मितं कुण्डलाद्या-

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। जैसे सूर्य की किरणें और गौ आदि पशु सब वस्तुओं की रक्षा करते हैं; वैसे सब मनुष्य

भूषणं सदा रक्षणीयम् ॥ ३३ । १९ ॥

सुवर्ण आदि से निर्मित कुण्डल आदि आभूषण की सदा रक्षा करें ॥ ३३ । १९ ॥

भा० पदार्थः—गावः=सूर्यकिरणा गवादिपशवश्च । मही=सर्वं वस्तुजातम् । हिरण्यया =रुक्मादिनिर्मितम् । कर्णा=कुण्डलाद्याभूषणम् । उपावत=सदा रक्षणीयम् ।

भाष्यसार—**१. मनुष्य आभूषण की रक्षा करें**—जैसे किरणें वा दुधारु गौवें—रूप प्रदान करने वाली महान् द्यावापृथिवी की रक्षा करती हैं, वैसे सब मनुष्य सुवर्णमय कर्णभूषणों की रक्षा करें तथा यज्ञ की वेदी आदि गर्त=कुण्ड की भी रक्षा करें ।

२. अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त हैं, अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । उपमा यह है कि जैसे सूर्य की किरणें और गौ आदि पशु सब वस्तुओं की रक्षा करते हैं; वैसे सब मनुष्य सुवर्णमय कुण्डल आदि आभूषणों की रक्षा करें ॥ ३३ । १९ ॥

वसिष्ठः । **सविता=राजा** । निचृद्गायत्री । षड्जः ॥

राजा कीदृशो भवेदित्याह ॥

राजा कैसा हो, यह उपदेश किया है ॥

यद॒द्य सूर॒ऽ उदि॑ते॒ऽना॑गा मि॒त्रोऽअ॑र्य॒मा । सु॒वाति॑ सवि॒ता भगः॑ ॥ २० ॥

पदार्थः—(**यत्**) यः (**अद्य**) (**सूरे**) सूर्य्ये (**उदिते**) (**अनागाः**) अधर्माचरणरहितः (**मित्र**) सर्वेषां सुहृत् (**अर्य्यमा**) न्यायकारी (**सुवाति**) उत्पादयेत् (**सविता**) राजनियमैः प्रेरकः (**भगः**) ऐश्वर्य्यवान् ॥ २० ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यद्योऽद्य उदिते सूरेऽनागा मित्रः सविता भगोऽर्यमा स्वास्थ्यं सुवाति स राज्यं कर्त्तुमर्हेत् ॥ २० ॥

सपदार्थान्वयः—**हे मनुष्याः ! यत्=योऽद्य उदिते सूरे** सूर्य्ये **अनागाः** अधर्माचरण-रहितः **मित्रः** सर्वेषां सुहृत् **सविता** राजनियमैः प्रेरकः **भगः** ऐश्वर्यवान् **अर्यमा** न्यायकारी **स्वास्थ्यं सुवाति** उत्पादयेत्, **स राज्यं कर्त्तुमर्हेत्** ॥३३।२०॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! (यत्) जो (अद्य) आज (उदिते, सूरे) सूर्य के उदय होने पर (अनागाः) अधर्माचरण से रहित, (मित्रः) सब का मित्र, (सविता) राजनियमों से प्रेरणा करने वाला, (भगः) ऐश्वर्यवान् (अर्यमा) न्यायकारी राजा प्रजा में स्वास्थ्य को (सुवाति) उत्पन्न करता है; वह राज्य कर सकता है ॥ ३३ । २० ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यथोदितेऽर्के तमो निवृत्य प्रकाशे सति सर्वे आनन्दिता भवन्ति, तथैव धार्मिके राजनि सति प्रजासु सर्वथा स्वास्थ्यं भवति ॥ ३३ । २० ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे सूर्य के उदय होने से अन्धकार की निवृत्ति तथा प्रकाश होने पर सब आनन्दित होते हैं; वैसे ही धार्मिक राजा के होने पर प्रजा में सब प्रकार का स्वास्थ्य होता है ॥ ३३ ॥ २० ॥

भा० पदार्थः—सूरे=अर्के/धार्मिके राजनि सति ।

भाष्यसार—राजा कैसा हो—जैसे सूर्य के उदय होने पर तम=अन्धकार की निवृत्ति और प्रकाश होने से सब आनन्दित होते हैं वैसे धार्मिक राजा के होने से प्रजा में सर्वत्र आनन्द होता है; अतः राजा—अधर्माचरण से रहित, सब का मित्र, राजनियमों से प्रेरणा देने वाला, ऐश्वर्यवान्, न्यायकारी और प्रजा के स्वास्थ्य को उत्पन्न करने वाला हो ।। ३३ । २० ।।

सुनीतिः । **वेनः=राजा** । निचृद्गायत्री । षड्जः ।।

पुनस्तमेव विषयमाह ।।

राजा कैसा हो, यह फिर उपदेश किया है ।।

आ सुते सिञ्चत श्रियᳬ रोदस्योरभिश्रियम् ।
रसा दधीत वृषभम् । * तं प्रत्नथा । अयं वेनः ।। २१ ।।

पदार्थः—(**आ**) समन्तात् (**सुते**) उत्पन्ने जगति (**सिञ्चत**) (**श्रियम्**) शोभायुक्तम् (**रोदस्योः**) द्यावापृथिव्योः (**अभिश्रियम्**) अभितः शोभकम् (**रसा**) रसानन्दप्रदा जनाः । अत्र सुपामिति डादेशः (**दधीत**) (**वृषभम्**) बलिष्ठम् ।। २१ ।।

प्रमाणार्थ—(**रसा**) यहाँ 'सुपां सुलुक्०' (७ । १ । ३९) इस सूत्र से विभक्ति के स्थान में डा—आदेश है ।।

अन्वयः—हे मनुष्याः ! रसा यूयं सुते वृषभं रोदस्योरभिश्रियं श्रियं सभापतिमासिञ्चत स च युष्मान् दधीत ।। २१ ।।

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! रसा रसानन्दप्रदा जनाः **यूयं सुते** उत्पन्ने जगति **वृषभं** बलिष्ठं **रोदस्योः** द्यावापृथिव्योः **अभिश्रियम्** अभितः शोभकं **श्रियं** शोभायुक्तं **सभापतिमा+सिञ्चत** समन्तात् सिञ्चत, **स च युष्मान् दधीत** ।। ३३।२१।।

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! (रसा) रस और आनन्द प्रदान करने वाले तुम (सुते) उत्पन्न जगत् में (वृषभम्) बलिष्ठ, (रोदस्योः) द्युलोक और पृथिवी लोक के (अभिश्रियम्) सब ओर शोभा करने वाले (श्रियम्) स्वयं शोभा से युक्त सभापति का (आ+सिञ्चत) अभिषेक करो; और वह तुम्हें धारण करे ।। ३३ । २१ ।।

भावार्थः—मनुष्यैं राज्योन्नतया जगतः प्रकाशः, सौन्दर्यादिगुणवान्, बलिष्ठो, विद्वान्, शूरः, पूर्णाङ्गो जनो राज्येऽभिषेक्तव्यः । स च प्रजासु सुखं दध्यात् ।। ३३ । २१ ।।

भावार्थ—मनुष्य-राज्य की उन्नति से जगत् का प्रकाश, सौन्दर्य आदि गुणों से युक्त, बलिष्ठ, विद्वान्, शूर, पूर्णांग पुरुष का राज्य के लिए अभिषेक करें, और वह प्रजा में सुख को स्थापित करे ।। ३३ । २१ ।।

भा० पदार्थः—अभिश्रियम्=जगतः प्रकाशम् । श्रियम्=सौन्दर्यादिगुणवन्तम् । वेनः=विद्वान्, शूरः, पूर्णाङ्गः ।।

---

*(तं प्रत्नथा । अयं वेनः) ये दो प्रतीकें पूर्व कहे अ० ७ मन्त्र १२ । १६ की यहाँ किसी कर्मकाण्ड विशेष में बोलने के अर्थ रखी हैं; इसीलिए अर्थ नहीं किया, वही पूर्वोक्त अर्थ जानना चाहिए ।

भाष्यसार—राजा कैसा हो—इस जगत् में बलिष्ठ, द्युलोक और पृथिवी लोक को सब ओर से सुशोभित करने वाला तथा स्वयं शोभा से युक्त अर्थात् सौन्दर्य आदि गुणों वाला, विद्वान्, शूर और पूर्णाङ्ग राजा हो। वह प्रजा में सुख को स्थापित करे ॥ ३३ । २१ ॥

विश्वामित्रः । **छन्दः**=**विद्युदग्निः** । भुरिक् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

अथ विद्युदग्निः कीदृश इत्याह ॥

अब विद्युत् अग्नि कैसा है, यह उपदेश किया जाता है ॥

आतिष्ठन्तं परि विश्वेऽ अभूषञ्छ्रियो वसानश्चरति स्वरोचिः ।
महत्तद्वृष्णोऽ असुरस्य नामा विश्वरूपोऽ अमृतानि तस्थौ ॥ २२ ॥

पदार्थः—(**आतिष्ठन्तम्**) समन्तात् स्थिरम् (**परि**) सर्वतः (**विश्वे**) सर्वे (**अभूषन्**) भूषयेयुः (**श्रियः**) धनानि शोभा वा (**वसानः**) स्वीकुर्वाणः (**चरति**) (**स्वरोचिः**) स्वकीया रोचिर्दीप्तिर्यस्य सः (**महत्**) (**तत्**) (**वृष्णः**) वर्षकस्य (**असुरस्य**) हिंसकस्य विद्युदाख्यस्याग्नेः (**नाम**) संज्ञा (**आ**) (**विश्वरूपः**) विश्वं=समग्रं रूपं यस्य सः (**अमृतानि**) नाशरहितानि वस्तूनि । अत्र सप्तम्यर्थे द्वितीया (**तस्थौ**) तिष्ठति ॥ २२ ॥

प्रमाणार्थ—(**अमृतानि**) नाशरहितानि वस्तूनि । यहाँ सप्तमी विभक्ति के अर्थ में द्वितीया विभक्ति है ॥

अन्वयः—हे विद्वांसो विश्वे भवन्तो यथा श्रियो वसानः स्वरोचिर्विश्वरूपोऽग्निश्चरत्यमृतानि तस्थौ तथैतमातिष्ठन्तं पर्यभूषन् । यद्वृष्णोऽसुरस्यास्य महत्तन्नामास्ति तेन सर्वाणि कार्य्याण्य-लङ्कुरुत ॥ २२ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे विद्वांसो ! विश्वे** सर्वे **भवन्तो यथा श्रियः** धनानि शोभा वा **वसानः** स्वीकुर्वाणः **स्वरोचिः** स्वकीया रोचिर्दीप्तिर्यस्य सः **विश्वरूपोऽग्निः** विश्वं=समग्रं रूपं यस्य सः **चरत्यमृतानि** नाशरहितानि वस्तूनि **तस्थौ** तिष्ठति, **तथैतमातिष्ठन्तं** समन्तात् स्थिरं **परि+अभूषन्** सर्वतः भूषयेयुः ।

यद् वृष्णः वर्षकस्य **असुरस्य** हिंसकस्य विद्युदाख्यस्याग्नेः **अस्य महत्तन्नाम** संज्ञा **अस्ति तेन सर्वाणि कार्याण्यलङ्कुरुत** ॥ ३३ । २२ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । यतोऽयं विद्युदाख्योऽग्निः सर्वपदार्थस्थोऽपि न किञ्चित् प्रकाशयति, तस्मादस्यासुरेति नाम । य एतद्विद्यां जानन्ति ते सर्वतः सुभूषिता भवन्ति ॥२२॥

भाषार्थ—हे विद्वानो ! (विश्वे) सब आप—जैसे (श्रियः) धनों वा शोभाओं को (वसानः) स्वीकार करने वाला, (स्वरोचिः) अपनी दीप्ति वाला, (विश्वरूपः) समस्त रूप वाला अग्नि (चरति) विचरण करता है; (अमृतानि) नाशरहित वस्तुओं में (तस्थौ) स्थित है; वैसे—इस (आ+तिष्ठन्तम्) सब ओर स्थित राजा को (परि+अभूषन्) सब ओर से भूषित करो ।

क्योंकि—(वृष्णः) वर्षा करने वाले, (असुरस्य) हिंसक, विद्युत् नामक अग्नि का (महत्) महान् (तत्) वह (नाम) नाम है; उससे सब कार्यों को अलंकृत करो ॥ ३३ । २२ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। जिससे यह विद्युत् नामक अग्नि सब पदार्थों में स्थित होकर भी किसी को प्रकाशित नहीं कर रहा, अतः इसका 'असुर' यह नाम है। जो

इस विद्या को जानते हैं, वे सब ओर से सुभूषित होते हैं ॥ ३३ । २२ ॥

भा० पदार्थः—विश्वरूपः=विद्युदाख्योऽग्निः सर्वपदार्थस्थः । पर्यभूषन्=सर्वतः सुभूषिता भवन्ति ॥

भाष्यसार—**१. विद्युत् अग्नि कैसा है**—यह विद्युत् रूप अग्नि धनों वा शोभाओं को धारण करने वाला, अपनी दीप्ति वाला, समस्त रूप वाला, नाशरहित वस्तुओं में स्थित, सब ओर स्थिर है। सब विद्वान् लोग इसे भूषित करें । इस वर्षा करने वाले, हिंसक विद्युत् नामक अग्नि का नाम 'महत्' है । इसका नाम 'असुर' इसलिए है कि यह सब पदार्थों में स्थित होता हुआ भी किसी पदार्थ को प्रकाशित नहीं करता ।

२. अलङ्कार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । उपमा यह है कि विद्वान् लोग विद्युत् के तुल्य राजा को सब ओर से विभूषित करें ॥ ३३ । २२ ॥

सुचीकः । **इन्द्रः**=ईश्वरः । भुरिक्त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

मनुष्यैरीश्वर एव पूज्य इत्याह ॥

मनुष्य को ईश्वर की ही पूजा करनी चाहिए, यह उपदेश किया है ॥

प्र वो॑ म॒हे मन्द॑माना॒यान्ध॒सोऽर्चा॑ वि॒श्वान॑राय वि॒श्वा॒भुवे॑ ।
इन्द्र॑स्य॒ यस्य॑ सु॒मख॑ꣳ॒ सहो॒ महि॒ श्रवो॑ नृ॒म्णं च॒ रोद॑सी सप॒र्य्यतः॑ ॥ २३ ॥

पदार्थः—(**प्र**) (**वः**) युष्मभ्यम् (**महे**) महते (**मन्दमानाय**) आनन्दस्वरूपाय (**अन्धसः**) अन्नादेः । अत्र विभक्तिव्यत्ययः । (**अर्च**) सत्कुरुत । अत्र वचनव्यत्ययो द्व्यचोतस्तिङ इति दीर्घश्च (**विश्वानराय**) विश्वे नरानायका यस्मात्तस्मै (**विश्वाभुवे**) यो विश्वे भवति=प्राप्नोति विश्वाभूर्यस्य वा विश्वं भवति यस्मादिति वा तस्मै । अत्रोभयत्र संहितायामिति दीर्घः (**इन्द्रस्य**) परमेश्वरस्य (**यस्य**) (**सुमखम्**) शोभना मखा=यज्ञा यस्मात्तम् (**सहः**) बलम् (**महि**) महत् (**श्रवः**) यशः (**नृम्णम्**) धनम् (**च**) (**रोदसी**) द्यावापृथिव्यौ (**सपर्य्यतः**) सेवेते ॥ २३ ॥

प्रमाणार्थ—(**अन्धसः**) अन्नादेः । यहाँ विभक्ति का व्यत्यय है । (**अर्च**) सत्कुरुत । यहाँ वचन का व्यत्यय और 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (६ । ३ । १३५) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—अर्चा । (**विश्वानराय, विश्वाभुवे**) यहाँ दोनों स्थानों में 'संहितायाम्' (६ । ३ । ११४) इस सूत्र से दीर्घ है ।

अन्वयः—हे मनुष्य ! त्वं रोदसी यस्येन्द्रस्य सुमखं नृम्णं सहो महि श्रवश्च सपर्य्यतस्तस्मै विश्वानराय महे मन्दमानाय विश्वाभुवे प्रार्च स वोऽन्धसः सुखं ददातु ॥ २३ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **मनुष्य ! त्वं रोदसी** द्यावापृथिव्यौ **यस्येन्द्रस्य** परमेश्वरस्य **सुमखं** शोभना मखा=यज्ञा यस्मात्त **नृम्णं** धनं **सहः** बलं **महि** महत् **श्रवः** यशः **च सपर्य्यतः** सेवेते; **तस्मै विश्वानराय** विश्वे नरा=नायका यस्मात्तस्मै

भाषार्थ—हे मनुष्य ! तू—(रोदसी) द्युलोक और पृथिवी लोक जिस (इन्द्रस्य) परमेश्वर के (सुमखम्) उत्तम मख=यज्ञ के निमित्त (नृम्णम्) धन, (सहः) बल और (महि) महान् (श्रवः) यश की (सपर्यतः) सेवा करते हैं; उस (विश्वानराय)

महे महते **मन्दमानाय** आनन्दस्वरूपाय **विश्वाभुवे** यो विश्वे भवति=प्राप्नोति विश्वाभूर्यस्य वा विश्वं भवति यस्मादिति वा तस्मै **प्रार्च** सत्कुरुत ।

सब नर=नायकों के हेतु, (महते) महान्, (मन्दमानाय) आनन्दस्वरूप, (विश्वाभुवे) विश्व में प्राप्त होने वाला अथवा विश्व की सत्ता का निमित्त ईश्वर है; उसकी (प्रार्च) पूजा कर ।

स वः युष्मभ्यम् **अन्धसः** अन्नादेः **सुखं ददातु** ।। ३३ । २३ ।।

वह (वः) तुम्हें (अन्धसः) अन्न आदि का सुख प्रदान करे ।। ३३ । २३ ।।

भावार्थः—हे मनुष्याः ! येनोत्पादितं धनं बलं च सर्वैः सेव्यते, स एव महायशस्वी, सर्वाध्यक्ष, आनन्दमयः, सर्वव्याप्त ईश्वरो युष्माभिः पूज्यः प्रार्थनीयश्च । स युष्मभ्यं धनादिजन्यं सुखं दास्यति ।। ३३ । २३ ।।

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जिससे उत्पन्न किये धन और बल का सब सेवन करते हैं; वही महान् यशस्वी, सब का अध्यक्ष, आनन्दमय, सब में व्याप्त ईश्वर तुम्हारा पूज्य और प्रार्थनीय है; वह तुम्हें धनादि से उत्पन्न सुख प्रदान करेगा ।। २३ ।।

भा० पदार्थः—विश्वानराय=सर्वाध्यक्षाय । मन्दमानाय=आनन्दमयाय । विश्वाभुवे=सर्वव्याप्ताय । प्रार्च=पूज्यः प्रार्थनीयश्च । अन्धसः=धनादिजन्यं सुखम् ।।

भाष्यसार—मनुष्य ईश्वर की ही पूजा करें—हे मनुष्यो ! द्युलोक और पृथिवी-लोक जिस परमेश्वर के उत्तम यज्ञ, धन, बल और महान् यश की सेवा करते हैं; उस महान् यशस्वी, सबके नायक (अध्यक्ष), आनन्दस्वरूप एवं आनन्दमय और सर्वव्यापक ईश्वर की तुम पूजा करो । वह तुम्हें धन आदि से उत्पन्न सुख प्रदान करेगा ।। ३३ । २३ ।। ❁

त्रिशोकः । **इन्द्रः**=परमेश्वरः । निचृद्गायत्री । षड्जः ।।

मनुष्यः परमेश्वरमेव मित्रं कुर्यादित्याह ।।

मनुष्य परमेश्वर को ही मित्र बनावें, यह उपदेश किया है ।।

बृहन्निदि॒ध्म ऽ एषां॒ भूरि॑ श॒स्तं पृ॒थुः स्वरुः॑ । येषा॒मिन्द्रो॒ युवा॒ सखा॑ ।। २४ ।।

पदार्थः—(**बृहन्**) महान् (**इत्**) एव (**इध्मः**) प्रदीप्तः (**एषाम्**) मनुष्याणाम् (**भूरि**) बहु (**शस्तम्**) स्तुत्यं कर्म (**पृथुः**) विस्तीर्णः (**स्वरुः**) प्रतापकः (**येषाम्**) (**इन्द्रः**) परमैश्वर्य्यवान् परमात्मा (**युवा**) प्राप्तयौवनः (**सखा**) मित्रम् ।। २४ ।।

अन्वयः—येषामिध्मः पृथुः स्वरुर्युवा बृहन्निन्द्रः सखाऽस्त्येषामिद्भूरि शस्तं भवति ।। २४ ।।

सपदार्थान्वयः—**येषामिध्मः** प्रदीप्तः **पृथुः** विस्तीर्णः **स्वरुः** प्रतापकः **युवा** प्राप्तयौवनः **बृहन्** महान् **इन्द्रः** परमैश्वर्यवान् परमात्मा **सखा** मित्रम् **अस्ति**, **एषां** मनुष्याणां **इत्** एव **भूरि** बहु **शस्तं** स्तुत्यं कर्म **भवति** ।। ३३ । २४ ।।

भाषार्थ—जिनका—(इध्मः) प्रदीप्त, (पृथुः) विस्तीर्ण, (स्वरुः) प्रतापी, (युवा) युवक, (बृहन्) महान् (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् परमात्मा—(सखा) मित्र है; (एषाम्) इन मनुष्यों का (इत्) ही (भूरि) बहुत (शस्तम्) स्तुति योग्य कर्म होता है ।। ३३ । २४ ।।

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । यस्योत्तमः परमेश्वरः सखा भवेत्, स यथोऽस्मिन्

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । जिसका उत्तम परमेश्वर सखा=मित्र

ब्रह्माण्डे सूर्यः प्रतापयुक्तोऽस्ति तथा प्रतापयुक्तः स्यात् ॥ ३३ । २४ ॥

है, वह—जैसे इस ब्रह्माण्ड में सूर्य प्रताप से युक्त है; वैसे प्रतापी होता है ॥ ३३ । २४ ॥

भा० पदार्थः—बृहन्=उत्तमः । इध्मः=सूर्यः । स्वरुः=प्रतापयुक्तः ॥

भाष्यसार—१. **मनुष्य परमेश्वर को ही मित्र बनावें**—प्रदीप्त, विस्तीर्ण, प्रतापी, युवक, महान्, परम ऐश्वर्य वाला परमात्मा जिन मनुष्यों का मित्र है वे अत्यन्त प्रशंसा को प्राप्त होते हैं और जैसे इस ब्रह्माण्ड में सूर्य प्रताप से युक्त है; वैसे प्रतापी होते हैं ॥

२. **अलङ्कार**—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त हैं; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । उपमा यह है कि परमात्मा के सखा सूर्य के समान प्रतापी होते हैं ॥ ३३ । २४ ॥

मधुच्छन्दाः । **इन्द्रः**=विद्वान् । निचृद्गायत्री । षड्जः ॥

पुनर्मनुष्याः किं कुर्य्युरित्याह ॥

फिर मनुष्य क्या करें, यह उपदेश किया है ॥

इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः । महाँ२ऽ अभिष्टिरोजसा ॥ २५ ॥

पदार्थः—(**इन्द्र**) ऐश्वर्य्यप्रद विद्वन् ! (**आ**) (**इहि**) प्राप्नुहि (**मत्सि**) तृप्तो भव । **मद तृप्तौ, शपो लुक् ।** (**अन्धसः**) अन्नात् (**विश्वेभिः**) (अखिलैः) (**सोमपर्वभिः**) सोमाद्योषधीनामवयवैः (**महान्**) (**अभिष्टिः**) अभियष्टव्यः=सर्वतः पूज्यः, पृषोदरादित्वादिष्टसिद्धिः (**ओजसा**) पराक्रमेण सह ॥ २५ ॥

प्रमाणार्थ—(**मत्सि**) तृप्तो भव । यह 'मद तृप्तौ' इस धातु का रूप है; तथा 'शप्' विकरण का लुक् है । (**अभिष्टिः**) अभियष्टव्यः । इस पद की 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (६ । ३ । १०९) इस सूत्र से इष्ट सिद्धि करें ॥ ३३ । २५ ॥

अन्वयः—हे इन्द्र ! यतस्त्वमोजसा सह महानभिष्टिर्विश्वेभिः सोमपर्वभिरन्धसो मत्सि तस्मादस्मानेहि ॥ २५ ॥

सपदार्थान्वयः—हे इन्द्र ! ऐश्वर्यप्रद विद्वन् ! **यतस्त्वमोजसा** पराक्रमेण **सह महानभिष्टिः** अभियष्टव्यः=सर्वतः पूज्यः **विश्वेभिः** अखिलैः **सोमपर्वभिः** सोमाद्योषधीनामवयवैः **अन्धसः** अन्नात् **मत्सि** तृप्तो भव **तस्मादस्मानेहि** प्राप्नुहि ॥३३।२५॥

भाषार्थ—हे (इन्द्र) ऐश्वर्य प्रदान करने वाले विद्वान् ! जिससे तू—(ओजसा) पराक्रम के साथ (महान्) महान्, (अभिष्टिः) सब ओर से पूज्य है, तथा (विश्वेभिः) सब (सोमपर्वभिः) सोम आदि ओषधियों के अवयवों के साथ (अन्धसः) अन्न से (मत्सि) तृप्त हो और हमें (एहि) प्राप्त हो ॥ ३३ । २५ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यस्मादन्नादेर्मनुष्यादीनां शरीरादेर्निर्वाहो भवति, तस्मादेषां वृद्धिसेवनाहारविहारा यथावद् विजानीयुः ॥ ३३ । २५ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जिस अन्न आदि से मनुष्य आदि के शरीर आदि का निर्वाह होता है; अतः उनकी वृद्धि, सेवन तथा आहार-विहार को यथावत् जानें ॥ ३३ । २५ ॥

भा० पदार्थः—अन्धसः=अन्नादेः ।

भाष्यसार—**मनुष्य क्या करें**—इन्द्र अर्थात् ऐश्वर्य प्रदान करने वाला विद्वान् ओज (पराक्रम) के कारण महान् होता है, सब ओर से पूज्य होता है । वह सब सोम आदि औषधियों तथा अन्न से तृप्त होता है । अतः मनुष्य उक्त विद्वान् को प्राप्त करें तथा जिस अन्न आदि से मनुष्य आदि के शरीर आदि का निर्वाह होता है उसकी वृद्धि, सेवन और आहार-विहार को यथावत् जानें ॥ ३३ । २५ ॥ ●

विश्वामित्रः । **इन्द्रः**=**राजपुरुषः** । भुरिक् पङ्क्तिः । पञ्चमः ॥

राजपुरुषाः कीदृशाः स्युरित्याह ॥

राजपुरुष कैसे हों, यह उपदेश किया है ॥

इन्द्रो॑ वृ॒त्रम॑वृणो॒च्छर्द्ध॑नीतिः॒ प्र मा॒यिना॑ममिना॒द्वर्प॑णीतिः ।
अह॒न् व्यं॒समु॒शध॒ग्वने॑ष्वा॒विर्धेना॑ऽ अकृणोद्रा॒म्याणा॑म् ॥ २६ ॥

पदार्थः—(**इन्द्रः**) सूर्य इव प्रतापी सभेशः (**वृत्रम्**) दुष्टं शत्रुं प्रकाशावरकं मेघमिव धर्मावरकम् (**अवृणोत्**) युद्धाय वृणुयात् (**शर्द्धनीतिः**) शर्द्धस्य=बलस्य नीतिर्नयनं=प्रापणं यस्य (**प्र**) (**मायिनाम्**) माया=कुत्सिता प्रज्ञा विद्यते येषान्तान् । अत्र कर्मणि षष्ठी (**अमिनात्**) हिंस्यात् (**वर्पणीतिः**) वर्पाणां=नानाविधानां रूपाणां नीतिः=प्राप्तिर्यस्य सः (**अहन्**) हन्यात् (**व्यंसम्**) विगता अंसा=भुजमूलानि यस्य तम् (**उशधक्**) य उशन्ति=परस्वं कामयन्ति तान् दहति सः (**वनेषु**) स्थितं तस्करम् (**आविः**) प्रादुर्भूते (**धेनाः**) वाणीः (**अकृणोत्**) कुर्यात् (**राम्याणाम्**) रमयन्ति=आनन्दयन्ति तेषाम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—शर्द्धनीतिर्वर्पनीतिरुशधगिन्द्रो वृत्रमवृणोत् मायिनां प्रामिणात् वनेषु व्यंसमहन् राम्याणां धेना आविरकृणोत्स एव राजा भवितुं योग्यः ॥ २६ ॥

सपदार्थान्वयः—**शर्द्धनीतिः** शर्द्धस्य=बलस्य नीतिर्नयनं=प्रापणं यस्य, **वर्पणीतिः** वर्पाणां=नानाविधानां रूपाणां नीतिः=प्राप्तिर्यस्य स, **उशधग्** य उशन्ति=परस्वं कामयन्ति तान् दहति स, **इन्द्रः** सूर्य इव प्रतापी सभेशः—**वृत्रं** दुष्टं शत्रुं प्रकाशावरकं मेघमिव धर्मावरकम् **अवृणोत्** युद्धाय वृणुयात्; **मायिनां** माया=कुत्सिता प्रज्ञा विद्यते येषान्तान् **प्रामिणात्** हिंस्यात्; **वनेषु** स्थितं तस्करं **व्यंसं** विगता अंसा=भुजमूलानि यस्य तम् **अहन्** हन्यात्; **राम्याणां** रमयन्ति=आनन्दयन्ति तेषां **धेना** वाणी **आविः**+**अकृणोत्** प्रादुर्भूतं कुर्यात्; **स एव राजा भवितुं योग्यः** ॥ ३३ । २६ ॥

भाषार्थ—जो—(शर्द्धनीतिः) शर्द्ध=बल को प्राप्त कराने वाला, (वर्पणीतिः) वर्प=नाना प्रकार के रूपों को प्राप्त कराने वाला, (उशधक्) पर धन की कामना करने वालों को दग्ध करने वाला, (इन्द्रः) सूर्य के तुल्य प्रतापी सभापति—(वृत्रम्) दुष्ट शत्रु एवं प्रकाश के आच्छादक मेघ के समान धर्म के आच्छादक को (अवृणोत्) युद्ध के लिए वरण करता है; (मायिनाम्) माया=कुत्सित प्रज्ञा वालों की (प्रामिणात्) हिंसा करता है; (वनेषु) वनों में स्थित (व्यंसम्) भुजा मूल से रहित चोर का (अहन्) हनन करता है; (राम्याणाम्) रमण=आनन्दित करने वालों की (धेना) वाणी को (आविः+अकृणोत्) प्रकट करता है; वही राजा बनने योग्य है ॥ ३३ । २६ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । ये सूर्यवत् सुशिक्षिता वाचः प्रकटयन्ति, अग्निर्वनानीव

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । जो सूर्य के तुल्य सुशिक्षित वाणियों

दुष्टान् शत्रून् दहन्ति; दिनं रात्रिमिव छलकापटचाविद्यान्धकारादीन् निवर्त्तयन्ति; बलमाविष्कुर्वन्ति ते सुप्रतिष्ठिता राजजना भवन्ति ॥ ३३ । २६ ॥

को प्रकट करते हैं; जैसे वनों को अग्नि दग्ध करती है; वैसे दुष्ट शत्रुओं को जलाते हैं; जैसे दिन रात्रि को निवृत्त करता है; वैसे छल, कपट, अविद्या—अन्धकार आदि को हटाते हैं; बल को प्रकट करते हैं; वे सुप्रतिष्ठित राजपुरुष होते हैं ॥ ३३ । २६ ॥

भा० पदार्थः—इन्द्रः=सूर्यवत् । व्यंसम्=दुष्टान् शत्रून् । अहन्=दहन्ति । प्रामिणात्=निवर्त्तयन्ति । धेना=बलम् । आविरकृणोत्=आविष्कुर्वन्ति ।

भाष्यसार—**१. राजपुरुष कैसे हों**—राजपुरुष—बल तथा नानाविध रूपों को प्राप्त करने वाले, दूसरे के धन की कामना करने वालों को दग्ध करने वाले, सूर्य के तुल्य प्रतापी हों । प्रकाश को आच्छादित करने वाले मेघ के तुल्य धर्म को आच्छादित करने वाले दुष्ट शत्रु को युद्ध के लिए वरण करें । मायी अर्थात् कुत्सित बुद्धि वालों की हिंसा करें । वनों में रहने वाले तस्कर (चोर) आदि का हनन करें । आनन्दित करने वाले विद्वानों की वाणी को प्रकट करें ।

२. अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त हैं; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । उपमा यह है कि राजपुरुष सूर्य के तुल्य प्रतापी हों । अग्नि के तुल्य दुष्ट शत्रुओं का दहन करें इत्यादि ॥ ३३ । २६ ॥ ●

अगस्त्यः । **इन्द्रः=सभाध्यक्षः** । विराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

राजपुरुष कैसे हों, यह फिर उपदेश किया है ॥

कुतस्त्वमिन्द्र माहिनः सन्नेको यासि सत्पते किं त ऽ इत्था ।
सं पृच्छसे समराणः शुभानैर्वोचेस्तन्नो हरिवो यत्ते ऽ अस्मे ।
*** महाँ२ऽ इन्द्रो य ऽ ओजसा । कदा चन स्तरीरसि । कदा चन प्रयुच्छसि ॥ २७ ॥**

पदार्थः—(**कुतः**) कस्मात् (**त्वम्**) (**इन्द्र**) सभेश ! (**माहिनः**) पूज्यमानो=महत्वेन युक्तः (**सन्**) (**एकः**) असहायः (**यासि**) गच्छसि (**सत्पते**) सतः=सत्यस्य व्यवहारस्य सतां पुरुषाणां वा पालक ! (**किम्**) (**ते**) तव (**इत्था**) अस्माद्धेतोः (**सम्**) (**पृच्छसे**) पृच्छ । लेट् (**समराणः**) सम्यग् गच्छन् (**शुभानैः**) मङ्गलमयैर्वचनैस्सह (**वोचेः**) वदेः (**तत्**) एकाकिकारणम् (**नः**) अस्मान् (**हरिवः**) प्रशस्ता हरयो=हरणशीला अश्वा विद्यन्ते यस्य तत्सम्बुद्धौ (**यत्**) यतः (**ते**) तव (**अस्मे**) वयम् ॥ २७ ॥

अन्वयः—हे सत्पते इन्द्रमाहिनस्त्वमेकः सन् कुतो यासि ? किन्त इत्था ? हे हरिवो ! यदस्मे ते तस्मातसमराणस्त्वन्नः सम्पृच्छसे शुभानैस्तद्वोचेश्च ॥ २७ ॥

सपदार्थान्वयः—हे सत्पते सतः= सत्यस्य व्यवहारस्य सतां पुरुषाणां वा पालक इन्द्र

भाषार्थ—हे (सत्पते) सत्य व्यवहार अथवा सत्पुरुषों के पालक (इन्द्र) सभापते ! (माहिनः)

---

* इस मन्त्र के आगे [महाँ०, कदा०, कदा०, ये तीन प्रतीकें पूर्व अ० ७ । ४० ॥ अ० ८ । २ । ३ । में कहे क्रम से तीन मन्त्रों की किसी कर्मकाण्ड विशेष के लिए लिखी हैं इसी से इनका अर्थ यहाँ नहीं किया, उक्त ठिकाने से जान लेना चाहिए ।

सभेश ! **माहिनः** पूज्यमानो=महत्वेन युक्तः **त्वमेकः** असहायः **सन् कुतः** कस्मात् **यासि** गच्छसि ? किं ते तव **इत्था** अस्माद्धेतोः ?

हे हरिवः ! प्रशस्ता हरयो=हरणशीला अश्वा विद्यन्ते यस्य तत्सम्बुद्धौ ! **यत्** यतः **अस्मे** वयं **ते** तव **तस्मात् समराणः** सम्यग् गच्छन् **त्वन्नः** अस्मान् **सम्पृच्छसे** पृच्छ, **शुभानैः** मङ्गलमयैर्वचनैस्सह **तत्** एकाकिकारणं **वोचेः** वदेः **च** ॥ ३३ । २७ ॥

पूज्य एवं महत्त्व से युक्त तू (एकः) असहाय होकर (कुतः) क्यों (यासि) चलता है ? (किम्) क्या (ते) तेरा (इत्था) ऐसा करने का कारण है ?

हे (हरिवः) हरणशील घोड़ों वाले सभापते ! (यत्) क्योंकि (अस्मे) हम (ते) तेरे हैं; अतः (समराणः) अच्छे प्रकार चलता हुआ तू (नः) हमसे (सम्पृच्छसे) पूछ, सम्मति ले; (शुभानैः) मंगलमय वचनों के साथ (तत्) उस असहाय होने के कारण को (वोचेः) बतला ॥ ३३ । २७ ॥

भावार्थः—राजप्रजापुरुषैः सभाध्यक्ष एवं वक्तव्यः—हे सभापते ! भवताऽसहायेन किमपि राजकार्यं न कर्त्तव्यम्; किन्तु सज्जनरक्षणे दुष्टताडने चास्मदादिसहाययुक्तेन सदैव स्थातव्यम् । शुभाचरणयुक्तेनास्मदादिशिष्टसम्मत्या मृदुवचनैश्च सर्वाः प्रजाः शासनीयाः ॥ ३३ । २७ ॥

भावार्थ—राजपुरुष और प्रजाजन सभाध्यक्ष से इस प्रकार कहें—हे सभापते ! आप असहाय होकर कोई भी राजकर्य न करें; किन्तु सज्जनों की रक्षा और दुष्टों के ताड़न में हमारे सहाय से युक्त सदा रहो । शुभ आचरण से युक्त होकर, हम शिष्ट जनों की सम्मति और मृदु वचनों से सब प्रजा का शासन करो ॥ ३३ । २७ ॥

भा० पदार्थः—सत्पते=सभापते । शुभानैः=मृदुवचनैः ॥

भाष्यसार—राजपुरुष कैसे हों—राजपुरुष—सत्य व्यवहार तथा सत्पुरुषों के पालक हों । सब के पूज्य एवं महान् गुणों से युक्त हों । असहाय होकर कोई भी राजकार्य न करें । सज्जनों की रक्षा और दुष्टों के ताड़न में सहायक अवश्य रखें । प्रशस्त हरणशील घोड़ों से युक्त हों । सभाध्यक्ष राजा राजपुरुषों से राजकार्य में सम्पृच्छा करें, सम्मति लें । शिष्ट जनों की सम्मति और मङ्गलमय वचनों से सब प्रजा का शासन करें ॥ ३३ । २७ ॥ ●

गोरीवितिः । **इन्द्रः=राजपुरुषः** । भुरिक्पङ्क्तिः । पञ्चमः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

राजपुरुष कैसे हों, यह फिर उपदेश किया है ॥

आ तत्त॑ ऽ इन्द्रा॒यवः॑ पनन्ता॒भि य ऽऊ॒र्वं गोम॑न्तं॒ तितृ॑त्सान् ।
स॒कृत्स्वं॒ ये पु॑रुपु॒त्रां म॒हीꣳ स॒हस्र॑धारां बृ॒ह॒तीं दुदु॑क्षन् ॥ २८ ॥

पदार्थः—(**आ**) (**तत्**) राजकर्म (**ते**) तव (**इन्द्र**) राजन् ! (**आयवः**) ये सत्यं सन्ति ते मनुष्याः प्रजाः । **आयव इति मनुष्यना० ॥ निघं० २ । ३ ॥** (**पनन्त**) प्रशंसेयुः (**अभि**) आभिमुख्ये (**ये**) (**ऊर्वम्**) हिंसकम् (**गोमन्तम्**) दुष्टा गाव=इन्द्रियाणि यस्य तम् (**तितृत्सान्**) तर्दितुं=हिंसितुमिच्छेयुः, लेट् (**सकृत्स्वम्**) या सकृदेकवारं सूते ताम् (**ये**) (**पुरुपुत्राम्**) बहवोऽन्नादिव्यक्तिमन्तः पुत्रा यस्यास्ताम् (**महीम्**) महतीं भूमिम् (**सहस्रधाराम्**) सहस्रं धारा हिरण्यादयो यस्यान्तां यद्वा या सहस्रमसङ्ख्यातं प्राणिजातं धरति (**बृहतीम्**) विस्तीर्णाम् (**दुदुक्षन्**) दोग्धुमिच्छेयुः । **अत्र वर्णव्यत्ययेन धस्य दः** ॥ २८ ॥

प्रमाणार्थ—(**आयवः**) 'आयवः' यह पद निघण्टु (२ । ३) में मनुष्य-नामों में पठित है । (**तितृत्सान्**) यह 'लेट्' लकार का प्रयोग है। (**दुदुक्षन्**) यहाँ वर्ण-व्यत्यय से 'ध' के स्थान में 'द' है ॥

अन्वयः—हे इन्द्र ! य आयवः सकृत्स्वं पुरुपुत्रां सहस्रधारां बृहतीं महीः दुदुक्षन् ये गोमन्तमूर्वमभितितृत्सान् ये च ते तदा पनन्त तान् त्वं सततमुन्नय ॥ २८ ॥

सपदार्थान्वयः—हे इन्द्र ! राजन् ! **य आयवः** ये सत्यं यन्ति ते मनुष्याः प्रजाः **सकृत्स्वं** या सकृदेकवारं सूते तां **पुरुपुत्रां** बहवोऽन्नादिव्यक्तिमन्तः पुत्रा यस्यास्तां **सहस्रधारां** सहस्रं धारा हिरण्यादयो यस्यान्तां यद्वा या सहस्रमसङ्ख्यातं प्राणिजातं धरति **बृहतीं** विस्तीर्णां **महीं** महतीं भूमिं **दुदुक्षन्** दोग्धुमिच्छेयुः; **ये गोमन्तं** दुष्टा गाव=इन्द्रियाणि यस्य तम् **ऊर्वं** हिंसकम् **अभितितृत्सान्** आभिमुख्येन तर्दितुं=हिंसितुमिच्छेयुः; **ये च ते** तव **तद्** राजकर्म **आ+पनन्त** प्रशंसेयुः, **तान् त्वं सततमुन्नय** ॥ ३३ । २८ ॥

भावार्थः—ये राजभक्ता, दुष्टहिंसका, एकवारे बहुपुष्पफलप्रदां सर्वधारिकां भूमिं दोग्धुं समर्थाः स्युस्ते राजकार्याणि कर्त्तुमर्हेयुः ॥३३।२८॥

भाषार्थ—हे (इन्द्र) राजन् ! जो (आयवः) सत्य को प्राप्त करने वाले प्रजाजन—(सकृत्स्वम्) एक बार प्रसव वाली, (पुरुपुत्राम्) अन्न आदि रूप में प्रकट बहुत पुत्रों वाली, (सहस्रधाराम्) असंख्य धारा=हिरण्य आदि पदार्थों वाली अथवा असंख्य प्राणियों को धारण करने वाली, (बृहतीम्) विस्तीर्ण (महीम्) विशाल भूमि को (दुदुक्षन्) दुहना चाहते हैं; जो—(गोमन्तम्) दुष्ट गौ=इन्द्रियों वाले (ऊर्वम्) हिंसक का (अभितितृत्सान्) मुख्य रूप से तर्दन=हनन करना चाहते हैं, और जो (ते) तेरे (तद्) उस राजकर्म की (पनन्त) प्रशंसा करते हैं; उन्हें तू सदा उन्नत कर ॥ ३३ । २८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य—राजभक्त, दुष्टों के हिंसक, एक बार में बहुत पुष्प और फल प्रदान करने वाली, सब को धारण करने वाली भूमि दुह सकते हैं; वे राजकार्यों को कर सकते हैं ॥३३।२८॥

भा० पदार्थः—आयवः=राजभक्ताः । पुरुपुत्राम्=बहुपुष्पफलप्रदाम् । सहस्रधाराम्=सर्वधारिकाम् । दुदुक्षन्=दोग्धुं समर्थाः स्युः ॥

भाष्यसार—**राजपुरुष कैसे हों**—जो सत्य को प्राप्त करने वाले मनुष्य—एक बार प्रसव वाली, बहुत अन्न आदि रूप पुत्रों वाली, असंख्य हिरण्य आदि अथवा असंख्य प्राणियों वाली, विस्तीर्ण, महान् भूमि को दुहना चाहते हैं; और जो दुष्ट इन्द्रियों वाले हिंसक पुरुष की हिंसा करना चाहते हैं; और जो राजा के राजकर्म की प्रशंसा करते हैं; उन्हें सदा उन्नत करे ॥ ३३ । २८ ॥

कुत्सः । **इन्द्रः=राजपुरुषः** । जगती । निषादः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

राजपुरुष कैसे हों, इसका फिर उपदेश किया है ॥

इमां ते धियं प्र भरे महो महीमस्य स्तोत्रे धिषणा यत्त ऽ आनजे ।
तमुत्सवे च प्रसवे च सासहिमिन्द्रं देवासः शवसामदन्ननु ॥ २९ ॥

पदार्थः—(**इमाम्**) (**ते**) तव (**धियम्**) प्रज्ञां कर्म वा (**प्र**) (**भरे**) धरे (**महः**) महतः (**महीम्**) सुपूज्याम् । महीति वाङ्ना० ॥ निघं० १ ॥ ११ ॥ (**अस्य**) मम (**स्तोत्रे**) स्तवने (**धिषणा**) प्रज्ञा (**यत्**) यम् (**ते**) ताम् । अत्र कर्मणि षष्ठी (**आनजे**) व्यनक्ति (**तम्**) (**उत्सवे**) कर्त्तव्यानन्दसमये (**च**) (**प्रसवे**) उत्पत्तौ (**च**) (**सासहिम्**) भृशं सोढारम् (**इन्द्रम्**) परमबलयोगेन शत्रूणां विदारकम् (**देवासः**) विद्वांसः (**शवसा**) बलेन (**अमदन्**) आनन्देयुः (**अनु**) आनुकूल्येन ॥ २६ ॥

प्रमाणार्थ—(महीम्) सुपूज्याम् । 'मही' यह पद निघण्टु (१ । ११) में वाक्-नामों में पठित है, वाक्=वाणी । (ते) ताम् । यहां कर्म में षष्ठी विभक्ति है ॥

अन्वयः—हे इन्द्राहं महीमिमान्ते धियं प्रभरे स्तोत्रेऽस्य धिषणा यत्त आनजे तं शवसा सासहिमिन्द्रं मह उत्सवे च प्रसवे च देवासोऽन्वमदन् ॥ २९ ॥

सपदार्थान्वयः— हे **इन्द्र** ! **अहं महीं** सुपूज्याम् **इमान्ते** तव **धियं** प्रज्ञां कर्म वा **प्रभरे** धरे; **स्तोत्रे** स्तवने **अस्य** मम **धिषणा** प्रज्ञा **यत्** यं **ते** ताम् **आनजे** व्यनक्ति; **तं शवसा** बलेन **सासहिं** भृशं सोढारम् **इन्द्रं** परमबलयोगेन शत्रूणां विदारकं **महः** महतः **उत्सवे** कर्त्तव्यानन्दसमये **च प्रसवे** उत्पत्तौ **च देवासः** विद्वांसः **अनु+अमदन्** आनुकूल्येन आनन्देयुः ॥ ३३ । २९ ॥

भाषार्थ—हे राजन् ! मैं (महीम्) पूजा के योग्य वाणी का तथा (इमाम्) इस (ते) तेरी (धियम्) प्रज्ञा वा कर्म को (प्रभरे) धारण करता हूँ; (स्तोत्रे) स्तुति में (अस्य) इस मुझ स्तोता की (धिषणा) प्रज्ञा (यत्) जिस (ते) तेरी प्रज्ञा वा कर्म को (आनजे) व्यक्त करती है; उस (शवसा) बल से (सासहिम्) अत्यन्त सहन करने वाले (इन्द्रम्) परम बल के योग से शत्रुओं के विदारक आपको—(महः) महान् कार्य के (उत्सवे) आनन्द समय में (च) और (प्रसवे) उत्पत्ति काल में (देवासः) विद्वान् लोग (अनु+अमदन्) अनुकूलतापूर्वक आनन्दित करें ॥ ३३ । २९ ॥

भावार्थः—ये राजादयो मनुष्या विद्वद्भ्य उत्तमां प्रज्ञां वाचं च गृह्णन्ति, ते सत्यानुकूलाः सन्तः स्वयमानन्दिता भूत्वाऽन्यानानन्दयन्ति ॥ ३३ । २९ ॥

भावार्थ—जो राजा आदि मनुष्य विद्वानों से उत्तम प्रज्ञा और वाणी=विद्या को ग्रहण करते हैं; वे सत्य के अनुकूल रहकर स्वयं आनन्दित होकर अन्यों को आनन्दित करते हैं ॥ ३३ । २९ ॥

भा० पदार्थः—महीम्=उत्तमाम् वाचम् । प्रभरे=गृह्णन्ति । अन्वमदन्=सत्यानुकूलाः सन्तः स्वयमानन्दिता भूत्वाऽन्यानानन्दयन्ति ।

भाष्यसार—**राजपुरुष कैसे हों**—विद्वान् लोग—राजपुरुषों की सुपूज्य वाणी तथा प्रज्ञा और कर्म को धारण करें अर्थात् राजा आदि लोग विद्वानों से उत्तम वाणी, प्रज्ञा और कर्म को ग्रहण करें । राजपुरुष—बल से अत्यन्त सहनशील, परमबल के योग से शत्रुओं का विदारण करने वाले हों । विद्वान् लोग उन्हें उत्सव और प्रसव आदि के अवसर पर आनन्दित करें । राजपुरुष भी सत्य के अनुकूल आचरण करते हुए स्वयं आनन्दित होकर अन्यों को भी आनन्दित करें ॥ ३३ । २९ ॥

विभ्राट् । **सूर्यः=राजा** । विराट् जगती । निषादः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

राजपुरुष कैसे हों, फिर उपदेश किया है ॥

विभ्राड् बृहत्पिबतु सोम्यं मध्वायुर्दधद्यज्ञपतावविहुतम् ।
वातजूतो यो ऽअभिरक्षति त्मना प्रजाः पुपोष पुरुधा वि राजति ॥ ३० ॥

पदार्थः—(**विभ्राट्**) यो विशेषेण भ्राजते सः (**बृहत्**) महत् (**पिबतु**) (**सोम्यम्**) सोमेष्वोषधीषु भवं रसम् (**मधु**) मधुरादिना गुणेन युक्तम् (**आयुः**) जीवनम् (**दधत्**) धरन् (**यज्ञपतौ**) यज्ञस्य=

युक्तस्य व्यवहारस्य पालके स्वामिनि (**अविह्रुतम्**) अखण्डितम् (**वातजूतः**) वायुना प्राप्तवेगः (**यः**) (**अभिरक्षति**) (**त्मना**) आत्मना (**प्रजाः**) (**पुपोष**) पुष्णाति (**पुरुधा**) बहुधा (**वि**) (**राजति**) विशेषेण प्रकाशते ॥ ३० ॥

अन्वयः—यो वातजूतः सूर्य इव विभ्राडविह्रुतमायुर्यज्ञपतौ दधत् त्मना प्रजा अभि रक्षति पुपोष पुरुधा विराजति च स भवान् बृहत् सोम्यं मधु पिबतु ॥ ३० ॥

सपदार्थान्वयः—**यो वातजूतः**=**सूर्यः** वायुना प्राप्तवेगः **इव विभ्राड्** यो विशेषेण भ्राजते सः **अविह्रुतम्** अखण्डितम् **आयुः** जीवनं **यज्ञपतौ** यज्ञस्य=युक्तस्य व्यवहारस्य पालके=स्वामिनि **दधत्** धरन् **त्मना** आत्मना **प्रजा अभिरक्षति, पुपोष** पुष्णाति; **पुरुधा** बहुधा **विराजति** विशेषेण प्रकाशते **च; स भवान् बृहत्** महत् **सोम्यं** सोमेष्वोषधीषु भवं रसं **मधु** मधुरादिना गुणेन युक्तं **पिबतु** ॥३३।३०॥

भाषार्थ—जो (वातजूतः) वायु से वेग को प्राप्त सूर्य के समान (विभ्राट्) विशेष रूप से प्रकाशमान राजा—(अविह्रुतम्) अखण्डित (आयुः) जीवन को (यज्ञपतौ) यज्ञ=युक्त व्यवहार के पालक अपने आत्मा में (दधत्) धारण करते हुए (त्मना) आत्मा से (प्रजाः) प्रजा की (अभिरक्षति) रक्षा करते हो; (पुपोष) पोषण करते हो; और (पुरुधा) बहुत प्रकार से (विराजति) विराजमान होते हो; सो आप—(बृहत्) महान् (सोम्यम्) सोम=ओषधियों के (मधु) मधुर रस का पान करो ॥ ३३ । ३० ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। हे राजादयो मनुष्या ! यथा सूर्यो वृष्टिद्वारा सर्वेषां जीवनं, पालनं करोति तद्वत्सद्गुणैर्महान्तो भूत्वा न्यायविनयाभ्यां प्रजाः सततं रक्षन्तु ॥३३।३०॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। हे राजा आदि मनुष्यो ! जैसे सूर्य वर्षा के द्वारा सबको जीवन देता एवं सबका पालन करता है; उसके तुल्य शुभ गुणों से महान् होकर न्याय और विनय से प्रजा की सदा रक्षा करो ॥३०॥

भाष्यसार—राजपुरुष कैसे हों—राजपुरुष—वायु से वेग को प्राप्त हुए सूर्य के तुल्य विशेष रूप से प्रकाशमान, अखण्डित आयु को अपने आत्मा में धारण करने वाले होकर आत्मा से प्रजा की न्याय और विनय से रक्षा करें, उसका पोषण करें और स्वयं विविध प्रकार से प्रकाशमान हों और महान्, सोम आदि ओषधियों के मधुर रस का पान करे ॥ ३३ । ३० ॥ ●

प्रस्कण्वः । **सूर्य्यः**=**सूर्यमण्डलम्** । निचृद्गायत्री । षड्जः ॥

अथ सूर्य्यमण्डलं कीदृशमित्याह ॥

अब सूर्यमण्डल कैसा है, यह उपदेश किया जाता है ॥

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्य्यम् ॥ ३१ ॥

पदार्थः—(**उत्**) आश्चर्ये (**उ**) (**त्यम्**) तम् (**जातवेदसम्**) जातेषु पदार्थेषु विद्यमानम् (**देवम्**) देदीप्यमानम् (**वहन्ति**) (**केतवः**) किरणाः (**दृशे**) दर्शनाय (**विश्वाय**) विश्वस्य । **अत्र षष्ठ्यर्थे चतुर्थी** (**सूर्यम्**) सवितृमण्डलम् ॥ ३१ ॥

प्रमाणार्थ—(**विश्वाय**) विश्वस्य । यहाँ षष्ठी विभक्ति के अर्थ में चतुर्थी विभक्ति है ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यं जातवेदसं देवं सूर्य्यं विश्वाय दृशे केतव उद्वहन्ति त्यमु यूयं बिजानीत ॥ ३१ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **मनुष्याः** ! **यं जातवेदसं** जातेषु पदार्थेषु विद्यमानं **देवं** देदीप्यमानं **सूर्य्यं** सवितृमण्डलं **विश्वाय** विश्वस्य **दृशे** दर्शनाय **केतवः** किरणा **उत्+वहन्ति** आश्चर्येण वहन्ति, **त्यं** तम् **उ यूयं विजानीत** ॥ ३३ । ३१ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! (जातवेदसम्) उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान, (देवम्) प्रकाशमान जिस (सूर्यम्) सूर्यमण्डल को (विश्वाय) विश्व के (दृशे) दर्शन के लिए (केतवः) किरणें (उत्+वहन्ति) आश्चर्य से वहन करती हैं; (त्यम्) उसको (उ) विचारपूर्वक तुम जानो ॥ ३३ । ३१ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । यथा किरणैः सूर्यः संसारं दर्शयति, स्वयं सुशोभते तथा विद्वांसोऽखिला विद्याः शिक्षा दर्शयित्वा सुशोभेरन् ॥ ३३ । ३१ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । जैसे—किरणों से सूर्य संसार को दिखलाता है; स्वयं सुशोभित होता है; वैसे विद्वान् लोग सब विद्याओं एवं शिक्षाओं को दिखलाकर सुशोभित हों ॥ ३३ । ३१ ॥

अन्यत्र व्याख्यात—(उदु त्यं जातवेदसं०) जिससे ऋग्वेदादि चार वेद प्रसिद्ध हुए हुए हैं और जो प्रकृत्यादि सब भूतों में व्याप्त हो रहा है, जो सब जगत् का उत्पादक है, सो परमेश्वर 'जातवेदा' नाम से प्रसिद्ध है । (देवम्) जो सब देवों का देव और (सूर्यम्) सब जीवादि जगत् का प्रकाशक है, (त्यम्) उस परमात्मा को (दृशे विश्वाय) विश्व विद्या की प्राप्ति के लिए हम लोग उपासना करते हैं । (उद्वहन्ति केतवः) अर्थात् वेद की श्रुति और जगत् के पृथक्-पृथक् रचनादि नियामक गुण उसी परमेश्वर को जनाते और प्राप्त कराते हैं । उस विश्व के आत्मा अन्तर्यामी परमेश्वर ही की हम उपासना सदा करें; अन्य किसी की नहीं । (पंचमहायज्ञविधि, सन्ध्योपासन) ॥

विनियोग—महर्षि ने इस मन्त्र का संस्कार-विधि के गृहाश्रम प्रकरण में सन्ध्योपासन में विनियोग किया है ॥ ३३ । ३१ ॥

भाष्यसार—१. **सूर्यमण्डल कैसा है**—सूर्यमण्डल उत्पन्न हुए पदार्थों के मध्य में विद्यमान है तथा देदीप्यमान है । विश्व के दर्शन के लिए किरणें उसे वहन करती हैं । मनुष्य उस सूर्यमण्डल को जानें ।

२. **अलंकार**—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । उपमा यह है कि जैसे किरणों के द्वारा सूर्य संसार को दिखाता है और स्वयं सुशोभित होता है; वैसे विद्वान् लोग सब विद्याओं और शिक्षाओं को दर्शाकर सुशोभित हों ॥ ३३ । ३१ ॥ ●

प्रस्कण्वः । **सूर्य्यः**=स्पष्टम् । निचृद्गायत्री । षड्जः ॥

पुना राजधर्मविषयमाह ॥

फिर राजधर्म का उपदेश किया जाता है ॥

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ२ऽ अनु । त्वं वरुण पश्यसि ॥ ३२ ॥

पदार्थः—**(येन)** अत्र संहितायामिति दीर्घः **(पावक)** पवित्रकारक ! **(चक्षसा)** व्यक्तेन

दर्शनेनोपदेशेन वा (**भुरण्यन्तम्**) पालयन्तम् (**जनान्**) अस्मदादिमनुष्यान् (**अनु**) (**त्वम्**) (**वरुण**) राजन्! (**पश्यसि**) ॥ ३२ ॥

प्रमाणार्थ—(**येन**) यहाँ 'संहितायाम्' (६ । ३ । १३६) से संहिता में दीर्घ है—'येना'॥

अन्वयः—हे पावक वरुण विद्वंस्त्वं येन चक्षसा भुरण्यन्तमनुपश्यसि तेन जनान् पश्य तवानुकूलाश्च वयं वर्त्तेमहि ॥ ३२ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे पावक** पवित्रकारक **वरुण**=विद्वन् राजन्! **त्वं येन चक्षसा** व्यक्तेन दर्शनेनोपदेशेन वा **भुरण्यन्तं** पालयन्तम् **अनुपश्यसि; तेन जनान्** अस्मदादिमनुष्यान् **पश्य, तवानुकूलाश्च वयं वर्त्तेमहि** ॥ ३३ । ३२ ॥

भाषार्थ—हे (पावक) पवित्र करने वाले (वरुण) विद्वान् राजन्! तू—(येन) जिस (चक्षसा) प्रकट दर्शन वा उपदेश से (भुरण्यन्तम्) पालन करने वाले मनुष्य को (अनुपश्यसि) देखता है; उससे (जनान्) हम सब मनुष्यों को देख; और हम लोग तेरे अनुकूल वर्त्ताव करें ॥ ३३ । ३२ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथा राजराजपुरुषा यादृशेन व्यवहारेण प्रजासु वर्त्तेरन्, तथैव भावेनैतेषु प्रजा अपि वर्त्तेरन् ॥३३।३२॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलङ्कार है। जैसे—राजा एवं राजपुरुष जैसे व्यवहार से प्रजा में वर्त्ताव करें, वैसे ही भाव से इनमें प्रजा भी वर्त्ताव करे ॥ ३३ । ३२ ॥

भा० पदार्थः—चक्षसा=व्यवहारेण। भुरण्यन्तम्=प्रजासु ॥

भाष्यसार—**१. राजा का धर्म**—पवित्र, करने वाले, श्रेष्ठ, विद्वान् राजा—प्रकट दर्शन से तथा उपदेश से प्रजा के पालक लोगों को अनुकूल दृष्टि से देखें। प्रजाजन भी राजा से अनुकूल वर्त्ताव करें।

२. अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलङ्कार है। उपमा यह है कि राजा के तुल्य प्रजाजन भी अनुकूल व्यवहार करें ॥ ३३ । ३२ ॥ ●

प्रस्कण्वः। **विद्वान्=स्पष्टम्**। निचृद्गायत्री। षड्जः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

राजधर्म का फिर उपदेश किया है ॥

दैव्यावध्वर्यू ऽ आ गतꣳ रथेन सूर्यत्वचा। मध्वा यज्ञꣳ समञ्जाथे।

***तं प्रत्नथा। अयं वेनः। चित्रं देवानाम् ॥ ३३ ॥**

पदार्थः—(**दैव्यौ**) देवेषु=दिव्येषु विद्वत्सु गुणेषु वा कुशलौ (**अध्वर्यू**) यावात्मनोऽध्वरमहिंसायज्ञमिच्छन्तौ (**आ**) (**गतम्**) गच्छतम् (**रथेन**) गमकेन यानेन (**सूर्यत्वचा**) सूर्य इव देदीप्यमाना त्वग्बाह्यमावरणं यस्य तेन (**मध्वा**) कोमलसामग्र्या (**यज्ञम्**) यात्राख्यं सङ्ग्रामाख्यं हवनाख्यं वा (**सम्**) (**अञ्जाथे**) ॥ ३३ ॥

अन्वयः—हे दैव्यावध्वर्यू! सूर्यत्वचा रथेनागतं मध्वा यज्ञं च समञ्जाथे ॥

ये तीन प्रतीकें पूर्व अ० ७। मं० १२। १६। ४२ कहे मन्त्रों की कर्मकाण्ड विशेष में कार्य्य के लिए यहाँ रक्खी गई हैं। इन्हीं से इनका अर्थ यहाँ नहीं लिखा उक्त पते में लिखा गया है ॥

सपदार्थान्वयः—हे देव्यौ देवेषु=दिव्येषु विद्वत्सु गुणेषु वा कुशलौ ! **अध्वर्यू !** यावात्मनोऽध्वरमहिंसायज्ञमिच्छन्तौ ! **सूर्यत्वचा** सूर्य इव देदीप्यमाना त्वग्बाह्यमावरणं यस्य तेन **रथेन** गमकेन यानेन **आ+गतं** आ+गच्छतं, **मध्वा** कोमलसामग्र्या **यज्ञं** यात्राख्यं सङ्ग्रामाख्यं हवनाख्यं वा **च समञ्जाथे** ॥ ३३ । ३३ ॥

भाषार्थ—हे (देव्यौ) विद्वानों वा दिव्य गुणों में कुशल (अध्वर्यू) अपने अहिंसा यज्ञ के इच्छुक दो राजपुरुषो ! तुम—(सूर्यत्वचा) सूर्य के तुल्य देदीप्यमान त्वक्=बाह्य आवरण वाले (रथेन) यान से (आ+गतम्) आओ; और—(मध्वा) कोमल सामग्री से (यज्ञम्) यात्रा, संग्राम अथवा हवन नामक यज्ञ को (समञ्जाथे) सिद्ध करो ॥ ३३ । ३३ ॥

भावार्थः—राजादिमनुष्यैः सूर्यप्रकाश इव विमानादीनि यानानि, संग्रामं हवनादिकं रचयित्वा यात्रादिव्यवहाराः साधनीयाः ॥ ३३ । ३३ ॥

भावार्थ—राजा आदि मनुष्य—सूर्य के प्रकाश के तुल्य विमान आदि यानों, संग्राम तथा हवन आदि को बनाकर यात्रा आदि व्यवहारों को सिद्ध करें । ३३ । ३३ ॥

भा० पदार्थः—अध्वर्यू=राजादिमनुष्यौ । रथेन=विमानादियानेन । यज्ञम्=संग्रामम्, हवनादिकं, यात्रादिव्यवहारम् ॥

भाष्यसार—राजा का धर्म—विद्वानों में अथवा दिव्य गुणों में कुशल, अहिंसा यज्ञ की इच्छा करने वाले दो राजपुरुष—सूर्य के तुल्य देदीप्यमान त्वचा=बाह्य आवरण वाले रथ=यान से यातायात करें । कोमल सामग्री से यात्रा, संग्राम और हवन नामक यज्ञ को सिद्ध करें ॥ ३३ । ३३ ॥

अगस्त्यः । **सविता**=उपदेशकः । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

अथोपदेशकाः किं कुर्युरित्याह ॥

अब उपदेशक लोग क्या करें, यह उपदेश किया जाता है ॥

आ न॒ऽ इडा॑भिर्वि॒दथे॑ सुश॒स्ति वि॒श्वान॑रः सवि॒ता दे॒व ऽ ए॑तु ।
अपि॑ यथा॑ युवानो॒ मत्स॑था नो॒ विश्वं॒ जग॑दभिपि॒त्वे म॑नी॒षा ॥ ३४ ॥

पदार्थः—(**आ**) समन्तात् (**नः**) अस्माकम् (**इडाभिः**) सुशिक्षिताभिर्वाग्भिः (**विदथे**) विज्ञापनीये व्यवहारे (**सुशस्ति**) शोभना शस्तिः=प्रशंसा यस्मिंस्तत् (**विश्वानरः**) विश्वेषां नायकः (**सविता**) सूर्य इव भासमानः (**देवः**) दिव्यगुणः (**एतु**) प्राप्नोतु (**अपि**) (**यथा**) (**युवानः**) प्राप्तयौवना ब्रह्मचर्येणाधीतविद्याः (**मत्सथ**) आनन्दत । **अत्र संहितायामिति दीर्घः** (**नः**) अस्माकम् (**विश्वम्**) समग्रम् (**जगत्**) जङ्गमं पुत्रगवादिकम् (**अभिपित्वे**) आभिमुख्यगमने (**मनीषा**) मेधा ॥ ३४ ॥

प्रमाणार्थ—(**मत्सथ**) यहाँ 'संहितायाम्' (६ । ३ । १३६) से संहिता में दीर्घ है—'मत्सथा' ॥

अन्वयः—हे युवानो ! यथा विश्वानरो देवः सवितेडाभिर्विदथे सुशस्ति नो विश्वं जगदैतु तथाऽभिपित्वे यूयं मत्सथ या नो मनीषा तामपि शोधयत ॥ ३४ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे युवानः !** प्राप्तयौवना ब्रह्मचर्येणाधीतविद्याः ! **यथा विश्वानरः**

भाषार्थ—हे (युवानः) ब्रह्मचर्य पूर्वक विद्या पढ़े हुए युवको ! जैसे—(विश्वानरः) सब का

विश्वेषां नायकः, **देवः** दिव्यगुणः, **सविता** सूर्य इव भासमान, **इडाभिः** सुशिक्षिताभिर्वाग्भिः **विदथे** विज्ञापनीये व्यवहारे **सुशस्ति** शोभना शस्तिः=प्रशंसा यस्मिंस्तत्, **नः** अस्माकं **विश्वं** समग्रं **जगत्** जङ्गमं पुत्रगवादिकम् **आ+एतु** समन्तात् प्राप्नोतु; तथाऽभिपित्वे आभिमुख्यगमने **यूयं मत्सथ** आनन्दत। **या नः** अस्माकं **मनीषा** मेधा **तामपि शोधयत** ॥३४॥

नायक, (देवः) दिव्य गुणों से युक्त (सविता) सूर्य के तुल्य प्रकाशमान उपदेशक—(इडाभिः) सुशिक्षित वाणियों से (विदथे) बतलाने योग्य व्यवहार में (सुशस्ति) उत्तम प्रशंसा से युक्त (नः) हमारे (विश्वम्) सब (जगत्) जंगम=पुत्र एवं गौ आदि को (आ+एतु) सब ओर प्राप्त करता है; वैसे (अभिपित्वे) उसके अभिमुख गमन में तुम (मत्सथ) आनन्दित रहो, और जो (नः) हमारी (मनीषा) मेधा बुद्धि है उसे भी शुद्ध करो ॥ ३४ ॥

भावार्थः — अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ। ये सूर्यवद् विद्यया प्रकाशात्मनः, शरीरात्मभ्यां प्राप्तयौवनाः, सुशिक्षिता जितेन्द्रियाः सुशीला भवन्ति, ते सर्वानुपदेशेन विज्ञापयितुं शक्नुवन्ति ॥ ३३ । ३४ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमा और वाचक लुप्तोपमा अलंकार हैं। जो सूर्य के तुल्य विद्या से प्रकाशित आत्मा वाले, शरीर और आत्मा से यौवन को प्राप्त, सुशिक्षित, जितेन्द्रिय एवं सुशील होते हैं; वे सबको उपदेश से समझा सकते हैं ॥३३।३४॥

भा० पदार्थः—सविता=सूर्यवद्विद्यया प्रकाशात्मा । युवानः=शरीरात्मभ्यां प्राप्तयौवनाः । सुशस्ति=जितेन्द्रियः—सुशीलः ।

भाष्यसार—**१. उपदेशक लोग क्या करें**—सब के नायक, दिव्य गुणों से युक्त, सूर्य के समान विद्या से प्रकाशित आत्मा वाले, यौवन को प्राप्त, सुशिक्षित, जितेन्द्रिय और सुशील उपदेशक लोग—सुशिक्षित वाणियों से बतलाने योग्य व्यवहार में हमें प्राप्त हों तथा उत्तम प्रशंसा वाले, हमारे जंगम=पुत्र गौ आदि पदार्थों को प्राप्त करें। ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याध्ययन करने वाले युवक उनके समक्ष जाने में आनन्दित हों। और उपदेशक लोग उनकी मेधा को शुद्ध करें।

२. अलङ्कार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'यथा' पद है अतः उपमा अलंकार है। उपमा-वाचक पद को लुप्त मानकर वाचक लुप्तोपमा अलंकार भी है। उपमा यह है कि उपदेशक लोग सूर्य के समान विद्या से प्रकाशित आत्मा वाले हों ॥ ३३ । ३४ ॥ ●

श्रुतकक्षसुकक्षौ । **सूर्य्यः**=विद्वान् । पिपीलिका मध्यानिचृद्गायत्री । षड्जः ॥

पुनर्मनुष्यः किं कुर्यादित्याह ॥

फिर मनुष्य क्या करे, यह उपदेश किया है ॥

यद॒द्य कच्च॑ वृत्रहन्नु॒दगा॑ऽ अ॒भि सू॑र्य्य । सर्वं॒ तदि॑न्द्र ते॒ वशे॑ ॥ ३५ ॥

पदार्थः—(यत्) (अद्य) अस्मिन् दिने (कत्) कदा (च) (वृत्रहन्) मेघहन्ता सूर्य्य इव (उत् अगाः) उदयं प्रापय (अभि) (सूर्य्य) विद्यैश्वर्योत्पादक ! (सर्वम्) (तत्) (इन्द्रः (ते) (वशे) ॥ ३५ ॥

अन्वयः—हे वृत्रहन् सूर्य्येन्द्र ! ते यदद्य सर्वं वशेऽस्ति तत् कच्चाभ्युदगाः ॥ ३५ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **वृत्रहन्** मेघहन्ता सूर्य्य इव **सूर्य्य** विद्यैश्वर्योत्पादक **इन्द्र** ! **ते यदद्य**

भाषार्थ—हे (वृत्रहन्) वृत्र=मेघ का हनन करने वाले सूर्य के तुल्य, (सूर्य) विद्या और ऐश्वर्य

अस्मिन् दिने **सर्वं वशेऽस्ति, तत् कत्** कदा **चाभ्युदगाः** उदयं प्रापय ॥ ३३ । ३५ ॥

के उत्पादक (इन्द्र) विद्वान् ! (ते) तेरे (यत्) जो (अद्य) आज (सर्वम्) सब कुछ (वशे) वश में है; (तत्) उसे (कत्) सर्वथा (अभ्युदगाः) उन्नत कर ॥ ३३ । ३५ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । ये पुरुषाः सूर्यवदविद्यान्धकारं दुष्टतां च निवार्य सर्वं वशीभूतं कुर्वन्ति, तेऽभ्युदयं प्राप्नुवन्ति ॥३३।३५॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलङ्कार है। जो पुरुष सूर्य के तुल्य अविद्या-अन्धकार और दुष्टता का निवारण करके सब को वशीभूत करते हैं; वे अभ्युदय को प्राप्त होते हैं ॥ ३३ । ३५ ॥

भाष्यसार—**१. विद्वान् मनुष्य क्या करे**—मेघ का हनन करने वाले सूर्य के समान अविद्यान्धकार को तथा दुष्टता को निवारण करने वाला और विद्या रूप ऐश्वर्य को उत्पन्न करने वाला विद्वान्—सब को वश में करे तथा अभ्युदय को प्राप्त करे ॥

२. **अलंकार**—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलङ्कार है । उपमा यह है कि विद्वान् मनुष्य सूर्य के तुल्य अविद्या-अन्धकार को नष्ट करे ॥ ३३ । ३५ ॥

प्रस्कण्वः । **सूर्यः**=राजा । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ॥

अथ राजपुरुषा कीदृशाः स्युरित्याह ॥

अब राजपुरुष कैसे हों, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य्य । विश्वमा भासि रोचनम् ॥ ३६ ॥

पदार्थः—(**तरणिः**) तारकः (**विश्वदर्शतः**) विश्वेन द्रष्टव्यः (**ज्योतिष्कृत्**) यो ज्योतींषि करोति सः (**असि**) (**सूर्य्य**) सूर्य्यवद्वर्तमान राजन् ! (**विश्वम्**) समग्रं राज्यम् (**आ**) (**भासि**) प्रकाशयसि (**रोचनम्**) रुचिकरम् ॥ ३६ ॥

अन्वयः—हे सूर्य ! त्वं यथा तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृत् सविता रोचनं विश्वं प्रकाशयति तथा त्वमसि यतो न्यायविनयेन राज्यमाभासि तस्मात्सत्कर्त्तव्योऽसि ॥ ३६ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे सूर्य** ! सूर्य्यवद्वर्तमान राजन् ! **त्वं यथा तरणिः** तारकः, **विश्वदर्शतः** विश्वेन द्रष्टव्यः, **ज्योतिष्कृत्=सविता** यो ज्योतींषि करोति सः, **रोचनं** रुचिकरं **विश्वं** समग्रं राज्यं **प्रकाशयति तथा त्वमसि । यतो न्यायविनयेन राज्यमाभासि** प्रकाशयसि, **तस्मात्सत्कर्त्तव्योऽसि** ॥ ३३ । ३६ ॥

भाषार्थ—हे (सूर्य) सूर्य के तुल्य विद्या के प्रकाशक राजन् ! तू—जैसे (तरणिः) सूर्य—(विश्वदर्शतः) सब से देखने योग्य, (ज्योतिष्कृत्) ज्योतियों को उत्पन्न करने वाला है; वह (रोचनम्) रुचिकर (विश्वम्) समग्र राज्य को प्रकाशित करता है; वैसा तू है । जिससे तू—न्याय और विनय से राज्य को (आभासि) प्रकाशित करता है; अतः सत्कार के योग्य है ॥ ३३ । ३६ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा

यदि राजपुरुषा विद्याप्रकाशका स्युस्तर्हि सर्वानानन्दयितुं शक्नुयुः ॥ ३३ । ३६ ॥

अलंकार है। यदि राजपुरुष विद्या के प्रकाशक हों तो, सबको आनन्दित कर सकते हैं ॥ ३३ । ३६ ॥

भा० पदार्थः—ज्योतिष्कृद्=विद्याप्रकाशकः । विश्वम्=सर्वम् ॥

भाष्यसार--१. **राजपुरुष कैसे हों**—जैसे सूर्य विश्व के लिए दर्शनीय है; ज्योतियों को उत्पन्न करने वाला है; रुचिकर समस्त राज्य को प्रकाशित करता है; वैसे—सूर्य के तुल्य प्रतापी राजा विद्या का प्रकाशक हो; न्याय और विनय से राज्य को प्रकाशित करे। सब को आनन्दित करे।

२. **अलङ्कार**—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि राजा सूर्य के समान प्रतापी हो ॥ ३३ । ३६ ॥

कुत्सः । **सूर्य्यः=ईश्वरः** । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

अथेश्वरविषयमाह ॥

अब ईश्वर के विषय में कहते हैं ॥

तत्सूर्य्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्त्तोर्विततꣳ सं जभार ।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै ॥ ३७ ॥

पदार्थः—(तत्) (सूर्यस्य) चराचरात्मनः परमेश्वरस्य (**देवत्वम्**) देवस्य भावम् (**तत्**) (**महित्वम्**) महिमानम् (**मध्या**) मध्ये । **अत्र विभक्तेराकारादेशः** (**कर्त्तोः**) कर्तुं समर्थस्य (**विततम्**) विस्तृतं कार्यं जगत् (**सम्**) (**जभार**) जहार=हरति । **अत्र हस्य भः** (**यदा**) (**इत्**) (**अयुक्त**) समाहितो भवति (**हरितः**) ह्रियन्ते पदार्था यासु ता दिशः (**सधस्थात्**) समानस्थानात् (**आत्**) अनन्तरम् (**रात्री**) रात्रीवत् (**वासः**) आच्छादनम् (**तनुते**) विस्तृणाति (**सिमस्मै**) सर्वस्मै ॥ ३७ ॥

प्रमाणार्थ—(**मध्या**) मध्ये । यहाँ विभक्ति के स्थान में 'आकार' आदेश है। (**जभार**) जहार। यहाँ 'ह' के स्थान में 'भ' आदेश है ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! जगदीश्वरोऽन्तरिक्षस्य मध्या हरितो यदा विततं च सं जभार सिमस्मै रात्री वासस्तनुते । आत्सधस्थादिदयुक्त तत्कर्त्तोः सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं यूयं विजानीत ॥ ३७ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! **जगदीश्वरोऽन्तरिक्षस्य मध्या** मध्ये **हरितः** ह्रियन्ते पदार्था यासु ता दिशः **यदा विततं** विस्तृतं कार्यं जगत् **च संजभार** जहार=हरति **सिमस्मै** सर्वस्मै **रात्री** रात्रीवद् **वासः** आच्छादनं **तनुते** विस्तृणाति; **आत्** अनन्तरं **सधस्थात्** समानस्थानात् **इदयुक्त** समाहितो भवति; **तत्कर्त्तोः** कर्तुं समर्थस्य **सूर्यस्य** चराचरात्मनः परमेश्वरस्य **देवत्वं** देवस्य भावं **तन्महित्वं** महिमानं **यूयं विजानीत** ॥ ३३ । ३७ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जगदीश्वर आकाश के (मध्या) मध्य में (हरितः) दिशाओं को और (यदा) जब (विततम्) विस्तृत कार्य जगत् को (संजभार) हरता है; और (सिमस्मै) सब के लिए (रात्री) रात्रि के तुल्य (वासः) आच्छादन को (तनुते) फैलाता है; (आत्) और (सधस्थात्) एक स्थान से (इत्) ही (अयुक्त) समाहित होता है; उस (कर्त्तोः) करने में समर्थ (सूर्यस्य) चराचर के आत्मा परमेश्वर के (देवत्वम्) देवत्व एवं उसकी (महित्वम्) महिमा को तुम जानो ॥ ३३ । ३७ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! भवन्तो येनेश्वरेण सर्वं जगद् रच्यते, ध्रियते, पाल्यते, विनाश्यते च, तमेवास्य महिमानं विदित्वा सततमेतमुपासीरन् ॥ ॥ ३३ । ३७ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! आप लोग—जो ईश्वर सब जगत् को रचता, धारण, पालन और विनाश करता है उसकी इस महिमा को जानकर सदा इसकी उपासना करो ॥ ३३ । ३७ ॥

भाष्यसार—**ईश्वर विषयक उपदेश**—जगदीश्वर-आकाश के मध्य में सब दिशाओं को एवं विस्तृत कार्य जगत् को जब हरण करता है; तब सब के लिए रात्रि के तुल्य एक आच्छादन को फैलाता है। और वह एक स्थान से ही समाहित होता है। कार्य जगत् को बनाने में समर्थ, चराचर के आत्मा परमेश्वर के देवत्व तथा महिमा को जानकर सदा उसकी उपासना करें ॥ ३३ । ३७ ॥ ●

कुत्सः । **सूर्य्यः**=ईश्वरः । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

ईश्वर विषय का फिर उपदेश किया है ॥

तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्य्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे ।
अनन्तमन्यद्रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सं भरन्ति ॥ ३८ ॥

पदार्थः—(तत्) (**मित्रस्य**) प्राणस्य (**वरुणस्य**) उदानस्य (**अभिचक्षे**) अभिपश्यति (**सूर्य्यः**) चराचरात्मा (**रूपम्**) (**कृणुते**) करोति=निर्मिमीते (**द्योः**) प्रकाशस्य (**उपस्थे**) समीपे (**अनन्तम्**) अविद्यमानो अन्तो यस्य तत् (**अन्यत्**) अस्मद्भिन्नम् (**रुशत्**) शुक्लं=शुद्धस्वरूपम् (**अस्य**) (**पाजः**) बलम् (**कृष्णम्**) निकृष्टवर्णम् (**अन्यत्**) (**हरितः**) हरणशीला दिशः (**सम्**) (**भरन्ति**) हरन्ति ॥ ३८ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! द्योरुपस्थे वर्त्तमानः सूर्य्यो मित्रस्य वरुणस्य च तद्रूपं कृणुते येन जनोऽभिचक्षे । अस्य रुशत्पाजोऽनन्तमन्यदस्ति अन्यत्कृष्णं हरितः संभरन्तीति विजानीत ॥ ३८ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे मनुष्याः ! द्योः** प्रकाशस्य **उपस्थे** समीपे **वर्त्तमानः सूर्य्यः** चराचरात्मा **मित्रस्य** प्राणस्य **वरुणस्य** उदानस्य **च तद्रूपं कृणुते** करोति=निर्मिमीते **येन जनोऽभिचक्षे** अभिपश्यति; **अस्य रुशत्** शुक्लं=शुद्धस्वरूपं **पाजः** बलम् **अनन्तम्** अविद्यमानो अन्तो यस्य तत् **अन्यद्** अस्मद्भिन्नम् **अस्ति, अन्यद्** अस्मद्भिन्नं **कृष्णं** निकृष्टवर्णं **हरितः** हरणशीला दिशः **संभरन्ति** हरन्ति **इति विजानीत** ॥ ३३ । ३८ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! (द्योः) प्रकाश के (उपस्थे) समीप में वर्त्तमान (सूर्यः) चराचर का आत्मा ईश्वर—(मित्रस्य) प्राण और (वरुणस्य) उदान के उस रूप का (कृणुते) निर्माण करता है; जिससे मनुष्य (अभिचक्षे) देखता है; (अस्य) इसका (रुशत्) शुक्ल=शुद्ध स्वरूप, (पाजः) बल, (अनन्तम्) अनन्त रूप (अन्यद्) हमसे भिन्न है; तथा—(अन्यत्) हम से भिन्न (कृष्णम्) निकृष्ट वर्ण को (हरितः) हरणशील दिशाएँ (संभरन्ति) हरण करती हैं; ऐसा तुम जानो ॥ ३३ । ३८ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यदनन्तं ब्रह्म तत्प्रकृतेर्जीवेभ्यश्चान्यदस्ति, एवं प्रकृत्याख्यं कारणं विभु वर्त्तते, तस्माद् यज्जायते तत्तत्समयं प्राप्येश्वरनियमेन विनश्यति ।

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जो अनन्त ब्रह्म है, वह प्रकृति और जीवों से भिन्न है; एवं प्रकृति नामक कारण वस्तु विभु है; उससे जो उत्पन्न होता है, वह-वह समय पाकर ईश्वर के नियम से नष्ट हो जाता है ।

यथा जीवाः प्राणोदानाभ्यां सर्वान् व्यवहारान् साध्नुवन्ति, तथैवेश्वरः स्वेनानन्तसामर्थ्येना स्योत्पत्तिस्थितिप्रलयान् करोति ।। ३३ । ३८ ।।

जैसे जीव प्राण और उदान से सब व्यवहारों को सिद्ध करते हैं; वैसे ही ईश्वर अपने अनन्त सामर्थ्य से इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करता है ।। ३३ । ३८ ।।

भा० पदार्थः—अनन्तम्=ब्रह्म । अन्यत्=प्रकृतेर्जीवेभ्यश्चान्यत् । कृष्णम्=कारणम् [प्रकृतिः] ।

भाष्यसार—**ईश्वर विषयक उपदेश**—प्रकाश के समीप में विद्यमान, चराचर का आत्मा ईश्वर—प्राण और उदान के उस रूप का निर्माण करता है; जिससे मनुष्य सब ओर देखता है । जैसे जीव प्राण और उदान से सब व्यवहारों को सिद्ध करते हैं वैसे ईश्वर अपने अनन्त सामर्थ्य से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करता है ।

इस ईश्वर का शुद्ध स्वरूप, बल तथा अनन्त आदि गुण हम से भिन्न हैं । तात्पर्य यह है कि जो अनन्त ब्रह्म है; वह प्रकृति और जीवों से भिन्न है । हमसे भिन्न निकृष्ट वर्ण (प्रकृति) को हरणशील दिशाएँ हरण कर लेती हैं; अर्थात् प्रकृति नामक कारण विभु है; उस से जो उत्पन्न होता है; वह समय पाकर ईश्वर के नियम से नष्ट हो जाता है ।। ३३ । ३८ ।। ●

जमदग्निः । **विश्वेदेवाः**=**पृथिवीसूर्यादिपदार्थाः** । बृहती । मध्यमः ।।

पुनस्तमेव विषयमाह ।।

ईश्वर विषय का फिर उपदेश किया है ।।

बण्म॒हाँ२ऽ अ॑सि॒ सूर्य्य॒ बडा॑दित्य म॒हाँ२ऽ अ॑सि ।
म॒हस्ते॑ स॒तो म॑हि॒मा प॑नस्यते॒ऽद्धा दे॑व म॒हाँ२ऽ अ॑सि ॥ ३९ ॥

पदार्थः—(**बट्**) सत्यम् (**महान्**) महत्वादिगुणविशिष्टः (**असि**) भवसि (**सूर्य**) चराचरात्मन् ! (**बट्**) अनन्तज्ञान (**आदित्य**) अविनाशिस्वरूप (**महान्**) (**असि**) (**महः**) महतः (**ते**) तव (**सतः**) सत्यस्वरूपस्य (**महिमा**) (**पनस्यते**) स्तूयते (**अद्धा**) प्रसिद्धम् (**देव**) दिव्यगुणकर्मस्वभावयुक्त ! (**महान्**) (**असि**) ।। ३९ ।।

अन्वयः—हे सूर्य्य ! यतस्त्वं बण्महानसि हे आदित्य ! यतस्त्वं बण्महानसि सतो महस्ते महिमा पनस्यते हे देव ! यतस्त्वमद्धा महानसि तस्मादस्माभिरुपास्योऽसि ।। ३९ ।।

सपदार्थान्वयः—हे **सूर्य** चराचरात्मन् ! **यतस्त्वं बट्** सत्यं **महान्** महत्वादिगुणविशिष्टः **असि** भवसि, हे **आदित्य** ! अविनाशिस्वरूप ! **यतस्त्वं बट्** अनन्तज्ञानः **महान्** महत्वादिगुणविशिष्टः **असि** भवसि; **सतः** सत्यस्वरूपस्य **महः** महतः **ते** तव **महिमा पनस्यते** स्तूयते । **हे देव** दिव्यगुणकर्मस्वभावयुक्त ! **यतस्त्वमद्धा** प्रसिद्धं **महान्** महत्वादिगुणविशिष्टः **असि** भवसि, **तस्मादस्माभिरुपास्योऽसि** भवसि ।। ३३ । ३९ ।।

भावार्थ—हे (सूर्य) चराचर के आत्मा ईश्वर ! जिससे तू—(बट्) सत्य ही (महान्) महान् है; महत्त्व आदि गुणों से युक्त (असि) है । हे (आदित्य) अविनाशी स्वरूप ईश्वर ! जिससे तू (बट्) अनन्त ज्ञान वाला तथा (महान्) महान्=महत्त्व आदि गुणों से युक्त (असि) है; (सतः) सत्य स्वरूप वाले (महतः) महान् गुणों वाले (ते) आपकी (महिमा) महिमा की (पनस्यते) स्तुति की जाती है; हे (देव) दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव

से युक्त ईश्वर ! जिससे तू (श्रद्धा) प्रसिद्ध तथा (महान्) महत्त्व आदि गुणों से युक्त (असि) है; अतः हमारे उपास्य (असि) हो ॥ ३३ । ३९ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यस्येश्वरस्य महिमानं पृथिवीसूर्यादिपदार्था ज्ञापयन्ति, यः सर्वेभ्यो महानस्ति, तं विहाय कस्याप्यन्यस्योपासना नैव कार्या ॥ ३३ । ३९ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जिस ईश्वर की महिमा को पृथिवी और सूर्य आदि पदार्थ बतला रहे हैं, जो सबसे महान् है, उसको छोड़कर किसी अन्य की उपासना मत करो ॥ ३३ । ३९ ॥

भाष्यसार—ईश्वर विषयक उपदेश—चराचर का आत्मा ईश्वर सत्य ही महान् है। अविनाशी स्वरूप वाला, अनन्त ज्ञान वाला है। सत्यस्वरूप वाले महान् ईश्वर की महिमा गाई जाती है वह दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव से युक्त है। प्रसिद्ध है। पृथिवी सूर्य आदि पदार्थ जिसकी महिमा को बतला रहे हैं। जो सबसे महान् है उसको छोड़कर किसी अन्य की उपासना मत करो ॥ ३३। ३९ ॥ ●

जमदग्निः । **सूर्यः**=ईश्वरः । भुरिक् बृहती । मध्यमः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

ईश्वर विषय का फिर उपदेश किया है ॥

बट् सूर्य्य श्रवसा महाँ२ऽ असि सत्रा देव महाँ२ऽ असि ।
मह्ना देवानामसुर्य्यः पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम् ॥ ४० ॥

पदार्थः—(**बट्**) सत्यम् (**सूर्य**) सवितृवत्सर्वप्रकाशक ! (**श्रवसा**) यशसा धनेन वा (**महान्**) (**असि**) (**सत्रा**) सत्येन (**देव**) दिव्यसुखप्रद ! (**महान्**) (**असि**) (**मह्ना**) महत्त्वेन (**देवानाम्**) पृथिव्यादीनां विदुषां वा (**असुर्य्यः**) असुभ्यः=प्राणेभ्यो हितः (**पुरोहितः**) पुरस्ताद्धितकारी (**विभु**) व्यापकम् (**ज्योतिः**) प्रकाशकं स्वरूपम् (**अदाभ्यम्**) अहिंसनीयम् ॥ ४० ॥

अन्वयः—हे बट् सूर्य्य ! यतस्त्वं श्रवसा महानसि । हे देव सत्रा महानसि यतस्त्वं देवानां पुरोहितो मह्नाऽसुर्य्यः सन्नदाभ्यं विभु ज्योतिःस्वरूपोऽसि तस्मात्सत्कर्त्तव्योऽसि ॥ ४० ॥

सपदार्थान्वयः—हे **बट्** सत्यं **सूर्य्य** सवितृवत्सर्वप्रकाशक ! **यतस्त्वं श्रवसा** यशसा धनेन वा **महानसि** ।

हे देव दिव्यसुखप्रद ! **सत्रा** सत्येन **महानसि** ।

यतस्त्वं देवानां पृथिव्यादीनां विदुषां वा **पुरोहितः** पुरस्ताद्धितकारी **मह्ना** महत्त्वेन **असुर्य्यः** असुभ्यः=प्राणेभ्यो हितः **सन्नदाभ्यम्** अहिंसनीयं **विभु** व्यापकं **ज्योतिः** प्रकाशकं **स्वरूपोऽसि तस्मा-**

भाषार्थ—हे (बट्) सत्य (सूर्य) सूर्य के तुल्य सब के प्रकाशक ईश्वर ! जिससे तू—(श्रवसा) यश वा धन से (महान्) महान् (असि) है ।

हे (देव) दिव्य सुख प्रदान करने वाले ईश्वर ! तू (सत्रा) सत्य के कारण (महान्) महान् (असि) है ।

जिससे तू—(देवानाम्) पृथिवी आदि देवों वा विद्वानों का (पुरोहितः) प्रथम से हितकारी है, तथा (मह्ना) महत्त्व के कारण (असुर्यः) असु= प्राणों के लिए हितकारी होता हुआ (अदाभ्यम्)

त्सत्कर्त्तव्योऽसि ॥ ३३ । ४० ॥

अहिंसनीय (विभु) व्यापक (ज्योतिः) प्रकाशक स्वरूप वाला है; अतः सत्कार के योग्य है ॥ ४० ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! येनेश्वरेण सर्वेषां पालनायान्नाद्युत्पादिका भूमिः, मेघ-प्रकाशकारी सूर्यो निर्मितः, स एव परमेश्वर उपासितुं योग्यो ऽस्ति ॥ ३३ । ४० ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जिस ईश्वर ने सब के पालन के लिए अन्न आदि को उत्पन्न करने वाली भूमि, मेघ और प्रकाश को उत्पन्न करने वाला सूर्य बनाया है; वही परमेश्वर उपासना करने योग्य है ॥ ३३ । ४० ॥

भा० पदार्थः—सूर्यः=मेघप्रकाशकारी सूर्यः ॥

भाष्यसार—**ईश्वर विषयक उपदेश**—सत्यस्वरूप, सूर्य के तुल्य सब का प्रकाशक ईश्वर यश वा धन के कारण महान् है। दिव्य सुख प्रदान करने वाला सत्य के कारण महान् है। वह पृथिवी आदि देवों तथा विद्वानों का प्रथम से हितकारी है। वह अपने महत्त्व से प्राणों के लिए हितकारी है। वह अहिंसनीय, व्यापक और प्रकाशक स्वरूप वाला है। उसने सब के पालन के लिए अन्न आदि को उत्पन्न करने वाली भूमि तथा मेघ और प्रकाश को उत्पन्न करने वाला सूर्य रचा है। वही परमेश्वर उपासना के योग्य है ॥ ३३ । ४० ॥

नृमेधः । **सूर्यः**=**ईश्वरः** । निचृद् बृहती । मध्यमः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

ईश्वर विषय का फिर उपदेश किया है ॥

आयन्त ऽ इव सूर्य्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत ।
वसूनि जाते जनमान ऽ ओजसा प्रति भागं न दीधिम ॥ ४१ ॥

पदार्थः—(**आयन्तइव**) समाश्रयन्तइव । **अत्र गुणे प्राप्ते व्यत्ययेन वृद्धिः** (**सूर्य्यम्**) स्वप्रकाशं सर्वात्मानं जगदीश्वरम् (**विश्वा**) सर्वाणि (**इत्**) एव (**इन्द्रस्य**) परमैश्वर्यस्य (**भक्षत**) सेवध्वम् (**वसूनि**) वस्तूनि (**जाते**) उत्पन्ने (**जनमाने**) उत्पद्यमाने । **अत्र विकरणव्यत्ययः** (**ओजसा**) सामर्थ्येन (**प्रति**) (**भागम्**) सेवनीयमंशम् (**न**) इव (**दीधिम**) प्रकाशयेम ॥ ४१ ॥

प्रमाणार्थ—(**आयन्त इव**) यहाँ गुण की प्राप्ति में व्यत्यय से वृद्धि है। (**जनमाने**) यहाँ विकरण का व्यत्यय है ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथा वयमोजसा जाते जनमाने च जगति सूर्यं आयन्तइव विश्वा वसूनि प्रति दीधिम भागं न सेवेमहि तथेदिन्द्रस्येमं यूयं भक्षत ॥ ४१ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे मनुष्याः ! यथा वयमोजसा** सामर्थ्येन **जाते** उत्पन्ने **जनमाने** उत्पद्यमाने **च जगति सूर्यं** स्वप्रकाशं सर्वात्मानं जगदीश्वरं **आयन्त इव** समाश्रयन्त इव **विश्वा** सर्वाणि **वसूनि** वस्तूनि **प्रति+दीधिम** प्रकाशयेम **भागं** सेवनीयमंशं **न** इव **सेवेमहि तथेद्** एव **इन्द्रस्य** परमैश्वर्यस्य **इमं यूयं भक्षत** सेवध्वम् ॥ ३३ । ४१ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे हम लोग (ओजसा) ईश्वर के सामर्थ्य से (जाते) उत्पन्न और (जनमाने) उत्पद्यमान जगत् में (सूर्यम्) स्वप्रकाश-स्वरूप, सबके आत्मा जगदीश्वर का (आयन्त इव) आश्रय करते हुए (विश्वा) सब (वसूनि) वस्तुओं को (प्रति+दीधिम) प्रकाशित करते हैं; तथा (भागम्) सेवनीय अंश के (न) तुल्य सेवन करते हैं;

वैसे (इत्) ही (इन्द्रस्य) परम ऐश्वर्य के इस भाग। का तुम (भक्षत) सेवन करो ॥ ३३ । ४१ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः । यदि वयं परमेश्वरं सेवमाना विद्वांस इव भवेम, तर्हीह सर्व-मैश्वर्यं लभेमहि ॥ ३३ । ४१ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमा अलङ्कार है। यदि हम परमेश्वर की सेवा करते हुए विद्वानों के तुल्य होवें तो इस संसार में सब ऐश्वर्य को प्राप्त हों ॥ ३३ । ४१ ॥

भा० पदार्थः—सूर्यम्=परमेश्वरम् । श्रायन्तः=सेवमानाः । भागम्=सर्वमैश्वर्यम् ॥

भाष्यसार—१. **ईश्वर विषयक उपदेश**—विद्वान् लोग ईश्वर के सामर्थ्य से उत्पन्न और उत्पद्यमान जगत् में स्वप्रकाश स्वरूप, सर्वात्मा जगदीश्वर का आश्रय करें और सब वस्तुओं को प्रकाशित करें। सेवन करने योग्य पदार्थ के समान परमेश्वर का सेवन करें। परम ऐश्वर्य को प्राप्त करें।

२. **अलङ्कार**—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'न' पद है; अतः उपमा अलङ्कार है। उपमा यह है कि सब मनुष्य विद्वानों के तुल्य सेवन करने योग्य वस्तु के तुल्य परमेश्वर का सेवन करें ॥ ३३ । ४१ ॥ ●

कुत्सः । **सूर्यः=विद्वान्** । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

विद्वांसः कीदृशाः स्युरित्याह ॥

विद्वान् लोग कैसे हों, यह उपदेश किया है ॥

अ॒द्या दे॑वा॒ ऽ उदि॑ता॒ सूर्य॑स्य॒ निरꣳह॑सः पिपृ॒ता निर॑व॒द्यात् ।
तन्नो॑ मि॒त्रो वरु॑णो मामहन्ता॒मदि॑ति॒ः सिन्धु॑ः पृथि॒वी ऽ उ॒त द्यौः ॥ ४२ ॥

पदार्थः—(**अद्य**) अत्र निपातस्य चेति दीर्घः (**देवाः**) विद्वांसः (**उदिता**) उदिते । अत्राऽऽकारादेशः (**सूर्य्यस्य**) सवितुः (**निः**) नितराम् (**अंहसः**) अपराधात् (**पिपृत**) व्याप्नुत । अत्र संहितायामिति दीर्घः । (**निः**) नितराम् (**अवद्यात्**) निन्द्यात् दुःखात् (**तत्**) तस्मात् (**नः**) अस्मान् (**मित्रः**) सुहृत् (**वरुणः**) श्रेष्ठः (**मामहन्ताम्**) सत्कुर्वन्तु (**अदितिः**) अन्तरिक्षम् (**सिन्धुः**) सागरः (**पृथिवी**) भूमिः (**उत**) अपि (**द्यौः**) प्रकाशः ॥ ४२ ॥

प्रमाणार्थ—(**अद्य**) यहाँ 'निपातस्य च' (६ । ३ । १३६) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—'अद्या'। (**उदिता**) (उदिते) यहाँ विभक्ति के स्थान में आकार आदेश है। (**पिपृत**) यहाँ 'संहितायाम्' (६ । ३ । ११४) से संहिता में दीर्घ है—'पिपृता' ॥

अन्वयः—हे देवा विद्वांसो यूयं यतः सूर्यस्योदिताऽद्यांहसो नो निष्पिपृतावद्याच्च निष्पिपृत तन्मित्रो वरुणोऽदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौरस्मान् मामहन्ताम् ॥ ४२ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे देवाः=विद्वांसः! यूयं—यतः सूर्यस्य** सवितुः **उदिता** उदिते **अद्यांहसः** अपराधात् **नः** अस्मान् **निः+पिपृत** नितरां व्याप्नुत; **अवद्यात्** निन्द्यात् दुःखात् **च निः+पिपृत** नितरां व्याप्नुत, **तत्** तस्मात् **मित्रः** सुहृत् **वरुणः** श्रेष्ठः

भाषार्थ—हे (देवाः) विद्वानो! तुम—जिससे (सूर्यस्य) सूर्य के (उदिते) उदय होने पर (अद्य) आज (अंहसः) अपराध से (नः) हमें (निः+पिपृत) सर्वथा दूर करते हो; और (अवद्यात्) निन्दनीय दुःख से (निः+पिपृत) सर्वथा

अदितिः अन्तरिक्षं **सिन्धुः** सागरः **पृथिवी** भूमिः **उत** अपि **द्यौः** प्रकाशः [**नः**]=**अस्मान् मामहन्तां** सत्कुर्वन्तु ॥ ३३ । ४२ ॥

दूर रखते हो; (ततः) अतः (मित्रः) मित्र, (वरुणः) श्रेष्ठ जन, (अदितिः) आकाश, (सिन्धुः) सागर, (पृथिवी) भूमि (उत) और (द्यौः) प्रकाश—[नः] हमारा (मामहन्ताम्) सत्कार करते हैं ॥ ३३ । ४२ ॥

भावार्थः—ये विद्वांसो मनुष्या प्राणादिवत् सर्वान् सुखयन्ति, अपराधाद् दूरे रक्षन्ति, ते जगद्भूषकाः सन्ति ॥ ३३ ॥ ४२ ॥

भावार्थ—जो विद्वान् मनुष्य—प्राण आदि के समान सब को सुख देते हैं; अपराध से दूर रखते हैं; वे जगत् के भूषक हैं ॥ ३३ । ४२ ॥

भा० पदार्थः—निष्पिपृत=दूरे रक्षन्ति । मामहन्ताम्=भूषकाः सन्ति ।

भाष्यसार—**विद्वान् कैसे हों**—विद्वान् लोग सूर्य के उदय होने पर मनुष्यों को अपराध से दूर करें । निन्दनीय दुःख से दूर करें जिससे उन्हें मित्र, श्रेष्ठ जन, आकाश, सागर, भूमि और प्रकाश सत्कृत करें । इस प्रकार विद्वान् लोग जगत् के भूषक हों ॥ ३३ । ४२ ॥ ●

हिरण्यस्तूपः । **सूर्य्यः=सूर्यमण्डलम्** । विराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

अथ सूर्य्यमण्डलं कीदृशमित्याह ॥

अब सूर्य्य मण्डल कैसा है, यह उपदेश किया जाता है ॥

आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च ।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥ ४३ ॥

पदार्थः—(**आ**) समन्तात् (**कृष्णेन**) कर्षणेन (**रजसा**) लोकसमूहेन सह (**वर्त्तमानः**) (**निवेशयन्**) स्वस्वप्रदेशेषु स्थापयन् (**अमृतम्**) उदकममरणधर्मकमाकाशादिकं वा । **अमृतमित्युदकना० ॥ निघं० १ । १२ ॥** (**मर्त्यम्**) मनुष्यादिप्राणिजातम् (**च**) (**हिरण्ययेन**) ज्योतिर्मयेन (**सविता**) सूर्य्यः (**रथेन**) रमणीयेन स्वरूपेण (**आ**) (**देवः**) प्रकाशमानः (**याति**) गच्छति (**भुवनानि**) (**पश्यन्**) दर्शयन् । **अत्रान्तर्गतो ण्यर्थः** ॥ ४३ ॥

प्रमाणार्थ—(**अमृतम्**) उदकम् । 'अमृत' यह पद निघण्टु (१ । १२) में उदक-नामों में पठित है—उदक=जल । (**पश्यन्**) दर्शयन् । यहाँ णिच् का अर्थ अन्तर्गत है ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यो हिरण्ययेन रथेन कृष्णेन रजसा सह वर्त्तमानो भुवनानि पश्यन् देवः सविताऽमृतं मर्त्यं च निवेशयन्नायाति स ईश्वरनिर्मितः सूर्य्यो लोकोऽस्ति ॥ ४३ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे मनुष्याः ! यो हिरण्येन** ज्योतिर्मयेन **रथेन** रमणीयेन स्वरूपेण **कृष्णेन** कर्षणेन **रजसा** लोकसमूहेन **सह वर्त्तमानो भुवनानि पश्यन्** दर्शयन् **देवः** प्रकाशमानः **सविता** सूर्य्यः **अमृतम्** उदकममरणधर्मकमाकाशादिकं वा **मर्त्यं** मनुष्यादिप्राणिजातं **च निवेशयन्** स्वस्वप्रदेशेषु स्थापयन् **आ+याति** समन्ताद् गच्छति; **स**

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जो (हिरण्येन) ज्योतिर्मय (रथेन) रमणीय स्वरूप तथा (कृष्णेन) आकर्षण से (रजसा) लोक-समूह के साथ वर्तमान होकर (भुवनानि) लोकों को (पश्यन्) दिखलाता हुआ (देवः) प्रकाशमान (सविता) सूर्य—(अमृतम्) उदक=जल अथवा मरण धर्म से रहित आकाश आदि और (मर्त्यम्) मनुष्य आदि प्राणियों को

ईश्वरनिर्मितः सूर्य्यो लोकोऽस्ति ॥ ३३ । ४३ ॥

(निवेशयन्) अपने-अपने प्रदेशों में स्थापित करता हुआ (आ+याति) सब ओर गति करता है; वह ईश्वर का बनाया हुआ-सूर्य लोक है ॥ ३३ । ४३ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यथा एतद्-भूगोलाद्यैर्लोकैः सह तस्य सूर्यस्याकर्षणं, यो वृष्टि-द्वारा अमृतात्मकमुदकं वर्षयति, यश्च सर्वेषां मूर्तद्रव्याणां दर्शयिताऽस्ति, तथा सूर्यादयोऽपीश्वरा-कर्षणेन ध्रियन्त इति वेद्यम् ॥ ३३ । ४३ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे इन भूगोल आदि लोकों के साथ उस सूर्य का आकर्षण है; जो वर्षा के द्वारा अमृतात्मक जल बरसाता है; और जो सब मूर्त्त द्रव्यों का प्रकाशक है; वैसे सूर्य आदि भी ईश्वर के आकर्षण से धारण किये जाते हैं; ऐसा जानो ॥ ३३ । ४३ ॥

भा० पदार्थः—रजसा=भूगोलाद्यैर्लोकैः सह । कृष्णेन=आकर्षणेन । अमृतम्=अमृता-त्मकमुदकम् । भुवनानि=मूर्त्तद्रव्याणि ॥

अन्यत्र व्याख्यात—[क]—जो सविता अर्थात् सूर्य वर्षादि का कर्ता, प्रकाशस्वरूप तेजोमय, रमणीय, स्वरूप के साथ वर्तमान, सब प्राणी अप्राणियों में अमृतरूप वृष्टि का किरण द्वारा अमृत का प्रवेश करा और मूर्त्तिमान् द्रव्यों को दिखलाता हुआ सब लोकों के साथ आकर्षण गुण से सह वर्तमान होकर अपनी परिधि में घूमता रहता है; किन्तु किसी लोक के चारों ओर नहीं घूमता, वैसे ही एक-एक ब्रह्माण्ड में एक सूर्य्य प्रकाशक और दूसरे सब लोक लोकान्तर प्रकाश्य हैं ।

(सत्यार्थप्रकाश, अष्टमसमुल्लास) ॥

[ख] (आकृष्णेन०) अभि० । इस मन्त्र में भी आकर्षण विद्या है । सविता जो परमात्मा वायु और सूर्यलोक हैं वे सब लोकों के साथ आकर्षण धारण गुण से सहित वर्तते हैं, सो हिरण्यय अर्थात् अनन्त बल, ज्ञान और तेज से सहित (रथेन) आनन्दपूर्वक क्रीड़ा करने के योग्य ज्ञान और तेज से युक्त हैं इसमें परमेश्वर सब जीवों के हृदयों में अमृत अर्थात् सत्य विज्ञान को सदैव प्रकाश करता है, और सूर्य-लोक भी रस आदि पदार्थों को मर्त्य अर्थात् मनुष्य-लोक में प्रवेश करता और सब लोकों को व्यवस्था से अपने-अपने स्थान में रखता है, वैसे ही परमेश्वर धर्मात्मा ज्ञानी लोगों को अमृतरूप मोक्ष देता और सूर्य-लोक भी रसयुक्त जो ओषधि और वृष्टि का अमृतरूप जल को पृथिवी में प्रविष्ट करता है। सो परमेश्वर सत्य असत्य का प्रकाश और सब लोकों का प्रकाश करके सब को जनाता है, तथा सूर्य लोक भी रूपादि का विभाग दिखलाता है । (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, प्रकाश्याप्रकाश्यविषयः) ॥

भाष्यसार—**सूर्यमण्डल कैसा है**—ज्योतिर्मय रमणीय स्वरूप तथा आकर्षण के द्वारा लोक-समूह के साथ वर्तमान, भुवनों को प्रकाशित करने वाला, स्वयं प्रकाशमान, जल अथवा मरण धर्म से रहित आकाश आदि और मनुष्य आदि प्राणियों को अपने-अपने प्रदेशों में स्थापित करने वाला, सूर्य-लोक सब ओर गति करता है । यह सूर्य-लोक ईश्वरकृत है । भूगोल आदि लोकों के साथ इसका आकर्षण है । यह वर्षा के द्वारा अमृतात्मक जल को बरसाता है । सब मूर्त्त द्रव्यों को प्रकाशित करता है । ईश्वर के आकर्षण से इन सूर्य आदि का धारण होता है ॥ ३३ । ४३ ॥

वसिष्ठः । **वायुः**=पवनः । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

अथ वायुसूर्य्यौ कीदृशावित्याह ॥

अब वायु और सूर्य्य कैसे हैं, यह उपदेश किया जाता है ॥

प्र वा॑वृजे सुप्र॒या ब॒र्हिरे॑षा॒मा वि॒श्पती॑व॒ बीरि॑ट ऽ इयाते ।
वि॒शाम॒क्तोरु॒षसः॑ पू॒र्वहू॑तौ वा॒युः पू॒षा स्व॒स्तये॑ नि॒युत्वा॑न् ॥ ४४ ॥

पदार्थः—(**प्र**) (**वावृजे**) व्रजति=गच्छति (**सुप्रयाः**) सुष्ठु प्रयः=प्रगमनमस्य सः (**बर्हिः**) उदकम् (**एषाम्**) मनुष्याणाम् (**आ**) (**विश्पतीव**) प्रजापालकाविव (**वीरिटे**) अन्तरिक्षे (**इयाते**) गच्छतः (**विशाम्**) प्रजानां मध्ये (**अक्तोः**) रात्रेः (**उषसः**) दिवसस्य (**पूर्वहूतौ**) पूर्वैः शब्दितौ (**वायुः**) पवनः (**पूषा**) सूर्यः (**स्वस्तये**) सुखाय (**नियुत्वान्**) नियुतोऽश्वा आशुकारिणो वेगादिगुणा यस्य सः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथा पूर्वहूतौ सुप्रया नियुत्वान् वायुः पूषा चैषां स्वस्तये प्रवावृजे विशां विश्पतीव वीरिटे बर्हिरा इयाते तथाक्तोरुषसश्च बर्हिः प्राप्नुतः ॥ ४४ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **मनुष्याः** ! **यथा पूर्वहूतौ** पूर्वैः शब्दितौ **सुप्रयाः** सुष्ठु प्रयः=प्रगमनमस्य स **नियुत्वान्** नियुतोऽश्वा आशुकारिणो वेगादिगुणा यस्य स **वायुः** पवनः **पूषा** सूर्यः **चैषां** मनुष्याणां **स्वस्तये** सुखाय **प्रवावृजे** व्रजति=गच्छति; **विशां** प्रजानां मध्ये **विश्पतीव** प्रजापालकाविव **वीरिटे** अन्तरिक्षे **बर्हिः** उदकम् **आ+इयाते** गच्छतः, **तथाक्तोः** रात्रेः **उषसः** दिवसस्य **च बर्हिः** उदकं **प्राप्नुतः** ॥ ३३ । ४४ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे (पूर्वहूतौ) पूर्वजों से बतलाये हुए (सुप्रयाः) उत्तम गति वाले, (नियुत्वान्) वेग आदि गुणों वाले (वायुः) पवन और (पूषा) सूर्य (एषाम्) इन मनुष्यों के (स्वस्तये) सुख के लिए (प्रवावृजे) गति करते हैं; (विशाम्) प्रजा के मध्य में (विश्पतीव) प्रजापालक राजा के समान (वीरिटे) आकाश में (बर्हिः) जल को (आ+इयाते) सब ओर चलाते हैं; वैसे (अक्तोः) रात्रि और (उषसः) दिन के (बर्हिः) जल को प्राप्त करते हैं ॥ ३३ । ४४ ॥

भावार्थः — अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ । हे मनुष्याः ! यौ वायुसूर्यौ न्यायकारी राजेव पालकौ स्तः, तावीश्वरनिर्मितौ वर्त्तेते इति बोध्यम् ॥ ३३ । ४४ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमा और वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । हे मनुष्यो ! जो वायु और सूर्य न्यायकारी राजा के समान पालक हैं; वे दोनों ईश्वर के बनाये हुए हैं; ऐसा जानो ॥ ३३ । ४४ ॥

भाष्यसार—१. **वायु और सूर्य कैसे हैं**—पूर्वजों से बतलाए हुए, उत्तम गति वाले, अश्व के समान वेग आदि गुणों वाले, वायु और सूर्य हैं । जो मनुष्यों के सुख के लिए गति करते हैं । प्रजा के मध्य में वर्त्तमान न्यायकारी राजा के समान प्रजा के पालक हैं । आकाश में जल को सब ओर से प्राप्त होते हैं । रात्रि और दिन के जल को भी प्राप्त होते हैं । ये वायु और सूर्य ईश्वरकृत हैं ।

२. **अलङ्कार**—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त हैं; अतः वाचक लुप्तोपमा अलङ्कार है । उपमा यह है कि वायु और सूर्य न्यायकारी राजा के समान प्रजा के पालक हैं ॥ ३३ । ४४ ॥ ●

मेधातिथिः । **इन्द्रवायू**=**विद्युत्पवनौ** । गायत्री । षड्जः ॥

मनुष्या विद्युदादिपदार्थान् विज्ञाय किं कुर्युरित्याह ॥

मनुष्य विद्युत् आदि पदार्थों को जान के क्या करें, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

इन्द्रवायू बृहस्पतिं मित्राग्निं पूषणं भगम् । आदित्यान्मारुतं गणम् ॥ ४५ ॥

पदार्थः—(**इन्द्रवायू**) विद्युत्पवनौ (**बृहस्पतिम्**) बृहतां पालकं सूर्य्यम् (**मित्रा**) मित्रं=प्राणम् । अत्र विभक्तेराकारादेशः (**अग्निम्**) पावकम् (**पूषणम्**) पुष्टिकरम् (**भगम्**) ऐश्वर्यम् (**आदित्यान्**) द्वादशमासान् (**मारुतम्**) मरुत्सम्बन्धिनम् (**गणम्**) समूहम् ॥ ४५ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथा वयमिन्द्रवायू बृहस्पतिं मित्राग्निं पूषणं भगमादित्यान् मारुतं गणं विज्ञायोपयुञ्जीमहि तथा यूयमपि प्रयुङ्ग्ध्वम् ॥ ४५ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! यथा वयमिन्द्रवायू विद्युत्पवनौ **बृहस्पतिं** बृहतां पालकं सूर्यं **मित्रा** मित्रं=प्राणम् **अग्निं** पावकं **पूषणं** पुष्टिकरं **भगम्** ऐश्वर्यम् **आदित्यान्** द्वादशमासान् **मारुतं** मरुत्सम्बन्धिनं **गणं** समूहं **विज्ञायोपयुञ्जीमहि, तथा यूयमपि प्रयुङ्ग्ध्वम्** ॥ ३३ । ४५ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे हम लोग—(इन्द्रवायू) विद्युत् और पवन, (बृहस्पतिम्) बड़ों के पालक सूर्य, (मित्रा) मित्र=प्राण, (अग्निम्) पावक=अग्नि, (पूषणम्) पुष्टिकारक (भगम्) ऐश्वर्य, (आदित्यान्) बारह मास, (मारुतम्) मरुत्=वायु सम्बन्धी (गणम्) गण को जानकर उपयोग करते हैं; वैसे तुम भी इनका प्रयोग करो ॥ ३३ । ४५ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । मनुष्यैः सृष्टिस्थान् विद्युदादीन् पदार्थान् विज्ञाय, संयुज्य, कार्याणि साधनीयानि ॥ ३३ । ४५ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमा और वाचक लुप्तोपमा अलंकार हैं । मनुष्य सृष्टि के विद्युत् आदि पदार्थों को जानकर, उन्हें संयुक्त करके कार्यों को सिद्ध करें ॥ ३३ । ४५ ॥

भाष्यसार—१. **मनुष्य विद्युत् आदि पदार्थों को जानकर क्या करें**—विद्वान् लोग विद्युत्, वायु, सूर्य, प्राण, अग्नि, पुष्टिकारक ऐश्वर्य, आदित्य अर्थात् बारह मास और वायु सम्बन्धी गण को जानकर तथा उन्हें संयुक्त करके कार्यों को सिद्ध करें ।

२. **अलंकार**—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । उपमा यह है कि विद्वानों के समान सब मनुष्य विद्युत् आदि पदार्थों को जानकर उन से कार्यों को सिद्ध करें ॥ ३३ । ४५ ॥

मेधातिथिः । **वरुणः=विद्वान्** । गायत्री । षड्जः ॥

पुनरध्यापकोपदेशकौ कीदृशावित्याह ॥

अध्यापक और उपदेशक कैसे हों, यह फिर उपदेश किया जाता है ॥

वरुणः प्राविता भुवन्मित्रो विश्वाभिरूतिभिः । करतां नः सुराधसः ॥ ४६ ॥

पदार्थः—(**वरुणः**) उदान इवोत्तमो विद्वान् (**प्राविता**) रक्षकः (**भुवत्**) भवेत् (**मित्रः**) शरण इव प्रियः सखा (**विश्वाभिः**) समग्राभिः (**ऊतिभिः**) रक्षादिक्रियाभिः (**करताम्**) कुर्याताम् (**नः**) अस्मान् (**सुराधसः**) सुष्ठुधनयुक्तान् ॥ ४६ ॥

अन्वयः—हे अध्यापकोपदेशकौ विद्वांसौ ! यथा वरुणो मित्रश्च विश्वाभिरूतिभिः प्राविता भुवत् तथा भवन्तौ नः सुराधसः करताम् ॥ ४६ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **अध्यापकोपदेशकौ विद्वांसौ ! यथा वरुणः** उदान इवोत्तमो विद्वान् **मित्रः** शरण इव प्रियः सखा **च विश्वाभिः** समग्राभिः **ऊतिभिः** रक्षादिक्रियाभिः **प्राविता** रक्षकः **भुवत्** भवेत्, **तथा भवन्तौ नः** अस्मान् **सुराधसः** सुष्ठुधनयुक्तान् **करतां** कुर्याताम् ॥ ३३ । ४६ ॥

भाषार्थ—हे अध्यापक और उपदेशक विद्वानो ! जैसे (वरुणः) उदान के समान उत्तम विद्वान् और (मित्रः) शरण के समान प्रिय मित्र (विश्वाभिः) सब (ऊतिभिः) रक्षा आदि क्रियाओं से (प्राविता) रक्षक (भुवत्) होता है; वैसे—आप लोग (नः) हमें (सुराधसः) उत्तम धन से युक्त (करताम्) करो ॥ ३३ । ४६ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । येऽध्यापकोपदेशकाः प्राणवत् सर्वेषु प्रीता, उदानवच्छरीरात्मबलप्रदाः स्युः, त एव सर्वेषां रक्षकाः, सर्वानाढ्यान् कर्त्तुं शक्नुयुः ॥ ३३ । ४६ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । जो अध्यापक और उपदेशक—प्राण के समान सब में प्रीति वाले, उदान के समान शरीर और आत्मा को बल प्रदान करने वाले होते हैं; वे ही सब के रक्षक होकर सब को धनवान् बना सकते हैं ॥ ३३ । ४६ ॥

भा० पदार्थः—वरुणः=अध्यापक उपदेशको वा उदानवच्छरीरात्मबलप्रदः । मित्रः=प्राणवत् सर्वेषु प्रीतः । सुराधसः=आढ्यान् । करताम्=कर्त्तुं शक्नुयाताम् ।

भाष्यसार—१. **अध्यापक और उपदेशक कैसे हैं**—अध्यापक और उपदेशक विद्वान्—जैसे—उदान के समान उत्तम विद्वान् और मित्र जन सब रक्षा आदि क्रियाओं से रक्षक बनता है, वैसे सब मनुष्यों की रक्षा करें; उन्हें उत्तम धन से युक्त करें । प्राण के तुल्य सब में प्रीति रखें, उदान के समान शरीर और आत्मा को बल प्रदान करने वाले हों ।

२. **अलङ्कार**—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । उपमा यह है कि एक उत्तम विद्वान् (वरुण) के तुल्य अध्यापक और उपदेशक लोग सब मनुष्यों की रक्षा करें तथा उन्हें आढ्य बनावें ॥ ३३ । ४६ ॥ ●

कुत्सीदिः । **विश्वेदेवाः**=विद्वांसः । निचृत्पिपीलिकामध्या गायत्री । षड्जः ॥

पुनर्मनुष्यैः किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

फिर मनुष्यों को क्या करना चाहिए, यह उपदेश किया है ॥

अधि न इन्द्रैषां विष्णो सजात्यानाम् । इता मरुतो ऽ अश्विना ।
*** तं प्रत्नथा । अयं वेनः । ये देवासः । आ न ऽ इडाभिः ।**
विश्वेभिः सोम्यं मधु । ओमासश्चर्षणीधृतः । ॥ ४७ ॥

पदार्थः—(**अधि**) उपरिभावे (**नः**) अस्माकम् (**इन्द्र**) परमैश्वर्यप्रद विद्वन् ! (**एषाम्**) वर्त्तमानानाम् (**विष्णो**) व्यापकपरमात्मन् ! (**सजात्यानाम्**) अस्मद्विधानाम् (**इत**) प्राप्नुत । **अत्र द्व्यचोतस्तिङ इति दीर्घः** (**मरुतः**) मनुष्याः (**अश्विना**) अध्यापकोपदेशकौ ॥ ४७ ॥

* इस मन्त्र के आगे पूर्व अ० ७ । मं० १२ । १६ । १९ । अ० ३३ । मं० ३४ । १० अ० ७ । मं० ३३ । इस क्रम पूर्वक ठिकाने में व्याख्यात हो चुके हैं । यहाँ कर्मकाण्ड विशेष के लिए प्रतीकें दी हैं ॥

प्रमाणार्थ—(इत) प्राप्नुत । यहाँ 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (६ । ३ । १३५) से संहिता में दीर्घ है—'इता' ।।

अन्वयः—हे इन्द्र हे विष्णो हे मरुतः हे अश्विना ! यूयं सजात्यानामेषां नो मध्येऽधिस्वामित्वमित ।। ४७ ।।

सपदार्थान्वयः—हे इन्द्र परमैश्वर्यप्रद विद्वन् ! हे **विष्णो** व्यापकपरमात्मन् ! **हे मरुतः** मनुष्याः ! हे **अश्विना** अध्यापकोपदेशकौ! **यूयं सजात्यानाम्** अस्मद्विधानाम् **एषां** वर्त्तमानानां **नः** अस्माकं **मध्येऽधि स्वामित्वमित** प्राप्नुत ।। ३३ । ४७ ।।

भाषार्थ—हे (इन्द्र) परम ऐश्वर्य को प्रदान करने वाले विद्वान् ! हे (विष्णो) व्यापक परमात्मन् ! हे (मरुतः) मनुष्यो ! हे (अश्विना) अध्यापक और उपदेशको ! तुम—(सजात्यानाम्) हमारे तुल्य (एषाम्) इन मनुष्यों के तथा (नः) हमारे मध्य में (अधि) स्वामित्व को (इत) प्राप्त करो ।। ३३ । ४७ ।।

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। ये विद्वांसः ईश्वरवदस्मासु वर्त्तेरंस्तेषु वयं तथैव वर्त्तेमहि ।। ३३ । ४७ ।।

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। जो विद्वान्—ईश्वर के तुल्य हमारे मध्य में वर्त्ताव करते हैं; उनमें हम वैसा ही वर्त्ताव करें ।। ३३ । ४७ ।।

भा० पदार्थः—इन्द्रः=विद्वान् । विष्णो=ईश्वरवद् विद्वान् । नः=अस्मासु । इत=वर्त्तेरन् ।।

भाष्यसार—**१. मनुष्य क्या करें**—मनुष्य इस प्रकार प्रार्थना करें—हे परम ऐश्वर्य को प्रदान करने वाले विद्वान् ! व्यापक परमात्मन् ! हे मनुष्यो ! तथा हे अध्यापक और उपदेशक ! तुम सब—हमारे जैसे लोगों के मध्य में स्वामी बनो। विद्वान् मनुष्य ईश्वर के तुल्य मनुष्यों में वर्त्ताव करें। मनुष्य भी उनमें वैसा ही व्यवहार करें।

२. अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि विद्वान् मनुष्य सब ईश्वर के तुल्य वर्त्ताव करें ।। ३३ । ४७ ।। ●

प्रतिक्षत्रः । **विश्वेदेवाः=विद्वांसः** । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ।।

पुनस्तमेव विषयमाह ।।

मनुष्यों को क्या करना चाहिए, यह फिर उपदेश किया है ।।

अग्न ऽ इन्द्र वरुण मित्र देवाः शर्द्धः प्र यन्त मारुतोत विष्णो ।
उभा नासत्या रुद्रो ऽ अध ग्नाः पूषा भगः सरस्वती जुषन्त ।। ४८ ।।

पदार्थः—(**अग्ने**) विद्याप्रकाशकः (**इन्द्रः**) महैश्वर्ययुक्त (**वरुण**) अतिश्रेष्ठ (**मित्र**) सुहृत् (**देवाः**) विद्वांसः (**शर्द्धः**) शरीरात्मबलम् (**प्र**) (**यन्त**) प्रयच्छत । अत्र शपो लुक् (**मारुत**) मनुष्याणां मध्ये वर्त्तमान (**उत**) अपि (**विष्णो**) व्यापनशील (**उभा**) द्वौ (**नासत्या**) अविद्यमानासत्यस्वरूपावध्यापकोपदेशकौ (**रुद्रः**) दुष्टानां रोदयिता (**अध**) अथ (**ग्नाः**) सुशिक्षिता वाचः (**पूषा**) पोषकः (**भगः**) ऐश्वर्यवान् (**सरस्वती**) प्रशस्तज्ञानयुक्ता स्त्री (**जुषन्त**) सेवन्ताम् । अत्राडभावः ।। ४८ ।।

अन्वयः—हे अग्ने इन्द्र वरुण मित्र मारुतोत विष्णो ! देवा यूयमस्मभ्यं शर्द्धः प्रयन्त/ उभा नासत्या रुद्रो ग्नाः पूषा भगोऽध सरस्वती चाऽस्माञ्जुषन्त ।। ४८ ।।

सपदार्थान्वयः—हे **अग्ने** विद्याप्रकाशक ! **इन्द्र** महैश्वर्ययुक्त ! **वरुण** अतिश्रेष्ठ ! **मित्र** सुहृत् ! **मारुत** मनुष्याणां मध्ये वर्त्तमान ! **उत** अपि **विष्णो** व्यापनशील ! **देवाः** विद्वांसः **यूयमस्मभ्यं शर्द्धः** शरीरात्मबलं **प्रयन्त** प्रयच्छत ।

उभा द्वौ **नासत्या** अविद्यमानासत्यस्वरूपावध्यापकोपदेशकौ **रुद्रः** दुष्टानां रोदयिता **ग्नाः** सुशिक्षिता वाचः **पूषा** पोषकः **भगः** ऐश्वर्यवान् **अध** अथ **सरस्वती** प्रशस्तज्ञानयुक्ता स्त्री **चाऽस्माञ्जुषन्त** सेवन्ताम् ।। ३३ । ४८ ।।

भावार्थः—मनुष्यैर्विदुषां सेवनेन विद्यासुशिक्षे गृहीत्वाऽन्येऽपि विद्वांसः कार्याः ।।३३।४८।।

भाषार्थ—हे (अग्ने) विद्या के प्रकाशक विद्वान् ! (इन्द्र) महान् ऐश्वर्य से युक्त राजन् ! (वरुण) अति श्रेष्ठ जन ! (मित्र) मित्र (मारुत) मनुष्यों के मध्य में वर्तमान प्रधान पुरुष ! (उत) और (विष्णो) विद्या में व्याप्त (देवाः) विद्वानो ! तुम—हमारे लिए (शर्द्धः) शरीर और आत्मा का बल (प्रयन्त) प्रदान करो ।

(उभा) दोनों (नासत्या) असत्य स्वरूप से रहित अध्यापक और उपदेशक, (रुद्रः) दुष्टों को रुलाने वाला रुद्र, (ग्नाः) सुशिक्षित वाणियाँ, (पूषा) पोषक, (भगः) ऐश्वर्यवान् (अध) और (सरस्वती) प्रशस्त ज्ञान से युक्त स्त्री हमारी (जुषन्त) सेवा करें ।। ३३ । ४८ ।।

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों की सेवा से विद्या और सुशिक्षा को ग्रहण करके अन्यों को भी विद्वान् बनावें ।। ३३ । ४८ ।।

भा० पदार्थः—ग्नाः=विद्या । सरस्वती= सुशिक्षा ।

भाष्यसार—**मनुष्य क्या करें**—मनुष्य इस प्रकार प्रार्थना करें—हे विद्या के प्रकाशक, महान् ऐश्वर्य से युक्त, अतिश्रेष्ठ, मित्र, मनुष्यों के मध्य में वर्त्तमान और विद्या में व्याप्त विद्वानो ! तुम—हमारे लिए शरीर और आत्मा का बल प्रदान करो । असत्य से रहित अध्यापक और उपदेशक, दुष्टों को रुलाने वाला रुद्र, सुशिक्षित वाणियाँ, पोषक ऐश्वर्यवान् जन और प्रशस्त ज्ञान से युक्त स्त्री हमारी सेवा करें; अर्थात् हमें उत्तम शिक्षा करें । मनुष्य विद्वानों की सेवा से विद्या और सुशिक्षा को ग्रहण करके अन्यों को भी विद्वान् बनावें ।। ३३ । ४८ ।। ●

वत्सारः । **विश्वेदेवाः=अध्यापकाध्येतारः** । निचृज्जगती । निषादः ।।

अध्यापकाऽध्येतारः किं कुर्युरित्याह ।।

अध्यापक और अध्येता लोग क्या करें, यह उपदेश किया है ।।

इन्द्राग्नी मित्रावरुणादितिꣳ स्वः पृथिवीं द्यां मरुतः पर्वताँ२ऽ अपः ।
हुवे विष्णुं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं भगं नु शꣳसꣳ सवितारमूतये ॥ ४९ ॥

पदार्थः—(**इन्द्राग्नी**) संयुक्तौ विद्युदग्नी (**मित्रावरुणा**) मिलितौ प्राणोदानौ (**अदितिम्**) अन्तरिक्षम् (**स्वः**) सुखम् (**पृथिवीम्**) भूमिम् (**द्याम्**) सूर्यम् (**मरुतः**) मननशीलान्मनुष्यान् (**पर्वतान्**) मेघान् शैलान् वा (**अपः**) जलानि (**हुवे**) स्तुयाम् (**विष्णुम्**) व्यापकम् (**पूषणम्**) पुष्टिकर्त्तारम्

(**ब्रह्मणस्पतिम्**) ब्रह्माण्डस्य वेदस्य वा पालकम् (**भगम्**) ऐश्वर्य्यकारकं राजानम् (**ऊतये**) रक्षणाद्याय ।। ४६ ।।

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथाहमूतय इन्द्राग्नी मित्रावरुणादितिं पृथिवीं द्यां मरुतः पर्वतानपो विष्णुं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं भगं शंसं सवितारं स्वर्नु हुवे तथैतान् यूयमपि प्रशंसत ।। ४६ ।।

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! **यथा**-**हमूतये** रक्षणाद्याय **इन्द्राग्नी** संयुक्तौ विद्युदग्नी **मित्रावरुणा** मिलितौ प्राणोदानौ **अदितिम्** अन्तरिक्षं **पृथिवीं** भूमिं **द्यां** सूर्यं **मरुतः** मननशीलान्मनुष्यान् **पर्वतान्** मेघान् शैलान् वा **अपः** जलानि **विष्णुं** व्यापकं **पूषणं** पुष्टिकर्त्तारं **ब्रह्मणस्पतिं** ब्रह्माण्डस्य वेदस्य वा पालकं **भगम्** ऐश्वर्यकारकं राजानं **शंसं सवितारं स्वः** सुखं **नु हुवे** स्तुयाम् **तथैतान् यूयमपि प्रशंसत** ।। ३३ । ४६ ।।

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे मैं अध्यापक—(ऊतये) रक्षा आदि के लिए (इन्द्राग्नी) संयुक्त विद्युत् और अग्नि, (मित्रावरुणौ) मिश्रित प्राण और उदान, (अदितिम्) आकाश, (पृथिवीम्) भूमि, (द्याम्) सूर्य (मरुतः) मननशील मनुष्य, (अपः) जल (विष्णुम्) व्यापक (पूषणम्) पुष्टिकर्त्ता (ब्रह्मणस्पतिम्) ब्रह्माण्ड वा वेद के पालक ईश्वर (भगम्) ऐश्वर्य को उत्पन्न करने वाले राजा, (शंसम्) प्रशंसा के योग्य (सवितारम्) जगत् के उत्पादक और (स्वः) सुख की (नु) निश्चय से (हुवे) स्तुति करता हूँ; वैसे इन की तुम भी स्तुति करो ।। ३३ । ४६ ।।

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । अध्यापकाध्येतृभिः प्रकृतिमारभ्य भूमिपर्यन्ताः पदार्था रक्षणाद्याय विज्ञेयाः ।। ३३ । ४६ ।।

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । अध्यापक और शिष्य लोग प्रकृति से लेकर भूमि पर्यन्त सब पदार्थों को रक्षा आदि के लिए जानें ।। ३३ । ४६ ।।

भाष्यसार—**१. अध्यापक और शिष्य लोग क्या करें**—विद्वान् अध्यापक—रक्षादि के लिए संयुक्त विद्युत् और अग्नि, मिश्रित प्राण और उदान, आकाश, भूमि, सूर्य, मननशील मनुष्य, मेघ वा पर्वत, जल, व्यापक, पुष्टिकर्त्ता, ब्रह्माण्ड वा वेद के पालक, ऐश्वर्य को उत्पन्न करने वाले राजा की स्तुति करे । प्रशंसा के योग्य, जगत् के उत्पादक ईश्वर एवं सुख की स्तुति करे । शिष्य लोग भी उक्त पदार्थों की स्तुति करें । इस प्रकार अध्यापक और अध्येता (शिष्य) लोग प्रकृति से लेकर भूमि पर्यन्त पदार्थों को रक्षा आदि के लिए जानें ।

२. **अलङ्कार**—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । उपमा यह है कि अध्यापक के समान अध्येता (शिष्य) लोग भी मन्त्रोक्त पदार्थों की स्तुति करें ।। ३३ । ४६ ।। ●

प्रगाथः । **महेन्द्रः=राजपुरुषः** । त्रिष्टुप् । धैवतः ।।

अथ राजपुरुषाः कीदृशाः स्युरित्याह ।।

अब राजपुरुष कैसे हों, यह फिर उपदेश किया जाता है ।।

अस्मे रुद्रा मेहना पर्वतासो वृत्रहत्ये भरहूतौ सजोषाः ।
यः शꣳसते स्तुवते धायि पज्र ऽ इन्द्रज्येष्ठा ऽ अस्माँ२ऽ अवन्तु देवाः ।। ५० ।।

पदार्थः—(**अस्मे**) अस्मासु (**रुद्राः**) शत्रून् रोदयन्ति ते (**मेहना**) धनादिसेचकाः। अत्राकारादेशः (**पर्वतासः**) पर्वाण्युत्सवा विद्यन्ते येषान्ते। **अत्र पर्वमरुद्भ्यां तबिति वार्त्तिकेन तप् प्रत्ययः** (**वृत्रहत्ये**) वृत्रस्य=दुष्टस्य हत्ये=हननाय (**भरहूतौ**) भरे=सङ्ग्रामे हूतिराह्वानं तत्र (**सजोषाः**) समानप्रीतिसेवनाः (**यः**) नरः (**शंसते**) (**स्तुवते**) स्तौति। **अत्र शब्विकरणः** (**धायि**) ध्रियते। **अत्र लुङ्चडभावः** (**पज्रः**) प्राजितैश्वर्य्यः। **पृषोदरादित्वादिष्टसिद्धिः** (**इन्द्रज्येष्ठाः**) इन्द्रः=सभापतिर्ज्येष्ठो येषु ते (**अस्मान्**) (**अवन्तु**) रक्षन्तु (**देवाः**) ॥ ५० ॥

प्रमाणार्थ—(**मेहना**) यहाँ विभक्ति के स्थान में आकार-आदेश है। (**पर्वतासः**) यहाँ 'पर्वमरुद्भ्यां तप्' इस वार्त्तिक से 'तप्' प्रत्यय है। (**स्तुवते**) यहाँ 'शप्' विकरण प्रत्यय है। (**धायि**) यहाँ लुङ् लकार में 'अट्' आगम का अभाव है। (**पज्रः**) यहाँ 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (६ । ३ । १०९) से इष्ट सिद्ध करें ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः! यः पज्रः याञ्छंसते स्तुवते येन च धनं धायि तमस्माँश्च येऽस्मे मेहना रुद्रा पर्वतासो वृत्रहत्ये भरहूतौ सजोषा इन्द्रज्येष्ठा देवा अवन्तु। ते युष्मानप्यवन्तु ॥ ५० ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः! यः नरः **पज्रः** प्राजितैश्वर्यः **याञ्छंसते स्तुवते** स्तौति **येन च धनं धायि** ध्रियते, **तमस्मांश्च येऽस्मे** अस्मासु **मेहना** धनादिसेचकाः **रुद्राः** शत्रून् रोदयन्ति ते **पर्वतासः** पर्वाण्युत्सवा विद्यन्ते येषान्ते **वृत्रहत्ये** वृत्रस्य=दुष्टस्य हत्ये=हननाय **भरहूतौ** भरे=सङ्ग्रामे हूतिराह्वानं तत्र **सजोषाः** समानप्रीतिसेवनाः **इन्द्रज्येष्ठाः** इन्द्रः=सभापतिर्ज्येष्ठो येषु ते **देवा अवन्तु** रक्षन्तु; **ते युष्मानप्यवन्तु** ॥ ३३ । ५० ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो! (यः) जो (पज्रः) ऐश्वर्य को अर्जित करने वाला नर जिनकी (शंसते) प्रशंसा करता है; (स्तुवते) स्तुति करता है; और जो धन को (धायि) धारण करता है, उस नर की और हमारी—जो (अस्मे) हमारे मध्य में (मेहना) धन आदि के सेचक, (रुद्राः) शत्रुओं को रुलाने वाले, (पर्वतासः) पर्व=उत्सव करने वाले, (वृत्रहत्ये) वृत्र=दुष्ट के हनन के लिए (भरहूतौ) संग्राम में आह्वान करने पर (सजोषाः) समान रूप से प्रीति और सेवा करने वाले (इन्द्रज्येष्ठाः) इन्द्र=सभापति को ज्येष्ठ=बड़ा मानने वाले (देवाः) विद्वान् (अवन्तु) रक्षा करते हैं; वे तुम्हारी भी रक्षा करें ॥ ३३ । ५० ॥

भावार्थः—ये राजजनाः पदार्थस्तावकाः, श्रेष्ठरक्षकाः, दुष्टताडकाः, संग्रामीया, मेघवत्पालकाः, प्रशंसनीयाः सन्ति ते सर्वैः सेवनीयाः ॥ ३३ । ५० ॥

भावार्थ—जो राजपुरुष पदार्थों की स्तुति करने वाले, श्रेष्ठों के रक्षक, दुष्टों की ताड़ना करने वाले, संग्राम में भाग लेने वाले, मेघ के समान पालन करने वाले और प्रशंसनीय हैं; उनकी सब सेवा करें ॥ ३३ । ५० ॥

भा० पदार्थः—इन्द्रज्येष्ठाः=राजजनाः। रुद्राः=श्रेष्ठरक्षका दुष्टताडकाः। देवाः= प्रशंसनीयाः ॥

भाष्यसार—राजपुरुष कैसे हों—ऐश्वर्य को अर्जित करने वाला नर जिनकी स्तुति करता है, और जो नर धन को धारण करता है राजपुरुष उसकी रक्षा करें। और जो प्रजा में धन आदि का सेचन करने वाले, दुष्टों को रुलाने वाले, पर्व=उत्सव मनाने वाले, दुष्टों के हनन एवं संग्राम में

समान रूप से प्रीति और सेवा करने वाले, इन्द्र=सभापति को ज्येष्ठ मानने वाले विद्वान् राजपुरुष प्रजा की रक्षा करें प्रजाजन उक्त राजपुरुषों की सेवा करें ॥ ३३ । ५० ॥ ●

कूर्मः । **विश्वेदेवाः=राजजनाः** । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

राजपुरुष कैसे हों, यह फिर उपदेश किया है ॥

अर्वाञ्चोऽअद्या भवता यजत्रा ऽ आ वो हार्दि भयमानो व्ययेयम् ।
त्राध्वं नो देवा निजुरो वृकस्य त्राध्वं कर्त्तादवपदो यजत्राः ॥ ५१ ॥

पदार्थः—(**अर्वाञ्चः**) अस्मदभिमुखाः (**अद्य**) अत्र निपातस्य चेति दीर्घः (**भवत**) अत्र संहितायामिति दीर्घः (**यजत्राः**) सङ्गतिकर्त्तारः (**आ**) (**वः**) युष्माकम् (**हार्दि**) हृदि भवं मनः (**भयमानः**) भयं प्राप्नुवन्। अत्र व्यत्ययेन शप् (**व्ययेयम्**) प्राप्नुयाम् (**त्राध्वम्**) रक्षत (**नः**) अस्मान् (**देवाः**) विद्वांसः (**निजुरः**) हिंसकस्य (**वृकस्य**) स्तेनस्य व्याघ्रस्य वा सकाशात् (**त्राध्वम्**) (**कर्त्तात्**) कूपात् (**अवपदः**) यत्राऽवपद्यन्ते=पतन्ति ततः (**यजत्राः**) विदुषां सत्कर्त्तारः ॥ ५१ ॥

प्रमाणार्थ—(**अद्य**) यहाँ 'निपातस्य च' (६ । ३ । १३६) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—'अद्या' । (**भवत**) यहाँ 'संहितायाम्' (६ । ३ । ११४) से संहिता में दीर्घ है---'अद्या' । (**भयमानः**) यहाँ व्यत्यय से 'शप्' विकरण है ॥

अन्वयः—हे यजत्रा देवा यूयमद्यार्वाञ्चो भयमानोऽहं वो हार्दि आव्ययेयं नो निजुरो वृकस्य सकाशात् त्राध्वम् । हे यजत्राः यूयमवपद कर्त्तादस्मान् त्राध्वम् ॥ ५१ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **यजत्राः** सङ्गतिकर्त्तारः **देवा** विद्वांसः ! **यूयमद्यार्वाञ्चः** अस्मदभिमुखाः **भवत** ।

भयमानः भयं प्राप्नुवन् **अहं वः** युष्माकं **हार्दि** हृदि भवं मनः **आव्ययेयं** प्राप्नुयाम् ।

नः अस्मान् **निजुरः** हिंसकस्य **वृकस्य** स्तेनस्य व्याघ्रस्य वा **सकाशात् त्राध्वम्** रक्षत ।

हे **यजत्राः** विदुषां सत्कर्त्तारः ! **यूयमवपदः** यत्राऽवपद्यन्ते पतन्ति ततः **कर्त्तात्** कूपात् **अस्मान् त्राध्वम्** रक्षत ॥ ३३ । ५१ ॥

भावार्थः—प्रजापुरुषै राजजना एवं प्रार्थनीयाः—हे पूज्या राजपुरुषा विद्वांसो यूयं सदैवास्मदविरोधिनः कपटादिरहिता भयनिवारका भवत । चोरव्याघ्रादिभ्यो मार्गादिशोधनेन गर्त्तादिभ्यश्चास्मान् रक्षत । ३३ । ५१ ॥

भाषार्थ—हे (यजत्राः) संगति करने वाले (देवाः) विद्वान् राजपुरुषो ! तुम—(अद्य) आज (अर्वाञ्चः) हमारे अभिमुख (भवत) होओ।

(भयमानः) भय को प्राप्त होता हुआ मैं—(वः) तुम्हारे (हार्दि) हृदय में विद्यमान मन को (आव्ययेयम्) प्राप्त करूँ ।

(नः) हमारी (निजुरः) हिंसक (वृकस्य) चोर वा व्याघ्र से (त्राध्वम्) रक्षा करो ।

हे (यजत्राः) विद्वानों का सत्कार करने वाले राजपुरुषो ! तुम—(अवपदः) गिरने के स्थान (कर्त्तात्) कूए से हमारी (त्राध्वम्) रक्षा करो ॥ ३३ । ५१ ॥

भावार्थ—प्रजा के लोग राजपुरुषों से इस प्रकार प्रार्थना करें—हे पूज्य राजपुरुष विद्वानो ! तुम—सदा ही हमारे अविरोधी, कपट आदि से रहित, भय के निवारण करने वाले बनो । चोर, व्याघ्र आदि से तथा मार्ग आदि का शोधन

करके गर्त्त (गड्ढा) आदि से हमारी रक्षा करो ॥ ३३ । ५१ ॥

भा० पदार्थः—यजत्राः=पूज्याः । अद्य=सदैव । अर्वाञ्चः=असमदविरोधिनः । वृकस्य=चोरव्याघ्रादिभ्यः । कर्त्ताद्=गर्त्तादिः ।

भाष्यसार—**राजपुरुष कैसे हों**—संगति करने वाले विद्वान् राजपुरुष—प्रजाजनों के अभिमुख रहें; उनसे पराङ्मुख न हों । प्रजाजन भय को प्राप्त हुआ राजपुरुषों के मन को प्राप्त करे, उनका आश्रय ले । राजपुरुष हिंसक, स्तेन=चोर और व्याघ्र आदि हिंसक प्राणियों से प्रजा की रक्षा करें, विद्वानों का सत्कार करने वाले राजपुरुष मार्गों का शोधन करके कूप=गर्त्त आदि से प्रजाजनों की रक्षा करें ॥ ३३ । ५१ ॥ ●

लुशः । **विश्वेदेवाः**=राजजनाः । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

राजपुरुष कैसे हों, यह फिर उपदेश किया है ॥

विश्वे ऽ अद्य मरुतो विश्व ऽ ऊती विश्वे भवन्त्वग्नयः समिद्धाः ।
विश्वे नो देवा ऽ अवसा गमन्तु विश्वमस्तु द्रविणं वाजो ऽ अस्मे ॥ ५२ ॥

पदार्थः—(**विश्वे**) सर्वे (**अद्य**) (**मरुतः**) मरणधर्माणो मनुष्याः (**विश्वे**) सर्वे (**ऊती**) रक्षणादिक्रियया (**विश्वे**) (**भवन्तु**) (**अग्नयः**) पावकाः (**समिद्धाः**) प्रदीप्ताः (**विश्वे**) (**नः**) अस्मानस्माकं वा (**देवाः**) विद्वांसः (**अवसा**) रक्षणाद्येन सह (**आ**) समन्तात् (**गमन्तु**) प्राप्नुवन्तु (**विश्वम्**) सर्वम् (**अस्तु**) (**द्रविणम्**) धनम् (**वाजः**) अन्नम् (**अस्मै**) मनुष्याय ॥ ५२ ॥

अन्वयः—हे राजादयो मनुष्या अद्य यथा विश्वे भवन्तो विश्वे मरुतो विश्वे समिद्धा अग्नय ऊती नो रक्षका भवन्तु विश्वे देवा अवसा सह नोऽस्मानागमन्तु तथा विश्वं द्रविणं वाजश्चास्मा अस्तु ॥ ५२ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे राजादयो मनुष्या अद्य यथा विश्वे** सर्वे **भवन्तो, विश्वे** सर्वे **मरुतः** मरणधर्माणो मनुष्याः, **विश्वे** सर्वे **समिद्धाः** प्रदीप्ताः **अग्नयः** पावकाः, **ऊती** रक्षणादिक्रियया **नः** अस्मानस्माकं वा **रक्षका भवन्तु; विश्वे** सर्वे **देवाः** विद्वांसः **अवसा** रक्षणाद्येन **सह नः**=**अस्मानागमन्तु** समन्तात्प्राप्नुवन्तु, **तथा विश्वं** सर्वं **द्रविणं** धनं **वाजः** अन्नं **चास्मै** मनुष्याय **अस्तु** ॥ ३३ । ५२ ॥

भाषार्थ—हे राजा आदि मनुष्यो ! (अद्य) आज जैसे—(विश्वे) सब आप लोग, (विश्वे) सब (मरुतः) मरणधर्मा मनुष्य, (विश्वे) सब (समिद्धाः) प्रदीप्त (अग्नयः) अग्नियाँ (ऊती) रक्षा आदि क्रिया से (नः) हमारी रक्षक (भवन्तु) होती हैं; (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् (अवसा) रक्षा आदि के साथ (नः) हमें (आ+गमन्तु) सब ओर प्राप्त होते हैं; वैसे—(विश्वम्) सब (द्रविणम्) धन और (वाजः) अन्न (अस्मै) इस मनुष्य के लिए (अस्तु) हो ॥ ३३ । ५२ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । मनुष्यैर्यादृशं सुखं स्वार्थमेष्टव्यं तादृशमन्यार्थं च । अत्र

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । मनुष्य जैसा सुख अपने लिए चाहें

ये विद्वांसो भवेयुस्ते स्वयमधर्माचरणात् पृथग् भूत्वाऽन्यानपि तादृशान् कुर्युः ॥ ३३ । ५२ ॥

वैसा अन्यों के लिए भी चाहें । यहाँ जो विद्वान् हो वे स्वयं अधर्माचरण से पृथक् होकर अन्यों को भी वैसा बनावें ॥ ३३ । ५२ ॥

भाष्यसार—१. **राजपुरुष कैसे हों**—राजा आदि मनुष्यों को उचित है कि वे स्वयं तथा सब मरणधर्मा मनुष्य, और सब प्रदीप्त अग्नियाँ रक्षादि क्रिया से प्रजाजनों की रक्षा करें, रक्षक बनें । सब विद्वान् लोग प्रजाजनों को सब ओर स प्राप्त हों और प्रजा जन उन्हें धन और अन्न प्रदान करें । विद्वान् लोग स्वयं अधर्माचरण से दूर रहें तथा अन्यों को भी अधर्माचरण से दूर रखें ।

२. **अलङ्कार**—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । उपमा यह है कि सब मनुष्य अपने तुल्य अन्यों के लिए सुख की कामना करें ॥३३।५२॥

सुहोत्रः । **विश्वेदेवाः**=विद्वांसः । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

पुनर्मनुष्यैः किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

फिर मनुष्यों को क्या करना चाहिए, यह उपदेश किया है ॥

विश्वे॑ दे॒वाः शृ॑णु॒तेमꣳ हवं॑ मे॒ ये ऽ अ॒न्तरि॑क्षे॒ य ऽ उप॒ द्यवि॒ ष्ठ ।
ये ऽ अ॑ग्निजि॒ह्वा ऽ उ॒त वा॒ यज॑त्रा ऽ आ॒सद्या॒स्मिन् ब॒र्हिषि॑ मादयध्वम् ॥ ५३ ॥

पदार्थः—(**विश्वे**) (**देवाः**) विद्वांसः (**शृणुत**) (**इमम्**) (**हवम्**) अध्ययनाध्यापनव्यवहारम् (**मे**) मम (**ये**) (**अन्तरिक्षे**) (**ये**) (**उप**) (**द्यवि**) प्रकाशे (**स्थ**) वेदितारो भवत (**ये**) (**अग्निजिह्वाः**) अग्निर्जिह्वावद्येषान्ते (**उत**) अपि (**वा**) (**यजत्राः**) सङ्गन्तारः, पूजनीयाः (**आसद्य**) स्थित्वा (**अस्मिन्**) (**बर्हिषि**) सभायामासने वा (**मादयध्वम्**) हर्षयत ॥ ५३ ॥

अन्वयः—हे विश्वे देवा यूयं येऽन्तरिक्षे ये द्यवि ष्ठ येऽग्निजिह्वा उत वा यजत्राः पदार्थाः सन्ति तेषां वेदितारः स्थ म इमं हवमुपशृणुत । अस्मिन् बर्हिष्यासद्य मादयध्वम् ॥ ५३ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **विश्वे देवाः** विद्वांसः ! **यूयं ये ऽन्तरिक्षे, ये द्यवि** प्रकाशे **स्थ** वेदितारो भवत । **येऽग्निजिह्वाः** अग्निर्जिह्वावद्येषान्ते **उत** अपि **वा यजत्राः** सङ्गन्तारः, पूजनीयाः **पदार्थाः सन्ति, तेषां वेदितारः स्थ** भवत । **मे मम इमं हवम्** अध्ययनाध्यापनव्यवहारम् **उप+शृणुत अस्मिन् बर्हिषि** सभायामासने वा **आसद्य** स्थित्वा **मादयध्वं** हर्षयत ॥ ३३ । ५३ ॥

भाषार्थ—हे (विश्वे) सब (देवाः) विद्वानो ! तुम—(ये) जो (अन्तरिक्षे) आकाश में और (ये) जो (द्यवि) प्रकाश में विद्यमान पदार्थ हैं; उनके (स्थ) जानने वाले बनो । (ये) (अग्निजिह्वाः) जिह्वा के समान अग्नि वाले (उत, वा) अथवा (यजत्राः) संगति और पूजा के योग्य जो पदार्थ हैं, उनके जानने वाले (स्थ) बनो, (मे) मेरे (इमम्) इस (हवम्) पठन-पाठन के व्यवहार को (उप+शृणुत) सुनो । (अस्मिन्) इस (बर्हिषि) सभा में अथवा आसन पर (आसद्य) बैठकर (मादयध्वम्) हर्षित होओ ॥ ३३ । ५३ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यूयं यावन्तो भूमावन्तरिक्षे प्रकाशे च पदार्थाः सन्ति तान् बुद्ध्वा,

भावार्थ—हे मनुष्यो ! तुम—जितने भूमि आकाश और प्रकाश [द्युलोक] में पदार्थ हैं; उन्हें

विदुषां सभां विधाय, विद्यार्थिनां परीक्षां कृत्वा विद्यासुशिक्षे वर्द्धयित्वा, स्वयमानन्दिता भूत्वाऽन्यान् सततमानन्दयत ॥ ३३ । ५३ ॥

जानकर, विद्वानों की सभा करके, विद्यार्थियों की परीक्षा करके, विद्या और सुशिक्षा को बढ़ाकर, स्वयं आनन्दित होकर अन्यों को सदा आनन्दित करो ॥ ३३ । ५३ ॥

भा० पदार्थः—हवम्=विद्यार्थिनां परीक्षा, विद्या, सुशिक्षा च । मादयध्वम्=स्वयमानन्दिता भूत्वाऽन्यान् सततमानन्दयत ॥

भाष्यसार—मनुष्य क्या करें—सब विद्वान् मनुष्य आकाश और द्युलोक में विद्यमान पदार्थों को जानें। जिह्वा के तुल्य अग्नि वाले, संगति और पूजा के योग्य जो पदार्थ हैं उनके ज्ञाता हों। विद्यार्थियों के पठन-पाठन व्यवहार को सुनें अर्थात् विद्वानों की सभा करके विद्यार्थियों की परीक्षा करें, विद्या और सुशिक्षा को बढ़ावें। सभा वा आसन पर बैठकर हर्षित हों। स्वयं आनन्दित होकर अन्यों को भी आनन्दित करें ॥ ३३ । ५३ ॥ ●

वामदेवः । **विश्वेदेवाः**=विद्वांसः । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

मनुष्य क्या करें, यह फिर उपदेश किया है ॥

दे॒वेभ्यो॒ हि प्र॑थ॒मं य॒ज्ञिये॑भ्यो॒ऽमृत॒त्वᳪ सु॒वसि॑ भा॒गमु॑त्त॒मम् ।
आदिद्दा॒मान॑ᳪ सवित॒र्व्यूर्णु॑षेऽनू॒ची॒ना जी॑वि॒ता मानु॑षेभ्यः ॥ ५४ ॥

पदार्थः—(**देवेभ्यः**) विद्वद्भ्यः (**हि**) यतः (**प्रथमम्**) (**यज्ञियेभ्यः**) यज्ञसिद्धिकरेभ्यः (**अमृतत्वम्**) मोक्षस्य भावम् (**सुवसि**) प्रेरयसि (**भागम्**) भजनीयम् (**उत्तमम्**) श्रेष्ठम् (**आत्**) अनन्तरम् (**इत्**) एव (**दामानम्**) यो ददाति तम् (**सवितः**) सकलजगदुत्पादक (**वि**) (**ऊर्णुषे**) विस्तारयसि (**अनूचीना**) यैरन्वञ्चन्ति=जानन्ति तानि (**जीविता**) जीवनहेतूनि कर्माणि (**मानुषेभ्यः**) ॥ ५४ ॥

अन्वयः—हे सवितर्जगदीश्वर ! हि यज्ञियेभ्यो देवेभ्य उत्तमं प्रथममममृतत्वं भागं सुवसि मानुषेभ्यो आदिद्दामानमनूचीना जीविता च व्यूर्णुषे तस्मादस्माभिरुपासनीयोऽसि ॥ ५४ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **सवितः जगदीश्वर** सकलजगदुत्पादक ! **हि** यतः **यज्ञियेभ्यः** यज्ञसिद्धिकरेभ्यः **देवेभ्यः** विद्वद्भ्यः **उत्तमं** श्रेष्ठं **प्रथमममृतत्वं** मोक्षस्य भावं **भागं** भजनीयं **सुवसि** प्रेरयसि; **मानुषेभ्य आत्** अनन्तरम् **इत्** एव **दामानम्** यो ददाति तम् **अनूचीना** यैरन्वञ्चन्ति=जानन्ति तानि **जीविता** जीवनहेतूनि कर्माणि **च व्यूर्णुषे** विस्तारयसि, तस्मादस्माभिरुपासनीयोऽसि ॥ ३३ । ५४ ॥

भाषार्थ—हे (सवितः) सकल जगत् के उत्पादक जगदीश्वर ! (हि) क्योंकि तू-(यज्ञियेभ्यः) यज्ञ की सिद्धि करने वाले (देवेभ्यः) विद्वानों के लिए (उत्तमम्) श्रेष्ठ (प्रथमम्) मुख्य (अमृतत्वम्) मोक्ष रूप (भागम्) सेवन करने योग्य सुख को (सुवसि) प्रेरित करता है; उत्पन्न करता है। (मानुषेभ्यः) मनुष्यों के लिए (आत्) तत्पश्चात् (इत्) ही (दामानम्) सुखदायक पदार्थ एवं (अनूचीना) जानने के साधन और (जीविता) जीवन के हेतुभूत कर्मों को (व्यूर्णुषे) विस्तृत करता है; अतः हमारे लिए उपासनीय है ॥ ३३ । ५४ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! परमेश्वरस्यैव योगेन विद्वत्सङ्गेन च सर्वोत्तमसुखं मोक्षं प्राप्नुत ॥ ३३ । ५४ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! तुम—परमेश्वर के ही योग से और विद्वानों के संग से सर्वोत्तम सुख मोक्ष को प्राप्त करो ॥ ३३ । ५४ ॥

भा० पदार्थः—अमृतत्वम्=सर्वोत्तमसुखं मोक्षम् ॥

भाष्यसार—मनुष्य क्या करें—सब मनुष्य—सकल जगत् के उत्पादक, यज्ञ की सिद्धि करने वाले विद्वानों के लिए उत्तम, प्रथम, अमृत=मोक्ष की प्रेरणा करने वाले जगदीश्वर की उपासना करें। और मनुष्य के लिए सुखदायक पदार्थ प्रदान करने वाले, ज्ञान और जीवन के हेतुभूत कर्मों का विस्तार करने वाले जगदीश्वर की ही उपासना करें ॥ ३३ । ५४ ॥

ऋजिश्वः । **वायुः=विद्वान्** । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

मनुष्य क्या करें, यह फिर उपदेश किया है ॥

प्र वायुमच्छा बृहती मनीषा बृहद्रयिं विश्ववारꣳ रथप्राम् ।
द्युतद्यामा नियुतः पत्यमानः कविः कविमियक्षसि प्रयज्यो ॥ ५५ ॥

पदार्थः—(प्र) (**वायुम्**) प्राणादिलक्षणम् (**अच्छ**) शोभने । **अत्र निपातस्य चेति दीर्घः ।** (**बृहती**) महती (**मनीषा**) प्रज्ञा (**बृहद्रयिम्**) बृहन्तो रययो यस्मिंस्तम् (**विश्ववारम्**) यो विश्वं वृणोति तम् (**रथप्राम्**) यो रथान्=यानानि प्राति=व्याप्नोति तम् (**द्युतद्यामा**) द्युतद्दीप्यमानमग्निं याति तम् । **अत्र विभक्तेर्लुक् संहितायामिति दीर्घः** (**नियुतः**) निश्चितान् (**पत्यमानः**) प्राप्नुवन् (**कविः**) मेधावी विद्वान् (**कविम्**) मेधाविनम् (**इयक्षसि**) यष्टुं=सङ्गन्तुमिच्छसि (**प्रयज्यो**) प्रकृष्टतया यज्ञकर्त्तः ॥ ५५ ॥

प्रमाणार्थ—(**अच्छ**) यहाँ 'निपातस्य च' (६ । ३ । १३६) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—'अच्छा' । (**द्युतद्यामा**) यहाँ विभक्ति का लुक् और संहिता में दीर्घ है ॥

अन्वयः—हे प्रयज्यो विद्वन् ! नियुतः पत्यमानः कविः संस्त्वं या ते बृहती मनीषा तया बृहद्रयिं विश्ववारं रथप्रां द्युतद्यामा वायुं कविं चाच्छ प्रेयक्षसि तस्मात्सर्वैः सत्कर्त्तव्योऽसि ॥ ५५ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **प्रयज्यो**=प्रकृष्टतया यज्ञकर्त्तः **विद्वन् नियुतः** निश्चितान् **पत्यमानः** प्राप्नुवन् **कविः** मेधावी विद्वान् **संस्त्वं या ते बृहती** महती **मनीषा** प्रज्ञा **तया बृहद्रयिं** बृहन्तो रययो यस्मिंस्तं, **विश्ववारं** यो विश्वं वृणोति तं, **रथप्रां** यो रथान्=यानानि प्राति=व्याप्नोति तं, **द्युतद्यामा** द्युतद्दीप्यमानमग्निं याति तं, **वायुं** प्राणादिलक्षणं, **कविं** मेधाविनं **चाच्छ** शोभनं **प्रेयक्षसि** यष्टुं=सङ्गन्तुमिच्छसि; **तस्मात्सर्वैः सत्कर्त्तव्योऽसि** ॥ ३३ । ५५ ॥

भाषार्थ—हे (प्रयज्यो) अत्यन्त यज्ञ करने वाले विद्वान् ! (नियुतः) निश्चित पदार्थों को (पत्यमानः) प्राप्त करने वाला (कविः) मेधावी विद्वान् होकर तू— जो तेरी (बृहती) महान् (मनीषा) प्रज्ञा है; उससे (बृहद्रयिम्) बड़े रयि=धनों वाले (विश्ववारम्) विश्व को आच्छादित करने वाले (रथप्राम्) रथ=यानों को व्याप्त करने वाले, (द्युतद्यामा) प्रकाशमान अग्नि को प्राप्त होने वाले (वायुम्) प्राण आदि रूप वायु और (कविम्) मेधावी विद्वान् का (अच्छ) अच्छी प्रकार (प्रेयक्षसि) संग करना चाहता है;

अतः सबके लिए सत्कार के योग्य है ॥ ३३ । ५५ ॥

भावार्थः—ये विद्वांसं प्राप्य पूर्णां विद्याप्रज्ञामखिलं धनं च प्राप्नुयुस्ते सत्कर्त्तव्याः स्युः ॥ ३३ । ५५ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विद्वान् को प्राप्त करके पूर्ण विद्यायुक्त प्रज्ञा और सब धन को प्राप्त करते हैं; वे सत्कार के योग्य होते हैं ॥ ३३ । ५५ ॥

भा० पदार्थः—बृहती=पूर्णा । मनीषा=विद्या, प्रज्ञा । बृहद्रयिम्=अखिलं धनम् ॥

भाष्यसार—मनुष्य क्या करें—अत्यन्त यज्ञ करने वाला विद्वान् मनुष्य निश्चित पदार्थों को प्राप्त करे। वह मेधावी विद्वान् होकर बड़ी प्रज्ञा से महान् रयि=धन वाले, विश्व को आच्छादित करने वाले, रथों को व्याप्त करने वाले, प्रकाशमान अग्नि को प्राप्त होने वाले, वायु का तथा मेधावी विद्वान् का संग करने की इच्छा करे। उक्त विद्वान् का सब मनुष्य सत्कार करें ॥ ३३ । ५५ ॥ ●

मधुच्छन्दाः । **इन्द्रवायू**=**विद्वांसौ** । गायत्री । षड्जः ॥

अथ विद्वांसः किं कुर्युरित्याह ॥

अब विद्वान् लोग क्या करें, यह उपदेश किया जाता है ॥

इन्द्रवायू ऽ इमे सुता ऽ उप प्रयोभिरा गतम् । इन्दवो वामुशन्ति हि ॥ ५६ ॥

पदार्थः—(**इन्द्रवायू**) विद्युत्पवनविद्याविदौ (**इमे**) (**सुताः**) निष्पादिताः (**उप**) (**प्रयोभिः**) कमनीयैर्गुणकर्मस्वभावैः (**आ**) (**गतम्**) समन्तात् प्राप्नुतम् (**इन्दवः**) सोमाद्योषधिरसाः (**वाम्**) युवाम् (**उशन्ति**) कामयन्ते (**हि**) यतः ॥ ५६ ॥

अन्वयः—इन्द्रवायू युष्मदर्थमिमे सुताः पदार्थाः सन्ति हीन्दवो वामुशन्ति तस्मात् प्रयोभिस्तानुपागतम् ॥ ५६ ॥

सपदार्थान्वयः—[हे] **इन्द्रवायू** विद्युत्पवनविद्याविदौ ! **युष्मदर्थमिमे सुताः** निष्पादिताः **पदार्थाः सन्ति; हि** यत **इन्दवः** सोमाद्योषधिरसाः **वां** युवाम् **उशन्ति** कामयन्ते, **तस्मात् प्रयोभिः** कमनीयैर्गुणकर्मस्वभावैः **तानुपा+गतं** समन्तात्प्राप्नुतम् ॥ ३३ । ५६ ॥

भाषार्थ—हे—(इन्द्रवायू) विद्युत् और वायु-विद्या के जानने वाले विद्वानो ! तुम्हारे लिए (इमे) ये (सुताः) तैयार किए हुए पदार्थ विद्यमान हैं; (हि) क्योंकि (इन्दवः) सोम आदि ओषधियों के रस (वाम्) तुम्हारी (उशन्ति) कामना कर रहे हैं; अर्थात् तुम्हारे योग्य हैं; अतः (प्रयोभिः) कामना करने योग्य गुण-कर्म-स्वभाव से उन्हें (आ+गतम्) सब ओर से प्राप्त करो ॥ ३३ । ५६ ॥

भावार्थः—हे विद्वांसो ! यतो यूयमस्माकमुपरि कृपां विधत्थ, तस्माद् युष्मान् सर्वे प्राप्तुमिच्छन्ति ॥ ३३ । ५६ ॥

भावार्थ—हे विद्वानो ! जिससे तुम—हमारे ऊपर कृपा करते हो, अतः तुम्हें सब प्राप्त करना चाहते हैं ॥ ३३ । ५६ ॥

भाष्यसार—विद्वान् क्या करें—विद्युत् और वायु विद्या को जानने वाले दो विद्वानों के लिए प्रजा जन उत्तम-उत्तम पदार्थों को तैयार करें। उन्हें सोम आदि ओषधियों का रस प्रदान करें। उक्त विद्वान् लोग कामना करने योग्य गुण-कर्म-स्वभाव से प्रजा जनों को सब ओर से प्राप्त हों। वे सब पर कृपा करें जिससे उन्हें प्राप्त करने की सब कामना करें ॥ ३३ । ५६ ॥ ●

मधुच्छन्दाः । **मित्रावरुणौ**=प्राणोदानौ । गायत्री । षड्जः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

विद्वान् लोग क्या करें, यह फिर उपदेश किया है ॥

मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम् । धियं घृताचीं साधन्ता ॥ ५७ ॥

पदार्थः—(**मित्रम्**) सुहृदम् (**हुवे**) स्वीकरोमि (**पूतदक्षम्**) पवित्रबलम् (**वरुणम्**) धार्मिकम् (**च**) (**रिशादसम्**) हिंसकानां हिंसकम् (**धियम्**) प्रज्ञाम् (**घृताचीम्**) या घृतमुदकमञ्चति तां रात्रिम् । घृताचीति रात्रिना० ॥ निघं० १ । ७ ॥ (**साधन्ता**) साधन्तौ ॥ ५७ ॥

अन्वयः--हे मनुष्या यथाऽहं धियं घृताचीञ्च साधन्ता पूतदक्षं मित्रं रिशादसं वरुणञ्च हुवे तथैतौ यूयमपि स्वीकुरुत ॥ ५७ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! यथाऽहं धियं प्रज्ञां घृताचीं या घृतमुदकमञ्चति तां रात्रिं **च साधन्ता** साधन्तौ, **पूतदक्षं** पवित्रबलं **मित्रं** सुहृदं **रिशादसं** हिंसकानां हिंसकं **वरुणं** धार्मिकं **च हुवे** स्वीकरोमि **तथैतौ यूयमपि स्वीकुरुत** ॥ ३३ । ५७ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे मैं-- (धियम्) प्रज्ञा और (घृताचीम्) घृत=जल को प्राप्त होने वाली रात्रि को (साधन्ता) सिद्ध करने वाले प्राण और उदान को तथा (पूतदक्षम्) पवित्र बल वाले, (मित्रम्) मित्र, (रिशादसम्) हिंसकों के हिंसक, और (वरुणम्) धार्मिक पुरुष को (हुवे) स्वीकार करता हूँ, वैसे इन्हें तुम भी स्वीकार करो ॥ ३३ ॥ ५७ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । यथा प्राणोदानौ प्रज्ञां रात्रिं च साध्नुतः, तथा विद्वांसः सर्वाण्युत्तमानि साधनानि गृहीत्वा कार्यसिद्धिं कुर्वन्तु ॥ ३३ । ५७ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। जैसे प्राण और उदान प्रज्ञा और रात्रि को सिद्ध करते हैं; वैसे विद्वान् लोग सब उत्तम साधनों को लेकर कार्यों की सिद्धि करें ॥ ३३ । ५७ ॥

भा० पदार्थः--मित्रं=प्राणम् । वरुणम्=उदानम् ॥

भाष्यसार—१. **विद्वान् क्या करें**—विद्वान् लोग प्रज्ञा और जल को प्राप्त होने वाली रात्रि को सिद्ध करें। पवित्र बल वाले मित्र और हिंसकों के हिंसक धार्मिक पुरुष को स्वीकार करें, अपनायें। सब उत्तम साधनों को ग्रहण करके कार्य की सिद्धि करें।

२. **अलङ्कार**—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि सब मनुष्य विद्वानों के समान मन्त्रोक्त अनुष्ठान करें ॥ ३३ । ५७ ॥

मधुच्छन्दाः । **अश्विनौ**=विद्वांसौ । गायत्री । षड्जः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

विद्वान् लोग क्या करें, यह फिर उपदेश किया है ॥

दस्रा युवाकवः सुता नासत्या वृक्तबर्हिषः । आ यातꣳ रुद्रवर्त्तनी ।
* तं प्रत्नथा । अयं वेनः ॥ ५८ ॥

पदार्थः—(**दस्रा**) दुष्टानां निवारकौ (**युवाकवः**) ये युवां कामयन्ते ते (**सुताः**) निष्पन्नाः (**नासत्या**) अविद्यमानासत्याचरणौ (**वृक्तबर्हिषः**) वृक्तं=वर्जितं बर्हिर्यैस्ते (**आ**) (**यातम्**) समन्तात् प्राप्नुतम् (**रुद्रवर्त्तनी**) रुद्रस्य वर्त्तनिरिव वर्त्तनिर्ययोस्तौ ॥ ५८ ॥

अन्वयः—हे नासत्या रुद्रवर्त्तनी दस्रा ये वृक्तबर्हिषो युवाकवः सुताः सन्ति तान् युवामायातम् ॥ ५८ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे नासत्या** अविद्यमानासत्याचरणौ **रुद्रवर्त्तनी** रुद्रस्य वर्त्तनिरिव वर्त्तनिर्ययोस्तौ **दस्रा** दुष्टानां निवारकौ ! **ये वृक्तबर्हिषः** वृक्तं=वर्जितं बर्हिर्यैस्ते **युवाकवः** ये युवां कामयन्ते ते **सुताः** निष्पन्नाः **सन्ति, तान् युवामायातम्** । समन्तात्प्राप्नुतम् ॥ ३३ । ५८ ॥

भाषार्थ—हे (नासत्या) असत्य आचरण से रहित, (रुद्रवर्त्तनी) रुद्र के तुल्य वर्त्ताव करने वाले, (दस्रा) दुष्टों के निवारक दो विद्वानो ! जो (वृक्तबर्हिषः) बर्हि=आसन का त्याग करने वाले (युवाकवः) तुम दोनों की कामना करने वाले (सुताः) विद्याध्ययन के लिए तैयार हैं; उन्हें तुम (आ+यातम्) सब ओर से प्राप्त करो ॥३३।५८ ॥

भावार्थः—विदुषां योग्यताऽस्ति—ये विद्यां कामयन्ते, तेभ्यो विद्या दद्युः ॥ ३३ । ५८ ॥

भावार्थ—विद्वानों को योग्य है कि जो मनुष्य विद्या की कामना करते हैं; उन्हें विद्या प्रदान करें ॥ ३३ । ५८ ॥

भाष्यसार—**विद्वान् क्या करें**—असत्य आचरण से रहित, रुद्र के तुल्य वर्त्ताव वाले, दुष्टों का निवारण करने वाले अध्यापक और उपदेशक विद्वानों को उचित है कि वे सम्मान में आसन का त्याग करने वाले, उक्त विद्वानों की कामना करने वाले, विद्याध्ययन के लिए तैयार हो उन्हें सब ओर से प्राप्त करें; उन्हें विद्या प्रदान करें ॥ ३३ । ५८ ॥ ●

कुशिकः । **छन्दः=वैद्यवत्सरी** । भुरिक् पङ्क्तिः । पञ्चमः ॥

अथ स्त्री किं कुर्यादित्याह ॥

अब स्त्री क्या करे, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

विदद्यदी सरमा रुग्णमद्रेर्महि पाथः पूर्व्यꣳ सध्र्यक्कः ।
अग्रं नयत्सुपद्यक्षराणामच्छा रवं प्रथमा जानती गात् ॥ ५९ ॥

पदार्थः—(**विदत्**) जानीयात् । अडभावः । (**यदि**) अत्र निपातस्य चेति दीर्घः (**सरमा**) समानं रमा=रमणमस्याः सा (**रुग्णम्**) रोगिणम् (**अद्रेः**) मेघात् (**महि**) महत् (**पाथः**) अन्नम् (**पूर्व्यम्**) पूर्वं लब्धम् (**सध्र्यक्**) यः सहाञ्चतीति सः (**कः**) कुर्यात् (**अग्रम्**) पुरः (**नयत्**) प्राप्नुवत्

---

* अ० ७ । मं० १२ । १६ में कहे दो मन्त्रों की प्रतीकें यहाँ कर्मकाण्ड विशेष में काम आने के लिए रखी हैं ॥

(**सुपदी**) शोभना पादा यस्याः सा (**अक्षराणाम्**) (**अच्छ**) सम्यक्। **अत्र निपातस्य चेति दीर्घः।** (**रवम्**) शब्दम् (**प्रथमा**) प्रख्याता (**जानती**) विज्ञानवती (**गात्**) प्राप्नोतु ॥ ५९ ॥

प्रमाणार्थ—(**यदि**) यहाँ 'निपातस्य च' (६। ३। १३६) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—'यदी'। (**अच्छ**) यहाँ भी 'निपातस्य च' (६। ३। १३६) से संहिता में दीर्घ है—'अच्छा' ॥

अन्वयः—यदि सरमा प्रथमा सुपद्यक्षराणां रवं जानती रुग्णं विददग्रन्नयत्सध्रचक् पूर्व्यं मह्यद्रेरुत्पन्नं पाथः कः कुर्यात्पतिमच्छ गात्तर्हि सा सर्वं सुखमाप्नुयात् ॥ ५९ ॥

सपदार्थान्वयः—**यदि सरमा** समानं रमा=रमणमस्याः सा **प्रथमा** प्रख्याता **सुपदी** शोभना पादा यस्याः सा **अक्षराणां रवं** शब्दं **जानती** विज्ञानवती **रुग्णं** रोगिणं **विदत्** जानीयात्, **अग्रम्** पुरः **नयत्** प्राप्नुवत्, **सध्रचक्** यः सहाञ्चतीति सः, **पूर्व्यं** पूर्वं लब्धं **महि** महत् **अद्रेः** मेघाद् **उत्पन्नं पाथः** अन्नं **कः**=**कुर्यात्**, **पतिमच्छ** सम्यक् **गात्** प्राप्नोतु, **तर्हि सा सर्वं सुखमाप्नुयात्** ॥ ३३। ५९ ॥

भाषार्थ—(यदि) यदि (सरमा) समान रूप से रमण करने वाली, (प्रथमा) प्रख्यात, (सुपदी) सुन्दर पगों वाली, (अक्षराणाम्) अकार आदि वर्णों के (रवम्) उच्चारण को (जानती) जानने वाली, स्त्री—(रुग्णम्) रोगी को (विदत्) जाने, (अग्रम्) प्रथम (नयत्) प्राप्त हुए हो, (सध्रचक्) साथ प्राप्त होने वाले, (पूर्व्यम्) पूर्व प्राप्त (महि) महान्, (अद्रेः) मेघ से उत्पन्न (पाथः) अन्न को (कः) पैदा करे, पति को (अच्छ) अच्छे प्रकार (गात्) प्राप्त करे, तो वह स्त्री सब सुख को प्राप्त हो ॥ ३३। ५९ ॥

भावार्थः—या स्त्री वैद्यवत् सर्वेषां हितकारिणी, औषधवदन्नं साद्धुं शक्नुयात्, यथायोग्यं भाषणं विजानीयात् सोत्तमं सुखं सततमाप्नुयात् ॥ ३३। ५९ ॥

भावार्थ—जो स्त्री वैद्य के समान सब का हित करने वाली, औषध के समान अन्न को सिद्ध कर सके तथा यथायोग्य भाषण को जाने वह उत्तम सुख को सदा प्राप्त हो ॥ ३३। ५९ ॥

भा० पदार्थः—सरमा=स्त्री। कः=[कुर्यात्] साद्धुं शक्नुयात्। रवम्=यथायोग्यं भाषणम् ॥

भाष्यसार—**स्त्री क्या करे**—समान रूप से रमण करने वाली, प्रख्यात, सुन्दर पगों वाली स्त्री—अक्षर=अकारादि वर्णों के उच्चारण अर्थात् यथायोग्य भाषण को जानने वाली हो। वह रोगी को जाने अर्थात् वैद्य के समान सब का हित करने वाली हो। वह प्रथम प्राप्त हुए, साथ प्राप्त होने वाले, पूर्व प्राप्त, महान्, मेघ से उत्पन्न अन्न को औषध के समान सिद्ध करे। पति को अच्छे प्रकार प्राप्त करें। उक्त व्यवहार से स्त्री सब सुख को प्राप्त करे ॥ ३३। ५९ ॥

विश्वामित्रः। **वैश्वानरः**=**परमात्मा**। भुरिक् त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

अथ मनुष्याः कथं मोक्षमाप्नुवन्तीत्याह ॥

अब मनुष्य कैसे मोक्ष को प्राप्त होते हैं, यह उपदेश किया जाता है ॥

नहि स्पशमविदन्नन्यमस्माद्वैश्वानरात्पुरऽएतारमग्नेः।
एमेनमवृधन्नमृताऽअमर्त्यं वैश्वानरं क्षैत्रजित्याय देवाः ॥ ६० ॥

पदार्थः—(**नहि**) (**स्पशम्**) दूतम् (**अविदन्**) विजानन्ति (**अन्यम्**) (**अस्मात्**) (**वैश्वानरात्**) सर्वनरहितकरात् (**पुरएतारम्**) अग्रे गन्तारं शीघ्रकारिणम् (**अग्नेः**) पावकात् (**आ**) (**ईम्**) सर्वतः (**एनम्**) (**अवृधन्**) वर्द्धयन्ति (**अमृताः**) मृत्युधर्मरहिताः (**अमर्त्यम्**) मृत्युधर्मरहितम् (**वैश्वानरम्**) विश्वस्य नायकम् (**क्षैत्रजित्याय**) यया क्रियया क्षेत्राणि जयन्ति तस्या भावाय (**देवाः**) विद्वांसः ॥ ६० ॥

अन्वयः—येऽमृता देवा अमर्त्यं वैश्वानरं क्षैत्रजित्यायै नमावृधन्त ईमस्माद्वैश्वानरादग्नेः पुरएतारमन्यं स्पशं नह्यविदन् ॥ ६० ॥

सपदार्थान्वयः—**येऽमृताः** मृत्युधर्मरहिताः **देवाः** विद्वांसः **अमर्त्यं** मृत्युधर्मरहितं **वैश्वानरं** विश्वस्य नायकं **क्षैत्रजित्याय** यया क्रियया क्षेत्राणि जयन्ति तस्या भावाय **एनमावृधन्** वर्द्धयन्ति **त ईम्** सर्वतः **अस्माद्वैश्वानरात्** सर्वनरहितकारात् **अग्नेः** पावकात् **पुरएतारम्** अग्रे गन्तारं शीघ्रकारिणम् **अन्यं स्पशं** दूतं **नह्यविदन्** विजानन्ति ॥ ३३ । ६० ॥

भाषार्थ—जो (अमृताः) मृत्युधर्म से रहित, (देवाः) विद्वान् लोग–(अमर्त्यम्) मृत्यु धर्म से रहित, (वैश्वानरम्) विश्व के नायक ईश्वर, (क्षैत्रजित्याय) क्षेत्रों को जीतने के लिए (एनम्) इसे (आवृधन्) बढ़ाते हैं; वे (ईम्) सब ओर से ((अस्मात्) इस (वैश्वनरात्) सब नरों के हितकारी (अग्नेः) पवित्र करने वाले परमेश्वर से (पुरएतारम्) अग्रगामी एवं शीघ्रकारी (अन्यम्) अन्य किसी को (स्पशम्) दूत (नहि) नहीं (अविदन्) जानते हैं ॥ ३३ । ६० ॥

भावार्थः—ये नाशोत्पत्तिरहिता मनुष्यदेहधरा जीवा विजयायोत्पत्तिनाशरहितं जगत्स्वामिनं परमात्मानमुपास्य, अतो भिन्नं तद्वन्नोपासन्ते, ते बन्धं विहाय मोक्षमभिगच्छेयुः ॥ ३३ । ६० ॥

भावार्थ—जो नाश और उत्पत्ति से रहित, मनुष्य देहधारी जीव विजय के लिए उत्पत्ति और नाश से रहित, जगत् के स्वामी परमात्मा की उपासना करके उस से भिन्न की उसके तुल्य उपासना नहीं करते हैं; वे बन्ध को छोड़कर मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥ ३३ । ६० ॥

भा० पदार्थः—अमृताः=नाशोत्पत्तिरहिताः । देवाः=मनुष्यदेहधरा जीवाः । क्षेत्रजित्याय=विजयाय । अमर्त्यम्=उत्पत्तिनाशरहितम् । वैश्वानरम्=जगत्स्वामिनम् । अन्यम्=अतो भिन्नम् । अविदन्=उपासन्ते ॥

भाष्यसार—**मनुष्य कैसे मोक्ष को प्राप्त होते हैं**—जो मृत्युधर्म से रहित विद्वान् लोग—मृत्युधर्म से रहित, विश्व के नायक, ईश्वर को क्षेत्रों को जीतने के लिए बढ़ाते हैं। सब ओर इस सब नरों के हितकारी, पवित्र करने वाले, शीघ्रकारी ईश्वर से भिन्न किसी को दूत नहीं समझते हैं और उससे भिन्न की उपासना नहीं करते, वे बन्ध को छोड़कर मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥ ३३ । ६० ॥

भरद्वाजः । **इन्द्राग्नी=सभा-सेनापती** । निचृद्गायत्री । षड्जः ॥

सभासेनेशौ किं कुर्य्यातामित्याह ॥

अब सभापति और सेनापति क्या करें, यह उपदेश किया है ॥

उग्रा विंघनिना मृध ऽ इन्द्राग्नी हंवामहे । ता नों मृडात ऽ ईदृशें ॥ ६१ ॥

पदार्थः—(उग्रा) उग्रबलौ तेजस्विस्वभावौ। **अत्र विभक्तेर्लुक् संहितायामिति दीर्घः** (विघनिना) विशेषेण हन्तारौ (**मृधः**) हिंसकान् (**इन्द्राग्नी**) सभासेनाधीशौ (**हवामहे**) आह्वयामः (**ता**) तौ (**नः**) अस्मान् (**मृडातः**) सुखयतः (**ईदृशे**) ईदृग्लक्षणे सङ्ग्रामादिव्यवहारे ॥ ६१ ॥

प्रमाणार्थ--(उग्रा) यहाँ विभक्ति का लुक् तथा संहिता में दीर्घ है—'उग्रा'।।

अन्वयः—हे मनुष्याः! वयं यावुग्र मृधो विघनिनेन्द्राग्नी हवामहे ता ईदृशे नोऽस्मान्मृडातः ॥ ३३ । ६१ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **मनुष्याः! वयं यावुग्रा** उग्रबलौ=तेजस्विस्वभावौ **मृधः** हिंसकान् **विघनिना** विशेषेण हन्तारौ **इन्द्राग्नी** सभासेनाधीशौ **हवामहे** आह्वयामः, **ता** तौ **ईदृशे** ईदृग्लक्षणे सङ्ग्रामादिव्यवहारे **नः अस्मान् मृडातः** सुखयतः ॥ ६१ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो! हम—जो (उग्रा) उग्र अर्थात् तेजस्वी स्वभाव वाले, (मृधः) हिंसकों का (विघनिना) विशेष रूप से हनन करने वाले, (इन्द्राग्नी) सभापति और सेनापति हैं, उन्हें (हवामहे) बुलाते हैं; (ता) वे दोनों (ईदृशे) ऐसे संग्राम आदि व्यवहार में (नः) हमें (मृडातः) सुखी करें ॥ ३३ । ६१ ॥

भावार्थः—यौ सभासेनाध्यक्षौ पक्षपातं विहाय, बलं वर्द्धयित्वा, शत्रून् विजयेते, तौ सर्वेषां सुखप्रदौ भवतः ॥ ३३ । ६१ ॥

भावार्थ—जो सभापति और सेनापति पक्षपात को छोड़कर, बल को बढ़ाकर शत्रुओं को जीतते हैं; वे सब को सुख प्रदान करने वाले होते हैं ॥ ३३ । ६१ ॥

भा० पदार्थः—मृधः=शत्रून्। नः=अस्माकं सर्वेषाम्। मृडातः=सुखप्रदौ भवतः ॥

भाष्यसार—**सभापति और सेनापति क्या करें**—प्रजाजन—उग्र अर्थात् तेजस्वी स्वभाव वाले, हिंसक लोगों का विशेष रूप से हनन करने वाले सभापति और सेनापति लोगों को बुलावें। वे पक्षपात को छोड़कर, बल को बढ़ाकर शत्रुओं को जीतें। संग्राम आदि व्यवहार में सबको सुख प्रदान करें ॥ ३३ । ६१ ॥ ●

देवलः। **सोमः=अध्यापकोऽध्येता च**। निचृद्गायत्री। षड्जः ॥

अथाध्यापकाध्येतारः कथं वर्त्तेरन्नित्याह ॥

अब पढ़ने और पढ़ाने वाले कैसे वर्त्तें, यह उपदेश किया जाता है ॥

उपा॑स्मै गायता नरः पव॑मानायेन्द॑वे। अ॒भि दे॒वाँ२ऽ इय॑क्षते ॥ ६२ ॥

पदार्थः—(उप) (**अस्मै**) (**गायत**) शास्त्राणि पाठयत। **अत्र संहितायामिति दीर्घः** (**नरः**) नायकाः (**पवमानाय**) पवित्रकर्त्रे (**इन्दवे**) ऋजवे विद्यार्थिने (**अभि**) (**देवान्**) विदुषः (**इयक्षते**) यष्टुं=सत्कर्त्तुमिच्छते। **अत्र छान्दसो वर्णलोप इत्यभ्यासयकारलोपः** ॥ ६२ ॥

प्रमाणार्थ—(**गायत**) यहाँ संहिता में दीर्घ है—'गायता'। (**इयक्षते**) यहाँ 'छान्दसो वर्णलोपः' इस वार्त्तिक से अभ्यास के 'यकार' का लोप है ॥

अन्वयः—हे नरो यूयं देवानभीयक्षतेऽस्मै पवमानायेन्दव उपगायत ॥ ६२ ॥

सपदार्थान्वयः—हे नरः ! नायकाः ! **यूयं देवान्** विदुषः **अभि+इयक्षते** यष्टुं=सत्कर्त्तुमिच्छते **अस्मै पवमानाय** पवित्रकर्त्रे **इन्दवे** ऋजवे विद्यार्थिने **उप+गायत** शास्त्राणि पाठयत ॥ ३३ । ६२ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । यथा जिज्ञासवोऽध्यापकान् सन्तुष्टान् कर्त्तुमिच्छन्ति, तथाऽध्यापका अपि तानध्यापयितुमिच्छेयुः ॥३३।६२॥

भाषार्थ—हे (नरः) नायक लोगो ! तुम—(देवान्) विद्वानों का (अभि+इयक्षते) सत्कार करने के इच्छुक (अस्मै) इस (पवमानाय) पवित्र करने वाले (इन्दवे) सरल विद्यार्थी को (उप+गायत) शास्त्र पढ़ाओ ॥ ३३ । ६२ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। जैसे जिज्ञासु लोग अध्यापकों को सन्तुष्ट करना चाहते हैं; वैसे अध्यापक लोग भी उन्हें पढ़ाने की कामना करें ॥ ३३ । ६२ ॥

भा० पदार्थः—देवान्=अध्यापकान् । इन्दवे=जिज्ञासवे [छात्राय] ।

भाष्यसार—१. **अध्यापक और जिज्ञासु कैसे वर्त्ताव करें**—विद्वानों का सत्कार करने वाले, पवित्र, सरल विद्यार्थी को अध्यापक लोग शास्त्र पढ़ावें । जैसे जिज्ञासु लोग अध्यापकों को सन्तुष्ट करना चाहें; वैसे अध्यापक लोग भी उन्हें पढ़ाने की कामना करें ।

२. **अलंकार**—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । उपमा यह है कि जिज्ञासु जनों के व्यवहार के तुल्य अध्यापक लोग भी उन्हें विद्या प्रदान करें ॥ ३३ । ६२ ॥ ●

विश्वामित्रः । **इन्द्रः**=राजा । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

अथ राजधर्मविषयमाह ॥

अब राजधर्म विषय का उपदेश किया जाता है ॥

ये त्वाहिहत्ये मघवन्नवर्द्धन्ये शाम्बरे हरिवो ये गविष्टौ ।

ये त्वा नूनमनुमदन्ति विप्राः पिबेन्द्र सोमꣳ सगणो मरुद्भिः ॥ ६३ ॥

पदार्थः—(ये) (त्वा) त्वाम् (**अहिहत्ये**) अहेर्मेघस्य हत्या=हननं यस्मिँस्तस्मिन् (**मघवन्**) परमपूजितधनयुक्तसेनापते (**अवर्द्धन्**) वर्द्धयेयुः (ये) (**शाम्बरे**) शम्बरस्य= मेघस्याऽयं सङ्ग्रामस्तस्मिन् (**हरिवः**) प्रशस्ता हरयः=किरणा इवाऽश्वा विद्यन्ते यस्य तत्सम्बुद्धौ (ये) (**गविष्टौ**) गवां=किरणानां सङ्गत्याम् (ये) (त्वा) त्वाम् (**नूनम्**) निश्चितम् (**अनु, मदन्ति**) आनुकूल्येन हृष्यन्ति (**विप्राः**) मेधाविनः (**पिब**) (**इन्द्र**) परमैश्वर्य्ययुक्त विद्वन् (**सोमम्**) सदोषधिरसम् (**सगणः**) गणैः सह वर्त्तमानः (**मरुद्भिः**) वायुभिरिव मनुष्यैः ॥ ६३ ॥

अन्वयः—हे मघवन् ! ये विप्रा अहिहत्ये गविष्टौ सूर्यमिव त्वावर्द्धन् । हे हरिवो ये शाम्बरे विद्युतमिव त्वावर्धन् ये नूनं त्वामनुमदन्ति ये च त्वां रक्षन्ति हे इन्द्र ! तैर्मरुद्भिः सह सगणः सूर्यो रसमिव मनुष्यैः सह सोमं पिब ॥ ६३ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **मघवन्** ! परमपूजितधनयुक्तसेनापते ! **ये विप्राः** मेधाविनः **अहिहत्ये** अहेर्मेघस्य हत्या=हननं यस्मिँस्तस्मिन्,

भाषार्थ—हे (मघवन्) परम पूजित धन से युक्त सेनापते ! (ये) जो (विप्राः) मेधावी लोग (अहिहत्ये) अहि=मेघ की हत्या करने वाली

गविष्टौ गवां किरणानां सङ्गत्यां, **सूर्यमिव त्वा** त्वाम् **अवर्द्धन्** वर्द्धयेयुः;

हे हरिवः ! प्रशस्ता हरयः=किरणा इवाऽश्वा विद्यन्ते यस्य तत्सम्बुद्धौ; **ये शाम्बरे** शम्बरस्य=मेघस्यायं सङ्ग्रामस्तस्मिन्, **विद्युतमिव त्वा** त्वाम् **अवर्धन्; ये नूनं** निश्चितं [**त्वा**] **त्वामनु+मदन्ति** आनुकूल्येन हृष्यन्ति **ये च त्वां रक्षन्ति;**

हे **इन्द्र** परमैश्वर्ययुक्त विद्वन् ! **तैर्मरुद्भिः** वायुभिरिव मनुष्यैः **सह सगणः** गणैः सह वर्तमानः **सूर्यो रसमिव, मनुष्यैः सह सोमं** सदोषधिरसं **पिब** ॥ ३३ । ६३ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । यथा मेघसूर्यसङ्ग्रामे सूर्यस्यैव विजयो जायते, तथा मूर्खाणां विदुषां च संग्रामे विदुषामेव विजयो भवति ॥ ३३ । ६३ ॥

(गविष्टौ) किरणों की संगति में सूर्य के तुल्य (त्वा) तुझे (अवर्द्धन्) बढ़ाते हैं ।

हे (हरिवः) हरि=किरणों के तुल्य घोड़ों वाले सेनापते ! (ये) जो (शाम्बरे) संग्राम में विद्युत् के तुल्य (त्वा) तुझे (अवर्धन्) बढ़ाते हैं;—और (ये) जो (नूनम्) निश्चित रूप से [त्वा]=तुझे (अनु+मदन्ति) अनुकूलता से हर्षित करते हैं; और जो तेरी रक्षा करते हैं;

हे (इन्द्र) परम ऐश्वर्य से युक्त विद्वान् ! तू—उन (मरुद्भिः) वायु के तुल्य मनुष्यों के साथ (सगणः) गणों के साथ वर्तमान होकर—जैसे सूर्य इसका पान करता है वैसे—(सोमम्) उत्तम ओषधियों के रस का (पिब) पान कर ॥३३ । ६३॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। जैसे मेघ और सूर्य के संग्राम में सूर्य का ही विजय होता है; वैसे मूर्ख और विद्वानों के संग्राम में विद्वानों का ही विजय होता है ॥ ६३ ॥

भाष्यसार—१. **राजधर्म**—परमपूजित धन से युक्त सेनापति को मेधावी विद्वान् लोग—जैसे मेघ के हनन होने तथा सूर्य-किरणों की संगति होने पर सूर्य बढ़ता है—वैसे तुझे बढ़ावें। प्रशस्त किरणों के तुल्य अश्वों से युक्त सेनापति को—जैसे मेघ के संग्राम में विद्युत् बढ़ता है, वैसे उक्त विद्वान् लोग बढ़ावें। निश्चित रूप से सेनापति को अनुकूल व्यवहार से हर्षित करें। सेनापति की रक्षा करें। परम ऐश्वर्य से युक्त विद्वान् सेनापति—जैसे वायुओं के साथ सगण सूर्य रस का पान करता है; वैसे उक्त विद्वान् मनुष्यों के साथ सोम-रस का पान करें।

२. **अलंकार**—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि जैसे मेघ और सूर्य के संग्राम में सूर्य का ही विजय होता है, वैसे मूर्ख और विद्वानों के संग्राम में विद्वानों का ही विजय होता है ॥ ३३ । ६३ ॥

गौरीवितिः । **इन्द्रः=राजा** । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

राजधर्म का फिर उपदेश किया है ॥

जनिष्ठाऽ उ॒ग्रः सह॑से तु॒राय॑ म॒न्द्रऽ ओजि॑ष्ठो बहुलाभि॑मानः ।
अव॑र्द्ध॒न्निन्द्रं॑ म॒रुत॑श्चि॒दत्र॑ मा॒ता यद्वी॒रं द॒धन॒द्धनि॑ष्ठा ॥ ६४ ॥

पदार्थः—(**जनिष्ठाः**) जनयेः । **अत्र लुङ्यडभावः** (**उग्रः**) तेजस्विस्वभावः (**सहसे**) बलाय (**तुराय**) शीघ्रत्वाय (**मन्द्रः**) स्तुत=आनन्दप्रदः (**ओजिष्ठः**) अतिशयेन ओजस्वी (**बहुलाभिमानः**) बहुलो=बहुविधोऽभिमानो यस्य सः (**अवर्द्धन्**) वर्द्धयेयुः (**इन्द्रम्**) सूर्य्यम् (**मरुतः**) वायवः (**चित्**) इव (**अत्र**)

अस्मिन् राज्यपालनव्यवहारे (**माता**) जननी (**यत्**) यम् (**वीरम्**) शौर्यादिगुणयुक्तं पुत्रम् (**दधनत्**) अपोषयत् । अनकारागमश्छान्दसः (**धनिष्ठा**) अतिशयेन धनिनी ॥ ६४ ॥

प्रमाणार्थ—(**जनिष्ठाः**) यहाँ 'लुङ्' लकार में 'अट्' आगम का अभाव है । (**दधनत्**) यहाँ 'अन' का आगम छान्दस=वैदिक है ॥

अन्वयः—हे राजन् ! धनिष्ठा माता यद्वीरं दधनदिन्द्रं मरुतश्चिदिव सभ्या यं त्वामवर्धयन्त्स त्वमत्र सहसे तुराय उग्रो मन्द्र ओजिष्ठो बहुलाभिमानः सन् सुखं जनिष्ठाः ॥ ६४ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे राजन् ! धनिष्ठा** अतिशयेन धनिनी **माता** जननी **यत्** यं **वीरं** शौर्यादिगुणयुक्तं पुत्रं **दधनत्** अपोषयत्, **इन्द्रं** सूर्य्यं **मरुतः** वायवः **चित्=इव सभ्या यं त्वाम्** [**अवर्द्धन्**]=**अवर्धयन्** वर्द्धयेयुः, **स त्वमत्र** अस्मिन् राज्यपालनव्यवहारे **सहसे** बलाय **तुराय** शीघ्रत्वाय **उग्रः** तेजस्विस्वभावः, **मन्द्रः**, स्तुत=आनन्दप्रदः, **ओजिष्ठः** अतिशयेन ओजस्वी, **बहुलाभिमानः** बहुलो=बहुविधोऽभिमानो यस्य सः, **सन् सुखं जनिष्ठाः** जनयेः ॥ ३३ । ६४ ॥

भाषार्थ—हे राजन् ! (धनिष्ठा) अत्यन्त धन वाली (माता) माता ने (यत्) जिस तुझ (वीरम्) शौर्य आदि गुणों से युक्त पुत्र का (दधनत्) पोषण किया है; (इन्द्रम्) सूर्य को (मरुतः) वायु के (चित्) तुल्य सभ्य लोग जिस तुझ को [अवर्द्धन्] बढ़ाते हैं; सो तू (अत्र) इस राज्यपालन के व्यवहार में (सहसे) बल एवं (तुराय) वेग के लिए (उग्रः) तेजस्वी स्वभाव वाला, (मन्द्रः) आनन्द प्रदान करने वाला, (ओजिष्ठः) अत्यन्त ओजस्वी (बहुलाभिमानः) बहुत प्रकार के अभिमान वाला होकर सुख को (जनिष्ठाः) उत्पन्न कर ॥ ३३ । ६४ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः । यः स्वयं ब्रह्मचर्येण शरीरात्मबलयुक्तो विद्वान् स दुष्टान् प्रत्युग्रः कठिनस्वभावः, श्रेष्ठे सोऽन्यस्वभावः सन्, बहुसुसभ्यावृतो धर्मात्मा भूत्वा न्यायविनयाभ्यां राज्यं पालयेत, स सर्वतोऽभिवर्द्धेत ॥ ३३ । ६४ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमा अलंकार है। जो स्वयं ब्रह्मचर्य से शरीर और आत्मा के बल से युक्त विद्वान् है, वह दुष्टों के प्रति उग्र अर्थात्—कठिन स्वभाव वाला, वह श्रेष्ठ के प्रति कोमल स्वभाव वाला तथा बहुत सभ्यजनों से आवृत धर्मात्मा होकर न्याय और विनय से राजा राज्य का पालन करता है; वह सब ओर से बढ़ता है ॥६४॥

भा० पदार्थः—ओजिष्ठः=स्वयं ब्रह्मचर्येण शरीरात्मबलयुक्तो विद्वान् । उग्रः=दुष्टान् प्रत्युग्रः कठिनस्वभावः । बहुलाभिमानः=बहुसुसभ्यावृतः ॥

भाष्यसार—१. **राजधर्म**—हे राजन् ! अत्यन्त धनी माता जिस शौर्य आदि गुणों से युक्त तुझ वीर पुत्र का पोषण करती है । उसे तू सुख प्रदान कर । जैसे वायु सूर्य को बढ़ाती है वैसे सभ्य जन तुझे बढ़ावें । तू इस राज्यपालन के व्यवहार में बल और वेग को प्राप्त करने के लिए तेजस्वी, आनन्द प्रदान करने वाला, अत्यन्त ओजस्वी, बहुविध अभिमान से युक्त होकर सुख को उत्पन्न कर । ब्रह्मचर्य से शरीर और आत्मा के बल से युक्त होकर दुष्टों के प्रति कठोर स्वभाव वाला और श्रेष्ठों के प्रति कोमल स्वभाव वाला हो । बहुत सभ्य जनों से आवृत तथा धर्मात्मा होकर न्याय और विनयपूर्वक राज्य का पालन कर ।

२. **अलङ्कार**—इस मन्त्र में उपमा वाचक 'चित्' पद है; अतः उपमा अलङ्कार है । उपमा यह है कि जैसे वायु सूर्य को बढ़ाता है वैसे सभ्य प्रजाजन राजा को बढ़ावें ॥ ३३ । ६४ ॥

वामदेवः । **इन्द्रः=राजा** । गायत्री । षड्जः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

राजधर्म का फिर उपदेश किया है ॥

आ तू न॑ऽ इन्द्र वृत्रहन्नस्माकमर्द्धमा ग॑हि । म॒हान्म॒हीभि॑रू॒तिभिः॑ ॥ ६५ ॥

पदार्थः—(**आ**) समन्तात् (**तु**) क्षिप्रम् । **अत्र ऋचितुनु० इति दीर्घः** (**नः**) अस्मान् (**इन्द्र**) परमैश्वर्यवन् (**वृत्रहन्**) शत्रूणां विनाशक (**अस्माकम्**) (**अर्धम्**) वर्धनम् (**आ**) (**गहि**) प्राप्नुहि (**महान्**) पूजनीयतमः (**महीभिः**) महतीभिः (**ऊतिभिः**) रक्षादिभिः ॥ ६५ ॥

प्रमाणार्थ—(तु) यहाँ 'ऋचि तुनु०' (६ । ३ । ११४) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—'तू' ॥

अन्वयः—हे वृत्रहन्निन्द्र ! त्वमस्माकमर्द्धमागहि महान् सन्महीभिरूतिभिर्नोऽस्मान् त्वादधनत् ॥ ६५ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **वृत्रहन्** शत्रूणां विनाशक ! **इन्द्र** परमैश्वर्यवन् ! **त्वमस्माकमर्द्धं** वर्धनम् **आ+गहि** समन्तात् प्राप्नुहि । **महान्** पूजनीयतमः **सन्महीभिः** महतीभिः **ऊतिभिः** रक्षादिभिः **नः=अस्मान् तु** क्षिप्रम् **आदधनत्** ॥३३।६५॥

भाषार्थ—हे (वृत्रहन्) शत्रुओं का विनाश करने वाले (इन्द्र) परम ऐश्वर्य से युक्त राजन् ! तू—(अस्माकम्) हमारी (अर्द्धम्) वृद्धि को (आ+गहि) सब ओर से प्राप्त कर। तू (महान्) पूज्यतम होकर (महीभिः) महान् (ऊतिभिः) रक्षा आदि से (नः) हमें (तू) शीघ्र (आ+दधनत्) सब ओर से पुष्ट कर ॥ ३३ । ६५ ॥

भावार्थः—अत्र पूर्वस्मान्मन्त्राद् दधनदिति पदमनुवर्त्तते । हे राजन् ! यथा भवानस्माकं रक्षकोऽस्ति तथा वयमपि भवन्तं वर्द्धयेम । सर्वे वयं मिलित्वा दुष्टान् निवार्य श्रेष्ठान् धनाढ्यान् कुर्याम ॥ ३३ । ६५ ॥

भावार्थ—यहाँ पूर्व मन्त्र से 'दधनत्' इस पद की अनुवृत्ति है। हे राजन् ! जैसे आप हमारे रक्षक हैं; वैसे हम भी आपको बढ़ाते हैं। हम सब मिलकर दुष्टों का निवारण करके श्रेष्ठों को धनाढ्य बनावें ॥ ३३ । ६५ ॥

भाष्यसार—**राजधर्म**—शत्रुओं का विनाशक, परम ऐश्वर्य से युक्त राजा—प्रजा की वृद्धि को सब ओर प्राप्त करे। वह प्रजा का पूज्यतम होकर महान् रक्षा आदि के द्वारा उसका धारण-पोषण करे। जैसे राजा प्रजा का रक्षक हो, वैसे प्रजा भी राजा को बढ़ावे। राजा और प्रजा दोनों मिलकर दुष्टों का निवारण करें तथा श्रेष्ठों को धनाढ्य बनावें ॥ ३३ । ६५ ॥

नृमेधः । **इन्द्रः=राजा** । भुरिगनुष्टुप् । गान्धारः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

राजधर्म का फिर उपदेश किया है ॥

त्वमि॑न्द्र॒ प्रतू॑र्त्तिष्व॒भि विश्वा॑ऽ असि॒ स्पृधः॑ ।
अ॒श॒स्ति॒हा ज॑नि॒ता वि॑श्व॒तूर॑सि॒ त्वं तू॑र्य्य तरु॒ष्य॒तः ॥ ६६ ॥

पदार्थः—(त्वम्) (इन्द्र) परमैश्वर्य्यप्रद (**प्रतूर्त्तिषु**) हननकर्मसु सङ्ग्रामेषु (**अभि**) (**विश्वाः**) सर्वाः (**असि**) भवसि (**स्पृधः**) स्पर्द्धमाना=ईर्ष्यायुक्ताः शत्रुसेनाः (**अशस्तिहा**) अपशंसानां=दुष्टानां हन्ता (**जनिता**) सुखानि प्रादुर्भावुकः (**विश्वतूः**) विश्वान् शत्रून् तूर्यति=हिनस्ति सः (**असि**) (त्वम्) (**तूर्य**) हिन्धि (**तरुष्यतः**) हनिष्यतः शत्रून् ॥ ६६ ॥

अन्वयः—हे इन्द्र ! यतस्त्वं प्रतूर्त्तिषु विश्वा स्पृधोऽभ्यसि । अशस्तिहा जनिता विश्वतूरसँस्त्वं विजयवानसि । तस्मात्तरुष्यतस्तूर्य्य ॥ ६६ ॥

सपदार्थान्वयः—हे इन्द्र परमैश्वर्य-प्रद ! **यतस्त्वं प्रतूर्त्तिषु** हननकर्मसु सङ्ग्रामेषु **विश्वाः** सर्वाः **स्पृधः** स्पर्द्धमाना=ईर्ष्यायुक्ताः शत्रुसेनाः **अभ्यसि** भवसि; **अशस्तिहा** अपशंसानां=दुष्टानां हन्ता **जनिता** सुखानि प्रादुर्भावुकः **विश्वतूः** विश्वान् शत्रून् तूर्यति=हिनस्ति स **सँस्त्वं विजयवानसि; तस्मात् तरुष्यतः** हनिष्यतः शत्रून् **तूर्यः** हिन्धि ॥ ३३ । ६६ ॥

भाषार्थ—हे (इन्द्र) परम ऐश्वर्य प्रदान करने वाले राजन् ! जिससे तू—(प्रतूर्त्तिषु) हनन कर्म वाले संग्रामों में (विश्वाः) सब (स्पृधः) स्पर्द्धा=ईर्ष्या से युक्त शत्रु-सेनाओं को (अभि-असि) अभिभूत करता है; (अशस्तिहा) निन्दक शत्रुओं का हनन करने वाला, (जनिता) सुखों को उत्पन्न करने वाला, (विश्वतूः) सब शत्रुओं का हनन करने वाला होकर तू—विजयी होता है; अतः (तरुष्यतः) हनन करने वाले शत्रुओं को (तूर्यः) मार ॥ ६६ ॥

भावार्थः—ये पुरुषा अधर्म्यकर्मनिवर्त्तकाः, सुखानां जनका, युद्धविद्यासु कुशलाः स्युः, ते शत्रून् विजेतुं शक्नुयुः ॥ ३३ । ६६ ॥

भावार्थ—जो पुरुष अधर्म युक्त कर्मों से हटाने वाले, सुखों के उत्पादक और युद्ध विद्या में कुशल होते हैं, वे शत्रुओं को जीत सकते हैं ॥६६॥

भा० पदार्थः—अशस्तिहा=अधर्म्यकर्मनिवर्त्तकः । जनिता=सुखानां जनकः । विश्वतूः=युद्धविद्यासु कुशलः ॥

भाष्यसार—राजधर्म—परम ऐश्वर्य को प्रदान करने वाला राजा—संग्रामों में सब ईर्ष्यालु शत्रु-सेनाओं को अभिभूत करे; दबावे । और वह दुष्टों का हनन करने वाला, सुखों को प्रकट करने वाला, सब शत्रुओं का हनन करने वाला होकर विजयी हो । हनन कर्म करने वाले शत्रुओं का वध करे ॥ ३३ । ६६ ॥ ●

नृमेधः । **इन्द्रः=राजा** । पङ्क्तिः । पञ्चमः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

राजधर्म का फिर उपदेश किया है ॥

अनु ते शुष्मं तुरयन्तमीयतुः क्षोणी शिशुं न मातरा ।
विश्वास्ते स्पृधः श्नथयन्त मन्यवे वृत्रं यदिन्द्र तूर्वसि ॥ ६७ ॥

पदार्थः—(**अनु**) (ते) तव (**शुष्मम्**) शत्रूणां शोषकं बलम् (**तुरयन्तम्**) हिंसन्तम् (**ईयतुः**) गच्छतः (**क्षोणी**) स्वपरभूमी । क्षोणीति पृथिवीना० ॥ निघं० १ । १ ॥ (**शिशुम्**) बालकम् (**न**) इव (**मातरा**) मातापितरौ (**विश्वाः**) अखिलाः (**ते**) तव (**स्पृधः**) अरिसेनाः (**श्नथयन्त**) श्नथयन्ति=हता भवन्ति । अत्राडभावः (**मन्यवे**) क्रोधात् । पञ्चम्यर्थे चतुर्थी (**वृत्रम्**) न्यायावरकं शत्रुम् (**यत्**) यम् (**इन्द्र**) शत्रुविदारक (**तूर्वसि**) हिनस्ति ॥ ६७ ॥

प्रमाणार्थ—(**क्षोणी**) स्व-परभूमी 'क्षोणि' यह पद निघण्टु (१ । १) में पृथिवी-नामों में पठित है। (**श्नथयन्त**) यहाँ 'अट्' आगम का अभाव है। (**मन्यवे**) क्रोधात्। यहाँ पंचमी विभक्ति के अर्थ में चतुर्थी विभक्ति है ॥

अन्वयः—हे इन्द्र ! यस्य ते तुरयन्तं शुष्मं शिशुं मातरा न क्षोणी अन्वीयतुस्तस्य ते मन्यवे विश्वाः स्पृधः श्नथयन्त यद्यं वृत्रं शत्रुं त्वं तूर्वसि स पराजितो भवति ॥ ६७ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे इन्द्र** शत्रुविदारक ! **यस्य ते** तव **तुरयन्तं** हिंसन्तं **शुष्मं** शत्रूणां शोषकं बलं **शिशुं** बालकं **मातरा** मातापितरौ **न** इव **क्षोणी** स्वपरभूमी **अन्वीयतुः** गच्छतः; **तस्य ते** तव **मन्यवे** क्रोधाद् **विश्वाः** अखिलाः **स्पृधः** अरिसेनाः **श्नथयन्त** श्नथयन्ति=हता भवन्ति। **यत्=यं वृत्रं** =**शत्रुं** न्यायावरकं शत्रुं **त्वं तूर्वसि** हिनस्ति, **स पराजितो भवति** ॥ ३३ । ६७ ॥

भाषार्थ—हे (इन्द्र) शत्रुओं का विदारण करने वाले राजन् ! (ते) तेरे (तुरयन्तम्) हिंसक (शुष्मम्) शत्रुओं के शोषक बल का-(शिशुम्) बालक को (मातरा) माता-पिता के (न) समान—(क्षोणी) अपनी और पराई भूमि (अनु+ईयतुः) अनुगमन करती हैं; सो (तव) तेरे (मन्यवे) क्रोध से (विश्वाः) सब (स्पृधः) शत्रु-सेनाएँ (श्नथयन्त) नष्ट हो जाती हैं; और (यत्) जिस (वृत्रम्) न्याय के आच्छादक शत्रु को तू (तूर्वसि) मारता है; वह पराजित हो जाता है ॥ ३३ । ६७ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः। येषां राजपुरुषाणां हृष्टाः, पुष्टा, युद्धं प्रतिजानानाः सेनाः स्युः, ताः सर्वत्र विजयमाप्नुयुः ॥ ३३ । ६७ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमा अलङ्कार है। जिन राजपुरुषों की हृष्ट-पुष्ट, युद्ध को जानने वाली सेनाएँ होती हैं; वे सर्वत्र विजय को प्राप्त करती हैं ॥ ३३ । ६७ ॥

भाष्यसार—**राजधर्म**—शत्रुओं का विदारण करने वाले राजा का जो हिंसात्मक शत्रुओं का शोषक बल है उसका अपनी और पराई भूमि—जैसे बालक माता का अनुगमन करता है—वैसे अनुगमन करें। राजा के क्रोध से सब शत्रु-सेनाओं का हनन हो। वह न्याय को आच्छादित करने वाले शत्रु का हनन करे, उसे पराजित करे। राजा के पास हृष्ट-पुष्ट सेनाएँ युद्ध को जानने वाली हों जो सर्वत्र विजय को प्राप्त करें ॥ ३३ । ६७ ॥ ●

कुत्सः। **आदित्याः=राजपुरुषाः**। निचृज्जगती। निषादः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

राजधर्म का फिर उपदेश किया है ॥

य॒ज्ञो दे॒वानां॒ प्रत्ये॑ति सु॒म्नमादि॑त्यासो॒ भव॑ता मृड॒यन्तः॑।
आ वो॒ऽर्वाची॑ सु॒म॒तिर्व॑वृत्याद॒ꣳहोश्चि॒द्या व॑रिवो॒वित्त॒रास॑त् ॥ ६८ ॥

पदार्थः—(**यज्ञः**) सङ्गन्तव्यः सङ्ग्रामादिव्यवहारः (**देवानाम्**) विदुषाम् (**प्रति**) (**एति**) प्राप्नोति (**सुम्नम्**) सुखं कर्त्तुम् (**आदित्यासः**) सूर्यवत्तेजस्विनः (**भवत**) अत्र संहितायामिति दीर्घः (**मृडयन्तः**) सुखयन्तः (**आ**) (**वः**) युष्माकम् (**अर्वाची**) अस्मदभिमुखी (**सुमतिः**) शोभना प्रज्ञा (**ववृत्यात्**) आवर्त्तताम्। वृतु धातोर्लिङि विकरणात्मनेपदं व्यत्ययेन श्लुर्द्वित्वं च (**अंहोः**) अपराधिनः (**चित्**) अपि (**या**) (**वरिवोवित्तरा**) यातिशयेन परिचरणलब्ध्री (**असत्**) स्यात् ॥ ६८ ॥

प्रमाणार्थ—(**भवत**) यहाँ संहिता में दीर्घ है—'भवता'। (**ववृत्यात्**) यहाँ 'वृतु' धातु से 'लिङ्' लकार में विकरण तथा आत्मनेपद और व्यत्यय से श्लु व द्वित्व ॥

अन्वयः—हे आदित्यासः पूर्णविद्या यूयं यथा देवानां यज्ञो सुम्नं प्रत्येति तथा मृडयन्तो भवत। यथा वो वरिवोवित्तराऽर्वाची सुमतिराववृत्यादंहोश्चित्तथा सुखकरी असत् ॥ ६८ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **आदित्यासः**=पूर्णविद्या सूर्यवत्तेजस्विनः! **यूयं यथा देवानां** विदुषां **यज्ञः** सङ्गन्तव्यः सङ्ग्रामादिव्यवहारः **सुम्नं** सुखं कर्त्तुं **प्रत्येति** प्राप्नोति **तथा मृडयन्तः** सुखयन्तः **भवत**।

यथा वः युष्माकं [**या**] **वरिवोवित्तरा** यातिशयेन परिचरणलब्ध्री **अर्वाची** अस्मदभिमुखी **सुमतिः** शोभना प्रज्ञा **आववृत्यात्** आवर्त्ततताम् **अंहोः** अपराधिनः **चित्** अपि **तथा सुखकारी असत्** स्यात् ॥ ३३ । ६८ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यस्य देशस्य मध्ये पूर्णविद्या राजकर्मकराः स्युः, तत्र सर्वेषामेका मतिर्भूत्वा सुखमत्यन्तं वर्धेत ॥६८॥

भाषार्थ—हे (आदित्यासः) सूर्य के तुल्य तेजस्वी पूर्ण विद्या वाले राजपुरुषो! तुम—जैसे (देवानाम्) विद्वानों का (यज्ञः) संगति के योग्य संग्राम आदि व्यवहार (सुम्नम्) सुख (प्रत्येति) पहुँचाता है, वैसे (मृडयन्तः) सुख देने वाले बनो।

जैसे (वः) तुम्हारी [या] जो (वरिवोवित्तरा) अत्यन्त सेवा को प्राप्त करने वाली (अर्वाची) हमारे अभिमुख हुई (सुमतिः) उत्तम प्रज्ञा (आववृत्यात्) है; वह (अंहोः) अपराधियों के प्रति (चित्) वैसी सुख देने वाली (असत्) हो ॥३३।६८॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। जिस देश में पूर्ण विद्या वाले राजकर्मचारी होते हैं; वहाँ सब की एक मति होकर अत्यन्त सुख बढ़ता है ॥ ३३ । ६८ ॥

भा० पदार्थः—आदित्यासः=पूर्णविद्याराजकर्मकराः। सुमतिः=एका मतिः ॥

भाष्यसार—**१. राजधर्म**—पूर्ण विद्या से युक्त, सूर्य के समान तेजस्वी राजपुरुष—जैसे विद्वानों का यज्ञ=संग्राम आदि व्यवहार सुख पहुँचाता है—वैसे सब को सुख प्रदान करें। उनकी उत्तम प्रज्ञा सेवा को प्राप्त करने वाली तथा प्रजाभिमुखी हो, जो अपराधियों को भी सुख प्रदान करने वाली हो। जिस देश में पूर्ण विद्या वाले राजकर्मचारी होते हैं; वहाँ सब की एक मति होकर अत्यन्त सुख बढ़ता है।

२. अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि राजपुरुष विद्वानों के यज्ञ के समान सबको सुख प्रदान करें ॥ ३३ । ६८ ॥ ●

भरद्वाजः। **सविता**=**राजा**। निचृज्जगती। निषादः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

राजधर्म का फिर उपदेश किया है ॥

अद॑ब्धेभिः सवितः पा॒युभि॒ष्ट्वꣳ शि॒वेभि॑र॒द्य परि॑ पाहि नो॒ गय॑म्।
हिर॑ण्यजिह्वः सुवि॒ताय॒ नव्य॑से रक्षा॒ माकि॑र्नोऽ अ॒घश॑ꣳसऽईशत ॥ ६९ ॥

पदार्थः—(**अदब्धेभिः**) अहिंसितैः (**सवितः**) अनेकपदार्थोत्पादक तेजस्विन् विद्वन् राजन्! (**पायुभिः**) रक्षणैः (**त्वम्**) (**शिवेभिः**) कल्याणकारकैः (**अद्य**) (**परि**) (**पाहि**) रक्ष (**नः**) अस्माकम्

(**गयम्**) प्रशंसनीयमपत्यं धनं गृहं वा । **गय इत्यपत्यनाम ॥ निघं० २ । २ ॥ धननाम ॥ २ । १० ॥ गृहनाम च ॥ ३ । ४ ॥** (**हिरण्यजिह्वः**) हिरण्यं=हितरमणीया जिह्वा वाग्यस्य सः । **हितरमणम्भवतीति वा हृदयरमणम्भवतीति वा ॥ निरु० २ । १० ॥ जिह्वेति वाङ्ना० ॥ निघं० १ । ११ ॥** (**सुविताय**) ऐश्वर्याय (**नव्यसे**) अतिशयेन नवीनाय (**रक्ष**) **अत्र द्व्यचोतस्तिङ इति दीर्घः** (**माकिः**) निषेधे (**नः**) अस्मान् (**अघशंसः**) अघस्य=पापस्य स्तोता चोरः (**ईशत**) समर्थो भवेत् ॥ ६९ ॥

प्रमाणार्थ—(**गयम्**) प्रशंसनीयमपत्यं धनं गृहं वा । 'गय' यह पद निघण्टु (२ । २) में अपत्य-नामों में पठित है—अपत्य=सन्तान । निघण्टु (२ । १०) में धन-नामों में और निघण्टु (३ । ४) में गृह-नामों में पठित है । (**हिरण्यजिह्वः**) हिरण्यं हितरमणीया जिह्वा=वाग् यस्य सः । हिरण्य हित में रमण कराने वाला होता है अथवा हृदय को प्यारा लगने वाला होता है अंतः इसे हिरण्य कहते हैं । (**निरु० २ । १०**) ॥ 'जिह्वा' पद निघण्टु (२ । १०) में वाक्-नामों में पठित है—वाक्=वाणी । (**रक्ष**) यहाँ 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (६ । ३ । १३५) से संहिता में दीर्घ है—'रक्षा' ॥

अन्वयः—हे सवितस्त्वमदब्धेभिः शिवेभिः पायुभिरद्य नो गयं परिपाहि हिरण्यजिह्वः सन् नव्यसे सुविताय नो रक्ष यतोऽघशंसो नो माकिरीशत ॥ ६९ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे सवितः** अनेकपदार्थोत्पादक तेजस्विन् विद्वन् राजन् ! **त्वमदब्धेभिः** अहिंसितैः **शिवेभिः** कल्याणकारकैः **पायुभिः** रक्षणैः **अद्य नः** अस्माकं **गयं** प्रशंसनीयमपत्यं धनं गृहं वा **परिपाहि** रक्ष । **हिरण्यजिह्वः** हिरण्यं=हितरमणीया जिह्वा=वाग् यस्य **सः सन् नव्यसे** अतिशयेन नवीनाय **सुविताय** ऐश्वर्याय **नः** अस्मान् **रक्ष** । **यतोऽघशंसः** अघस्य=पापस्य स्तोता चोरः **नः** अस्मान् **माकिः** न **ईशत** समर्थो भवेत् ॥ ३३ । ६९ ॥

भाषार्थ—हे (सवितः) अनेक पदार्थों के उत्पादक तेजस्वी विद्वान् राजन् ! तू—(अदब्धेभिः) अहिंसित (शिवेभिः) कल्याणकारक (पायुभिः) रक्षाओं से (अद्य) आज (नः) हमारे (गयम्) प्रशंसनीय सन्तान, धन वा घर की (परिपाहि) रक्षा कर (हिरण्यजिह्वः) हित में रमण करने वाली जिह्वा=वाणी से युक्त होकर (नव्यसे) अत्यन्त नवीन (सुविताय) ऐश्वर्य के लिए (नः) हमारी (रक्ष) रक्षा कर । जिससे (अघशंसः) अघ=पाप की स्तुति करने वाला चोर (नः) हम पर (माकिः) न (ईशत) समर्थ होवे ॥ ३३ । ६९ ॥

भावार्थः—प्रजाजनै राजपुरुषा एवं सम्बोधनीयाः यूयमस्माकमपत्यधनगृहादीनां पदार्थानां रक्षणेन, नवीनं नवीनमैश्वर्यं प्रापय्य, अस्मभ्यं पीडाप्रदान् दूरे रक्षत ॥ ३३ । ६९ ॥

भावार्थ—प्रजा जन राजपुरुषों को इस प्रकार सम्बोधित करें—तुम हमारे सन्तान, धन, घर आदि पदार्थों की रक्षा से नया-नया ऐश्वर्य प्राप्त कराके, हमें पीड़ा प्रदान करने वालों को दूर रखो ॥ ३३ । ६९ ॥

भा० पदार्थः—गयम्=अपत्यधनगृहादिकम् । अघशंसः=पीडाप्रदः ॥

भाष्यसार—**राजधर्म**—अनेक पदार्थों का उत्पादक तेजस्वी, विद्वान् राजा—अहिंसित, कल्याणकारक रक्षाओं से प्रजा के प्रशंसनीय सन्तान, धन और घर की रक्षा करे । हित में रमण करने वाली वाणी से युक्त होकर नवीन ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए प्रजा की रक्षा करे । जिससे कोई पापी पाप की स्तुति करने वाला चोर प्रजा में समर्थ न हो सके ॥ ३३ । ६९ ॥

वसिष्ठः । **वायुः**=राजा । विराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

राजधर्म का फिर उपदेश किया है ॥

प्र वी॒रया॒ शुच॑यो दद्रिरे वामध्व॒र्युभि॒र्मधु॑मन्तः सु॒तासः॑ ।
वह॑ वायो नि॒युतो॑ या॒ह्यच्छा॒ पिबा॑ सु॒तस्यान्ध॑सो॒ मदा॑य ॥ ७० ॥

पदार्थः—(**प्र**) (**वीरया**) वीरयुक्तया (**शुचयः**) पवित्राः (**दद्रिरे**) विदीर्णान् कुर्वन्ति । व्यत्ययेनात्रात्मनेपदम् (**वाम्**) युवयोः राजप्रजाजनयोः (**अध्वर्युभिः**) हिंसाऽन्यायवर्जितैः सह (**मधुमन्तः**) प्रशस्तविज्ञानयुक्ताः (**सुतासः**) विद्यासुशिक्षाभ्यां निष्पन्नाः (**वह**) प्रापय (**वायो**) वायुवद्वर्त्तमान बलिष्ठ राजन् ! (**नियुतः**) नितरां मिश्रितामिश्रितान् वाय्वादिगुणान् (**याहि**) प्राप्नुहि (**अच्छ**) सम्यक् । अत्र निपातस्य चेति दीर्घः (**पिब**) अत्र द्व्यचोऽतस्तिङ इति दीर्घः (**सुतस्य**) निष्पन्नस्य (**अन्धसः**) अन्नस्य (**मदाय**) आनन्दाय ॥ ७० ॥

प्रमाणार्थ—(**दद्रिरे**) यहाँ व्यत्यय से आतमनेपद है । (**अच्छ**) यहाँ 'निपातस्य च' (६ । ३ । १३६) से संहिता में दीर्घ है—'अच्छा' । (**पिब**) यहाँ 'द्व्यचोऽतस्तिङः' से संहिता में दीर्घ है—'पिबा' ॥

अन्वयः—हे राजप्रजाजनौ ! ये वां मधुमन्तः सुतासः शुचयो जना अध्वर्युभिः वीरया सेनया शत्रून् प्र दद्रिरे तैः सह हे वायो ! त्वं नियुतः वह अच्छ याहि मदाय सुतस्यान्धसो रसं च पिब ॥ ७० ॥

सपदार्थान्वयः—**हे राजप्रजाजनौ ! ये वां** युवयोः राजप्रजाजनयोः **मधुमन्तः** प्रशस्तविज्ञानयुक्ताः **सुतासः** विद्यासुशिक्षाभ्यां निष्पन्नाः **शुचयः** पवित्राः **जना अध्वर्युभिः** हिंसाऽन्यायवर्जितैः सह **वीरया** वीरयुक्तया **सेनया शत्रून् प्रदद्रिरे** विदीर्णान् कुर्वन्ति, **तैः सह—हे वायो** ! वायुवद् वर्त्तमान बलिष्ठ राजन् ! **त्वं नियुतः** नितरां मिश्रितामिश्रितान् वाय्वादिगुणान् **वह** प्रापय, **अच्छ** सम्यक् **याहि** प्राप्नुहि, **मदाय** आनन्दाय **सुतस्य** निष्पन्नस्य **अन्धसः** अन्नस्य **रसं च पिब** ॥ ३३ । ७० ॥

भावार्थः—ये पवित्राचरणा, राजप्रजाभक्ता, विज्ञानवन्तो वीरसेनया शत्रून् विदृणन्ति, तान् प्राप्य राजाऽऽनन्दितो भवेत् । यथा स्वस्मा आनन्दमिच्छेत् तथा राजप्रजाजनेभ्योऽपि काङ्क्षेत ॥ ३३ । ७० ॥

भाषार्थ--हे राजा और प्रजाजनो ! जो (वाम्) तुम्हारे ! (मधुमन्तः) प्रशस्त विज्ञान से युक्त, (सुतासः) विद्या और सुशिक्षा से निष्पन्न, (शुचयः) पवित्र जन (अध्वर्युभिः) हिंसा और अन्याय से वर्जित कर्मों के साथ (वीरया) वीरों से युक्त सेना से शत्रुओं का (प्रदद्रिरे) विदारण करते हैं; उनके साथ—हे (वायो) वायु के तुल्य बलिष्ठ राजन् तू—(नियुतः) नितान्त मिश्रित अमिश्रित वायु आदि के गुणों को (वह) प्राप्त करा तथा (अच्छ) अच्छे प्रकार से स्वयं (याहि) प्राप्त कर, (मदाय) आनन्द के लिए (सुतस्य) निष्पन्न (अन्धसः) अन्न के रस का (पिब) पान कर ॥ ७० ॥

भावार्थ—जो पवित्र आचरण वाले, राजा और प्रजा के भक्त, विज्ञान वाले राजपुरुष—वीर सेना से शत्रुओं का विदारण करते हैं, उन्हें, प्राप्त करके राजा आनन्दित हो। राजा जैसे अपने लिए आनन्द चाहे वैसे राजपुरुष और प्रजाजनों **के लिए भी आनन्द की कामना करे ॥ ३३ । ७० ॥**

भा० पदार्थः—शुचयः=पवित्राचरणाः । मधुमन्तः=विज्ञानवन्तः । प्रदद्रिरे=विद्दणन्ति ॥

भाष्यसार—राजधर्म—जो प्रशस्त विज्ञान से युक्त, विद्या और सुशिक्षा से निष्पन्न, पवित्र लोग—हिंसा और अन्याय से दूर रहने वाले लोगों के द्वारा वीर सेना से शत्रुओं का विदारण करते हैं; उन लोगों के सहाय से—वायु के तुल्य बलिष्ठ राजा वायु आदि गुणों को प्राप्त करावे और स्वयं भी अच्छे प्रकार उक्त गुणों को प्राप्त करे। आनन्द के लिए तैयार हुए उत्तम अन्न (भोजन) के रस का पान करे ॥ ३३ । ७० ॥ ●

वसिष्ठः । **मित्रावरुणौ**=पृथिवी-सूर्यौ । गायत्री । षड्जः ॥

अथ पृथिवीसूर्यौ कीदृशावित्याह ॥

अब पृथिवी और सूर्य कैसे हैं, यह उपदेश किया जाता है ॥

गाव॒ऽ उपा॑वतावृतं म॒ही य॒ज्ञस्य॑ र॒प्सुदा॑ । उ॒भा कर्णा॑ हिर॒ण्यया॑ ॥ ७१ ॥

पदार्थः—(**गावः**) किरणाः (**उप**) (**अवत**) रक्षत (**अवतम्**) कूपम् (**मही**) द्यावापृथिव्यौ (**यज्ञस्य**) सङ्गतस्य संसारस्य (**रप्सुदा**) सुरूपप्रदे (**उभा**) उभे (**कर्णा**) कर्त्र्यौ । (**हिरण्यया**) ज्योतिष्प्रचुरे ॥ ७१ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथा रप्सुदा उभा कर्णा हिरण्यया मही यज्ञस्यावतमिव रक्षिके भवतो गावश्च रक्षकाः स्युस्तथैतान् यूयमुपावत ॥ ७१ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **मनुष्याः ! यथा रप्सुदा** सुरूपप्रदे **उभा** उभे **कर्णा** कर्त्र्यौ **हिरण्यया** ज्योतिष्प्रचुरे **मही** द्यावापृथिव्यौ **यज्ञस्य** सङ्गतस्य संसारस्य **अवतं** कूपम् **इव रक्षिके भवतो, गावः** किरणाः **च रक्षकाः स्युस्तथैतान् यूयमुपावत** रक्षत ॥ ३३ । ७१ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे—(रप्सुदा) सुन्दर रूप प्रदान करने वाली, (उभे) दोनों (कर्णा) कार्य को सिद्ध करने वाली (हिरण्यया) ज्योति से भरपूर (मही) द्यावापृथिवी, (यज्ञस्य) संगत संसार की (अवतम्) कूप-जल के तुल्य रक्षा करने वाली हों और (गावः) किरणें भी रक्षक हों; वैसे इनकी तुम (उप+अवत) रक्षा करो ॥ ३३ । ७१ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथा कृषीवलाः कूपोदकेन क्षेत्राण्यारामांश्च संरक्ष्य श्रीमन्तो भवन्ति, तथा पृथिवीसूर्यौ सर्वेषां श्रीकारके भवतः ॥ ३३ । ७१ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलङ्कार है। जैसे किसान लोग कूए के जल से खेतों और बागों का संरक्षण करके श्रीमान् होते हैं; वैसे पृथिवी और सब के लिए श्री को उत्पन्न करने वाले हैं ॥ ३३ । ७१ ॥

भा० पदार्थः—अवतम्=कूपोदकम् । मही=पृथिवीसूर्यौ । कर्णा=सर्वेषां श्रीकारके ॥

भाष्यसार—१. पृथिवी और सूर्य कैसे हैं—सुख प्रदान करने वाले, कार्य को सिद्ध करने वाले, ज्योति से भरपूर, सूर्य और पृथिवी जैसे किसान कूप-जल से खेतों और बागों का संरक्षण करके श्रीमान् होते हैं—वैसे संसार को श्रीमान् बनाते हैं।

२. **अलङ्कार**—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलङ्कार है। उपमा यह है कि सूर्य और पृथिवी संसार के कूप-जल के तुल्य रक्षक हैं । ३३ । ७१ ॥ ●

दक्षः । **विद्वान्**=अध्यापकोपदेशकौ । निचृद्गायत्री । षड्जः ॥

अथाऽध्यापकोपदेशकविषयमाह ॥

अब अध्यापक और उपदेशक के विषय का उपदेश किया जाता है ॥

काव्ययोराजानेषु क्रत्वा दक्षस्य दुरोणे । रिशादसा सधस्थ ऽ आ ॥ ७२ ॥

पदार्थः—(**काव्ययोः**) कविभिर्विद्वद्भिर्निर्मितयोर्व्यवहारपरमार्थप्रतिपादकयोर्ग्रन्थयोः (**आजानेषु**) समन्ताज्जायन्ते विद्वांसो यैस्तेषु पठनपाठनादिव्यवहारेषु (**क्रत्वा**) प्रज्ञया कर्मणा वा (**दक्षस्य**) कुशलस्य जनस्य (**दुरोणे**) गृहे (**रिशादसा**) अविद्यादिदोषनाशकावध्यापकोपदेशकौ (**सधस्थे**) सह तिष्ठन्ति यत्र(**आ**) समन्तात् ॥ ७२ ॥

अन्वयः—हे रिशादसा ! काव्ययोराजानेषु क्रत्वा दक्षस्य सधस्थे दुरोणे युवामागच्छतम् ॥ ७२ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **रिशादसा** अविद्यादिदोषनाशकावध्यापकोपदेशकौ ! **काव्ययोः** कविभिर्विद्वद्भिर्निर्मितयोर्व्यवहारपरमार्थप्रतिपादकयोर्ग्रन्थयोः **आजानेषु** समन्ताज्जायन्ते विद्वांसो यैस्तेषु पठनपाठनादिव्यवहारेषु **क्रत्वा** प्रज्ञया कर्मणा वा **दक्षस्य** कुशलस्य जनस्य **सधस्थे** सह तिष्ठन्ति यत्र **दुरोणे** गृहे **युवामागच्छतम्** ॥ ३३ । ७२ ॥

भाषार्थ—हे (रिशादसौ) अविद्या आदि दोषों के नाशक अध्यापक और उपदेशक लोगो ! तुम दोनों—(काव्ययोः) कवि=विद्वानों के बनाये व्यवहार और परमार्थ के प्रतिपादक ग्रन्थ तथा (आजानेषु) सब ओर विद्वानों को उत्पन्न करने वाले पठन-पाठन आदि व्यवहारों (क्रत्वा) प्रज्ञा वा कर्म के साथ (दक्षस्य) कुशल जन की (सधस्थे) सभा में एवं (दुरोणे) घर में (आगच्छतम्) आओ ॥ ३३ । ७२ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यावध्यापकोपदेशकौ राजप्रजाजनान् प्राज्ञान् बलयुक्तानरोगान् परस्परस्मिन् प्रीतिमतो धर्मात्मनः पुरुषार्थिनः सम्पादयेतां, तौ पितृवत् सत्कर्त्तव्यौ स्तः ॥ ३३ । ७२ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जो अध्यापक और उपदेशक राजपुरुष एवं प्रजा जनों को प्राज्ञ=विद्वान्, बलवान्, नीरोग, परस्पर प्रीतिमान्, धर्मात्मा और पुरुषार्थी बनाते हैं; वे पिता के समान सत्कार के योग्य हैं ॥ ३३ । ७२ ॥

भाष्यसार—**अध्यापक और उपदेशक**—अविद्या आदि दोषों का नाश करने वाले अध्यापक और उपदेशक लोग—कवि=विद्वानों द्वारा निर्मित व्यवहार और परमार्थ के प्रतिपादक ग्रन्थों तथा पठन-पाठन आदि व्यवहारों में प्रज्ञा वा कर्म के द्वारा कुशल जनों की सभा में तथा घर में पधारें । वे राजा और प्रजाजनों को विद्वान्, बलवान्, नीरोग, परस्पर प्रीतिमान्, धर्मात्मा और पुरुषार्थी बनावें । मनुष्य उनका पिता के तुल्य सत्कार करें ॥ ३३ । ७२ ॥

दक्षः । **अध्वर्यू**=विद्वांसौ । निचृद्गायत्री । षड्जः ॥

अथ यानर्निर्माणविषयमाह ॥

अब यान बनाने का उपदेश किया जाता है ॥

दैव्यावध्वर्यू आ गतꣳ रथेन सूर्यत्वचा । मध्वा यज्ञꣳ समञ्जाथे ।

+तं प्रत्नथा । अयं वेनः ॥ ७३ ॥

पदार्थः—(**दैव्यौ**) देवेषु=विद्वत्सु कुशलौ (**अध्वर्यू**) आत्मनोऽध्वरमहिंसामिच्छन्तौ (**आ**) (**गतम्**) आगच्छतम् (**रथेन**) रमणहेतुना यानेन (**सूर्यत्वचा**) सूर्य इव प्रदीप्ता त्वग् यस्य तेन (**मध्वा**) मधुरभाषणेन (**यज्ञम्**) गमनाख्यं व्यवहारम् (**सम्**) (**अञ्जाथे**) प्रकटयतम् ॥ ७३ ॥

अन्वयः—हे दैव्यावध्वर्यू ! युवां सूर्यत्वचा रथेनागतमागत्य मध्वा यज्ञं समञ्जाथे ॥ ७३ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **दैव्यौ** देवेषु=विद्वत्सु कुशलौ **अध्वर्यू** आत्मनोऽध्वरमहिंसामिच्छन्तौ ! **युवां सूर्यत्वचा** सूर्य इव प्रदीप्ता त्वग् यस्य तेन **रथेन** रमणहेतुना यानेन **आगतम्** आगच्छतम्, **आगत्य मध्वा** मधुरभाषणेन **यज्ञं** गमनाख्यं व्यवहारं **समञ्जाथे** प्रकटयतम् ॥ ३३ । ७३ ॥

भाषार्थ—हे (दैव्यौ) देव=विद्वानों में कुशल (अध्वर्यू) अपनी अहिंसा के इच्छुक दो विद्वानो ! तुम—(सूर्यत्वचा) सूर्य के तुल्य प्रदीप्त त्वचा वाले, (रथेन) रमण के साधन यान से (आगतम्) आओ; आकर (मध्वा) मधुर भाषण से (यज्ञम्) गमन नामक व्यवहार को (समञ्जाथे) प्रकट करो; बतलाओ ॥ ३३ । ७३ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यानि भूजलान्तरिक्षगमकानि सुशोभितानि सूर्यवत् प्रकाशितानि यानानि निर्मातव्यानि, तैरभीष्टाः कामाः साधनीयाः ॥ ७३ ॥

भावार्थ—मनुष्य—जो पृथिवी, जल और अन्तरिक्ष में चलने वाले, सुशोभित, सूर्य के तुल्य प्रकाशित यान बनावें उनसे अभीष्ट कामनाओं को सिद्ध करें !! ३३ । ७३ ॥

भा० पदार्थः—रथेन=भूजलान्तरिक्षगमकेन यानेन । सूर्यत्वचा=सुशोभितेन सूर्यवत् प्रकाशितेन । यज्ञम्=अभीष्टं कामम् ॥

भाष्यसार—**यानों का निर्माण**—विद्वानों में कुशल, अपनी अहिंसा की इच्छा करने वाले दो विद्वान्—सूर्य के तुल्य प्रदीप्त त्वचा=आवरण वाले, रमण के साधन **रथ** से पधारें अर्थात् मनुष्य पृथिवी, जल और अन्तरिक्ष में चलने वाले सुन्दर सूर्य के तुल्य प्रकाशित यानों का निर्माण करें और उनसे यथेष्ट यातायात करें। अपने मधुर भाषण से यज्ञ आदि शुभ कर्मों को प्रकाशित करें ॥ ३३ । ७३ ॥ ●

प्रजापतिः । **सूर्यः**=**विद्युत्** । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

अथ विद्युद्विषयमाह ॥

अब विद्युत् विषय का उपदेश किया जाता है ॥

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त् ।

रेतोधा ऽ आसन्महिमान ऽ आसन्त्स्वधा ऽ अवस्तात्प्रयतिः परस्तात् ॥ ७४ ॥

पदार्थः—(**तिरश्चीनः**) तिर्यग्गमनः (**विततः**) विस्तृतः (**रश्मिः**) किरणो=दीप्तिः (**एषाम्**) विद्युत्सूर्यादीनाम् (**अधः**) अर्वाक् (**स्वित्**) अपि (**आसीत्**) अस्ति (**उपरि**) (**स्वित्**) (**आसीत्**) अस्ति

+ यहाँ भी (अ० ७ । मं० १२ । १६) में पूर्व कहे दो मन्त्रों की प्रतीकें कर्मकाण्ड विशेष के लिए रक्खी हैं ॥

(**रेतोधाः**) ये रेतो=वीर्यं दधति ते (**आसन्**) सन्तु (**महिमानः**) पूज्यमानाः (**आसन्**) स्युः (**स्वधा**) ये स्वं दधति ते। **अत्र विभक्तिलोपः** (**अवस्तात्**) अवरस्मात् (**प्रयतिः**) प्रयतनशीलं (**परस्तात्**) परस्मात् ॥ ७४ ॥

प्रमाणार्थ—(**स्वधा**) यहाँ 'जस्' विभक्ति का लोप है ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! एषां तिरश्चीनो विततो रश्मिरधः स्विदासीदुपरि स्विदासीदवस्तात्परस्ताच्च प्रयतिरस्ति तद्विज्ञानेन रेतोधा आसन् महिमानः स्वधा सन्तो भवन्त उपकारका आसन् ॥ ७४ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! **एषां** विद्युत्सूर्यादीनां **तिरश्चीनः** तिर्यग्गमनः **विततः** विस्तृतः **रश्मिः** किरणो=दीप्तिः **अधः** अर्वाक् **स्वित्** अपि **आसीत्** अस्ति; **उपरि स्वित्** अपि **आसीत्** अस्ति; **अवस्तात्** अवरस्मात् **परस्तात्** परस्मात् **च प्रयतिः** प्रयतनशीलम् **अस्ति; तद्विज्ञानेन रेतोधाः** ये रेतो=वीर्यं दधति ते **आसन्** सन्तु, **महिमानः** पूज्यमानाः **स्वधा** ये स्वं दधति ते **सन्तो भवन्त उपकारका आसन्** स्युः ॥ ३३ । ७४ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! (एषाम्) इन विद्युत् एवं सूर्य आदि की (तिरश्चीनः) टेढ़ी गति वाली (विततः) विस्तृत (रश्मिः) किरण (अधः) नीचे की ओर (स्वित्) भी (आसीत्) है; (उपरि) ऊपर (स्वित्) भी (आसीत्) है; (अवस्तात्) इधर और (परस्तात्) उधर भी (प्रयतिः) प्रयत्नशील) है; उसके विज्ञान से (रेतोधाः) रेत=वीर्य को धारण करने वाले (आसन्) हों, और (महिमानः) पूज्य एवं (स्वधा) धन को धारण करने वाले होकर आप लोग उपकारक (आसन्) हों ॥ ३३ । ७४ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यस्या विद्युतो दीप्तिरन्तस्था सती सर्वासु दिक्षु व्याप्ताऽस्ति, सैव सर्वं दधातीति यूयं विजानीत ॥ ३३ । ७४ ॥

भावार्थ—हे मनुष्य जिस विद्युत् की दीप्ति अन्दर स्थित होकर सब दिशाओं को व्याप्त है; वही सब को धारण करती है; ऐसा तुम जानो ॥ ३३ । ७४ ॥

भा० पदार्थः—स्वधा=सर्वं दधातीति [स्वधा] ॥

भाष्यसार—**विद्युत् विषयक उपदेश**—विद्युत् एवं सूर्य आदि की दीप्ति तिरछी एवं विस्तृत है। नीचे, ऊपर, इधर, उधर अर्थात् सब दिशाओं में व्याप्त है। उसके विज्ञान से मनुष्य वीर्य को धारण करने वाले बनें। पूज्य और धन को धारण करने वाले होकर सबके उपकारक बनें ॥ ३३ । ७४ ॥

विश्वामित्रः । **विद्वान्**=स्पष्टम् । निचृज्जगती । निषादः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

विद्युत् विषय का फिर उपदेश किया है ॥

आ रोदसी ऽ अपृणदा स्वर्महज्जातं यदेनमपसो ऽ अधारयन् ।
सो ऽ अध्वराय परि णीयते कविरत्यो न वाजसातये चनोहितः ॥ ७५ ॥

पदार्थः—(**आ**) समन्तात् (**रोदसी**) द्यावापृथिव्यौ (**अपृणत्**) पृणाति व्याप्नोति (**आ**) (**स्वः**) अन्तरिक्षम् (**महत्**) (**जातम्**) (**यत्**) (**एनम्**) (**अपसः**) कर्माणि (**अधारयन्**) धारयन्ति (**सः**) (**अध्वराय**) अहिंसाख्याय शिल्पमयाय यज्ञाय (**परि**) सर्वतः (**नीयते**) प्राप्यते (**कविः**) शब्दहेतुः (**अत्यः**)

योऽतति=व्याप्नोत्यध्वानं सोऽश्वः (**न**) इव (**वाजसातये**) वाजस्य=वेगस्य संभजनाय (**चनोहितः**) चनसे=पृथिव्याद्यन्नाय हितकारी । **चन इत्यन्नाम । निरु० ६ । १६ ॥ ७५ ॥**

प्रमाणार्थ—(**चनोहितः**) 'चन' यह निरु० (६ । १६) में अन्न का नाम है ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यद्यो विद्युद्रूपोऽग्नीरोदसी महज्जातं स्वश्चाऽपृणदेनमपस अधारयन् यश्च कविरध्वराय वाजसातये चात्यो न विद्वद्भिः परिणीयते स च नो हितोस्तीति यूयं विजानीत ॥ ७५ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **मनुष्याः यद्**=**यो विद्युद्रूपोऽग्नीरोदसी** द्यावापृथिव्यौ **महज्जातं स्वः** अन्तरिक्षं **चाऽपृणद्** पृणाति=व्याप्नोति, **एनमपसः** कर्माणि **अधारयन्** धारयन्ति, **यश्च कविः** शब्दहेतुः **अध्वराय** अहिंसाख्याय शिल्पमयाय यज्ञाय **वाजसातये** वाजस्य=वेगस्य संभजनाय **चात्यः** योऽतति=व्याप्नोत्यध्वानं सोऽश्वः **न** इव **विद्वद्भिः परि+णीयते** सर्वतः प्राप्यते, **स चनोहितः** चनसे=पृथिव्याद्यन्नाय हितकारी **अस्तीति यूयं विजानीत** ॥ ३३ । ७५ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! (यत्) जो विद्युत् रूप अग्नि (रोदसी) द्यावा पृथिवी और (महत्) महान् (जातम्) प्रसिद्ध (स्वः) अन्तरिक्ष को (अपृणत्) व्याप्त कर रहा है; (एनम्) इसे (अपसः) कर्म (अधारयन्) धारण करते हैं; और जो (कविः) शब्द का हेतु है; इसे (अध्वराय) अहिंसा नामक शिल्पमय यज्ञ के लिए और (वाजसातये) वेग का सेवन करने के लिए (अत्यः) मार्ग को व्याप्त करने वाले अश्व के (न) समान विद्वानों के द्वारा (परि+णीयते) सब ओर से प्राप्त किया जाता है; वह (चनोहितः) चन=पृथिवी के अन्न के लिए हितकारी है; ऐसा तुम जानो ॥७५ ॥

भावार्थः--मनुष्यैरनेकविधैर्विज्ञानकर्मभिर्विद्युद्विद्यां लब्ध्वा, भूम्यादिषु व्याप्तो, विभाजकश्च साधितः सन्, यानादीनां सद्यो गमयिताऽग्निः कार्येषूपयोक्तव्यः ॥ ३३ । ७५ ॥

भावार्थ—मनुष्य अनेक प्रकार के विज्ञान-कर्मों से विद्युत्-विद्या को प्राप्त करके—भूमि आदि में व्याप्त और विभाजक, सिद्ध किये हुए तथा यान आदि को शीघ्र चलाने वाले अग्नि का कार्यों में उपयोग करें ॥ ३३ । ७५ ॥

भा० पदार्थः—अपसः=अनेकविधानि विज्ञानकर्माणि । अत्यः=यानादीनां सद्यो गमयिता ॥

भाष्यसार—**विद्युत् विषयक उपदेश**—जो विद्युत् रूप अग्नि सूर्य और पृथिवी और महान् आकाश में व्याप्त है, कर्म इसे धारण करते हैं। यह शब्द का हेतु है । अहिंसा एवं शिल्पमय यज्ञ के लिए, वेग की प्राप्ति के लिए अश्व के समान विद्वान् लोग इसे सब ओर प्राप्त करते हैं। यह पृथिवी आदि के अन्न के लिए हितकारी है । यह यान आदि को शीघ्र गति देने वाला है । मनुष्य इस विद्युत् का कार्यों में उपयोग करें ॥ ३३ । ७५ ॥ ●

वसिष्ठः । **इन्द्राग्नी**=**अध्यापकोपदेशकौ** । गायत्री । षड्जः ॥

कीदृशा जनाः सत्कारार्हाः स्युरित्याह ॥

कैसे मनुष्य सत्कार के योग्य हों, यह उपदेश किया है ॥

उक्थेभिर्वृत्रहन्तमा या मन्दाना चिदा गिरा । आङ्गूषैराविवासतः ॥ ७६ ॥

पदार्थः—(**उक्थेभिः**) प्रशंसनीयैः स्तुतिसाधकैर्वेदविभागैर्मन्त्रैः (**वृत्रहन्तमा**) अतिशयेन वृत्राणामावरकाणां पापिनां हन्तारौ (**या**) यौ (**मन्दाना**) आनन्दप्रदौ । **अत्र सर्वत्र विभक्तेर्डादेशः** (**चित्**) इव (**आ**) समन्तात् (**गिरा**) वाण्या (**आङ्गूषैः**) समन्ताद् घोषैः (**आविवासतः**) समन्तात्परिचरतः ॥ ७६ ॥

प्रमाणार्थ—(**मन्दाना**) यहाँ विभक्ति के स्थान में 'डा' आदेश है ॥

अन्वयः—या मन्दाना वृत्रहन्तमा सभासेनाध्यक्षौ चिदिव गिरा आङ्गूषैरुक्थेभिश्च शिल्पविज्ञानमाविवासतस्तावध्यापकोपदेशकौ मनुष्यैरासेवनीयौ ॥ ७६ ॥

सपदार्थान्वयः—**या** यौ **मन्दाना** आनन्दप्रदौ **वृत्रहन्तमा**=**सभासेनाध्यक्षौ** अतिशयेन वृत्राणामावरकाणां पापिनां हन्तारौ **चित्**=**इव** **गिरा** वाण्या **आङ्गूषैः** समन्ताद् घोषैः **उक्थेभिः** प्रशंसनीयैः स्तुतिसाधकैर्वेदविभागैर्मन्त्रैः **च शिल्पविज्ञानमाविवासतः** समन्तात्परिचरतः **तावध्यापकोपदेशकौ मनुष्यैरासेवनीयौ** ॥ ३३ । ७६ ॥

भाषार्थः—(या) जो (मन्दाना) आनन्द प्रदान करने वाले (वृत्रहन्तमा) वृत्र=पापियों का हनन करने वाले सभाध्यक्ष और सेनाध्यक्ष के (चित्) समान (गिरा) वाणी से (आङ्गूषैः) उद्घोषों और (उक्थेभिः) प्रशंसनीय, स्तुतिसाधक, वेद के विभाग विशेष 'उक्थ' मन्त्रों से शिल्प-विज्ञान की (आ विवासतः) सब ओर से सेवा करते हैं; वे उन अध्यापक और उपदेशक जनों की मनुष्य (आ) सब ओर से सेवा करें ॥ ३३ । ७६ ॥

भावार्थः— ये सभासेनाध्यक्षवद् विद्यादिकार्यसाधकाः, सूपदेशैः सर्वान् विदुषः सम्पादयन्तः प्रवृत्ताः स्युः, त एव सर्वैः सत्कर्त्तव्या भवेयुः ॥ ७६॥

भावार्थ—जो सभाध्यक्ष और सेनाध्यक्ष के तुल्य विद्यादि कार्यों के साधक, उत्तम उपदेशों से सब को विद्वान् बनाने में प्रवृत्त हों, उनका ही सब सत्कार करें ॥ ३३ । ७६ ॥

भा० पदार्थः—वृत्रहन्तमा=सभासेनाध्यक्षवद् विद्यादिकार्यसाधकौ । आङ्गूषैः=सूपदेशैः ।

भाष्यसार—**कैसे जन सत्कार के योग्य हैं**—आनन्द प्रदान करने वाले, पापी जनों का हनन करने वाले सभाध्यक्ष और सेनाध्यक्ष के तुल्य, वाणी के द्वारा उद्घोष (उपदेश) तथा 'उक्थ' नामक वेद-मन्त्रों से शिल्प-विज्ञान की सेवा करने वाले, अध्यापक और उपदेशक लोग हैं; मनुष्य उनकी सेवा करें; सत्कार करें ॥ ३३ । ७६ ॥ ●

सुहोत्रः । **विश्वेदेवाः**=**मातापितरौ** । निचृद्गायत्री । षड्जः ॥

अथ पितरौ स्वसन्तानान् प्रति किं कुर्यातामित्याह ॥

अब माता पिता अपने सन्तानों के प्रति क्या करें, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

उप॑ नः सू॒नवो॒ गिरः॑ शृ॒ण्वन्त्व॒मृत॑स्य॒ ये । सु॒मृ॒डी॒का भ॑वन्तु नः ॥ ७७ ॥

पदार्थः—(**उप**) (**नः**) अस्माकम् (**सूनवः**) अपत्यानि (**गिरः**) (**शृण्वन्तु**) (**अमृतस्य**) नाशरहितस्य परमेश्वरस्य नित्यस्य वेदस्य वा (**ये**) (**सुमृडीकाः**) सुष्ठु सुखकराः (**भवन्तु**) (**नः**) अस्मभ्यम् ॥ ७७ ॥

अन्वयः—ये नः सूनवोऽमृतस्य गिर उपशृण्वन्तु ते नस्सुमृडीका भवन्तु ॥ ७७ ॥

सपदार्थान्वयः—ये नः अस्माकं सूनवः अपत्यानि **अमृतस्य** नाशरहितस्य परमेश्वरस्य नित्यस्य वेदस्य वा **गिर उपशृण्वन्तु, ते नः अस्मभ्यं सुमृडीकाः** सुष्ठु सुखकराः **भवन्तु** ॥ ३३ । ७७ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (नः) हमारे (सूनवः) सन्तान (अमृतस्य) नाशरहित परमेश्वर वा नित्य वेद की (गिरः) वाणियों को (उप+शृण्वन्तु) सुनते हैं; वे (नः) हमारे लिए (सुमृडीकाः) उत्तम सुख देने वाले (भवन्तु) हों ॥ ३३ । ७७ ॥

भावार्थः—यदि मातापितरौ स्वपुत्रान् कन्याश्च ब्रह्मचर्येण वेदविद्यया सुशिक्षया च युक्तान् कृत्वा शरीरात्मबलवतः कुर्यातां, तर्हि तेभ्योऽत्यन्तसुखकरौ स्याताम् ॥ ३३ । ७७ ॥

भावार्थ—यदि माता-पिता अपने पुत्रों और कन्याओं को ब्रह्मचर्य, वेद-विद्या, और उत्तम शिक्षा से युक्त करके शरीर और आत्मा से बलवान् बनावें तो उनके लिए अत्यन्त सुखकारी हों ।।७७।।

भा० पदार्थः—सूनवः=स्वपुत्राः कन्याश्च । गिरः=ब्रह्मचर्य, वेदविद्या, सुशिक्षा च । सुमृडीकाः=अत्यन्तसुखकराः ॥

भाष्यसार—माता-पिता अपने सन्तानों के प्रति क्या करें—माता-पिता अपने पुत्रों और कन्याओं को अमृत अर्थात् नाशरहित परमेश्वर अथवा नित्य वेद की वाणी सुनावें । उन्हें ब्रह्मचर्य वेदविद्या और सुशिक्षा से युक्त करें । शरीर और आत्मा से बनावें । सन्तान भी माता-पिता के लिए अत्यन्त सुखकारी हों ॥ ३३ । ७७ ॥ ●

अगस्त्यः । **इन्द्रमरुतौ=अध्यापकोऽध्येता च** । विराट्त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

पुनर्विद्वांसः किं कुर्युरित्याह ॥

फिर विद्वान् लोग क्या करें, यह उपदेश किया है ॥

ब्रह्मा॑णि मे म॒तय॒: शꣳ सु॒तास॒: शुष्म॑ऽ इय॒र्ति॒ प्रभृ॑तो मे॒ऽ अद्रि॑: ।
आ शा॑सते॒ प्रति॑ हर्य॒न्त्युक्थेमा ह॒री॑ वह॒त॒स्ता नो॒ऽ अच्छ॑ ॥ ७८ ॥

पदार्थः—(**ब्रह्माणि**) धनानि (**मे**) मह्यम् (**मतयः**) मेधाविनः । **मतय इति मेधाविनाम ॥** निघं० ३ । १५ ॥ (**शम्**) सुखम् (**सुतासः**) विद्यासुशिक्षाभ्यां निष्पन्ना=ऐश्वर्यवन्तः (**शुष्मः**) बलकरः (**इयर्त्ति**) अर्पयति । **अत्रान्तर्गतो णिच्** (**प्रभृतः**) प्रकर्षेण हवनादिना पोषितः (**मे**) मह्यम् (**अद्रिः**) मेघः (**आ**) (**शासते**) आशां कुर्वन्ति । (**प्रति**) (**हर्यन्ति**) कामयन्ते (**उक्था**) प्रशंसनीयानि वेदवचांसि (**इमा**) इमानि (**हरी**) हरणशीलावध्यापकाऽध्येतारौ (**वहतः**) प्रापयतः (**ता**) तानि (**नः**) अस्मभ्यम् (**अच्छ**) ॥ ७८ ॥

प्रमाणार्थ—(मतयः) मेधाविनः । 'मतयः' यह पद निघण्टु (३ । १५) में मेधावी नामों में पठित है । (**इयर्त्ति**) अर्पयति । यहाँ 'णिच्' का अर्थ अन्तर्गत है ॥

अन्वयः—सुतासो मतयो मे यानि ब्रह्माणि प्रति हर्य्यन्ति इमोक्थाऽऽशासते शुष्मः प्रभृतोऽद्रिर्मे यत् शमियर्त्ति ता तानि नोऽस्मभ्यं हर्य्यच्छ वहतः ॥ ७८ ॥

सपदार्थान्वयः—**सुतासः** विद्यासुशिक्षाभ्यां निष्पन्ना, ऐश्वर्यवन्तः **मतयः** मेधाविनः **मे** मह्यं **यानि ब्रह्माणि** धनानि **प्रति हर्य्यन्ति** कामयन्ते; **इमा** इमानि **उक्था** प्रशंसनीयानि वेदवचांसि **आशासते** आशां कुर्वन्ति; **शुष्मः** बलकरः **प्रभृतः** प्रकर्षेण

भाषार्थ—(सुतासः) विद्या और सुशिक्षा से निष्पन्न, ऐश्वर्यवान्, (मतयः) मेधावी विद्वान्—(मे) मेरे लिए (यानि) जिन (ब्रह्माणि) धनों की (प्रति+हर्य्यन्ति) कामना करते हैं, (इमा) इन (उक्था) प्रशंसनीय वेद-वचनों की (आशासते)

हवनादिना पोषितः **अद्रिः** मेघः **मे** मह्यं **यत्** **शं** सुखम् **इयर्त्ति** अर्पयति, **ता**=तानि **नः**=**अस्मभ्यं** **हरी** हरणशीलावध्यापकाऽध्येतारौ **अच्छ** **वहतः** प्रापयतः ॥ ३३ । ७८ ॥

आशा करते हैं; (शुष्मः) बलकारी, (प्रभृतः) हवन आदि से अत्यन्त पोषित (अद्रिः) मेघ (मे) मेरे लिए जिस (शम्) सुख को (इयर्त्ति) अर्पित करता है; (ता) उन्हें (नः) हमारे लिए (हरी) हरणशील अध्यापक और छात्र (अच्छ) अच्छे प्रकार (वहतः) प्राप्त कराते हैं ॥ ३३ । ७८ ॥

भावार्थः—हे विद्वांसो ! येन कर्मणा विद्या-मेधोन्नतिः स्यात् तत्कुरुत। ये युष्मद्विद्यासुशिक्षे कामयन्ते तान् प्रीत्या प्रयच्छत, ये भवद्भ्योऽधिकास्तेभ्यो यूयं विद्यां गृह्णीत ॥ ३३ । ७८ ॥

भावार्थ—हे विद्वानो ! जिस कर्म से विद्या एवं मेध की उन्नति हो; उसे करो। जो तुम्हारी विद्या और सुशिक्षा की कामना करते हैं उन्हें प्रीतिपूर्वक प्रदान करो, जो आपसे अधिक हों, उनसे तुम विद्या ग्रहण करो ॥ ३३ । ७८ ॥

भा० पदार्थः—सुतासः=विद्वांसः । मतयः=विद्या ोन्नतिकारकाः । उक्था=विद्या-सुशिक्षा । आशासते=कामयन्ते ।

भाष्यसार—**विद्वान् क्या करें**—विद्या और सुशिक्षा से निष्पन्न, ऐश्वर्यवान्, मेधावी विद्वान्—मेरे लिए धन की कामना करें, उक्थ नामक प्रशंसनीय वेद-वचन सुनाने की इच्छा करें। बलकारी, अत्यन्त हवन आदि से पोषित मेरे लिए जिस सुख को अर्पित करता है; उस सुख को अध्यापक और अध्येता लोग मुझे अच्छे प्रकार प्राप्त करावें ॥ ३३ । ७८ ॥ ●

अगस्त्यः । **इन्द्रः**=ईश्वरः । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

अथेश्वरविषयमाह ॥

अब ईश्वर विषय का उपदेश किया जाता है ॥

अनुत्तमा ते मघवन्नकिर्नु न त्वावाँ२ऽ अस्ति देवता विदानः ।
न जायमानो नशते न जातो यानि करिष्या कृणुहि प्रवृद्ध ॥ ७९ ॥

पदार्थः—(**अनुत्तम्**) अप्रेरितम् । **नसत्तनिषत्तानुत्त० ॥ अ० ८ । २ । ६१ ॥ इति निपातनम् ।** (**आ**) स्मरणे (**ते**) (**मघवन्**) बहुधनयुक्त ! (**नकिः**) **आकाङ्क्षायाम्** (**नु**) सद्यः (**न**) (**त्वावान्**) त्वया सदृशः (**अस्ति**) (**देवता**) देव एव देवता । स्वार्थे तल् (**विदानः**) विद्वान् (**न**) (**जायमानः**) उत्पद्यमानः (**नशते**) व्याप्नोति । **नशदिति व्याप्तिकर्मा ॥ निघं० २ । १६ ॥** (**न**) (**जातः**) उत्पन्नः (**यानि**) जगदुत्पत्त्यादिकर्माणि (**करिष्या**) करिष्यसि । **सिब्लोपो दीर्घश्चात्र छान्दसः ।** (**कृणुहि**) करोषि । **लडर्थे लोट् ।** (**प्रवृद्ध**) ॥ ७९ ॥

प्रमाणार्थ—(**अनुत्तम्**) अप्रेरितम् । 'अनुत्त' यह पद 'नसत्तनिषत्तानुत्त०' (अ० ८ । २ । ६१) इस सूत्र निपातन से सिद्ध है। (**नशते**) व्याप्नोति। 'नशत्' यह पद निघण्टु (२ । १६) में 'व्याप्ति' अर्थक क्रियाओं में पढ़ा है। (**करिष्या**) यहाँ सिप् का लोप और दीर्घ छान्दस=वैदिक है ॥

अन्वयः—हे प्रवृद्ध मघवन्नीश्वर ! यस्य तेऽनुत्तं स्वरूपमस्ति न कोऽपि त्वावान् देवता विदानो न्वस्ति भवान् न जायमानोऽस्ति न जातोऽस्ति यानि करिष्या कृणुहि च तानि कश्चिन्नकिरानशते स त्वं सर्वोपास्योऽसि ॥ ७९ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **प्रवृद्ध मघवन्**=ईश्वर बहुधनयुक्त ! **यस्य तेऽनुत्तम्** अप्रेरितं स्वरूपमस्ति, **न कोऽपि त्वावान्** त्वया सदृशः **देवता** देव एव देवता **विदानः** विद्वान् **नु** सद्यः **अस्ति।**

भवान् न जायमानः उत्पद्यमानः **अस्ति, न जातः** उत्पन्नः **अस्ति। यानि** जगदुत्पत्त्यादिकर्माणि **करिष्या** करिष्यसि, **कृणुहि** करोषि **च, तानि कश्चिन्नकिः** आकाङ्क्षायां **आ+नशते** स्मरणेन व्याप्नोति, **स त्वं सर्वोपास्योऽसि**॥ ३३। ७९॥

भाषार्थ—हे (प्रवृद्ध) सब से बड़े, (मघवन्) बहुत धन से युक्त ईश्वर—(ते) तेरा (अनुत्तम्) अप्रेरित=गति रहित स्वरूप है, (न) न कोई (त्वावान्) तेरे सदृश (देवता) देवता (विदानः) विद्वान् (नु) निश्चय से है।

आप—(न, जायमानः) उत्पन्न होने वाले नहीं हो, और (न, जातः) न उत्पन्न हुए हो। (यानि) जगत् की उत्पत्ति आदि जिन कर्मों को (करिष्या) तू करेगा और (कृणुहि) करता है; उन्हें कोई (नकिः) ही (आ+नशते) स्मृति से व्याप्त करता है; सो तू सब का उपास्य है॥ ७९॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यः परमेश्वरो ऽखिलैश्वर्योऽसदृशोऽनन्तविद्यो, नोत्पद्यते नोत्पन्नो नोत्पस्यते, सर्वेभ्यो महानस्ति, तमेव यूयं सततमुपासीत॥ ३३। ७९॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जो परमेश्वर अखिल ऐश्वर्य वाला, असदृश, अनन्त विद्या वाला, न उत्पन्न होता है, न उत्पन्न हुआ और न उत्पन्न होगा और सब से महान् है; उसकी ही तुम सदा उपासना करो॥ ३३। ७९॥

भा० पदार्थः—मघवन्=अखिलैश्वर्यः। विदानः=अनन्तविद्यः। प्रवृद्धः=सर्वेभ्यो महान्॥

भाष्यसार—**ईश्वर विषयक उपदेश**—ईश्वर सब से बड़ा है, बहुत धन से युक्त है, वह अप्रेरित अर्थात् गति से रहित है। ईश्वर के सदृश कोई देवता नहीं है और न ही उसके तुल्य कोई विद्वान् है। न वह कभी उत्पन्न हुआ और न कभी आगे उत्पन्न होगा। वही जगत् की उत्पत्ति आदि कर्मों को करता है। ईश्वर के कर्मों को कोई विरला ही स्मृति से व्याप्त करता है। ईश्वर सब का उपास्य देव है॥ ३३। ७९॥ ●

बृहद्दिवः। **महेन्द्रः**=ईश्वरः। पङ्क्तिः। पञ्चमः॥

पुनस्तमेव विषयमाह॥

ईश्वर विषय का फिर उपदेश किया है॥

तदि॑दा॑स॒ भुव॑नेषु॒ ज्येष्ठं॒ यतो॑ ज॒ज्ञ ऽ उ॒ग्रस्त्वे॒षनृ॑म्णः।
स॒द्यो ज॑ज्ञा॒नो नि रि॑णाति॒ शत्रू॒ननु॒ यं विश्वे॒ मद॒न्त्यूमाः॑॥ ८०॥

पदार्थः—(**तत्**) (**इत्**) (**आस**) अस्ति। **अत्र छन्दस्युभयथेति लिट् आर्द्धधातुकसंज्ञाभावः।** (**भुवनेषु**) लोकलोकान्तरेषु (**ज्येष्ठम्**) वृद्धं=श्रेष्ठम् (**यतः**) यस्मात् (**जज्ञे**) (**उग्रः**) तीक्ष्णस्वभावः (**त्वेषनृम्णः**) त्वेषं=सुप्रकाशितं नृम्णं=धनं यस्य सः (**सद्यः**) (**जज्ञानः**) जायमानः (**निरिणाति**) हिनस्ति (**शत्रून्**) (**अनु**) (**यम्**) (**विश्वे**) सर्वे (**मदन्ति**) हृष्यन्ति (**ऊमाः**) रक्षादिकर्मकर्त्तारः॥ ८०॥

प्रमाणार्थ—(**आस**) अस्ति। यहाँ 'छन्दस्युभयथा' (३। ४। ११७) इस सूत्र मे 'लिट्' की आर्धधातुकं संज्ञा का अभाव है। अतः अस् को 'भू' आदेश नहीं हुआ।

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यत उग्रस्त्वेषनृम्णो वीरो यज्ञे यो जज्ञानः शत्रून् सद्यो निरिणाति विश्वा ऊमा यमनुमदन्ति तदिदेव ब्रह्म भुवनेषु ज्येष्ठमासेति विजानीत ॥ ८० ॥

सपदार्थान्वयः—**हे मनुष्याः ! यतो** यस्मात् **उग्रः** तीक्ष्णस्वभावः **त्वेषनृम्णः=वीरः** त्वेषं=सुप्रकाशितं नृम्णं=धनं यस्य स **जज्ञे; यो जज्ञानः** जायमानः **शत्रून् सद्यो निरिणाति** हिनस्ति **विश्वे** सर्वे **ऊमाः** रक्षादिकर्मकर्त्तारः **यमनुमदन्ति** हृष्यन्ति; **तदिदेव ब्रह्म भुवनेषु** लोकलोकान्तरेषु **ज्येष्ठं** वृद्धं=श्रेष्ठम् **आस** अस्ति **इति विजानीत** ॥ ३३ । ८० ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! (यतः) जिससे (उग्रः) तीक्ष्ण स्वभाव वाला, (त्वेषनृम्णः) अत्यन्त प्रकाशित धन वाला वीर (जज्ञे) उत्पन्न होता है; जो (यः) जो (जज्ञानः) उत्पन्न होकर (शत्रून्) शत्रुओं का (सद्यः) शीघ्र (निरिणाति) हनन करता है। (विश्वे) सब (ऊमाः) रक्षादि कर्म करने वाले पुरुष (यम्) जिसके (अनु+मदन्ति) पश्चात् हर्षित होते हैं; (तत्) वह (इत्) ही ब्रह्म (भुवनेषु) लोक-लोकान्तरों में (ज्येष्ठम्) सब से बड़ा एवं श्रेष्ठ (आस) है; ऐसा जानो ॥ ३३ । ८० ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यस्योपासनाच्छूरा वीरत्वमुपलभ्य, शत्रून् हन्तुं शक्नुवन्ति, यमुपास्य विद्वांस आनन्दिता भूत्वा सर्वानानन्दयन्ति, तमेव सर्वोत्कृष्टं सर्वोपास्यं परमेश्वरं सर्वे निश्चिन्वन्तु ॥ ३३ । ८० ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जिसकी उपासना से शूर वीरता को प्राप्त करके शत्रुओं का हनन कर सकते हैं; जिसकी उपासना करके विद्वान् लोग आनन्दित होकर सबको आनन्दित करते हैं; उसी सबसे उत्कृष्ट, सबके उपास्य परमेश्वर का सब लोग निश्चय करें ॥ ३३ । ८० ॥

भा० पदार्थः—यतः=यस्योपासनात् । उग्रः=शूरः । त्वेषनृम्णम्=वीरत्वम् । निरिणाति=हन्तुं शक्नोति । ऊमाः=विद्वांसः । अनुमदन्ति=आनन्दयन्ति । ज्येष्ठम्=सर्वोत्कृष्टं सर्वोपास्यं परमेश्वरम् ॥

भाष्यसार—**ईश्वर विषयक उपदेश**—ईश्वर की उपासना से तीक्ष्ण स्वभाव वाले, सुप्रकाशित धन वाले वीर पुरुष उत्पन्न होते हैं। जो उत्पन्न होकर शत्रुओं का शीघ्र हनन करते हैं। रक्षादि कर्म करने वाले पुरुष जिनके अनुकूल आचरण से हर्षित होते हैं। वह बहुत लोक-लोकान्तरों में सबसे बड़ा एवं श्रेष्ठ है। वही सबका उपास्य है ॥ ३३ । ८० ॥

मेधातिथिः=**विश्वेदेवाः** । **विद्वांसः** । निचृद्बृहती । मध्यमः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

ईश्वर विषय का फिर उपदेश किया है ॥

इमा ऽ उं त्वा पुरूवसो गिरो वर्द्धन्तु या मम ।
पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभि स्तोमैरनूषत ॥ ८१ ॥

पदार्थः—(**इमाः**) वक्ष्यमाणाः (**उ**) निश्चयार्थे (**त्वा**) त्वाम् (**पुरूवसो**) पुरुषु=बहुषु वासकर्त्तः (**गिरः**) वाचः (**वर्द्धन्तु**) वर्धयन्तु (**याः**) (**मम**) (**पावकवर्णाः**) पावकवत् पवित्रो=गौरो वर्णो येषान्ते ब्रह्मवर्चस्विनः (**शुचयः**) पवित्रीभूताः (**विपश्चितः**) विद्वांसः (**अभि**) (**स्तोमैः**) पदार्थविद्याप्रशंसनैः (**अनूषत**) प्रशंसन्तु ॥ ८१ ॥

अन्वयः—हे पुरूवसो परमात्मन् ! या इमा मम गिरस्त्वा उ वर्द्धन्तु ताः प्राप्य पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितः स्तोमैरभ्यनूषत ॥ ८१ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे पुरूवसो**=**परमात्मन्** पुरुषु=बहुषु वासकर्त्तः ! **या इमाः** वक्ष्यमाणाः **मम गिरः** वाचः **त्वा** त्वाम् **उ** निश्चयेन **वर्द्धन्तु** वर्धयन्तु; **ताः प्राप्य पावकवर्णाः** पावकवत् पवित्रो=गौरो वर्णो येषान्ते ब्रह्मवर्चस्विनः **शुचयः** पवित्रीभूताः **विपश्चितः** विद्वांसः **स्तोमैः** पदार्थविद्याप्रशंसनैः **अभ्यनूषत** प्रशंसन्तु ॥ ३३ । ८१ ॥

भाषार्थ—हे (पुरूवसो) पुरू=बहुतों में वास करने वाले परमात्मन् ! (याः) जो (इमाः) ये (मम) मेरी (गिरः) वाणियाँ—(त्वा) तुझे (उ) निश्चय से (वर्द्धन्तु) बढ़ाती हैं; उन्हें प्राप्त करके (पावकवर्णाः) पावक=अग्नि के तुल्य पवित्र=गौर वर्ण वाले ब्रह्मवर्चस्वी, (शुचयः) पवित्र हुए (विपश्चितः) विद्वान् लोग—(स्तोमैः) पदार्थ-विद्या की स्तुति करने वाले मन्त्रों से (अभ्यनूषत) प्रशंसा करें ॥ ३३ । ८१ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः सदैवेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाभिस्तदस्तित्वप्रतिपादनेन, अभ्यास-सत्य भाषणाभ्यां च स्ववाचः शुद्धाः सम्पाद्य, विद्वांसो भूत्वा सर्वाः पदार्थविद्याः प्राप्तव्याः ॥ ३३ । ८१ ॥

भावार्थ—मनुष्य—सदा ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना से उसके अस्तित्व के प्रतिपादन एवं अभ्यास सत्य-भाषण से अपनी वाणियों को शुद्ध करके, विद्वान् होकर, सकल पदार्थ विद्याओं को प्राप्त करें ॥ ३३ । ८१ ॥

भा० पदार्थः—गिरः=स्ववाचः । वर्द्धन्तु=शुद्धाः सम्पादयन्तु ॥

भाष्यसार—**ईश्वर विषयक उपदेश**—मेरी वाणियाँ बहुतों में वास करने वाले परमात्मा को बढ़ावें; अर्थात् मैं सदा ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना से उसके अस्तित्व का प्रतिपादन करूँ । अभ्यास और सत्य भाषण से अपनी वाणी को शुद्ध करूँ । शुद्ध वाणी को प्राप्त करके सब मनुष्य ब्रह्मवर्चस्वी, पवित्र विद्वान् बनें तथा सब पदार्थ-विद्याओं को प्राप्त करें ॥ ३३ । ८१ ॥

मेधातिथिः । **विश्वेदेवाः=सर्व आर्या राज्यसेवकाः** । निचृद्बृहती । मध्यमः ॥

अथ राजधर्मविषयमाह ॥

अब राजधर्म विषय को कहते हैं ॥

यस्यायं विश्व ऽ आर्यो दासः शेवधिपा ऽ अरिः ।
तिरश्चिदर्य्ये रुशमे पवीरवि तुभ्येत्सो ऽ अज्यते रयिः ॥ ८२ ॥

पदार्थः—(**यस्य**) (**अयम्**) (**विश्वः**) सर्वः (**आर्य्यः**) धर्म्यगुणकर्मस्वभावः (**दासः**) सेवकः (**शेवधिपाः**) यः शेवधिं=निधिं पाति=रक्षति धर्मादिकार्य्ये करे च न व्येति स शेवधिपाः । **निधिः शेवधिरिति यास्कः** ॥ **निरु० २ । ४** ॥ (**अरिः**) शत्रुः (**तिरः**) अन्तर्धानं गतः (**चित्**) अपि (**अर्य्ये**) धनस्वामिनि वैश्यादौ (**रुशमे**) हिंसके (**पवीरवि**) यो धनादिरक्षायै पवीरं=शस्त्रं वाति=प्राप्नोति तस्मिन् (**तुभ्य**) तुभ्यम् । अत्र वा छान्दसो वर्णलोपः । (**इत्**) एव (**सः**) (**अज्यते**) प्राप्यते (**रयिः**) धनमिव ॥ ८२ ॥

प्रमाणार्थ—(**शेवधिपाः**) आचार्य यास्क ने निरुक्त (२ । ४) में शेवधि का अर्थ निधि किया है । (**तुभ्य**) तुभ्यम् । यहाँ 'वा छान्दसो वर्णलोपः' इस वार्त्तिक से 'म्' वर्ण का लोप है ॥

अन्वयः—हे राजन् ! यस्य तवायं विश्व आर्य्यो दासः शेवधिपा अरिः पवीरविरुशमेऽर्य्ये तिरश्चित्तुभ्येत्स त्वं रयिरज्यते ॥ ८२ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे राजन् ! यस्य तवायं विश्वः** सर्वः **आर्यः** धर्म्यगुणकर्मस्वभावः **दासः** सेवकः **शेवधिपाः** यः शेवधिं=निधिं पाति=रक्षति धर्मादिकार्य्ये करे च न व्येति स शेवधिपाः, **अरिः** शत्रुः **पवीरवि** यो धनादिरक्षायै पवीरं=शस्त्रं वाति=प्राप्नोति तस्मिन्, **रुशमे** हिंसके **अर्य्ये** धनस्वामिनि वैश्यादौ **तिरः** अन्तर्धानं गतः **चित्** अपि **तुभ्य** तुभ्यम् **इत्** एव **स त्वं रयिः** धनमिव **अज्यते** प्राप्यते ॥ ३३ । ८२ ॥

भाषार्थ—हे राजन् ! (यस्य) जिस आपका (अयम्) यह (विश्वाः) सब (आर्यः) धार्मिक गुण-कर्म-स्वभाव वाला (दासः) सेवक (शेवधिपाः) शेवधि=निधि का रक्षक अर्थात् धर्म आदि कार्य और राजकर में धन को व्यय न करने वाला (अरिः) शत्रु है, उस (पवीरवि) धनादि की रक्षा के लिए पवीर=शस्त्र को प्राप्त करने वाले, (रुशमे) हिंसक तथा (अर्ये) धन के स्वामी वैश्य आदि के रूप में (तिरः) तिरोहित होकर (चित्) भी (तुभ्य) तेरे लिए (इत्) ही है, सो तुझे (रयिः) धन के तुल्य (अज्यते) प्राप्त करता है ॥ ८२ ॥

भावार्थः—यस्य राज्ञः सर्व आर्य्या राज्यरक्षकाः सेवकाः सन्ति धनादिकरस्यादाता च शत्रुस्तस्मादपि येन भवता धनादिकरो गृह्यते, स सर्वोत्तमश्रीः स्यात् ॥ ३३ । ८२ ॥

भावार्थ—जिस राजा के सब आर्य राज्य के रक्षक, सेवक हैं, और जो धन आदि कर न देने वाला शत्रु है; उससे भी जो आप धन आदि कर ग्रहण करते हो; अतः सर्वोत्तम श्री=लक्ष्मी वाले हो ॥ ३३ । ८२ ॥

भा० पदार्थः—दासः=राज्यरक्षकः सेवकः । शेवधिपाः=धनादिकरस्यादाता । रयिः=धनादिकरः । अज्यते=गृह्यते ।

भाष्यसार—**राजधर्म का उपदेश**—जिस राजा के सब आर्य अर्थात् धार्मिक गुण-कर्म-स्वभाव वाले सेवक हैं । जो राजा शेवधि=निधि की रक्षा करने वाले अर्थात् धर्म आदि कार्य में धन को व्यय न करने वाले और कर न देने वाले, धन की रक्षा के लिए शस्त्र को धारण करने वाले, हिंसक, धन के स्वामी वैश्य आदि के रूप में तिरोहित होने वाले, शत्रुओं से भी धन आदि के रूप में कर ग्रहण करता है; वह राजा सर्वोत्तम श्री=लक्ष्मी वाला होता है ॥ ३३ । ८२ ॥ ●

मेधातिथिः । **विश्वेदेवाः=राजजनाः** । निचृत्सतोबृहती । मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

राजधर्म का फिर उपदेश किया है ॥

अयथ्ंऽ सहस्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्र ऽ इव पप्रथे ।
सत्यः सो ऽ अस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये ॥ ८३ ॥

पदार्थः—(**अयम्**) राजा (**सहस्रम्**) (**ऋषिभिः**) वेदार्थविद्भिः (**सहस्कृतः**) सहसा=बलेन निष्पन्नः (**समुद्रइव**) सागरइवाऽन्तरिक्षमिव वा (**पप्रथे**) भवति (**सत्यः**) सत्सु व्यवहारेषु विद्वत्सु वा साधुः (**सः**) (**अस्य**) (**महिमा**) माहात्म्यम् (**गृणे**) स्तौमि (**शवः**) बलम् (**यज्ञेषु**) सङ्गतेषु राजकर्मसु (**विप्रराज्ये**) विप्राणां=मेधाविनां राज्ये=राष्ट्रे ॥ ८३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यद्ययं सभेशो राजा राजर्षिभिः सह सहस्रमसङ्ख्यं ज्ञानं प्राप्तः सहस्कृतः सत्योऽस्त्यस्य महिमा समुद्र इव पप्रथे तर्हि स प्रजाजनोऽहमस्य यज्ञेषु विप्रराज्ये च शवो गृणे ॥ ८३ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **मनुष्याः! यद्ययं=सभेशो राजा ऋषिभिः=राजर्षिभिः** वेदार्थविद्भिः **सह सहस्रम्=असङ्ख्यं ज्ञानं प्राप्तः सहस्कृतः** सहसा=बलेन निष्पन्नः **सत्यः** सत्सु=व्यवहारेषु विद्वत्सु वा साधुः **अस्त्यस्य महिमा** माहात्म्यं **समुद्रइव** सागर-इवाऽन्तरिक्षमिव वा **पप्रथे** भवति, **तर्हि स प्रजाजनोऽहमस्य यज्ञेषु** सङ्गतेषु राजकर्मसु **विप्रराज्ये** विप्राणां=मेधाविनां राज्ये=राष्ट्रे **च शवः** बलं **गृणे** स्तौमि ॥ ३३ । ८३ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! यदि (अयम्) यह सभापति राजा—(ऋषिभिः) वेदार्थ के ज्ञाता राजर्षि लोगों के साथ (सहस्रम्) असंख्य ज्ञान को प्राप्त, (सहस्कृतः) बल से निष्पन्न, (सत्यः) सत्=व्यवहारों वा विद्वानों में श्रेष्ठ है; (अस्य) इसकी (महिमा) महिमा (समुद्रइव) सागर वा अन्तरिक्ष के तुल्य (पप्रथे) विस्तृत होती है; तो (सः) वह प्रजाजन मैं—(अस्य) इसके (यज्ञेषु) संगत राजकर्मों में और (विप्रराज्ये) विप्र=मेधावी जनों के राज्य=राष्ट्र में (शवः) बल की (गृणे) स्तुति करता हूँ।८३।

भावार्थः—ये राजादयो राजजना विद्वत्सङ्ग-प्रियाः, साहसिनः, सत्यगुणकर्मस्वभावा, मेधावि-राज्येऽधिकृताः, सङ्गतानि न्यायविनययुक्तानि कर्माणि कुर्युः, तेषामाकाशमिव कीर्तिर्विस्तीर्णा भवति ॥ ३३ । ८३ ॥

भावार्थ—जो राजा आदि राजपुरुष—विद्वानों के संग से प्रीति करने वाले, साहसी, सत्य गुण-कर्म-स्वभाव वाले, मेधावी जनों के राज्य में अधिकृत, संगत न्याय एवं विनय से युक्त कर्म करते हैं; उनकी आकाश के तुल्य कीर्ति विस्तीर्ण होती है ।।३३।८३।।

भा० पदार्थः—सहस्कृतः=साहसी । यज्ञेषु=सङ्गतेषु न्यायविनययुक्तेषु कर्मसु । महिमा=कीर्तिः । समुद्रः=आकाशः । पप्रथे=विस्तीर्णा भवति ॥

भाष्यसार—**राजधर्म का उपदेश**—यदि सभापति राजा—वेदार्थ के ज्ञाता ऋषियों एवं राजर्षियों के साथ असंख्य ज्ञान को प्राप्त करे, बल से निष्पन्न हो, सब व्यवहारों में और विद्वानों में श्रेष्ठ हो तो उसकी महिमा सागर के तुल्य अथवा अन्तरिक्ष के तुल्य विस्तृत होती है । प्रजाजन संगत राजकर्मों में और मेधावी जनों के राज्य में इस राजा के बल की स्तुति करते हैं । अतः राजा आदि राजपुरुष—विद्वानों के सङ्ग से प्रेम करने वाले, साहसी, सत्य गुण-कर्म-स्वभाव वाले, मेधावी जनों के राज्य में अधि-कृत, न्याय और विनय से युक्त संगत कर्म करने वाले हों ॥ ३३ । ८३ ॥

भरद्वाजः । **सविता=राजा** । निचृज्जगती । निषादः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

राजधर्म का फिर उपदेश किया है ॥

अदब्धेभिः सवितः पायुभिष्ट्वं शिवेभिरद्य परि पाहि नो गयम् ।
हिरण्यजिह्वः सुविताय नव्यसे रक्षा माकिर्नो ऽ अघशंसऽ ईशत ॥ ८४ ॥

पदार्थः—(**अदब्धेभिः**) अहिंसनीयैः (**सवितः**) सकलैश्वर्ययुक्त (**पायुभिः**) विविधै रक्षणोपायैः (त्वम्) (शिवेभिः) मङ्गलकारकैः (**अद्य**) (**परि**) सर्वतः (**पाहि**) रक्ष (**नः**) अस्माकम् (**गयम्**) प्रजाम्

(**हिरण्यजिह्वः**) हिरण्या=हितरमणीया जिह्वा=वाग् यस्य (**सुविताय**) ऐश्वर्याय (**नव्यसे**) अतिशयेन नवीनाय (**रक्ष**) पालय। **अत्र द्व्यचोतस्तिङ इति दीर्घः** (**माकिः**) निषेधे (**नः**) अस्मान् (**अघशंसः**) दुष्टः स्तेनः (**ईशत**) समर्थो भवेत् ॥ ८४ ॥

प्रमाणार्थ—(रक्ष) पालय। यहाँ 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (अ० ६।३।१३५) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—'रक्षा'॥

अन्वयः—हे सविता राजंस्त्वमद्याऽदब्धेभिः शिवेभिः पायुभिर्नो गयं परिपाहि हिरण्यजिह्वः स नव्यसे सुविताय नोऽस्मान् रक्ष यतोऽघशंसोऽस्मदुपरि माकिरीशत ॥ ८४ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे सवितः**=**राजन्** सकलैश्वर्ययुक्त! **त्वमद्याऽदब्धेभिः** अहिंसनीयैः **शिवेभिः** मङ्गलकारकैः **पायुभिः** विविधै रक्षणोपायैः **नः** अस्माकं **गयं** प्रजां **परिपाहि** सर्वतः रक्ष! **हिरण्यजिह्वः** हिरण्या=हितरमणीया जिह्वा=वाग् यस्य **स नव्यसे** अतिशयेन नवीनाय **सुविताय** ऐश्वर्याय **नः** अस्मान् **रक्ष** पालय। **यतोऽघशंसः** दुष्टः स्तेनः **अस्मदुपरि माकिः न ईशत** समर्थो भवेत् ॥ ३३। ८४ ॥

भाषार्थ—हे (सवितः) सकल ऐश्वर्य से युक्त राजन्! तू—(अद्य) आज (अदब्धेभिः) अहिंसनीय (शिवेभिः) मंगलकारक (पायुभिः) विविध रक्षा के उपायों से (नः) हमारी (गयम्) प्रजा की (परिपाहि) सब ओर से रक्षा कर। (हिरण्यजिह्वः) हिरण्य=हित में रमण करने वाली वाणी से युक्त तू—(नव्यसे) अत्यन्त नवीन (सुविताय) ऐश्वर्य के लिए (नः) हमारी (रक्ष) रक्षा कर। जिस से (अघशंसः) दुष्ट चोर हमारे ऊपर (माकिः) न (ईशत) समर्थ हो; स्वामी न बने ॥ ३३। ८४ ॥

भावार्थः—राज्ञां योग्यताऽस्ति—सर्वस्याः प्रजायाः सन्तानान् ब्रह्मचर्यविद्यादानस्वयंवर-विवाहैः दस्युभ्यो रक्षणेन चोन्नयेयुरिति ॥३३।८४॥

भावार्थ—राजाओं को योग्य है कि वे सब प्रजा की सन्तानों को ब्रह्मचर्य, विद्या-दान और स्वयंवर विवाह के द्वारा दस्युओं से रक्षा करके उन्नत करें ॥ ३३। ८४ ॥

भा० पदार्थः—गयम्=प्रजायाः सन्तानम्। शिवेभिः=ब्रह्मचर्यविद्यादानस्वयंवर-विवाहैः। अघशंसः=दस्युः।

भाष्यसार—राजधर्म का उपदेश—सकल ऐश्वर्य से युक्त राजा—हिंसा से रहित, मंगलकारक विविध रक्षा-उपायों से प्रजा की सब ओर से रक्षा करे। वह हित में रमण करने वाली जिह्वा से युक्त हो अर्थात् सदा हितकारी भाषण करे। अत्यन्त नवीन ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए प्रजा की रक्षा करे। सब प्रजा की सन्तानों की ब्रह्मचर्य, विद्यादान और स्वयंवर विवाह के द्वारा दस्युओं से रक्षा करे और उन्हें उन्नत करे ॥ ३३। ८४ ॥ ●

जमदग्निः। **वायुः=राजा**। विराड्बृहती। मध्यमः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

राजधर्म का फिर उपदेश किया है ॥

आ नो॑ य॒ज्ञं दि॑वि॒स्पृशं॒ वायो॑ या॒हि सु॒मन्म॑भिः।
अ॒न्तः प॒वित्र॑ऽ उ॒परि॑ श्री॒णा॒नो॒ऽयꣳ शु॒क्रो ऽ अ॑यामि ते ॥ ८५ ॥

पदार्थः—(**आ**) समन्तात् (**नः**) अस्माकम् (**यज्ञम्**) सङ्गतं व्यवहारम् (**दिविस्पृशम्**) विद्याप्रकाशयुक्तम् (**वायो**) वायुवद्वर्त्तमान (**याहि**) प्राप्नुहि (**सुमन्मभिः**) शोभनैर्विज्ञानैः (**अन्तः**) आभ्यन्तरे (**पवित्रः**) शुद्धात्मा (**उपरि**) उत्कर्षे (**श्रीणानः**) आश्रयं कुर्वाणः (**अयम्**) (**शुक्रः**) आशुकर्त्ता वीर्य्यवान् (**अयामि**) प्राप्नोमि (**ते**) तव ॥ ८५ ॥

अन्वयः—हे वायो राजन् ! यथाऽहमन्तः पवित्र उपरि श्रीणानोऽयं शुक्रः सन् सुमन्मभिस्ते दिविस्पृशं यज्ञमयामि तथा त्वं नो दिविस्पृशं यज्ञमायाहि ॥ ८५ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे वायो**=राजन् ! वायुवद्वर्त्तमान ! **यथाऽहमन्तः** आभ्यन्तरे **पवित्रः** शुद्धात्मा **उपरि** उत्कर्षे **श्रीणानः** आश्रयं कुर्वाणः **अयं शुक्रः** आशुकर्त्ता वीर्य्यवान् **सन् सुमन्मभिः** शोभनैर्विज्ञानैः **ते** तव **दिविस्पृशं** विद्याप्रकाशयुक्तं **यज्ञं** सङ्गतं व्यवहारं **अयामि** प्राप्नोमि, **तथा त्वं नः** अस्माकं **दिविस्पृशं** विद्याप्रकाशयुक्तं **यज्ञं** सङ्गतं व्यवहारम् **आ+याहि** समन्तात् प्राप्नुहि ॥ ८५ ॥

भाषार्थ—हे (वायो) वायु के तुल्य राजन् ! जैसे मैं—(अन्तः) अन्दर (पवित्रः) शुद्धात्मा होकर (उपरि) उत्कर्ष में (श्रीणानः) आश्रय करता हुआ, (अयम्) यह (शुक्रः) शीघ्रकारी एवं वीर्यवान् होकर (सुमन्मभिः) उत्तम विज्ञानों से (ते) तेरे (दिविस्पृशम्) विद्याप्रकाश से युक्त (यज्ञम्) संगत व्यवहार को (अयामि) प्राप्त करता हूँ--वैसे तू (नः) हमारे (दिविस्पृशम्) विद्याप्रकाश से युक्त (यज्ञम्) संगत व्यवहार को (आ+याहि) सब ओर से प्राप्त कर ॥ ३३ । ८५ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । यादृशेन वर्त्तमानेन वृत्तेन राजा प्रजासु चेष्टेत, तादृशेनैव भावेन प्रजा राजनि वर्त्तेत, एवमुभौ मिलित्वा सर्वं न्यायव्यवहारमलंकुर्याताम् ॥३३।८५॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। जैसे वर्त्तमान वर्ताव से राजा प्रजा में चेष्टा करके, वैसे ही भाव से प्रजा राजा में वर्ताव करे। इस प्रकार दोनों मिलकर सब न्याय-व्यवहार को अलंकृत करें ॥ ३३ । ८५ ॥

भा० पदार्थः—यज्ञं=सर्वं न्यायव्यवहारम् ॥

भाष्यसार—**१. राजधर्म का उपदेश**—प्रजा जन अन्दर शुद्धात्मा होकर, उत्कर्ष में राजा का आश्रय करके, शीघ्रकारी एवं बलवान् होकर, उत्तम विज्ञानों के द्वारा राजा के विद्याप्रकाश से युक्त, संगत व्यवहार को प्राप्त करे। वायु के तुल्य बलवान् राजा भी प्रजा जन के विद्याप्रकाश से युक्त संगत व्यवहार को सब ओर से प्राप्त करे। तात्पर्य यह है कि जिस व्यवहार से राजा प्रजा में चेष्टा करे उसी व्यवहार से प्रजा भी राजा में वर्ताव करे। इस प्रकार दोनों मिलकर सब न्याय-व्यवहार को सिद्ध करें।

२. **अलंकार**—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि प्रजा जन राजा के तुल्य ही व्यवहार करें ॥ ३३ । ८५ ॥

तापसः । **इन्द्रवायू**=**राजप्रजाजनौ** । निचृद्बृहती । मध्यमः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

राजधर्म का फिर उपदेश किया है ॥

इन्द्रवायू सुसन्दृशा सुहवेह हवामहे ।
यथा नः सर्व ऽ इज्जनोऽनमीवः सङ्गमे सुमना ऽ असत् ॥ ८६ ॥

पदार्थः—(**इन्द्रवायू**) राजप्रजाजनौ (**सुसन्दृशा**) सुष्ठु सम्यक् द्रष्टारौ (**सुहवा**) सुष्ठ् स्वाह्वनीयौ (**इह**) (**हवामहे**) स्वीकुर्महे (**यथा**) (**नः**) अस्माकम् (**सर्वः**) (**इत्**) एव (**जनः**) (**अनमीवः**) अरोगः (**सङ्गमे**) सङ्ग्रामे समागमे वा । **सङ्गम इति संग्रामना० ॥ निघं० २ । १७ ॥** (**सुमनाः**) प्रसन्नचित्तः (**असत्**) भवेत् ॥ ८६ ॥

प्रमाणार्थ—(**सङ्गमे**) सङ्ग्रामे समागमे वा । 'सङ्गम' यह पद निघण्टु (२ । १७) में संग्राम-नामों में पठित है ॥

अन्वयः—वयं यौ सुसन्दृशा सुहवा इन्द्रवायू इह हवामहे यथा सङ्गमे नोऽनमीवः सुमनाः सर्वो जनो असत् तथा तौ कुर्याताम् ॥ ८६ ॥

सपदार्थान्वयः—**वयं यौ सुसन्दृशा** सुष्ठु सम्यक् द्रष्टारौ **सुहवा** सुष्ठ्वाह्वनीयौ **इन्द्रवायू** राजप्रजाजनौ **इह हवामहे** स्वीकुर्महे । **यथा सङ्गमे** सङ्ग्रामे समागमे वा **नः** अस्माकम् **अनमीवः** अरोगः **सुमनाः** प्रसन्नचित्तः **सर्वः** [**इत्**] एव **जनो असत्** भवेत्, **तथा तौ कुर्याताम्** ॥ ३३ । ८६ ॥

भाषार्थ—हम जिन (सुसन्दृशा) उत्तम रीति से सम्यक् देखने वाले (सुहवा) उत्तम रीति से बुलाने योग्य (इन्द्रवायू) राजा और प्रजा जन को (इह) इस जगत् में (हवामहे) स्वीकार करते हैं (यथा) जैसे (सङ्गमे) संग्राम वा समागम में (नः) हमारा (अनमीवः) नीरोग एवं (सुमनाः) प्रसन्न चित्त वाला (सर्वः) सब [इत्] ही (जनः) मनुष्य (असत्) हो;—वैसे वे राजा और प्रजाजन करें ।८६।

भावार्थः—अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ । तथैव राजप्रजाजनाः प्रयतेरन् यथा सर्वे मनुष्यादयः प्राणिनोऽरोगाः प्रसन्नमनसो भूत्वा पुरुषार्थिनः स्युः ॥ ३३ । ८६ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमा और वाचक लुप्तोपमा अलङ्कार हैं, राजा और प्रजा जन वैसे ही प्रयत्न करें जैसे सब मनुष्य आदि प्राणी नीरोग एवं प्रसन्न चित्त होकर पुरुषार्थी हों ॥ ३३ । ८६ ॥

भा० पदार्थः—सुमनाः=प्रसन्नमनाः ॥

भाष्यसार—**१. राजधर्म का उपदेश**—राजा और प्रधान प्रजा जन प्रजा को अच्छे प्रकार देखने वाले तथा उत्तम रीति से आह्वान करने योग्य हों । इस जगत् में प्रजा जन उन्हें राजा और प्रधान पुरुष के रूप में स्वीकार करें । वे ऐसा प्रयत्न करें कि संग्राम वा विशाल समागम के अवसर पर सब मनुष्य नीरोग और प्रसन्न चित्त वाले हों ।

२. अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'यथा' पद है अतः उपमा अलंकार है । उपमा-वाचक पद को लुप्त मान कर वाचक लुप्तोपमा अलंकार भी है । उपमा यह है कि राजा और प्रधान प्रजाजन ऐसा प्रयत्न करें कि जैसे सब मनुष्य आदि प्राणी नीरोग एवं प्रसन्न-चित्त होकर पुरुषार्थी हों ॥ ३३ । ८६ ॥

जमदग्निः । **मित्रावरुणौ**=**राजाप्रजाजनौ** । निचृद्बृहती । मध्यमः ॥
पुनस्तमेव विषयमाह ॥
राजधर्म का फिर उपदेश किया है ॥

ऋधगित्था स मर्त्यः शशमे देवतातये ।
यो नूनं मित्रावरुणावभिष्टय ऽ आचक्रे हव्यदातये ॥ ८७ ॥

पदार्थः—(**ऋधक्**) यः समृध्नोति सः (**इत्था**) अस्माद्धेतोः (**सः**) (**मर्त्यः**) मनुष्यः (**शशमे**) शाम्यति=निरुपद्रवो भवति । **अत्र एत्वाभ्यासलोपाभावश्छान्दसः** (**देवतातये**) देवेभ्यो=विद्वद्भ्यो दिव्यगुणेभ्यो वा (**यः**) (**नूनम्**) निश्चितम् (**मित्रावरुणौ**) प्राणोदानाविव राजप्रजाजनौ (**अभिष्टये**) अभीष्टसुखप्राप्तये (**आचक्रे**) सेवते । **अत्र गन्धनावक्षेपण० ॥ अ० १ । ३ । ३२ ॥ इति करोतेः सेवनार्थ आत्मनेपदम्** (**हव्यदातये**) हव्यानामादातुमर्हाणामादानाय ॥ ८७ ॥

प्रमाणार्थ—(**शशमे**) यहाँ एत्व और अभ्यास-लोप का अभाव छान्दस=वैदिक है । (**आचक्रे**) यहाँ 'गन्धनावक्षेपण'० (**अ०** १ । ३ । ३२) इस सूत्र से 'कृ' धातु से सेवन अर्थ में आत्मनेपद है ॥

अन्वयः—यो देवतातय ऋधग्मर्त्योऽभिष्टये हव्यदातये च मित्रावरुणौ नूनमाचक्रे स नर इत्था शशमे ॥ ८७ ॥

सपदार्थान्वयः—यो **देवतातये** देवेभ्यो=विद्वद्भ्यो दिव्यगुणेभ्यो वा **ऋधग्** यः समृध्नोति सः **मर्त्यः** मनुष्यः **अभिष्टये** अभीष्टसुखप्राप्तये **हव्यदातये** हव्यानामादातुमर्हाणामादानाय **च** **मित्रावरुणौ** प्राणोदानाविव राजप्रजाजनौ **नूनं** निश्चितम् **आचक्रे** सेवते; **स नर इत्था** अस्माद्धेतोः **शशमे** शाम्यति=निरुपद्रवो भवति ॥ ३३ । ८७ ॥

भाषार्थ—जो (देवतातये) देव=विद्वान् वा दिव्य गुणों के लिए (ऋधक्) समृद्ध (मर्त्यः) मनुष्य—(अभिष्टये) अभीष्ट सुख की प्राप्ति के लिए और (हव्यदातये) हव्य=ग्रहण करने योग्य पदार्थों को ग्रहण करने के लिए (मित्रावरुणौ) प्राण और उदान के तुल्य राजा और प्रजाजन की (नूनम्) निश्चित (आचक्रे) सेवा करता है; वह नर—(इत्था) इस हेतु से (शशमे) शान्त होता है; उपद्रव-रहित होता है ॥ ३३ । ८७ ॥

भावार्थः—ये शमदमादिगुणान्विता राजप्रजाजना इष्टसुखसिद्धये प्रयतेरँस्तेऽवश्यं समृद्धिमन्तो भवेयुः ॥ ३३ । ८७ ॥

भावार्थ—जो शम, दम आदि गुणों से युक्त राजा और प्रजाजन—इष्ट सुख की सिद्धि के लिए प्रयत्न करते हैं; वे अवश्य समृद्धिशाली होते हैं ॥ ३३ । ८७ ॥

भाष्यसार—राजधर्म का उपदेश—जो समृद्ध मनुष्य—विद्वानों वा दिव्यगुणों की प्राप्ति के लिए तथा अभीष्ट सुख की प्राप्ति के लिए और हव्य=ग्रहण करने योग्य पदार्थों को ग्रहण करने के लिए प्राण के तुल्य राजा और उदान के तुल्य प्रधान प्रजाजन की निश्चित सेवा करता है; वह शान्त होता है; उपद्रव रहित होता है । शम, दम आदि गुणों से युक्त जो राजा और प्रधान प्रजा-जन अभीष्ट सुख की सिद्धि के लिए प्रयत्न करते हैं; वे अवश्य समृद्धिशाली होते हैं ॥ ३३ । ८७ ॥ ●

वसिष्ठः । **अश्विनौ=राजप्रजाजनौ** । निचृद्बृहती । मध्यमः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

राजधर्म का फिर उपदेश किया है ॥

आ यांतमुपं भूषतं मध्वंः पिबतमश्विना ।
दुग्धं पयों वृषणा जेन्यावसू मा नों मर्धिष्टमा गंतम् ॥ ८८ ॥

पदार्थः—(**आ**) (**यातम्**) प्राप्नुतम् (**उप**) (**भूषतम्**) अलं कुरुतम् (**मध्वः**) मधुरं=वैद्यकशास्त्रसिद्धं रसम् । अत्र कर्मणि षष्ठी (**पिबतम्**) (**अश्विना**) विद्यादिशुभगुणव्यापिनौ राजप्रजाजनौ (**दुग्धम्**) पूर्णं कुरुतम् (**पयः**) उदकम् । पय इत्युदकना० ॥ निघं० १ । १२ ॥ (**वृषणा**) वीर्य्यवन्तौ (**जेन्यावसू**) यौ जेन्यान्=जयशीलान् वासयतो यद्वा ज्येन्यं=जेतव्यं जितं वा वसु=धनं याभ्यां तौ (**मा**) (**नः**) अस्मान् (**मर्द्धिष्टम्**) हिंस्तम् (**आ**) (**गतम्**) समन्तात्प्राप्नुतम् ॥ ८८ ॥

प्रमाणार्थ—(**मध्वः**) मधुरं वैद्यकशास्त्रसिद्धं रसम् । यहाँ कर्म में षष्ठी विभक्ति है । (**पयः**) उदकम् । 'पयः' यह पद निघण्टु (१ । १२) में उदक-नामों में पठित है—उदक=जल ॥

अन्वयः—हे वृषणा जेन्यावसू अश्विना ! युवां सुखमायातं प्रजा उपभूषतं मध्वः पिबतं पयो दुग्धं नोऽस्मान्मा मर्द्धिष्टं धर्मेण विजयमागतम् ॥ ८८ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **वृषणा** वीर्य्यवन्तौ **जेन्यावसू** यौ जेन्यान्=जयशीलान् वासयतो यद्वा ज्येन्यं=जेतव्यं जितं वा वसु=धनं याभ्यां तौ **अश्विना** विद्यादिशुभगुणव्यापिनौ राजप्रजाजनौ ! **युवां सुखमायातं** प्राप्नुतं; **प्रजा उपभूषतम्** अलं कुरुतं; **मध्वः** मधुरं=वैद्यकशास्त्रसिद्धं रसं **पिबतं, पयः** उदकं **दुग्धं** पूर्णं कुरुतं, **नः**=**अस्मान् मा मर्द्धिष्टं** हिंस्तं, **धर्मेण विजयमागतं** समन्तात्प्राप्नुतम् ॥ ३३ । ८८ ॥

भाषार्थ—हे (वृषणा) वीर्यवान्, (जेन्यावसू) जेन्य=जयशील लोगों को बसाने वाले अथवा धन को जीतने वाले (अश्विना) विद्यादि शुभ गुणों में व्याप्त राजा और प्रजा जन ! तुम दोनों—सुख को (आयातम्) प्राप्त करो; प्रजा को (उपभूषतम्) अलंकृत करो; (मध्वः) मधुर=वैद्य शास्त्र की रीति से सिद्ध किए हुए रस का (पिबतम्) पान करो; (पयः) जल को (दुग्धम्) पूर्ण करो; (नः) हमारी (मा, मर्द्धिष्टम्) मत हिंसा करो; धर्म से विजय को (आ+गतम्) सब ओर प्राप्त करो ॥ ३३ । ८८ ॥

भावार्थः—ये राजप्रजाजनाः सर्वान् विद्यासुशिक्षाभ्यामलंकुर्युः, सर्वत्र कुल्यादिद्वारा जलं गमयेयुः, श्रेष्ठान् न हिंसित्वा दुष्टान् हिंस्युः, ते विजेतारः सन्तोऽतुलां श्रियं प्राप्य सततं सुखं लभेरन् ॥ ३३ । ८८ ॥

भावार्थ—जो राजा और प्रजा जन—सब मनुष्यों को विद्या और सुशिक्षा से अलंकृत करते हैं; सर्वत्र कुल्या=नहर आदि के द्वारा जल पहुँचाते हैं; श्रेष्ठों की हिंसा न करके दुष्टों की हिंसा करते हैं; वे विजेता होकर अतुल श्री=लक्ष्मी को प्राप्त करके सदा सुख को प्राप्त करते हैं ॥ ३३ । ८८ ॥

भा० पदार्थः—उपभूषतम्=विद्यासुशिक्षाभ्यामलंकुरुतम् । पयः=जलम् । दुग्धम्=गमयतम् ॥

भाष्यसार—**राजधर्म का उपदेश**—बलवान्, जयशील जनों को बसाने वाले अथवा धन को जीतने वाले, विद्यादि शुभ गुणों में व्यापक राजा और प्रधान प्रजा-जन सुख को प्राप्त करें, विद्या और सुशिक्षा से प्रजा को अलंकृत करें, वैद्यक-शास्त्र के अनुसार सिद्ध किए हुए रस का पान करें, जल को पूर्ण करें अर्थात् कुल्या=नहर आदि के द्वारा सर्वत्र जल को पहुँचावें । श्रेष्ठ जनों की हिंसा न करें । दुष्टों का हनन करें । धर्म से विजय को प्राप्त करें ॥ ३३ । ८८ ॥ ●

कण्वः । **विश्वेदेवाः**=विद्वांसः । भुरिगनुष्टुप् । गान्धारः ॥

पुनर्मनुष्याः किं कुर्युरित्याह ॥

फिर मनुष्य क्या करें, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता ।
अच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः ॥ ८९ ॥

पदार्थः—(प्र) (एतु) प्राप्नोतु (**ब्रह्मणस्पतिः**) धनस्य वेदस्य वा पालकः=स्वामी (**प्र**) (**देवी**) शुभगुणैर्देदीप्यमाना (**एतु**) प्राप्नोतु (**सूनृता**) सत्यलक्षणोज्ज्वलिता वाक् (**अच्छ**) **अत्र निपातस्य चेति दीर्घः** (**वीरम्**) (**नर्यम्**) नृषु साधुम् (**पङ्क्तिराधसम्**) पङ्क्तेः=समूहस्य राधः=संसिद्धिर्यस्मात्तम् (**देवाः**) विद्वांसः (**यज्ञम्**) सङ्गतधर्म्यं व्यवहारकर्त्तारम् (**नयन्तु**) प्रापयन्तु वा (**नः**) अस्मान् ॥ ८९ ॥

प्रमाणार्थ—(**अच्छ**) यहाँ 'निपातस्य च' (अ० ६ । ३ । १३६) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—'अच्छा' ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यूयं यथा नोऽस्मान् ब्रह्मणस्पतिः प्रैतु सूनृता देवी प्रैतु नर्यं पङ्क्तिराधसं यज्ञं वीरं देवाऽच्छ नयन्तु तथाऽस्मान् प्राप्नुत ॥ ८९ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! **यूयं**-**यथा नः**=**अस्मान् ब्रह्मणस्पतिः** धनस्य वेदस्य वा पालकः=स्वामी **प्रैतु** प्राप्नोति; **सूनृता** सत्यलक्षणोज्ज्वलिता वाक् **देवी** शुभगुणैर्देदीप्यमाना **प्रैतु** प्राप्नोतु; **नर्यं** नृषु साधुं **पङ्क्तिराधसं** पङ्क्तेः=समूहस्य राधः=संसिद्धिर्यस्मात्तं **यज्ञं** सङ्गतधर्म्यं व्यवहारकर्त्तारं **वीरं देवाः** विद्वांसः **अच्छ नयन्तु** प्रापयन्तु वा **तथाऽस्मान् प्राप्नुत** ॥ ३३ । ८९ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! तुम—जैसे (नः) हमें (ब्रह्मणस्पतिः) ब्रह्म=धन वा वेद का स्वामी (प्रैतु) प्राप्त हो; (सूनृता) सत्य लक्षण से उज्ज्वल (देवी) शुभ गुणों से देदीप्यमान वाणी (प्रैतु) प्राप्त हो, (नर्यम्) नरों में श्रेष्ठ (पंक्तिराधसम्) पंक्ति=समूह की सिद्धि करने वाले (यज्ञम्) संगत, धर्मयुक्त व्यवहार करने वाले (वीरम्) वीर पुरुष को (देवाः) विद्वान् लोग (अच्छ) अच्छे प्रकार (नयन्तु) स्वयं प्राप्त करें; वा करावें; वैसे हमें प्राप्त होओ ॥ ३३ । ८९ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । ये विदुषः सत्यां वाचं, सर्वोपकारकान् वीरांश्च प्राप्नुयुस्ते सम्यक् सुखोन्नतिं कुर्युः ॥ ३३ । ८९ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। जो विद्वान् सत्य वाणी और सबके उपकारक विद्वानों को प्राप्त करते हैं; वे अच्छे प्रकार से सुख की उन्नति करते हैं ॥ ३३ । ८९ ॥

भा० पदार्थः—सूनृता=सत्यावाक् । यज्ञम्=सर्वोपकारकम् । अच्छ=सम्यक् ॥

भाष्यसार—**१. मनुष्य क्या करें**—मनुष्य—ब्रह्म अर्थात् धन वा वेद के स्वामी को प्राप्त करें, सत्य लक्षण से उज्ज्वल, शुभ गुणों से प्रकाशमान, विद्वानों की वाणी को प्राप्त करें। विद्वान् लोग—नरों में श्रेष्ठ, समूह की सिद्धि करने वाले संगत धर्मयुक्त व्यवहार करने वाले, सब के उपकारक वीर पुरुषों को प्राप्त करें तथा अच्छे प्रकार सुख की उन्नति करें ॥

२. **अलङ्कार**—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलङ्कार है। उपमा यह है कि विद्वानों के तुल्य सब मनुष्य—धन वा वेद के स्वामी, सत्य वाणी और वीर पुरुषों को प्राप्त करें ॥ ३३ । ८९ ॥

त्रितः । इन्द्रः=राजा । निचृद्बृहती । मध्यमः ।।

पुनस्तमेव विषयमाह ।।

मनुष्य क्या करें, यह फिर उपदेश किया है ।।

च॒न्द्रमा॑ ऽ अ॒प्स्व॒न्तरा सु॑प॒र्णो धा॑वते दि॒वि ।
र॒यिं पि॒शङ्गं॑ बहु॒लं पु॑रु॒स्पृह॑ᳪं हरि॑रेति॒ कनि॑क्रदत् ॥ ९० ॥

पदार्थः—(**चन्द्रमाः**) शैत्यकरः (**अप्सु**) व्याप्तेऽन्तरिक्षे (**अन्तः**) मध्ये (**आ**) (**सुपर्णः**) शोभनानि पर्णानि=पतनानि यस्य सः (**धावते**) सद्यो गच्छति (**दिवि**) सूर्यप्रकाशे (**रयिम्**) श्रियम् (**पिशङ्गम्**) सुवर्णादिवद्वर्णयुतम् (**बहुलम्**) पुष्कलम् (**पुरुस्पृहम्**) बहुभिः स्पृहणीयम् (**हरिः**) अश्व इव (**एति**) गच्छति (**कनिक्रदत्**) भृशं शब्दयन् ।। ९० ।।

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यूयं यथा सुपर्णश्चन्द्रमा कनिक्रदद्धरिरिव दिव्यप्स्वन्तराधावते पुरुस्पृहं बहुलं पिशङ्गं रयिं चेति तथा पुरुषार्थिनः सन्तो वेगेन श्रियं प्राप्नुत ।। ९० ।।

सपदार्थान्वयः—**हे मनुष्याः ! यूयं यथा सुपर्णः** शोभनानि पर्णानि=पतनानि यस्य सः **चन्द्रमाः** शैत्यकरः **कनिक्रदत्** भृशं शब्दयन् **हरिः अश्वः इव दिवि** सूर्यप्रकाशे **अप्सु** व्याप्तेऽन्तरिक्षे **अन्तः** मध्ये **आ+धावते** सद्यो गच्छति, **पुरुस्पृहं** बहुभिः स्पृहणीयं **बहुलं** पुष्कलं **पिशङ्गं** सुवर्णादिवद्वर्णयुतं **रयिं** श्रियं **च एति** गच्छति, **तथा पुरुषार्थिनः सन्तो वेगेन श्रियं प्राप्नुत** ।। ३३ ।। ९० ।।

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! तुम—जैसे—(सुपर्णः) उत्तम पर्ण=पतन=गतियों वाला (चन्द्रमाः) शीतल चन्द्रमा—(कनिक्रदत्) अत्यन्त शब्द करने वाले (हरिः) अश्व के समान—(दिवि) सूर्य के प्रकाश में (अप्सु) व्याप्त आकाश के (अन्तः) मध्य में (आ+धावते) शीघ्र गति करता है; और (पुरुस्पृहम्) बहुत जनों से स्पृहा के योग्य, (बहुलम्) अधिक (पिशङ्गम्) सुवर्ण आदि के वर्ण से युक्त (रयिम्) शोभा को (एति) प्राप्त होता है—वैसे पुरुषार्थी होकर वेग से श्री को प्राप्त करो ।। ९० ।।

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । हे मनुष्याः ! यथा सूर्येण प्रकाशिताश्चन्द्रलोका अन्तरिक्षे गच्छन्त्यागच्छन्ति, यथोत्तमोऽश्व उच्चैः शब्दयन् सद्यो धावति, तथाभूताः सन्तो यूयमतीवोत्तमामतुलां श्रियं प्राप्य सर्वान् सुखयत ।। ३३ । ९० ।।

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । हे मनुष्यो ! जैसे सूर्य से प्रकाशित चन्द्रलोक अन्तरिक्ष में जाते-आते हैं; जैसे उत्तम घोड़ा ऊँचा शब्द करता हुआ शीघ्र दौड़ता है; वैसे हुए तुम लोग—अत्युत्तम, अतुल श्री को प्राप्त करके सुखी करो ।। ३३ ।। ९० ।।

भा० पदार्थः—आधावते=गच्छत्यागच्छति । हरिः=उत्तमोऽश्वः । कनिक्रदत्=उच्चैः शब्दयन् । आधावते=सद्यो धावति । पुरुस्पृहम्=उत्तमम् । बहुलम्=अतुलम् ।।

भाष्यसार—१. **मनुष्य क्या करें**—उत्तम पतन=गति वाला, शीतल चन्द्रमा—बहुत शब्द करने वाले घोड़े के समान सूर्य के प्रकाश एवं व्याप्त अन्तरिक्ष के मध्य में शीघ्र गति करता है । बहुत जनों से स्पृहा करने योग्य, पुष्कल, सुवर्ण आदि वर्ण से युक्त शोभा को प्राप्त करता है । इसी प्रकार सब मनुष्य पुरुषार्थी होकर अत्युत्तम अतुल शोभा को प्राप्त करके सबको सुखी करें ।

२. **अलङ्कार**—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि मनुष्य चन्द्रमा के तुल्य शोभा को प्राप्त करें ॥ ३३ । ९० ॥

मनुः । **विश्वेदेवाः=राजपुरुषाः** । विराट् बृहती । मध्यमः ॥

पुना राजधर्मविषयमाह ॥

राजधर्म का फिर उपदेश किया है ॥

दे॒वं दे॑वं॒ वोऽव॑से दे॒वं दे॑वम॒भिष्ट॑ये ।

दे॒वं दे॑व॑ꣳ हुवेम॒ वाज॑सातये गृ॒णन्तो॑ दे॒व्या धि॒या ॥ ९१ ॥

पदार्थः—(**देवन्देवम्**) विद्वांसं विद्वांसं, दिव्यं दिव्यं पदार्थं वा (**वः**) युष्माकम् (**अवसे**) रक्षणाद्याय (**देवन्देवम्**) (**अभिष्टये**) इष्टसुखाय (**देवन्देवम्**) (**हुवेम**) आह्वयामः स्वीकुर्याम वा (**वाजसातये**) वाजानां=वेगादीनां सम्भागाय (**गृणन्तः**) स्तुवन्तः (**देव्या**) देदीप्यमानया (**धिया**) प्रज्ञया कर्मणा वा ॥ ९१ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! देव्या धिया गृणन्तो वयं यथा वोऽवसे देवन्देवं हुवेम वोऽभिष्टये देवन्देवं हुवेम वो वाजसातये च देवन्देवं हुवेम तथा यूयमप्येवमस्मभ्यं कुरुत ॥ ९१ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे मनुष्याः ! देव्या** देदीप्यमानया **धिया** प्रज्ञया कर्मणा वा **गृणन्तः** स्तुवन्तः **वयं यथा वः** युष्माकम् **अवसे** रक्षणाद्याय **देवं देवं** विद्वांसं विद्वांसं, दिव्यं दिव्यं पदार्थं वा **हुवेम** आह्वयामः स्वीकुर्याम वा; **वः** युष्माकं **अभिष्टये** इष्टसुखाय **देवं देवं** विद्वांसं विद्वांसं दिव्यं दिव्यं पदार्थं वा **हुवेम** आह्वयामः स्वीकुर्याम वा; **वः** युष्माकं **वाजसातये** वाजानां=वेगादीनां सम्भागाय **च देवन्देवं** विद्वांसं विद्वांसं, दिव्यं दिव्यं पदार्थं वा **हुवेम** आह्वयामः स्वीकुर्याम वा **तथा यूयमप्येवमस्मभ्यं कुरुत** ॥ ३३ । ९१ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! (देव्या) देदीप्यमान (धिया) प्रज्ञा वा कर्म से (गृणन्तः) स्तुति करते हुए हम लोग—जैसे (वः) तुम्हारी (अवसे) रक्षादि के लिए (देवं देवम्) प्रत्येक विद्वान् वा प्रत्येक दिव्य पदार्थ को (हुवेम) बुलाते हैं, वा स्वीकार करते हैं; (वः) तुम्हारे (अभिष्टये) अभीष्ट सुख के लिए (देवं देवम्) प्रत्येक विद्वान् वा दिव्य पदार्थ को (हुवेम) बुलाते हैं वा स्वीकार करते हैं; (वः) तुम्हारे (वाजसातये) वाज=वेग आदि के सेवन के लिए (देवं देवम्) प्रत्येक विद्वान् वा दिव्य पदार्थ को (हुवेम) बुलाते हैं वा स्वीकार करते हैं; वैसे तुम भी ऐसा हमारे लिए करो ॥ ३३ । ९१ ॥

भावार्थः—ये राजपुरुषाः सर्वेषां प्राणिनां हिताय विदुषः सत्कृत्यैतैः सत्योपदेशान् प्रचार्य, सृष्टिपदार्थान् विज्ञाय, सर्वाभीष्टं संसाध्य, सङ्ग्रामान् जयन्ति, ते दिव्यां कीर्तिं प्रज्ञां च लभन्ते ॥३३।९१॥

भावार्थ—जो राजपुरुष—सब प्राणियों के हित के लिए विद्वानों का सत्कार करके, इनके द्वारा सत्य उपदेशों का प्रचार करके, सृष्टि के पदार्थों को जानकर, सब अभीष्ट को सिद्ध करके, संग्रामों को जीतते हैं—वे दिव्य कीर्ति और प्रज्ञा को प्राप्त करते हैं ॥ ३३ । ९१ ॥

भा० पदार्थः—अवसे=प्राणिनां हिताय । अभिष्टये=सर्वाभीष्टं संसाध्य ।

भाष्यसार—राजधर्म का उपदेश—राजपुरुषों को उचित है कि वे—प्रकाशमान प्रज्ञा वा कर्म से स्तुति करते हुए प्रजा की रक्षादि के लिए एवं सब प्राणियों के हित के लिए विद्वानों का

आह्वान करें, उनका सत्कार करें, उनके द्वारा सत्य उपदेशों का प्रचार करें; तथा सृष्टि के दिव्य पदार्थों को स्वीकार करें, उन्हें जानें। अभीष्ट सुख की प्राप्ति के लिए भी विद्वानों का आह्वान करें तथा दिव्य पदार्थों को स्वीकार करें। वेग आदि के सेवन एवं संग्राम के लिए भी विद्वानों का आह्वान करें तथा दिव्य पदार्थों को स्वीकार करें। संग्रामों को जीतें। दिव्य कीर्ति और दिव्य प्रज्ञा को प्राप्त करें ॥ ३३ । ९१ ॥

मेधः । **वैश्वानरः**=विद्वान् । निचृद्बृहती । मध्यमः ॥

पुनर्विद्वांसः किं कुर्युरित्याह ॥

फिर विद्वान् लोग क्या करें, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

दि॒वि पृ॒ष्टो ऽ अ॑रोचता॒ग्निर्वै॑श्वान॒रो बृ॒हन् ।
क्ष्म॒या॑ वृधा॒न ऽ ओज॑सा॒ चना॑हितो॒ ज्योति॑षा बाधते॒ तमः॑ ॥ ९२ ॥

पदार्थः—(**दिवि**) प्रकाशे (**पृष्टः**) सिक्तः=स्थितः (**अरोचत**) रोचते=प्रकाशते (**अग्निः**) सूर्याख्यः (**वैश्वानरः**) विश्वेषां नराणां हितः (**बृहत्**) महान् (**क्ष्मया**) पृथिव्या सह । **क्ष्मेति पृथिवी ना० । निघं० १ । १ ॥** (**वृधानः**) वर्द्धमानः (**ओजसा**) बलेन (**चनोहितः**) ओषधिपाकसामर्थ्येन अन्नादीनां हितः (**ज्योतिषा**) स्वप्रकाशेन (**बाधते**) निवर्त्तयति (**तमः**) रात्र्यन्धकारम् । **तम इति रात्रिना० ॥ निघं० १ । ७ ॥** ॥ ३३ । ९२ ॥

प्रमाणार्थ—(**क्ष्मया**) पृथिव्या सह । 'क्ष्मा' यह पद निघण्टु (१ ।१) में पृथिवी-नामों में पठित है । (**तमः**) रात्र्यन्धकारम् । 'तमः' यह पद निघण्टु (१ । ७) में रात्रि-नामों में पठित है ॥

अन्वयः—हे विद्वांसो मनुष्याः ! यथा दिवि पृष्टो वैश्वानरो क्ष्मया वृधान ओजसा बृहन् चनोहितोऽग्निर्ज्योतिषा तमो बाधतेऽरोचत च तथा श्रेष्ठैर्गुणैरविद्यान्धकारं निवर्त्य यूयमपि प्रकाशितकीर्त्तयो भवत ॥ ९२ ॥

सपदार्थान्वयः—हे विद्वांसो मनुष्याः ! **यथा दिवि** प्रकाशे **पृष्टः** सिक्तः=स्थितः, **वैश्वानरः** विश्वेषां नराणां हितः, **क्ष्मया** पृथिव्या सह **वृधानः** वर्द्धमानः, **ओजसा** बलेन **बृहत्** महान्, **चनोहितः** ओषधिपाकसामर्थ्येन अन्नादीनां हितः **अग्निः** सूर्याख्यः **ज्योतिषा** स्वप्रकाशेन **तमः** रात्र्यन्धकारं **बाधते** निवर्त्तयति **अरोचत** रोचते=प्रकाशते **च, तथा श्रेष्ठैर्गुणैरविद्यान्धकारं निवर्त्य यूयमपि प्रकाशितकीर्त्तयो भवत** ॥ ३३ । ९२ ॥

भाषार्थ—हे विद्वान् मनुष्यो ! जैसे—(दिवि) प्रकाश में (पृष्टः) स्थित (वैश्वानरः) सब नरों का हितकारी, (क्ष्मया) पृथिवी के साथ (वृधानः) बढ़ने वाला, (ओजसा) बल से (बृहत्) महान्, (चनोहितः) ओषधियों के पकाने के सामर्थ्य से अन्न आदि का हितकारी (अग्निः) सूर्य—(ज्योतिषा) अपने प्रकाश से (तमः) रात्रि के अन्धकार को (बाधते) हटाता है; और (अरोचत) प्रकाश करता है;—वैसे श्रेष्ठ गुणों से अविद्या-अन्धकार को हटाकर तुम भी प्रकाशित कीर्ति वाले बनो ॥ ३३ । ९२ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । ये विद्वांसः सूर्यस्तम इव दुष्टाचारमविद्यान्धकारं

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । जो विद्वान्—जैसे सूर्य अन्धकार को

च निवर्त्य विद्यां प्रकाशयेयुस्ते सूर्य इव सर्वत्र प्रकाशितप्रशंसा भवेयुः ॥ ३३ । ९२ ॥

हटाता है वैसे दुष्ट आचार और अविद्या अन्धकार को हटाकर विद्या को प्रकाशित करते हैं; वे सूर्य के तुल्य सर्वत्र प्रकाशित प्रशंसा वाले होते हैं ॥९२॥

भा० पदार्थः—वैश्वानरः=विद्वान् । अग्निः=सूर्यः ॥

भाष्यसार—१. **विद्वान् क्या करें**—जैसे द्युलोक में स्थित, सब नरों का हितकारी, पृथिवी के साथ बढ़ने वाला, बल से महान्, ओषधि-पाक के सामर्थ्य से अन्न आदि का हितकारी सूर्य—अपने प्रकाश से रात्रि के अन्धकार को हटाता है और प्रकाश करता है; वैसे विद्वान् लोग श्रेष्ठ गुणों से अविद्या-अन्धकार को हटावें तथा स्वयं प्रकाशित कीर्ति वाले बनें ।

२. **अलङ्कार**—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । उपमा यह है कि विद्वान् लोग सूर्य के तुल्य अविद्या-अन्धकार को दूर करें तथा स्वयं सूर्य के तुल्य कीर्ति से प्रकाशमान हों ॥ ३३ । ९२ ॥ ●

सुहोत्रः । **इन्द्राग्नी**=अध्यापकोपदेशकौ । भुरिगनुष्टुप् । गान्धारः ॥

अथोषर्विषयमाह ॥

अब उषा के विषय का उपदेश किया जाता है ॥

इन्द्राग्नी ऽ अपादियं पूर्वागात्पद्वतीभ्यः ।
हित्वी शिरो जिह्वया वावदच्चरत्त्रिंशत्पदा न्यक्रमीत् ॥ ९३ ॥

पदार्थः—(**इन्द्राग्नी**) अध्यापकोपदेशकौ (**अपात्**) अविद्यमानौ पादौ यस्याः सा (**इयम्**) (**पूर्वा**) प्रथमा (**आ**) (**अगात्**) आगच्छति (**पद्वतीभ्यः**) बहवः पादा यासु प्रजासु ताभ्यः सुप्ताभ्यः प्रजाभ्यः (**हित्वी**) हित्वा=त्यक्त्वा (**शिरः**) उत्तमाङ्गम् (**जिह्वया**) वाचा (**वावदत्**) भृशं वदति (**चरत्**) चरति (**त्रिंशत्**) एतत्सङ्ख्याकान् (**पदा**) प्राप्तिसाधकान् मुहूर्त्तान् (**नि**) (**अक्रमीत्**) क्रमते ॥ ९३ ॥

अन्वयः—हे इन्द्राग्नी ! येयमपात्पद्वतीभ्यः पूर्वा आऽगाच्छिरो हित्वी प्राणिनां जिह्वया वावदच्चरत्त्रिंशत्पदान्यक्रमीत्सोषा युवाभ्यां विज्ञेया ॥ ९३ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे इन्द्राग्नी** अध्यापकोपदेशकौ ! **येयं अपात्** अविद्यमानौ पादौ यस्याः सा **पद्वतीभ्यः** बहवः पादा यासु प्रजासु ताभ्यः सुप्ताभ्यः प्रजाभ्यः **पूर्वा** प्रथमा **आ+अगात्** आगच्छति; **शिरः** उत्तमाङ्गं **हित्वी** हित्वा=त्यक्त्वा **प्राणिनां जिह्वया** वाचा **वावदत्** भृशं वदति; **चरत्** चरति; **त्रिंशत्** एतत्सङ्ख्याकान् **पदा** प्राप्तिसाधकान् मुहूर्त्तान् **न्यक्रमीत्** क्रमते, **सोषा युवाभ्यां विज्ञेया** ॥ ३३ । ९३ ॥

भाषार्थ—हे (इन्द्राग्नी) अध्यापक और उपदेशक लोगो—(अपात्) विना पग वाली उषा—(पद्वतीभ्यः) बहुत पग वाली सोई हुई प्रजा के लिए (पूर्वा) प्रथम (आ+अगात्) आती है; (शिरः) शिर को (हित्वी) छोड़कर, प्राणियों की (जिह्वया) वाणी से (वावदत्) बहुत बोलती है; (चरत्) विचरण करती है; (त्रिंशत्) तीस (पदा) मूहर्त्तों के पश्चात् (न्यक्रमीत्) प्रत्येक प्रदेश में गति करती है; उस उषा को तुम जानो ॥ ३३ । ९३ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! या वेगवती, पाद-शिर आद्यवयवरहिता, प्राणिप्रबोधात् पूर्वभाविनी,

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जो वेग वाली, पग-शिर आदि अवयवों से रहित, प्राणियों के

जागरणहेतुः, प्राणिमुखैर्भृशं वदतीव, त्रिंशन्मुहूर्तानन्तरं प्रतिप्रदेशमाक्रमीत्, सोषा युष्माभिर्निद्रालस्ये विहाय सुखाय सेवनीया ॥ ३३ । ९३ ॥

प्रबोध=जागने से पूर्व उत्पन्न होने वाली, जागरण की हेतु, प्राणियों के मुखों से मानो बहुत बोलती हुई, तीस मुहूर्त्त के पश्चात् प्रत्येक प्रदेश में गति करती है—उस उषा को तुम निद्रा और आलस्य को छोड़कर सुख के लिए सेवन करो ॥ ३३ । ९३ ॥

भा० पदार्थः—अपात्=वेगवती, पादशिरआद्यवयवरहिता । पद्वतीभ्यः=प्राणिप्रबोधात् । पूर्वा= पूर्वभाविनी । जिह्वया=मुखेन । शिरः=निद्रालस्ये । हित्वी=विहाय ॥

भाष्यसार—उषा विषयक उपदेश—यह उषा पग से रहित है किन्तु पग वाली सोई हुई प्रजा के उठने से पहले आ जाती है। यह शिर आदि अवयवों से भी रहित है किन्तु प्राणियों की जिह्वा के माध्यम से अत्यन्त बोलती है। सर्वत्र विचरण करती है। जागरण की हेतु है। तीस मुहूर्त के पश्चात् प्रत्येक प्रदेश में गति करती हैं। अध्यापक और उपदेशक लोग इस उक्त उषा को जानें अर्थात् निद्रा और आलस्य को छोड़कर सुख के लिए इसका सेवन करें ॥ ३३ । ९३ ॥ ●

मनुः । **विश्वेदेवाः**=विद्वांसः । पङ्क्तिः । पञ्चमः ॥

के मनुष्या विद्वांसो भवितुमर्हन्तीत्याह ॥

कौन मनुष्य विद्वान् हो सकते हैं, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

देवासो हि ष्मा मनवे समन्यवो विश्वे साकꣳ सरातयः ।
ते नो ऽ अद्य ते अपरं तुचे तु नो भवन्तु वरिवोविदः ॥ ९४ ॥

पदार्थः—(**देवासः**) विद्वांसः (**हि**) (**स्म**) प्रसिद्धौ । **अत्र निपातस्य चेति दीर्घः षत्वं च छान्दसम्** (**मनवे**) मनुष्याय (**समन्यवः**) समानो मन्युः=क्रोधो येषान्ते (**विश्वे**) सर्वे (**साकम्**) सह (**सरातयः**) समाना रातयो=दानानि येषान्ते (**ते**) (**नः**) अस्माकम् (**अद्य**) (**ते**) (**अपरम्**) भविष्यति काले (**तुचे**) पुत्रपौत्राद्यायाऽपत्याय । **तुगित्यपत्यना० ॥ निघं० २ । २ ॥** (**तु**) (**नः**) अस्माकम् (**भवन्तु**) (**वरिवोविदः**) ये वरिवः=परिचरणं विदन्ति=जानन्ति यद्वा वरिवो=धनं वेदयन्ति=प्रापयन्ति ते ॥ ९४ ॥

प्रमाणार्थ—(**स्म**) यहाँ 'निपातस्य च' (अ० ६ । ३ । १३६) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—'स्मा'; और छान्दस=वैदिक षत्व भी है—ष्मा । (**तुचे**) पुत्रपौत्राद्यायाऽपत्याय । 'तुक्' यह पद निघण्टु (२ । २) में अपत्य-नामों में पठित है—अपत्य=सन्तान ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! ये सरातयः समन्यवो विश्वे देवासः साकमद्य नो मनवे स्म वरिवोविदो भवन्तु ते त्वपरं नस्तुचेऽस्मभ्यञ्च वरिवोविदो भवन्तु ते हि युष्मभ्यं वरिवोविदः स्युः ॥ ९४ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! ये **सरातयः** समाना रातयो=दानानि येषान्ते **समन्यवः** समानो मन्युः=क्रोधो येषान्ते **विश्वे** सर्वे **देवासः** विद्वांसः **साकं** सह **अद्य नः** अस्माकं **मनवे** मनुष्याय **स्म** प्रसिद्धिपूर्वकं **वरिवोविदः** ये वरिवः=परिचरणं विदन्ति=जानन्ति यद्वा वरिवो=धनं वेदयन्ति=

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जो (सरातयः) समान राति=दान करने वाले, (समन्यवः) समान मन्यु=क्रोध वाले, (विश्वे) सब (देवासः) विद्वान् लोग—(साकम्) एक साथ (अद्य) आज (नः) हमारे (मनवे) मनुष्य के लिए (स्म) प्रसिद्धिपूर्वक (वरिवोविदः) वरिव=परिचर्या को जानने वाले

प्रापयन्ति ते **भवन्तु; तेत्वपरं** भविष्यति काले **नः** अस्माकं **तुचे** पुत्रपौत्राद्यायाऽपत्याय **अस्मभ्यञ्च वरिवोविदः** ये वरिवः=परिचरणं विन्दन्ति=जानन्ति यद्वा वरिवो=धनं वेदयन्ति=प्रापयन्ति ते **भवन्तु; ते हि युष्मभ्यं वरिवोविदः** ये वरिवः=परिचरणं विदन्ति=जानन्ति यद्वा वरिवो=धनं वेदयन्ति=प्रापयन्ति ते **स्युः** ॥ ३३ । ६४ ॥

अथवा वरिव=धन को प्राप्त कराने वाले हों; और—(ते) वे (तु) तो (अपरम्) भविष्य में (नः) हमारे (तुचे) पुत्र पौत्र आदि सन्तान के लिए और हमारे लिए (वरिवोविदः) वरिव=परिचर्या को जानने वाले अथवा वरिव=धन को प्राप्त कराने वाले हों। और—(ते) वे (हि) निश्चय से तुम्हारे लिए (वरिवोविदः) वरिव=परिचर्या को जानने अथवा वरिव=धन को प्राप्त कराने वाले हों॥ ३३ । ६४ ॥

भावार्थः—ये मनुष्याः परस्परेभ्यः सुखानि दद्युः, ये साकं दुष्टानामुपरि क्रोधं कुर्युः, ते पुत्रपौत्रवन्तो भूत्वा, मनुष्यसुखोन्नतये समर्था विद्वांसो भवितुमर्हन्ति ॥ ३३ । ६४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परस्पर सुख देते हैं; जो एक साथ दुष्टों पर क्रोध करते हैं, वे पुत्र-पौत्र वाले होकर, वे मनुष्यों के सुख की उन्नति के लिए समर्थ विद्वान् हो सकते हैं ॥ ३३ । ६४ ॥

भा० पदार्थः—सरातयः=ये परस्परेभ्यः सुखानि दद्युस्ते। समन्यवः=ये दुष्टानामुपरि क्रोधं कुर्युस्ते। तुचे=पुत्रपौत्रवन्तो भूत्वा। मनवे=मनुष्यसुखोन्नतये। वरिवोविदः=समर्था विद्वांसः। भवन्तु=भवितुमर्हन्ति ॥

भाष्यसार—कौन मनुष्य विद्वान हो सकते हैं—जो मनुष्य समान रूप से परस्पर सुख प्रदान करने वाले, समान रूप से दुष्टों पर क्रोध करने वाले होते हैं वे सेवा को जानने वाले तथा धन को प्राप्त करने वाले विद्वान् हो सकते हैं। और जो पुत्र-पौत्र वाले होकर मनुष्यों के सुख की उन्नति के लिए समर्थ होते हैं; वे विद्वान् हो सकते हैं ॥ ३३ । ६४ ॥ ●

नृमेधः। **इन्द्रः=राजा**। भुरिक् बृहती। मध्यमः॥

अथ के जना दुःखनिवारणसमर्थाः सन्तीत्याह ॥

अब कौन मनुष्य दुःखनिवारण में समर्थ हैं, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

अपाधमद॒भिश॑स्तीरशस्ति॒हाथेन्द्रो॑ द्युम्न्याभ॑वत्।
दे॒वास्त ऽ इन्द्र स॒ख्याय॑ येमिरे॒ बृह॑द्भानो॒ मरु॑द्गण ॥ ६५ ॥

पदार्थः—(**अप**) दूरीकरणे (**अधमत्**) धमति (**अभीशस्तीः**) अभितो हिंसाः (**अशस्तिहा**) अप्रशस्तानां=दुष्टानां हन्ता (**अथ**) (**इन्द्रः**) परमैश्वर्यवान् सभापती राजा (**द्युम्नी**) बहुप्रशंसाधनयुक्तः (**आ**) (**अभवत्**) भवतु (**देवाः**) विद्वांसः (**ते**) तव (**इन्द्र**) परमैश्वर्यप्रद सभापते राजन्! (**सख्याय**) मित्रत्वाय (**येमिरे**) संयमं कुर्वन्ति (**बृहद्भानो**) बृहन्तो भानवः=किरणा इव कीर्त्तयो यस्य तत्सम्बुद्धौ (**मरुद्गण**) मरुतां=मनुष्याणां वायूनां वा गणः=समूहो यस्य तत्सम्बुद्धौ ॥ ६५ ॥

अन्वयः—हे बृहद्भानो मरुद्गण इन्द्र! देवास्ते सख्याय येमिरे द्युम्नीन्द्रो भवानभिशस्तीरपाधमदशास्तिहाऽभवद्भवतु ॥ ६५ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **बृहद्भानो** बृहन्तो भानवः=किरणा इव कीर्त्तयो यस्य

भाषार्थ—हे (बृहद्भानो) बड़ी किरणों के तुल्य कीर्ति वाले, (मरुद्गण) मरुत्=मनुष्यों

तत्सम्बुद्धौ **मरुद्गण** मरुतां=मनुष्याणां वायूनां वा गणः=समूहो यस्य तत्सम्बुद्धौ **इन्द्र** परमैश्वर्यप्रद सभापते राजन् ! **देवाः** विद्वांसः **ते** तव **सख्याय** मित्रत्वाय **येमिरे** संयमं कुर्वन्ति ।

द्युम्नी बहुप्रशंसाधनयुक्तः **इन्द्रः** परमैश्वर्यवान् सभापती राजा **भवानभिशस्तीः** अभितो हिंसाः **अपाधमत्** दूरं धमति; **अशस्तिहा** अप्रशस्तानां=दुष्टानां हन्ता **आभवत्=भवतु** ॥ ३३ । ९५ ॥

भावार्थः—ये मनुष्या धार्मिकाणां न्यायाधीशानां धनाढचानां वा मित्रतां कुर्वन्ति, ते यशस्विनो भूत्वा सर्वेषां दुःखनिवारणाय सूर्यवद् भवन्ति ॥ ३३ । ९५ ॥

वा वायुओं के समूह वाले ! (इन्द्र) परम ऐश्वर्य प्रदान करने वाले सभापति राजन् ! (देवाः) विद्वान् लोग (ते) आपकी (सख्याय) मित्रता के लिए (येमिरे) संयम करते हैं ।

(द्युम्नी) बहुत प्रशंसा एवं धन से युक्त (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् सभापति राजा आप—(अभिशस्तीः) सब ओर की हिंसाओं को (अपाधमत्) दूर भगाते हो, (अशस्तिहा) अप्रशस्त=दुष्टों का हनन करने वाले (आ+अभवत्) बनो ॥ ३३ । ९५ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य धार्मिक न्यायाधीशों वा धनाढचों की मित्रता करते हैं; वे यशस्वी होकर सबके दुःखनिवारण के लिए सूर्य के तुल्य होते हैं ॥ ३३ । ९५ ॥

भा० पदार्थः—बृहद्भानो=धार्मिक ! मरुद्गण=न्यायाधीश । इन्द्र=धनाढचः । द्युम्नी=यशस्वी । अशस्तिहा=सर्वेषां दुःखनिवारणाय सूर्यवत् ॥

भाष्यसार—**कौन मनुष्य दुःखनिवारण में समर्थ हैं**—जो विद्वान् लोग—विशाल किरणों के तुल्य विस्तृत कीर्ति वाले, मनुष्यों के गण से युक्त, परम ऐश्वर्य को प्रदान करने वाले, धार्मिक, न्यायाधीश, सभापति राजा से मित्रता करते हैं; वे यशस्वी होकर सबके निवारण में समर्थ होते हैं । बहुत प्रशंसा और धन से युक्त, परम ऐश्वर्य वाला सभापति राजा भी हिंसा अर्थात् दुःख को दूर भगा सकता है और दुष्टों का हनन कर सकता है ॥ ३३ । ९५ ॥ ●

नृमेधः । **इन्द्रः**=सूर्यः । निचृद्बृहती । मध्यमः ॥

पुनर्मनुष्यैः किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

फिर मनुष्यों को क्या करना चाहिए, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

प्र व॒ऽ इन्द्रा॑य बृह॒ते मरु॑तो॒ ब्रह्मा॑र्चत ।
वृत्रꣳ ह॑नति वृत्र॒हा श॒तक्र॑तु॒र्वज्रे॑ण श॒तप॑र्वणा ॥ ९६ ॥

पदार्थः—(**प्र**) (**वः**) युष्मभ्यम् (**इन्द्राय**) परमैश्वर्याय (**बृहते**) (**मरुतः**) मनुष्याः (**ब्रह्म**) धनमन्नं वा (**अर्चत**) सत्कुरुत (**वृत्रम्**) मेघम् (**हनति**) हन्ति । **अत्र बहुलं छन्दसीति शपो लुक् न** (**वृत्रहा**) यो वृत्रं हन्ति (**शतक्रतुः**) शतमसङ्ख्याताः क्रतवः=प्रज्ञाः कर्माणि वा यस्य सः (**वज्रेण**) शस्त्रास्त्रविशेषेण (**शतपर्वणा**) शतस्यासङ्ख्यातस्य जीवजातस्य पर्वा=पालनं यस्मात्तेन ॥ ९६ ॥

प्रमाणार्थ—(**हनति**) यहाँ 'बहुलं छन्दसि' (अ० २ । ४ । ७३) इस सूत्र से 'शप्' का लुक् नहीं हुआ ॥

अन्वयः—हे मरुतो मनुष्याः ! यः शतक्रतुः सेनापतिः शतपर्वणा वज्रेण वृत्रहा सूर्यो वृत्रमिव बृहत इन्द्राय शत्रून् हनति वो ब्रह्म प्रापयति तं यूयं प्रार्चत ॥ ९६ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मरुतः=मनुष्याः ! यः शतक्रतुः=सेनापतिः शतमसङ्ख्याताः क्रतवः=प्रज्ञाः कर्माणि वा यस्य सः, **शतपर्वणा** शतस्यासङ्ख्यातस्य जीवजातस्य पर्वा=पालनं यस्मात्तेन, **वज्रेण** शस्त्रास्त्रविशेषेण, **वृत्रहा=सूर्यो** यो वृत्रं हन्ति, **वृत्रं** मेघम् **इव**, **बृहत इन्द्राय** परमैश्वर्याय **शत्रून् हनति** हन्ति; **वः** युष्मभ्यं **ब्रह्म** धनमन्नं वा **प्रापयति, तं यूयं प्रार्चत** सत्कुरुत ॥ ३३ । ९६ ॥

भाषार्थ—हे (मरुतः) मनुष्यो ! जो (शतक्रतुः) शत=असंख्य क्रतु=प्रज्ञा वा कर्मों वाला सेनापति—(शतपर्वणा) शत=असंख्य जीवों के पालन के निमित्त (वज्रेण) शस्त्र-अस्त्र विशेष से—जैसे (वृत्रहा) वृत्र को मारने वाला सूर्य (वृत्रम्) मेघ को हनन करता है—वैसे (बृहते, इन्द्राय) परम ऐश्वर्य के लिए शत्रुओं का (हनति) हनन करता है; (वः) तुम्हारे लिए (ब्रह्म) धन वा अन्न को प्राप्त कराता है;—उसका तुम (प्रार्चत) सत्कार करो ॥ ३३ । ९६ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । हे मनुष्याः ! ये सूर्यो मेघमिव शत्रून् हत्वा युष्मदर्थमैश्वर्यमुन्नयन्ति, तेषां सत्कारं यूयं कुरुत, सदा कृतज्ञा भूत्वा, कृतघ्नतां त्यक्त्वा, प्राज्ञाः सन्तो महदैश्वर्यं प्राप्नुत ॥ ३३ । ९६ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । हे मनुष्यो ! जो—जैसे सूर्य मेघ का हनन करता है—वैसे शत्रुओं का हनन करके तुम्हारे लिए ऐश्वर्य को बढ़ाते हैं; उनका सत्कार तुम करो, सदा कृतज्ञ होकर, कृतघ्नता को छोड़कर, प्राज्ञ=विद्वान् होकर महान् ऐश्वर्य को प्राप्त करो ॥ ३३ । ९६ ॥

भा० पदार्थः—वः=युष्मदर्थम् । ब्रह्म=ऐश्वर्यम्/महदैश्वर्यम् ।

भाष्यसार—**१. मनुष्य क्या करें**—जो असंख्य प्रज्ञा वा कर्मों वाला सेनापति जीवों की रक्षा हेतु वज्र अर्थात् विशेष शस्त्रास्त्र से—जैसे सूर्य वृत्र=मेघ का हनन करता है—वैसे परम ऐश्वर्य के लिए शत्रुओं का हनन करता है; ब्रह्म अर्थात् धन और अन्न प्रदान करता है; मनुष्य उसका सत्कार करें । उसके प्रति सदा कृतज्ञ हों । कृतघ्नता को छोड़कर विद्वान् बनकर महान् ऐश्वर्य को प्राप्त करें ॥

२. अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । उपमा यह है कि जैसे सूर्य मेघ का हनन करता है, वैसे सेनापति शत्रुओं का हनन करें ॥ ३३ । ९६ ॥

मेधातिथिः । **महेन्द्रः=परमात्मा** । स्वराट् सतोबृहती । मध्यमः ॥

अथ मनुष्यैः परमात्मा स्तोतव्य इत्युपदिश्यते ॥

अब मनुष्यों को परमात्मा की स्तुति करना योग्य है, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

अस्येदिन्द्रो वावृधे वृष्ण्यꣳ शवो मदे सुतस्य विष्णवि ।
अद्या तमस्य महिमानमायवोऽनु ष्टुवन्ति पूर्वथा ।
*** इमा ऽ उ त्वा । यस्यायम् । अयꣳ सहस्रम् । ऊर्ध्व ऽ ऊ षु णः ॥ ९७ ॥**

---

* यहाँ इन चार (अ० ३३ । मं० ८१-८३) तथा (अ० ११ । मं० ४२) क्रम से पूर्व आ चुके मन्त्रों की प्रतीकें कर्मकाण्ड विशेष में कार्य्य के लिए रक्खी हैं ॥

पदार्थः—(**अस्य**) संसारस्य (**इत्**) एव (**इन्द्रः**) परमश्वैर्य्ययुक्तो राजा (**वावृधे**) वर्द्धयति (**वृष्ण्यम्**) वृषा=समर्थस्तस्येमम् (**शवः**) बलमुदकं वा । **शव इति उदकना० ॥ निघं १ । १२ ॥** (**मदे**) आनन्दाय (**सुतस्य**) उत्पन्नस्य (**विष्णवि**) व्यापके परमेश्वरे । **अत्र वाच्छन्दसीति घिसंज्ञाकार्य्याभावे गुणादेशेऽवादेशः** (**अद्य**) **अत्र निपातस्य चेति दीर्घः** (**तम्**) (**अस्य**) परमात्मनः (**महिमानम्**) महत्त्वम् (**आयवः**) ये स्वकर्मफलानि यान्ति ते मनुष्याः । **आयव इति मनुष्यना० ॥ निघं० । २ । ३ ॥** (**अनु**) (**स्तुवन्ति**) प्रशंसन्ति (**पूर्वथा**) पूर्वे इव ॥ ९७ ॥

प्रमाणार्थ—(**शवः**) बलमुदकं वा । 'शवः' यह पद निघण्टु (१ । १२) में उदक-नामों में पठित है—उदक=जल । (**विष्णवि**) यहाँ 'वा छन्दसि' इस सूत्र से घि-संज्ञा कार्य के अभाव में गुणादेश होकर अव्-आदेश है । (**अद्य**) यहाँ 'निपातस्य च' (अ० ६ । ३ । १३६) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—'अद्या' । (**आयवः**) ये स्वकर्मफलानि यान्ति ते मनुष्याः । 'आयवः' यह पद निघण्टु (२ । ३) में मनुष्य-नामों में पठित है ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! य इन्द्रो जीवो विष्णवि सुतस्याऽस्य मदे वृष्ण्यं शवोऽद्य वावृधेऽस्य परमात्मन इन्महिमानं पूर्वथायवोऽनुष्टुवन्ति तं यूयमपि स्तुवत ॥ ९७ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **मनुष्याः** ! **य इन्द्रः**=**जीवः** परमैश्वर्ययुक्तो राजा **विष्णवि** व्यापके परमेश्वरे **सुतस्य** उत्पन्नस्य **अस्य** संसारस्य **मदे** आनन्दाय **वृष्ण्यं** वृषा=समर्थस्तस्येमं **शवः** बलमुदकं वा **अद्य वावृधे** वर्द्धयति, **अस्य**=**परमात्मन इत्** एव **महिमानं** महत्त्वं **पूर्वथा** पूर्वे इव **आयवः** ये स्वकर्मफलानि यान्ति ते मनुष्याः, **अनुस्तुवन्ति** प्रशंसन्ति, **तं यूयमपि स्तुवत** ॥ ३३ । ९७ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जो (इन्द्रः) जीव एवं परम ऐश्वर्य से युक्त राजा—(विष्णवि) व्यापक परमेश्वर में (सुतस्य) उत्पन्न (अस्य) इस संसार के (मदे) आनन्द के लिए (वृष्ण्यम्) सामर्थ्य तथा (शवः) बल और जल को (अद्य) वर्तमान काल में (वावृधे) बढ़ाता है; (अस्य) इस परमात्मा की (इत्) ही (महिमानम्) महिमा की (पूर्वथा) पूर्वजों के तुल्य (आयवः) अपने कर्म-फलों को प्राप्त करने वाले मनुष्य (अनुस्तुवन्ति) प्रशंसा करते हैं; उसकी तुम भी स्तुति करो ॥ ३३ । ९७ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यदि यूयं सर्वत्र व्यापकस्य, सर्वजगदुत्पादकस्य, अखिलाधारकस्य, परमैश्वर्यप्रापकस्याज्ञां महिमानं च विज्ञाय, सर्वस्य संसारस्योपकारं कुरुत तर्हि यूयं सततमानन्दं प्राप्नुतेति ॥ ३३ । ९७ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! यदि तुम सर्वत्र व्यापक, सकल जगत् के उत्पादक, सब के आधार, परम ऐश्वर्य के प्रापक परमात्मा की आज्ञा और महिमा को जानकर सब संसार का उपकार करो तो तुम सदा आनन्द को प्राप्त होओ । 'इति' पद अध्याय समाप्ति का सूचक है ॥ ३३ । ९७ ॥

भा० पदार्थः—विष्णवि=सर्वत्र व्यापकस्य । सुतस्य=सर्वजगदुत्पादकस्य । इन्द्रः=अखिलाधारकः, परमैश्वर्यप्रापकः । मदे=सततमानन्दाय ॥

भाष्यसार—**परमात्मा की स्तुति**—परम ऐश्वर्य से युक्त राजा आदि जीव—व्यापक परमेश्वर में ही उत्पन्न हुए इस संसार के आनन्द के लिए अपने सामर्थ्य, बल और जल को अपने वर्तमान काल में बढ़ावे । सर्वत्र व्यापक, सकल जगत् के उत्पादक, सर्वाधार, परम ऐश्वर्य को प्राप्त कराने वाले परमात्मा की महिमा को जाने । सकल संसार का उपकार करे । अपने कर्म-फलों का प्राप्त करने वाले मनुष्य परमात्मा की स्तुति करें ॥ ३३ । ९७ ॥

[पूर्वापराध्यायार्थसंगतिमाह—]

अत्राग्निप्राणोदानाऽहर्निशसूर्य्याग्निराजैश्वर्योत्तमयानविद्वच्छ्रीवैश्वानरेन्द्रप्रज्ञावरुणाश्व्यन्नसूर्य्यराजप्रजापरीक्षकेन्द्रवाय्वादिगुणवर्णनादेतदध्यायोक्तार्थस्य पूर्वाध्यायेन सह सङ्गतिर्वेद्या ॥९७॥

इस अध्याय में अग्नि (१-४), प्राण-उदान (३), दिन-रात (५), सूर्य (३५-३८), अग्नि (२२), राजा (२१), ऐश्वर्य उत्तम यान (४३), विद्वान् (४८), श्री (२१), वैश्वानर (२३), इन्द्र (२४-२६), प्रज्ञा (२६), वरुण (३२), अश्विनौ (५८), अन्न (५२), सूर्य (३१), राजा-प्रजा (३०), परीक्षक (१५), इन्द्र-वायु (४५), आदि के गुणों का वर्णन होने से इस अध्याय में प्रतिपादित अर्थ की पूर्व अध्याय के साथ संगति समझें ॥ ९७ ॥

इति श्रीयुतपण्डितसुदर्शनदेवाचार्यविरचिते दयानन्द-यजुर्वेदभाष्य-भास्करे त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः सम्पूर्णः ॥

॥ ओ३म् ॥

अथ चतुस्त्रिंशाऽध्यायारम्भः

ओ३म् विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑ सुव। यद्भ॒द्रं तन्न॒ऽआ सु॑व ॥ १ ॥

य० ३०।३ ॥

शिवसंकल्पः। **मन्त्रः**=स्पष्टम्। विराट् त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

अथ मनसो वशीकरणविषयमाह ॥

अब मन को वश करने का उपदेश किया जाता है ॥

यज्जाग्र॑तो दू॒रमु॒दैति॒ दैवं॒ तदु॑ सु॒प्तस्य॒ तथै॒वैति॑।
दू॒र॒ङ्ग॒मं ज्योति॑षां॒ ज्योति॒रेकं॒ तन्मे॒ मनः॑ शि॒वस॑ङ्क॒ल्पमस्तु ॥ १ ॥

पदार्थः—(यत्) (जाग्रतः) (दूरम्) (उदैति) उद्गच्छति (दैवम्) देव=आत्मनि भवं देवस्य=जीवात्मनः साधनमिति वा (तत्) यत्। व्यत्ययः (उ) (सुप्तस्य) शयानस्य (तथा) तेनैव प्रकारेण (एव) (एति) अन्तर्गच्छति (दूरङ्गमम्) यद्दूरं गच्छति गमयति वाऽनेकपदार्थान् गृह्णाति तत् (ज्योतिषाम्) शब्दादिविषयप्रकाशकानामिन्द्रियाणाम् (ज्योतिः) प्रकाशकं=प्रवर्त्तकमात्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेणेन्द्रियमर्थेनेति महर्षिवात्स्यायनोक्तेः (एकम्) असहायम् (तत्) (मे) मम (मनः) संकल्पविकल्पात्मकम् (शिवसंकल्पम्) शिवः=कल्याणकारी धर्मविषयः संकल्प इच्छा यस्य तत् (अस्तु) भवतु ॥ १ ॥

प्रमाणार्थ—(ज्योतिः) प्रकाशकं=प्रवर्त्तकम्। महर्षि वात्स्यायन कहते हैं कि—आत्मा मन से संयुक्त होता है, मन इन्द्रिय से और इन्द्रिय अर्थ=विषय से। इस प्रकार मन प्रकाशक एवं प्रवर्त्तक है ॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर विद्वन् वा! भवदनुग्रहेण यद्दैवं दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं जाग्रतो दूरमुदैति। तदु सुप्तस्य तथैवान्तरेति तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ १ ॥

सपदार्थान्वयः—हे जगदीश्वर विद्वन् वा! भवदनुग्रहेण यद्दैवं देव=आत्मनि भवं

भाषार्थ—हे जगदीश्वर! वा विद्वान्! आपके अनुग्रह से—(यत्) जो (दैवम्) देव=आत्मा

देवस्य=जीवात्मनः साधनमिति वा **दूरङ्गमं** यद्दूरं गच्छति गमयति वाऽनेकपदार्थान् गृह्णाति तत् **ज्योतिषां** शब्दादिविषयप्रकाशकानामिन्द्रियाणां **ज्योतिः** प्रकाशकं=प्रवर्त्तकम्, **एकम्** असहायं **जाग्रतो दूरमुदैति** उद्गच्छति; **तद्** यत् **उ सुप्तस्य** शयानस्य **तथा** तेनैव प्रकारेण **एवान्तरेति** अन्त-र्गच्छति, **तन्मे** मम **मनः** संकल्पविकल्पात्मकं **शिव-संकल्पं** शिवः=कल्याणकारी धर्मविषयः संकल्प= इच्छा यस्य तत् **अस्तु** भवतु ॥ ३४ । १ ॥

में विद्यमान अथवा जीवात्मा का साधन, (दूरङ्गमम्) दूर जाने वाला, अथवा अनेक पदार्थों को ग्रहण करने वाला, (ज्योतिषाम्) शब्द आदि विषयों के प्रकाशक इन्द्रियों को (ज्योतिः) प्रवर्त्तक, (एकम्) एक, (जाग्रतः) जागते हुए का (दूरम्) दूर (उदंति) जाता है, और—(तद्) जो (उ) निश्चय से (सुप्तस्य) सोये हुए क (तथा) उसी प्रकार से ही (अन्तरेति) अन्दर जाता है; (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) संकल्प-विकल्प आत्मक मन (शिवसंकल्पम्) शिव=कल्याणकारी, धर्म विषयक संकल्प=इच्छा वाला (अस्तु) हो ॥ ३४ । १ ॥

भावार्थः—ये मनुष्याः परमेश्वराज्ञासेवनं विद्वत्सङ्गं कृत्वा, अनेकविधसामर्थ्ययुक्तं मनः शुद्धं सम्पादयन्ति, यज्जागृतावस्थायां विस्तृतव्यवहारं तत्सुषुप्तौ शान्तं भवति, यद्वेगवतां वेगवत्तरं, ज्ञानस्य साधकत्वादिन्द्रियाणामपि प्रवर्त्तकं निगृ-ह्णन्ति, तेऽशुभव्यवहारं विहाय, शुभाचरणे प्रेरयितुं शक्नुवन्ति ॥ ३४ । १ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा का सेवन, विद्वानों का संग करके, अनेक प्रकार के सामर्थ्य से युक्त मन को शुद्ध करते हैं; जो जागृत अवस्था में विस्तृत व्यवहार वाला है वह सुषुप्ति अवस्था में शान्त हो जाता है, जो वेग वालों में अधिक वेग वाले, ज्ञान के साधक होने से इन्द्रियों के भी प्रवर्त्तक मन को वश में करते हैं; वे अशुभ व्यवहार को छोड़कर शुभ आचरण में प्रेरित कर सकते हैं ॥ ३४ । १ ॥

भा० पदार्थः—दैवम्=परमेश्वराज्ञासेवनम्, विद्वत्सङ्गम्, अनेकविधसामर्थ्ययुक्तम् [मनः]। जाग्रतः=जागृतावस्थायाम्। सुप्तस्य=सुषुप्तौ। दूरङ्गमम्=वेगवतां वेगवत्तरम्। ज्योतिषाम्=ज्ञानस्य साधकत्वादिन्द्रियाणाम्। ज्योतिः=प्रवर्त्तकम्। संकल्पम्=शुद्धम् / शुभाचरणम् ॥

भाष्यसार—मन को वश में करना—हे जगदीश्वर ! वा विद्वान् ! आपके अनुग्रह से—जो मन जीवात्मा का साधन है, दूर जाने वाला, दूर ले जाने वाला एवं अनेक पदार्थों को ग्रहण करने वाला है, शब्द आदि विषयों की प्रकाशक इन्द्रियों का प्रवर्त्तक है, एक है, जो जागते हुए पुरुष का दूर चला जाता है, और सोते हुए पुरुष का भी उसी प्रकार से अन्दर चला जाता है। वह मेरा संकल्प विकल्प आत्मक मन कल्याणकारी, धर्मविषयक इच्छा वाला हो।

सब मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा का सेवन तथा विद्वानों का संग करके अनेक प्रकार के सामर्थ्य वाले मन को शुद्ध करें। यह मन जागृत अवस्था में विस्तृत व्यवहार वाला तथा सुषुप्ति अवस्था में शान्त होता है। यह अत्यन्त वेगवाला है। ज्ञान का साधक होने से इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त करता है। इस मन को वश में करें। अशुभ व्यवहार को छोड़कर इसे शुभ आचरण में प्रवृत्त करें ॥ ३४ । १ ॥

अन्यत्र व्याख्यात—[क] हे दयानिधे ! आपकी कृपा से मेरा मन जगत् में दूर-दूर जाता, दिव्य गुण युक्त रहता है; और वही सोते हुए मेरा मन सुषुप्ति को प्राप्त होता वा स्वप्न में दूर जाने के समान व्यवहार करता, सब प्रकाशकों का प्रकाशक, एक वह मेरा मन शिवसंकल्प अर्थात् अपने

और दूसरे प्राणियों के अर्थ कल्याण का संकल्प करने हारा होवे। किसी की हानि करने की इच्छा युक्त कभी न होवे (सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास) ॥

[ख] (यज्जाग्रतो०) हे सर्वव्यापक जगदीश्वर ! जैसे जागृत अवस्था में मेरा मन दूर-दूर घूमने वाला, सब इन्द्रियों का स्वामी, तथा (दैवम्०) ज्ञान आदि दिव्य गुण वाला और प्रकाशस्वरूप रहता है; वैसे ही (तदु सु०) निद्रा अवस्था में भी शुद्ध और आनन्द युक्त रहे। (ज्योतिषां०) जो प्रकाश का भी प्रकाश करने वाला और एक है, (तन्मे०) हे परमेश्वर ! ऐसा जो मेरा मन है, सो आप की कृपा से (शिवस०) कल्याण करने वाला और शुद्ध स्वभाव युक्त हो; जिससे अधर्म कामों में कभी प्रवृत्त न हो। (ऋग्वेदादि० उपासनाविषय) ॥

[ग] हे धर्मनिरुपद्रव परमात्मन् ! मेरा मन सदा शिवसंकल्प=धर्मकल्याणसंकल्पकारी ही आपकी कृपा से हो; कभी अधर्मकारी न हो। वह मन कैसा है ? कि जागता हुआ पुरुष का दूर-दूर जाता-आता है; दूर जाने का जिसका स्वभाव ही है। अग्नि, सूर्यादि, श्रोत्रादि इन्द्रिय—इन ज्योति= प्रकाशकों का भी ज्योति=प्रकाशक है; अर्थात् मन के विना किसी पदार्थ का प्रकाश कभी नहीं होता। वह एक, बड़ा चंचल, वेग वाला मन आपकी कृपा से स्थिर, शुद्ध, धर्मात्मा, विद्यायुक्त हो सकता है। 'दैवम्' देव (आत्मा) का मुख्य साधक, भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान काल का ज्ञाता है। वह आपके वश में ही है। उसको आप हमारे वश में यथावत् करें। जिससे हम कुकर्म्म में कभी न फसें; सदैव विद्या, धर्म और आपकी सेवा में ही रहें (आर्याभिविनय २।४३)॥

विनियोग—महर्षि ने 'यज्जाग्रतो' इस मन्त्र का विनियोग संस्कारविधि के 'शान्तिकरण' नामक प्रकरण में किया है ॥ ३४। १॥ ●

शिवसङ्कल्पः। **मन्त्रः=स्पष्टम्**। त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

मन को वश में करने का फिर उपदेश किया है ॥

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ २ ॥

पदार्थः—(येन) मनसा (**कर्माणि**) कर्त्तुरीप्सिततमानि क्रियमाणानि (**अपसः**) अपः=कर्म तद्वन्तः सदा कर्मनिष्ठाः (**मनीषिणः**) मनस ईषिणो=दमनकर्त्तारः (**यज्ञे**) अग्निहोत्रादौ, धर्मेण सङ्गन्तव्यवहारे, योगाभ्यासे वा (**कृण्वन्ति**) कुर्वन्ति (**विदथेषु**) विज्ञानयुद्धादिव्यवहारेषु (**धीराः**) ध्यानवन्तो मेधाविनः। धीर इति मेधाविना०॥ निघं० ३। १५॥ (**यत्**) (**अपूर्वम्**) अनुत्तमगुणकर्मस्वभावम् (**यक्षम्**) पूजनीयं संगतं वा। अत्रौणादिकः सन् प्रत्ययः (**अन्तः**) मध्ये (**प्रजानाम्**) प्राणिमात्राणाम् (**तत्**) (**मे**) मम (**मनः**) मननविचारात्मकम् (**शिवसङ्कल्पम्**) धर्मेष्टम् (**अस्तु**) ॥ २ ॥

प्रमाणार्थ—(**धीराः**) ध्यानवन्तो मेधाविनः। 'धीर' यह पद निघण्टु (३। १५) में मेधावी नामों में पठित है (**यक्षम्**) यहाँ 'यज्' धातु से औणादिक 'सन्' प्रत्यय है॥

अन्वयः—हे परमेश्वर वा विद्वन्भवत्संगेन येनापसो मनीषिणो धीरा यज्ञे विदथेषु च कृण्वन्ति यदपूर्वं प्रजानामन्तर्यक्षं वर्त्तते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ २ ॥

सपदार्थान्वयः—हे परमेश्वर विद्वन् वा ! भवत्सङ्गेन येन मनसा **अपसः** अपः=कर्म तद्वन्तः=सदा कर्मनिष्ठाः **मनीषिणः** मनस ईषिणो=दमनकर्त्तारः **धीराः** ध्यानवन्तो मेधाविन **यज्ञे** अग्निहोत्रादौ, धर्मेण सङ्गतव्यवहारे, योगाभ्यासे वा, **विदथेषु** विज्ञानयुद्धादिव्यवहारेषु **च** [**कर्माणि**] कर्त्तुरीप्सिततमानि क्रियमाणानि **कृण्वन्ति** कुर्वन्ति; **यदपूर्वम्** अनुत्तमगुणकर्मस्वभावं **प्रजानां** प्राणिमात्राणाम् **अन्तः** मध्ये **यक्षं** पूजनीयं सङ्गतं वा **वर्त्तते, तन्मे** मम **मनः** मननविचारात्मकं **शिवसंकल्पं** धर्मेष्टम् **अस्तु** ॥ ३४ । २ ॥

भाषार्थ—हे परमेश्वर ! वा विद्वान् ! आपके संग से—(येन) जिस मन से (अपसः) कर्म वाले अर्थात् सदा कर्मनिष्ठ, (मनीषिणः) मन का दमन करने वाले, (धीराः) ध्यानवान्, मेधावी लोग—(यज्ञे) अग्निहोत्र आदि तथा धर्म से संगत व्यवहार वा योगाभ्यास में और (विदथेषु) विज्ञान, युद्ध आदि व्यवहारों में [कर्माणि] कर्मों को (कृण्वन्ति) करते हैं; (यत्) जो (अपूर्वम्) अनुत्तम=अत्युत्तम गुण-कर्म-स्वभाव वाला, (प्रजानाम्) प्राणी मात्र के (अन्तः) मध्य में (यक्षम्) पूजनीय वा संगत है; (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) मनन, विचार आत्मक मन (शिवसंकल्पम्) धर्म से प्रेम करने वाला (अस्तु) हो ॥ ३४ । २ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः परमेश्वरस्योपासनेन, सुविचारविद्यासत्सङ्गै रन्तःकरणमधर्मान्निवर्त्य धर्माचारे प्रवर्त्तनीयम् ॥ ३४ । २ ॥

भावार्थ—मनुष्य—परमेश्वर की उपासना से सुविचार, विद्या और सत्संग से अन्तःकरण को अधर्म से हटाकर धर्माचरण में प्रवृत्त करें ॥ ३४ । २ ॥

भा० पदार्थः—यज्ञे=परमेश्वरोपासने, सुविचारे, सत्सङ्गे । विदथेषु=विद्यासु । मनः=अन्तःकरणम् । शिवसंकल्पम्=अधर्मान्निवर्त्य धर्माचारे प्रवर्त्तनम् ॥

भाष्यसार—**मन को वश में करना**—हे परमेश्वर वा विद्वान् ! आपके संग से—सदा कर्मनिष्ठ, मन को दमन करने वाले, ध्यानी मेधावी लोग—अग्निहोत्र आदि, धर्म से संगत व्यवहार वा योगाभ्यास में और विज्ञान तथा युद्ध आदि व्यवहारों में जिस मन से कर्म करते हैं; जो मन अनुत्तम=अत्युत्तम गुण-कर्म-स्वभाव वाला, प्राणिमात्र के मध्य में विद्यमान, पूजनीय एवं संगत है; वह मेरा मनन एवं विचार आत्मक मन धर्म से प्रेम करने वाला हो ।

मनुष्य—परमेश्वर की उपासना, सुविचार, विद्या और सत्संग से मन को अधर्म से हटावें और धर्माचरण में लगावें ॥ ३४ । २ ॥

अन्यत्र व्याख्यात—हे सर्वान्तर्यामी ! जिससे कर्म करनेहारे, धैर्ययुक्त विद्वान् लोग यज्ञ और युद्धादि में कर्म करते हैं, जो अपूर्व सामर्थ्ययुक्त, पूजनीय और प्रजा के भीतर रहने वाला है, वह मेरा मन धर्म करने की इच्छा युक्त होकर अधर्म को सर्वथा छोड़ देवे । (सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास) ॥

विनियोग—महर्षि ने 'येन कर्माण्य'० इस मन्त्र का विनियोग संस्कारविधि के 'शान्तिकरण' नामक प्रकरण में किया है ॥ ३४ । २ ॥ ●

शिवसङ्कल्पः । **मनः**=**स्पष्टम्** । स्वराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

मन को वश में करने का फिर उपदेश किया है ॥

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऽऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ३ ॥

पदार्थः—(यत्) (प्रज्ञानम्) प्रजानाति येन तद् बुद्धिस्वरूपम् (उत) अपि (चेतः) चेतति=स्मरति येन तत् (धृतिः) धैर्यरूपम् (च) चकाराल्लज्जादीन्यपि कर्माणि येन क्रियन्ते (यत्) (ज्योतिः) द्योतमानम् (अन्तः) अभ्यन्तरे (अमृतम्) नाशरहितम् (प्रजासु) जनेषु (यस्मात्) मनसः (न) (ऋते) विना (किम्) (चन) किञ्चिदपि (कर्म) (क्रियते) (तत्) (मे) जीवात्मनो मम (मनः) सर्वकर्मसाधनम् (शिवसंकल्पम्) शिवे=कल्याणकरे परमात्मनि कल्प=इच्छाऽस्य तत् (अस्तु) भवतु ॥ ३ ॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर परमयोगिन् विद्वन्वा ! भवज्ज्ञापनेन यत्प्रज्ञानं च ते उत धृतिर्यच्च प्रजास्वन्तरमृतं ज्योतिर्यस्मादृते किञ्चन कर्म न क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ३ ॥

सपदार्थान्वयः—हे जगदीश्वर ! परमयोगिन् विद्वन्वा ! भवज्ज्ञापनेन यत्प्रज्ञानं प्रजानाति येन तद् बुद्धिस्वरूपं, [चेतः] चेतति=स्मरति येन तत् च चकाराल्लज्जादीन्यपि कर्माणि येन क्रियन्ते, ते उत अपि धृतिः धैर्यरूपं यच्च प्रजासु जनेषु अन्तः अभ्यन्तरे अमृतं नाशरहितं ज्योतिः द्योतमानं, यस्मात् मनसः ऋते विना किञ्चन किञ्चिदपि कर्म न क्रियते; तन्मे जीवात्मनो मम मनः सर्वकर्मसाधनं शिवसंकल्पं शिवे=कल्याणकरे परमात्मनि कल्प=इच्छाऽस्य तत् अस्तु भवतु ॥ ३४ । ३ ॥

भाषार्थ—हे जगदीश्वर ! वा परम योगी विद्वान् ! आपके ज्ञापन=प्रबोध से (यत्) जो (प्रज्ञानम्) प्रबोध का निमित्त अर्थात् बुद्धि स्वरूप, (चेतः) स्मृति का हेतु (च) और चकार से लज्जा आदि कर्मों को करने वाला है, (उत) और जो तेरा (धृतिः) धैर्य स्वरूप है, और जो (प्रजासु) जनों के (अन्तः) अन्दर (अमृतम्) नाशरहित (ज्योतिः) ज्योति है; (यस्मात्) जिस मन के (ऋते) विना (किञ्चन) कोई भी (कर्म) कर्म (न, क्रियते) नहीं किया जाता, (तत्) वह (मे) मुझ जीवात्मा का (मनः) सब कर्मों का साधन मन (शिवसंकल्पम्) शिव=कल्याणकारी परमात्मा में संकल्प=इच्छा रखने वाला (अस्तु) हो॥ ३४।३ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यदन्तःकरणं बुद्धिचित्त-मनोऽहङ्कारवृत्तित्वाच्चतुर्विधमन्तःप्रकाशं, प्रजानां सर्वकर्मसाधकं, नाशरहितं मनोऽस्ति, तन्न्याये सत्याचरणे च प्रवर्त्य पक्षपाताऽन्याया-ऽधर्माचरणाद् यूयं निवर्त्तयत ॥ ३४ । ३ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जो अन्तःकरण—बुद्धि, चित्त, मन और अहंकार बृत्ति वाला होने से चार प्रकार का है आन्तरिक प्रकाश वाला, प्रजा के सब कर्मों का साधक, नाश रहित मन है, उसे न्याय और सत्याचरण में प्रवृत्त करके पक्षपात, अन्याय और अधर्माचरण से तुम निवृत्त करो ॥ ३४ । ३ ॥

भा० पदार्थः—ज्योतिः=अन्तःकरणं बुद्धिचित्त-मनोऽहङ्कारवृत्तित्वाच्चतुर्विधमन्तः-प्रकाशम् । शिवसंकल्पम्=न्याये सत्याचरणे च प्रवर्त्य पक्षपाताऽन्यायाऽधर्माचरणान्निवर्तनम् ॥

भाष्यसार—**मन को वश में करना**—हे जगदीश्वर वा परमयोगी विद्वान् ! आपके बतलाने से एवं उपदेश से—जो मन बुद्धि स्वरूप है, स्मृति का साधन है, लज्जा आदि कर्मों का हेतु है और जो धैर्यरूप है तथा जनों के अन्दर नाशरहित ज्योति है, जिसके विना कोई कर्म नहीं किया जाता है; वह सब कर्मों का साधन मेरा मन कल्याणकारी परमात्मा में इच्छा रखने वाला हो।

अन्तःकरण—बुद्धि, चित्त, मन और अहंकार भेद से चार प्रकार का है। मन अन्दर प्रकाश वाला, प्रजा के सब कर्मों का साधक तथा अविनाशी है। उसे न्याय और सत्याचरण में प्रवृत्त करें। पक्षपात, अन्याय और अधर्माचरण से दूर करें ॥ ३४ । ३ ॥

अन्यत्र व्याख्यात—जो उत्कृष्ट ज्ञान और दूसरे को चिताने हारा, निश्चयात्मक वृत्ति है, और जो प्रजाओं में भीतर प्रकाशयुक्त और नाशरहित है, जिसके विना कोई कुछ भी कर्म नहीं कर सकता; वह मेरा मन शुद्ध गुणों की इच्छा करके दुष्ट गुणों से पृथक् रहे (सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास) ॥

विनियोग—महर्षि ने 'यत्प्रज्ञानमुत०' इस मन्त्र का संस्कारविधि के 'शान्तिकरण' नामक प्रकरण में विनियोग किया है ॥ ३४ । ३ ॥ ●

शिवसङ्कल्पः । **मन्त्रः=स्पष्टम्** । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

मन को वश में करने का फिर उपदेश किया है ॥

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ४ ॥

पदार्थः—(**येन**) मनसा (**इदम्**) वस्तुजातम् (**भूतम्**) अतीतम् (**भुवनम्**) भवतीति भुवनम्, वर्त्तमानकालस्य सम्बन्धि । **औणादिकः क्युः** (**भविष्यत्**) यदुत्पत्स्यमानं=भावि (**परिगृहीतम्**) परितः=सर्वतो गृहीतं=ज्ञातम् (**अमृतेन**) नाशरहितेन परमात्मना सह युक्तेन (**सर्वम्**) समग्रम् (**येन**) (**यज्ञः**) अग्निष्टोमादिर्विज्ञानमयो व्यवहारो वा (**तायते**) तन्यते=विस्तीर्य्यते (**सप्तहोता**) अग्निष्टोमेपि सप्तहोतारो भवन्ति (**तत्**) (**मे**) मम (**मनः**) योगयुक्तं चित्तम् (**शिवसंकल्पम्**) शिवो=मोक्षरूपसंकल्पो यस्य तत् (**अस्तु**) भवतु ॥ ४ ॥

प्रमाणार्थ—(भुवनम्) यहाँ 'भू' धातु से औणादिक 'क्यु' प्रत्यय है ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! येनामृतेन भूतं भुवनं भविष्यत्सर्वमिदं परिगृहीतं भवति येन सप्तहोता यज्ञस्तायते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ४ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! **येन** मनसा **अमृतेन** नाशरहितेन परमात्मना सह युक्तेन **भूतम्** अतीतं **भुवनं** भवतीति भुवनं **भविष्यत्** यदुत्पत्स्यमानं=भावि सर्वं समग्रम् **इदं** वस्तुजातं **परिगृहीतं** परितः=सर्वतो गृहीतं=ज्ञातं **भवति**; **येन सप्तहोता** अग्निष्टोमेपि सप्तहोतारो भवन्ति **यज्ञः** अग्निष्टोमादिर्विज्ञानमयो व्यवहारो वा **तायते** तन्यते=विस्तीर्य्यते **तन्मे** मम **मनः** योगयुक्तं चित्तं **शिवसंकल्पं** शिवो=मोक्षरूपसंकल्पो यस्य तत् **अस्तु** भवतु ॥ ३४ । ४ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! (येन) जिस (अमृतेन) नाशरहित, परमात्मा के साथ संयुक्त मन से (भूतम्) भूत (भुवनम्) वर्तमान और (भविष्यत्) भविष्यत् (सर्वम्) सब (इदम्) यह वस्तु वृन्द (परिगृहीतम्) सब ओर से गृहीत=ज्ञात होता है; (येन) जिससे (सप्तहोता) अग्निष्टोम के तुल्य सात होताओं वाला (यज्ञः) अग्निष्टोम आदि विज्ञानमय व्यवहार (तायते) विस्तृत किया जाता है; (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) योग से युक्त चित्त (शिव-संकल्पम्) शिव=मोक्ष रूप संकल्प वाला (अस्तु)

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यच्चित्तं योगाभ्याससाधनोपसाधनसिद्धं, भूतभविष्यद्वर्त्तमानज्ञं, सर्वसृष्टिविज्ञातृकर्मोपासनाज्ञानसाधकं वर्त्तते, तत्सदैव कल्याणप्रियं कुरुत ॥ ३४ । ४ ॥

हो ॥ ३४ । ४ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जो चित्त योगाभ्यास के साधन-उपसाधनों से सिद्ध; भूत, भविष्यत् और वर्तमान को जानने वाला, सब सृष्टि को जानने वाला; कर्म उपासना और ज्ञान का साधक है; उसे सदा ही कल्याण से प्रेम करने वाला बनाओ ॥ ३४ । ४ ॥

भा० पदार्थः—अमृतेन=योगाभ्याससाधनोपसाधनेन । शिवसंकल्पम्=कल्याणप्रियम् ॥

भाष्यसार—**मन को वश में करना**—जिस नाशरहित, परमात्मा के साथ संयुक्त मन से—भूत, वर्तमान और भविष्यत् की सब वस्तुएँ गृहीत होती हैं; ज्ञात होती हैं। जिस मन से सात होताओं वाला अग्निष्टोम यज्ञ अथवा विज्ञानमय व्यवहार विस्तृत किया जाता है; वह मेरा योग-युक्त चित्त शिव अर्थात् मोक्ष विषयक संकल्प (इच्छा) वाला हो ।

यह चित्त योगाभ्यास के साधन-उपसाधनों से सिद्ध होता है। भूत, भविष्यत् और वर्तमान को जानने वाला है। सब सृष्टि का विज्ञाता है। ज्ञान, कर्म और उपासना का साधक है। यह मन सदा कल्याण से प्रेम करने वाला हो ॥ ३४ । ४ ॥

अन्यत्र व्याख्यात—हे जगदीश्वर ! जिससे सब योगी लोग—इन सब भूत, भविष्यत्, वर्तमान व्यवहारों को जानते; जो नाशरहित जीवात्मा को परमात्मा के साथ मिलके सब प्रकार त्रिकालज्ञ करता है; जिसमें ज्ञान और क्रिया है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि और आत्मा युक्त रहता है। उस योग रूप यज्ञ को जिससे बढ़ाते हैं; वह मेरा मन योगविज्ञान युक्त होकर अविद्यादि क्लेशों से पृथक् रहे। (सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास) ॥

विनियोग—महर्षि ने 'येनेदं०' इस मन्त्र का संस्कारविधि के 'शान्तिकरण' नामक प्रकरण में विनियोग किया है ॥ ३४ । ४ ॥

शिवसंकल्पः । **मन्त्रः=स्पष्टम्** । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

मन को वश में करने का फिर उपदेश किया है ॥

यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिँश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ५ ॥

पदार्थः—(**यस्मिन्**) मनसि (**ऋचः**) ऋग्वेदः (**साम**) सामवेदः (**यजूंषि**) यजुर्वेदः (**यस्मिन्**) (**प्रतिष्ठिता**) प्रतिष्ठितानि (**रथनाभाविव**) यथा रथस्य=रथचक्रस्य मध्यमे काष्ठे सर्वेऽवयवा लग्ना भवन्ति तथा (**अराः**) रथचक्रावयवाः (**यस्मिन्**) (**चित्तम्**) सर्वपदार्थविषयिज्ञानम् (**सर्वम्**) समग्रम् (**ओतम्**) सूत्रे मणिगणा इव प्रोतम् (**प्रजानाम्**) (**तत्**) (**मे**) मम (**मनः**) (**शिवसंकल्पम्**) शिवः=कल्याणकरो वेदादिसत्यशास्त्रप्रचारसङ्कल्पो यस्मिँस्तत् (**अस्तु**) भवतु ॥ ५ ॥

अन्वयः—रथनाभाविवारा यस्मिन्मनसि ऋचः साम यजूंषि प्रतिष्ठिता यस्मिन्नथर्वाणः प्रतिष्ठिता भवन्ति यस्मिन् प्रजानां सर्वं चित्तमोतमस्ति तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ५ ॥

सपदार्थान्वयः—**रथनाभाविव** यथा रथस्य=रथचक्रस्य मध्यमे काष्ठे सर्वेऽवयवा लग्ना भवन्ति तथा **अराः** रथचक्रावयवाः **यस्मिन्**=**मनसि** **ऋचः** ऋग्वेदः **साम** सामवेदः **यजूंषि** यजुर्वेदः **प्रतिष्ठिता** प्रतिष्ठितानि, **यस्मिन्** मनसि **अथर्वाणः** **प्रतिष्ठिता भवन्ति**; **यस्मिन्** मनसि **प्रजानां सर्वं** समग्रं **चित्तं** सर्वपदार्थविषयिज्ञानम् **ओतं** सूत्रे मणि-गणा इव प्रोतम् **अस्ति, तन्मे** मम **मनः** **शिव-सङ्कल्पं** शिवः=कल्याणकरो वेदादिसत्यशास्त्र-प्रचारसङ्कल्पो यस्मिँस्तत् **अस्तु** भवतु ॥ ३४ । ५ ॥

भाषार्थ—(रथनाभाविव) जैसे रथ=रथ-चक्र के मध्यम काष्ठ में सब अवयव लगे होते हैं उन (अराः) रथचक्र के अरों के समान, (यस्मिन्) जिस मन में (ऋचः) ऋग्वेद, (साम) सामवेद, और (यजूंषि) यजुर्वेद (प्रतिष्ठिता) प्रतिष्ठित हैं, और जिसमें अथर्ववेद के मन्त्र प्रतिष्ठित होते हैं; और (यस्मिन्) जिस मन में (प्रजानाम्) प्रजा का (सर्वम्) सब (चित्तम्) सब पदार्थ विषयक ज्ञान (ओतम्) सूत्र में मणि-गण के तुल्य पिरोया हुआ है; (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) मन (शिवसंकल्पम्) शिव=कल्याणकारी वेदादि सत्यशास्त्र के प्रचार का संकल्प रखने वाला (अस्तु) हो ॥ ३४ । ५ ॥

भावार्थः — अत्रोपमावाचकलुप्तोपमा-लङ्कारौ । हे मनुष्याः युष्माभिर्यस्य स्वास्थ्य एव वेदादिपठनपाठनव्यवहारो घटते, तत् मन एव वेदादिविद्याधरं, यत्र सर्वेषां व्यवहाराणां ज्ञानं संचितं भवति, तदन्तःकरणं विद्याधर्माचरणेन पवित्रं सम्पादनीयम् ॥ ३४ । ५ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमा और वाचक लुप्तोपमा अलंकार हैं । हे मनुष्यो ! तुम—जिसके स्वस्थ होने पर ही वेदादि पठन-पाठन का व्यवहार संभव है; वह मन ही वेदादि विद्या को धारण करने वाला है, जिसमें सब व्यवहारों का ज्ञान संचित होता है, उसे अन्तःकरण को विद्या और धर्मा-चरण से पवित्र बनाओ ॥ ३४ । ५ ॥

भा० पदार्थः—यस्मिन्=यत्र । चित्तम्=ज्ञानम् । ओतम्=संचितम् । मनः=अन्तःकर-णम् । शिवसंकल्पम्=विद्याधर्माचरणेन पवित्रम् ॥

भाष्यसार—**१. मन को वश में करना**—जैसे रथ-चक्र की नाभि में अरे लगे होते हैं वैसे ही जिस मन में ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद प्रतिष्ठित हैं; जिस मन में सब पदार्थों का ज्ञान सूत्र में पिरोये हुए मणि-गण के समान पिरोया हुआ है; वह मेरा मन कल्याणकारी वेदादि सत्य शास्त्रों के प्रचार के संकल्प (इच्छा) वाला हो ॥

मन के स्वस्थ होने पर ही वेदादि शास्त्रों के पठन-पाठन का व्यवहार सम्भव है । मन ही वेदादि विद्या को धारण करने वाला है । इस में सब व्यवहारों का ज्ञान संचित है । मन को विद्या और धर्माचरण से पवित्र बनावें ॥

२. **अलङ्कार**—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' पद उपमा-वाचक है; अतः उपमा अलंकार है । उपमा यह है कि रथचक्र में लगे अरों के तुल्य मन में ऋग्वेदादि प्रतिष्ठित हैं । उपमा-वाचक पद को लुप्त मान कर वाचक लुप्तोपमा अलंकार भी है । लुप्तोपमा यह है कि मन में सूत्र में मणिगण के तुल्य सब पदार्थों का ज्ञान ओत-प्रोत है ॥ ३४ । ५ ॥

अन्यत्र व्याख्यात— [क] हे परम विद्वन् परमेश्वर ! आपकी कृपा से मेरे मन में—जैसे रथ के मध्य धुरा में आरे लगे रहते हैं; वैसे—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और जिसमें अथर्ववेद भी प्रतिष्ठित होता है; और जिसमें सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, प्रजा का साक्षी चित्त चेतन विदित होता है, वह मेरा मन अविद्या का अभाव कर, विद्याप्रिय सदा रहे (सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास) ॥

[ख]—(यस्मिन्नृचः०) हे भगवन् कृपानिधे ! (ऋचः) ऋग्वेद, (साम) सामवेद, (यजूंषि) यजुर्वेद और इन तीनों के अन्तर्गत होने से अथर्ववेद भी ये सब जिसमें स्थिर होते हैं; तथा जिसमें मोक्ष-विद्या अर्थात् ब्रह्म विद्या और सत्यासत्य का प्रकाश होता है (यस्मिँश्चि०) जिसमें सब प्रजा का चित्त, जो स्मरण करने की वृत्ति है, सो सब गंठी भई है। जैसे माला के मणिए सूत्र में गठे भये होते हैं, और जैसे रथ के पहिये के बीच के भाग में आरे लगे होते हैं, कि उस काष्ठ में जैसे अन्य काष्ठ लगे रहते हैं; ऐसा जो मेरा मन है, सो आपकी कृपा से शुद्ध होये तथा कल्याण जो मोक्ष और सत्य धर्म का अनुष्ठान तथा असत्य के परित्याग करने का संकल्प जो इच्छा है, इससे युक्त सदा होये। (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, ईश्वरप्रार्थनाविषय)॥

विनियोग—महर्षि ने 'यस्मिन्नृचः०' इस मन्त्र का संस्कारविधि के 'शान्तिकरण' नामक प्रकरण में विनियोग किया है॥ ३४। ५॥ ●

शिवसङ्कल्पः। **मन्त्रः=स्पष्टम्**। स्वराट् त्रिष्टुप्। धैवतः॥

पुनस्तमेव विषयमाह॥

मन को वश में करने का फिर उपदेश किया है॥

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनं इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ६॥

पदार्थः—(**सुषारथिः**) शोभनश्चासौ सारथिर्यानचालयिता तथा (**यत्**) (**मनुष्यान्**) मनुष्यग्रहणमुभयलक्षकं प्राणिमात्रस्य (**नेनीयते**) भृशमितस्ततो नयति=गमयति (**अभीशुभिः**) रश्मिभिः। अभीशव इति रश्मिना०॥ निघं० १। ५॥ (**वाजिनइव**) सुशिक्षितानश्वानिव (**हृत्प्रतिष्ठम्**) हृदि प्रतिष्ठा=स्थितिर्यस्य तत् (**यत्**) (**अजिरम्**) विषयादिषु प्रक्षेपकं जराद्यवस्थारहितं वा (**जविष्ठम्**) अतिशयेन वेगवत्तरम् (**तत्**) (**मे**) मम (**मनः**) (**शिवसङ्कल्पम्**) मङ्गलनियमेष्टम् (**अस्तु**) भवतु॥ ६॥

प्रमाणार्थ—(**अभीशुभिः**) 'अभीशवः' यह पद निघण्टु (१। ५) में रश्मि-नामों में पठित है—रश्मि=रस्सी।

अन्वयः—यत् सुषारथिरश्वानिव मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव नियच्छति च बलात् सारथिरश्वानिव प्राणिनो नयति यद्धृत्प्रतिष्ठमजिरं जविष्ठमस्ति तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ६॥

सपदार्थान्वयः—यत् सुषारथिः शोभनश्चासौ सारथिर्यानचालयिता तथा **अश्वानिव, मनुष्यान्** मनुष्यग्रहणमुभयलक्षकं प्राणिमात्रस्य **नेनीयते** भृशमितस्ततो नयति=गमयति **अभीशुभिः** रश्मिभिः **वाजिन इव** सुशिक्षितानश्वानिव **नियच्छति। च, बलात् सारथिरश्वानिव प्राणिनो नयति ! यद्धृत्प्रतिष्ठं** हृदि प्रतिष्ठा=स्थितिर्यस्य तत् **अजिरं** विषयादिषु प्रक्षेपकं जराद्यवस्थारहितं वा **जविष्ठम्** अतिशयेन वेगवत्तरम् **अस्ति, तन्मे** मम **मनः शिवसङ्कल्पं** मङ्गलनियमेष्टम् **अस्तु** भवतु॥६॥

भाषार्थ—(यत्) जो (सुषारथिः) उत्तम सारथि (अश्वानिव) जैसे घोड़ों को चलाता है, वैसे (मनुष्यान्) मनुष्यों अर्थात् प्राणिमात्र को (नेनीयते) अत्यन्त इधर-उधर ले जाता है; और (अभीशुभिः) रस्सियों से (वाजिन इव) सुशिक्षित घोड़ों के समान (नियच्छति) वश में करता है। बल से—जैसे सारथि घोड़ों को ले जाता है; वैसे प्राणियों को चलाता है। (यत्) जो (हृत्प्रतिष्ठम्) हृदय में स्थित, (अजिरम्) विषय आदि में फैंकने वाला अथवा जरा आदि अवस्था से रहित है; (तत्)

वह (मे) मेरा (मनः) मन (शिवसंकल्पम्) मंगल नियमों से प्रेम करने वाला (अस्तु) हो ॥३४।६॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः। यत्रासक्तं तत्रैव प्रग्रहैः सारथिः तुरङ्गानिव वशे स्थापयति, सर्वेऽविद्वांसो यदनुवर्त्तन्ते, विद्वांसश्च यत् स्ववशं कुर्वन्ति, यच्छुद्धं सत् सुखकार्यशुद्धं सद् दुःखकारि, यज्जितं सिद्धिं यदजितमसिद्धिं प्रयच्छति, तन्मनो मनुष्यैः स्ववशं सदा रक्षणीयम् ॥ ३४। ६॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमा अलंकार है। जहाँ आसक्त हो गया वहीं—जैसे लगामों के द्वारा सारथि घोड़ों को वश में करता है; वैसे वश में करने वाला है, सब अविद्वान् जिसके पीछे चलते हैं; और विद्वान् जिसे अपने वश में रखते हैं; जो शुद्ध हुआ सुखकारी है और अशुद्ध हुआ दुःखकारी है, जो जीता हुआ सिद्धि को और न जीता हुआ असिद्धि को प्रदान करता है—उस मन को मनुष्य अपने वश में सदा रखें ॥ ३४। ६॥

भा० पदार्थः—अश्वान्=तुरङ्गान्। अभीशुभिः=प्रग्रहैः। शिवसङ्कल्पम्=यच्छुद्धं सत् सुखकारि, अशुद्धं सद् दुःखकारि, यज्जितं सिद्धिं यदजितमसिद्धिं प्रयच्छति तत्॥

भाष्यसार—१. **मन को वश में करना**—जैसे उत्तम सारथि घोड़ों को चलाता है; वैसे जो मन मनुष्यों अर्थात् प्राणिमात्र को अत्यन्त इधर-उधर ले जाता है; एवं चलाता है। जैसे उत्तम सारथि लगामों से सुशिक्षित घोड़ों को वश में रखता है; वैसे यह बलपूर्वक प्राणियों को वश में कर लेता है। सब अविद्वान् इसके पीछे चलते हैं और विद्वान् लोग इसको अपने वश में रखते हैं। जो हृदय में स्थित है। आत्मा को विषय आदि में फेंकने वाला है तथा जरा आदि अवस्था से रहित है। यह शुद्ध होने पर सुखकारी और अशुद्ध होने पर दुःखकारी होता है। यह जीता हुआ सिद्धि को और न जीता हुआ असिद्धि को प्रदान करता है। वह मेरा मन मंगल-नियमों से प्रेम करने वाला हो। सब मनुष्य इस मन को सदा अपने वश में रखें।

२. **अलङ्कार**—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' पद है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि जैसे उत्तम सारथि घोड़ों को चलाता है वैसे यह मन प्राणिमात्र को चलाता है ॥३४।६॥

अन्यत्र व्याख्यात—हे सर्वनियन्ता ईश्वर! जो मेरा मन रस्सी से घोड़ों के समान, अथवा घोड़ों के नियन्ता सारथि के तुल्य मनुष्यों को अत्यन्त इधर-उधर डुलाता है। जो हृदय में प्रतिष्ठित, गतिमान् और अत्यन्त वेग वाला है। वह सब इन्द्रियों को अधर्माचरण से रोक के धर्मपथ में सदा चलाया करे; ऐसी कृपा मुझ पर कीजिए (सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास) ॥ ३४। ६॥

विनियोग—महर्षि ने 'सुषारथि०' इस मन्त्र का संस्कारविधि के 'शान्तिकरण' नामक प्रकरण में विनियोग किया है ॥ ३४। ६॥

अगस्त्यः। **अन्नम्**=स्पष्टम्। उष्णिक्। ऋषभः॥

अथ कः शत्रून् विजेतुं शक्नोतीत्याह॥

अब कौन मनुष्य शत्रुओं को जीत सकता है, यह उपदेश किया जाता है॥

पितुं नु स्तोषं महो धर्माणं तविषीम्।
यस्य त्रितो व्योजसा वृत्रं विपर्वमर्दयत् ॥ ७॥

पदार्थः—(**पितुम्**) अन्नम् (**नु**) सद्यः (**स्तोषम्**) स्तुवे (**महः**) महान्तम् (**धर्माणम्**) पक्षपातरहितं न्यायाचरणं धर्मम् (**तविषीम्**) बलयुक्तां सेनाम् । **तविषीति बलना० ॥ निघं० २ । ६ ।** (**यस्य**) (**त्रितः**) त्रिषु कालेषु । **सप्तम्यर्थे तसिः ।** (**वि**) (**ओजसा**) उदकेन सह । **ओजस इत्युदकना० ॥ १ । १२ ॥** (**वृत्रम्**) मेघम् (**विपर्वम्**) विगतानि पर्वाणि=ग्रन्थयो यस्य तम् (**अर्दयत्**) अर्दयति=नाशयति ॥ ७ ॥

प्रमाणार्थ—(**तविषीम्**) बलयुक्तां सेनाम् । 'तविषी' यह पद निघण्टु (२ । ६) में बल-नामों में पठित है । (**त्रितः**) त्रिषु कालेषु । यहाँ सप्तमी विभक्ति के अर्थ में 'तसि' प्रत्यय है । (**ओजसा**) उदकेन सह । 'ओजस्' यह पद निघण्टु (१ । १२) में उदक-नामों में पठित है—उदक=जल ॥

अन्वयः—अहं यस्य पितुं महो धर्माणं तविषीं नु स्तोषं स राजपुरुषः त्रितः सूर्य ओजसा सह वर्त्तमानं विपर्वं वृत्रं व्यर्दयदिव शत्रूञ्जेतुं शक्नोति ॥ ७ ॥

सपदार्थान्वयः—**अहं यस्य पितुम्** अन्नं **महः** महान्तं **धर्माणं** पक्षपातरहितं न्यायाचरणं धर्मं **तविषीं** बलयुक्तां सेनां **नु** सद्यः **स्तोषं** स्तुवे, **स राजपुरुषः त्रितः** त्रिषु कालेषु **सूर्य ओजसा** उदकेन **सह वर्त्तमानं विपर्वं** विगतानि पर्वाणि=ग्रन्थयो यस्य तं, **वृत्रं** मेघं **व्यर्दयत्** अर्दयति=नाशयति **इव, शत्रून् जेतुं शक्नोति** ॥ ३४ । ७ ॥

भाषार्थ—मैं—(यस्य) जिसके (पितुम्) अन्न, (महः) महान् (धर्माणम्) पक्षपात रहित न्यायाचरण रूप धर्म की तथा (तविषीम्) बल से युक्त सेना की (नु) शीघ्र (स्तोषम्) स्तुति करता हूँ—वह राजपुरुष (त्रितः) तीनों कालों में—जैसे सूर्य (ओजसा) जल के साथ वर्तमान (विपर्वम्) पर्व=ग्रन्थियों से रहित (वृत्रम्) मेघ को (वि+अर्दयत्) नष्ट करता है;—वैसे शत्रुओं को जीत सकता है ॥ ३४ । ७ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । येन सत्यो धर्मो, बलवती सेना, पुष्कलान्नादिसामग्री च ध्रियते स, सूर्यो मेघमिव शत्रून् विजेतुं शक्नुयात् ॥ ३४ । ७ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । जो—सत्य धर्म, बलवान् सेना और पुष्कल अन्न आदि सामग्री को धारण करता है; वह—जैसे सूर्य मेघ को नष्ट करता है—वैसे शत्रुओं को जीत सकता है ॥ ३४ । ७ ॥

भा० पदार्थः—महः=सत्यम् । तविषीम्=बलवतीं सेनाम् । पितुम्=पुष्कलान्नादि-सामग्रीम् ॥

भाष्यसार—१. **कौन शत्रुओं को जीत सकता है**—जो राजपुरुष—पुष्कल अन्न आदि सामग्री, महान् पक्षपात रहित न्यायाचरण रूप धर्म और बलयुक्त सेना की स्तुति करता है; उसे धारण करता है; वह तीनों कालों में—जैसे सूर्य जल से युक्त, ग्रन्थिरहित मेघ का नाश करता है;—वैसे शत्रुओं को जीत सकता है ।

२. **अलंकार**—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । उपमा यह कि जैसे सूर्य मेघ को जीत सकता है वैसे मन्त्रोक्त राजपुरुष शत्रुओं को जीत सकता है ॥ ३४ । ७ ॥

अगस्त्यः । **अनुमतिः**=सभापतिविद्वान् । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ॥

पुनर्मनुष्यैः किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

फिर मनुष्यों को क्या करना चाहिए, यह उपदेश किया है ॥

अन्विदनुमते त्वं मन्यासै शं च नस्कृधि ।
क्रत्वे दक्षाय नो हिनु प्रण ऽ आयूंषि तारिषः ॥ ८ ॥

पदार्थः—(अनु) (इत्) एव (अनुमते) अनुकूला मतिर्यस्य तत्सम्बुद्धौ (त्वम्) (मन्यासै) मन्यस्व (शम्) सुखम् (च) (नः) अस्मान् (कृधि) कुरु (क्रत्वे) प्रज्ञायै (दक्षाय) बलाय चतुरत्वाय वा (नः) अस्मान् (हिनु) वर्द्धय (प्र) (नः) अस्माकम् (आयूंषि) जीवनादीनि (तारिषः) सन्तारयसि ॥ ८ ॥

अन्वयः—हे अनुमते सभापते विद्वँस्त्वं ! यच्छमनुमन्यासै तेन युक्तान्नस्कृधि क्रत्वे दक्षाय नो हिनु न आयूंषि चेत्प्रतारिषः ॥ ८ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **अनुमते=सभापते विद्वन्** अनुकूला मतिर्यस्य तत्सम्बुद्धौ ! **त्वं यच्छं** सुखम् **अनुमन्यासै** मन्यस्व, **तेन युक्तान्नः** अस्मान् **कृधि** कुरु । **क्रत्वे** प्रज्ञायै **दक्षाय** बलाय चतुरत्वाय वा **नः** अस्मान् **हिनु** वर्द्धय । **नः** अस्माकं **आयूंषि** जीवनादीनि **चेत्** इव **प्रतारिषः** सन्तारयसि ॥ ३४ । ८ ॥

भाषार्थ—हे (अनुमते) अनुकूल मति वाले सभापति विद्वान् ! तू—(यच्छम्) सुख को (अनुमन्यासै) स्वीकार कर; उससे युक्त (नः) हमें (कृधि) कर । (क्रत्वे) प्रज्ञा, (दक्षाय) बल का चतुरता के लिए (नः) हमें (हिनु) बढ़ा । (नः) हमारे (आयूंषि) जीवन आदि के (चेत्) समान अन्यों को भी (प्रतारिषः) पार करें ॥ ३४ । ८ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यथा स्वार्थसिद्धये प्रयत्यते, तथैवान्यार्थेऽपि प्रयत्नो विधेयः, यथा स्वस्य कल्याणवृद्धी अन्वेष्टव्ये तथाऽन्येषामपि, एवं सर्वेषां पूर्णमायुः सम्पादनीयम् ॥ ३४ । ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य जैसे स्वार्थ सिद्धि के लिए प्रयत्न करें वैसे अन्यों के लिए भी प्रयत्न किया करें; जैसे अपना कल्याण और बृद्धि चाहें वैसे अन्यों की भी चाहा करें; इस प्रकार सब की पूर्ण आयु को सिद्ध करें ॥ ३४ । ८ ॥

भा० पदार्थः—क्रत्वे=कल्याणाय । दक्षाय=वृद्धये । आयूंषि=पूर्णमायुः ॥

भाष्यसार—**मनुष्य क्या करें**—अनुकूल मति वाला सभापति विद्वान्—सुख को स्वीकार करे, और अन्यों को भी इस सुख से युक्त करे । वह जैसे स्वार्थ सिद्धि के लिए प्रयत्न करे वैसे अन्यों के लिए भी प्रयत्नशील हो । वह अन्यों की प्रज्ञा, बल और चतुरता को बढ़ावे । जैसे वह अपने कल्याण और वृद्धि की कामना करे वैसे अन्यों की भी उक्त वृद्धि की कामना किया करे । वह सब की पूर्ण आयु को सिद्ध करे ॥ ३४ । ८ ॥

अगस्त्यः । **अनुमतिः**=विद्वान् । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

मनुष्यों को क्या करना चाहिए, इसका फिर उपदेश किया है ॥

अनु नोऽद्यानुमतिर्यज्ञं देवेषु मन्यताम् ।
अग्निश्च हव्यवाहनो भवतं दाशुषे मयः ॥ ९ ॥

पदार्थः—(अनु) (नः) अस्माकम् (अद्य) इदानीम् (अनुमतिः) अनुकूलं विज्ञानम् (यज्ञम्) सुखदानसाधनं व्यवहारम् (देवेषु) विद्वत्सु (मन्यताम्) (अग्निः) पावकवत्तेजस्वी तज्ज्ञो वा (च) समुच्चये

(**हव्यवाहनः**) यो हव्यानि=ग्रहीतुं योग्यानि वस्तूनि वहति=प्रापयति (**भवतम्**) (**दाशुषे**) दात्रे (**मयः**) सुखकारिणौ **मय इति सुखना० ॥ निघं० ३ । ६ ॥ ९ ॥**

प्रमाणार्थ—(**मयः**) सुखकारिणौ । 'मय' यह पद निघण्टु (३ । ६) में सुख-नामों में पठित है ॥

अन्वयः—योऽनुमतिरद्य देवेषु नो यज्ञमनुमन्यतां स हव्यवाहनोऽग्निश्च युवां दाशुषे मयः सुखकारिणौ भवतम् ॥ ९ ॥

सपदार्थान्वयः—**योऽनुमतिः** अनुकूलं विज्ञानम् **अद्य** इदानीं **देवेषु** विद्वत्सु **नः** अस्माकं **यज्ञं** सुखदानसाधनं व्यवहारम् **अनुमन्यतां सः, हव्यवाहनः** यो हव्यानि=ग्रहीतुं योग्यानि वस्तूनि वहति=प्रापयति **अग्निः** पावकवत्तेजस्वी तज्ज्ञो वा **च, युवां दाशुषे** दात्रे **मयः=सुखकारिणौ भवतम्** ॥ ३४ । ९ ॥

भाषार्थ—जो (अनुमतिः) अनुकूल विज्ञान वाला मनुष्य—(अद्य) अब (देवेषु) विद्वानों में (नः) हमारे (यज्ञम्) सुखद व्यवहार को (अनुमन्यताम्) स्वीकार करता है; वह, और—(हव्यवाहनः) हव्य=ग्रहण करने योग्य वस्तुओं को प्राप्त कराने वाला, (अग्निः) अग्नि के तुल्य तेजस्वी अथवा अग्नि-विद्या का ज्ञाता मनुष्य—तुम दोनों (दाशुषे) दाता के लिए (मयः) सुखकारी बनो ॥ ३४ । ९ ॥

भावार्थः—ये मनुष्याः सत्कर्मानुष्ठानेऽनुमतिदातारो, दुष्टकर्मानुष्ठानस्य निषेधकाः, तेऽग्न्यादिविद्यया सुखं सर्वेभ्यः प्रयच्छन्ति ॥३४।९॥

भावार्थ—जो मनुष्य शुभ कर्मों के अनुष्ठान में अनुमति देने वाले, दुष्ट कर्मों के अनुष्ठान का निषेध करने वाले हैं; वे अग्नि आदि विद्या के द्वारा सबको सुख प्रदान करते हैं ॥३४।९॥

भा० पदार्थः—यज्ञम्=सत्कर्मानुष्ठानम्, दुष्टकर्मानुष्ठाननिषेधः । अग्निः=अग्न्यादिविद्या । मयः=सुखम् ॥

भाष्यसार—**मनुष्य क्या करें**—अनुकूल विज्ञान वाला विद्वान्—अपने वर्तमान काल में विद्वानों के मध्य में मनुष्यों को सुख देने वाले व्यवहार को स्वीकार करे । ग्रहण करने योग्य वस्तुओं को ही ग्रहण करने वाला, अग्नि के तुल्य तेजस्वी, अग्नि-विद्या का ज्ञाता विद्वान्—दाता पुरुष के लिए सुखकारी हो ।

विद्वान्—शुभ कर्मों के अनुष्ठान में अनुमति देने वाला और दुष्ट कर्मों के अनुष्ठान का निषेध करने वाला हो । वह अग्नि आदि विद्या के द्वारा सब सुख प्रदान करे ॥ ३४ । ९ ॥

गृत्समदः । **सिनीवाली**=कुमारी । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

अथ विदुष्यः कुमार्यः किं कुर्युरित्याह ॥

अब विदुषी कुमारियाँ क्या करें, यह उपदेश किया है ॥

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा ।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः ॥ १० ॥

पदार्थः—(सिनिवालि) सिनी=प्रेमबद्धा चासौ बलकारिणी च तत्सम्बुद्धौ (**पृथुष्टुके**) पृथुर्विस्तीर्णा ष्टुका=स्तुतिः, केशभारः, कामो वा यस्यास्तत्सम्बुद्धौ महास्तुते पृथुकेशभारे पृथुकामे वा (**या**) (**देवानाम्**) विदुषाम् (**असि**) (**स्वसा**) भगिनी (**जुषस्व**) सेवस्व (**हव्यम्**) आदातुमर्हम् (**आहुतम्**) समन्तात् वरदीक्षादिकर्मभिः स्वीकृतं पतिम् (**प्रजाम्**) सुसन्तानरूपाम् (**देवि**) विदुषि (**दिदिड्ढि**) दिश=देहि। अत्र दिश धातोर्बहुलं छन्दसीति शपः श्लुः (**नः**) अस्मभ्यम् ॥ १० ॥

प्रमाणार्थ—(दिदिड्ढ) दिश=देहि। यहाँ 'दिश' धातु से 'बहुलं छन्दसि' (अ० २।४) इस सूत्र से 'शप्' को 'श्लु' हुआ है। 'श्लु' होने से द्वित्व है॥

अन्वयः—हे सिनीवालि पृथुष्टुके देवि विदुषि कुमारि! या त्वं देवानां स्वसाऽसि सा हव्यमाहुतं पतिं जुषस्व नः प्रजां दिदिड्ढि ॥ ३४।१० ॥

सपदार्थान्वयः—हे सिनीवालि, सिनी=प्रेमबद्धा चासौ बलकारिणी च तत्सम्बुद्धौ **पृथुष्टुके** पृथुर्विस्तीर्णा ष्टुका=स्तुतिः, केशभारः, कामो वा यस्यास्तत्सम्बुद्धौ महास्तुते, पृथुकेशभारे, पृथुकामे वा **देवि=विदुषि कुमारि! या त्वं देवानां** विदुषां **स्वसा** भगिनी **असि; सा**—**हव्यम्** आदातुमर्हम् **आहुतं=पतिं** समन्तात् वरदीक्षादिकर्मभिः स्वीकृतं पतिं **जुषस्व** सेवस्व; **नः** अस्मभ्यं **प्रजां** सुसन्तानरूपां **दिदिड्ढि** दिश=देहि ॥ ३४।१० ॥

भाषार्थ—हे (सिनीवालि) सिनी=प्रेम से बंधी हुई और बलकारिणी, (पृथुष्टुके) पृथु=विस्तृत स्तुति, केशभार वा काम वाली अर्थात् महान् स्तुति पृथु केशभार वा अधिक काम वाली (देवि) विदुषी कुमारी! जो तू—(देवानाम्) विद्वानों की (स्वसा) बहन (असि) है; सो तू—(हव्यम्) स्वीकार करने योग्य (आहुतम्) सब ओर से वर-दीक्षा आदि कर्मों से स्वीकृत पति का (जुषस्व) सेवन कर; और (नः) हमारे लिए (प्रजाम्) उत्तम सन्तान रूप प्रजा को (दिदिड्ढि) प्रदान कर ॥ ३४।१० ॥

भावार्थः—हे कुमार्यो! यूयं ब्रह्मचर्येण समग्रा विद्या प्राप्य, युवतयो भूत्वा, स्वेष्टान् सुपरीक्षितान् वर्तुमर्हान् पतीन् स्वयं वृणुत, तैः सहानन्द्य प्रजामुत्पादयत ॥ ३४।१० ॥

भावार्थ—हे कुमारियो! तुम—ब्रह्मचर्य से समग्र विद्या को प्राप्त करके, युवतियाँ होकर; अपने अभीष्ट, सुपरीक्षित वरण करने योग्य पतियों का स्वयं वरण करो, उनके साथ आनन्द करके प्रजा को उत्पन्न करो ॥ ३४।१० ॥

भा० पदार्थः—सिनीवालि=हे कुमारि। हव्यम्=स्वेष्टम्। आहुतम्=सुपरीक्षितम्, वर्त्तुमर्हम्। जुषस्व=स्वयं वृणु। दिदिड्ढि=उत्पादय ॥

भाष्यसार—**विदुषी कुमारियाँ क्या करें**—प्रेम में बन्धी हुई, बलकारिणी, महान् स्तुति वाली, विशाल केशभार वाली तथा अधिक काम वाली विदुषी कुमारी, जो विद्वानों की बहन हैं, वह—स्वीकार करने योग्य, वर-दीक्षा आदि कर्मों से स्वीकृत पति का सेवन करे। उत्तम सन्तान रूप प्रजा को प्रदान करें।

तात्पर्य यह है कि—विदुषी कुमारियाँ ब्रह्मचर्य से समग्र विद्याओं को प्राप्त करें। युवतियाँ होकर अपने अभीष्ट, सुपरीक्षित, वरण करने योग्य पतियों का स्वयं वरण करें। उनके साथ आनन्द करके प्रजा को उत्पन्न करें ॥ ३४।१० ॥

गृत्समदः । **सरस्वती**=वाणी । निचृदनुष्टुप् । धैवतः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

विदुषी कुमारियाँ क्या करें, यह फिर उपदेश किया है ॥

पञ्च नद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्रोतसः ।
सरस्वती तु पञ्चधा सो देशेऽभवत्सरित् ॥ ११ ॥

पदार्थः—(**पञ्च**) पञ्चज्ञानेन्द्रियवृत्तयः (**नद्यः**) नदीवत्प्रवाहरूपाः (**सरस्वतीम्**) प्रशस्तविज्ञानवतीं वाचम् (**अपि**) (**यन्ति**) प्राप्नुवन्ति (**सस्रोतसः**) समानं मनो=रूपं स्रोतः=प्रवाहो यासान्ताः (**सरस्वती**) (**तु**) अवधारणे (**पञ्चधा**) पञ्चज्ञानेन्द्रियशब्दाविषयप्रतिपादनेन पञ्चप्रकारा (**सा**) (**उ**) (**देशे**) स्वनिवासे स्थाने (**अभवत्**) भवति (**सरित्**) या सरति=गच्छति सा ॥ ११ ॥

अन्वयः—मनुष्यैः सस्रोतसः पञ्च नद्यः यां सरस्वतीमपि यन्ति सा उ सरित् सरस्वती देशे पञ्चधा त्वभवदिति विज्ञेया ॥ ११ ॥

सपदार्थान्वयः—**मनुष्यैः सस्रोतसः** समानं मनोरूपं स्रोतः=प्रवाहो यासान्ताः **पञ्च** पञ्चज्ञानेन्द्रियवृत्तयः **नद्यः** नदीवत् प्रवाहरूपाः **यां सरस्वतीं** प्रशस्तविज्ञानवतीं वाचम् **अपि यन्ति** प्राप्नुवन्ति **सा उ सरित्** या सरति=गच्छति सा **सरस्वती देशे** स्वनिवासे स्थाने **पञ्चधा** पञ्चज्ञानेन्द्रियशब्दादिविषयप्रतिपादनेन पञ्चप्रकारा **तु** निश्चितम् **अभवत्** भवति, **इति विज्ञेया** ॥३४।११॥

भाषार्थ—मनुष्य—(सस्रोतसः) मन रूप समान स्रोत=प्रवाह वाली, (पंच) पाँच ज्ञानेन्द्रियों की वृत्तियाँ, जो (नद्यः) नदी के तुल्य प्रवाह रूप हैं, वे—जिस (सरस्वतीम्) प्रशस्त विज्ञान वाली वाणी (अपि) भी (यन्ति) प्राप्त करती हैं; वह (सरित्) नदी रूपी (सरस्वती) वाणी (देशे) अपने निवास स्थान में (पञ्चधा) पाँच ज्ञान इन्द्रियों के शब्द आदि विषय के प्रतिपादन से पाँच प्रकार की (तु) तो निश्चित (अभवत्) होती है;—इसे जानें ॥ ३४ । ११ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । मनुष्यैर्या वाणी पञ्चशब्दादिविषयाश्रिता सरिद् वर्तते, तां विज्ञाय, यथावत् प्रसार्य, मधुरा लक्ष्णा प्रयोक्तव्या ॥ ३४ । ११ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। मनुष्यों को उचित है कि वे—जो वाणी पाँच शब्द आदि विषयों के आश्रित एक नदी है; उसे जानकर, यथावत् प्रसार करके उसका मधुर और श्लक्ष्ण रूप में प्रयोग करें ॥ ३४ । ११ ॥

भा० पदार्थः—पञ्च=पञ्चशब्दादिविषयाश्रिता ।

भाष्यसार—१. **विदुषी कुमारियां क्या करें**—मन रूप स्रोत=प्रवाह वाली पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ जो नदी के तुल्य हैं; वे प्रशस्त विज्ञान वाली वाणी (सरस्वती) को प्राप्त करती हैं। वह सरस्वती रूप सरिता अपने-अपने देश में पाँच ज्ञानेन्द्रियों के शब्द आदि विषय के प्रतिपादन से पाँच प्रकार की हो जाती है। विदुषी कुमारियाँ उक्त सरस्वती (वाणी) को जानें। उसका यथावत् प्रसार करें। उसका मधुर और श्लक्ष्ण (चिक्कना सा) प्रयोग करें।

२. **पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ**—श्रोत्र (शब्द)। त्वचा (स्पर्श)। चक्षु (रूप)। जिह्वा (रस)। नासिका (गन्ध) ॥

३. **अलंकार**—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ नदी के तुल्य मन रूप प्रवाह वाली हैं ॥ ३४। ११ ॥

हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। **अग्निः=परमेश्वरो विद्वान् वा।** विराट् जगती। निषादः ॥

अथ जनैरीश्वराज्ञा पालयेत्याह ॥

अब मनुष्यों को ईश्वराज्ञा पालनी चाहिए, यह उपदेश किया जाता है ॥

त्वमग्ने प्रथमो ऽ अङ्गिरा ऽ ऋषिर्देवो देवानामभवः शिवः सखा।
तव व्रते कवयो विद्मनापसोऽजायन्त मरुतो भ्राजदृष्टयः ॥ १२ ॥

पदार्थः—(त्वम्) (अग्ने) परमेश्वर विद्वन् वा (**प्रथमः**) प्रख्यातः (**अङ्गिराः**) अङ्गानां रस इव वर्त्तमानो यद्वाऽङ्गिभ्यो=जीवात्मभ्यो सुखं राति=ददाति सः (**ऋषिः**) ज्ञाता (**देवः**) दिव्यगुणकर्म-स्वभावः (**देवानाम्**) विदुषाम् (**अभवः**) भवेः (**शिवः**) कल्याणकारी (**सखा**) मित्रः (**तव**) (**व्रते**) शीले नियमे वा (**कवयः**) मेधाविनः (**विद्मनापसः**) विद्मनानि=विदितान्यपांसि=कर्माणि येषान्ते (**अजायन्त**) जायन्ते (**मरुतः**) मनुष्याः (**भ्राजदृष्टयः**) भ्राजन्त्यः=शोभमाना ऋष्टय=आयुधानि येषान्ते ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे अग्ने ! यतस्त्वं प्रथमोऽङ्गिरा देवानां देवः शिवः सखा ऋषिः अभवस्तस्मात्तव व्रते विद्मनापसा भ्राजदृष्टयः कवयो मरुतोऽजायन्त ॥ १२ ॥

सपदार्थान्वयः—हे अग्ने ! परमेश्वर विद्वन् वा ! **यतस्त्वं प्रथमः** प्रख्यातः **अङ्गिराः** अङ्गानां रस इव वर्त्तमानो यद्वाऽङ्गिभ्यो=जीवात्मभ्यो सुखं राति=ददाति सः **देवानां** विदुषां **देवः** दिव्यगुणकर्मस्वभावः **शिवः** कल्याणकारी **सखा** मित्रः **ऋषिः** ज्ञाता **अभवः** भवेः, **तस्मात्तव व्रते** शीले नियमे वा **विद्मनापसः** विद्मनानि=विदितान्यपांसि=कर्माणि येषान्ते **भ्राजदृष्टयः** भ्राजन्त्यः=शोभमाना ऋष्टय=आयुधानि येषान्ते **कवयः** मेधाविनः **मरुतः** मनुष्याः **अजायन्त** जायन्ते ॥ ३४। १२ ॥

भावार्थः—यदि मनुष्याः सर्वसुहृदं विद्वांसं सर्वमित्रं परमात्मानं च सखायं मत्वा, विज्ञान-निमित्तानि कर्माणि कृत्वा, प्रकाशितात्मानो भवेयुस्तर्हि ते विद्वांसो भूत्वा परमेश्वरस्याज्ञायां वर्त्तितुं शक्नुयुः ॥ ३४। १२ ॥

भाषार्थ—हे (अग्ने) परमेश्वर वा विद्वान् ! क्योंकि तू—(प्रथमः) प्रख्यात, (अङ्गिराः) अङ्गों के रस के तुल्य अथवा अङ्गी=जीवात्माओं के लिए सुख देने वाला, (देवानाम्) विद्वानों में (देवः) दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव वाला, (शिवः) कल्याणकारी (सखा) मित्र (ऋषिः) वेदार्थ का ज्ञाता (अभवः) है; अतः—(तव) तेरे (व्रते) शील वा नियम के अधीन (विद्मनापसः) विदित=प्रसिद्ध कर्मों वाले, (भ्राजदृष्टयः) सुन्दर ऋषि=आयुधों वाले (कवयः) मेधावी (मरुतः) मनुष्य (अजायन्त) उत्पन्न होते हैं ॥ ३४। १२ ॥

भावार्थ—यदि मनुष्य—सबके सुहृद् विद्वान् और सब के मित्र परमात्मा को सखा मान कर, विज्ञान निमित्त कर्मों को करके, प्रकाशित आत्मा वाले हों तो वे विद्वान् होकर परमेश्वर की आज्ञा में रह सकते हैं ॥ ३४। १२ ॥

भा० पदार्थः—सखा=सर्वसुहृत् विद्वान्, सर्वमित्रं परमात्मा। विद्मनापसः=विज्ञान-निमित्तानि कर्माणि येषा ते। भ्राजदृष्टयः=प्रकाशितात्मानः। कवयः=विद्वांसः। व्रते=परमेश्वरस्याज्ञायाम् ॥

भाष्यसार—ईश्वर की आज्ञा का पालन—हे परमेश्वर 'तू—प्रख्यात है; अंगों के रस के तुल्य है अथवा अङ्गी=जीवात्माओं को सुख देने वाला है, देवों का देव है अर्थात् विद्वानों के मध्य में दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव वाला है, कल्याणकारी है, मित्र है, ऋषि (सर्वज्ञ) है। अतः तेरे शील में वा नियम में रहने वाले मनुष्य—विज्ञान के निमित्त कर्म करने वाले, सुन्दर शस्त्रों वाले, प्रकाशित आत्मा वाले, मेधावी विद्वान् बनते हैं। जो परमेश्वर की आज्ञा का पालन कर सकते हैं॥ ३४। १२॥

हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। **अग्निः=राजा ईश्वरो वा**। त्रिष्टुप्। धवतः॥

राजेश्वरौ कथं सेवनीयावित्याह॥

राजा और ईश्वर की कैसे सेवा करनी चाहिए, यह उपदेश किया है॥

त्वं नो॑ऽ अग्ने तव॑ देव पा॒युभि॑र्म॒घोनो॑ रक्ष त॒न्व॒श्च वन्द्य।
त्रा॒ता तो॒कस्य॒ तन॑ये॒ गवा॑म॒स्यनि॑मेष॒ꣳ रक्ष॑माण॒स्तव॑ व्र॒ते॥ १३॥

पदार्थः—(**त्वम्**) (**नः**) अस्माकम् (**अग्ने**) राजन्नीश्वर वा (**तव**) (**देव**) दिव्यगुणकर्म-स्वभाव (**पायुभिः**) रक्षादिभिः (**मघोनः**) बहुधनयुक्तान् (**रक्ष**) (**तन्वः**) शरीराणि (**च**) (**वन्द्य**) वन्दितुं=स्तोतुं योग्य (**त्राता**) रक्षिता (**तोकस्य**) अपत्यस्य (**तनये**) पौत्रस्य। **अत्र विभक्तिव्यत्ययः** (**गवाम्**) धेन्वादीनाम् (**असि**) (**अनिमेषम्**) निरन्तरम् (**रक्षमाणः**) (**तव**) (**व्रते**) सुनियमे॥ १३॥

प्रमाणार्थ—(तनये) पौत्रस्य। यहाँ विभक्ति का व्यत्यय है। षष्ठी के स्थान में सप्तमी विभक्ति है॥

अन्वयः—हे अग्ने! देव तव व्रते वर्त्तमानान् मघोनोऽस्मान् तव पायुभिस्त्वं रक्ष नस्तन्वश्च रक्ष। हे वन्द्य! यतस्त्वमनिमेषं रक्षमाणस्तोकस्य तनये गवाञ्च त्रातासि तस्मादस्माभिर्नित्यं सत्कर्त्तव्य उपासनीयश्चासि॥ १३॥

[ईश्वर-पक्षः]

सपदार्थान्वयः—हे अग्ने! ईश्वर! **देव** दिव्यगुणकर्मस्वभाव **तव व्रते** सुनियमे **वर्त्तमानान् मघोनः** बहुधनयुक्तान् **अस्मान् तव पायुभिः** रक्षादिभिः **त्वं रक्ष, नः** अस्माकं **तन्वः** शरीराणि **च रक्ष**।

हे **वन्द्य**! वन्दितुं=स्तोतुं योग्य! **यतस्त्वमनिमेषं** निरन्तरं **रक्षमाणस्तोकस्य** अपत्यस्य **तनये** पौत्रस्य **गवां** धेन्वादीनां **च त्राता** रक्षिता **असि; तस्मादस्माभिर्नित्यमुपासनीयोऽसि**॥ ३४। १३॥

भाषार्थ—हे (अग्ने) ईश्वर! (देव) दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव वाले देव! (तव) तेरे (व्रते) उत्तम नियम में वर्तमान (मघोनः) बहुत धन से युक्त हम लोगों की (तव) अपनी (पायुभिः) रक्षादि से तू (रक्ष) रक्षा कर; और (नः) हमारे (तन्वः) शरीरों की रक्षा कर।

हे (वन्द्य) वन्दना=स्तुति के योग्य ईश्वर! क्योंकि तू—(अनिमेषम्) निरन्तर रक्षा करने वाला (तोकस्य) सन्तान, (तनये) पौत्र, और (गवाम्) गौ आदि पशुओं का (त्राता) रक्षक है; अतः—हमारे लिए नित्य उपासनीय है॥ ३४। १३॥

[राज-पक्षः]

सपदार्थान्वयः—हे **अग्ने** राजन् ! **देव** ! दिव्यगुणकर्मस्वभाव ! **तव व्रते** सुनियमे **वर्त्तमानान् मघोनः** बहुधनयुक्तान् **अस्मान्, तव पायुभिः** रक्षादिभिः **त्वं रक्ष, नः** अस्माकं **तन्वः** शरीराणि **च रक्ष** ।

हे **वन्द्य** ! वन्दितुं=स्तोतुं योग्य ! **यतस्त्वमनिमेषं** निरन्तरं **रक्षमाणस्तोकस्य** अपत्यस्य **तनये** पौत्रस्य **गवां** धेन्वादीनां **च त्राता** रक्षिता **असि; तस्मादस्माभिर्नित्यं सत्कर्त्तव्योऽसि** ।। ३४ । १३ ।।

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः । ये ईश्वर-गुणकर्मस्वभावाज्ञानुकूलत्वे वर्त्तन्ते, येषामीश्वरो विद्वांसश्च सततं रक्षकाः सन्ति, ते श्रिया, दीर्घायुषा, प्रजाभिश्च रहिताः कदाचिन्न भवन्ति ।। ३४ । १३ ।।

भाषार्थ—हे (अग्ने) राजन् ! (देव) दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव वाले देव ! (तव) तेरे (व्रते) उत्तम नियम में वर्त्तमान (मघोनः) बहुत धन से युक्त हम लोगों की (तव) अपनी (पायुभिः) रक्षा आदि से तू (रक्ष) रक्षा कर और (नः) हमारे (तन्वः) शरीरों की रक्षा कर।

हे (वन्द्य) वन्दना=स्तुति के योग्य राजन् ! क्योंकि तू—(अनिमेषम्) निरन्तर रक्षा करने वाला (तोकस्य) सन्तान, (तनये) पौत्र और (गवाम्) गौ आदि पशुओं का (त्राता) रक्षक है; अतः—हमारे लिए नित्य सत्कार के योग्य है ।। ३४ । १३ ।।

भावार्थ—इस मन्त्र में श्लेष अलंकार है। जो मनुष्य—ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव तथा उसकी आज्ञा के अनुकूल वर्ताव करते हैं; जिनके ईश्वर और विद्वान् सदा रक्षक हैं; वे—श्री=लक्ष्मी दीर्घ आयु और प्रजा से रहित कभी नहीं होते ।।३४।१३।।

भा० पदार्थः—व्रते=ईश्वरगुणकर्मस्वभावाज्ञानुकूलत्वे । मघोनः=श्रिया सहिताः । तन्वः=दीर्घायुषः ।।

भाष्यसार—१. **ईश्वर की सेवा**—ईश्वर से इस प्रकार प्रार्थना करें—हे दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव वाले ईश्वर ! बहुत धन से युक्त हम लोग तेरे व्रत=उत्तम नियमों में रहने वाले हैं। तू अपने रक्षा आदि गुणों से हमारी रक्षा कर। हमारे शरीरों की रक्षा कर। हे वन्दना (स्तुति) करने योग्य ईश्वर ! तू हमारी निरन्तर रक्षा करने वाला है। हमारे सन्तान, पौत्र (पोता) और गौ आदि पशुओं की भी रक्षा करने वाला है, अतः हम आपकी नित्य सेवा करते हैं; उपासना करते हैं।

२. **राजा की सेवा**—राजा से इस प्रकार विनय करें—हे दिव्य-गुण-कर्म स्वभाव वाले राजन् ! बहुत धन से युक्त हम लोग तेरे व्रत=उत्तम नियमों में रहने वाले हैं। तू अपने रक्षा आदि साधनों से हमारी रक्षा कर। हमारे शरीरों की रक्षा कर। हे वन्दना (स्तुति) करने योग्य राजन् ! तू हमारी निरन्तर रक्षा करने वाला है। हमारे सन्तान, पौत्र (पोता), और गौ आदि पशुओं की भी रक्षा करने वाला है। अतः हम आपकी नित्य सेवा करते हैं, सत्कार करते हैं।

३. **अलङ्कार**—इस मन्त्र में श्लेष अलंकार है। अतः श्लेष से मन्त्र का ईश्वरपरक और राजापरक अर्थ है ।। ३४ । १३ ।। ●

देवश्रवदेववातौ भारतौ । **अग्निः**=**विद्वान्** । त्रिष्टुप् । धैवतौ ।।

पुनर्विद्वान् किं कुर्य्यादित्याह ।।

फिर विद्वान् क्या करे, यह उपदेश किया है।

उत्तानायामवं भरा चिकित्वान्त्सद्यः प्रवीता वृषणं जजान ।
अरुषस्तूपो रुशदस्य पाज ऽ इडायास्पुत्रो वयुनेऽजनिष्ट ॥ १४ ॥

पदार्थः—(**उत्तानायाम्**) उत्कृष्टतया विस्तीर्णायां भूमावन्तरिक्षे वा (**अव**) अर्वाचीने (**भर**)। अत्र द्वयचोतस्तिङ इति दीर्घः (**चिकित्वान्**) ज्ञानवान् (**सद्यः**) (**प्रवीता**) कमिता (**वृषणम्**) वृष्टिकरं यज्ञम् (**जजान**) जनयते । अत्रान्तर्गतो णिच् प्रत्ययः । (**अरुषस्तूपः**) योऽरुषानहिंसकान् उच्छ्राययति सः (**रुशत्**) सुरूपम् (**अस्य**) (**पाजः**) बलम् (**इडायाः**) प्रशंसितायाः (**पुत्रः**) (**वयुने**) विज्ञाने (**अजनिष्ट**) जायते ॥ १४ ॥

प्रमाणार्थ—(भर) यहाँ 'द्वयचोऽतस्तिङः' (अ० ६ । ३ । १३५) से संहिता में दीर्घ है—'भरा'। (**जजान**) जनयते । यहाँ णिच् प्रत्यय अन्तर्गत है ।

अन्वयः—हे विद्वँस्त्वं यथा चिकित्वान् प्रवीता विद्वानुत्तानायां वृषणं जजानाऽरुषस्तूप इडायाः पुत्रो वयुनेऽजनिष्टाऽस्य रुशत्पाजश्चाऽजनिष्ट तथा सद्योऽवभर ॥ १४ ॥

सपदार्थान्वयः—हे विद्वन् ! त्वं यथा चिकित्वान् ज्ञानवान् प्रवीता=विद्वान् कमिता, उत्तानायाम् उत्कृष्टतया विस्तीर्णायां भूमावन्तरिक्षे वा वृषणं वृष्टिकरं यज्ञं **जजान** जनयते, **अरुषस्तूपः** योऽरुषानहिंसकान् उच्छ्राययति सः, **इडायाः** प्रशंसितायाः **पुत्रो**, **वयुने** विज्ञाने **अजनिष्ट** जायते, **अस्य रुशत्** सुरूपं **पाजः** बलं **चाऽजनिष्ट** जायते, **तथा सद्योऽवभर** ॥ ३४ । १४ ॥

भाषार्थ—हे विद्वान् ! तू—जैसे (चिकित्वान्) ज्ञानवान् (प्रवीता) कामना करने वाला विद्वान् (उत्तानायाम्) अच्छे प्रकार विस्तृत भूमि वा अन्तरिक्ष में (वृषणम्) वृष्टि करने वाले यज्ञ को (जजान) उत्पन्न करता है; और—(अरुषस्तूपः) अहिंसकों को ऊँचा उठाने वाला, (इडायाः) प्रशंसित वाणी का (पुत्रः) पुत्र (वयुने) विज्ञान में (अजनिष्ट) उत्पन्न होता है; (अस्य) इसका (रुशत्) सुन्दर रूप और (पाजः) बल (अजनिष्ट) पैदा होता है;—वैसे इसे शीघ्र(अवभर) विद्वान् कर ॥३४।१४॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । यदि मनुष्या अस्यां सृष्टौ ब्रह्मचर्यादिना कुमारान् कुमारींश्च द्विजान् सम्पादयेयुः, तर्ह्येते सद्यो विद्वांसः स्युः ॥ ३४ । १४ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । यदि मनुष्य इस सृष्टि में ब्रह्मचर्य आदि के द्वारा कुमारों और कुमारियों को द्विज बनावें तो ये शीघ्र विद्वान् हों ॥ ३४ । १४ ॥

भाष्यसार—**१. विद्वान् क्या करे**—ज्ञानवान्, कामना विशेष वाला विद्वान्—अत्यन्त विस्तीर्ण भूमि अथवा अन्तरिक्ष में वर्षा करने वाले यज्ञ को उत्पन्न करे । अहिंसकों को उन्नत करने वाला, प्रशंसित वाणी का पुत्र (विद्वान्) विज्ञान में उत्पन्न होता है । विद्वान् ऐसा प्रयत्न करे कि जिससे उसके शिष्य में सुन्दर रूप और बल उत्पन्न हो । वह ब्रह्मचर्य आदि के द्वारा कुमारों और कुमारियों को द्विज बनावे तथा इन्हें शीघ्र विद्वान् करे ॥

२. अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । उपमा यह है कि जैसे एक ज्ञानवान् विद्वान् वर्षा-यज्ञ को उत्पन्न करता है वैसे अन्य विद्वान् कुमार और कुमारियों को द्विज रूप में उत्पन्न करे ॥ ३४ । १४ ॥

देवश्रवदेववातौ भारतौ । **अग्निः**=विद्वान् राजा । विराडनुष्टुप् । धैवतः ॥

किंभूतो जनो राज्याधिकारे स्थापनीय इत्याह ॥

कैसा मनुष्य राज्य के अधिकार पर स्थापित करने योग्य है, यह उपदेश किया जाता है ॥

इडा॑यास्त्वा प॒दे व॒यं नाभा॑ पृथि॒व्या ऽ अधि॑ । जात॑वेदो॒ निधी॑मह्य॒ग्ने ह॒व्याय॒ वोढ॑वे ॥ १५ ॥

पदार्थः—(**इडायाः**) प्रशंसिताया वाचः (**त्वा**) त्वाम् (**पदे**) प्रतिष्ठायाम् (**वयम्**) अध्यापकोपदेशकाः (**नाभा**) नाभौ मध्ये (**पृथिव्याः**) विस्तीर्णाया भूमेः (**अधि**) उपरि (**जातवेदः**) जातप्रज्ञान (**नि**) नितराम् (**धीमहि**) स्थापयेम (**अग्ने**) अग्निरिव तेजस्विन् विद्वन् राजन् ! (**हव्याय**) होतुं=दातुमर्हम् । **अत्र विभक्तिव्यत्ययः** । (**वोढवे**) वोढुं=प्राप्तुं प्रापयितुं वा ॥ १५ ॥

प्रमाणार्थ—(**हव्याय**) होतुं=दातुमर्हम् । यहाँ विभक्ति का व्यत्यय है । द्वितीया विभक्ति के स्थान में चतुर्थी विभक्ति है ॥

अन्वयः—हे जातवेदोऽग्ने ! वयमिडायाः पदे पृथिव्या अधि नाभा त्वा हव्याय वोढवे नि धीमहि ॥ १५ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **जातवेदः** जातप्रज्ञान **अग्ने** अग्निरिव तेजस्विन् विद्वन् राजन् ! **वयम्** अध्यापकोपदेशकाः **इडायाः** प्रशंसिताया वाचः **पदे** प्रतिष्ठायां **पृथिव्याः** विस्तीर्णाया भूमेः **अधि** उपरि **नाभा** नाभौ=मध्ये **त्वा** त्वां **हव्याय** होतुं=दातुमर्हं **वोढवे** वोढुं=प्राप्तुं प्रापयितुं वा **नि+धीमहि** नितरां स्थापयेम ॥ ३४ । १५ ॥

भाषार्थ—हे (जातवेदः) उत्पन्न ज्ञान वाले (अग्ने) अग्नि के तुल्य तेजस्वी विद्वान् वा राजन् ! (वयम्) हम अध्यापक और उपदेशक लोग—(इडायाः) प्रशंसित वाणी की (पदे) प्रतिष्ठा में, (पृथिव्याः) विस्तीर्ण भूमि के (अधि) ऊपर एवं (नाभा) मध्य में (हव्याय) देने योग्य (त्वा) तुझको—(वोढवे) प्राप्त करने वा कराने के लिए (नि+धीमहि) सर्वथा अधिकार में स्थापित करते हैं ॥ ३४ । १५ ॥

भावार्थः—हे विद्वन् राजन् ! यस्मिन्नधिकारे त्वां वयं स्थापयेम तमधिकारं धर्मपुरुषार्थाभ्यां यथावत् साध्नुहि ॥ ३४ । १५ ॥

भावार्थ—हे विद्वान् वा राजन् ! जिस अधिकार में तुझे हम स्थापित करें उस अधिकार को धर्म और पुरुषार्थ से यथावत् सिद्ध कर ॥ १५ ॥

भा० पदार्थः—पदे=अधिकारे ।

भाष्यसार—राज्य का अधिकारी—अध्यापक और उपदेशक लोग—उत्पन्न ज्ञान वाले, अग्नि के तुल्य तेजस्वी विद्वान् राजा को प्रशंसित वाणी की प्रतिष्ठा में तथा पृथिवी राज्याधिकार में देने योग्य पदार्थों को प्राप्त करने वा कराने के लिए स्थापित करें । उक्त राजा उस अधिकार को धर्म और पुरुषार्थ से यथावत् सिद्ध करे ॥ ३४ । १५ ॥ ●

नोधा । **इन्द्रः**=विद्या-धर्मवर्द्धको मनुष्यः । विराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

मनुष्यैर्विद्याधर्मौ वर्द्धनीयावित्याह ॥

मनुष्य विद्या और धर्म को बढ़ावें, यह उपदेश किया है ॥

प्र मन्महे शवसानाय शूषमाङ्गूषं गिर्वणसे ऽ अङ्गिरस्वत् ।
सुवृक्तिभिः स्तुवत ऽ ऋग्मियायार्चामार्कं नरे विश्रुताय ॥ १६ ॥

पदार्थः—(प्र) (मन्महे) याचामहे । मन्मह इति याच्ञाकर्मा ॥ निघं० ३ । १९ ॥ (शवसानाय) विज्ञानाय (शूषम्) बलम् (आङ्गूषम्) विद्याशास्त्रबोधम् । आङ्गूष इति पदना० ॥ निघं० ४ । २ ॥ (गिर्वणसे) गिरः=सुशिक्षिता वाचो वनन्ति=संभजन्ति वा तस्मै (अङ्गिरस्वत्) प्राणवत् (सुवृक्तिभिः) सुष्ठु वृजते दोषान् यासु क्रियासु ताभिः (स्तुवते) यः शास्त्रार्थान् स्तौति (ऋग्मियाय) य ऋचो मिनोत्यधीते तस्मै (अर्चाम) सत्कुर्याम (अर्कम्) अर्चनीयम् (नरे) नायकाय (विश्रुताय) विशेषेण श्रुता=गुणा यस्मिंस्तस्मै ॥ १६ ॥

प्रमाणार्थ—(मन्महे) याचामहे । 'मन्महे' यह पद निघण्टु (३ । १९) में याच्ञा अर्थक क्रियाओं में पठित है—याच्ञा=मांगना ॥ (आङ्गूषम्) विद्याशास्त्रबोधम् । 'आङ्गूष' यह पद निघण्टु (४ । २) में पद-नामों में पठित है । पद=गति (ज्ञान, गमन, प्राप्ति) ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथा वयं सुवृक्तिभिः शवसानाय गिर्वणस ऋग्मियाय विश्रुताय स्तुवते नरेऽङ्गिरस्वदाङ्गूषं शूषं प्रमन्मह एवमर्कमर्चाम । तथैतं प्रति यूयमपि वर्त्तध्वम् ॥ १६ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! **यथा वयं सुवृक्तिभिः** सुष्ठु वृजते दोषान् यासु क्रियासु ताभिः, **शवसानाय** विज्ञानाय **गिर्वणसे** गिरः=सुशिक्षिता वाचो वनन्ति सम्भजन्ति वा तस्मै, **ऋग्मियाय** य ऋचो मिनोत्यधीते तस्मै, **विश्रुताय** विशेषेण श्रुता गुणा यस्मितस्मै, **स्तुवते** यः शास्त्रार्थान् स्तौति, **नरे** नायकाय **अङ्गिरस्वद्** प्राणवत् **आङ्गूषम्** विद्याशास्त्रबोधं **शूषं** बलं **प्रमन्महे** याचामहे; **एवमर्कम्** अर्चनीयम् **अर्चाम** सत्कुर्याम । **तथैतं प्रति यूयमपि वर्त्तध्वम्** ॥ ३४ । १६ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे हम—(सुवृक्तिभिः) अच्छे प्रकार दोषों को दूर करने वाली क्रियाओं से (शवसानाय) विज्ञान के लिए तथा (गिर्वणसे) सुशिक्षित वाणियों का सेवन करने वाले, (ऋग्मियाय) ऋचों का अध्ययन करने वाले, (विश्रुताय) विशेष प्रसिद्ध गुणों वाले, (स्तुवते) शास्त्रों के अर्थों की स्तुति करने वाले (नरे) नायक पुरुष के लिए (अङ्गिरस्वत्) प्राणों के तुल्य (आङ्गूषम्) विद्या शास्त्रबोध एवं (शूषम्) बल की (प्रमन्महे) याचना करते हैं;—तथा (अर्कम्) सत्कार करने योग्य का (अर्चाम) सत्कार करते हैं; वैसे इसके प्रति तुम भी वर्ताव करो ॥ ३४ । १६ ॥

भावार्थः—अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ । मनुष्यैः सत्करणीयस्य सत्कारं निरादरणीयस्य निरादरं कृत्वा विद्याधर्मौ सततं वर्द्धनीयौ ॥ ३४ । १६ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमा और वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । मनुष्य—सत्कार करने योग्य पुरुष का सत्कार और निरादर करने योग्य पुरुष का निरादर करके विद्या और धर्म को सदा बढ़ावें ॥ ३४ । १६ ॥

भा० पदार्थः—अर्कम्=सत्करणीयम् ।

भाष्यसार—१. **विद्या और धर्म की वृद्धि**--विद्वान् मनुष्य--दोषों को दूर करने वाली क्रियाओं से विज्ञान की प्राप्ति के लिए तथा सुशिक्षित वाणियों का सेवन करने वाले, ऋचाओं को पढ़ने वाले, विशेष प्रसिद्ध गुणों वाले, शास्त्रों के अर्थों की स्तुति करने वाले, नायक पुरुष के लिए प्राण के तुल्य

विद्याशास्त्र के बोध और बल की कामना करें। सत्कार करने योग्य पुरुष का सत्कार और निरादर करने योग्य पुरुष का निरादर करके विद्या और धर्म को सदा बढ़ावें ॥

२. **अलङ्कार**—इस मन्त्र में 'अङ्गिरस्वत्' पद में 'वत्' प्रत्यय उपमा-वाचक है; अतः उपमा अलंकार है। उपमा यह है कि विद्वान् लोग विद्याशास्त्र के बोध को तथा बल को प्राणों के तुल्य समझें और उसकी कामना करें। उपमा-वाचक पद को लुप्त मानकर वाचक लुप्तोपमा अलंकार भी है। उपमा यह है कि सब मनुष्य विद्वानों के तुल्य मन्त्रोक्त वर्त्ताव करें ॥ ३४ । १६ ॥ ●

नोधा । **छन्दः=पितरः** । निचृत्त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

अथ के पितरः सन्तीत्याह ॥

अब कौन पितर लोग हैं, यह उपदेश किया जाता है ॥

प्र वो॑ म॒हे महि॒ नमो॑ भरध्वमाङ्गू॒ष्य॑ꣳ शवसा॒नाय॒ साम॑ ।
येना॑ नः॒ पूर्वे॑ पि॒तरः॑ पद॒ज्ञा ऽ अर्च॑न्तो॒ ऽ आङ्गि॑रसो॒ गा ऽअवि॑न्दन् ॥ १७ ॥

पदार्थः—(**प्र**) (**वः**) युष्मभ्यम् (**महे**) महते (**महि**) महत्, सत्कारार्थम् (**नमः**) सत्कर्मान्नं वा (**भरध्वम्**) धरत (**आङ्गूष्यम्**) आङ्गूषाय=सत्काराय बलाय वा हितम् (**शवसानाय**) ब्रह्मचर्य्य-सुशिक्षाभ्यां शरीरात्मबलयुक्ताय (**साम**) सामवेदम् (**येन**) **अत्र संहितायामिति दीर्घः** । (**नः**) अस्माकमस्मान् वा (**पूर्वे**) पूर्वजाः (**पितरः**) पालका ज्ञानिनः (**पदज्ञाः**) ये पदं=ज्ञातव्यं प्रापणीयमात्मस्वरूपं जानन्ति ते (**अर्चन्तः**) सत्क्रियां कुर्वन्तः (**अङ्गिरसः**) सर्वस्याः सृष्टेर्विद्याङ्गविदः (**गाः**) सुशिक्षिता वाचः (**अविन्दन्**) लम्भयेरन् ॥ १७ ॥

प्रमाणार्थ—(**येन**) यहाँ संहिता में दीर्घ है—'येना' ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथा पदज्ञा नोऽस्मानर्चन्तोऽङ्गिरसः पूर्वे नः पितरो येन महे शवसानाय वश्चाऽऽङ्गूष्यं सामगाश्चाविन्दन् तेन तेभ्यो यूयं महि नमः प्रभरध्वम् ॥ १७ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे मनुष्याः ! यथा पदज्ञाः** ये पदं=ज्ञातव्यं प्रापणीयमात्मस्वरूपं जानन्ति ते **नः=अस्मान् अर्चन्तः** सत्क्रियां कुर्वन्तः, **अङ्गिरसः** सर्वस्याः सृष्टेर्विद्याङ्गविदः **पूर्वे** पूर्वजाः **नः** अस्माकं **पितरः** पालका ज्ञानिनः **येन महे** महते **शवसानाय** ब्रह्मचर्य्यसुशिक्षाभ्यां शरीरात्मबल-युक्ताय **वः** युष्मभ्यं **चाङ्गूष्यम्** आङ्गूषाय=सत्काराय बलाय वा हितं **साम** सामवेदं **गाः** सुशिक्षिता वाचः **चाविन्दन्** लम्भयेरन्; **तेन तेभ्यो यूयं महि** महत् सत्कारार्थं **नमः** सत्कर्मान्नं वा **प्रभरध्वं** धरत ॥ ३४ । १७ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे—(पदज्ञाः) पद=जानने एवं प्राप्त करने योग्य आत्मस्वरूप को जानने वाले लोग—(नः) हमारा (अर्चन्तः) सत्कार करते हुए, (अङ्गिरसः) सब सृष्टि के विद्या-अङ्ग के ज्ञाता (पूर्वे) पूर्वज लोग तथा (नः) हमारे (पितरः) पालक ज्ञानी लोग जिस कारण से (महे) महान् (शवसानाय) ब्रह्मचर्य और सुशिक्षा से शरीर और आत्मा के बल से युक्त पुरुष के लिए और (वः) तुम्हारे लिए (आङ्गूष्यम्) सत्कार वा बल के लिए हितकारी (साम) सामवेद को और (गाः) सुशिक्षित वाणियों को (अविन्दन्) प्राप्त कराते हैं; अतः उनके लिए तुम (महि) सत्कार के लिए महान् (नभः) सत्कर्म वा अन्न को (प्रभरध्वम्) धारण करो ॥ ३४ । १७ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। हे मनुष्याः! ये विद्वांसो युष्मान् विद्यासुशिक्षाभ्यां विपश्चितो धार्मिकान् कुर्युः, तानेव पूर्वाऽधीतविद्यान् पितॄन् विजानीत ॥ ३४ । १७ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। हे मनुष्यो! जो विद्वान् लोग तुम्हें विद्या और सुशिक्षा से विद्वान् धार्मिक बनावें उन ही प्रथम विद्या पढ़े हुए लोगों को पितर समझें ॥ ३४ । १७ ॥

भा० पदार्थः—पदज्ञाः=विद्वांसः। शवसानाय=विद्यासुशिक्षाभ्याम्। पितरः=अधीतविद्याः ॥

भाष्यसार—**१. कौन पितर हैं**—जो पद अर्थात् जानने एवं प्राप्त करने योग्य आत्म-स्वरूप के ज्ञाता, धार्मिकों का सत्कार करने वाले, सब सृष्टि के विद्या-अङ्ग को जानने वाले पूर्वज हैं; वे पितर कहलाते हैं। वे हमारे पालक और ज्ञानी होते हैं। वे ब्रह्मचर्य और सुशिक्षा के महान् शारीरिक और आत्मिक बल से युक्त पुरुष को तथा अन्य जनों को भी सत्कार वा बल के लिए हितकारी सामवेद और सुशिक्षित वाणियों को प्राप्त कराते हैं।

तात्पर्य यह कि जो विद्वान् विद्या और सुशिक्षा से मनुष्यों को विद्वान् और धार्मिक बनाते हैं, वे पहले विद्या पढ़े हुए विद्वान् ही पितर हैं। सब मनुष्य उनके लिए महान् सत्कर्म तथा अन्न को धारण करें। उनका सत्कार करें, भोजन आदि से सेवा करें।

२. अलङ्कार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलङ्कार है। उपमा यह है कि जैसे पितर-जन मनुष्यों को विद्या और सुशिक्षा प्रदान करें वैसे वे उनका सत्कार करें, उनकी भोजन आदि से सेवा करें ॥ ३४ । १७ ॥ ●

देवश्रवा देववातश्च भारतौ। **इन्द्रः**=आप्तः। निचृत् त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

अथाप्तलक्षणमाह ॥

अब आप्त का लक्षण कहते हैं ॥

इच्छन्ति त्वा सोम्यासः सखायः सुन्वन्ति सोमं दधति प्रयांसि।
तितिक्षन्ते ऽअभिशस्तिं जनानामिन्द्र त्वदा कश्चन हि प्रकेतः ॥ १८ ॥

पदार्थः—(**इच्छन्ति**) (**त्वा**) त्वाम् (**सोम्यासः**) सोमेष्वैश्वर्यादिषु साधवः (**सखायः**) सुहृदः सन्त (**सुन्वन्ति**) निष्पादयन्ति (**सोमम्**) ऐश्वर्यादिकम् (**दधति**) धरन्ति (**प्रयांसि**) कमनीयानि विज्ञानादीनि (**तितिक्षन्ते**) सहन्ते (**अभिशस्तिम्**) दुर्वचनवादम् (**जनानाम्**) मनुष्याणाम् (**इन्द्र**) राजन्! (**त्वत्**) तव सकाशात् (**आ**) समन्तात् (**कः**) (**चन**) अपि (**हि**) यतः (**प्रकेतः**) प्रकृष्टा केता=प्रज्ञा यस्य सः ॥ १८ ॥

अन्वयः—हे इन्द्र! ये सोम्यासः सखायः सोमं सुन्वन्ति प्रयांसि दधति जनानामभिशस्तिमा तितिक्षन्ते च तांस्त्वं सततं सत्कुरु हि यतस्त्वत् प्रकेतः कश्चन नास्ति तस्मात्सर्वे त्वा त्वामिच्छन्ति ॥ १८ ॥

सपदार्थान्वयः—हे इन्द्र! राजन्! **ये सोम्यासः** सोमेष्वैश्वर्य्यादिषु साधवः **सखायः** सुहृदः सन्तः **सोमम्** ऐश्वर्यादिकं **सुन्वन्ति** निष्पादयन्ति, **प्रयांसि** कमनीयानि विज्ञानादीनि **दधति**

भाषार्थ—हे (इन्द्र) राजन्! जो (सोम्यासः) ऐश्वर्य आदि में श्रेष्ठ (सखायः) मित्र जन—(सोमम्) ऐश्वर्य आदि को (सुन्वन्ति) निष्पन्न करते हैं; (प्रयांसि) कामना करने योग्य

धरन्ति, **जनानां** मनुष्याणां **अभिशस्तिम्** दुर्वचनवादम् **आ+तितिक्षन्ते** समन्तात्सहन्ते **च, तांस्त्वं सततं सत्कुरु।**

हि=यतस्त्वत् तव सकाशात् **प्रकेतः** प्रकृष्टा केता=प्रज्ञा यस्य सः, **कश्चन** अपि **नास्ति, तस्मात्सर्वे त्वा**=त्वामिच्छन्ति ॥ ३४ । १८ ॥

विज्ञान आदि को (दधति) धारण करते हैं; और (जनानाम्) मनुष्यों के (अभिशस्तिम्) दुर्वचन को (आ+तितिक्षन्ते) सब ओर से सहन करते हैं; उनका तू सदा सत्कार कर।

(हि) क्योंकि (त्वत्) तुझसे (प्रकेतः) उत्तम प्रज्ञा वाला (कश्चन) कोई नहीं है; अतः सब तुझे चाहते हैं ॥ ३४ । १८ ॥

भावार्थः—ये मनुष्या इह निन्दास्तुतिहानिलाभादीन् तितिक्षवः, पुरुषार्थिनः सर्वैः सह मैत्रीमाचरन्त आप्ताः स्युः, ते सर्वैः सेवनीयाः सत्कर्त्तव्याश्च । त एव सर्वेषामध्यापका उपदेष्टारश्च स्युः ॥ ३४ । १८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य यहाँ निन्दा—स्तुति, हानि-लाभ आदि को सहन करने वाले, पुरुषार्थी, सबके साथ मैत्री करने वाले आप्त हैं, उनकी सब सेवा करें और उनका सत्कार करें। वे ही सबके अध्यापक और उपदेष्टा हों ॥ ३४ । १८ ॥

भा० पदार्थः—अभिशस्तिम्=निन्दास्तुतिहानिलाभादीन् । सखायः=सर्वैः सह मैत्रीमाचरन्तः ।

भाष्यसार—**आप्त का लक्षण**—जो सोम=ऐश्वर्य आदि में श्रेष्ठ है, सबके साथ मैत्री करने वाले हैं; ऐश्वर्य आदि को उत्पन्न करने वाले अर्थात् पुरुषार्थी हैं, कामना करने योग्य विज्ञान आदि को धारण करते हैं, मनुष्यों के दुर्वचनों को सब ओर से सहन करते हैं अर्थात् निन्दा-स्तुति और हानि-लाभ आदि द्वन्द्वों का सहन करते हैं—वे आप्त कहलाते हैं। सब मनुष्य उनकी सेवा करें, उनका सत्कार करें। उक्त आप्त जन ही सब के अध्यापक और उपदेष्टा हों।

राजा से बढ़कर उत्तम प्रज्ञा वाला कोई नहीं होता। अतः राजा भी आप्त जनों का सत्कार करे। आप्त जन भी राजा की कामना करें ॥ ३४ । १८ ॥ ●

देवश्रवा देववातश्च भारतौ । **इन्द्रः**=**राजा** । निचृत्त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

पुनः सभाध्यक्षः किं कुर्य्यादित्याह ॥

फिर सभाध्यक्ष क्या करे, यह उपदेश किया है ॥

न ते॑ दू॒रे प॑र॒मा चि॒द्रजा॒ᳩस्या तु प्र या॑हि हरिवो॒ हरि॑भ्याम् ।
स्थि॒राय॒ वृष्णे॒ सव॑ना कृ॒तेमा यु॒क्ता ग्रावा॑णः समिधा॒ने ऽअ॒ग्नौ ॥ १९ ॥

पदार्थः—(**न**) निषेधे (**ते**) तव सकाशात् (**दूरे**) विप्रकृष्टे (**परमा**) परमाणि=दूरस्थानि (**चित्**) अपि (**रजांसि**) स्थानानि (**आ**) (**तु**) हेतौ (**प्र**) (**याहि**) गच्छ (**हरिवः**) प्रशस्तौ हरि विद्येते यस्य तत्सम्बुद्धौ (**हरिभ्याम्**) धारणाकर्षणवेगगुणैर्युक्ताभ्यां तुरङ्गाभ्यां जलाऽग्निभ्यां वा (**स्थिराय**) (**वृष्णे**) सुखसेचकाय पदार्थाय (**सवना**) प्रातःसवनादीनि कर्माणि (**कृता**) कृतानि (**इमा**) इमानि (**युक्ताः**) एकीभूताः (**ग्रावाणः**) गर्जनाकर्त्तारो मेघाः । **ग्रावेति मेघना० ॥ निघं० १ । १० ॥** (**समिधाने**) समिध्यमाने । **अत्र यको लुक्** (**अग्नौ**) ॥ १९ ॥

प्रमाणार्थ—(**ग्रावाणः**) गर्जनाकर्त्तारो मेघाः । 'ग्रावा' यह पद निघण्टु (१ । १०) में मेघ-नामों में पठित है । (**समिधाने**) समिध्यमाने यहाँ 'यक्' का लुक् है ।

अन्वयः—हे हरिवो राजन् ! यथा समिधानेऽग्नौ इमा सवना कृता तु ग्रावाणो युक्ता भूत्वाऽऽगच्छन्ति तथा स्थिराय वृष्णे हरिभ्यामाप्रयाहि। एवं कृतेमा परमा चिद्रजांसि ते दूरे न भवन्ति ॥ १९ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **हरिवः**=**राजन्** ! प्रशस्तौ हरी विद्येते यस्य तत्सम्बुद्धौ ! **यथा समिधाने** समिध्यमाने **अग्नौ इमा** इमानि **सवना** प्रातःसवनादीनि कर्माणि **कृता** कृतानि **तु** हेतौ **ग्रावाणः** गर्जनाकर्त्तारो मेघाः **युक्ताः** एकीभूताः **भूत्वाऽऽगच्छन्ति तथा स्थिराय वृष्णे** सुखसेचकाय पदार्थाय **हरिभ्यां** धारणाकर्षणवेगगुणैर्युक्ताभ्यां तुरङ्गाभ्यां जलाग्निभ्यां वा **आ+प्र+याहि** गच्छ।

एवं कृते परमा परमाणि=दूरस्थानि **चित्** अपि **रजांसि** स्थानानि **ते** तव सकाशात् **दूरे** विप्रकृष्टे **न भवन्ति**॥ ३४। १९॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। हे विद्वांसो ! यथापावकेनोत्पादिता वर्षिता मेघाः पृथिव्याः समीपे भवन्त्याकर्षणेन, दूरमपि गच्छन्ति, तथाऽग्न्यादियानैर्गमने कृते कोऽपि देशो दूरे न भवति एवं पुरुषार्थं कृत्वाऽलमैश्वर्याणि जनयत ॥३४।१९॥

भाषार्थ—हे (हरिवः) प्रशस्त दो घोड़ों वाले राजन् ! जैसे—(समिधाने) प्रदीप्त (अग्नौ) अग्नि में (इमा) ये (सवना) प्रातःसवन आदि कर्म (कृता) किये हैं; (तु) अतः (ग्रावाणः) गर्जना करने वाले मेघ (युक्ताः) इकट्ठे होकर आते हैं;—वैसे (स्थिराय) स्थिर (वृष्णे) सुखसेचक पदार्थ के लिए (हरिभ्याम्) धारण, आकर्षण और वेग गुणों से युक्त घोड़ों वा जल तथा अग्नि के द्वारा (आ+प्र+याहि) आइये।

ऐसा करने पर (परमा) दूरवर्ती (चित्) भी (रजांसि) स्थान (ते) तुझसे (दूरे) दूर नहीं रहते हैं॥ ३४। १९॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। हे विद्वानो ! जैसे अग्नि से उत्पन्न हुए तथा बरसे हुए बादल पृथिवी के समीप होते हैं, आकर्षण से दूर भी चले जाते हैं; वैसे अग्नि आदि यानों से यात्रा करने पर कोई भी देश दूर नहीं रहता है। इस प्रकार पुरुषार्थ करके पर्याप्त ऐश्वर्य को उत्पन्न करो॥ ३४। १९॥

भा० पदार्थः—ग्रावाणः=वर्षिता मेघाः। रजांसि=केऽपि देशाः।

भाष्यसार—**१. सभाध्यक्ष क्या करें**—जैसे प्रदीप्त अग्नि में ये प्रातःसवन आदि कर्म किये जाते हैं और उससे गर्जना करने वाले मेघ इकट्ठे होकर आते हैं; वैसे प्रशस्त घोड़ों वाला सभापति राजा--स्थिर, सुखदायक पदार्थों को प्रदान करने के लिए घोड़ों से आए। जल तथा अग्नि से युक्त यानों से यात्रा करे। ऐसा करने पर कोई भी देश दूर नहीं रहता। राजा—पुरुषार्थ करके पर्याप्त ऐश्वर्य को उत्पन्न करे।

२. अलङ्कार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि जैसे मेघ इकट्ठे होकर आते हैं वैसे सभाध्यक्ष राजा घोड़ों से दल सहित पधारे॥ ३४। १९॥

गोतमः। **सोमः**=**राजा सेनापतिर्वा**। निचृत्त्रिष्टुप्। धैवतः॥

अथ राजधर्मविषयमाह॥

अब राजधर्म विषय का उपदेश किया जाता है॥

अषा॑ढं यु॒त्सु पृत॑नासु॒ पप्रि॑ꣳ स्व॒र्षाम॒प्सां वृ॒जन॑स्य गो॒पाम् ।
भ॒रे॒षु॒जाꣳ सु॑क्षि॒तिꣳ सु॒श्रव॑सं॒ जय॑न्तं॒ त्वामनु॑ मदेम सोम ॥ २० ॥

पदार्थः—(**अषाढम्**) सोढुमनर्हम् (**युत्सु**) युद्धेषु (**पृतनासु**) मनुष्यसेनासु (**पप्रिम्**) पूर्णबलविद्यं पालकं वा (**स्वर्षाम्**) यः स्वः=सुखं सनति=सम्भजति तम् (**अप्साम्**) योऽपो=जलानि प्राणान् सनोति=ददाति तम् (**वृजनस्य**) बलस्य (**गोपाम्**) रक्षकम् (**भरेषुजाम्**) भरेषु=भरणीयेषु सङ्ग्रामेषु जेतारम् (**सुक्षितिम्**) शोभना क्षितिः=पृथिवीराज्यं यस्य तम् । **क्षितिरिति पृथिवीना० ॥ निघं० १ । १ ॥** (**सुश्रवसम्**) शोभनानि श्रवांस्यन्नानि यशांसि वा यस्य तम् (**जयन्तम्**) शत्रूणां विजेतारम् (**त्वाम्**) (**अनु**) पश्चात् (**मदेम**) (**सोम**) सकलैश्वर्यसम्पन्न ! ॥ २० ॥

प्रमाणार्थ—(**सुक्षितिम्**) शोभना क्षितिः=पृथिवी राज्यं यस्य तम् । 'क्षिति' यह पद निघण्टु (१ । १) में पृथिवी-नामों में पठित है ॥

अन्वयः—हे सोम राजन् सेनापते वा वयं यं युत्स्वषाढं पृतनासु पप्रिं स्वर्षामप्सां वृजनस्य गोपां भरेषुजां सुक्षितिं सुश्रवसं जयन्तं त्वामनु मदेम ॥ २० ॥

सपदार्थान्वयः—**हे सोम राजन् सेनापते वा** सकलैश्वर्य्यसम्पन्न ! **वयं यं युत्सु** युद्धेषु **अषाढं** सोढुमनर्हं **पृतनासु** मनुष्यसेनासु **पप्रिं** पूर्णबलविद्यं पालकं वा, **स्वर्षां** यः स्वः=सुखं सनति=सम्भजति तम्, **अप्सां** योऽपो=जलानि प्राणान् सनोति=ददाति तं, **वृजनस्य** बलस्य **गोपां** रक्षकं, **भरेषुजां** भरेषु=भरणीयेषु सङ्ग्रामेषु जेतारं, **सुक्षितिं** शोभना क्षितिः=पृथिवीराज्यं यस्य तं, **सुश्रवसं** शोभनानि श्रवांस्यन्नानि यशांसि वा यस्य तं, **जयन्तं** शत्रूणां विजेतारं **त्वामनु-मदेम** ॥ ३४ । २० ॥

भावार्थः—यस्य राज्ञः सेनापतेर्वोत्तमस्वभावेन राजसेनाः प्रजाजनाः प्रीताः स्युः, येषु प्रीतेषु राजा प्रीतः स्यात्, तत्र ध्रुवो विजयो, निश्चलं परमैश्वर्यं, पुष्कला प्रतिष्ठा च भवति ॥ ३४।२० ॥

भाषार्थ—हे (सोम) सकल ऐश्वर्य से सम्पन्न राजन् वा सेनापते ! हम—(युत्सु) युद्धों में (अषाढम्) असह्य, (पृतनासु) मनुष्यों की सेनाओं में (पप्रिम्) पूर्ण बल, विद्या वाले पालक, (स्वर्षाम्) स्वः=सुख का सेवन करने वाले, (अप्साम्) अप=जल वा प्राण प्रदान करने वाले, (वृजनस्य) बल के (गोपाम्) रक्षक, (भरेषुजाम्) संग्रामों में जीतने वाले, (सुक्षितिम्) उत्तम क्षिति=पृथिवी-राज्य वाले, (सुश्रवसम्) उत्तम श्रवः=अन्न वा यश वाले (जयन्तम्) शत्रुओं के विजेता—व आपके (अनुमदेम) साथ हर्षित हों ॥ ३४ । २० ॥

भावार्थ—जिस राजा वा सेनापति के स्वभाव से राजा की सेनाएँ एवं प्रजा-जन प्रसन्न हों, जिनके प्रसन्न होने पर राजा प्रसन्न हो, वहाँ निश्चित विजय, निश्चल परम ऐश्वर्य और पुष्कल प्रतिष्ठा होती है ॥ ३४ । २० ॥

भा० पदार्थः—जयन्तम्=ध्रुवो विजयः । सुक्षितिम्=निश्चल परमैश्वर्यम् । सुश्रवसम्=पुष्कला प्रतिष्ठा ।

भाष्यसार—**राजधर्म का उपदेश**—सकल ऐश्वर्य से सम्पन्न राजा वा सेनापति—युद्धों में असह्य शक्ति वाला हो, मनुष्यों की सेनाओं में पूर्ण बल और विद्या वाला हो, पालक हो, सुख का सेवन करने वाला हो, जल और प्राणों का दान करने वाला हो, बल का रक्षक हो, संग्रामों में विजय को प्राप्त करने वाला हो, उत्तम पृथिवी-राज्य वाला हो, उत्तम अन्न तथा यश वाला हो, शत्रुओं का विजेता हो ।

राजा और सेनापति के स्वभाव से राजा की सेना और प्रजा जन प्रसन्न रहें। उनकी प्रसन्नता में राजा भी प्रसन्न रहे। राजा और प्रजा को ऐसा व्यवहार होने से—निश्चित विजय, निश्चल परम ऐश्वर्य और पुष्कल प्रतिष्ठा होती है ॥ ३४ । २० ॥

गोतमः । **सोमः**=राजा । भुरिक् पङ्क्तिः । धैवतः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

राजधर्म का फिर उपदेश किया है ॥

सोमो धेनुꣳ सोमो ऽ अर्वन्तमाशुꣳ सोमो वीरं कर्मण्यं ददाति ।
सादन्यं विदथ्यꣳ सभेयं पितृश्रवणं यो ददाशदस्मै ॥ २१ ॥

पदार्थः—(**सोमः**) ऐश्वर्यवान् (**धेनुम्**) विद्याधारां वाचम् (**सोमः**) सत्याचारे प्रेरकः (**अर्वन्तम्**) वेगेन गच्छन्तमश्वम् (**आशुम्**) मार्गान् सद्योऽश्नुवन्तम् (**सोमः**) शरीरात्मबलम् (**वीरम्**) शत्रु-बलानि व्याप्नुवन्तम् (**कर्मण्यम्**) कर्मणा सम्पन्नम् (**ददाति**) (**सादन्यम्**) सादनेषु=स्थापनेषु साधु (**विदथ्यम्**) विदथे=यज्ञे साधुम् (**सभेयम्**) सभायां साधुम् (**पितृश्रवणम्**) पितुः सकाशाच्छ्रवणं यस्य तम् (**यः**) (**ददाशत्**) ददाति (**अस्मै**) सोमाय राज्ञेऽध्यापकायोपदेशकाय वा ॥ २१ ॥

अन्वयः—यो मनुष्योऽस्मै सोमायोचितं ददाशत्तस्मै सोमो धेनुं ददाति सोमोऽर्वन्तमाशु ददाति सोमः कर्मण्यं सादन्यं विदथ्यं पितृश्रवणं सभेयं वीरं च ददाति ॥ २१ ॥

सपदार्थान्वयः—**यो मनुष्योऽस्मै**=**सोमाय** सोमाय राज्ञेऽध्यापकायोपदेशकाय वा **उचितं ददाशत्** ददाति, **तस्मै सोमः** ऐश्वर्यवान **धेनुं** विद्या-धारां वाचं **ददाति । सोमः** सत्याचारे प्रेरकः **अर्वन्तं** वेगेन गच्छन्तमश्वम् **आशुं** मार्गान् सद्योऽश्नुवन्तं **ददाति । सोमः** शरीरात्मबलं **कर्मण्यं** कर्मणा सम्पन्नं **सादन्यं** सादनेषु=स्थापनेषु साधुं **विदथ्यं** विदथे=यज्ञे साधुं **पितृश्रवणं** पितुः सकाशाच्छ्रवणं यस्य तं **सभेयं** सभायां साधुं **वीरं** शत्रुबलानि व्याप्नुवन्तं **च ददाति** ॥ ३४ । २१ ॥

भाषार्थ—जो मनुष्य (अस्मै) इस सोम=राजा, अध्यापक अथवा उपदेशक को उचित वस्तु (ददाशत्) देता है; उसे (सोमः) ऐश्वर्यवान् अध्यापक (धेनुम्) विद्या को धारण करने वाली वाणी (ददाति) देता है। (सोमः) सत्य आचरण में प्रेरणा करने वाला राजा उसे (अर्वन्तम्) वेग से चलने वाला (आशुम्) मार्गों को शीघ्र व्याप्त करने वाला घोड़ा (ददाति) देता है। (सोमः) शरीर और आत्मा के बल से युक्त राजादि—(कर्मण्यम्) कर्म से युक्त=पुरुषार्थी, (सादन्यम्) बैठाने में प्रवीण, (विदथ्यम्) यज्ञ करने में कुशल, (पितृ-श्रवणम्) पिता से शिक्षा श्रवण करने वाले, (सभेयम्) सभ्य (वीरम्) शत्रु-बलों को व्याप्त करने वाले वीर पुरुष को (ददाति) प्रदान करता है ॥ ३४ । २१ ॥

भावार्थः—येऽध्यापकोपदेशका राजपुरुषा वा सुशिक्षितां वाचमग्न्यादितत्त्वविद्यां पुरुषज्ञानं सभ्यतां च सर्वेभ्यः प्रदद्युस्ते सर्वैः सत्कर्त्तव्याः स्युः ॥ ३४ । २१ ॥

भावार्थ—जो अध्यापक, उपदेशक वा राजपुरुष—सुशिक्षित वाणी, अग्नि आदि तत्त्वों की विद्या, पुरुष का ज्ञान और सभ्यता सबको प्रदान करते हैं; वे सबके लिए सत्कार के योग्य हैं ॥२१॥

भा० पदार्थः—धेनुम्=सुशिक्षितां वाचम् । अर्वन्तम्=अग्न्यादितत्त्वविद्याम् । पितृश्रवणं=पुरुषज्ञानम् । सभेयम्=सभ्यताम् ॥

भाष्यसार—**राजधर्म का उपदेश**—जो मनुष्य राजा, अध्यापक वा उपदेशक को उचित वस्तु देता है; उसे ऐश्वर्यवान् अध्यापक विद्या को धारण करने वाली वाणी देता है। सत्य आचरण में प्रेरणा करने वाला राजा—उसे वेग से चलने वाला एवं मार्गों को शीघ्र व्याप्त करने वाला घोड़ा देता है। शरीर और आत्मा से बल से युक्त राजा आदि—उसे पुरुषार्थी बैठाने आदि कार्यों में कुशल, यज्ञ करने में कुशल, पिता से शिक्षा श्रवण करने वाला, सभ्य वीर पुरुष प्रदान करता है।

जो अध्यापक, उपदेशक अथवा राजपुरुष सुशिक्षित वाणी, अग्नि आदि तत्त्वों की विद्या, पुरुषज्ञान और सभ्यता सबको प्रदान करते हैं; वे सब के सत्करणीय होते हैं ॥ ३४ । २१ ॥

गोतमः । **सोमः**=राजा । निचृत्त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

राजधर्म का फिर उपदेश किया है ॥

त्वमिमा ऽ ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो ऽ अजनयस्त्वं गाः ।
त्वमा ततन्थोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ ॥ २२ ॥

पदार्थः—(**त्वम्**) (**इमाः**) (**ओषधीः**) सोमाद्याः (**सोम**) सोमवल्लीव सर्वरोगविनाशक ! (**विश्वाः**) सर्वाः (**त्वम्**) (**अपः**) जलानि कर्म वा (**अजनयः**) जनयेः (**त्वम्**) (**गाः**) पृथिवीर्धेनूः वा (**त्वम्**) (**आ**) (**ततन्थ**) तनोषि (**उरु**) बहु (**अन्तरिक्षम्**) जलमाकाशं वा (**त्वम्**) (**ज्योतिषा**) प्रकाशेन (**वि**) (**तमः**) अन्धकारं रात्रिम् (**ववर्थ**) वृणोषि ॥ २२ ॥

अन्वयः—हे सोम राजन् ! यस्त्वं विश्वा इमा ओषधीस्त्वं सूर्यइवाऽपस्त्वं गाश्चाऽजनयस्त्वं सूर्य्य उर्वन्तरिक्षमा ततन्थ सविता ज्योतिषा तम इव न्यायेनाऽन्यायं विववर्थ स त्वमस्माभिर्माननीयोऽसि ॥ २२ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **सोम**=राजन् सोमवल्लीव सर्वरोगविनाशक ! **यस्त्वं विश्वाः** सर्वाः **इमा ओषधीः** सोमाद्याः **त्वं सूर्य इवाऽपः** जलानि कर्मवा **त्वं गाः** पृथिवीर्धेनूः वा **चाऽजनयः** जनयेः; **त्वं सूर्य्य उरु** बहु **अन्तरिक्षं** जलमाकाशं वा **आ+ततन्थ** तनोषि; **सविता ज्योतिषा** प्रकाशेन **तमः** अन्धकारं रात्रिम् **इव न्यायेनाऽन्यायं वि+ववर्थ** वृणोषि, **स त्वमस्माभिर्माननीयोऽसि** ॥ ३४ । २२ ॥

भाषार्थ—हे (सोम) सोमलता के तुल्य सब रोगों के विनाशक राजन् ! जो तू—(विश्वाः) सब (इमाः) इन (ओषधीः) सोम आदि ओषधियों को; तू—सूर्य के तुल्य (अपः) जलों वा कर्म को; और तू—(गाः) पृथिवी वा गौओं को (अजनयः) उत्पन्न करता है; तू—सूर्य के तुल्य (उरु) विस्तृत (अन्तरिक्षम्) जल वा आकाश को (आ+ततन्थ) सब ओर विस्तृत करता है; और जैसे सूर्य (ज्योतिषा) प्रकाश से (तमः) अन्धकार तथा रात्रि को निवृत्त करता है; वैसे न्याय से अन्याय को (वि+ववर्थ) हटाता है; सो तू हमारा माननीय है ॥ ३४ । २२ ॥

भावार्थः—ये जना ओषध्यो रोगानिव दुःखानि हरन्ति, प्राणा इव बलं जनयन्ति, ये राजजनाः सूर्यो रात्रिमिवाऽधर्माऽविद्याऽन्धकारं निवर्त्तयन्ति, ते जगत्पूज्याः कुतो न स्युः ॥३४।२२॥

भावार्थ—जो मनुष्य—जैसे ओषधियाँ रोगों को हरती हैं, वैसे दुःखों को हरते हैं; प्राणों के तुल्य बल को उत्पन्न करते हैं; और जा राजपुरुष—जैसे सूर्य रात्रि को निवृत्त करता है; वैसे अधर्म और अविद्या के अन्धकार को हटाते हैं; वे जगत् के पूज्य क्यों न हों ॥ ३४ । २२ ॥

भा० पदार्थः—अपः=प्राणाः । तमः=अधर्माविद्याऽन्धकारम् ॥

भाष्यसार—**राजधर्म का उपदेश**—सोमलता के तुल्य सब रोगों का विनाश करने वाला राजा—सब सोमलता आदि ओषधियों को उत्पन्न करे । सूर्य के तुल्य जलों वा कर्मों को उत्पन्न करे। पृथिवी और दुधारु गौओं को उत्पन्न करे। सूर्य के तुल्य जल वा आकाश को विस्तृत करे। जैसे सूर्य प्रकाश से अन्धकार एवं रात्रि को दूर करता है वैसे राजा न्याय से अन्याय अर्थात् अधर्म और अविद्या के अन्धकार को दूर करे। उक्त राजा जगत् का पूज्य होता है ॥ ३४ । २२ ॥ ●

गोतमः । **सोमः=राजा** । निचृत्त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

राजधर्म का फिर उपदेश किया है ॥

देवेन॑ नो॒ मन॑सा देव सोम रा॒यो भा॒गꣳ स॑हसावन्न॒भि यु॑ध्य ।
मा त्वा तन॒दीशि॑षे वी॒र्य॒स्यो॒भये॑भ्यः॒ प्र चि॑कित्सा॒ गवि॑ष्टौ ॥ २३ ॥

पदार्थः—(**देवेन**) दिव्यगुणकर्मस्वभावयुक्तेन (**नः**) अस्मभ्यम् (**मनसा**) (**देव**) दिव्यगुणसम्पन्न (**सोम**) अखिलैश्वर्यप्रापक ! (**रायः**) धनस्य (**भागम्**) सेवनीयमंशम् (**सहसावन्**) सहोऽधिकं बलं विद्यते यस्य तत्सम्बुद्धौ । अत्र प्रथमार्थे तृतीयाया अलुक् (**अभि**) आभिमुख्ये (**युध्य**) योधय=गमय । अत्र अन्तर्भावितण्यर्थः । युध्यतिर्गतिकर्मा निघं० २ । १४ ॥ (**मा**) निषेधे (**त्वा**) त्वाम् (**आ**) (**तनत्**) सङ्कुचेत् । अत्रोपसर्गाच्चादैर्घ्य इत्याद्यृषीयपाठात्तनुधातोः स्वगणे लेट् प्रयोगः समर्थो भवति (**ईशिषे**) (**वीर्य्यस्य**) वीरकर्मणः । अत्राधीगर्थदयेशां कर्मणि ॥ २ । ३ । ५२ ॥ इति कर्मणि षष्ठी (**उभयेभ्यः**) ऐहिकपारमार्थिकसुखेभ्यः (**प्र**) (**चिकित्स**) रोगनिवारणायेव विघ्ननिवारणोपायं कुरु । अत्र संहितायामिति दीर्घः (**गविष्टौ**) गोः=स्वर्गस्य सुखविशेषस्येष्टाविच्छायां सत्याम् ॥ ॥ २३ ॥

प्रमाणार्थ—(**सहसावन्**) यहाँ प्रथमा विभक्ति के अर्थ में तृतीया विभक्ति का अलुक् है। (**युध्य**) योधय=गमय । यहाँ 'णिच्' प्रत्यय का अर्थ अन्तर्भावित है। 'युध' धातु निघण्टु (२ । १४) में गत्यर्थक है। (**तनत्**) यहाँ 'उपसर्गाच्चादैर्घ्य०' इत्यादि ऋषीयपाठ से 'तनु' धातु का अपने गण में लेट् लकार का प्रयोग समर्थ होता है। (**वीर्यस्य**) वीरकर्मणः । यहाँ 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' (अ० २।३।५२) इस सूत्र से कर्म में षष्ठी विभक्ति है ॥

अन्वयः—हे सहसावन्त्सोम देव राजन् ! यस्त्वं देवेन मनसा रायो भागं नोऽभियुध्य यतस्त्वं वीर्य्यस्येशिषे त्वा कश्चिन्मा आतनत् स त्वं गविष्टावुभयेभ्यः प्रचिकित्स ॥ २३ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **सहसावन्** सहोऽधिकं बलं विद्यते यस्य तत्सम्बुद्धौ, **सोम** अखिलै-

भाषार्थ—हे (सहसावन्) सह=अधिक बल वाले, (सोम) अखिल ऐश्वर्य के प्रापक, (देव)

ऐश्वर्यप्रापक **देव** ! दिव्य गुणसम्पन्न **राजन्** ! **यस्त्वं देवेन** दिव्यगुणकर्मस्वभावयुक्तेन **मनसा रायः** धनस्य **भागं** सेवनीयमंशं **नः** अस्मभ्यम् **अभि+युध्य** आभिमुखं योधय=गमय; **यतस्त्वं वीर्य्यस्य** वीरकर्मणः **ईशिषे त्वा** त्वां **कश्चिन्मा** न **आतनत्** सङ्कुचेत्; **स त्वं गविष्टौ** गोः=स्वर्गस्य सुखविशेषस्येष्टाविच्छायां सत्याम् **उभयेभ्यः** ऐहिकपारमार्थिकसुखेभ्यः **प्रचिकित्स** रोगनिवारणायेव विघ्ननिवारणोपायं कुरु ॥ ३४ । २३ ॥

दिव्य गुणों से सम्पन्न राजन् ! जो तू—(देवेन) दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव से युक्त मन से (रायः) धन के (भागम्) सेवनीय अंश को (नः) हमारे लिए (अभि+युध्य) सम्मुख प्राप्त करा। क्योंकि तू—(वीर्यस्य) वीर-कर्म का (ईशिषे) स्वामी है; (त्वा) तुझे कोई (मा, आतनत्) संकुचित नहीं करता है; नहीं दबाता है। सो तू—(गविष्टौ) गौ=स्वर्ग अर्थात् सुखविशेष की इष्टि=इच्छा होने पर (उभयेभ्यः) ऐहिक और पारमार्थिक दोनों सुखों के लिए (प्रचिकित्स) रोगनिवारण के तुल्य विघ्न-निवारण का उपाय कर ॥ ३४ । २३ ॥

भावार्थः—राजादिविद्वद्भिः कपटादिदोषान् विहाय शुद्धेन भावेन सर्वेभ्यः सुखमभिलष्य वीर्यं वर्द्धनीयम्, येन दुःखनिवृत्तिः सुखवृद्धिरिहामुत्र च स्यात्तत्र सततं प्रयतितव्यम् ॥ ३४ । २३ ॥

भावार्थ—राजा आदि विद्वान्—कपट आदि दोषों को छोड़कर, शुद्ध भाव से सब के लिए सुख की अभिलाषा कर, वीर्य=बल को बढ़ावें। जिससे दुःख की निवृत्ति तथा सुख की वृद्धि इस लोक में और परलोक में होवे, उसमें सदा प्रयत्न करें ॥ ३४ । २३ ॥

भा० पदार्थः—देवेन=शुद्धेन। मनसा=भावेन। भागम्=सुखम्। अभियुध्य=अभिलष्य। उभयेभ्यः=दुःखनिवृत्तये, सुखवृद्धये ॥

भाष्यसार—राजधर्म का उपदेश—अधिक बल वाला, अखिल ऐश्वर्य को प्राप्त करने वाला, दिव्य गुणों से सम्पन्न राजा—दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव से युक्त मन से धन के सेवन करने योग्य अंश को हमें प्राप्त करावे। वह वीर-कर्म का स्वामी हो। उसे कोई संकुचित न कर सके, उसे कोई दबावे नहीं। वह—स्वर्ग की इच्छा होने पर ऐहिक और पारमार्थिक सुखों की प्राप्ति के लिए रोग-निवारण के तुल्य सब विघ्नों का निवारण करे।

राजा आदि विद्वान् लोग—कपट आदि दोषों को छोड़कर शुद्ध मन से सबके लिए सुख की अभिलाषा करें। वीर्य (बल) को बढ़ावें। दुःख की निवृत्ति और सुख की वृद्धि के लिए सदा प्रयत्न करें ॥ ३४ । २३ ॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूपः । **सविता**=सूर्यः । भुरिक् पङ्क्तिः । पञ्चमः ॥

अथ सूर्यः किं करोतीत्याह ॥

अब सूर्य क्या करता है, यह उपदेश किया जाता है ॥

अष्टौ व्यख्यत्ककुभः पृथिव्यास्त्री धन्व योजना सप्त सिन्धून् ।
हिरण्याक्षः सविता देव ऽ आगाद्दधद्रत्ना दाशुषे वार्य्याणि ॥ २४ ॥

पदार्थः—(**अष्टौ**) (**वि**) (**अख्यत्**) विख्यापयति (**ककुभः**) सर्वा दिशः। **ककुभ इति दिङ्ना०** ॥ **निघं० १ । ६** ॥ (**पृथिव्याः**) भूमेः सम्बन्धिनीः (**त्री**) त्रीणि (**धन्व**) **धन्वेत्यन्तरिक्षना०** ॥ **निघं १ । ३** ॥

(योजना) योजनानि **(सप्त, सिन्धून्)** भौमसमुद्रमारभ्य मेघादूर्ध्वाऽवयवपर्यन्तान् सागरान् **(हिरण्याक्षः)** हिरण्यानि=ज्योतींषि अक्षीणीव यस्य सः **(सविता)** सूर्यः **(देवः)** द्योतकः **(आ)** **(अगात्)** आगच्छति **(दधत्)** दधानः सन् **(रत्ना)** रमणीयानि पृथिवीस्थानि **(दाशुषे)** दानशीलाय जीवाय **(वार्याणि)** वर्तुं= स्वीकर्त्तुं योग्यानि ॥ २४ ॥

प्रमाणार्थ—(ककुभः) सर्वा दिशः । 'ककुभ' यह पद निघण्टु (१ । ६) में दिक्-नामों में पठित है—दिक्=दिशा । **(धन्व)** 'धन्व' यह पद निघण्टु (१ । ३) में अन्तरिक्ष-नामों में पठित है—अन्तरिक्ष=आकाश ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथा हिरण्याक्षो देवः सविता दाशुषे वार्य्याणि रत्ना दधत् त्री धन्व योजना सप्त सिन्धून् पृथिव्या अष्टौ ककुभो व्यख्यदागाच्च तथैव यूयं भवत ॥ २४ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे मनुष्याः ! यथा हिरण्याक्षः** हिरण्यानि=ज्योतींषि अक्षीणीव यस्य सः **देवः** द्योतकः **सविता** सूर्यः **दाशुषे** दानशीलाय जीवाय **वार्याणि** वर्तुं=स्वीकर्त्तुं योग्यानि **रत्ना** रमणीयानि पृथिवीस्थानि **दधत्** दधानः सन् **त्री** त्रीणि **धन्व योजना** योजनानि **सप्त सिन्धून्** भौमसमुद्रमारभ्य मेघादूर्ध्वाऽवयवपर्यन्तान् सागरान् **पृथिव्याः** भूमेः सम्बन्धिनीः **अष्टौ ककुभः** सर्वा दिशः **व्यख्यत्** विख्यापयति, **आगात्** आगच्छति **च तथैव यूयं भवत** ॥ ३४ । २४ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे—(हिरण्याक्षः) नेत्रों के तुल्य ज्योतियों वाला, (देवः) प्रकाशक, (सविता) सूर्य—(दाशुषे) दानशील जीव के लिए (वार्याणि) स्वीकार करने योग्य (रत्ना) पृथिवी-स्थ रमणीय रत्नों को (दधत्) धारण करता हुआ—(त्री) तीन (धन्व) अवकाश रूप (योजन) योजन, (सप्त) सात (सिन्धून्) भूमि के समुद्र से लेकर मेघ के ऊपर के अवयवों तक सागरों, (पृथिव्याः) पृथिवी सम्बन्धी (अष्टौ) आठ (कुकुभः) दिशाओं को (व्यख्यत्) विख्यात करता है; और (आगात्) आता है; वैसे ही तुम भी बनो ॥ ३४ । २४ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यथा सूर्येण पृथिवीमारभ्य द्वादशक्रोशपर्यन्तगुरुत्वलघुत्वयुतानां सप्तविधानामपामवयवाः सर्वा दिशश्च विभज्यन्ते, वर्षादिना सर्वेभ्यः सुखं दीयते, तथा—शुभगुणकर्मस्वभावैर्दिगन्तां कीर्तिं सम्पाद्य, विविधैश्वर्यदानेन मनुष्यादीन् प्राणिनः सततं सुखयत ॥ ३४ । २४ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे सूर्य—पृथिवी से लेकर बारह कोस तक गुरुत्व तथा लघुत्व से युक्त सात प्रकार के जलों के अवयवों और सब दिशाओं को विभक्त करता है; वर्षा आदि से सब को सुख देता है; वैसे—शुभ गुण-कर्म स्वभाव से दिगन्त कीर्ति को प्राप्त करके, विविध ऐश्वर्य के दान से मनुष्य आदि प्राणियों को सदा सुखी करो ॥ ३४ । २४ ॥

भाष्यसार—**सूर्य क्या करता है**—विविध ज्योतियाँ (किरणें) जिसकी आँखों के तुल्य हैं; वह प्रकाशक सूर्य—दानशील (होता) जन के लिए—वरण करने योग्य, पृथिवीस्थ रत्नों को धारण करता है । पृथिवी से लेकर तीन योजन अर्थात् बारह कोस पर्यन्त मेघ के ऊपर के अवयवों तक सात सागरों (सात प्रकार के जल) को विभक्त करता है । पृथिवी सम्बन्धी सब दिशाओं को विभक्त करता है । वर्षा आदि से सब को सुख देता है । सब मनुष्य—सूर्य के तुल्य गुण-कर्म-स्वभाव से दिगन्त कीर्ति को फैलाकर, विविध ऐश्वर्य के दान से प्राणियों को सदा सुखी करें ॥ ३४ । २४ ॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूपः । **सविता=सूर्यः** । निचृज्जगती । निषादः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

सूर्य क्या करता है, यह फिर उपदेश किया है ॥

हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिरुभे द्यावापृथिवी ऽ अन्तरीयते ।
अपामीवां बाधते वेति सूर्य्यमभि कृष्णेन रजसा द्यामृणोति ॥ २५ ॥

पदार्थः—(**हिरण्यपाणिः**) हिरण्यं=ज्योतिः पाणिरिव यस्य सः (**सविता**) ऐश्वर्यप्रदः (**विचर्षणिः**) विशेषेण दर्शकः (**उभे**) (**द्यावापृथिवी**) प्रकाशभूमी (**अन्तः**) मध्ये (**ईयते**) प्राप्य गच्छति (**अप**) दूरीकरणे (**अमीवाम्**) व्याधिरूपमन्धकारम् (**बाधते**) दूरीकरोति (**वेति**) अस्तमेति (**सूर्य्यम्**) सवितृलोकः । अत्र विभक्तिव्यत्ययः (**अभि**) सर्वतः (**कृष्णेन**) कृष्णवर्णेन (**रजसा**) अन्धकारलक्षणेन (**द्याम्**) (**ऋणोति**) गच्छति=प्राप्नोति । ऋणोतीति गतिकर्मा० २ । १४ ॥ २५ ॥

प्रमाणार्थ—(**सूर्यम्**) सवितृलोकः । यहाँ विभक्ति का व्यत्यय है । प्रथमा विभक्ति के स्थान में द्वितीया विभक्ति है । (**ऋणोति**) गच्छति=प्राप्नोति । 'ऋणोति' यह पद निघण्टु (२ । १४) में 'गत्यर्थक' क्रियाओं में पठित है ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यो हिरण्यपाणिर्विचर्षणिः सविता सूर्य्यं यदोभे द्यावापृथिवी अन्तरीयते तदाऽमीवामपबाधते यदा च वेति तदा कृष्णेन रजसा द्यामभि ऋणोति तं यूयं विजानीत ॥२५॥

सपदार्थान्वयः—हे **मनुष्याः** ! **यो हिरण्यपाणिः** हिरण्यं=ज्योतिः पाणिरिव यस्य सः, **विचर्षणिः** विशेषेण दर्शकः, **सविता** ऐश्वर्यप्रदः, **सूर्यं** सवितृलोकः **यदोभे द्यावापृथिवी** प्रकाशभूमी **अन्तः** मध्ये **ईयते** प्राप्य गच्छति; **तदामीवाम्** व्याधिरूपमन्धकारम् **अपबाधते** दूरीकरोति ।

यदा च वेति अस्तमेति; **तदा कृष्णेन** कृष्णवर्णेन **रजसा** अन्धकारलक्षणेन **द्यामभि+ऋणोति** सर्वतः गच्छति=प्राप्नोति **तं यूयं विजानीत** ॥२५॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यथा सूर्यः सन्निहिताँल्लोकानाकृष्य धरति; तथैवऽनेकलोकाऽलंकृतं सूर्यादिकं सर्वं जगदभिव्याप्याऽऽकृष्येश्वरो दधातीति यूयं विजानीत ।

नहीश्वरमन्तरेण सर्वस्य विधाता धर्ता अन्यः कश्चित् सम्भवितुमर्हति ॥ ३४ । २५ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जो (हिरण्यपाणिः) जिसकी ज्योति पाणि=हाथ के तुल्य है वह; (विचर्षणिः) विशेष दर्शक, (सविता) ऐश्वर्य प्रदान करने वाला (सूर्यम्) सूर्यलोक—जब (उभे) दोनों (द्यावापृथिवी) प्रकाश और भूमि के (अन्तः) मध्य में (ईयते) प्राप्त होकर गति करता है; तब (अमीवाम्) व्याधि रूप अन्धकार को (अप+बाधते) दूर करता है ।

जब (वेति) अस्त होता है; तब (कृष्णेन) कृष्ण वर्ण के (रजसा) अन्धकार रूप रज से (द्याम्) प्रकाश को (अभि+ऋणोति) सब ओर से घेर लेता है; उसे तुम जानो ॥ ३४ । २५ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे सूर्य निकटवर्ती लोकों को आकर्षण से धारण करता है; वैसे ही अनेक लोकों से अलंकृत सूर्य आदि सकल जगत् को व्याप्त करके तथा आकर्षण करके ईश्वर धारण कर रहा है; ऐसा तुम जानो ।

ईश्वर के विना सब का विधाता, और धर्त्ता अन्य कोई नहीं हो सकता ॥ ३४ । २५ ॥

भाष्यसार—सूर्य क्या करता है—जिसकी ज्योति (किरण) हाथ के तुल्य हैं, वह विशेष रूप से दर्शक, ऐश्वर्य प्रदान करने वाला सूर्य—प्रकाश और भूमि के मध्य में प्राप्त होकर गति करता है। व्याधि रूप अन्धकार को दूर करता है। जब वह अस्त होता है तब काले रंग के अन्धकार से प्रकाश को सब ओर से घेर लेता है।

सूर्य निकटवर्ती लोकों को आकर्षण से धारण करता है। अनेक लोकों से अलंकृत सूर्य आदि सब जगत् को व्याप्त करके तथा आकर्षण से ईश्वर धारण कर रहा है। ईश्वर के विना सब जगत् का विधाता और धारण करने वाला कोई नहीं है ॥ ३४। २५ ॥

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूपः। **सविता=सूर्यः**। विराट् त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

सूर्य क्या करता है, यह फिर उपदेश किया है ॥

हिर॑ण्यहस्तो ऽ असु॑रः सुनी॒थः सु॑मृडी॒कः स्ववाँ॑ यात्व॒र्वाङ्।
अ॒प॒सेध॑न्र॒क्षसो॑ यातु॒धाना॒नस्था॑द्दे॒वः प्र॑तिदो॒षं गृ॑णा॒नः ॥ २६ ॥

पदार्थः—(**हिरण्यहस्तः**) हिरण्यानि=ज्योतींषि हस्तवद्यस्य सः (**असुरः**) प्रक्षेप्ता (**सुनीथः**) यः सुष्ठु नयति सः (**सुमृडीकः**) सुष्ठु सुखकरः (**स्ववान्**) स्वे=स्वकीयाः प्रकाशादयो गुणा विद्यन्ते यस्मिन् सः। **अत्र दीर्घादटि समानपादे ॥ अ० ८। ३। ९ ॥ इति रुत्वे भोभगो० इत्यनेन रोर्यादेशे च हलि सर्वेषामिति लोपः** (**यातु**) प्राप्नोतु (**अर्वाङ्**) योऽर्वाचीनान् अञ्चति=प्राप्नोति सः (**अपसेधन्**) दूरीकुर्वन् (**रक्षसः**) दस्युचोरादीन् (**यातुधानान्**) अन्यायेन परपदार्थधारकान् (**अस्थात्**) उत्तिष्ठति=उदेति (**देवः**) प्रकाशकः (**प्रतिदोषम्**) प्रतिजनं यो दोषस्तम्। **अत्रोत्तरपदलोपः** (**गृणानः**) उच्चारयन्=प्रकटयन् ॥ २६ ॥

प्रमाणार्थ—(**स्ववान्**) यहाँ दीर्घादटि समानपादे (अ० ८। ३। ९) सूत्र से 'न्' को रुत्व, 'भो भगो०' (अ० ८। ३। १७) इस सूत्र से 'रु' को 'य्' आदेश, और 'हलि सर्वेषाम्' (अ० ८। ३। २२) इस सूत्र से 'य्' का लोप है—['स्ववाँ' मन्त्र में देखिये]। (**प्रतिदोषम्**) प्रतिजनं यो दोषस्तम्। यहाँ उत्तरपद 'जन' का लोप है।

अन्वयः—हे मनुष्याः! यो हिरण्यहस्तः सुनीथोऽसुरः सुमृडीकः स्ववान् देवो रक्षसो यातुधानानपसेधन् प्रतिदोषं गृणानश्चास्थात्सोऽर्वाङ्समन्तसुखाय यातु तद्वद्यूयं भवत ॥ २६ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः! यो **हिरण्यहस्तः** हिरण्यानि=ज्योतींषि हस्तवद्यस्य सः, **सुनीथः** यः सुष्ठु नयति सः, **असुरः** प्रक्षेप्ता, **सुमृडीकः** सुष्ठु सुखकरः, **स्ववान्** स्वे=स्वकीयाः प्रकाशादयो गुणा विद्यन्ते यस्मिन् सः, **देवः** प्रकाशकः, **रक्षसः** दस्युचोरादीन् **यातुधानान्** अन्यायेन परपदार्थधारकान् **अपसेधन्** दूरीकुर्वन्, **प्रतिदोषं** प्रतिजनं यो दोषस्तं **गृणानः** उच्चारयन्=प्रकटयन् **चास्थात्** उत्तिष्ठति=उदेति **सोऽर्वाङ्** योऽर्वाचीनान्

भाषार्थ—हे मनुष्यो—जो (हिरण्यहस्तः) किरण रूप हाथों वाला, (सुनीथः) प्रकाशादि को अच्छे प्रकार पहुँचाने वाला, (असुरः) किरणों को फैंकने वाला, (सुमृडीकः) अत्यन्त सुखकारी, (स्ववान्) अपने प्रकाशादि गुणों से युक्त (देवः) प्रकाशक, (रक्षसः) दस्यु, चोर आदि तथा (यातुधानान्) अन्याय से परपदार्थों को धारण करने वाले दुष्टों को (असेधन्) दूर करता हुआ; और (प्रतिदोषम्) प्रत्येक जन में विद्यमान दोष को

अञ्चति=प्राप्नोति सः **अस्मत् सुखाय यातु** प्राप्नोतु; **तद्वद्यूयं भवत** ॥ ३४ । २६ ॥

(गृणानः) उच्चारण=प्रकट करता हुआ (अस्थात्) उठता है—उदय होता है। वह (अर्वाङ्) (अर्वाङ्) निकटवर्ती पदार्थों को प्राप्त होने वाला, सूर्य—हमारे सुख के लिए (यातु) प्राप्त होवे;—वैसे तुम बनो ॥ ३४ । २६ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः! सदैवोदार्येण याचमानेभ्यो हिरण्यादिकं दत्त्वा, दुष्टाचारान् तिरस्कृत्य, धार्मिकेभ्यः सुखं प्रदाय, अहर्निशं सूर्यवत् प्रशंसिता भवत ॥ ३४ । २६ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो! सदा ही उदारतापूर्वक माँगने वालों को सुवर्ण आदि देकर, दुष्टाचारियों का तिरस्कार करके, धार्मिक जनों को सुख प्रदान करके दिन-रात सूर्य के तुल्य प्रशंसित होओ ॥ ३४ । २६ ॥

भा० पदार्थः—यातुधानान्=दुष्टाचारान् । अपसेधन्=तिरस्कृत्य ॥

भाष्यसार—सूर्य क्या करता है—विविध ज्योतियाँ (किरण) जिसके हाथों के तुल्य हैं; वह प्रकाशादि को अच्छे प्रकार पहुँचाने वाला, किरणों को फेंकने वाला, अत्यन्त सुखकारी, अपने प्रकाशादि गुणों से युक्त, प्रकाशक, सूर्य—दस्यु, चोर आदि तथा अन्याय से परपदार्थों को धारण करने वाले (यातुधान) दुष्टों को दूर करता हुआ, प्रत्येक जन के दोष को प्रकट करता हुआ उदय होता है। वह निकटवर्ती पदार्थों को प्राप्त होने वाला सूर्य हमारे सुख के लिए प्राप्त होता है।

सब मनुष्य सूर्य के तुल्य उदारतापूर्वक याचकों को सुवर्ण आदि का दान करें। दुष्टाचारियों का तिरस्कार करें। धार्मिकों को सुख प्रदान करें। प्रतिदिन सूर्य के तुल्य प्रशंसित हों ॥ ३४ । २६ ॥ ●

आङ्गिरसो हिरण्यस्तूपः । **सविता=विद्वान्** । विराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

अथाध्यापकोपदेशकविषयमाह ॥

अब अध्यापक और उपदेशक विषय का उपदेश किया जाता है ॥

ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासोऽरेणवः सुकृता ऽ अन्तरिक्षे ।
तेभिर्नो ऽ अद्य पथिभिः सुगेभी रक्षा च नो ऽ अधि च ब्रूहि देव ॥ २७ ॥

पदार्थः—(ये) (ते) तव (**पन्थाः**) मार्गाः । अत्र **वचनव्यत्ययेनैकवचनम्** (**सवितः**) सवितृवदैश्वर्यप्रद (**पूर्व्यासः**) पूर्वैराप्तैः सेविताः (**अरेणवः**) अविद्यमाना रेणवो येषु ते (**सुकृताः**) सुष्ठुनिष्पादिताः (**अन्तरिक्षे**) आकाशे (**तेभिः**) तैः (**नः**) अस्मान् (**अद्य**) इदानीम् (**पथिभिः**) मार्गैः (**सुगेभिः**) सुखेन गमनाऽधिकरणैः (**रक्ष**) अत्र **द्व्यचोऽतस्तिङः इति दीर्घः** । (**च**) (**नः**) अस्मान् (**अधि**) उपरिभावे (**च**) (**ब्रूहि**) उपदिश (**देव**) सुखविद्ययोर्दातः ॥ २७ ॥

प्रमाणार्थ—(**पन्थाः**) मार्गाः । यहाँ वचन के व्यत्यय से एक वचन है। (**रक्ष**) यहाँ "द्व्यचोऽतस्तिङः" (अ० ६ । ३ । १३५) से संहिता में दीर्घ है—'रक्षा' ॥

अन्वयः—हे सवितर्देवाऽऽप्तविद्वन्! यस्य ते सूर्यस्यान्तरिक्षे इव ये पूर्व्यासोऽरेणवः सुकृताः पन्थाः सन्ति तेभिस्सुगेभिः पथिभिरद्य नो नय तत्र गच्छतो नो रक्ष च नोऽस्मांश्चाधि ब्रूहि । एवं सर्वान् प्रति बोधय ॥ २७ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **सवितः** सवितृवदैश्वर्यप्रद ! **देव=आप्तविद्वन्** सुखविद्ययोर्दातः ! **यस्य ते** तव **सूर्यस्यान्तरिक्षे** आकाशे **इव ये पूर्व्यासः** पूर्वैराप्तैः सविताः, **अरेणवः** अविद्यमाना रेणवो येषु ते, **सुकृताः** सुष्ठुनिष्पादिताः **पन्थाः** मार्गाः **सन्ति**; **तेभिः** तैः **सुगेभिः** सुखेन गमनाऽधिकरणैः **पथिभिः** मार्गैः **अद्य** इदानीं **नः** अस्मान् **नय**; **तत्र गच्छतो नः** अस्मान् **रक्ष च**; **नः=अस्मांश्चाधि+ब्रूहि** उपरिभावेन उपदिश। **एवं सर्वान् प्रति बोधय** ।।३४।२७।।

भाषार्थ—हे (सवितः) सूर्य के तुल्य ऐश्वर्य प्रदान करने वाले (देव) सुख और विद्या के दाता आप्त विद्वान् ! (ते) तेरे—जैसे सूर्य के (अन्तरिक्षे) आकाश में मार्ग हैं; वैसे—(ये) जो (पूर्व्यासः) पूर्वज आप्त जनों से सेवित, (अरेणवः) रेणुओं से रहित, (सुकृताः) अच्छे प्रकार से बनाये हुए (पन्थाः) मार्ग हैं; (तेभिः) उन (सुगेभिः) सुख से गमन करने योग्य (पथिभिः) मार्गों से (अद्य) अब (नः) हमें (नय) ले चल, और वहाँ चलते हुए (नः) हम लोगों की (रक्ष) रक्षा कर; और (नः) हमें (अधि+ब्रूहि) अधिकारपूर्वक उपदेश कर। इस प्रकार सब को बोध करा ।। ३४ । २७ ।।

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। हे विद्वांसो ! युष्माभिर्यथा सूर्यस्यान्तरिक्षे निर्मला मार्गाः सन्ति, तथैवोपदेशाध्यापनाभ्यां विद्याधर्मसुशीलप्रदाः पन्थानः प्रचारणीयाः ।। ३४ । २७ ।।

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। हे विद्वानो ! तुम—जैसे सूर्य के आकाश में निर्मल मार्ग हैं; वैसे उपदेश और अध्यापन से विद्या, धर्म और सुशीलता प्रदान करने वाले मार्गों का प्रचार करो ।। ३४ । २७ ।।

भा० पदार्थः—अरेणवः=निर्मलाः। सुकृताः=विद्याधर्मसुशीलप्रदाः (पन्थानः) ।।

भाष्यसार—१. **अध्यापक और उपदेशक**—सूर्य के तुल्य ऐश्वर्य प्रदान करने वाले, सुख और विद्या के दाता आप्त विद्वान् अध्यापक तथा उपदेशक के मार्ग—जैसे सूर्य के आकाश में निर्मल हैं; वैसे—पूर्वज आप्त जनों से सेवित, रेणु (धूलि) से रहित, अच्छे प्रकार से बनाये हुए (मार्ग) हों। वे हमें उक्त सुख से गमन करने योग्य मार्गों से ले चलें। वे वहाँ चलते हुए हमारी रक्षा करें। हमें अधिकार पूर्वक उपदेश करें। विद्या, धर्म और सुशीलता प्रदान करने वाले पथों का प्रचार करें।

२. **अलंकार**—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि अध्यापक और उपदेशक आप्त विद्वान् द्वारा प्रतिपादित मार्ग आकाश में विद्यमान सूर्य के निर्मल मार्गों के तुल्य हों ।। ३४ । २७ ।।

प्रस्कण्वः। **अश्विनौ=अध्यापकोपदेशकौ**। निचृद्गायत्री। षड्जः ।।

पुनस्तमेव विषयमाह ।।

अध्यापक और उपदेशक विषय का फिर उपदेश किया है ।।

उभा पिबतमश्विनोभा नः शर्म यच्छतम्। अविद्रियाभिरूतिभिः ।। २८ ।।

पदार्थः—(**उभा**) द्वौ (**पिबतम्**) (**अश्विना**) सूर्य्याचन्द्रमसाविवाऽध्यापकोपदेशकौ ! (**उभा**) द्वौ (**नः**) अस्मभ्यम् (**शर्म**) श्रेष्ठं शरणं सुखं वा (**यच्छतम्**) दद्यातम् (**अविद्रियाभिः**) अच्छिद्राभिः (**ऊतिभिः**) रक्षणादिभिः ।। २८ ।।

अन्वयः—हे **अश्विना** ! उभा युवां यत्रोत्तमं रसं पिबतं तच्छर्मोभायुवामविद्रियाभिरूतिभी रक्षितं गृहं नो यच्छतम् ।। २८ ।।

सपदार्थान्वयः—हे **अश्विना !** सूर्य्याचन्द्रमसाविवाऽध्यापकोपदेशकौ ! **उभा** द्वौ **युवां यत्रोत्तमं रसं पिबतं; तच्छर्म** श्रेष्ठं शरणं सुखं वा **उभा** द्वौ **युवामविद्रियाभिः** अच्छिद्राभिः **ऊतिभिः** रक्षणादिभिः **रक्षितं गृहं नः** अस्मभ्यं **यच्छतं** दद्यातम् ॥ ३४ । २८ ॥

भाषार्थ—हे (अश्विना) सूर्य और चन्द्रमा के तुल्य अध्यापक और उपदेशक ! (उभा) दोनों तुम—जहाँ उत्तम रस का (पिबतम्) पान करते हो, उस (शर्म) श्रेष्ठ शरण वा सुख को, तथा (उभा) दोनों तुम—(अविद्रियाभिः) छिद्र रहित (ऊतिभिः) रक्षा आदि से सुरक्षित घर को (नः) हमें (यच्छतम्) प्रदान करो ॥ ३४ । २८ ॥

भावार्थः—अध्यापकोपदेशकैः सदोत्तम-गृहरचननिवासोपदेशान् कृत्वा यत्र पूर्णा रक्षा स्यात्तत्र सर्वे प्रेरणीयाः ॥ ३४ । २८ ॥

भावार्थ—अध्यापक और उपदेशक लोग सदा उत्तम गृह की रचना और निवास का उपदेश करके; जहाँ पूर्ण रक्षा हो, वहाँ सबको प्रेरित करें ॥ ३४ । २८ ॥

भाष्यसार—**अध्यापक और उपदेशक**—सूर्य और चन्द्र के तुल्य तेजस्वी अध्यापक और उपदेशक लोग—उत्तम रस का पान करें। सदा उत्तम घर की रचना करें। उत्तम निवास और उत्तम उपदेश करें। जो घर दोष रहित रक्षादि से सुरक्षित हों वहाँ सबको निवास की प्रेरणा करें ॥ ३४ । २८ ॥ ●

कुत्सः । **अश्विनौ=अध्यापकोपदेशकौ** । विराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

अध्यापक और उपदेशक विषय का फिर उपदेश किया है ॥

अप्नस्वतीमश्विना वाचमस्मे कृतं नो दस्रा वृषणा मनीषाम् ।
अद्यूत्येऽवसे निह्वये वां वृधे च नो भवतं वाजसातौ ॥ २९ ॥

पदार्थः—(**अप्नस्वतीम्**) प्रशस्तान्यप्नांसि=कर्माणि विद्यन्ते यस्यास्ताम् (**अश्विना**) सकलविद्याव्यापिनावध्यापकोपदेशकौ ! (**वाचम्**) वाणीम् (**अस्मे**) अस्माकम् (**कृतम्**) कुरुतम् (**नः**) अस्माकम् (**दस्रा**) दुःखोपक्षयितारौ (**वृषणा**) सुखस्य वर्षयितारौ (**मनीषाम्**) उत्तमां प्रज्ञाम् (**अद्यूत्ये**) अविद्यमानानि द्यूतानि यस्मिंस्तस्मिन्भवे (**अवसे**) रक्षणाय (**नि, ह्वये**) नितरां स्तौमि (**वाम्**) युवाम् (**वृधे**) वर्द्धनाय (**च**) (**नः**) अस्माकम् (**भवतम्**) (**वाजसातौ**) वाजस्य=धनस्य विभाजके सङ्ग्रामे ॥ २९ ॥

अन्वयः—हे दस्रा वृषणाऽश्विना ! युवामस्मे वाचं मनीषा चाप्नस्वतीं कृतं नोऽद्यूत्येऽवसे स्थापयतम् । वाजसातौ नो वृधे च भवतं यो वामहन्निह्वये तौ मामुन्नयतम् ॥ २९ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **दस्रा** दुःखो-पक्षयितारौ **वृषणा** सुखस्य वर्षयितारौ **अश्विना !** सकलविद्याव्यापिनावध्यापकोपदेशकौ ! **युवामस्मे** अस्माकं **वाचं** वाणीं, **मनीषाम्** उत्तमां प्रज्ञां, **चाप्नस्वतीं** प्रशस्तान्यप्नांसि=कर्माणि विद्यन्ते यस्यास्तां, **कृतं** कुरुतं; **नः** अस्माकम् **अद्यूत्ये**

भाषार्थ—हे (दस्रा) दुःख का उपक्षय करने वाले, (वृषणा) सुख की वर्षा करने वाले (अश्विना) सकल विद्याओं में व्यापक अध्यापक और उपदेशक ! तुम दोनों—(अस्मे) हमारी (वाचम्) वाणी और (मनीषाम्) उत्तम प्रज्ञा को (अप्नस्वतीम्) प्रशस्त कर्मों वाली (कृतम्)

अविद्यमानानि द्यूतानि यस्मिंस्तस्मिन्भवे **अवसे** रक्षणाय **स्थापयतम्, वाजसातौ** वाजस्य=धनस्य विभाजके सङ्ग्रामे **नः** अस्माकं **वृधे** वर्द्धनाय **च भवतम्** ।

बनाओ; (नः) हमारे (अद्यूत्ये) द्यूत=जुआ आदि से रहित कर्म में (अवसे) रक्षा के लिए किसी को स्थापित करो; और (वाजसातौ) वाज=धन के विभाजक संग्राम में (नः) हमारी (वृधे) वृद्धि के लिए रहो ।

यौ वां युवाम् **अहं नि+ह्वये** नितरां स्तौमि **तौ मामुन्नयतम्** ॥ ३४ । २९ ॥

जिन (वाम्) तुम दोनों की मैं (नि+ह्वये) सर्वथा स्तुति करता हूँ; सो तुम दोनों मुझे उन्नत करो ॥ ३४ । २९ ॥

भावार्थः—ये मनुष्या निष्कपटानाप्तान् दयालून् विदुषः सततं सेवन्ते ते प्रगल्भा धार्मिका विद्वांसो भूत्वा, सर्वतो वर्द्धमाना विजयिनः सन्तः सर्वेभ्यः सुखदा भवन्ति ॥ ३४ । २९ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य—निष्कपट, आप्त, दयालु विद्वानों की सदा सेवा करते हैं; वे चतुर, धार्मिक विद्वान् होकर, सब ओर से बढ़ते हुए, विजयी होकर सबको सुख देने वाले होते हैं ॥ ३४ । २९ ॥

भाष्यसार—**अध्यापक और उपदेशक**—दुःखों का उपक्षय (विनाश) करने वाले, सुख की वर्षा करने वाले, सकल विद्याओं में व्यापक अध्यापक और उपदेशक लोग—हमारी वाणी और उत्तम प्रज्ञा (बुद्धि) को उत्तम कर्म करने वाली बनावें । हमें द्यूत (जुआ खेलना) रहित कर्म में तथा रक्षा में स्थापित करें । धन के विभाजक संग्राम में हमारी वृद्धि के लिए तत्पर हों । हम उक्त विद्वानों की सदा स्तुति करें और वे हमें उन्नत करें ।

मनुष्य—निष्कपट, आप्त, दयालु विद्वानों की सदा सेवा करें । उनके संग से चतुर, धार्मिक विद्वान् बनें । सब ओर वृद्धि और विजय को प्राप्त करके सबको सुख प्रदान करें ॥ ३४ । २९ ॥

कुत्सः । **अश्विनौ=सभासेनेशौ** । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

अथ सभासेनाधिपौ किं कुर्यातामित्याह ॥

अब सभाधीश और सेनाधीश क्या करें, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

द्युभिर॒क्तुभि॒ः परि॑ पातम॒स्मानरि॑ष्टेभिरश्विना॒ सौभ॑गेभिः ।
तन्नो॑ मि॒त्रो वरु॑णो मामहन्ता॒मदि॑ति॒ः सिन्धु॑ः पृथि॒वी ऽ उ॒त द्यौः ॥ ३० ॥

पदार्थः—(**द्युभिः**) दिवसैः (**अक्तुभिः**) रात्रिभिः (**परि**) सर्वतः (**पातम्**) रक्षतम् (**अस्मान्**) (**अरिष्टेभिः**) अहिंसितैः (**अश्विना**) सभासेनेशौ ! (**सौभगेभिः**) श्रेष्ठानां धनानां भावैः (**तत्**) तान् (**नः**) अस्मान् (**मित्रः**) सखा (**वरुणः**) दुष्टानां बन्धकः (**मामहन्ताम्**) सत्कुर्वन्तु (**अदितिः**) पृथिवी (**सिन्धुः**) सप्तविधः समुद्रः (**पृथिवी**) अन्तरिक्षम् (**उत**) अपि (**द्यौः**) प्रकाशः ॥ ३० ॥

अन्वयः—हे अश्विना ! यथाऽदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौस्तन्नो मामहन्तां तथा मित्रो वरुणश्च युवां द्युभिरक्तुभिररिष्टेभिः सौभगेभिरस्मान् परिपातम् ॥ ३० ॥

सपदार्थान्वयः—हे **अश्विना** ! सभासेनेशौ ! **यदाऽदितिः** पृथिवी **सिन्धुः** सप्तविधः समुद्रः

भाषार्थ—हे (अश्विना) सभापति और सेनापति ! जैसे—(अदितिः) पृथिवी, (सिन्धुः)

पृथिवी अन्तरिक्षम् **उत** अपि **द्यौः** प्रकाशः **तत्** तान् **नः** अस्मान् **मामहन्तां** सत्कुर्वन्तु; **तथा मित्रः** सखा **वरुणः** दुष्टानां बन्धकः **च युवां द्युभिः** दिवसैः **अक्तुभिः** रात्रिभिः **अरिष्टेभिः** अहिंसितैः **सौभगेभिः** श्रेष्ठानां धनानां भावैः **अस्मान् परि+पातम्** सर्वतो रक्षतम् ॥ ३४ । ३० ॥

सात प्रकार का समुद्र (पृथिवी) अन्तरिक्ष (उत) और (द्यौः) प्रकाश—(तत्) उन (नः) हम लोगों का (मामहन्ताम्) सत्कार करते हैं; वैसे—(मित्रः) सखा और (वरुणः) दुष्टों का बन्धक तुम दोनों—(द्युभिः) दिन, (अक्तुभिः) रात्रि, (अरिष्टेभिः) हिंसा रहित (सौभगेभिः) श्रेष्ठ धनों से (अस्मान्) हमारी (परि+पातम्) सब ओर से रक्षा करो ॥३०॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। हे सभाधीशादिविद्वांसो ! यथा पृथिव्यादीनि तत्त्वानि सर्वान् प्राणिनो रक्षन्ति, तथैव वर्द्धमानैरैश्वर्यैरहर्निशं सर्वान् मनुष्यान् वर्द्धयन्तु ॥ ३४ । ३० ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। हे सभाधीश आदि विद्वानो ! जैसे पृथिवी आदि तत्त्व सब प्राणियों की रक्षा करते हैं; वैसे ही बढ़ते हुए ऐश्वर्यों से दिन-रात सब मनुष्यों को बढ़ाओ ॥ ३४ । ३० ॥

भा० पदार्थः—अश्विना=सभाधीशादिविद्वांसः। अरिष्टेभिः=वर्द्धमानैः। सौभगेभिः=ऐश्वर्यैः ॥ ३४ । ३० ॥

भाष्यसार—१. **सभापति और सेनापति क्या करें**—जैसे पृथिवी, सात प्रकार का समुद्र, आकाश और प्रकाश मनुष्यों को सत्कृत करते हैं; उनकी रक्षा करते हैं; वैसे सभापति और सेनापति विद्वान्—मित्र और दुष्टों के बन्धक (वरुण) बनकर दिन-रात हिंसा रहित श्रेष्ठ धनों की वृद्धि से सब मनुष्यों की रक्षा करें।

२. **अलङ्कार**—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि सभापति और सेनापति पृथिवी आदि तत्त्वों के तुल्य मनुष्यों की रक्षा करें ॥ ३४ । ३० ॥ ●

हिरण्यस्तूपः। **सूर्य्यः**=विद्युत्। विराट् त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

अथ विद्युता किं साध्यमित्याह ॥

अब विद्युत् से क्या सिद्ध करना चाहिए, यह उपदेश किया जाता है ॥

आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥ ३१ ॥

पदार्थः—(**आ**) समन्तात् (**कृष्णेन**) कर्षितेन (**रजसा**) लोकसमूहेन सह (**वर्त्तमानः**) (**निवेशयन्**) नित्यं प्रवेशयन् (**अमृतम्**) नाशरहितं कारणम् (**मर्त्यम्**) नाशसहितं कार्य्यम् (**च**) (**हिरण्ययेन**) तेजोमयेन (**सविता**) ऐश्वर्यप्रदः (**रथेन**) रमणीयेन स्वरूपेण (**आ**) (**देवः**) देदीप्यमानः (**याति**) प्राप्नोति (**भुवनानि**) भवनाधिकरणानि वस्तूनि (**पश्यन्**) संप्रेक्षमाणः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—हे विद्वँस्त्वं य आकृष्णेन रजसा सह वर्त्तमानः सततममृतं मर्त्यञ्च निवेशयन् हिरण्ययेन रथेन सविता देवो विद्युद्भुवनानि याति तं पश्यन् सन् संप्रयुङ्ग्धि ॥ ३१ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **विद्वन्** ! **त्वं य आकृष्णेन** समन्तात्कर्षितेन **रजसा** लोकसमूहेन **सह**

भाषार्थ—हे विद्वान् ! तू—जो (आकृष्णेन) सब ओर आकर्षण से (रजसा) लोक-समूह के

वर्त्तमानः सततममृतं नाशरहितं कारणं **मर्त्यं** नाशसहितं कार्य्यं **च निवेशयन्** नित्यं प्रवेशयन् **हिरण्ययेन** तेजोमयेन **रथेन** रमणीयेन स्वरूपेण **सविता** ऐश्वर्यप्रदः **देवो**=**विद्युत्** देदीप्यमानः **भुवनानि** भवनाधिकरणानि वस्तूनि **[आ] याति** प्राप्नोति; **तं पश्यन्** संप्रेक्षमाणः **सन् संप्रयुङ्ग्धि** ॥३४।३१॥

साथ वर्तमान, निरन्तर (अमृतम्) नाशरहित=कारण और (मर्त्यम्) नाशसहित=कार्य को (निवेशयन्) नित्य प्रविष्ट करती हुई; (हिरण्ययेन) तेजोमय (रथेन) रमणीय स्वरूप से (सविता) ऐश्वर्य प्रदान करने वाली (देवः) देदीप्यमान विद्युत् (भुवनानि) भवनों में विद्यमान सब वस्तुओं को (आ+याति) प्राप्त होता है; उसे (पश्यन्) देखता हुआ उसका संप्रयोग कर ॥ ३४ । ३१ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! या विद्युत् कार्यं कारणं सम्प्रकाश्य सर्वत्राभिव्याप्ता, तेजोमयी, सद्योगामिनी, सर्वाकर्षिका वर्त्तते, तां प्रेक्षमाणाः सन्तः संप्रयुज्याऽभीष्टानि सद्यो यात ॥ ३४ । ३१ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जो विद्युत् कार्य, कारण को प्रकाशित करके सर्वत्र व्याप्त है, तेजोमयी, शीघ्रगामिनी सब की आकर्षक है, उसे देखते हुए, उसका संप्रयोग करके अभीष्ट सुखों को शीघ्र प्राप्त करो ॥ ३४ । ३१ ॥

भाष्यसार—विद्युत् से क्या सिद्ध करें—जो विद्युत् सब ओर आकर्षण के द्वारा सब लोकसमूह के साथ वर्तमान है; कारण और कार्य रूप पदार्थों में नित्य प्रविष्ट है; तेजोमय, रमणीय स्वरूप से ऐश्वर्य प्रदान करने वाला एवं देदीप्यमान है। भवनों में विद्यमान सब वस्तुओं को प्राप्त है। उक्त विद्युत् का संप्रेक्षण करके उसका संप्रयोग करें तथा उससे अभीष्ट सुखों को सिद्ध करें ॥ ३४ । ३१ ॥

कुत्सः । **रात्रिः=स्पष्टम्** । पथ्या बृहती । मध्यमः ॥

अथ रात्रिवर्णनमाह ॥

अब रात्रि का वर्णन किया जाता है ॥

आ रात्रि पार्थिवꣳ रजः पितुरप्रायि धामभिः । X
दिवः सदाꣳसि बृहती वि तिष्ठस ऽ आ त्वेषं वर्त्तते तमः । ३२ ॥

पदार्थः—**(आ)** समन्तात् **(रात्रि)** रात्रिः । **अत्र लिङ्गव्यत्ययः (पार्थिवम्)** पृथिव्याः सम्बन्धि **(रजः)** लोकः **(पितुः)** मध्यलोकस्य **(अप्रायि)** पूर्य्यन्ते **(धामभिः)** सर्वैः स्थानैः **(दिवः)** प्रकाशस्य **(सदांसि)** सीदन्ति येषु तान्यधिकरणानि **(बृहती)** महती **(वि) (तिष्ठसे)** तिष्ठते=आक्रमते=व्याप्नोति **(आ) (त्वेषम्)** स्वकान्त्या प्रकृष्टम् **(वर्त्तते) (तमः)** अन्धकारः ॥ ३२ ॥

प्रमाणार्थ—(रात्रि) यहाँ लिङ्ग का व्यत्यय है। 'रात्रि' शब्द स्त्री लिङ्ग है किन्तु यहाँ नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त है ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! या बृहती रात्रिदिवः सदांसि वितिष्ठसे यया पितुर्धामभिः पार्थिवं रज आ अप्रायि यस्याश्च त्वेषं तम आ वर्त्तते तां युक्त्या सेवध्वम् ॥ ३२ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः । या बृहती महती **रात्रि** रात्रिः **दिवः** प्रकाशस्य **सदांसि** सीदन्ति येषु तान्यधिकरणानि, **वितिष्ठसे**

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जो (बृहती) बड़ी (रात्रि) रात्रि—(दिवः) प्रकाश के (सदांसि) स्थानों को (वि+तिष्ठसे) व्याप्त करती है; जो

तिष्ठते=आक्रमते=व्याप्नोति; **यया पितुः** मध्य-लोकस्य **धामभिः** सर्वैः स्थानैः **पार्थिवं** पृथिव्याः सम्बन्धि **रजः** लोकः **आ+अप्रायि** समन्तात् पूर्य्यन्ते; **यस्याश्च त्वेषं** स्वकान्त्या प्रकृष्टं **तमः** अन्धकारः **आवर्त्तते; तां युक्त्या सेवध्वम्** ।।३४।३२।।

(पितुः) मध्य लोक के (धामभिः) सब स्थानों से (पार्थिवम्) पृथिवी सम्बन्धी (रजः) लोकों को (आ+अप्रायि) सब ओर से पूरण करती है; और जिसका (त्वेषम्) उत्तम (तमः) अन्धकार (आवर्तते) सब ओर होता है; उस रात्रि का युक्ति से सेवन करो ।। ३४ । ३२ ।।

भावार्थः—हे मनुष्याः ! या पृथिव्यादेश्छाया रात्रौ प्रकाशं निरोधयति सर्वमावृणोति तां यथावत् सेवध्वम् ।। ३४ । ३२ ।।

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जो पृथिवी आदि की छाया रात्रि में प्रकाश को रोकती है; सबको आच्छादित करती है; उसका यथावत् सेवन करो ।। ३४ । ३२ ।।

भाष्यसार—रात्रि का वर्णन—जो विशाल रात्रि प्रकाश के स्थानों को व्याप्त करती है; जो रात्रि मध्य-लोक के सब स्थानों से पृथिवी लोक को सब ओर से पूरण करती है; भर देती है। जिसका उत्तम अन्धकार सब ओर विद्यमान होता है। पृथिवी आदि की छाया से रात्रि बनती है। रात्रि रूप उक्त छाया प्रकाश को रोकती है। सबको आच्छादित करती है। उक्त रात्रि का युक्तिपूर्वक यथावत् सेवन करें ।। ३४ । ३२ ।। ●

गोतमः । **उषः=प्रभातवेला** । निचृत्परोष्णिक् । ऋषभः ।।

पुनरुषोवर्णनमुपदिश्यते ।।

फिर उषाकाल का वर्णन किया जाता है ।।

उषस्तच्चित्रमा भरास्मभ्यं वाजिनीवति । येन तोकं च तनयं च धामहे ।। ३३ ।।

पदार्थः—(**उषः**) उषोवद्वर्त्तमाने (**तत्**) (**चित्रम्**) अद्भुतस्वरूपम् (**आ**) (**भर**) पोषय (**अस्मभ्यम्**) (**वाजिनीवति**) बह्वन्नाद्यैश्वर्य्ययुक्ते (**येन**) (**तोकम्**) सद्योजातमपत्यम् (**च**) (**तनयम्**) प्राप्तकुमारावस्थम् (**च**) (**धामहे**) धरेम ।। ३३ ।।

अन्वयः—हे वाजिनीवत्युषर्वद्वर्त्तमाने स्त्रि ! यथा वाजिनीवत्युषा यादृशं चित्रं स्वरूपं धरति तत्तादृशमस्मभ्यं त्वमाभर येन वयं तोकं च तनयं च धामहे ।। ३३ ।।

सपदार्थान्वयः—**हे वाजिनीवति !** बह्वन्नाद्यैश्वर्ययुक्ते [**उषः !**]=**उषोवद्वर्त्तमाने स्त्रि ! यथा वाजिनीवती उषा यादृशं चित्रम्** अद्भुतस्वरूपं **धरति, तत्तादृशमस्मभ्यं त्वमाभर** पोषय, **येन वयं तोकं** सद्योजातमपत्यं **च तनयं** प्राप्तकुमारावस्थं **च धामहे** धरेम ।। ३४ । ३३ ।।

भाषार्थ—हे (वाजिनीवति) बहुत अन्न आदि ऐश्वर्य से युक्त [उषः] उषा के तुल्य वर्तमान स्त्री ! जैसे—ऐश्वर्य से युक्त उषा जैसे (चित्रम्) अद्भुत स्वरूप को धारण करती है; (तत्) वैसे स्वरूप को (अस्मभ्यम्) हमारे लिए (आ+भर) पुष्ट कर; जिससे हम (तोकम्) सद्योजात शिशु को (च) और (तनयम्) कुमार को (धामहे) धारण करें ।। ३४ । ३३ ।।

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथा सर्वशोभायुक्ता मङ्गलप्रदा प्रभातवेला सर्वव्यवहारधारिका वर्त्तते तथाभूताः स्त्रियो यदि स्युस्तर्हि, ताः सदा स्वं स्वं पतिं प्रसाद्य पुत्रपौत्रादिना आनन्दं लभेरन् ॥ ३४ । ३३ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलङ्कार है। जैसे सब शोभा से युक्त, मङ्गलप्रद, प्रभात वेला सब व्यवहारों को धारण करने वाली है, वैसी बनी हुई स्त्रियाँ यदि हों तो वे सदा अपने-अपने पति को प्रसन्न करके पुत्र-पौत्र आदि के साथ आनन्द को प्राप्त करें ॥ ३४ । ३३ ॥

भा० पदार्थः—वाजिनीवति=सर्वशोभायुक्ता, मङ्गलप्रदा। उषः=प्रभातवेला। चित्रम्=सर्वव्यवहारधारिका। तोकम्=पुत्रपौत्रादिकम् ॥

भाष्यसार—उषा का वर्णन—उषा (प्रभात वेला)—सब शोभा से युक्त, मङ्गल प्रदान करने वाली एवं अद्भुत स्वरूप को धारण करती है। सब व्यवहारों को धारण करने वाली है। बहुत अन्न आदि ऐश्वर्य से युक्त स्त्री—उक्त उषा के तुल्य अद्भुत स्वरूप को धारण करे। वह सब शोभा से युक्त हो। मङ्गल प्रदान करने वाली हो। सब व्यवहारों को भी धारण करे। वह अपने पति को प्रसन्न करके शिशु और कुमार रूप पुत्र-पौत्र आदि की प्राप्ति से आनन्द को प्राप्त करे ॥ ३४ । ३३ ॥

वसिष्ठः। **अग्न्यादयो लिङ्गोक्ताः**=परमात्मादयः। निचृज्जगती। निषादः ॥

पुनर्मनुष्याः किं कुर्युरित्याह ॥

फिर मनुष्य क्या करें, यह उपदेश किया है ॥

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रँ हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना ।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रँ हुवेम ॥ ३४ ॥

पदार्थः—(**प्रातः**) प्रभाते (**अग्निम्**) पवित्रं स्वप्रकाशं परमात्मानं पावकमग्निं वा (**प्रातः**) (**इन्द्रम्**) परमैश्वर्यम् (**हवामहे**) आदद्यामाह्वयेम वा (**प्रातः**) (**मित्रावरुणा**) प्राणोदानौ (**प्रातः**) (**अश्विना**) अध्यापकोपदेशकौ (**प्रातः**) (**भगम्**) भजनीयं भागम् (**पूषणम्**) पुष्टिकरं भोगम् (**ब्रह्मणः**) धनस्य, वेदस्य (**पतिम्**) स्वामिनं पालकम् (**प्रातः**) (**सोमम्**) ओषधिगणम् (**उत**) अपि (**रुद्रम्**) जीवम् (**हुवेम**) गृह्णीयाम ॥ ३४ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथा वयं प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना हवामहे प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रञ्च हुवेम तथा यूयमप्याचरत ॥ ३४ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे मनुष्याः ! यथा वयं प्रातः** प्रभाते **अग्निं** पवित्रं स्वप्रकाशं परमात्मानं पावकमग्निं वा **प्रातः** प्रभाते **इन्द्रं** परमैश्वर्यं **प्रातः** प्रभाते **मित्रावरुणा** प्राणोदानौ, **प्रातः** प्रभाते **अश्विना** अध्यापकोपदेशकौ, **हवामहे** आदद्यामाह्वयेम वा ! **प्रातः** प्रभाते **भगं** भजनीयं भागं **पूषणं** पुष्टिकरं भोगं **ब्रह्मणः** धनस्य वेदस्य **पतिं** स्वामिनं पालकं **प्रातः** प्रभाते **सोमम्** ओषधिगणम् **उत** अपि **रुद्रं** जीवं **च हुवेम** गृह्णीयाम; **तथा यूयमप्याचरत** ॥ ३४ । ३४ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे हम—(प्रातः) प्रभात वेला में (अग्निम्) पवित्र, स्वप्रकाशस्वरूप परमात्मा वा अग्नि को; (प्रातः) प्रभात में (इन्द्रम्) परम ऐश्वर्य को, (प्रातः) प्रभात में (मित्रावरुणा) प्राण और उदान को, (प्रातः) प्रभात में (अश्विना) अध्यापक और उपदेशक को (हवामहे) स्वीकार करते हैं; वा बुलाते हैं। (प्रातः) प्रभात में (भगम्) सेवन करने योग्य भाग को, (पूषणम्) पुष्टिकारक भोग को, (ब्रह्मणः) धन वा वेद के (पतिम्) स्वामी वा पालक को, (प्रातः) प्रभात में (सोमम्) ओषधि

गण को (उत) और (रुद्रम्) जीव को भी (हुवेम) ग्रहण करते हैं—वैसे तुम भी करो ॥ ३४ । ३४ ॥

भावार्थः—ये मनुष्याः प्रातः परमेश्वरोपासनम्, अग्निहोत्रम्, ऐश्वर्य्योन्नत्युपायं प्राणापानपुष्टिकरणम्, अध्यापकोपदेशकान् विदुष, ओषधिसेवनं जीवं च प्राप्तुं ज्ञातुं च प्रयतन्ते, ते सर्वैः सुखैरलङ्कृताः स्युः ॥ ३४ । ३४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य प्रातः परमेश्वर की उपासना, अग्निहोत्र, ऐश्वर्य की उन्नति का उपाय, प्राण और अपान की पुष्टि, अध्यापक-उपदेशक विद्वानों की तथा ओषधियों का सेवन और जीव को प्राप्त करने तथा जानने का प्रयत्न करते हैं; वे सब सुखों से अलंकृत होते हैं ॥ ३४ । ३४ ॥

भा० पदार्थः—अग्निम्=परमेश्वरोपासनम्, अग्निहोत्रम् । इन्द्रम्=ऐश्वर्य्योन्नत्युपायम् । मित्रावरुणा=प्राणापानपुष्टिकरणम् । अश्विना=अध्यापकोपदेशकौ विद्वांसौ । सोमम्=ओषधिसेवनम् ॥

भाष्यसार—**मनुष्य क्या करें**—सब मनुष्य—प्रभातवेला में—पवित्र, स्वप्रकाशस्वरूप, परमात्मा की उपासना करें । अग्निहोत्र करें । परम ऐश्वर्य को बढ़ावें । प्राण और अपान को पुष्ट करें अर्थात् प्राणायाम करें । अध्यापक और उपदेशक जनों का संग करें । भजन करने योग्य ईश्वर, पुष्टिकारक भोग को ग्रहण करें । धन के स्वामी और वेद के पालक की सेवा करें । ओषधियों का सेवन करें । जीव को प्राप्त करने और जानने का प्रयत्न करें । जो मनुष्य मन्त्रोक्त आचरण करते हैं वे सब सुखों से अलंकृत होते हैं ॥ ३४ । ३४ ॥

वसिष्ठः । **भगः**=**ऐश्वर्यम्** । निचृत्त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

मनुष्या ऐश्वर्यं सम्पादयेयुरित्याह ॥

मनुष्य ऐश्वर्य्य का सम्पादन करें, यह उपदेश किया है ॥

प्रातर्जितं भगमुग्रꣳ हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्त्ता ।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह ॥ ३५ ॥

पदार्थः—(प्रातः) प्रभाते (**जितम्**) स्वपुरुषार्थेन लब्धम् (**भगम्**) ऐश्वर्य्यम् (**उग्रम्**) अत्युत्कृष्टम् (**हुवेम**) गृह्णीयाम (**वयम्**) (**पुत्रम्**) (**अदितेः**) अविनाशिनः कारणस्येव मातुः (**यः**) (**विधर्त्ता**) यो विविधान् पदार्थान् धरति सः (**आध्रः**) अपुत्रस्य पुत्रः (**चित्**) अपि (**यम्**) (**मन्यमानः**) विजानन् (**तुरः**) त्वरमाणः (**चित्**) अपि (**राजा**) राजमानः (**चित्**) (**यम्**) (**भगम्**) ऐश्वर्यम् (**भक्षि**) सेवस्व (**इति**) अनेन प्रकारेण (**आह**) परमेश्वर उपदिशति ॥ ३५ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा वयं प्रातर्यो विधर्त्ता आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजाऽस्ति यं भगं चिद्भक्षीत्याह तमदितेः पुत्रं जितमुग्रं भगं हुवेम तथा यूयमपि स्वीकुरुत ॥ ३५ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे मनुष्या ! यथा वयं प्रातः** प्रभाते **यो विधर्त्ता** यो विविधान् पदार्थान् धरति सः, **आध्रः** अपुत्रस्य पुत्रः, **चित्** अपि **यं मन्यमानः** विजानन्, **तुरः** त्वरमाणः, **चित्** अपि **राजा** राजमानः **अस्ति**; **यं भगम्** ऐश्वर्यं **चित्** अपि

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे हम—(प्रातः) प्रभात वेला में (यः) जो (विधर्त्ता) विविध पदार्थों को धारण करने वाला है, (आध्रः) अपुत्र का पुत्र है, (चित्) और (यम्) जिस ऐश्वर्य को (मन्यमानः) स्वीकार करने वाला, (तुरः) शीघ्रकारी

भक्षि सेवस्व; **इति** अनेन प्रकारेण **आह** परमेश्वर उपदिशति ।

तमदितेः अविनाशिनः कारणस्येव मातुः **पुत्रं**, **जितं** स्वपुरुषार्थेन लब्धम् **उग्रम्** अत्युत्कृष्टं **भगम्** ऐश्वर्यं, **हुवेम** गृह्णीयाम; **तथा यूयमपि स्वीकुरुत** ।। ३४ । ३५ ।।

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । हे मनुष्याः ! युष्माभिः सदा प्रातरारभ्य शयनपर्यन्तं यथाशक्ति सामर्थ्येन, विद्यया, पुरुषार्थेन, ऐश्वर्योन्नतिं विधायाऽऽनन्दो भोक्तव्यो, दरिद्रेभ्यः सुखं देयमित्याहेश्वरः ।। ३४ । ३५ ।।

(चित्) और (राजा) प्रकाशमान राजा है, (यम्) उक्त (भगम्) ऐश्वर्य का (चित्) भी (भक्षि) सेवन कर; (इति) इस प्रकार से (आह) परमेश्वर उपदेश करता है ।

उस-(अदितेः) अविनाशी कारण के तुल्य माता के (पुत्रम्) पुत्र, (जितम्) अपने पुरुषार्थ से प्राप्त, (उग्रम्) अत्युत्तम (भगम्) ऐश्वर्य को (हुवेम) हम ग्रहण करते हैं; वैसे तुम भी स्वीकार करो ।। ३४ । ३५ ।।

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । हे मनुष्यो ! तुम—सदा प्रातःकाल से लेकर शयन पर्यन्त यथाशक्ति सामर्थ्य, विद्या और पुरुषार्थ से ऐश्वर्य की उन्नति करके आनन्द भोगो, दरिद्रों को सुख प्रदान करो; यह ईश्वर का उपदेश है ।। ३४ । ३५ ।।

भा० पदार्थः—भगम्=ऐश्वर्योन्नतिम् ।।

भाष्यसार—१. **ऐश्वर्य का सम्पादन**—सब मनुष्य प्रभात वेला में—जो ऐश्वर्य विविध पदार्थों को धारण करने वाला है, जिसका कोई पुत्र नहीं उसका यह पुत्र के तुल्य है; ऐश्वर्य को स्वीकार करने वाला पुरुष कार्यों को शीघ्र सिद्ध करने वाला तथा राजा होता है । परमेश्वर का यह उपदेश है कि हे मनुष्य ! तू इस ऐश्वर्य का सेवन कर । यह ऐश्वर्य अदिति का पुत्र है अर्थात् अदिति (अविनाशी=कारण=प्रकृति) इसकी माता है । यह पुरुष से प्राप्त किया जाता है । यह अति उत्कृष्ट है । सब मनुष्य उक्त ऐश्वर्य को ग्रहण करें; इसे स्वीकार करें ।

सब मनुष्य—प्रातःकाल से लेकर शयन पर्यन्त यथाशक्ति सामर्थ्य, विद्या और पुरुषार्थ से ऐश्वर्य का सम्पादन करें । उससे आनन्द को भोगें । दरिद्रों को सुख प्रदान करें ।

२. **अलंकार**—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है, अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । उपमा यह है कि ऐश्वर्य अदिति के पुत्र के तुल्य है ।। ३४ । ३५ ।। ●

वसिष्ठः । **भगवान्**=ईश्वरः । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ।।

अथेश्वरप्रार्थनादिकविषयमाह ।।

अब ईश्वर-प्रार्थना आदि विषय का उपदेश किया जाता है ।।

भग प्रणेतुर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः ।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ।। ३६ ।।

पदार्थः—(**भग**) ऐश्वर्ययुक्त ! (**प्रणेतः**) पुरुषार्थ प्रतिप्रेरक (**भग**) ऐश्वर्यप्रद ! (**सत्यराधः**) सत्सु साधूनि राधांसि=धनानि यस्य तत्सम्बुद्धौ (**भग**) भजनीय ! (**इमाम्**) वर्त्तमानाम् (**धियम्**)

प्रज्ञाम् (उत्) (अव) रक्ष। **अत्र द्वयचोऽतस्तिङ इति दीर्घः।** (**ददत्**) ददानः (**नः**) अस्माकम् (**भग**) विद्यैश्वर्यप्रद ! (**प्र**) (**नः**) अस्मान् (**जनय**) प्रकटय (**गोभिः**) धेन्वादिभिः (**अश्वैः**) अश्वादिभिः (**भग**) भजमान ! (**प्र**) (**नृभिः**) नायकैः (**नृवन्तः**) (**स्याम**) भवेम ॥ ३६ ॥

प्रमाणार्थ—(**रक्ष**) यहाँ 'द्वयचोऽतस्तिङः' (अ० ६। ३। १३५) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—'रक्षा' ॥

अन्वयः—हे भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भग ! त्वं नोऽस्माकमिमां धियं ददत्सदुदव। हे भग ! त्वं गोभिरश्वैर्नृभिस्सह नोऽस्मान् प्रजनय। हे भग ! ये वयं नृवन्तः प्रस्याम तथा विधेहि ॥ ३६ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे भग** ऐश्वर्ययुक्त, **प्रणेतः** पुरुषार्थं प्रति प्रेरक, **भग** ऐश्वर्यप्रद, **सत्यराधः** सत्सु साधूनि राधांसि=धनानि यस्य तत्सम्बुद्धौ **भग** भजनीय ! **त्वं नः**=**अस्माकमिमां** वर्त्तमानां **धियं** प्रज्ञां **ददत्** ददानः **सदुदव** रक्ष।

हे **भग** विद्यैश्वर्यप्रद ! **त्वं गोभिः** धेन्वादिभिः **अश्वैः** अश्वादिभिः **नृभिः** नायकैः **सह न**=**अस्मान् प्रजनय** प्रकटय।

हे [illegible] भजमान ! **येन वयं नृवन्तः प्रस्याम** भवेम; **तथा** विधेहि ॥ ३४। ३६ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यदा यदेश्वरस्य प्रार्थना, विदुषां सङ्गः क्रियेत तदा प्रज्ञैव याचनीया, उतापि सन्तपुरुषाः ॥ ३४। ३६ ॥

भाषार्थ—हे (भग) ऐश्वर्य से युक्त, (प्रणेतः) पुरुषार्थ की ओर प्रेरणा करने वाले, (भग) ऐश्वर्य प्रदान करने वाले, (सत्यराधः) सत्य धनों से युक्त, (भग) भजनीय ईश्वर ! तू—(नः) हमारी (इमाम्) इस वर्तमान (धियम्) प्रज्ञा को (ददत्) देता हुआ (उदव) उत्तमता से रक्षा कर।

हे (भग) विद्यारूप ऐश्वर्य को प्रदान करने वाले विद्वान् ! तू—(गोभिः) गौ आदि तथा (अश्वैः) घोड़े आदि पशु और (नृभिः) नायक नरों के साथ (नः) हमें (प्रजनय) प्रसिद्ध कर।

हे (भग) भजन करने वाले सन्त पुरुष ! जिससे हम (नृवन्तः) नरों से युक्त (प्र+स्याम) अच्छे प्रकार होवें; वैसा कर ॥ ३४। ३६ ॥

भावार्थ—मनुष्य जब जब ईश्वर—प्रार्थना तथा विद्वानों का संग करें तब प्रज्ञा की ही याचना करें, अथवा सन्त पुरुषों की कामना किया करें ॥ ३४। ३६ ॥

भाष्यसार—**ईश्वर प्रार्थना आदि विषय**—हे ऐश्वर्य से युक्त, पुरुषार्थ के प्रति प्रेरणा करने वाले, ऐश्वर्य के दाता, सत्य धनों से युक्त, भजनीय परमेश्वर ! तू हमें प्रज्ञा (बुद्धि) प्रदान करके हमारी उत्तम रीति से रक्षा कर। हे विद्या रूप ऐश्वर्य प्रदान करने वाले विद्वान् ! तू—दुधारु गाय, घोड़े और नायक नरों के साथ हमें प्रसिद्ध कर। हे भजन करने वाले सन्त पुरुष ! जैसे हम उत्तम नरों से युक्त हों; ऐसा आप कीजिए ॥ ३४। ३६ ॥

अन्यत्र व्याख्यात—हे भगवान् ! परमैश्वर्यवन् ! भग ऐश्वर्य के दाता, संसार वा परमार्थ में आप ही हो, तथा "भगप्रणेतः' आप के ही स्वाधीन सकल ऐश्वर्य है; अन्य किसी के आधीन नहीं। आप जिसको चाहो उसको ऐश्वर्य देओ, सो आप कृपा से हम लोगों का दारिद्रय छेदन करके हमको परमैश्वर्य वाले करें, क्योंकि ऐश्वर्य के प्रेरक आप ही हो। हे "सत्यराधः" भगवन् ! सत्यैश्वर्य की सिद्धि करने वाले आप ही हो, सो आप नित्य ऐश्वर्य हमको दीजिए, तथा जो मोक्ष कहाता है उस

सत्य ऐश्वर्य का दाता आप से भिन्न कोई भी नहीं है। हे सत्यभग! पूर्ण ऐश्वर्य, सर्वोत्तम बुद्धि हमको आप दीजिए जिससे हम लोग आप के गुण और आप की आज्ञा का अनुष्ठान ज्ञान इनको यथावत् प्राप्त हों। हमको सत्यबुद्धि, सत्यकर्म और सत्यगुणों को "उदव' (उद्गय प्रापय) प्राप्त कर, जिससे हम लोग सूक्ष्म से भी सूक्ष्म पदार्थों को यथावत् जानें।

"भग प्र नो जनय" हे सर्वैश्वर्योत्पादक! हमारे लिए ऐश्वर्य को अच्छे प्रकार से उत्पन्न कर, सर्वोत्तम गाय, घोड़े और मनुष्य इनसे सहित अत्युत्तम ऐश्वर्य हम को सदा के लिए दीजिए।

हे सर्वशक्तिमन्! आप की कृपा से सब दिन हम लोग उत्तम-उत्तम पुरुष स्त्री और सन्तान भृत्य वाले हों। आप से यह हमारी अधिक प्रार्थना है कि कोई मनुष्य हम में दुष्ट और मूर्ख न रहे, न उत्पन्न हो, जिससे हम लोगों की सर्वत्र सत्कीर्ति हो; निन्दा कभी न हो ॥ ३४। ३६ ॥

वसिष्ठः। **भगः**=ऐश्वर्योन्नतिः। पङ्क्तिः। पञ्चमः।

अथैश्वर्योन्नतिविषयमाह ॥

अब ऐश्वर्य की उन्नति विषयक उपदेश किया है ॥

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्वऽउत मध्ये॑ऽ अह्नाम्।
उतोदिता मघवन्त्सूर्य्यस्य वयं देवानाᳬं सुमतौ स्याम ॥ ३७ ॥

पदार्थः—(**उत**) अपि (**इदानीम्**) वर्त्तमानसमये (**भगवन्तः**) सकलैश्वर्ययुक्ताः (**स्याम**) (**उत**) अपि (**प्रपित्वे**) पदार्थानां प्रापणे (**उत**) (**मध्ये**) (**अह्नाम्**) दिवसानाम् (**उत**) (**उदिता**) उदयसमये (**मघवन्**) परमपूजितधनयुक्त! (**सूर्यस्य**) (**वयम्**) (**देवानाम्**) विदुषाम् (**सुमतौ**) (**स्याम**) ॥ ३७ ॥

अन्वयः—हे मघवन्! वयमिदानीमुत प्रपित्वे उत भविष्यति उताह्नां मध्ये भगवन्तः स्याम। उत सूर्यस्योदिता देवानां सुमतौ भगवन्तः स्याम ॥ ३७ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे मघवन्**! परमपूजितधनयुक्त! **वयमिदानीं** वर्त्तमानसमये, **उत** अपि **प्रपित्वे** पदार्थानां प्रापणे, **उत** अपि **भविष्यति, उत** अपि **अह्नां** दिवसानां **मध्ये भगवन्तः** सकलैश्वर्ययुक्ताः **स्याम**।

उत अपि **सूर्यस्योदिता** उदयसमये **देवानां** विदुषां **सुमतौ भगवन्तः** सकलैश्वर्ययुक्ताः **स्याम** ॥ ३४। ३७ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्वर्त्तमाने भविष्यति च योगैश्वर्यस्योन्नतेर्लौकिकस्य व्यवहारस्य वर्द्धने प्रशंसायां च सततं प्रयतितव्यम् ॥ ३४। ३७ ॥

भाषार्थ—हे (मघवन्) परम पूजित धन से युक्त ईश्वर! हम लोग—(इदानीम्) वर्तमान समय में (उत) भी (प्रपित्वे) पदार्थों के प्राप्त करने में, (उत) और भविष्यत् काल में (उत) भी (अह्नाम्) दिनों के (मध्ये) मध्य में (भगवन्तः) सकल ऐश्वर्य से युक्त (स्याम) होवें।

(उत) और—(सूर्यस्य) सूर्य के (उदिता) उदय-समय में (देवानाम्) विद्वानों की (सुमतौ) सुमति में रहते हुए (भगवन्तः) सकल ऐश्वर्य से युक्त (स्याम) होवें ॥ ३४। ३७ ॥

भावार्थ—मनुष्य—वर्तमान और भविष्यत् में योगैश्वर्य की उन्नति से लौकिक व्यवहार की वृद्धि और प्रशंसा में सदा प्रयत्नकरें ॥ ३४। ३७॥

भा० पदार्थः—प्रपित्वे=योगैश्वर्यस्योन्नतेर्लौकिकस्य व्यवहारस्य वर्द्धने, प्रशंसायां च ॥

भाष्यसार—ऐश्वर्य की उन्नति—हे परम पूजित धन से युक्त ईश्वर ! हम लोग—इस वर्तमान समय में उत्तम पदार्थों को प्राप्त करने में लगे रहे तथा भविष्यत् काल में भी प्रतिदिन सकल ऐश्वर्य से युक्त हों। सूर्य के उदयकाल में विद्वानों की सुमति में रह कर सकल योग ऐश्वर्य की उन्नति करें। लौकिक व्यवहार की वृद्धि और प्रशंसा में सदा प्रयत्न करें ॥ ३४ । ३७ ॥ ●

वसिष्ठः । **भगवान्**=ईश्वरः । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

ऐश्वर्य की उन्नति का फिर उपदेश किया है ॥

भग ऽ एव भगवाँ२ऽ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम ।
तं त्वा भग सर्वऽइज्जोहवीति स नो भग पुर ऽ एता भवेह ॥ ३८ ॥

पदार्थः—(भगः) भजनीयः=सेवनीयः (**एव**) (**भगवान्**) प्रशस्तैश्वर्ययुक्तः (**अस्तु**) भवतु (**देवाः**) विद्वांसः (**तेन**) भगस्वरूपेण भगवता परमेश्वरेण सह (**वयम्**) (**भगवन्तः**) सकलशोभायुक्ताः (**स्याम**) भवेम (**तम्**) (**त्वा**) त्वाम् (**भग**) अखिलशोभायुक्त ! (**सर्वः**) अखिलो जनः (**इत्**) एव (**जोहवीति**) भृशमाह्वयति (**सः**) (**नः**) अस्माकम् (**भगः**) सकलैश्वर्यप्रद ! (**पुरएता**) यः पुरस्तादेति सः (**भव**) (**इह**) ॥ ३८ ॥

अन्वयः—हे देवाः ! यो भग एव भगवानस्तु तेन वयं भगवन्तः स्याम । हे भग ! तं त्वा सर्व इज्जोहवीति । भग ! स त्वमिह नः पुरएता भव ॥ ३८ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे देवाः** विद्वांसः ! **यो भगः** भजनीयः=सेवनीय **एव भगवान्** प्रशस्तैश्वर्ययुक्तः **अस्तु** भवतु, **तेन** भगस्वरूपेण भगवता परमेश्वरेण सह **वयं भगवन्तः** सकलशोभायुक्ताः **स्याम** भवेम ।

हे भग अखिलशोभायुक्त ! **तं त्वा** त्वां **सर्वः** अखिलो जनः **इत्** एव **जोहवीति** भृशमाह्वयति ।

भग ! सकलैश्वर्यप्रद ! **स त्वमिह नः** अस्माकं **पुर एता** यः पुरस्तादेति सः, **भव** ॥ ३४ । ३८ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यूयं यः सकलैश्वर्यसम्पन्नः परमेश्वरस्तेन चास्योपासका विद्वांसस्तैस्सह सिद्धाः श्रीमन्तश्च भवत ।

यो जगदीश्वरो मातापितृवदस्मासु कृपयति, तद्भक्तिपुरःसरेणेह मनुष्यानैश्वर्यवतः सततं कुरुत ॥ ३४ । ३८ ॥

भाषार्थ—हे (देवाः) विद्वानो ! जो (भगः) भजनीय एवं सेवनीय (एव) ही (भगवान्) प्रशस्त ऐश्वर्य से युक्त (अस्तु) है; (तेन) उस ऐश्वर्य स्वरूप भगवान् परमेश्वर के साथ (वयम्) हम (भगवन्तः) सकल शोभा से युक्त (स्याम) होवें।

हे (भग) अखिल शोभा से युक्त ईश्वर ! (तम्) उस (त्वा) तुझ को (सर्वः) सब जनता (इत्) ही (जोह्वीति) अत्यन्त पुकारती है।

हे (भग) सकल ऐश्वर्य प्रदान करने वाले ईश्वर ! (सः) वह तू—(इह) यहाँ (नः) हमारा (पुर एता) अग्रगामी (भव) हो ॥ ३४ । ३८ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! तुम—जो सकल ऐश्वर्य से सम्पन्न परमेश्वर है; और उसके साथ इसके उपासक विद्वान् और उनके साथ सिद्ध और श्रीमान् लोग हों।

जो जगदीश्वर माता-पिता के तुल्य हम पर कृपा करता है; उसकी भक्तिपूर्वक यहाँ मनुष्यों को ऐश्वर्यवान् सदा करो ॥ ३४ । ३८ ॥

भा० पदार्थः—भगवान्=सकलैश्वर्यसम्पन्नः परमेश्वरः । देवाः=उपासका विद्वांसः । भगवन्तः=सिद्धाः श्रीमन्तश्च ।

भाष्यसार—**ऐश्वर्य की उन्नति**—जो भगवान् भजनीय (उपासनीय) तथा प्रशस्त ऐश्वर्य से युक्त है उस ऐश्वर्य स्वरूप भगवान् परमेश्वर के संग से विद्वान् लोग सकल शोभा से युक्त हों । अखिल शोभा से युक्त परमेश्वर का हम आह्वान करते हैं; उसे पुकारते हैं । सकल ऐश्वर्य प्रदान करने वाला ईश्वर हमारा अग्रगामी है । वह माता-पिता के तुल्य हम पर कृपा करता है । उसकी भक्तिपूर्वक यहाँ हम लोग ऐश्वर्यवान् बनें ।। ३४ । ३८ ।।

अन्यत्र व्याख्यात—हे सर्वाधिपते ! महाराजेश्वर ! आप भग परमैश्वर्यस्वरूप होने से भगवान् हो । हे (देवाः) विद्वानो ! "तेन" (भगवता प्रसन्नेश्वरसहायेन) उस भगवान् प्रसन्न ईश्वर के सहाय से हम लोग परमैश्वर्ययुक्त हों ।

हे "भग" परमेश्वर ! सर्व संसार "तन्त्वा" उन आप को ही ग्रहण करने को अत्यन्त इच्छा करता है, क्योंकि कौन ऐसा भाग्यहीन मनुष्य है जो आप को प्राप्त होने की इच्छा न करे । सो आप हम को प्रथम से प्राप्त हों, फिर कभी हमसे आप और ऐश्वर्य अलग न हो । आप अपनी कृपा से इसी जन्म में परमैश्वर्य्य का यथावत् भोग हम लोगों को करावें, परजन्म में तो कर्मानुसार फल होता ही है, तथा आप की सेवा में हम नित्य तत्पर रहें ।। ३४ । ३८ ।। ●

वसिष्ठः । **भगः**=ऐश्वर्योन्नतिः । त्रिष्टुप् । धैवतः ।।

पुनस्तमेव विषयमाह ।।

ऐश्वर्य की उन्नति का फिर उपदेश किया है ।।

समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय ।
अर्वाचीनं वसुविदं भगं नो रथमिवाश्वा वाजिनऽआ वहन्तु ॥ ३९ ॥

पदार्थः—(**सम्**) (**अध्वराय**) अहिंसामयाय व्यवहाराय (**उषसः**) प्रभाताः (**नमन्त**) नमन्ति (**दधिक्रावेव**) यथा धारकः क्रमितोऽश्वस्तथा (**शुचये**) पवित्राय (**पदाय**) प्रापणीयाय (**अर्वाचीनम्**) इदानीन्तनम् (**वसुविदम्**) येन वसूनि=विविधानि धनानि विन्दति तम् (**भगम्**) ऐश्वर्ययुक्तम् (**नः**) अस्मान् (**रथमिव**) रमणीयं यानमिव (**अश्वाः**) आशुगामिनः (**वाजिनः**) तुरङ्गाः (**आ**) (**वहन्तु**) गमयन्तु ।। ३९ ।।

अन्वयः—हे मनुष्याः ! उषसो दधिक्रावेव शुचये पदायाऽध्वराय सन्नमन्त वाजिनोऽश्वा रथमिव नोऽर्वाचीनं वसुविदं भगं प्रापयन्ति तथैतौ भवन्त आ वहन्तु ॥ ३९ ।।

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! **उषसः** प्रभाताः **दधिक्रावेव** यथा धारकः क्रमितोऽश्वस्तथा, **शुचये** पवित्राय **पदाय** प्रापणीयाय **अध्वराय** अहिंसामयाय व्यवहाराय **सन्नमन्त** नमन्ति, **वाजिनः** तुरङ्गाः **अश्वाः** आशुगामिनः **रथमिव** रमणीयं

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! (उषसः) प्रभात वेलाएँ—(दधिक्रावेव) सवार को धारण करके गति विशेष वाले घोड़े के तुल्य, (शुचये) पवित्र (पद) प्राप्त करने योग्य पद तथा (अध्वराय) अहिंसामय व्यवहार के लिए (सन्नमन्त) उत्तम

यानमिव **नः** अस्मान् **अर्वाचीनम्** इदानीन्तनं **वसुविदं** येन वसूनि=विविधानि धनानि विन्दन्ति तं **भगम्** ऐश्वर्ययुक्तं **प्रापयन्ति, तथैतौ भवन्त आ+वहन्तु** गमयन्तु ॥ ३४ । ३९ ॥

रीति से झुकती हैं; और जैसे—(अश्वाः) शीघ्रगामी (वाजिनः) घोड़े (रथम्) रथ को ले जाते हैं—वैसे (नः) हमें (अर्वाचीनम्) नवीन (वसुविदम्) विविध धनों को प्राप्त कराने वाले (भगम्) ऐश्वर्य को प्राप्त कराती हैं; वैसे इन दोनों घोड़ों को आप लोग (आ+वहन्तु) सब ओर चलावें ॥ ३४।३९ ॥

भावार्थः—अत्र द्वावुपमालङ्कारौ। ये मनुष्या उषर्वद् विद्याधर्मौ प्रकाशयन्ति, अश्वयानानीव सद्यः समग्रमैश्वर्यं सर्वान् प्रापयन्ति ते शुचयो विद्वांसो विज्ञेयाः ॥ ३४ । ३९ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में दो उपमा अलङ्कार हैं। जो मनुष्य उषा के तुल्य विद्या और धर्म को प्रकाशित करते हैं; अश्व-यानों के तुल्य शीघ्र समग्र ऐश्वर्य सबको पहुँचाते हैं; उन्हें पवित्र विद्वान् समझें ॥ ३४ । ३९ ॥

भा० पदार्थः—भगम्=समग्रमैश्वर्यम् ॥

भाष्यसार—**१. ऐश्वर्य की उन्नति**—जैसे सवार को धारण करने घाला घोड़ा विशेष गति करता है वैसे प्रभात वेलाएँ पवित्र, प्राप्त करने योग्य विद्या तथा अहिंसामय व्यवहार (धर्म) के लिए झुकती हैं, विशेष गति करती हैं। जैसे शीघ्रगामी घोड़े रमणीय यान (रथ) को देशान्तर में पहुँचाते हैं; वैसे प्रभात वेलाएँ—नवीन, विविध धनों को प्राप्त करने वाले, ऐश्वर्यवान् विद्वान् को प्राप्त कराती हैं। वह विद्वान् अश्वयान के तुल्य शीघ्र समग्र ऐश्वर्य सब को प्राप्त कराता है। वह पवित्र विद्वान् हैं।

२. अलंकार—इस मन्त्र में दो बार 'इव' पद का प्रयोग है; अतः दो उपमा अलङ्कार हैं। प्रथम उपमा यह है कि—उषा सवार को धारण करके विशेष गति वाले घोड़े के तुल्य झुकती है; विशेष गति करती है। द्वितीय उपमा यह है कि—जैसे घोड़े रथ को देशान्तर में पहुँचाते हैं वैसे ऐश्वर्यवान् विद्वान् समग्र ऐश्वर्य सब मनुष्यों को शीघ्र पहुँचाते हैं ॥ ३४ । ३९ ॥

वशिष्ठः । **उषाः**=स्पष्टम् । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

विदुष्यः किं कुर्युरित्याह ॥

अब विदुषी स्त्रियाँ क्या करें, यह उपदेश किया है ॥

अश्वा॑वती॒र्गोम॑तीर्न ऽ उ॒षासो॑ वी॒रव॑तीः॒ सद॑मुच्छन्तु भ॒द्राः ।
घृ॒तं दुहा॑ना वि॒श्वतः॒ प्रपी॑ता यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभिः॒ सदा॑ नः ॥ ४० ॥

पदार्थः—(**अश्वावतीः**) प्रशस्तान्यश्वानि=व्याप्तिशीलान्युदकानि विद्यन्ते यासु ताः (**गोमतीः**) बहवो गावः=किरणा विद्यन्ते यासु ताः (**नः**) अस्माकम् (**उषासः**) प्रभाताः (**वीरवतीः**) बहवो वीराः सन्ति यासु ताः (**सदम्**) सीदन्ति यस्मिँस्तत् (**उच्छन्तु**) विवसन्तु (**भद्राः**) भन्दनीयाः=कल्याणकर्यः (**घृतम्**) शुद्धं प्रदीप्तमुदकम् । घृतमित्युदकना० ॥ निघं० १ । १२ ॥ (**दुहानाः**) प्रपूर्य्यन्त्यः (**विश्वतः**) सर्वतः (**प्रपीताः**) प्रकर्षेण पीता=वृद्धाः (**यूयम्**) (**पात**) रक्षत (**स्वस्तिभिः**) स्वास्थ्यप्रदैः सुखैः (**सदा**) (**नः**) अस्मान् ॥ ४० ॥

प्रमाणार्थ—(घृतम्) शुद्धं प्रदीप्तमुदकम्। 'घृत' यह पद निघण्टु (१। १२) में उदक-नामों में पठित है—उदक=जल॥

अन्वयः—हे विदुष्यः स्त्रियो! यथाऽश्वावतीर्गोमतीर्वीरवतीर्भद्रा घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता उषासोऽस्माकं सदं प्राप्नुवन्ति तथाऽस्माकं सदं भवन्त्य उच्छन्तु नोऽस्मान् यूयं स्वस्तिभिः सदा पात॥ ४०॥

सपदार्थान्वयः—**हे विदुष्यः स्त्रियः! यथाऽश्वावतीः** प्रशस्तान्यश्वानि=व्याप्तिशीलान्युदकानि विद्यन्ते यासु ताः, **गोमतीः** बहवो गावः=किरणा विद्यन्ते यासु ताः, **वीरवतीः** बहवो वीराः सन्ति यासु ताः, **भद्राः** भन्दनीया=कल्याणकर्य्यः, **घृतं** शुद्धं प्रदीप्तमुदकं **दुहानाः** प्रपूर्य्यन्त्य, **विश्वतः** सर्वतः **प्रपीताः** प्रकर्षेण पीता=वृद्धाः, **उषासः** प्रभाताः; **अस्माकं सदं** सीदन्ति यस्मिँस्तत् **प्राप्नुवन्ति तथाऽस्माकं सदं** सीदन्ति यस्मिँस्तत् **भवन्त्य उच्छन्तु** विवसन्तु।

नः=अस्मान् यूयं स्वस्तिभिः स्वास्थ्यप्रदैः सुखैः **सदा पात** रक्षत॥ ३४। ४०॥

भाषार्थ—हे विदुषी स्त्रियो! जैसे—(अश्वावतीः) प्रशस्त अश्व=व्याप्तिशील जलों वाली, (गोमतीः) बहुत गौ=किरणों वाली, (वीरवतीः) बहुत वीरों वाली (भद्राः) कल्याणकारी (घृतम्) शुद्ध, प्रदीप्त जल को (दुहानाः) पूरण करने वाली (विश्वतः) सब ओर (प्रपीताः) अत्यन्त बढ़ी हुई (उषासः) प्रभात वेलाएँ—हमारे (सदम्) निवास-स्थान को प्राप्त होती हैं, वैसे हमारे (सदम्) निवास-स्थान में आप (उच्छन्तु) विशेष रूप से वास करो। और—

(नः) हमारी (यूयम्) तुम (स्वस्तिभिः) स्वास्थ्य प्रदान करने वाले सुखों से सदा (पात) रक्षा करो॥ ३४। ४०॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथा प्रभातवेला जाग्रतां मनुष्याणां सौख्यप्रदा भवन्ति, तथा विदुष्यः स्त्रियः कुमारीणां विद्यार्थिनीनां कन्यानां विद्यासु शिक्षासौभाग्यं वर्द्धयित्वा सदैता आनन्दयन्तु॥ ३४। ४०॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलङ्कार है। जैसे प्रभात वेलाएँ जागने वाले मनुष्यों को सौख्य प्रदान करने वाली होती हैं; वैसे विदुषी स्त्रियाँ—कुमारी, विद्यार्थिनी कन्याओं की विद्या, सुशिक्षा और सौभाग्य को बढ़ाकर सदा इन्हें आनन्दित करें॥ ३४। ४०॥

भा० पदार्थः—स्वस्तिभिः=विद्यासुशिक्षासौभाग्यैः॥

भाष्यसार—**१. विदुषी स्त्रियाँ क्या करें**—प्रशस्त व्यापक जलों वाली, बहुत किरणों वाली, बहुत वीरों वाली, कल्याणकारी, शुद्ध जल से परिपूरण, सब ओर अत्यन्त बढ़ी हुई प्रभात वेलाओं के तुल्य विदुषी स्त्रियाँ—हमारे घरों को प्राप्त हों। हमारे घरों में विशेष रूप से वास करें। स्वास्थ्य प्रदान करने वाले सुखों से हमारी रक्षा करें।

जैसे प्रभात वेलाएँ जागे हुए मनुष्यों को सुख प्रदान करने वाली होती हैं; वैसे विदुषी स्त्रियाँ कन्याओं की विद्या, सुशिक्षा और सौभाग्य को बढ़ावें। उन्हें सदा आनन्दित करें॥

२. अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलङ्कार है। उपमा यह है कि विदुषी स्त्रियाँ प्रभात-वेलाओं के तुल्य कन्याओं को विद्यादि से आनन्दित करें॥ ३४। ४०॥

सुहोत्रः । **पूषा**=ईश्वर आप्तजनश्च । गायत्री । षड्जः ॥

अथेश्वराप्तसेविनः कीदृशा भवन्तीत्याह ॥

अब ईश्वर और आप्तजन के सेवक कैसे होते हैं, यह उपदेश किया जाता है ॥

पूष॒न्तव॑ व्र॒ते व॒यं न रि॑ष्येम॒ कदा॑ च॒न । स्तो॒तार॑स्त ऽइ॒ह स्म॑सि ॥ ४१ ॥

पदार्थः—(पूषन्) पुष्टिकारक ! (तव) (व्रते) शीले नियमे वा (वयम्) (न) निषेधे (रिष्येम) (कदा) (चन) कदाचिदपि (स्तोतारः) स्तुतिकर्त्तारः (ते) तव (इह) (स्मसि) स्मः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—हे पूषन् परमेश्वर आप्तविद्वन् वा वयं तव व्रतं तस्माद्वर्त्तेमहि यतो न कदा चन रिष्येम । इह ते स्तोतारः सन्तो वयं सुखिनः स्मसि ॥ ४१ ॥

सपदार्थान्वयः—हे पूषन् !=परमेश्वर आप्तविद्वन् वा पुष्टिकारक ! **वयं तव व्रते** शीले नियमे वा **तस्माद्वर्त्तेमहि, यतो न कदाचन** कदाचिदपि **रिष्येम ।**

इह ते तव **स्तोतारः** स्तुतिकर्त्तारः **सन्तो वयं सुखिनः स्मसि** स्मः ॥ ३४ । ४१ ॥

भावार्थः—ये मनुष्याः परमेश्वरस्याप्तस्य वा गुणकर्मस्वभावानुकूला वर्त्तन्ते ते कदाचिन्नष्टसुखा न जायन्ते ॥ ३४ । ४१ ॥

भाषार्थ—हे (पूषन्) पुष्टिकारक परमेश्वर वा आप्त विद्वान् ! (वयम्) हम लोग (तव) तेरे (व्रते) शील वा नियम में इस लिए रहें कि जिससे (न) मत (कदाचन) कभी (रिष्येम) नष्ट हों ।

(इह) यहाँ (ते) तेरे (स्तोतारः) स्तुति करने वाले होकर हम लोग सुखी (स्मसि) रहें ॥३४।४१॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर वा आप्त जन के गुण-कर्म-स्वभाव के अनुकूल वर्त्ताव करते हैं; वे कभी भी नष्ट सुख वाले नहीं होते ॥ ३४ । ४१ ॥

भाष्यसार—**ईश्वर और आप्तजन के सेवक**—परमेश्वर और आप्तजन पुष्टि करने वाले हैं । मनुष्य परमेश्वर के तथा आप्त जन के व्रत अर्थात् शील वा नियम में विद्यमान रहें । उनके गुण-कर्म, स्वभाव के अनुकूल वर्त्ताव करें । जिससे कभी हिंसित न हों, नष्ट न हों । मनुष्य परमेश्वर तथा आप्तजन की स्तुति करने वाले (सेवक) होकर सदा सुखी रहें ॥ ३४ । ४१ ॥

ऋजिश्वः । **पूषा**=ईश्वर आप्तजनश्च । विराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

ईश्वर और आप्तजनों के सेवक कैसे होते हैं, यह फिर उपदेश किया है ॥

प॒थस्प॑थः॒ परि॑पतिं वच॒स्या कामे॑न कृ॒तो ऽअ॒भ्या॒नड॒र्कम् ।
स नो॑ रासच्छु॒रुध॑श्च॒न्द्राग्रा॒ धियं॑धियᳪं सीषधाति॒ प्र पू॒षा ॥ ४२ ॥

पदार्थः—(पथस्पथः) मार्गस्य मार्गस्य (परिपतिम्) स्वामिनम् (वचस्या) वचसा=वचनेन । अत्र सुपां सुलुगिति सूत्रेण विभक्तेर्यादेशः (कामेन) (कृतः) निष्पन्नः (अभि) अभितः (आनट्) व्याप्नोति (अर्कम्) अर्चनीयम् (सः) (नः) अस्मभ्यम् (रासत्) ददातु (शुरुधः) याः शुरुधो=दुःखानि रुन्धन्ति ताः (चन्द्राग्राः) चन्द्रमाह्लादनमग्रं=मुख्यं यासान्ताः (धियं धियम्) प्रज्ञां प्रज्ञां, कर्म कर्म वा (सीषधाति) साध्नुयात् (प्र) (पूषा) पुष्टिकर्ता ॥ ४२ ॥

प्रमाणार्थ—(वचस्या) वचसा। 'यहाँ सुपां सुलुक्०' (अ० ७।१।३९) इस सूत्र से तृतीया विभक्ति के स्थान में 'या' आदेश है ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः! यो वचस्या कामेन कृतः पूषा जगदीश्वर आप्तो वा शुरुधः चन्द्राग्राः साधनानि नो रासद्धियं धियं प्रसीषधाति स शुभगुणकर्मस्वभावानभ्यानट् तमर्कं पथस्पथः परिपतिं वयं स्तुयाम ॥ ४२ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः! यो **वचस्या** वचसा=वचनेन **कामेन कृतः** निष्पन्नः **पूषा**=**जगदीश्वर आप्तो वा** पुष्टिकर्त्ता, **शुरुधः** याः शुरुधो=दुःखानि रुन्धन्ति ताः, **चन्द्राग्राः** चन्द्रमाह्लादनमग्रं=मुख्यं यासान्ताः, **साधनानि नः** अस्मभ्यं **रासत्** ददातु, **धियं धियं** प्रज्ञां प्रज्ञां, कर्म-कर्म वा **प्र+सीषधाति** साध्नुयात्, **स शुभगुणकर्म स्वभावानभ्यानट्** अभितः व्याप्नोति, **तमर्कम्** अर्चनीयं **पथस्पथः** मार्गस्य मार्गस्य **परिपतिं** स्वामिनं **वयं स्तुयाम** ॥ ३४। ४२ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो! जो (वचस्या) वचन और (कामेन) इच्छा से (कृतः) निष्पन्न (पूषा) पुष्टिकर्त्ता जगदीश्वर वा आप्त जन—(शुरुधः) दुःखों को रोकने वाले, (चन्द्राग्राः) आनन्द प्रधान साधनों को (नः) हमें (रासत्) देता है; (धियं धियम्) प्रत्येक प्रज्ञा वा कर्म को (प्र+सीषधाति) उत्तमता से सिद्ध करता है; वह शुभ गुण-कर्म-स्वभाव को (अभ्यानट्) सब ओर से व्याप्त करता है; उस (अर्कम्) पूजनीय, (पथस्पथम्) प्रत्येक पथ के (परि+पतिम्) स्वामी की हम स्तुति करते हैं ॥ ३४। ४२ ॥

भावार्थः—यो जगदीश्वरः सर्वेषां सुखाय वेदप्रकाशं कामयते, आप्तोऽध्यापयितुमिच्छति; यौ सर्वेभ्यः श्रेष्ठां प्रज्ञां सत्कर्मशिक्षां च प्रदत्तः, तौ सर्वसन्मार्गस्वामिनौ सदा सत्कर्त्तव्यौ ॥३४।४२॥

भावार्थ—जो जगदीश्वर सब के सुख के लिए वेद प्रकाश की कामना करता है, आप्त जन पढ़ाना चाहता है, और जो दोनों सबको श्रेष्ठ प्रज्ञा और सत्कर्म की शिक्षा देते हैं; उन दो सब सन्मार्ग के स्वामियों का सदा सत्कार करो ॥ ३४ ।४२ ॥

भा० पदार्थः—धियं धियं=श्रेष्ठां प्रज्ञां सत्कर्मशिक्षां च। प्रसीषधाति=प्रददाति ॥

भाष्यसार—**ईश्वर और आप्तजन के सेवक**—वेदवाणी के द्वारा इच्छापूर्वक निष्पन्न जगदीश्वर वा आप्तजन पुष्टि करने वाले हैं। ईश्वर सबके सुख के लिए वेद-प्रकाश की कामना करता है। आप्तजन सब को पढ़ाना चाहता है। दुःखों को रोकने वाले, आनन्द को प्रधान मानने वाले हैं। आनन्द के लिए साधन प्रदान करते हैं। प्रत्येक जन की प्रज्ञा और कर्म को सिद्ध करते हैं। वे अपने सेवक गुण-कर्म-स्वभाव को सब ओर से व्याप्त करते हैं। वे प्रत्येक पूजनीय मार्ग के स्वामी हैं। अतः सेवक-जनों के लिए सत्कार के योग्य हैं ॥ ३४। ४२ ॥

मेधातिथिः। **विष्णुः**=ईश्वरः। निचृद्गायत्री। निषादः ॥

अथेश्वरविषयमाह ॥

अब ईश्वर विषयक उपदेश किया जाता है ॥

त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा ऽ अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन् ॥ ४३ ॥

पदार्थः—(**त्रीणि**) (**पदा**) पदानि ज्ञातु प्रापयितुं वा योग्यानि कारणसूक्ष्मस्थूलरूपाणि (**वि**) (**चक्रमे**) विक्रामति (**विष्णुः**) वेवेष्टि=व्याप्नोति चराऽचरं जगत्स परमेश्वरः (**गोपाः**) रक्षकः (**अदाभ्यः**) अहिंसकत्वाद्दयालुः (**अतः**) अस्मात् (**धर्माणि**) धर्मान्=धारकाणि पृथिव्यादीनि वा (**धारयन्**) ॥ ४३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या योऽदाभ्यो गोपा विष्णुर्धर्माणि धारयन्नतस्त्रीणि पदा विचक्रमे स एवाऽस्माकं पूजनीयोऽस्ति ॥ ४३ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **मनुष्याः** ! **यो ऽदाभ्यः** अहिंसकत्वाद् दयालुः, **गोपाः** रक्षकः, **विष्णुः** वेवेष्टि=व्याप्नोति चराचरं जगत्स परमेश्वरः, **धर्माणि** धर्मान्, धारकाणि पृथिव्यादीनि वा **धारयन्नतः** अस्मात् **त्रीणि पदा** पदानि=ज्ञातुं प्रापयितुं वा योग्यानि कारणसूक्ष्मस्थूलरूपाणि **विचक्रमे** विक्रामति; **स एवाऽस्माकं पूजनीयो-ऽस्ति** ॥ ३४ । ४३ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जो (**अदाभ्यः**) अहिंसक होने से दयालु, (गोपाः) रक्षकः, (विष्णुः) चराचर जगत् को व्याप्त करने वाला परमेश्वर—(धर्माणि) धर्मों अथवा धारण करने वाले पृथिवी आदिक को (धारयन्) धारण करता हुआ (त्रीणि) तीन (पदा) जानने वा प्राप्त करने योग्य कारण, सूक्ष्म और स्थूल रूप जगत् (विचक्रमे) विशेष रूप से बनाता है; वही हमारा पूजनीय है ॥ ४३ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! येन परमेश्वरेण भूम्यन्तरिक्षसूर्यरूपेण त्रिविधं जगन्निर्मितं, सर्वं ध्रियते, रक्षयते च, स एवोपासनीय इष्टदेवो-ऽस्ति ॥ ३४ । ४३ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जिस परमेश्वर ने भूमि, आकाश और सूर्य रूप से तीन प्रकार का जगत् बनाया है, सब का धारण तथा रक्षण करता है; वही उपासनीय इष्टदेव है ॥ ३४ । ४३ ॥

भा० पदार्थः—त्रीणि=भूम्यन्तरिक्षसूर्यरूपेण त्रिविधं जगत् ॥

भाष्यसार—**ईश्वर विषयक उपदेश**—परमेश्वर अहिंसक होने से दयालु है। वह रक्षक तथा चराचर जगत् में व्यापक है। धर्म तथा पृथिवी आदि को धारण करने वाला है। कारण, सूक्ष्म और स्थूल जगत् को विविध रूप में बनाता है। वह भूमि, अन्तरिक्ष और सूर्य रूप में तीन प्रकार के जगत् का निर्माण, धारण और रक्षण करता है। वही पूजनीय, उपासनीय इष्ट देव है ॥ ३४ । ४३ ॥ ●

मेधातिथिः । **विष्णुः=ईश्वरः** । गायत्री । षड्जः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

ईश्वर विषयक फिर उपदेश किया है ॥

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवाꣳसः समिन्धते । विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥ ४४ ॥

पदार्थः—(**तत्**) (**विप्रासः**) मेधाविनो योगिनः (**विपन्यवः**) विशेषेण स्तोतुमर्हा ईश्वरस्य वा स्तावकाः (**जागृवांसः**) अविद्यानिद्रात उत्थाय जागरूकाः (**सम्**) (**इन्धते**) प्रकाशयन्ति (**विष्णोः**) सर्वत्राऽभिव्यापकस्य (**यत्**) (**परमम्**) प्रकृष्टम् (**पदम्**) प्रापणीयं मोक्षप्रदं स्वरूम् ॥ ४४ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ये जागृवांसो विपन्यवो विप्रासो विष्णोर्यत्परमं पदमस्ति तत्समिन्धते तत्संगेन यूयमपि तादृशा भवत ॥ ४४ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! ये **जागृवांसः** अविद्यानिद्रात उत्थाय जागरूकाः **विपन्यवः** विशेषेण स्तोतुमर्हा ईश्वरस्य वा स्तावकाः **विप्रासः** मेधाविनो योगिनः **विष्णोः** सर्वत्राभिव्यापकस्य **यत्परमं** प्रकृष्टं **पदं** प्रापणीयं मोक्षप्रदं स्वरूपम् **अस्ति; तत्समिन्धते** प्रकाशयन्ति **तत्सङ्गेन यूयमपि तादृशा भवत** ॥ ३४ । ४४ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जो (जागृवांसः) अविद्या-निद्रा से उठकर जागरूक हुए, (विपन्यवः) विशेष रूप से स्तुति के योग्य अथवा ईश्वर की स्तुति करने वाले, (विप्रासः) मेधावी योगी लोग—(यत्) जो (परमम्) उत्तम (पदम्) प्राप्त करने योग्य मोक्षदायक स्वरूप है—(तत्) उसे (समिन्धते) प्रकाशित करते हैं; उनके संग से तुम भी वैसे बनो ॥ ३४ । ४४ ॥

भावार्थः—ये योगाभ्यासादिना शुद्धान्तःकरणात्मानो, धार्मिकाः, पुरुषार्थिनो जनाः सन्ति, त एव व्यापकस्य परमेश्वरस्य स्वरूपं ज्ञातुं लब्धुं चार्हन्ति; नेतरे ॥ ३४ । ४४ ॥

भावार्थ—जो योगाभ्यास आदि शुद्ध अन्तःकरण तथा आतमा वाले, धार्मिक, पुरुषार्थी लोग हैं वे ही व्यापक परमेश्वर के स्वरूप को जान सकते हैं; और प्राप्त कर सकते हैं; दूसरे नहीं ॥ ३४ । ४४ ॥

भा० पदार्थः—विप्रासः=योगाभ्यासादिना शुद्धान्तःकरणात्मानः । विपन्यवः=धार्मिकाः । जागृवांसः=पुरुषार्थिनः । विष्णोः=व्यापकस्य परमेश्वरस्य । समिन्धते=ज्ञातुं लब्धुं चार्हन्ति ॥

भाष्यसार—**ईश्वर विषयक उपदेश**—जो अविद्या की निद्रा से उठकर जागरूक रहने वाले, विशेष रूप से स्तुति करने योग्य तथा ईश्वर की स्तुति करने वाले, मेधावी योगी लोग हैं; वे—सर्वत्र व्यापक ईश्वर के अत्युत्तम मोक्षदायक स्वरूप को प्रकाशित करते हैं; अर्थात् जो योगाभ्यास आदि से शुद्ध अन्तःकरण तथा शुद्ध आतमा वाले, धार्मिक, पुरुषार्थी जन हैं; वे ही सर्वव्यापक परमेश्वर के स्वरूप को जान सकते हैं; और उसे प्राप्त कर सकते हैं; अन्य नहीं ॥ ३४ । ४४ ॥

भरद्वाजः । **द्यावापृथिव्यौ=सूर्यभूमी** । निचृज्जगती । निषादः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

ईश्वर विषयक फिर उपदेश किया है ॥

घृतवती भुवनानामभिश्रियोर्वी पृथ्वी मधुदुघे सुपेशसा ।
द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते ऽ अजरे भूरिरेतसा ॥ ४५ ॥

पदार्थः—(**घृतवती**) घृतमुदकं बहु विद्यते ययोस्ते (**भुवनानाम्**) लोकलोकान्तराणाम् (**अभिश्रिया**) अभितः=सर्वतः श्रीः=शोभा=लक्ष्मीर्याभ्यान्ते (**उर्वी**) बहुपदार्थयुक्ते (**पृथ्वी**) विस्तीर्णे (**मधुदुघे**) ये मधूदकं प्रपूरयतस्ते (**सुपेशसा**) शोभनं पेशो=रूपं ययोस्ते (**द्यावापृथिवी**) सूर्यभूमी (**वरुणस्य**) सर्वेभ्यो वरस्य=श्रेष्ठस्य जगदीश्वरस्य (**धर्मणा**) धारणसामर्थ्येन (**विष्कभिते**) विशेषेण धृते=दृढीकृते (**अजरे**) स्वस्वरूपेण जरानाशरहिते (**भूरिरेतसा**) भूरि=बहु रेत=उदकं ययोर्वा भूरीणि=बहूनि रेतांसि=वीर्याणि याभ्यान्ते ॥ ४५ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यस्य वरुणस्य परमेश्वरस्य धर्मणा मधुदुघे सुपेशसा पृथ्वी उर्वी घृतवती अजरे भूरिरेतसा भुवनानामभिश्रिया द्यावापृथिवी विष्कभिते तमेवोपास्यं यूयं विजानीत ॥ ४५ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! **यस्य वरुणस्य परमेश्वरस्य** सर्वेभ्यो वरस्य=श्रेष्ठस्य जगदीश्वरस्य **धर्मणा** धारणसामर्थ्येन **मधुदुघे** ये मधूदकं प्रपूरयतस्ते, **सुपेशसा** शोभनं पेशो=रूपं ययोस्ते, **पृथ्वी** विस्तीर्णे, **उर्वी** बहुपदार्थयुक्ते, **घृतवती** घृतमुदकं बहु विद्यते ययोस्ते, **अजरे** स्वस्वरूपेण जरानाशरहिते, **भूरिरेतसा** भूरि=बहु रेत=उदकं ययोर्वा भूरीणि=बहूनि रेतांसि=वीर्याणि याभ्यां ते, **भुवनानां** लोकलोकान्तराणाम् **अभिश्रिया** अभितः=सर्वतः श्रीः=शोभा लक्ष्मीर्याभ्यान्ते, **द्यावापृथिवी** सूर्यभूमी, **विष्कभिते** विशेषेण धृते=दृढीकृते; **तमेवोपास्यं यूयं विजानीत** ॥ ४५॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जिस (वरुणस्य) सब से श्रेष्ठ जगदीश्वर के (धर्मणा) धारण रूप सामर्थ्य से (मधुदुघे) मधु=जल को पूरण करने वाले, (सुपेशसा) सुन्दर पेश=रूप वाले, (पृथ्वी) विस्तीर्ण, (उर्वी) बहुत पदार्थों से युक्त, (घृतवती) बहुत घृत=जल वाले, (अजरे) अपने स्वरूप से जरा=नाश से रहित, (भूरिरेतसा) भूरि=बहुत रेत=जल से युक्त अथवा भूरि=बहुत रेत=बल के हेतु, (भुवनानाम्) लोकलोकान्तरों के (अभिश्रिया) सब ओर श्री=शोभा एवं लक्ष्मी के हेतु (द्यावापृथिवी) सूर्य और भूमि (विष्कभिते) विशेष रूप से दृढ़ किए हुए हैं; उसे ही तुम उपास्य जानो ॥४५॥

भावार्थः—मनुष्यैर्येन परमेश्वरेण प्रकाशाऽप्रकाशात्मकं द्विविधं जगन्निर्माय धृत्वा पाल्यते, स एव सर्वदोपासनीयोऽस्ति ॥ ३४ । ४५ ॥

भावार्थ—जो परमेश्वर प्रकाश और अप्रकाशआत्मक दो प्रकार के जगत् को बनाकर, धारण करके, पालन करता है, मनुष्यों का वही सदा उपासनीय है ॥ ३४ । ४५ ॥

भा० पदार्थः—द्यावापृथिवी=प्रकाशाऽप्रकाशात्मकं द्विविधं जगत् ॥

भाष्यसार—**ईश्वर विषयक उपदेश**—जल से पूरण, सुन्दर रूप वाले, विस्तीर्ण, बहुत पदार्थों से युक्त, बहुत जल वाले, अपने स्वरूप से नाशरहित, बहुत वीर्य=बल के निमित्त, लोकलोकान्तरों की सब ओर शोभा के हेतु जो सूर्य और भूमि हैं; वे सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर ने विशेष रूप से दृढ़ किए हैं; अर्थात् परमेश्वर ने सूर्य=प्रकाश रूप और भूमि=अप्रकाश रूप दो प्रकार का जगत् बनाया है। वही इस जगत् का धारण और पालन करता है; अतः वही हमारा सदा उपासनीय है ॥ ३४ । ४५ ॥ ●

विहव्यः । **लिङ्गोक्ताः**=पृथिव्यादयः । भुरिक् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

अथ राजधर्मविषयमाह ॥

अब राजधर्म विषय का उपदेश किया जाता है ॥

ये नः सपत्ना ऽ अप ते भवन्त्विन्द्राग्निभ्यामव बाधामहे तान् ।
वसवो रुद्रा ऽ आदित्या ऽ उपरिस्पृशं मोग्रं चेत्तारमधिराजमक्रन् ॥ ४६ ॥

पदार्थः—(ये) (नः) अस्माकम् (सपत्नाः) शत्रवः (अप) दूरीकरणे (ते) (भवन्तु) (इन्द्राग्निभ्याम्) वायुविद्युदस्त्राभ्याम् (अव) (बाधामहे) (तान्) (वसवः) पृथिव्यादयः (रुद्राः) दश प्राणा एकादश आत्मा च (आदित्याः) संवत्सरस्य मासाः (उपरिस्पृशम्) य उपरि स्पृशति तम् (मा) माम् (उग्रम्) तीव्रस्वभावम् (चेत्तारम्) सत्याऽसत्ययोर्यथावद्विज्ञातारम् (अधिराजम्) सर्वेषामुपरि राजानम् (अक्रन्) कुर्वन्तु ॥ ४६ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ये नः सपत्नाः स्युस्तेऽपभवन्तु यथा तान्वयमिन्द्राग्निभ्यामव बाधामहे यथा च वसवो रुद्रा आदित्या उपरिस्पृशमुग्रं चेत्तारं मामामधिराजमक्रन् तथा तान् यूयं निवारयत मां च सत्कुरुत ॥ ४६ ॥

सपदार्थान्वयः— हे मनुष्याः ! **ये नः** अस्माकं **सपत्नाः** शत्रवः **स्युस्तेऽप+भवन्तु** दूरं भवन्तु । **यथा तान्वयमिन्द्राग्निभ्यां** वायुविद्युदस्त्राभ्याम् **अव+बाधामहे, यथा च वसवः** पृथिव्यादयः **रुद्राः** दश प्राणा एकादश आत्मा च **आदित्याः** संवत्सरस्य मासाः **उपरिस्पृशं** य उपरि स्पृशति तम् **उग्रं** तीव्रस्वभावं, **चेत्तारं** सत्याऽसत्ययोर्यथावद् विज्ञातारं **मा=मामधिराजं** सर्वेषामुपरि राजानम् **अक्रन्** कुर्वन्तु; **तथा तान् यूयं निवारयत, मां च सत्कुरुत** ॥ ३४ । ४६ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! (ये) जो (नः) हमारे (सपत्नाः) शत्रु हों (ते) वे (अप+भवन्तु) दूर रहें । जैसे (तान्) उन्हें हम (इन्द्राग्निभ्याम्) वायु और विद्युत् अस्त्र से (अव+बाधामहे) दूर हटाते हैं; और जैसे—(वसवः) पृथिवी आदि (रुद्राः) दस प्राण और ग्यारहवां आत्मा (आदित्याः) वर्ष के बारह मास (उपरिस्पृशम्) ऊपर स्पर्श करने वाले, (उग्रम्) तीव्र स्वभाव वाले, (चेत्तारम्) सत्य—असत्य के यथावत् विज्ञाता (माम्) मुझ को—(अधिराजम्)सर्वोपरि राजा (अक्रन्) बनाते हैं; वैसे उन उक्त शत्रुओं का तुम निवारण करो; और मेरा सत्कार करो ॥ ३४ । ४६ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । यस्याधिकारे पृथिव्यादयः पदार्थाः स्युस्स एव सर्वेषामुपरि राजा स्यात् ।

यो राजा भवेत्, स शस्त्रास्त्रैः शत्रून् निवार्य निष्कण्टकं राज्यं कुर्यात् ॥ ३४ । ४६ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । जिसके अधिकार में पृथिवी आदि पदार्थ हों, वही सर्वोपरि राजा हो सकता है ।

जो राजा हो वह शस्त्र-अस्त्रों से शत्रुओं का निवारण करके निष्कण्टक राज्य करे ॥ ३४ । ४६ ॥

भा० पदार्थः—वसवः=पृथिव्यादयः पदार्थाः । इन्द्राग्निभ्याम्=शस्त्रास्त्रैः ॥

भाष्यसार—१. राजधर्म का उपदेश—राजा के सब शत्रु दूर हों । राजा उन्हें वायु-अस्त्र तथा विद्युदस्त्र से दूर हटावे । पृथिवी आदि आठ वसु, ग्यारह रुद्र (दस प्राण और एक आत्मा), बार आदित्य (वर्ष बारह मास), ये पदार्थ राजा के अधिकार में हों । जिससे वह सर्वोपरि, तीव्र स्वभाव वाला सत्य-असत्य का यथावत् ज्ञाता हो । वह शस्त्र-अस्त्रों से शत्रुओं का निवारण करके निष्कण्टक राज्य करे ।

२. अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है; उपमा यह है राजा के तुल्य प्रजा जन भी शत्रुओं का निवारण करें ॥ ३४ । ४६ ॥

हिरण्यस्तूपः । **अश्विनौ=जगद्धितैषिणौ** । जगती । निषादः ॥

अथ के जगद्धितैषिण इत्याह ॥

अब कौन जगत् के हितैषी हैं, यह उपदेश किया जाता है ॥

आ नासत्या त्रिभिरेकादशैरिह देवेभिर्यातं मधुपेयमश्विना ।
प्रायुस्तारिष्टं नी रपांसि मृक्षतं सेधतं द्वेषो भवतं सचाभुवा ॥ ४७ ॥

पदार्थः—(**आ**) समन्तात् (**नासत्या**) अविद्यमानाऽसत्याचरणौ (**त्रिभिः**) (**एकादशैः**) त्रयस्त्रिंशता (**इह**) (**देवेभिः**) दिव्यैः पृथिव्यादिभिः सह (**यातम्**) प्राप्नुतम् (**मधुपेयम्**) मधुरैर्गुणैर्युक्तं पातुं योग्यम् (**अश्विना**) विद्वांसौ राजप्रजाजनौ (**प्र**) (**आयुः**) जीवनम् (**तारिष्टम्**) वर्धयतम् (**निः**)

नितराम् (**रपांसि**) पापानि (**मृक्षतम्**) मार्जयतम् (**सेधतम्**) गमयतम् (**द्वेषः**) द्वेषादिदोषयुक्तान् प्राणिनः (**भवतम्**) (**सचाभुवा**) यौ सत्येन पुरुषार्थेन सह भवतस्तौ ॥ ४७ ॥

अन्वयः—हे नासत्याऽश्विना। यथा युवामिह त्रिभिरेकादशैर्देवेभिः सह मधुपेयमायातं रपांसि मृक्षतं द्वेषो निःषेधतं सचाभुवा भवतमायुः प्रतारिष्टं तथा वयमपि भवेम ॥ ४७ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **नासत्या** अविद्यमानाऽसत्याचरणौ **अश्विना**! विद्वांसौ राजप्रजाजनौ! **यथा युवामिह त्रिभिरेकादशैः** त्रयस्त्रिंशता **देवेभिः** दिव्यैः पृथिव्यादिभिः **सह मधुपेयं** मधुरैर्गुणैर्युक्तं पातुं योग्यम् **आ+यातं** समन्तात्प्राप्नुतम्, **रपांसि** पापानि **मृक्षतं** मार्जयतम्, **द्वेषः** द्वेषादिदोषयुक्तान् प्राणिनः **निः+षेधतं** नितरां गमयतम्, **सचाभुवा** यौ सत्येन पुरुषार्थेन सह भवतस्तौ **भवतम्, आयुः** जीवनं **प्रतारिष्टं** वर्धयतम्, **तथा वयमपि भवेम** ॥ ३४ । ४७ ॥

भाषार्थ—हे (नासत्या) असत्य आचरण से रहित, (अश्विना) विद्वान् राजा और प्रजाजन! जैसे तुम दोनों—(इह) यहाँ (त्रिभिः, एकादशैः) ३×११=३३ तैंतीस (देवेभिः) दिव्य पृथिवी आदि देवों के साथ (मधुपेयम्) मधुर गुणों से युक्त पेय पदार्थ को (आ+यातम्) सब ओर से प्राप्त करते हो; (रपांसि) पापों को (मृक्षतम्) साफ करते हो; (द्वेषः) द्वेष आदि दोषों से युक्त प्राणियों का (निः+षेधतम्) निषेध करते हो; (सचाभुवा) सत्य पुरुषार्थ से युक्त (भवतम्) होते हो; (आयुः) आयु को (प्र+तारिष्टम्) अत्यन्त बढ़ाते हो; वैसे हम भी होवें ॥ ३४ । ४७ ॥

भावार्थः—त एव जगद्धितैषिणो ये पृथिव्यादिसृष्टिविद्यां विज्ञायाऽन्यान् ग्राहयेयुः, दोषान् दूरी कुर्युः, चिरं जीवनस्य विधानं च प्रचारयेयुः ॥ ३४ । ४७ ॥

भावार्थ—वे ही जगत् के हितैषी हैं जो पृथिवी आदि सृष्टि की विद्या को जानकर अन्यों को ग्रहण कराते हैं; दोषों को दूर करते हैं; और चिरायु के विधान का प्रचार करते हैं ॥ ३४ । ४७ ॥

भा० पदार्थः—अश्विनौ=जगद्धितैषिणौ। आयुः=चिरं जीवनम् ॥

भाष्यसार—**कौन जगत् के हितैषी हैं**—असत्य आचरण से रहित जो विद्वान् राजा और प्रजाजन पृथिवी आदि तैंतीस दिव्य पदार्थों के साथ मधुर पेय को प्राप्त करते हैं; पापों का मार्जन करते हैं; द्वेष आदि दोषों से युक्त प्राणियों का निषेध करते हैं; अर्थात् उन्हें सर्वथा दूर करते हैं; सत्य पुरुषार्थ से युक्त होते हैं; अर्थात् पृथिवी आदि की सृष्टि-विद्या को जानकर अन्यों को जनाते हैं; आयु को बढ़ाते हैं; चिरायु होने का प्रचार करते हैं; वे जगत् के हितैषी होते हैं ॥ ३४ । ४७ ॥

अगस्त्यः। **मरुतः**=मनुष्याः। पङ्क्तिः। पञ्चमः ॥

पुनर्मनुष्याः किं कुर्युरित्याह ॥

फिर मनुष्य क्या करें, यह उपदेश किया है ॥

एष वः स्तोमो मरुत ऽ इयं गीर्मान्दार्यस्य मान्यस्य कारोः।
एषा यासीष्ट तन्वे वयां विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम् ॥ ४८ ॥

पदार्थः—(**एषः**) (**वः**) युष्मभ्यम् (**स्तोमः**) प्रशंसा (**मरुतः**) मरणधर्माणो मनुष्याः (**इयम्**) (**गीः**) सुशिक्षिता वाक् (**मान्दार्यस्य**) प्रशस्तकारुकस्य (**मान्यस्य**) (**कारोः**) शिल्पिनः (**आ**) (**इषा**) इच्छयाऽन्नेन वा निमित्तेन (**यासीष्ट**) प्राप्नुयात (**तन्वे**) शरीरादिरक्षणार्थम् (**वयाम्**) वयसामवस्थावतां

प्राणिनाम्। अत्राऽऽमि टिलोपश्छान्दसः (**विद्याम**) लभेमहि (**इषम्**) विज्ञानमन्नं वा (**वृजनम्**) वर्जन्ति दुःखानि येन तद्बलम् (**जीरदानुम्**) जीवयतीति जीरदानुस्तम् ॥ ४८ ॥

प्रमाणार्थ—(**वयाम्**) वयसाम्०। यहाँ 'आम्' विभक्ति के परे होने पर 'टि' (**अस्**) का लोप छान्दस=वैदिक है ॥

अन्वयः—हे मरुतो मनुष्याः! मान्दार्यस्य मान्यस्य कारोरेष स्तोम इयं च गीर्वोऽस्तु यूयमिषा वयां तन्वे आजीरदानुमिषं वृजनं च विद्याम ॥ ४८ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **मरुतः मनुष्याः** मरणधर्माणो मनुष्याः! **मान्दार्यस्य** प्रशस्तकारुकस्य **मान्यस्य** [सत्कर्त्तव्यस्य] **कारोः** [शिल्पिनः] **एषः स्तोमः** प्रशंसा, **इयं च गीः** सुशिक्षिता वाक्, **वः** युष्मभ्यम् **अस्तु**।

यूयमिषा इच्छयाऽन्नेन वा निमित्तेन **वयां** वयसामवस्थावतां प्राणिनां **तन्वे** शरीरादिरक्षणार्थं [**आयासीष्ट**] प्राप्नुयात, [**वयञ्च**] **आजीरदानुं** जीवयतीति जीरदानुस्तम् **इषं** विज्ञानमन्नं वा **वृजनं** वर्जन्ति दुःखानि येन तद् बलं **च विद्याम** लभेमहि ॥ ३४ । ४८ ॥

भाषार्थ—हे (मरुतः) मरणधर्मा मनुष्यो! (मान्दार्यस्य) प्रशंसनीय (मान्यस्य) सत्कार के योग्य (कारोः) शिल्प-विद्या के वेत्ता शिल्पी की (एषः) यह (स्तोमः) प्रशंसा, और (इयम्) यह (गीः) सुशिक्षित वाणी (वः) तुम्हारे लिए (अस्तु) हो।

तुम—(इषा) इच्छा वा अन्न के निमित्त से (वयाम्) वय=अवस्था वाले अर्थात् प्राणियों को (तन्वे) शरीर आदि की रक्षा के लिए [आ+यासिष्ट] सब ओर से प्राप्त होओ; और हम—(आ+जीरदानुम्) सब ओर से जीवन देने वाले, (इषम्) विज्ञान वा अन्न को और (वृजनम्) दुःखों को दूर करने वाले बल को (विद्याम) प्राप्त करें ॥ ३४ । ४८ ॥

भावार्थः—मनुष्यैस्सदैव प्रशंसनीयानि कर्माणि सेवित्वा, शिल्पविद्याविदः सत्कृत्य, जीवनं बलमैश्वर्यं च प्राप्तव्यम् ॥ ३४ । ४८ ॥

भावार्थ—मनुष्य—सदा प्रशंसनीय कर्मों का सेवन करके, शिल्प-विद्या के ज्ञाताओं का सत्कार करके, जीवन, बल और ऐश्वर्य को प्राप्त करें ॥ ३४ । ४८ ॥

भा० पदार्थः—मान्यस्य=सत्कर्त्तव्यस्य। कारोः=शिल्पविद्याविदः। स्तोमः=प्रशंसनीयानि कर्माणि ॥

भाष्यसार—**मनुष्य क्या करें**—प्रशस्त कार्य करने वाले, सत्कार के योग्य, शिल्पी की जो प्रशंसा है और जो उसकी सुशिक्षित वाणी है; वह मनुष्यों को प्राप्त होवे। मनुष्य इच्छापूर्वक तथा अन्न (भोजन) आदि के निमित्त तथा प्राणियों के शरीर आदि की रक्षा के लिए शिल्पी जनों को प्राप्त करें। सब मनुष्य शिल्प-विद्या के विद्वानों का सत्कार करके, विज्ञान, अन्न (ऐश्वर्य) और बल को प्राप्त करें ॥ ३४ । ४८ ॥

प्राजापत्यो यज्ञः। **ऋषयः=वेदादिशास्त्रविदो विद्वांसः**। त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

अथ के ऋषयो भवन्तीत्याह ॥

अब ऋषि कौन होते हैं, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

सहस्तोमाः सहच्छन्दस ऽ आवृतः सहप्रमा ऽ ऋषयः सप्त दैव्याः ।
पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीरा ऽ अन्वालेभिरे रथ्यो न रश्मीन् ॥ ४९ ॥

पदार्थः—(**सहस्तोमाः**) स्तोमैः=श्लाघाभिस्सह वर्त्तमाना यद्वा सहस्तोमाः=शास्त्रस्तुतयो येषान्ते (**सहछन्दसः**) सह छन्दांसि=वेदाऽध्ययनं स्वातन्त्र्यं सुखभोगो वा येषान्ते (**आवृतः**) ब्रह्मचर्य्येण सकला विद्या अधीत्य गुरुकुलान्निवृत्य गृहमागताः (**सहप्रमाः**) सहैव प्रमा=यथार्थं प्रज्ञानं येषान्ते (**ऋषयः**) वेदादिशास्त्रार्थविदः (**सप्त**) पञ्चज्ञानेन्द्रियाण्यन्तःकरणमात्मा च (**दैव्याः**) देवेषु गुणकर्मस्वभावेषु कुशलाः (**पूर्वेषाम्**) अतीतानां विदुषाम् (**पन्थाम्**) पन्थानं मार्गम् (**अनुदृश्य**) आनुकूल्येन दृष्ट्वा (**धीराः**) ध्यानवन्तो योगिनः (**अन्वालेभिरे**) अनुलभन्ते (**रथ्यः**) रथे साधू रथ्यः=सारथिः (**न**) इव (**रश्मीन्**) रज्जून् ॥ ४९ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा सहस्तोमाः सहछन्दस आवृतः सहप्रमाः सप्त दैव्या धीरा ऋषयो रथ्यो रश्मीन्नेव पूर्वेषां पन्थानमनुदृश्यान्वालेभिरे तथा भूत्वा यूयमप्याप्तमार्गमन्वालभध्वम् ॥ ४९ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे मनुष्याः ! यथा सहस्तोमाः** स्तोमैः=श्लाघाभिस्सह वर्त्तमाना यद्वा सहस्तोमाः=शास्त्र-स्तुतयो येषान्ते, **सहछन्दसः** सह छन्दांसि=वेदाध्ययनं स्वातन्त्र्यं सुखभोगो वा येषान्ते, **आवृतः** ब्रह्मचर्येण सकला विद्या अधीत्य गुरुकुलान्निवृत्य गृहमागताः, **सहप्रमाः** सहैव प्रमा=यथार्थं प्रज्ञानं येषान्ते **सप्त** पञ्चज्ञानेन्द्रियाण्यन्तः-करणमात्मा च, **दैव्याः** देवेषु गुणकर्मस्वभावेषु कुशलाः, **धीराः** ध्यानवन्तो योगिनः, **ऋषयः** वेदादिशास्त्रविदः, **रथ्यः** रथे साधू रथ्यः=सारथिः **रश्मीन्** रज्जून् **न=इव, पूर्वेषाम्** अतीतानां विदुषां [**पन्थां**]=**पन्थानं** मार्गम् **अनुदृश्य** आनुकूल्येन दृष्ट्वा **अन्वालेभिरे** अनुलभन्ते; **तथाभूता यूय-मप्याप्तमार्गमन्वालभध्वम्** ॥ ३४ । ४९ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे (सहस्तोमाः) स्तोम=श्लाघाओं सहित वर्तमान अथवा शास्त्रों की स्तुति करने वाले, (सहछन्दसः) छन्द=वेदा-ध्ययन, स्वतन्त्रता वा सुख-भोग वाले, (आवृतः) ब्रह्मचर्य से सकल विद्याओं को पढ़कर गुरुकुल से लौट कर घर आए हुए, (सहप्रमाः) यथार्थ प्रज्ञान वाले (सप्त) सात अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ अन्तःकरण और आत्मा ये सात, (दैव्याः) दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव में कुशल, (धीराः) ध्यानी योगी, (ऋषयः) वेदादि शास्त्रों के ज्ञाता—(रथ्यः) रथ चलाने में कुशल सारथि (रश्मीन्) रस्सियों को (न) जैसे पकड़ता है—वैसे (पूर्वेषाम्) पूर्वज विद्वानों [पन्थाम्] मार्ग को (अनुदृश्य) अनुकूलता से देखकर (अन्वालभिरे) अनुकूलतापूर्वक प्राप्त करते हैं; वैसे बनकर तुम भी आप्तजनों के मार्ग को प्राप्त करो ॥ ३४ । ४९ ॥

भावार्थः — अत्रोपमावाचकलुप्तोपमा-लङ्कारौ । ये रागद्वेषादिदोषान् दूरतस्त्यक्त्वा, परस्परस्मिन् प्रीतिमन्तो भूत्वा, ब्रह्मचर्येण धर्मानुष्ठानपुरःसरमखिलान् वेदान् विज्ञाय, सत्या-ऽसत्ये विविच्य सत्यं लब्ध्वाऽसत्यं विहायाप्तभावेन वर्त्तन्ते, ते सुशिक्षिताः सारथयइवाऽभीष्टं धर्म्यं मार्गं गन्तुमर्हन्ति, त एवर्षिसंज्ञां लभन्ते ॥ ४९ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमा और वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । जो राग-द्वेष आदि दोषों को दूर से छोड़कर, परस्पर प्रीतिमान् होकर, ब्रह्मचर्य से धर्मानुष्ठानपूर्वक सब वेदों को जानकर, सत्य-असत्य का विवेचन करके, सत्य को ग्रहण तथा असत्य को छोड़कर आप्त भाव से रहते हैं; वे सुशिक्षित सारथियों के तुल्य अभीष्ट धर्मयुक्त मार्ग पर चल सकते हैं; वे ही ऋषि संज्ञा को प्राप्त करते हैं ॥ ३४ । ४९ ॥

भा० पदार्थः—सहस्तोमाः=रागद्वेषादिदोषान् दूरतस्त्यक्तवन्तः, परस्परस्मिन् प्रीतिमन्तः। सहछन्दसः=ब्रह्मचर्येण धर्मानुष्ठानपुरस्सरमखिलान् वेदान् विज्ञातवन्तः। सहप्रमाः=सत्याऽसत्ये विविच्य सत्यं लब्ध्वाऽसत्यं हातवन्तः। रथ्यः=सुशिक्षितः सारथिः। पन्थाम्=धर्म्यं मार्गम् ॥

भाष्यसार—**१. ऋषि कौन होते हैं**—श्लाघा=प्रशंसाओं से युक्त अथवा शास्त्रों की स्तुति (व्याख्या) करने वाले, वेदों का अध्ययन, स्वतन्त्रता और सुखों का भोग करने वाले, ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याओं का अध्ययन करके गुरुकुल से समावर्तनपूर्वक घर आने वाले, यथार्थ प्रज्ञान वाले, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ अन्तःकरण और आत्मा को वश में करने वाले, दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव में कुशल, ईश्वर का ध्यान करने वाली योगी, वेदादि शास्त्रों के ज्ञाता विद्वान् ऋषि कहलाते हैं। जो—जैसे कुशल सारथि रस्सी (लगाम) को ग्रहण करता है—वैसे पूर्वज विद्वानों के मार्ग को अनुकूलतापूर्वक देखकर ग्रहण करते हैं।

ये ऋषि लोग राग-द्वेष आदि दोषों का दूर से परित्याग करते हैं। परस्पर प्रीतिमान् होते हैं। ब्रह्मचर्य से धर्मानुष्ठानपूर्वक सब वेदों को जानते हैं। सत्य और असत्य का विवेचन करके सत्य को ग्रहण करते हैं और असत्य को छोड़ देते हैं, आप्तभाव से रहते हैं। सुशिक्षित सारथि के तुल्य अभीष्ट धर्म-युक्त मार्ग पर चल सकते हैं।

२. अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' पद है; अतः उपमा अलंकार है। उपमा यह है कि ऋषि लोग उत्तम सारथि के तुल्य धर्म-युक्त मार्ग पर चलते हैं। उपमा-वाचक 'इव' आदि पद को लुप्त मानकर वाचक लुप्तोपमा अलंकार भी है। उपमा यह है कि ऋषियों के तुल्य सब मनुष्य आप्त जनों के मार्ग को प्राप्त करें ॥ ३४। ४९ ॥

दक्षः। **हिरण्यन्तेजः**=तेजोमय सुवर्णादिकम्। भुरिगुष्णिक्। ऋषभः ॥

अथैश्वर्यजयादिसंपादनविषयमाह ॥

अब ऐश्वर्य और जय आदि सम्पादन विषय का उपदेश किया जाता है ॥

आयुष्यं वर्चस्यꣳ रायस्पोषमौद्भिदम्।
इदꣳ हिरण्यं वर्चस्वज्जैत्रायाविशतादु माम् ॥ ५० ॥

पदार्थः—(**आयुष्यम्**) आयुषे=जीवनाय हितम् (**वर्चस्यम्**) वर्चसेऽध्ययनाय हितम् (**रायः**) (**पोषम्**) धनस्य पोषकम् (**औद्भिदम्**) उद्भिनत्ति दुःखानि येन तदेव (**इदम्**) (**हिरण्यम्**) तेजोमयं सुवर्णादिकम् (**वर्चस्वत्**) प्रशस्तानि वर्चांस्यन्नानि यस्मात्तत् (**जैत्राय**) जयाय (**आ**) (**विशतात्**) समन्तात् विशतु (**उ**) एव (**माम्**) ॥ ५० ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यदौद्भिदमायुष्यं वर्चस्यं रायस्पोषं वर्चस्वद्धिरण्यं जैत्राय मामाविशतात्तदु युष्मानप्याविशत् ॥ ५० ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः! यदि-**दमौद्भिदम्** उद्भिनत्ति दुःखानि येन तदेव, **आयुष्यम्** आयुषे=जीवनाय हितं, **वर्चस्यं** वर्चसेऽध्ययनाय हितं,

भाषार्थ—हे मनुष्यो! जो (इदम्) यह (औद्भिदम्) दुःखों का भेदन करने वाला, (आयुष्यम्) आयु के लिए हितकारी, (वर्चस्यम्)

रायः धनस्य **पोषं** पोषकं, **वर्चस्वद्** प्रशस्तानि वर्चांस्यन्नानि यस्मात्तत्, **हिरण्यं** तेजोमयं सुवर्णादिकं **जैत्राय** जयाय **मामाविशतात्** समन्तात् विशतु; **तदु** एव **युष्मानप्याविशत्** ॥ ३४ । ५० ॥

वर्च=अध्ययन के लिए हितकारी, (रायः) धन का (पोषम्) पोषक, (वर्चस्वत्) प्रशस्त अन्नों=भोजनादि का निमित्त, (हिरण्यम्) तेजोमय सुवर्ण आदि है; वह (जैत्राय) विजय के लिए (माम्) मुझे (आविशतात्) सब ओर प्राप्त हो; (तदु) वही तुम्हें भी प्राप्त हो ॥ ३४ । ५० ॥

भावार्थः—ये मनुष्याः स्वात्मवत् सर्वान् जानन्ति, विद्वद्भिः सह परामृश्य सत्याऽसत्ये निर्णयन्ति, ते दीर्घमायुः, पूर्णविद्याः, समग्रमैश्वर्यं विजयं च प्राप्नुवन्ति ॥ ३४ । ५० ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपने आत्मा के तुल्य सब को जानते हैं; विद्वानों के साथ परामर्श करके सत्य-असत्य का निर्णय करते हैं, वे दीर्घायु, पूर्ण विद्या, सकल ऐश्वर्य और विजय को प्राप्त करते हैं ॥ ३४ । ५० ॥

भा० पदार्थः—औद्भिदम्=विद्वद्भिः सह परामृश्य सत्याऽसत्यनिर्णयः । आयुष्यम्=दीर्घमायुः । वर्चस्यम्=पूर्णविद्या । हिरण्यम्=समग्रमैश्वर्यम् ॥

भाष्यसार—**ऐश्वर्य विजय आदि का सम्पादन**—जो-दुःखों का भेदन करने वाला, आयु=जीवन के लिए हितकारी अध्ययन के लिए हितकारी, धन का पोषक' प्रशस्त अन्न (भोजन) का निमित्त, तेजोमय सुवर्ण आदि ऐश्वर्य है; उसे मनुष्य विजय के लिए प्राप्त करें ।

मनुष्य—अपने आत्मा के तुल्य सब को जानें । विद्वानों के साथ परामर्श करके सत्य-असत्य का निर्णय करें । दीर्घ आयु, पूर्ण विद्या, समग्र ऐश्वर्य और विजय को प्राप्त करें ॥ ३४ । ५० ॥ ●

दक्षः । **हिरण्यन्तेजः**=ब्रह्मचर्यम् । भुरिक् छक्वरी । धैवतः ॥

अथ ब्रह्मचर्यप्रशंसाविषयमाह ॥

अब ब्रह्मचर्य की प्रशंसा का उपदेश किया जाता है ॥

न तद्रक्षांᳬसि न पिशाचास्तरन्ति देवानामोजः प्रथमजᳬ ह्येतत् ।
यो बिभर्ति दाक्षायणᳬ हिरण्यᳬ स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः ॥५१॥

पदार्थः—(**न**) (**तत्**) अध्ययनं=विद्याप्रापणम् (**रक्षांसि**) अन्यान् प्रपीड्य स्वात्मानमेव ये रक्षन्ति ते (**न**) (**पिशाचाः**) ये प्राणिनां पेशितं=रुधिरादिकमाचामन्ति=भक्षयन्ति ते हिंसका=म्लेच्छाचारिणो दुष्टाः (**तरन्ति**) उल्लंघन्ते (**देवानाम्**) विदुषाम् (**ओजः**) बलपराक्रमः (**प्रथमजम्**) प्रथमे वयसि ब्रह्मचर्य्याश्रमे वा जातम् (**हि**) खलु (**एतत्**) (**यः**) (**बिभर्त्ति**) (**दाक्षायणम्**) दक्षेण=चतुरेणाऽयनं=प्रापणीयं तदेव, स्वार्थेऽण् (**हिरण्यम्**) ज्योतिर्मयम् (**सः**) (**देवेषु**) विद्वत्सु (**कृणुते**) (**दीर्घम्**) लम्बमानम् (**आयुः**) जीवनम् (**सः**) (**मनुष्येषु**) मननशीलेषु (**कृणुते**) करोति (**दीर्घम्**) (**आयुः**) ॥ ५१ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यद्देवानां प्रथमजमोजोऽस्ति न तद्रक्षांसि न पिशाचास्तरन्ति यो ह्येतद्दाक्षायणं हिरण्यं बिभर्ति स देवेषु दीर्घमायुः कृणुते स मनुष्येषु दीर्घमायुः कृणुते ॥ ५१ ॥

सपदार्थान्वयः — हे **मनुष्याः** ! **यद्देवानां** विदुषां **प्रथमजं** प्रथमे वयसि ब्रह्मचर्य्याश्रमे वा जातम्, **ओजः** बलपराक्रमः **अस्ति; न तद्** अध्ययनं=विद्याप्रापणं **रक्षांसि** अन्यान् प्रपीड्य स्वात्मानमेव ये रक्षन्ति ते, **न पिशाचाः** ये प्राणिनां पेशितं=रुधिरादिकमाचामन्ति=भक्षयन्ति ते हिंसका म्लेच्छाचारिणो दुष्टाः, **तरन्ति** उल्लङ्घन्ते ।

यो हि खलु **एतद्दाक्षायणं** दक्षेण=चतुरेणाऽयनं=प्रापणीयं तदेव, **हिरण्यं** ज्योतिर्मयं **बिभर्त्ति; स देवेषु** विद्वत्सु **दीर्घं** लम्बमानम् **आयुः** जीवनं **कृणुते, स मनुष्येषु** मननशीलेषु **दीर्घं** लम्बमानम् **आयुः** जीवनं **कृणुते** करोति ॥३४।५१॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जो (देवानाम्) विद्वानों का (प्रथमजम्) प्रथम आयु वा ब्रह्मचर्याश्रम में उत्पन्न (ओजः) बल, पराक्रम है; (न) न (तत्) उस अध्ययन एवं विद्या-प्राप्ति का (रक्षांसि) अन्यों को पीडित कर अपने आपकी ही रक्षा करने वाले राक्षस लोग, (न) न (पिशाचाः) प्राणियों के रुधिर आदि का आचमन=भक्षण करने वाले हिंसक, म्लेच्छाचारी दुष्ट लोग (तरन्ति) उल्लंघन करते हैं ।

जो (हि) निश्चय ही (एतत्) उस (दाक्षायणम्) दक्ष=चतुर जन से प्राप्त करने योग्य (हिरण्यम्) ज्योतिर्मय ब्रह्मचर्य को (बिभर्त्ति) धारण करता है; (सः) वह (देवेषु) विद्वानों में (दीर्घम्) लम्बी (आयुः) आयु को (कृणुते) प्राप्त करता है; (सः) वह (मनुष्येषु) मननशील मनुष्यों में (दीर्घम्) लम्बी (आयुः) आयु को (कृणुते) प्राप्त करता है ॥ ३४ । ५१ ॥

भावार्थः—ये प्रथमे वयसि दीर्घेण धर्म्येण ब्रह्मचर्येण पूर्णां विद्यामधीयते न तेषां केचिच्चोरा, न दायभागिनो, न तेषां भारो भवति ।

य एवं विद्वांसो धर्म्येण वर्त्तन्ते, ते विद्वत्सु मनुष्येषु च दीर्घमायुर्लब्ध्वा सततमानन्दन्त्यन्याना-नन्दयन्ति च ॥ ३४ । ५१ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य प्रथम आयु में दीर्घ धर्मयुक्त ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़ते हैं, न उनका कोई चोर, न दायभागी होता है और उनको भार लगता है ।

जो विद्वान् इस प्रकार धर्म पूर्वक बर्त्ताव करते हैं; वे विद्वानों और मनुष्यों में दीर्घायु को प्राप्त करके सदा स्वयं आनन्दित रहते तथा अन्यों को आनन्दित करते हैं ॥ ३४ । ५१ ॥

भा० पदार्थः—प्रथमजम्=पूर्णां विद्याम् । रक्षांसि=चोराः । पिशाचाः=दायभागिनः । दाक्षायणम्=धर्म्येण वर्त्तनम् ॥

भाष्यसार—**ब्रह्मचर्य की प्रशंसा**—विद्वानों की प्रथम आयु अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में उत्पन्न होने वाला जो ओज है; बल और पराक्रम है, राक्षस और पिशाच लोग उसका उल्लंघन नहीं कर सकते । चतुर जनों से प्राप्त करने यग्य ब्रह्मचर्य की ज्योति को जो धारण करता है वह विद्वानों के मध्य में दीर्घ आयु को प्राप्त करता है । वह मनुष्यों में भी दीर्घ आयु को प्राप्त करता है ॥ ३४ । ५१ ॥ ●

दक्षः । **हिरण्यन्तेजः**=**ब्रह्मचर्यम्** । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

ब्रह्मचर्य विषय का फिर उपदेश किया है ॥

यदाबध्नन्दाक्षायणा हिरण्यꣳ शतानीकाय सुमनस्यमानाः ।
तन्म ऽ आ बध्नामि शतशारदायायुष्माञ्जरदष्टिर्यथासम् ॥ ५२ ॥

पदार्थः—(यत्) (आ) (अबध्नन्) बध्नीयुः (दाक्षायणाः) चातुर्य्यविज्ञानयुक्ताः (हिरण्यम्) सत्यासत्यप्रकाशं विज्ञानम् (शतानीकाय) शतान्यनीकानि=सैनिकानि यस्य तस्मै (सुमनस्यमानाः) सुष्ठु विचारयन्तः सज्जनाः (तत्) (मे) मह्यम् (आ) (बध्नामि) (शतशारदाय) शतं शरदो जीवनाय (युष्मान्) (जरदष्टिः) जरं=पूर्णमायुर्व्याप्तो यः सः (यथा) (असम्) भवेयम् ॥ ५२ ॥

अन्वयः—ये दाक्षायणाः सुमनस्यमानाः शतानीकाय मे यद्धिरण्यमाऽऽबध्नं तदहं शतशारदायाऽऽबध्नामि । हे विद्वांसो ! यथाऽहं युष्मान् प्राप्य जरदष्टिरसं तथा यूयं मां प्रत्युपदिशत ॥ ५२ ॥

सपदार्थान्वयः—ये दाक्षायणाः चातुर्य्यविज्ञानयुक्ताः, **सुमनस्यमानाः** सुष्ठु विचारयन्तः सज्जनाः, **शतानीकाय** शतान्यनीकानि=सैनिकानि यस्य तस्मै **मे** मह्यं, **यद्धिरण्यं** सत्यासत्यप्रकाशं विज्ञानम् **आबध्नन्** बध्नीयुः, **तदहं शतशारदाय** शतं शरदो जीवनाय **आबध्नामि** ।

हे **विद्वांसः ! यथाऽहं युष्मान् प्राप्य जरदष्टिः** जरं=पूर्णमायुर्व्याप्तो यः सः, **असं** भवेयं, **तथा यूयं मां प्रत्युपदिशत** ॥ ३४ । ५२ ॥

भावार्थः—एकत्र शतशः सेना एकत्रैका विद्या विजयप्रदा भवति ।

ये दीर्घेण ब्रह्मचर्येण विद्वद्भ्यो विद्यां सुशिक्षां च गृहीत्वा तदनुकूला वर्त्तन्ते तेऽल्पाऽऽयुषः कदाचिन्न जायन्ते ॥ ३४ । ५२ ॥

भाषार्थ—जो (दाक्षायणाः) चातुर्य-विज्ञान से युक्त, (सुमनस्यमानाः) उत्तम विचार करने वाले सज्जन—(शतानीकाय) सौ सेनाओं वाले (मे) मेरे लिए-(यत्) जिस (हिरण्यम्) सत्य-असत्य का प्रकाश करने वाले विज्ञान को (आबध्नन्) बाँधते हैं, (तत्) उस विज्ञान को मैं-(शतशारदाय) सौ वर्ष जीने के लिए (आ+बध्नामि) बाँधता हूँ ।

हे विद्वानो ! जैसे मैं-तुम्हें प्राप्त करके (जरदष्टिः) पूर्ण आयु को प्राप्त करने वाला (असम्) होऊँ, वैसा तुम मेरे लिए उपदेश करो ॥ ३४ । ५२ ॥

भावार्थ—एकत्र हुई सैंकड़ों सेनाएँ तथा एकत्र हुई एक विद्या विजय प्रदान करने वाली होती है ।

जो दीर्घ ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्वानों से विद्या और सुशिक्षा को ग्रहण करके तदनुकूल वर्त्ताव करते हैं; वे अल्पायु कभी नहीं होते ॥ ३४ । ५२ ॥

भाष्यसार—ब्रह्मचर्य की प्रशंसा—जो चातुर्य और विज्ञान से युक्त, उत्तम विचारशील, सज्जन हैं; वे—सैकड़ों सेनाओं तथा सत्यासत्य के प्रकाशक विज्ञान को बांधते हैं; एकत्र करते हैं । सब मनुष्य सौ वर्ष की आयु को प्राप्त करने के लिए उक्त विज्ञान को बाँधें, एकत्र करें । दीर्घ ब्रह्मचर्य के सेवन से विद्वानों से विद्या और सुशिक्षा को ग्रहण करें, उसके अनुकूल वर्त्ताव करें जिससे अल्पायु कभी न हों ॥ ३४ । ५२ ॥ ●

ऋजिश्वः । **लिङ्गोक्ताः=पृथिव्यादयः पदार्थाः** । भुरिक् पङ्क्तिः । पञ्चमः ॥

अथ के सर्वरक्षकाः सन्तीत्याह ॥

अब कौन सब के रक्षक होते हैं, यह उपदेश किया जाता है ॥

उत नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोत्वज ऽ एकपात्पृथिवी समुद्रः ।
विश्वे देवा ऽ ऋतावृधो हुवानाः स्तुता मन्त्राः कविशस्ता ऽ अवन्तु ॥ ५३ ॥

पदार्थः—(**उत**) अपि (**नः**) अस्माकं वचांसि (**अहिः**) मेघः (**बुध्न्यः**) बुध्न्येऽन्तरिक्षे भवः (**शृणोतु**) (**अजः**) यो न जायते सः (**एकपात्**) एकः पादो=बोधो यस्य सः (**पृथिवी**) (**समुद्रः**) अन्तरिक्षम् (**विश्वे**) सर्वे (**देवाः**) विद्वांसः (**ऋतावृधः**) सत्यस्य वर्द्धकाः (**हुवानाः**) स्पर्द्धमानाः (**स्तुताः**) स्तुतिप्रकाशकाः (**मन्त्राः**) विचारसाधकाः (**कविशस्ताः**) कविभिर्मेधाविभिः शस्ताः=प्रशंसिताः (**अवन्तु**) ॥ ५३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या बुध्न्योहिरिव पृथिवी समुद्रश्चेवैकपादजो नः शृणोतु ऋतावृधो हुवाना विश्वे देवा उतापि कविशस्ताः स्तुता नोऽस्मानवन्तु ॥ ५३ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे मनुष्याः ! बुध्न्यः** बुध्न्येऽन्तरिक्षे भवः, **अहिः** मेघः **इव पृथिवी समुद्रः** अन्तरिक्षं **चेवैकपाद्** एकः पादो=बोधो यस्य सः, **अजः** यो न जायते सः, **नः** अस्माकं वचांसि **शृणोतु** ।

ऋतावृधः सत्यस्य वर्द्धकाः **हुवानाः** स्पर्द्धमानाः **विश्वे** सर्वे **देवाः** विद्वांसः **उत**=**अपि कविशस्ताः** कविभिर्मेधाविभिः शस्ताः=प्रशंसिताः **स्तुताः** स्तुतिप्रकाशकाः [**मन्त्राः**] विचारसाधकाः **नः**=**अस्मानवन्तु** ॥ ३४ । ५३ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । हे मनुष्याः ! यथा पृथिव्यादयः पदार्था मेघः परमेश्वरश्च सर्वान् रक्षन्ति, तथैव विद्या विद्वांसश्च सर्वान् पालयन्ति ॥ ३४ । ५३ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! (बुध्न्यः) अन्तरिक्ष में रहने वाले (अहिः) मेघ के तुल्य (पृथिवी) पृथिवी तथा (समुद्रः) अन्तरिक्ष के तुल्य (एकपात्) एक पाद=बोध वाला (अजः) अजन्मा (नः) हमारे वचनों को (शृणोतु) सुने ।

(ऋतावृधः) सत्य को बढ़ाने वाले, (हुवानाः) स्पर्द्धा करने वाले, (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् (उत) और (कविशस्ताः) मेधावी जनों से प्रशंसित (स्तुताः) स्तुति प्रकाशक [मन्त्राः] विचार-साधक मन्त्र (नः) हमारी (अवन्तु) रक्षा करें ॥३४।५३॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। हे मनुष्यो ! जैसे पृथिवी आदि पदार्थ, मेघ और परमेश्वर सब की रक्षा करते हैं; वैसे ही विद्या और विद्वान् सबका पालन करते हैं ॥ ३४ । ५३ ॥

भाष्यसार—**१. सब के रक्षक**—जैसे—आकाश में विद्यमान मेघ, पृथिवी और समुद्र सबकी रक्षा करते हैं; और एक बोध=ज्ञान वाला, अजन्मा परमेश्वर उपासको के वचनों को सुनता है; उनकी रक्षा करता है; वैसे—सत्य को बढ़ाने वाले, स्पर्द्धा करने वाले, सब विद्वान् तथा मेधावी जनों से प्रशंसित, स्तुति के प्रकाशक मन्त्र (विद्या) सबका पालन करते हैं।

२. अलङ्कार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि पृथिवी आदि के तुल्य विद्या और विद्वान् लोग सब की रक्षा करते हैं। ॥ ३४ । ५३ ॥

कूर्मगार्त्समदः । **आदित्याः**=आचार्याः । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

अथ वाग्विषयमाह ॥

अब वाणी का विषय कहते हैं ॥

इमा गिर ऽ आदित्येभ्यो घृतस्नूः सनाद्राजभ्यो जुह्वा जुहोमि ।
शृणोतु मित्रो ऽ अर्य्यमा भगो नस्तुविजातो वरुणो दक्षो ऽ अंशः ॥ ५४ ॥

पदार्थः—(**इमाः**) सत्याः (**गिरः**) वाचः (**आदित्येभ्यः**) तेजस्विभ्यः (**घृतस्नूः**) घृतमुदकमिव प्रदीप्तं व्यवहारं स्नान्ति=शोधयन्ति ताः (**सनात्**) नित्यम् (**राजभ्यः**) नृपेभ्यः (**जुह्वा**) ग्रहणसाधनेन (**जुहोमि**) आददामि (**शृणोतु**) (**मित्रः**) सखा (**अर्य्यमा**) न्यायकारी (**भगः**) ऐश्वर्य्यवान् (**नः**) अस्माकम् (**तुविजातः**) बहुषु प्रसिद्धः (**वरुणः**) श्रेष्ठः (**दक्षः**) चतुरः (**अंशः**) विभाजकः ॥ ५४ ॥

अन्वयः--अहमादित्येभ्यो राजभ्यो या इमा गिरो जुह्वा सनाज्जुहोमि ता घृतस्नूर्नो गिरो मित्रोऽर्य्यमा भगस्तुविजातो दक्षोंऽशो वरुणश्च शृणोतु ॥ ५४ ॥

सपदार्थान्वयः—अहमादित्येभ्यः तेजस्विभ्यः **राजभ्यः** नृपेभ्यः **या इमाः** सत्याः **गिरः** वाचः **जुह्वा** ग्रहणसाधनेन **सनात्** नित्यं **जुहोमि** आददामि, **ता घृतस्नूः** घृतमुदकमिव प्रदीप्तं व्यवहारं स्नान्ति=शोधयन्ति ताः, **नः** अस्माकं **गिरः** वाचः **मित्रः** सखा **अर्य्यमा** न्यायकारी **भगः** ऐश्वर्यवान् **तुविजातः** बहुषु प्रसिद्धः **दक्षः** चतुरः **अंशः** विभाजकः **वरुणः** श्रेष्ठः **च शृणोतु** ॥ ३४ । ५४ ॥

भाषार्थ—मैं—(आदित्येभ्यः) तेजस्वी (राजभ्यः) राजाओं के लिए जो (इमाः) इन सत्य (गिरः) वाणियों को (जुह्वा) ग्रहण-साधन से (सनात्) नित्य (जुहोमि) ग्रहण करता हूँ; उन—(घृतस्नूः) घृत=जल के तुल्य प्रकाशित व्यवहार को शुद्ध करने वाली (नः) हमारी (गिरः) वाणियों को—(मित्रः) सखा, (अर्य्यमा) न्यायकारी, (भगः) ऐश्वर्यवान्, (तुविजातः) बहुत जनों में प्रसिद्ध (दक्षः) चतुर (अंशः) विभाजक और (वरुणः) श्रेष्ठ पुरुष (शृणोतु) सुने ॥ ३४ । ५४ ॥

भावार्थः—विद्यार्थिभिर्या आचार्येभ्यः सुशिक्षिता वाचो गृहीताः, ता अन्य आप्ताः श्रुत्वा सुपरीक्ष्य शिक्षयन्तु ॥ ३४ । ५४ ॥

भावार्थ—विद्यार्थियों ने जो आचार्यों से सुशिक्षित वाणियाँ ग्रहण की हैं; उन्हें अन्य आप्त लोग सुनकर, परीक्षा करके सिखलावें ॥ ३४ । ५४ ॥

भा० पदार्थः—आदित्येभ्यः=आचार्येभ्यः । गिरः=सुशिक्षिता वाचः ॥

भाष्यसार--**वाणी विषयक उपदेश**--विद्यार्थी लोग—तेजस्वी राजाओं एवं आचार्य जनों से सत्य वाणियों को बुद्धि से नित्य ग्रहण करें । जल के तुल्य व्यवहार को शुद्ध करने वाली उक्त वाणियों को सखा, न्यायकारी, ऐश्वर्यवान्, बहुत जनों में प्रसिद्ध, चतुर, शुद्ध-अशुद्ध के विभाजक श्रेष्ठ आप्त विद्वान् सुनें ; अर्थात् उनकी परीक्षा लें तथा उन्हें शिक्षित करें ॥ ३४ । ५४ ॥ ●

कण्वः । **अध्यात्मं, प्राणाः**=प्राणापानौ । भुरिग्जगती । निषादः ॥

अथ शरीरेन्द्रियविषयमाह ॥

अब शरीर और इन्द्रिय विषयक उपदेश किया जाता है ॥

सप्त ऽ ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् ।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो ऽ अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ ॥ ५५ ॥

पदार्थः—(**सप्त**) पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्च (**ऋषयः**) विषयप्रापकाः (**प्रतिहिताः**) प्रतीत्या धृताः (**शरीरे**) (**सप्त**) (**रक्षन्ति**) (**सदम्**) सीदन्ति यस्मिंस्तत् (**अप्रमादम्**) (**सप्त**) (**आपः**) आप्नुवन्ति=व्याप्नुवन्ति शरीरमित्यापः (**स्वपतः**) शयनं प्राप्तस्य (**लोकम्**) जीवात्मानम् (**ईयुः**) यन्ति (**तत्र**) लोकगमनकाले (**जागृतः**) (**अस्वप्नजौ**) स्वप्नो न जायते ययोस्तौ (**सत्रसदौ**) सतां=जीवात्मनां त्राणं=सत्रं तत्र सीदतस्तौ (**च**) (**देवौ**) दिव्यस्वरूपौ प्राणापानौ ॥ ५५ ॥

अन्वयः—ये सप्तर्षयः शरीरे प्रतिहितास्त एव सप्ताप्रमादं यथा स्यात्तथा सदं रक्षन्ति ते स्वपतः सप्ताऽपः लोकमीयुस्तत्राऽस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ जागृतः ॥ ५५ ॥

सपदार्थान्वयः— **ये सप्त** पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्च **ऋषयः** विषयप्रापकाः **शरीरे प्रतिहिताः** प्रतीत्या धृताः, **त एव सप्ताप्रमादं यथा स्यात्तथा सदं** सीदन्ति यस्मिंस्तत् **रक्षन्ति**।

ते स्वपतः शयनं प्राप्तस्य **सप्त आपः** आप्नुवन्ति=व्याप्नुवन्ति शरीरमित्यापः **लोकं** जीवात्मानम् **ईयुः** यन्ति।

तत्र लोकगमनकाले **अस्वप्नजौ** स्वप्नो न जायते ययोस्तौ, **सत्रसदौ** सतां=जीवात्मनां त्राणं=सत्रं तत्र सीदतस्तौ **च देवौ** दिव्यस्वरूपौ प्राणापानौ **जागृतः** ॥ ३४ । ५५ ॥

भावार्थः— अस्मिञ्शरीरे स्थिराणि व्यापकानि विषयबोधकानि सान्तःकरणानि ज्ञानेन्द्रियाण्येव सातत्येन शरीरं रक्षन्ति।

यदा च जीवः स्वपिति तदा तमेवाश्रित्य तमोबलेनान्तर्मुखानि तिष्ठन्ति, बाह्यविषयं न बोधयन्ति, स्वप्नावस्थायां च जीवात्मरक्षणतत्परौ तमोगुणानभिभूतौ प्राणापानौ जागरणं कुर्वाते, अन्यथा—यद्यनयोरपि स्वप्नः स्यात्तदा तु मरणमेव सम्भाव्यमिति ॥ ३४ । ५५ ॥

भा० पदार्थः—सदम्=शरीरम्। अस्वप्नजौ=तमोगुणानभिभूतौ प्राणापानौ। सत्रसदौ=जीवात्मरक्षणतत्परौ।

भाषार्थ—जो (सप्त) पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मन और बुद्धि ये सात (ऋषयः) विषय को प्राप्त कराने वाले, (शरीरे) शरीर में (प्रतिहिताः) प्रतीतिपूर्वक रखे हुए हैं; वे ही (सप्त) सात (अप्रमादम्) प्रमाद रहित होकर (सदम्) शरीर की (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं।

वे (स्वपतः) सोये हुए पुरुष के (सप्त) सात (आपः) शरीर को व्याप्त करने वाले, (लोकम्) जीवात्मा को (ईयुः) प्राप्त करते हैं।

(तत्र) स्वप्नावस्था में (अस्वप्नजौ) स्वप्न से रहित और (सत्रसदौ) जीवात्मा के रक्षक शरीर में रहने वाले (देवौ) दिव्य स्वरूप वाले प्राण और अपान जागते हैं ॥ ३४ । ५५ ॥

भावार्थ—इस शरीर में स्थिर, व्यापक, विषय-बोधक, अन्तःकरण सहित ज्ञानेन्द्रियाँ ही निरन्तर शरीर की रक्षा करती हैं।

और जब जीव सोता है तब उसी का आश्रय करके तमोबल से अन्तर्मुख रहती हैं, बाह्य विषय का बोध नहीं करातीं। और स्वप्न अवस्था में जीवात्मा की रक्षा में तत्पर तमोगुण से अभिभूत न हुए प्राण और अपान जागते हैं; अन्यथा यदि ये भी सो जायें तब तो मरण ही समझें ॥ ३४ । ५५ ॥

भाष्यसार—**शरीर और इन्द्रियाँ**—पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ये सात ऋषि हैं अर्थात् विषयों को प्राप्त कराने वाले हैं, जो शरीर में प्रसिद्धिपूर्वक विद्यमान हैं। ये सात प्रमाद रहित होकर इस घर (शरीर) की रक्षा करते हैं। ये सात सोते हुए पुरुष के जीवात्मा को भी प्राप्त होते हैं। जब जीव सोता है तब ये उसी के आश्रित होकर तमोबल से अन्तर्मुख हो जाते हैं; बाह्य-विषय का

बोध नहीं कराते। स्वप्नावस्था में भी न सोने वाले, तमोगुण से अभिभूत हुए प्राण और अपान जागते रहते हैं; जो जीवात्मा की रक्षा करते हैं। यदि ये प्राण और अपान भी सो जाएँ तो मृत्यु ही हो जाये ॥ ३४। ५५ ॥ ●

कण्वः। **ब्रह्मणस्पतिः=विद्वान्**। निचृद्बृहती। मध्यमः ॥

विद्वान् किं कुर्यादित्याह ॥

विद्वान् पुरुष क्या करे, यह उपदेश किया है ॥

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवयन्तस्त्वेमहे।
उप प्र यन्तु मरुतः सुदानव ऽ इन्द्र प्राशूर्भवा सचा ॥ ५६ ॥

पदार्थः—(**उत्**) (**तिष्ठ**) (**ब्रह्मणः**) धनस्य (**पते**) पालक! (**देवयन्तः**) कामयमानाः (**त्वा**) त्वाम् (**ईमहे**) याचामहे (**उप**) (**प्र**) (**यन्तु**) प्राप्नुवन्तु (**मरुतः**) मनुष्याः (**सुदानवः**) शोभनदानाः (**इन्द्र**) ऐश्वर्यकारक! (**प्राशूः**) यः प्राश्नाति सः (**भव**) **अत्र द्वचचोतस्तिङ इति दीर्घः** (**सचा**) सत्यसमवायेन ॥ ५६ ॥

प्रमाणार्थ—(भव) यहाँ 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (अ० ६। ३। १३५) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—'भवा'।

अन्वयः—हे ब्रह्मणस्पते इन्द्र! देवयन्तो वयं यन्त्वेमहे यन्त्वा सुदानवो मरुत उप प्रयन्तु स त्वमुत्तिष्ठ सचा प्राशूर्भव ॥ ५६ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **ब्रह्मणः** धनस्य **पते** पालक **इन्द्र** ऐश्वर्यकारक! **देवयन्तः** कामयमानाः **वयं यं त्वा** त्वाम् **ईमहे** याचामहे, **यं त्वा** त्वां **सुदानवः** शोभनदानाः **मरुतः** मनुष्याः, **उप+प्रयन्तु** प्राप्नुवन्तु, **स त्वमुत्तिष्ठ; सचा** सत्यसमवायेन **प्राशूः** यः प्राश्नाति सः, **भव** ॥ ३४। ५६ ॥

भाषार्थ—हे (ब्रह्मणः) धन के (पते) पालक (इन्द्र) ऐश्वर्य को उत्पन्न करने वाले विद्वान्! (देवयन्तः) विद्या की कामना वाले हम लोग (त्वा) तुझ से (ईमहे) विद्या की याचना करते हैं; (त्वा) तुझे (सुदानवः) उत्तम दान करने वाले (मरुतः) मनुष्य (उप+प्रयन्तु) प्राप्त होते हैं; सो तू (उत्तिष्ठ) खड़ा हो, (सचा) सत्य सम्बन्ध से (प्राशूः) उत्तम पदार्थों को भोगने वाला (भव) हो ॥ ३४। ५६ ॥

भावार्थः—हे विद्वन्! ये विद्यां कामयमानास्त्वामुपतिष्ठेयुस्तेभ्यो विद्यादानाय भवानुत्तिष्ठतु=उद्युक्तो भवतु ॥ ३४। ५६ ॥

भावार्थ—हे विद्वन्! जो विद्या की कामना करने वाले तेरे समीप आते हैं उन्हें विद्या देने के लिए आप उठो, तैयार होओ ॥ ३४। ५६ ॥

भा० पदार्थः—ब्रह्मणस्पते=विद्वन्। देवयन्तः=विद्यां कामयमानाः। उपप्रयन्तु=उपतिष्ठेयुः। उत्तिष्ठ=उत्तिष्ठतु उद्युक्तो भवतु ॥

भाष्यसार—**विद्वान् क्या करे**—धन के पालक, ऐश्वर्य को उत्पन्न करने वाले विद्वान् के पास—जो विद्या की कामना करने वाले तथा दाता मनुष्य आवें उन्हें वह विद्या का दान करे। विद्या-दान के लिए सदा तैयार रहे। सत्य से सम्बद्ध होकर उत्तम-उत्तम भोजन करे ॥ ३४। ५६ ॥ ●

कण्वः । ब्रह्मणस्पतिः=ईश्वरः । विराट् बृहती । मध्यमः ।।

अथेश्वरविषयमाह ।।

अब ईश्वर विषय का उपदेश किया जाता है ।।

प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम् ।
यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो ऽ अर्य्यमा देवा ऽ ओकांꣳसि चक्रिरे ।। ५७ ।।

पदार्थः—(प्र) (नूनम्) निश्चितम् (**ब्रह्मणः**) वेदविद्यायाः (**पतिः**) पालकः (**मन्त्रम्**) (**वदति**) (**उक्थ्यम्**) उक्थ्येषु=प्रशंसनीयेषु साधुम् (**यस्मिन्**) (**इन्द्रः**) विद्युत्सूर्य्यौ वा (**वरुणः**) जलं चन्द्रो वा (**मित्रः**) प्राणोऽन्ये वायवश्च (**अर्य्यमा**) सूत्रात्मा (**देवाः**) दिव्यगुणाः (**ओकांसि**) निवासान् (**चक्रिरे**) कृतवन्तः सन्ति ।। ५७ ।।

अन्वयः—हे मनुष्या यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रोऽर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे स ब्रह्मणस्पतिः परमात्मोक्थ्यं मन्त्रं वेदाख्यं नूनं प्रवदतीति विजानीत ।। ५७ ।।

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! **यस्मिन्निन्द्रः** विद्युत्सूर्य्यौ वा, **वरुणः** जलं चन्द्रो वा, **मित्रः** प्राणोऽन्ये वायवश्च, **अर्यमा** सूत्रात्मा, **देवाः** दिव्यगुणाः, **ओकांसि** निवासान् **चक्रिरे** कृतवन्तः सन्ति । **स ब्रह्मणस्पतिः=परमात्मा** वेदविद्यायाः पालकः, **उक्थ्यम्** उक्थेषु=प्रशंसनीयेषु साधुं, **मन्त्रं=वेदाख्यं नूनं** निश्चितं **प्र+वदतीति विजानीत** ।। ३४ । ५७ ।।

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! (यस्मिन्) जिसमें—(इन्द्रः) विद्युत् वा सूर्य, (वरुणः) जल वा चन्द्र (मित्रः) प्राण तथा अन्य अवयव, (अर्यमा) सूक्ष्म आत्मा तथा (देवाः) दिव्य गुणों ने (ओकांसि) अपना अपना घर (चक्रिरे) बनाया हुआ है; वह (ब्रह्मणस्पतिः) वेद-विद्या का पालक परमात्मा—(उक्थ्यम्) प्रशंसनीय में श्रेष्ठ (मन्त्रम्) मन्त्र रूप वेद का (नूनम्) निश्चित रूप से (प्र+वदतीति) उपदेश करता है; ऐसा जानो ।। ३४ । ५७ ।।

भावार्थः—हे मनुष्या ! यस्मिन् परमात्मनि सर्वं जगत्कारणं कार्यं, जीवाश्च वसन्ति, यश्च सर्वेषां जीवानां हितसाधकं वेदोपदेशं कृतवानस्ति; तमेव यूयं भजत ।। ३४ । ५७ ।।

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जिस परमात्मा में सब जगत् का कारण कार्य जगत्, और जीव रहते हैं; और जिसने सब जीवों के हितकारी वेद का उपदेश किया है, तुम उसी को भजो, उसी की उपासना करो ।। ३४ । ५७ ।।

भा० पदार्थः—अर्यमा=जीवः । मन्त्रम्=सर्वेषां जीवानां हितसाधकं वेदोपदेशम् ।।

भाष्यसार—**ईश्वर विषयक उपदेश**—जिस ईश्वर में विद्युत्, सूर्य, जल, चन्द्र, प्राण तथा अन्य शारीर अवयव, सूक्ष्म आत्मा, और दिव्य गुण निवास करते हैं, वह वेद-विद्या का पालक परमात्मा प्रशंसनीयों में श्रेष्ठ अर्थात् सब जीवों के हित-साधक वेद का उपदेश करता है । सब मनुष्य उसी का भजन करें ।। ३४ । ५७ ।। ●

गृत्समदः । ब्रह्मणस्पतिः=ईश्वरः । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ।।

पुनस्तमेव विषयमाह ।।

ईश्वर विषय का फिर उपदेश किया है ।।

ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता सूक्तस्य बोधि तनयं च जिन्व ।
विश्वं तद्भद्रं यदवन्ति देवा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ।
* य ऽ इमा विश्वा । विश्वकर्म्मा । यो नः पिता । अन्नपतेऽन्नस्य नो देहि ॥ ५८ ॥

पदार्थः—(**ब्रह्मणः**) ब्रह्माण्डस्य (**पते**) रक्षक ! (**त्वम्**) (**अस्य**) (**यन्ता**) नियन्ता (**सूक्तस्य**) सुष्ठु वक्तुमर्हस्य (**बोधि**) बोधय (**तनयम्**) विद्यापुत्रम् (**च**) (**जिन्व**) प्रीणीहि (**विश्वम्**) सर्वम् (**तत्**) (**भद्रम्**) कल्याणकरम् (**यत्**) (**अवन्ति**) रक्षन्त्युपदिशन्ति (**देवाः**) विद्वांसः (**बृहत्**) महत् (**वदेम**) उपदिशेम (**विदथे**) विज्ञापनीये व्यवहारे (**सुवीराः**) शोभनाश्च ते वीराश्च सुवीराः ॥ ५८ ॥

अन्वयः—हे ब्रह्मणस्पते ! देवा विदथे यदवन्ति यत् सुवीरा वयं बृहद्वदेम तस्यास्य सूक्तस्य त्वं यन्ता भव तनयं च बोधि तद्भद्रं विश्वं जिन्व ॥ ५८ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **ब्रह्मणः** ब्रह्माण्डस्य **पते** रक्षक ! **देवाः** विद्वांसः **विदथे** विज्ञापनीये व्यवहारे **यदवन्ति** रक्षन्त्युपदिशन्ति; **यत् सुवीराः** शोभनाश्च ते वीराश्च सुवीराः **वयं बृहत्** महद् **वदेम** उपदिशेम; **तस्याऽस्य सूक्तस्य** सुष्ठु वक्तुमर्हस्य **त्वं यन्ता** नियन्ता **भव; तनयं** विद्या-पुत्रं **च बोधि** बोधय; **तद् भद्रं** कल्याणकरं **विश्वं सर्वं जिन्व** प्रीणीहि ॥ ३४ । ५८ ॥

भाषार्थ—हे (ब्रह्मणः) ब्रह्माण्ड के (पते) रक्षक ईश्वर ! (देवाः) विद्वान् लोग—(विदथे) बतलाने योग्य विद्या और सत्य व्यवहार में (यत्) जिसकी (अवन्ति) रक्षा करते हैं; जिसका उपदेश करते हैं; (यत्) जिसका (सुवीराः) उत्तम वीर हम लोग—(बृहत्) बड़ा (वदेम) उपदेश करते हैं; उस (अस्य) इस (सूक्तस्य) उपदेश करने योग्य विद्या और सत्य व्यवहार का तू (यन्ता) नियन्ता बन, और हमारे (तनयम्) विद्या-पुत्र को (बोधि) उक्त व्यवहार का बोध करा; (तद्) उस (भद्रम्) कल्याणकारी व्यवहार के प्रति (विश्वम्) सबको (जिन्व) प्रीति युक्त कर ॥ ३४ । ५८ ॥

भावार्थः—हे जगदीश्वर ! भवानस्माकं विद्यायाः सत्यस्य व्यवहारस्य च नियन्ता भवतु, अस्माकमपत्यानि विद्यावन्ति करोतु, सर्वं जगद् यथावद्रक्षतु, सर्वत्र न्यायं धर्मं सुशिक्षां परस्परप्रीतिं च जनयत्विति ॥ ३४ । ५८ ॥

भावार्थ—हे जगदीश्वर ! आप—हमारे विद्या और सत्य व्यवहार के नियन्ता बनो, हमारे सन्तानों को विद्यावान् बनाओ, सब जगत् को यथावत् रक्षा करो, सर्वत्र न्याय, धर्म, सुशिक्षा और परस्पर प्रीति उत्पन्न करो ॥ ३४ । ५८ ॥

भा० पदार्थः—ब्रह्मणस्पते=जगदीश्वर ! सूक्तस्य=विद्यायाः सत्यस्य व्यवहारस्य च । तनयम्=अपत्यम् । बोधि=विद्यावन्ति करोतु । भद्रम्=न्यायं धर्मं सुशिक्षां परस्पर-प्रीतिं च ॥

भाष्यसार—**ईश्वर विषय का उपदेश**—हे ब्रह्माण्ड के रक्षक ईश्वर ! विद्वान् लोग बतलाने योग्य व्यवहार में जिस सत्य की रक्षा करते हैं तथा जिस विद्या का उपदेश करते हैं, श्रेष्ठ वीर लोग भी जिसका बहुत उपदेश करते हैं उस उपदेश करने योग्य सत्य और विद्या के आप नियन्ता हो।

---

* अत्र पूर्वोक्तमन्त्राणां चत्वारि प्रतीकानि, य इमा विश्वा १७ । १७ विश्वकर्मा १७ । २६ । यो नः पिता १७ । २७ अन्नपतेऽन्नस्य नो देहि ११ । ८३ । विशेष कर्म्मणि कार्यार्थं धृतानि ॥

आप हमारे सन्तानों को उक्त व्यवहार का बोध कराओ, विद्या से युक्त करो। उस कल्याणकारी व्यवहार के प्रति सबको प्रीतिमान् करो। सब जगत् की यथावत् रक्षा करो। सर्वत्र न्याय, धर्म, सुशिक्षा और परस्पर प्रीति को उत्पन्न करो ।। ३४ । ५८ ।।

[पूर्वापराध्यायार्थसंगतिमाह—]

अस्मिन्नध्याये मनसो लक्षणं, शिक्षा, विद्येच्छा, विद्वत्सङ्गः, कन्याप्रबोधो, विद्वल्लक्षणं, रक्षायाचनं, बलैश्वर्येच्छा, सोमौषधिलक्षणं, शुभेच्छा, परमेश्वर-सूर्य्यवर्णनं, स्वरक्षा, प्रातरुत्थानं पुरुषार्थेनर्द्धिसिद्धि-प्रापणमीश्वरस्य जगन्निर्माणं, महाराजवर्णनमश्वि-गुणकथनमायुर्वर्द्धनं, विद्वत्प्राणलक्षणमीश्वरकृत्यं चोक्तमतोऽस्याऽध्यायार्थस्य पूर्वाध्यायोक्तार्थेन सह सङ्गतिर्वेद्या ।। ३४ ।।

इस अध्याय में—मन का लक्षण (१-६), शिक्षा (८), विद्या की इच्छा (९), विद्वानों का संग (९), कन्या-प्रबोध (१०), विद्वानों का लक्षण (१२), रक्षा-याचन (१३), बल और ऐश्वर्य की इच्छा (१४), सोम ओषधि का लक्षण (२२), शुभ इच्छा (२३), परमेश्वर और सूर्य का वर्णन (२४-२७), स्व-रक्षा (२८), प्रातः उठना (३४-३८), पुरुषार्थ से ऋद्धि-सिद्धि की प्राप्ति (३९), ईश्वर का जगत्-निर्माण (४३), महाराज का वर्णन (४६), अश्विनौ के गुणों का कथन (४७), आयु वृद्धि (५०), विद्वान् और प्राण का लक्षण (५५), और ईश्वर के कार्य (५७) का उपदेश किया है; अतः इस अध्याय के अर्थ की पूर्व अध्याय में प्रतिपादित अर्थ के साथ संगति है ऐसा समझें ।। ३४ ।।

इति श्रीयुत पण्डितसुदर्शनदेवाचार्यविरचिते दयानन्द-यजुर्वेदभाष्य-भास्करे
चतुस्त्रिंशोऽध्यायः सम्पूर्णः ।।

॥ ओ३म् ॥

अथ पञ्चत्रिंशाऽध्यायारम्भः

ओ३म् विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑ सुव । यद्भ॒द्रं तन्न॒ऽआ सु॑व ॥ १ ॥

य० ३० । ३ ॥

आदित्या देवा वा । **पितरः=आप्तविद्वांसः परमेश्वरश्च** । पूर्वस्य पिपीलिकामध्या गायत्री । षड्जः । द्युभिरित्युत्तरस्य प्राजापत्या बृहती । मध्यमः ॥

अथ व्यवहारजीवयोर्गतिमाह ॥

अब व्यवहार और जीव की गति का उपदेश किया जाता है ॥

अपे॒तो य॑न्तु प॒णयो॒ऽसु॑म्ना देव॒पी॒यव॑: । अ॒स्य लो॒कः सु॒ताव॑तः ।
द्यु॒भि॒रहो॑भिर॒क्तुभि॒र्व्य॑क्तं य॒मो द॑दात्वव॒सान॑मस्मै ॥ १ ॥

पदार्थः—(**अप**) दूरीकरणे (**इतः**) अस्मात् (**यन्तु**) गच्छन्तु (**पणयः**) व्यवहारिणः (**असुम्ना**) असुखानि=दुःखानि । **सुम्नमिति सुखना० । निघं० ३ । ६ ॥** (**देवपीयवः**) ये देवानां=विदुषां द्वेष्टारः (**अस्य**) (**लोकः**) दर्शनीयः (**सुतावतः**) प्रशस्तानि सुतानि=वेदविद्वत्प्रेरितानि कर्माणि यस्य तस्य (**द्युभिः**) प्रकाशमानैः (**अहोभिः**) दिनैः (**अक्तुभिः**) रात्रिभिः (**व्यक्तम्**) प्रसिद्धम् (**यमः**) यन्ता (**ददातु**) (**अवसानम्**) अवकाशम् (**अस्मै**) ॥ १ ॥

प्रमाणार्थ—(**असुम्ना**) असुखानि=दुःखानि । 'सुम्नम्' यह पद निघण्टु (३ । ६) में सुख-नामों में पठित है ॥

अन्वयः—ये देवपीयवः पणयोऽसुम्नान्यन्येभ्यो ददति त इतोऽपयन्तु लोको यमो द्युभिरहोभिरक्तुभिरस्य सुतावतो जनस्य सम्बन्धिनेऽस्मै व्यक्तमवसानं ददातु ॥ १ ॥

सपदार्थान्वयः—ये देवपीयवः ये देवानां=विदुषां द्वेष्टारः **पणयः** व्यवहारिणः [**असुम्ना**] =**असुम्नानि** असुखानि=दुःखानि **अन्येभ्यो ददति, त इतः** अस्मात् **अपयन्तु** दूरं गच्छन्तु ।

भावार्थ—जो (देवपीयवः) विद्वानों से द्वेष करने वाले, (पणयः) व्यवहारी लोग—(असुम्ना) असुख=दुःख अन्यों को देते हैं, वे (इतः) यहाँ से (अपयन्तु) दूर जावें ।

लोकः दर्शनीयः **यमः** यन्ता **द्युभिः** प्रकाशमानैः **अहोभिः** दिनैः **अक्तुभिः** रात्रिभिः **अस्य सुतावतः**=**जनस्य** प्रशस्तानि सुतानि=वेदविद्वत्प्रेरितानि कर्माणि यस्य तस्य, **सम्बन्धिनेऽस्मै व्यक्तं** प्रसिद्धम् **अवसानम्** अवकाशं **ददातु** ॥ ३५ । १ ॥

और—(लोकः) दर्शन के योग्य (यमः) सबका नियन्ता परमेश्वर (द्युभिः) प्रकाशमान (अहोभिः) दिन और (अक्तुभिः) रात्रियों से (अस्य) इस (सुतावतः) प्रशस्त वेदज्ञ के तुल्य प्रेरणायुक्त कर्म करने वाले जन के सम्बन्धी (अस्मै) इस जीव के लिए (व्यक्तम्) प्रसिद्ध (अवसानम्) अवकाश प्रदान करे।

भावार्थः—ये आप्तान् विदुषो द्विषन्ति ते सद्यो दुःखमाप्नुवन्ति। ये जीवाः शरीरं त्यक्त्वा गच्छन्ति, तेभ्यो यथायोग्यमवकाशं दत्त्वा परमेश्वरस्तेषां कर्मानुसारेण सुखदुःखानि ददाति ॥३५।१॥

भावार्थ—जो आप्त विद्वानों से द्वेष करते हैं; वे शीघ्र दुःख को प्राप्त होते हैं। जो जीव शरीर को छोड़ कर जाते हैं, उन्हें यथायोग्य अवकाश देकर परमेश्वर उनके कर्मानुसार सुख-दुःख देता है ॥ ३५ । १ ॥

भा० पदार्थः—देवपीयवः=ये आप्तान् विदुषो द्विषन्ति ते। व्यक्तम्=यथायोग्यम् ॥

भाष्यसार—**१. व्यवहार का उपदेश**—जो आप्त विद्वानों से द्वेष करने वाले, अन्यों को भी दुःख देने वाले व्यवहारी हैं, वे यहाँ से दूर हों।

२. जीवगति का उपदेश—दर्शन करने योग्य, सब का नियन्ता परमेश्वर—प्रकाशमान दिन तथा रात्रियों के द्वारा प्रशस्त कर्म वाले मनुष्य के सम्बन्धी जीव को प्रसिद्ध अवकाश प्रदान करता है। तात्पर्य यह है कि जब जीव शरीर को छोड़कर जाता है, तब परमेश्वर उसे यथायोग्य स्थान देकर उसके कर्मानुसार सुख-दुःख प्रदान करता है ॥ ३५ । १ ॥ ●

आदित्या देवाः। **सविता**=ईश्वरः। गायत्री। षड्जः ॥

पुनरीश्वरकर्त्तव्यविषयमाह ॥

फिर ईश्वर के कर्त्तव्य विषय का उपदेश किया है ॥

स॒वि॒ता ते॒ शरी॑रेभ्यः पृथि॒व्यां लो॒कमि॑च्छतु। तस्मै॑ युज्यन्तामु॒स्रियाः॑ ॥ २ ॥

पदार्थः—(**सविता**) परमात्मा (**ते**) तव (**शरीरेभ्यः**) देहेभ्यः (**पृथिव्याम्**) अन्तरिक्षे भूमौ वा (**लोकम्**) कर्मानुकूलं सुखदुःखप्रापकम् (**इच्छतु**) (**तस्मै**) (**युज्यन्ताम्**) (**उस्रियाः**) किरणाः। **उस्रा इति रश्मिना०। निघं १। ५ ॥ २ ॥**

प्रमाणार्थ—(**उस्रियाः**) किरणाः। 'उस्राः' यह पद निघण्टु (१।५) में रश्मि-नामों में पठित है। रश्मि=किरण ॥

अन्वयः—हे जीव ! सविता यस्य ते शरीरेभ्यः पृथिव्यां लोकमिच्छतु तस्मै तुभ्यमुस्रिया युज्यन्ताम् ॥ २ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे जीव ! सविता** परमात्मा **यस्य ते** तव **शरीरेभ्यः** देहेभ्यः **पृथिव्यां** अन्तरिक्षे भूमौ वा **लोकं** कर्मानुकूलं सुखदुःखप्रापकम्

भाषार्थ—हे जीव ! (सविता) परमात्मा (ते) तेरे (शरीरेभ्यः) शरीरों के लिए (पृथिव्याम्) अन्तरिक्ष वा भूमि पर (लोकम्) कर्मानुसार सुख-

इच्छतु; तस्मै=**तुभ्यमुस्त्रियाः** किरणाः **युज्यन्ताम्** ॥ ३५ । २ ॥

दुःख के प्रापक लोकान्तर की (इच्छतु) इच्छा करता है; (तस्मै) सो तेरे लिए (उस्त्रियाः) किरणें (युज्यन्ताम्) युक्त हों; उपयोगी हों ॥ ३५ । २ ॥

भावार्थः—हे जीवा ! यो जगदीश्वरो युष्मभ्यं सुखमिच्छति, किरणद्वारा लोकान्तरं प्रापयति, स एव युष्माभिर्न्यायकारी मन्तव्यः ॥ ३५ । २ ॥

भावार्थ—हे जीवो ! जो जगदीश्वर तुम्हारे लिए सुख चाहता है; किरणों के द्वारा लोकान्तर में पहुँचाता है; उसे ही तुम न्यायकारी मानो ॥ ३५ । २ ॥

भा० पदार्थः—सविता=जगदीश्वरः । ते=युष्मभ्यम् । लोकम्=सुखम्, लोकान्तरम् ।

भाष्यसार—**ईश्वर का कर्त्तव्य**—परमात्मा जीव के शरीरों के लिए आकाश में वा पृथिवी पर कर्मानुसार सुख-दुःख के प्रापक लोक की इच्छा करता है। वह किरणों के द्वारा जीव को लोकान्तर में पहुँचाता है। जीव उसी को न्यायकारी मानें ॥ ३५ । २ ॥ ●

आदित्या देवा वा । **सविता**=**सूर्यः** । उष्णिक् । ऋषभः ॥

जीवानां कर्मगतिविषयमाह ॥

जीवों की कर्मगति का उपदेश किया है ॥

वायुः पुनातु सविता पुनात्वग्नेर्भ्राजसा सूर्य्यस्य वर्चसा । विमुच्यन्तामुस्त्रियाः ॥ ३ ॥

पदार्थः—(**वायुः**) (**पुनातु**) पवित्रयतु (**सविता**) सूर्यः (**पुनातु**) (**अग्नेः**) विद्युतः (**भ्राजसा**) दीप्त्या (**सूर्यस्य**) (**वर्चसा**) प्रकाशेन (**वि**) (**मुच्यन्ताम्**) त्यज्यन्ताम् (**उस्त्रियाः**) किरणाः ॥ ३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या वायुरग्नेर्भ्राजसा सूर्यस्य वर्चसा यानस्मान् पुनातु सविता पुनातु उस्त्रिया विमुच्यन्ताम् ॥ ३ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे मनुष्याः ! वायुरग्नेः** विद्युतः **भ्राजसा** दीप्त्या **सूर्यस्य वर्चसा** प्रकाशेन **यानस्मान् पुनातु** पवित्रयतु; **सविता** सूर्यः **पुनातु** पवित्रयतु; **उस्त्रियाः** किरणाः **वि+मुच्यन्तां** त्यज्यन्ताम् ॥ ३५ । ३ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! वायु—(अग्नेः) विद्युत् की (भ्राजसा) दीप्ति से, (सूर्यस्य) सूर्य के (वर्चसा) प्रकाश से हमें (पुनातु) पवित्र करता है; (सविता) सूर्य (पुनातु) पवित्र करता है; (उस्त्रियाः) किरणें (वि+मुच्यन्ताम्) विमुक्त करती हैं ॥ ३ ॥

भावार्थः—यदा जीवाः शरीराणि त्यक्त्वा विद्युतं सूर्यप्रकाशं वाय्वादीनि च प्राप्य गच्छन्ति=गर्भं प्रविशन्ति, तदा किरणास्तान् त्यजन्ति ॥ ३५ । ३ ॥

भावार्थ—जब जीव शरीरों को छोड़कर; विद्युत्, सूर्य-प्रकाश और वायु आदि को प्राप्त करके जाते हैं अर्थात् गर्भ में प्रविष्ट होते हैं; तब किरणें उन्हें छोड़ देती हैं ॥ ३५ । ३ ॥

भाष्यसार—**जीवों की कर्मगति**—वायु विद्युत् की दीप्ति से तथा सूर्य के प्रकाश से जीवों को पवित्र करता है। सूर्य भी उन्हें पवित्र करता है। तात्पर्य यह है कि जब जीव शरीरों को छोड़कर जाते हैं तब प्रथम विद्युत्, सूर्य-प्रकाश तथा वायु आदि को प्राप्त होते हैं। ये जीवों को शुद्ध करते हैं। तत्पश्चात् वे जीव गर्भ में प्रवेश करते हैं। गर्भ-प्रवेश के पश्चात् किरणें उन्हें छोड़ देती हैं ॥ ३५ । ३ ॥ ●

आदित्या देवाः । **वायुः सविता**=**जीवो जगदीश्वरश्च** । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

पुनर्मनुष्यैः किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

फिर मनुष्य को क्या करना चाहिये, यह उपदेश किया है ॥

अ॒श्व॒त्थे वो॑ नि॒षद॑नं प॒र्णे वो॑ व॒स॒तिष्कृ॒ता । गो॒भाज॒ इत्किला॑सथ॒ यत्स॒नव॑थ॒ पूरु॑षम् ॥ ४ ॥

पदार्थः--(**अश्वत्थे**) श्वः स्थास्यति न स्थास्यति वा तस्मिन्ननित्ये संसारे (**वः**) युष्माकम् (**निषदनम्**) स्थापनम् (**पर्णे**) पर्णवच्चञ्चले जीवने (**वः**) युष्माकम् (**वसतिः**) निवसतिः (**कृता**) (**गोभाजः**) ये गाः पृथिवीं वाचमिन्द्रियाणि किरणान् वा भजन्ति ते (**इत्**) एव (**किल**) (**असथ**) भवथ (**यत्**) (**सनवथ**) सेवध्वम् (**पूरुषम्**) सर्वत्र पूर्णं परमात्मानम् ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे जीवा येन जगदीश्वरेणाश्वत्थे वो निषदनं कृतं पर्णे वो वसतिः कृता यत्पूरुषं किल सनवथ तेन सह गोभाज इद्यूयं प्रयत्नेन धर्मेऽसथ ॥ ४ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे जीवाः ! येन जगदीश्वरेणाऽश्वत्थे** श्वः स्थास्यति न स्थास्यति वा तस्मिन्ननित्ये संसारे **वः** युष्माकं **निषदनं** स्थापनं **कृतं; पर्णे** पर्णवच्चञ्चले जीवने **वः** युष्माकं **वसतिः** निवसतिः **कृता; यत्पूरुषं** सर्वत्र पूर्णं परमात्मानं **किल सनवथ** सेवध्वम्; **तेन सह गोभाजः** ये गाः पृथिवीं वाचमिन्द्रियाणि किरणान् वा भजन्ति ते **इत्** एव **यूयं प्रयत्नेन धर्मेऽसथ** भवथ ॥ ३५ । ४ ॥

भाषार्थ—हे जीवो ! जिस जगदीश्वर ने—(अश्वत्थे) कल रहे वा न रहे, इस प्रकार के अनित्य संसार में (वः) तुम्हारा (निषदनम्) स्थापन किया है; (पर्णे) पत्ते के तुल्य चंचल जीवन में (वः) तुम्हारा (वसतिः) निवास (कृता) बनाया है; (यत्) जिस (पूरुषम्) सर्वत्र पूर्ण परमात्मा की (किल) निश्चय से (सनवथ) सेवा करो; उपासना करो। उसके साथ—(गोभाजः) गौ=पृथिवी, वाणी, इन्द्रियों वा किरणों का सेवन करने वाले होकर (इत्) ही तुम=प्रयत्न से धर्म पर (असथ) रहो ॥ ३५ । ४ ॥

भावार्थः—मनुष्यैरनित्ये संसारेऽनित्यानि शरीराणि पदार्थांश्च प्राप्य क्षणभङ्गुरे जीवने धर्माचरणेन नित्यं परमात्मानमुपास्याऽऽत्मपरमात्म-संयोगजं नित्यं सुखं प्रापणीयम् ॥ ३५ । ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य अनित्य संसार में अनित्य शरीरों और पदार्थों को प्राप्त करके, क्षण-भंगुर जीवन में धर्माचरणपूर्वक नित्य परमात्मा की उपासना करके, आत्मा और परमात्मा के संयोग से उत्पन्न नित्य सुख को प्राप्त करें ॥ ३५ । ४ ॥

भा० पदार्थः—पर्णे=क्षणभङ्गुरे जीवने ॥

भाष्यसार—मनुष्य क्या करें—जगदीश्वर ने अनित्य संसार में जीवों को स्थापित किया है। पत्ते के तुल्य चंचल जीवन में उनका निवास है। अतः सब मनुष्य इस अनित्य संसार में अनित्य शरीरों और अनित्य पदार्थों को प्राप्त करके इस क्षणभंगुर जीवन में धर्माचरण से नित्य परमात्मा की उपासना करें। गौ, पृथिवी, वाणी, इन्द्रिय तथा किरण आदि पदार्थों का सेवन करते हुए प्रयत्नपूर्वक धर्म में स्थिर रहें। आत्मा और परमात्मा के संयोग से उत्पन्न नित्य सुख को प्राप्त करें ॥ ३५ । ४ ॥

आदित्या देवाः वा। **वायुसवितारौ**=मातापितरौ। अनुष्टुप्। गान्धारः॥

कन्या किं कुर्यादित्याह॥

कन्या क्या करे, इस विषय का उपदेश किया है॥

सविता ते शरीराणि मातुरुपस्थ आ वपतु। तस्मै पृथिवि शं भव॥ ५॥

पदार्थः—(**सविता**) उत्पत्तिकर्त्ता पिता (**ते**) तव (**शरीराणि**) आश्रयान् (**मातुः**) जननीवन्मान्यप्रदायाः पृथिव्याः (**उपस्थे**) समीपे (**आ**) (**वपतु**) स्थापयतु (**तस्मै**) (**पृथिवि**) भूमिवद्वर्त्तमाने कन्ये (**शम्**) सुखकारिणी (**भव**)॥ ५॥

अन्वयः—हे पृथिवि! त्वं यस्यास्ते शरीराणि मातुरुपस्थे स पिता आ वपतु सा त्वं तस्मै पित्रे शम्भव॥ ५॥

सपदार्थान्वयः—**हे पृथिवि** भूमिवद्वर्त्तमाने कन्ये! **त्वं यस्यास्ते** तव **शरीराणि** आश्रयान् **मातुः** जननीवन्मान्यप्रदायाः पृथिव्याः **उपस्थे** समीपे **स** [**सविता**]=**पिता** उत्पत्तिकर्त्ता **आ+वपतु** स्थापयतु; **सा त्वं तस्मै पित्रे शं** सुखकारिणी **भव**॥ ३५। ५॥

भाषार्थ—हे (पृथिवि) भूमि के तुल्य वर्तमान कन्या! तू—(ते) तेरे (शरीराणि) शरीरों को (मातुः) जननी के तुल्य माननीय पृथिवी के (उपस्थे) उपस्थ=समीप में वह [सविता] उत्पत्तिकर्त्ता पिता (आ+वपतु) स्थापित करता है; सो तू—(तस्मै) उस माता-पिता के लिए (शम्) सुखकारिणी (भव) हो॥ ३५। ५॥

भावार्थः—हे कन्याः! युष्माभिर्विवाहानन्तमरपि जनकस्य जनन्याश्च मध्ये प्रीतिर्नैव त्याज्या, कुतस्ताभ्यामेव युष्माकं शरीराणि निर्मितानि पालितानि च सन्त्यतः॥ ३५। ५॥

भा० पदार्थः—शम्=प्रीतिः॥

भावार्थ—हे कन्याओ! तुम विवाह के पश्चात् पिता और माता के मध्य में प्रीति न छोड़ो; क्योंकि उन्होंने ही तुम्हारे शरीरों का निर्माण और पालन किया है॥ ३५। ५॥

भाष्यसार—**कन्या क्या करे**—कन्या पृथिवी के तुल्य होती है। कन्या का पिता उसके शरीर को पृथिवी के तुल्य माता के गर्भ में स्थापित करता है। अतः विवाह के पश्चात् भी कन्या माता-पिता के प्रति प्रीति का परित्याग न करे; क्योंकि उन्होंने ही उसके शरीर का निर्माण तथा पालन किया है। कन्या माता-पिता के लिए सुखकारिणी हो॥ ३५। ५॥

आदित्या देवाः। **प्रजापतिः**=ईश्वरः। उष्णिक्। ऋषभः॥

ईश्वरोपासनाविषयमाह॥

ईश्वर की उपासना का उपदेश किया है॥

प्रजापतौ त्वा देवतायामुपोदके लोके निदधाम्यसौ। अप नः शोशुचदघम्॥ ६॥

पदार्थः—(**प्रजापतौ**) प्रजायाः पालके परमेश्वरे (**त्वा**) त्वाम् (**देवतायाम्**) पूजनीयायाम् (**उपोदके**) उपगतान्युदकानि यस्मिंस्तस्मिन् (**लोके**) दर्शनीये (**नि**) (**दधामि**) (**असौ**) (**अप**) (**नः**) अस्माकम् (**शोशुचत्**) भृशं शोषयतु (**अघम्**) पापम्॥ ६॥

अन्वयः—हे जीव ! योऽसौ नोऽघमपशोशुचत्तस्यां प्रजापतौ देवतायामुपोदके लोके च त्वा निदधामि ॥ ६ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे जीव ! योऽसौ नः** अस्माकम् **अघं** पापम् **अप+शोशुचत्** भृशं शोषयतु, **तस्यां प्रजापतौ** प्रजायाः पालके परमेश्वरे **देवतायां** पूजनीयायाम् **उपोदके** उपगतान्युदकानि यस्मिँस्तस्मिन्, **लोके** दर्शनीये **च त्वा** त्वां **निदधामि** ॥ ३५ । ६ ॥

भाषार्थ—हे जीव ! जो (असौ) वह जगदीश्वर (नः) हमारे (अघम्) पाप को (अप+शोशुचत्) अत्यन्त शोषित करता है; उस (प्रजापतौ) प्रजा के पालक (देवतायाम्) पूजनीय परमेश्वर में और (उपोदके) जल के समीपवर्त्ती (लोके) दर्शनीय स्थान में (निदधामि) स्थापित करता हूँ ॥ ६ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या ! यो जगदीश्वर उपासितः सन् पापाचरणात् पृथक् कारयति, तस्मिन्नेव भक्तिकरणाय युष्मानहं स्थिरीकरोमि, येन सदैव यूयं श्रेष्ठं सुखदर्शनं प्राप्नुयात ॥ ३५ । ६ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जो उपासना किया हुआ जगदीश्वर पापाचरण से पृथक् रखता है; उसमें ही—भक्ति करने के लिए तुम्हें मैं स्थिर करता हूँ; जिससे सदा तुम श्रेष्ठ एवं सुखमय दर्शन को प्राप्त करो ॥ ३५ । ६ ॥

भा० पदार्थः—अघम्=पापाचरणम् । अपशोशुचत्=पृथक् कारयति । निदधामि=स्थिरीकरोमि ॥

भाष्यसार—**ईश्वर की उपासना**—जो जगदीश्वर हमारे पापों को अत्यन्त शोषित करता है अर्थात् हमें पापाचरण से पृथक् करता है; उस प्रजा के पालक, पूजनीय परमेश्वर में ही—जल के समीपवर्ती दर्शनीय देश में बैठकर—अपने आपको स्थापित करें। भक्ति करने के लिए उसमें स्थिर करें। जिससे सदा श्रेष्ठ सुखदर्शन को प्राप्त हो ॥ ३५ । ६ ॥ ●

सङ्कसुकः । **यमः**=**मृत्युः** । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

पुनर्मनुष्यैः किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

फिर मनुष्यों को क्या करना चाहिए, यह उपदेश किया है ॥

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते अन्य इतरो देवयानात् ।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजाᳪ रीरिषो मोत वीरान् ॥ ७ ॥

पदार्थः—(**परम्**) प्रकृष्टम् (**मृत्यो**) मृत्युः । अत्र व्यत्ययः (**अनु**) (**परा**) (**इहि**) दूरं गच्छतु (**पन्थाम्**) मार्गम् (**यः**) (**ते**) तव (**अन्यः**) (**इतरः**) भिन्नः (**देवयानात्**) देवा=विद्वांसो यान्ति यस्मिस्तस्मात् (**चक्षुष्मते**) प्रशस्तं चक्षुर्विद्यते यस्य तस्मै (**शृण्वते**) यः शृणोति तस्मै (**ते**) तुभ्यम् (**ब्रवीमि**) उपदिशामि (**मा**) (**नः**) अस्माकम् (**प्रजाम्**) **रीरिषः**) हिंस्याः (**मा**) (**उत**) अपि (**वीरान्**) प्राप्तविद्यान् शरीरबलयुक्तान् ॥ ७ ॥

प्रमाणार्थ—(**मृत्यो**) मृत्युः । यहाँ व्यत्यय है। प्रथमा विभक्ति के स्थान में सम्बोधन का एकवचन है ॥

अन्वयः—हे मनुष्य ! यस्ते देवयानादितरोऽन्यो मार्गोऽस्ति तं पन्थानं मृत्यो परेहि मृत्युः परैतु यतस्त्वं परं देवयानमन्विहि अतएव चक्षुष्मते शृण्वतेऽहं ते ब्रवीमि यथा मृत्युर्नः प्रजां न हिंस्यादुतापि वीरान्न हन्यात्तथा त्वं प्रजां मा रीरिष उतापि वीरान् मा रीरिषः ॥ ७ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्य ! **यस्ते** तव **देवयानात्** देवा=विद्वांसो यान्ति यस्मिंस्तस्मात्, **इतरः** भिन्नः **अन्यो मार्गोऽस्ति तं** [**पन्थाम्**]= **पन्थानं** मार्गं **मृत्यो परेहि=मृत्युः परैतु** मृत्युः दूरं गच्छतु; **यतस्त्वं परं** प्रकृष्टं **देवयानमन्विहि।**

अत एव चक्षुष्मते प्रशस्तं चक्षुर्विद्यते यस्य तस्मै, **शृण्वते** यः शृणोति तस्मै, **अहं ते** तुभ्यं **ब्रवीमि** उपदिशामि।

यथा मृत्युर्नः अस्माकं **प्रजां न हिंस्यादुत= अपि वीरान्** प्राप्तविद्यान् शरीरबलयुक्तान् **न हन्यात्तथा त्वं प्रजां मा रीरिषः** हिंस्याः; **उत=अपि वीरान्** प्राप्तविद्यान् शरीबलयुक्तान् **मा रीरिषः** ॥ ३५ । ७ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्य ! जो (ते) तेरा (देवयानात्) विद्वानों के मार्ग से (इतरः) भिन्न, दूसरा मार्ग है; उस [पन्थाम्] मार्ग को (मृत्यो) मृत्यु (परैतु) दूर करे, जिससे तू—(परम्) उत्कृष्ट (देवमार्ग) को प्राप्त हो।

इसलिए ही—(चक्षुष्मते) प्रशस्त आंख वाले, (शृण्वते) सुनने वाले (ते) तेरे लिए मैं (ब्रवीमि) उपदेश करता हूँ।

जैसे मृत्यु (नः) हमारी (प्रजाम्) प्रजा की हिंसा न करे; (उत) और (वीरान्) विद्या को प्राप्त हुए शरीर-बल से युक्त वीरों की हिंसा न करे, वैसे तू (प्रजाम्) प्रजा की (मा, रीरिषः) मत हिंसा कर, (उत) और (वीरान्) उक्त, वीरों की (मा, रीरिषः) मत हिंसा कर॥ ३५ । ७ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यावज्जीवनं तावद् विद्वन्मार्गेण गत्वा परमायुर्लब्धव्यम्। कदाचिद् विना ब्रह्मचर्येण स्वयंवरं कृत्वाऽल्पायुषीः प्रजाः नोत्पादनीया, न चैतासां ब्रह्मचर्यानुष्ठानेन वियोगः कर्त्तव्यः ॥ ३५ । ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य, जब तक जीवन है, तब तक विद्वानों के मार्ग से चलकर परम आयु को प्राप्त करें। कभी विना ब्रह्मचर्य से स्वयंवर करके अल्प आयु वाली प्रजा को उत्पन्न न करें, और नहीं इस प्रजा का ब्रह्मचर्यानुष्ठान से वियोग करें॥ ३५ । ७ ॥

भा० पदार्थः—देवयानात्=विद्वन्मार्गेण।

भाष्यसार—**मनुष्य क्या करें**—जो मनुष्य विद्वानों के मार्ग से भिन्न मार्ग पर चलते हैं; उनके उस मार्ग को मृत्यु का भय दूर करे। जब तक जीवन रहे; तब तक मनुष्य विद्वानों के मार्ग पर चलें और परम आयु को प्राप्त करें। आँखों वाले और कानों वाले जीव के लिए ईश्वर उपदेश करता है कि—जिस प्रकार से प्रजा, (सन्तान) की तथा वीर पुरुषों की हिंसा न हो वैसा आचरण करें; अर्थात् विना ब्रह्मचर्य के स्वयंवर करके अल्पायु प्रजा को कभी उत्पन्न न करें और ब्रह्मचर्य के पालन से कभी वियुक्त न हों॥ ३५ । ७ ॥ ●

आदित्या देवा वा। **विश्वेदेवाः=सृष्टिस्थाः पदार्थाः।** अनुष्टुप्। गान्धारः॥

सृष्टिस्थाः पदार्थाः कथं मनुष्याणां सुखकारिणः स्युरित्याह॥

सृष्टि के पदार्थ मनुष्यों को कैसे सुखकारी हों, यह उपदेश किया है॥

शं वातः शꣳ हि ते घृणिः शं ते भवन्त्विष्टकाः।
शं ते भवन्त्वग्नयः पार्थिवासो मा त्वाभिशूशुचन्॥ ८॥

पदार्थः—(**शम्**) सुखकरः (**वातः**) वायुः (**शम्**) (**हि**) यतः (**ते**) (**घृणिः**) रश्मिवान् सूर्यः (**शम्**) (**ते**) (**भवन्तु**) (**इष्टकाः**) वेद्यां चिताः (**शम्**) (**ते**) (**भवन्तु**) (**अग्नयः**) पावकः (**पार्थिवासः**) पृथिव्यां विदिताः (**मा**) (**त्वा**) त्वाम् (**अभि**) (**शूशुचन्**) भृशं शोकं कुर्य्युः॥ ८॥

अन्वयः—हे जीव ! ते वातः शं भवतु घृणिः शं हि भवतु इष्टकास्ते शं भवन्तु पार्थिवासोऽग्नयस्ते शं भवन्त्वेते त्वामभि शूशुचन् ॥ ८ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे जीव ! ते वातः** वायुः **शं** सुखकरः **भवतु, घृणिः** रश्मिवान् सूर्य्यः **शं** सुखकरः **हि** यतः **भवतु, इष्टकाः** वेद्यां चिताः **ते शं** सुखकराः **भवन्तु, पार्थिवासः** पृथिव्यां विदिताः **अग्नयः** पावकाः **ते शं** सुखकराः **भवन्त्वेते** [**त्वा**]= त्वां [**मा**] **अभि+शूशुचन्** भृशं शोकं कुर्य्युः ॥ ३५ । ८ ॥

भाषार्थ—हे जीव ! (ते) तेरे लिए (वातः) वायु (शम्) सुखकारी हों; (घृणिः) किरणों वाला सूर्य (शम्) सुखकारी (हि) ही हो; (इष्टकाः) वेदी में चिनी हुई ईंटें (ते) तेरे लिए (शम्) सुखकारी (भवन्तु) हों; (पार्थिवासः) पृथिवी में प्रसिद्ध (अग्नयः) अग्नियाँ (ते) तेरे लिए (शम्) सुखकारी (भवन्तु) हों; ये [त्वा] तुझे [मा], अभि+शूशुचन् मत अत्यन्त शोकयुक्त करें ॥ ३५ । ८ ॥

भावार्थः—हे जीवाः ! तथैव युष्माभिर्धर्म्ये व्यवहारे वर्त्तितव्यं यथा जीवतां मृतानां च युष्माकं सृष्टिस्था वाय्वादयः पदार्थाः सुखकराः स्युः ॥ ३५ । ८ ॥

भावार्थ—हे जीवो ! वैसे ही तुम धर्मयुक्त व्यवहार में रहो जैसे जीने और मरने के बाद भी तुम्हें सृष्टि के वायु आदि पदार्थ सुखकारी हों ॥ ३५ । ८ ॥

भाष्यसार—**सृष्टि के पदार्थ**—सब जीव उस प्रकार से धर्मयुक्त व्यवहार में चलें जिस प्रकार से वायु, सूर्य, यज्ञ-वेदी में चिनी हुई ईंटें, पृथिवी में प्रसिद्ध अग्नियाँ ये सृष्टि के पदार्थ सुखकारी हों; तथा अत्यन्त शोक उत्पन्न न करें ॥ ३५ । ८ ॥ ●

आदित्या देवाः । **विश्वेदेवाः**=**सृष्टिस्थाः पदार्थाः**। विराट् बृहती । मध्यमः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

सृष्टिस्थ पदार्थ मनुष्यों को कैसे सुखकारी हों, इसका फिर उपदेश किया है ॥

कल्पन्तां ते दिशस्तुभ्यमापः शिवतमास्तुभ्यं भवन्तु सिन्धवः ।
अन्तरिक्षꣳ शिवं तुभ्यं कल्पन्तां ते दिशः सर्वाः ॥ ९ ॥

पदार्थः—(**कल्पन्ताम्**) समर्था भवन्तु (**ते**) तुभ्यम् (**दिशः**) पूर्वाद्याः (**तुभ्यम्**) (**आपः**) प्राणा जलानि वा (**शिवतमाः**) अतिशयेन सुखकराः (**तुभ्यम्**) (**भवन्तु**) (**सिन्धवः**) नद्यः समुद्रा वा (**अन्तरिक्षम्**) आकाशम् (**शिवम्**) सुखकरम् । **शिवमिति सुखना० ॥ निघं ३ । ६ ॥** (**तुभ्यम्**) (**कल्पन्ताम्**) (**ते**) तुभ्यम् (**दिशः**) ऐशान्याद्याः (**सर्वाः**) समग्राः ॥ ९ ॥

प्रमाणार्थ—(शिवम्) सुखकरम् । 'शिवम्' यह पद निघण्टु० (३ । ६) में सुख-नामों में पठित है ।

अन्वयः—हे जीव ! ते दिशश्शिवतमाः कल्पन्तां तुभ्यमापः शिवतमा भवन्तु तुभ्यं सिन्धवः शिवतमा भवन्तु तुभ्यं शिवमन्तरिक्षं भवतु ते सर्वा दिशः शिवतमाः कल्पन्ताम् ॥ ९ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे जीव ! ते तुभ्यं दिशः**, पूर्वाद्याः **शिवतमाः** अतिशयेन सुखकराः **कल्पन्तां** समर्था भवन्तु, **तुभ्यमापः** प्राणा जलानि

भाषार्थ—हे जीव ! (ते) तेरे लिए (दिशः) पूर्व आदि दिशाएँ (शिवतमाः) अत्यन्त सुखकर होने में (कल्पन्ताम्) समर्थ हों; (तुभ्यम्) तेरे लिए

वा **शिवतमाः** अतिशयेन सुखकराः **भवन्तु, तुभ्यं सिन्धवः** नद्यः समुद्रा वा **शिवतमाः** अतिशयेन सुखकराः **भवन्तु, तुभ्यं शिवं** सुखकरम् **अन्तरिक्षम्** आकाशं **भवतु, ते** तुभ्यं **सर्वाः** समग्राः **दिशः** ऐशान्याद्याः **शिवतमाः** अतिशयेन सुखकराः **कल्पन्तां** समर्था भवन्तु ॥ ३५ । ६ ॥

(आपः) प्राण वा जल (शिवतमाः) अत्यन्त सुखकर हों; (तुभ्यम्) तेरे लिए (सिन्धवः) नदियाँ वा समुद्र (शिवतमाः) अत्यन्त सुखकर (भवन्तु) हों; (तुभ्यम्) तेरे लिए (शिवम्) सुखकर (अन्तरिक्षम्) आकाश हो, (ते) तेरे लिए (सर्वाः) सब (दिशः) ऐशानी आदि दिशाएँ (शिवतमाः) अत्यन्त सुखकर होने में (कल्पन्ताम्) समर्थ हों ॥ ३५ । ६ ॥

भावार्थः—येऽधर्मं विहाय सर्वथा धर्ममाचरन्ति तेभ्यः पृथिव्यादयः सर्वे सृष्टिस्थाः पदार्था, मङ्गलकारिणो भवन्ति ॥ ३५ । ६ ॥

भावार्थ—जो अधर्म को छोड़कर सर्वथा धर्म का आचरण करते हैं; उनके लिए पृथिवी आदि सब सृष्टि के पदार्थ मंगलकारी होते हैं ॥ ३५ । ६ ॥

भा० पदार्थः—शिवतमाः=मङ्गलकारिणः ।

भाष्यसार—सृष्टि के पदार्थ—जो मनुष्य अधर्म को छोड़कर सर्वथा धर्म का आचरण करते हैं उनके लिए पूर्व आदि दिशाएँ, प्राण, जल, नदी, समुद्र, आकाश, ऐशानी आदि उपदिशाएँ ये सब सृष्टि के पदार्थ अत्यन्त सुखकारी एवं मंगलकारी होते हैं ॥ ३५ । ६ ॥ ●

सुचीकः । **विश्वेदेवाः=सखायः** । निचृत्त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

के दुःखात्तरन्तीत्याह ॥

कौन लोग दुःख से पार होते हैं, यह उपदेश किया है ॥

अश्मन्वती रीयते सꣳ रभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः ।
अत्रा जहीमोऽशिवा ये ऽ असञ्छिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान् ॥ १० ॥

पदार्थः—(**अश्मन्वती**) बह्वोऽश्मानो=मेघाः पाषाणा वा विद्यन्ते यस्यां सृष्टौ नद्यां वा सा (**रीयते**) गच्छति (**सम्**) सम्यक् (**रभध्वम्**) प्रारम्भं कुरुत (**उत्**) (**तिष्ठत**) उद्यता भवत (**प्र**) (**तरत**) दुःखान्युल्लङ्घयत । **अत्र संहितायामिति दीर्घः** (**सखायः**) सुहृदः सन्तः (**अत्र**) अस्मिन् संसारे समये वा । **अत्र निपातस्य चेति दीर्घः** (**जहीमः**) त्यजामः (**अशिवाः**) अकल्याणकराः (**ये**) (**असन्**) सन्ति (**शिवान्**) सुखकरान् (**वयम्**) (**उत्**)(**तरेम**) उल्लंघयेम (**अभि**) (**वाजान्**) अत्युत्तमानन्नादिभोगान् ॥ १० ॥

प्रमाणार्थ—(**तरत**) यहाँ संहिता में दीर्घ है—'तरता' । (**अत्र**) यहाँ 'निपातस्य च' (अ० ६ । ३ । १३६) से संहिता में दीर्घ है—'अत्रा' ॥

अन्वयः—हे सखायो ! याश्मन्वती रीयते यथा वयं येऽत्राशिवा असँस्तान् जहीमः शिवान् वा जानभ्युत्तरेम तथा यूयं संरभध्वमुत्तिष्ठत प्रतरत च ॥ १० ॥

सपदार्थान्वयः— **हे सखायः !** सुहृदः सन्तः ! **अश्मन्वती** बह्वोऽश्मानो=मेघाः पाषाणा वा विद्यन्ते यस्यां सृष्टौ नद्यां वा सा, **रीयते** गच्छति; यथा **वयं येऽत्र** अस्मिन् संसारे समये वा **अशिवाः** अकल्याणकराः **असन्** सन्ति; **तान्**

भाषार्थ—हे (सखायः) मित्रो ! जो—(अश्मन्वती) बहुत मेघों वाली सृष्टि अथवा बहुत पत्थरों वाली नदी (रीयते) चल रही है, बह रही है; उससे हम लोग—(ये) जो (अत्र) इस संसार में वा इस समय में (अशिवाः) अकल्याणकारी (असन्)

जहीमः त्यजामः; **शिवान्** सुखकरान् **वाजान्** अत्युत्तमानन्नादिभोगान् **अभ्युत्तरेम** उल्लङ्घयेम; **तथा यूयं संरभध्वं** सम्यक् प्रारम्भं कुरुत, **उत्तिष्ठत** उद्यता भवत, **प्रतरत** दुःखान्युल्लङ्घयत **च** ॥१०॥

हैं; उन्हें (जहीमः) छोड़ते हैं; (शिवान्) सुखकर (वाजान्) अत्युत्तम अन्नादि भोगों को (अभ्युत्तरेम) सब ओर से पार करते हैं; प्राप्त कर सकते हैं; वैसे तुम लोग—(संरभध्वम्) उत्तम कर्मों को प्रारम्भ करो, (उत्तिष्ठत) उद्यम करो और (प्रतरत) दुःखों को पार करो ॥ ३५ । १० ॥

भावार्थः—ये मनुष्या बृहत्या नौकया समुद्रमिवाऽशुभाचरणानि दुष्टांश्च तीर्त्वा, प्रयत्नेनोद्यमिनो भूत्वा मङ्गलान्याचरेयुस्ते दुःखसागरं सहजतः सन्तरेयुः ॥ ३५ । १० ॥

भावार्थ—जो मनुष्य—बड़ी नौका से समुद्र के तुल्य—अशुभ आचरणों और दुष्टों को पार करके, प्रयत्न से उद्यमी होकर मङ्गल-कार्य करते हैं, वे दुःखसागर को सहज में ही तरते हैं ।३५।१०॥

भा० पदार्थः—अश्मन्वती=समुद्रम् । अशिवाः=अशुभाचरणानि, दुष्टाश्च । उत्तिष्ठत=प्रयत्नेनोद्यमिनो भवत । संरभध्वम्=मङ्गलान्याचरत । प्रतरत=दुःखसागरं सहजतः सन्तरत ॥

भाष्यसार—कौन दुःख से पार होते हैं—हे मित्रो ! यह सृष्टि एक पथरीली नदी है, जो तीव्र गति से बह रही है । जैसे बड़ी नौका से समुद्र को पार करते हैं, वैसे जो मनुष्य अकल्याणकारी अशुभ आचरण को तथा दुष्ट जनों को छोड़ देते हैं; तथा सुखकारी अत्युत्तम अन्न आदि भोगों को प्राप्त करते हैं; प्रयत्न से उद्यमी होकर मंगलकार्य करते हैं वे ही उक्त नदी को पार कर सकते हैं; दुःखसागर को तर सकते हैं ॥ ३५ । १० ॥ ●

शुनःशेपः । **आपः**=पवित्रकारकाः । विराडनुष्टुप् । गान्धारः ॥

अथ के पवित्रकारका इत्याह ॥

अब कौन मनुष्य पवित्र करने वाले हैं, यह उपदेश किया है ॥

अपाघमप किल्विषमप कृत्यामपो रपः । अपामार्ग त्वमस्मदप दुःष्वप्न्यꣳ सुव ॥ ११ ॥

पदार्थः—(**अप**) दूरीकरणे (**अघम्**) पापम् (**अप**) (**किल्विषम्**) स्वान्तःस्थं मलम् (**अप**) (**कृत्याम्**) दुष्क्रियाम् (**अपो**) दूरीकरणे (**रपः**) बाह्येन्द्रियचाञ्चल्यजन्यमपराधम् (**अपामार्ग**) रोगनिवारकोऽपामार्ग=ओषधिरिव पापदूरीकर्त्तः (**त्वम्**) (**अस्मत्**) अस्माकं सकाशात् (**अप**) (**दुःष्वप्न्यम्**) दुष्टश्चासौ स्वप्नो निद्रा च तस्मिन् भवम् (**सुव**) प्रेरय ॥ ११ ॥

अन्वयः—हे अपामार्ग ! त्वमस्मदघमपसुव किल्विषमपसुव कृत्यामपसुव रपोऽपसुव दुःष्वप्न्यमपसुव ॥ ११ ॥

सपदार्थान्वयः — हे अपामार्ग ! रोगनिवारकोऽपामार्ग=ओषधिरिव पापदूरीकर्त्तः ! **त्वमस्मत्** अस्माकं सकाशात् **अघं** पापम् **अप+सुव** दूरं प्रेरय, **किल्विषं** स्वान्तःस्थं मलम् **अप+सुव** दूरं प्रेरय, **कृत्यां** दुष्क्रियाम् **अप+सुव** दूरं प्रेरय, **रपः**

भाषार्थ—हे (अपामार्ग) रोगनिवारक अपामार्ग नामक ओषधि के तुल्य पाप को दूर करने वाले विद्वान् ! तू—(अस्मत्) हम से (अघम्) पाप को (अप+सुव) दूर कर ! (किल्विषम्) अपने अन्तःकरण के मूल को (अप+सुव) दूर कर !

बाह्येन्द्रियचाञ्चल्यजन्यमपराधं **अप+सुव** दूरं प्रेरय, **दुःष्वप्न्यं** दुष्टश्चासौ स्वप्नो=निद्रा च तस्मिन् भवम् **अप+सुव** दूरं प्रेरय ॥ ३५ । ११ ॥

(कृत्याम्) दुष्ट क्रिया को (अप+सुव) दूर कर; (रपः) बाह्य इन्द्रियों की चंचलता से उत्पन्न अपराध को (अप+सुव) दूर कर, (दुःष्वप्न्यम्) दुष्ट स्वप्न में उत्पन्न अपराध को (अप+सुव) दूर कर ॥ ३५ । ११ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । यथाऽपामार्गाद्योषधयो रोगान्निवार्य्य प्राणिनः सुखयन्ति तथा स्वयं सर्वेभ्यो दोषेभ्यः पृथग्भूत्वाऽन्यानशुभाचरणात् पृथक् कृत्वा, ये शुद्धा भवन्त्यन्यान् भावयन्ति च, त एव मनुष्यादीनां पवित्रकराः सन्ति ॥ ३५ । ११ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलङ्कार है । जैसे अपामार्ग आदि ओषधियाँ रोगों का निवारण करके प्राणियों को सुखी करती हैं वैसे स्वयं सब दोषों से पृथक् होकर, दूसरों को अशुभ आचरण से पृथक् करके, जो स्वयं शुद्ध होकर अन्यों को शुद्ध करते हैं, वे ही मनुष्य आदि को पवित्र करने वाले हैं ॥ ३५ । ११ ॥

भा० पदार्थः—अपामार्ग !=अपामार्गाद्योषधिरिव रोगान्निवार्य प्राणिनः सुखद !

भाष्यसार—**१. कौन मनुष्य पवित्र करने वाले हैं**—रोगों का निवारण करने वाली अपामार्ग नामक ओषधि के तुल्य जो पाप को दूर करते हैं तथा प्राणियों को सुख देते हैं; अन्तःकरण के मल को साफ करते हैं; दुष्ट आचरण को दूर करते हैं; बाह्य इन्द्रियों की चंचलता से उत्पन्न हुए अपराध को दूर करते हैं; स्वप्नावस्था में उत्पन्न हुए अपराध को नष्ट करते हैं । तात्पर्य यह है कि स्वयं सब दोषों से पृथक् शुद्ध रहकर शुद्ध होते अन्यों को अशुभ आचरण से पृथक् करके शुद्ध करते हैं, वे आप्त विद्वान् ही मनुष्यों को पवित्र करने वाले हैं ।

२. अलङ्कार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचकलुप्तोपमा अलङ्कार है । उपमा यह है कि विद्वान् लोग—रोगनिवारक अपामार्ग ओषधि के तुल्य पापों को दूर करें; सबको पवित्र बनावें ॥ ३५ । ११ ॥ ●

आदित्या देवाः । **आपः=जलौषध्यादयः पदार्थाः** । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ॥

पुनर्मनुष्याः किं कुर्युरित्याह ॥

फिर मनुष्य क्या करें, इस विषय का उपदेश किया है ॥

सुमित्रिया न ऽ आप ऽ ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥ १२ ॥

पदार्थः—(**सुमित्रियाः**) शोभना मित्रा इव (**नः**) अस्मभ्यम् (**आपः**) प्राणा जलानि वा (**ओषधयः**) सोमाद्याः (**सन्तु**) (**दुर्मित्रियाः**) दुर्मित्राः=शत्रव इव दुःखप्रदाः (**तस्मै**) (**सन्तु**) (**यः**) (**अस्मान्**) धर्मात्मनः (**द्वेष्टि**) अप्रसन्नयति (**यम्**) दुष्टाचारिणम् (**च**) (**वयम्**) (**द्विष्मः**) अप्रीतयामः ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या या आप ओषधयो नोऽस्मभ्यं सुमित्रियाः सन्तु ता युष्मभ्यमपि तादृश्यो भवन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तस्मा एता दुर्मित्रियाः सन्तु ॥ १२ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः! या **आपः** प्राणा जलानि वा **ओषधयः** सोमाद्याः **नः**=**अस्मभ्यं सुमित्रियाः** शोभना मित्रा इव **सन्तु, ता युष्मभ्यमपि तादृश्यो भवन्तु।**

योऽस्मान् धर्मात्मनः **द्वेष्टि** अप्रसन्नयति; **यं** दुष्टाचारिणं **च वयं द्विष्मः** अप्रीतयामः; **तस्मा एता दुर्मित्रियाः** दुर्मित्रा=शत्रव इव दुःखप्रदाः **सन्तु** ॥३५।१२॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो! जो (आपः) प्राण वा जल, (ओषधयः) सोम आदि ओषधियाँ (नः) हमारे लिए (सुमित्रियाः) उत्तम मित्रों के तुल्य (सन्तु) हों, वे तुम्हारे लिए भी वैसी ही हों।

(यः) जो (अस्मान्) हम धर्मात्माओं को (द्वेष्टि) अप्रसन्न करता है; (यं, च) और जिस दुष्टाचारी से (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रीति करते हैं; (तस्मै) उसके लिए ये (दुर्मित्रियाः) दुर्मित्र=शत्रु के तुल्य दुःखदायक (सन्तु) हों ॥ ३५। १२॥

भावार्थः—ये रागद्वेषादिदोषान् विहाय सर्वेषु स्वात्मवद् वर्त्तन्ते, तेभ्यो धर्मात्मभ्यः सर्वे जलौषध्यादयः पदार्थाः सुखकरा भवन्ति, ये च स्वात्मपोषकाः परद्वेषिणस्तेभ्योऽधर्मात्मभ्यः सर्व एते दुःखकरा भवन्ति;

मनुष्यैर्धर्मात्मभिः सह प्रीतिर्दुष्टात्मभिः सहाऽप्रीतिश्च सततं कार्या, परन्तु तेषामन्तःकरणेन कल्याणमेषणीयम् ॥ ३५। १२॥

भावार्थ—जो राग, द्वेष आदि दोषों को छोड़कर सब में अपने आत्मा के तुल्य वर्त्ताव करते हैं; उन धर्मात्माओं के लिए जल, ओषधि आदि पदार्थ सुखकर होते हैं। और केवल अपने आत्मा के पोषक, दूसरों से द्वेष करने वाले अधर्मात्माओं के लिए ये सब दुःखकारी होते हैं।

मनुष्य—धर्मात्माओं के साथ प्रीति और दुष्ट आत्माओं के साथ अप्रीति सदा करें, परन्तु उनका अन्तःकरण से कल्याण चाहें ॥ ३५। १२॥

भा० पदार्थः—ओषधयः=ओषध्यादयः पदार्थाः। सुमित्रियाः=सुखकराः। दुर्मित्रियाः=दुःखकराः॥

भाष्यसार—**मनुष्य क्या करें**—जो राग-द्वेष आदि दोषों को छोड़कर सब में अपने आत्मा के तुल्य वर्ताव करते हैं; उन धर्मात्मा जनों के लिए प्राण, जल, सोम आदि ओषधियाँ श्रेष्ठ मित्र के तुल्य सुखकारी होती हैं और जो धर्मात्मा जनों से द्वेष करते हैं, अपने आत्मा के ही पोषक हैं, दूसरों से द्वेष करते हैं, उन अधर्मात्मा जनों के लिए ये उक्त सब पदार्थ शत्रु के तुल्य दुःखदायक होते हैं। अतः मनुष्यों को उचित है कि वे धर्मात्मा जनों के साथ प्रीति और दुष्टात्मा जनों के साथ अप्रीति सदा करें। किन्तु अन्तःकरण से उनके कल्याण की कामना किया करें॥ ३५। १२॥ ●

आदित्या देवाः। **कृषीवलाः**=**स्पष्टम्**। स्वराडनुष्टुप्। गान्धारः॥

के मनुष्याः कार्यं साद्धुं शक्नुवन्तीत्याह॥

कौन मनुष्य कार्यों को सिद्ध कर सकते हैं, यह उपदेश किया है॥

अनड्वाहमन्वारभामहे सौरभेयꣳ स्वस्तये।
स नऽइन्द्रऽइव देवेभ्यो वह्निः सन्तरणो भव॥ १३॥

पदार्थः—(**अनड्वाहम्**) योऽनांसि=शकटानि वहति तद्वद्वर्त्तमानम् (**अन्वारभामहे**) यानानि रचयित्वा तत्र स्थापयेम (**सौरभेयम्**) सुरभ्या अपत्यम् (**स्वस्तये**) सुखाय (**सः**) (**नः**) अस्मभ्यम् (**इन्द्र इव**)

विद्युदिव (**देवेभ्यः**) विद्वद्भ्यः (**वह्निः**) सद्यो वोढाग्निः (**सन्तरणः**) यः सम्यगध्वनस्तारयति=पारं करोति सः (**भव**) भवतु ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे विद्वन् ! यो वह्निर्नो देवेभ्यः सन्तरणो भवति तं सौरभेयमनड्वाहमिव वर्त्तमानमग्निं वयं स्वस्तयेऽन्वारभामहे । स तुभ्यम् इन्द्र इव भव भवतु ॥ १३ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **विद्वन्** ! **यो वह्निः** सद्यो वोढाग्निः **नः** अस्मभ्यं **देवेभ्यः** विद्वद्भ्यः **सन्तरणः** यः सम्यगध्वनस्तारयति=पारं करोति सः **भवति; तं सौरभेयं** सुरभ्या अपत्यम् **अनड्वाहं** योऽनांसि=शकटानि वहति तम् **इव वर्त्तमानमग्निं वयं स्वस्तये** सुखाय **अन्वारभामहे** यानानि रचयित्वा तत्र स्थापयेम, **स तुभ्यम् इन्द्र इव** विद्युदिव **भव**=**भवतु** ॥ ३५ । १३ ॥

भावार्थः—ये मनुष्या विद्युदाद्यग्निविद्यया यानादीनि कार्याणि कर्त्तुमारभन्ते ते बलिष्ठैर्वृषभैः कृषीवला इव स्वकार्याणि साद्धुं शक्नुवन्ति, विद्युदिवेतस्ततो गन्तुञ्च ॥ ३५ । १३ ॥

भाषार्थ—हे विद्वान् ! जो (वह्निः) शीघ्र पहुँचाने वाला अग्नि (नः) हम (देवेभ्यः) विद्वानों के लिए (सन्तरणः) अच्छे प्रकार मार्ग से पार करने वाला होता है; उस (सौरभेयम्) सुरभी=गौ की सन्तान (अनड्वाहम्) गाड़ियों को खैंचने वाले बैल के तुल्य वर्त्तमान अग्नि को हम (स्वस्तये) सुख के लिए (अन्वारभामहे) यानों को बना कर उनमें स्थापित करते हैं; वह तेरे लिए (इन्द्र इव) विद्युत् के तुल्य (भव) हो ॥ ३५ । १३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विद्युत् आदि अग्निविद्या से यानादि कार्यों को करना आरम्भ करते हैं; वे बलिष्ठ बैलों से किसानों के तुल्य अपने कार्यों को सिद्ध कर सकते हैं, और विद्युत् के तुल्य इधर-उधर जा सकते हैं ॥ ३५ । १३ ॥

भा० पदार्थः--अन्वारभामहे=यानादीनि कार्याणि कर्त्तुमारभामहे । वह्निः=विद्युदाद्यग्निविद्या ।

भाष्यसार—**कार्य की सिद्धि**—जो अग्नि शीघ्र देशान्तर में पहुँचाने वाला है; विद्वानों के लिए मार्ग से पार करने वाला है, यह अग्नि–गौ के पुत्र, शकट=छकड़ों को वहन करने वाले बैल के तुल्य है । जैसे किसान लोग बलिष्ठ बैलों से अपने कार्यों को सिद्ध करते हैं वैसे उक्त अग्नि-विद्या के द्वारा सुखप्राप्ति के लिए यानों की रचना करें । उनमें अग्नि को स्थापित करें । विद्युत् के तुल्य इधर-उधर गमन करें ॥ ३५ । १३ ॥ ●

आदित्या देवाः । **सूर्य्यः=परमात्मा** । विराडनुष्टुप् । गान्धारः ॥

के मोक्षमधिगच्छन्तीत्याह ॥

कौन मोक्ष को पाते हैं, यह उपदेश किया है ॥

उद्वयं तमसस्परि स्वः ऽ पश्यन्त उत्तरम् । देवं देवत्रा सूर्य्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ १४ ॥

पदार्थः—(**उत्**) (**वयम्**) (**तमसः**) अन्धकारात् (**परि**) वर्जने (**स्वः**) स्वप्रकाशमादित्यम् (**पश्यन्तः**) प्रेक्षमाणाः (**उत्तरम्**) दुःखेभ्य उत्तारकं, परत्र वर्त्तमानम् (**देवम्**) विजयादिलाभप्रदम् (**देवत्रा**) देवेषु=विद्वत्सु प्रकाशमयेषु सूर्य्यादिषु वा (**सूर्य्यम्**) अन्तर्यामिरूपेण स्वव्याप्त्या चराऽचरात्मानं परमात्मानं (**अगन्म**) विजानीयाम (**ज्योतिः**) स्वप्रकाशम् (**उत्तमम्**) सर्वोत्कृष्टम् ॥ १४ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या वयं यं तमसस्परि स्वरिव वर्त्तमानं देवत्रा देवं ज्योतिरुत्तममुत्तरं सूर्य्यं पश्यन्तः सन्तः पर्य्युदगन्म तमेव यूयमपि सर्वतो विजानीत ।। १४ ।।

सपदार्थान्वयः—हे **मनुष्याः ! वयं यं तमसः** अन्धकारात् **परि** पृथक् **स्वः** स्वप्रकाशमादित्यं **इव वर्त्तमानं, देवत्रा** देवेषु=विद्वत्सु प्रकाशमयेषु सूर्य्यादिषु वा **देवं** विजयादिलाभप्रदं, **ज्योतिः** स्वप्रकाशम्, **उत्तमं** सर्वोत्कृष्टम्, **उत्तरं** दुःखेभ्य उत्तारकं, परत्र वर्त्तमानं, **सूर्य्यम्** अन्तर्यामिरूपेण स्वव्याप्त्या चराऽचरात्मानं परमात्मानं **पश्यन्तः** प्रेक्षमाणाः **सन्तः पर्य्युदगन्म** विजानीयाम; **तमेव यूयमपि सर्वतो विजानीत** ।। ३५ । १४ ।।

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! हम—(यम्) जिसे (तमसः) अन्धकार से (परि) पृथक् (स्वः) अपने प्रकाश वाले आदित्य के तुल्य वर्तमान, (देवत्रा) विद्वानों वा प्रकाशमय सूर्य आदि में (देवम्) विजय आदि लाभ प्रदान करने वाले, (ज्योतिः) स्वप्रकाशस्वरूप, (उत्तमम्) सबसे उत्कृष्ट, (उत्तरम्) दुःखों से पार करने वाले एवं उनसे परत्र विद्यमान, (सूर्यम्) अन्तर्यामी रूप से अपनी व्याप्ति से चराचर के आत्मा परमात्मा को (पश्यन्तः) देखते हुए (परि+उत्+अगन्म) सब ओर उत्कृष्टतापूर्वक जानें; उसे ही तुम भी सब ओर से जानो ।। ३५ । १४ ।।

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । हे मनुष्याः ! यथा सूर्यं पश्यन्तो दीर्घायुषो धर्मात्मानो जनाः सुखं लभन्ते, तथैव धार्मिका योगिनो महादेवं सर्वप्रकाशकं जन्ममृत्युक्लेशादिभ्यः पृथग्वर्त्तमानं सच्चिदानन्दस्वरूपं परमात्मानं साक्षाद् विज्ञाय मोक्षमवाप्य सततमानन्दन्ति ।।१४।।

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। हे मनुष्यो ! जैसे सूर्य को देखते हुए दीर्घायु धर्मात्मा लोग सुख को प्राप्त करते हैं, वैसे ही धार्मिक योगी लोग—महादेव, सबके प्रकाशक, जन्म-मृत्यु क्लेश आदि से पृथक् वर्तमान, सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा को साक्षात् जानकर, मोक्ष को प्राप्त करके सदा आनन्द करते हैं ।।१४।।

भा० पदार्थः—स्वः=सुखम्, मोक्षम् । [देवत्रा] देवम्=महादेवम् । ज्योतिः=सर्वप्रकाशकम् । उत्तरम्=जन्ममृत्युक्लेशादिभ्यः पृथग्वर्त्तमानम् । सूर्यम्=सच्चिदानन्दस्वरूपं परमात्मानम् । पश्यन्तः=साक्षाद् विज्ञाय ।।

भाष्यसार—**१. कौन मोक्ष को पाते हैं**—अन्धकार से पृथक्, स्वप्रकाशस्वरूप सूर्य के तुल्य वर्तमान, विद्वानों तथा ज्योतिर्मय सूर्य आदि में विजय आदि लाभ प्रदान करने वाले, स्वप्रकाशस्वरूप, सब से उत्कृष्ट दुःखों से पार करने वाले तथा जन्म-मृत्यु आदि क्लेशों से पृथक्, अन्तर्यामी रूप से अपनी व्यापकता से चराचर के आत्मा, सच्चिदानन्द-स्वरूप परमात्मा को जो साक्षात् जान लेते हैं, वे मोक्ष को प्राप्त करते हैं तथा सर्वदा आनन्द में रहते हैं।

२. अलङ्कार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि दीर्घायु धर्मात्मा जनों के तुल्य धार्मिक योगी लोग भी मोक्ष को प्राप्त करते हैं ।। ३५ । १४ ।।

अन्यत्र व्याख्यात—हे परमेश्वर ! (तमसस्परि स्वः) सब अन्धकार से अलग प्रकाश-स्वरूप, (उत्तरम्) प्रलय के पीछे सदा वर्त्तमान (देवं देवत्रा) देवों में भी देव अर्थात् प्रकाश करने वालों में प्रकाशक (सूर्यम्) चराचर के आत्मा (ज्योतिरुत्तमम्) ज्ञानस्वरूप और सब से उत्तम आप को

जान के (वयम् उदगन्म) हम लोग सत्य से प्राप्त हुए हैं। हमारी रक्षा करनी आपके हाथ है, क्योंकि हम लोग आपके शरण हैं (पञ्चमहायज्ञविधि, सन्ध्योपासन) ॥

सङ्कसुकः । **ईश्वरः=स्पष्टम्** । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

कौन मोक्ष को पाते हैं, यह फिर उपदेश किया है ॥

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो ऽ अर्थमेतम् ।
शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन ॥ १५ ॥

पदार्थः—(**इमम्**) प्रत्यक्षम् (**जीवेभ्यः**) प्राणधारकेभ्यः स्थावरशरीरेभ्यश्च (**परिधिम्**) मर्यादाम् (**दधामि**) व्यवस्थापयामि (**मा**) (**एषाम्**) जीवानाम् (**नु**) सद्यः (**गात्**) प्राप्नुयात् (**अपरः**) अन्यः (**अर्थम्**) द्रव्यम् (**एतम्**) प्राप्तम् (**शतम्**) (**जीवन्तु**) (**शरदः**) (**पुरूचीः**) याः पुरूणि=बहूनि वर्षाण्यञ्चन्ति ताः (**अन्तः**) मध्ये (**मृत्युम्**) (**दधताम्**) धारयन्तु (**पर्वतेन**) ज्ञानेन ब्रह्मचर्यादिना वा ॥ १५ ॥

अन्वयः—अहं परमेश्वर एषां जीवानामेतमर्थमपरो मा नु गादितीमं जीवेभ्यः परिधिं दधाम्येवमाचरन्तो भवन्तः पुरूचीः शतं शरदो जीवन्तु पर्वतेन मृत्युमन्तर्दधताम् ॥ १५ ॥

सपदार्थान्वयः—**अहं परमेश्वर एषां=जीवानामेतं** प्राप्तम् **अर्थं** द्रव्यम् **अपरः** अन्यः **मा नु** सद्यः **गात्** प्राप्नुयात्, **इतीमं** प्रत्यक्षं **जीवेभ्यः** प्राणधारकेभ्यः स्थावरशरीरेभ्यश्च **परिधिं** मर्यादां **दधामि** व्यवस्थापयामि ।

एवमाचरन्तो भवन्तः पुरूचीः याः पुरूणि=बहूनि वर्षाण्यञ्चन्ति ताः, **शतं शरदो जीवन्तु, पर्वतेन** ज्ञानेन ब्रह्मचर्यादिना वा **मृत्युमन्तः** मध्ये **दधतां** धारयन्तु ॥ ३५ । १५ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! ये परमेश्वरेण व्यवस्थापितां—धर्माचरणं कार्यमधर्माचरणं त्याज्यमिति—मर्यादां नोल्लङ्घन्ते, अन्यायेन परपदार्थान् न स्वीकुर्वन्ति, तेऽरोगाः सन्तश्शतं वर्षाणि जीवितुं शक्नुवन्ति; नेतर ईश्वराज्ञाभङ्क्तारः ।

ये पूर्णेन ब्रह्मचर्येण विद्या अधीत्य धर्ममाचरन्ति तान् मृत्युर्मध्ये नाप्नोतीति ॥ ३५ । १५ ॥

भाषार्थ—मैं परमेश्वर—(एषाम्) इन जीवों के (एतम्) प्राप्त किये हुए (अर्थम्) पदार्थ को (अपरः) दूसरा (मा) मत (नु) शीघ्र (गात्) प्राप्त करे; अतः (इमम्) इन (जीवेभ्यः) प्राणियों और वृक्षादि स्थावर शरीरों के लिए (परिधिम्) मर्यादा की (दधामि) व्यवस्था करता हूँ ।

इस प्रकार आचरण करते हुए आप लोग=(पुरूचीः) बहुत वर्षों से युक्त (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतु पर्यन्त (जीवन्तु) जीवो, (पर्वतेन) ज्ञान वा ब्रह्मचर्य आदि से (मृत्युम्) मृत्यु को (अन्तः) मध्य में (दधताम्) धारण करो ॥ ३५ । १५ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जो परमेश्वर द्वारा व्यवस्थापित धर्माचरण करें और अधर्माचरण को छोड़ें=इस मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते, अन्याय से पर-पदार्थों का स्वीकार नहीं करते; वे नीरोग होकर सौ वर्ष तक जीवित रह सकते हैं; ईश्वर की आज्ञा का भंग करने वाले दूसरे लोग नहीं ।

जो पूर्ण ब्रह्मचर्य से विद्याओं को पढ़कर धर्माचरण करते हैं, उन्हें मृत्यु मध्य में प्राप्त नहीं होती ॥ ३५ । १५ ॥

भा० पदार्थः—परिधिम्=धर्माचरणं कार्यमधर्माचरणं त्याज्यमिति मर्यादाम्। पर्वतेन=पूर्णेन ब्रह्मचर्येण।

भाष्यसार—कौन मोक्ष को पाते हैं—परमेश्वर जीवों के लिए इस मर्यादा को स्थापित करता है कि इनके प्राप्त किये हुए पदार्थ को कोई दूसरा प्राप्त न करे, अन्याय से पदार्थ को स्वीकार न करे। धर्माचरण करे और अधर्माचरण का परित्याग करे। जो इस मर्यादा का पालन करते हैं वे सौ वर्ष पर्यन्त जीवित रह सकते हैं; ईश्वर की आज्ञा का भंग करने वाले नहीं। और जो पूर्ण ब्रह्मचर्य से विद्याओं को पढ़कर धर्म का आचरण करते हैं, उन्हें जीवन काल में मध्य में मृत्यु प्राप्त नहीं होती। वे पूर्ण आयु को भोगकर मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥ ३५ । १५ ॥

आदित्या देवाः। **अग्निः=परमेश्वरो विद्वांश्च**। गायत्री। षड्जः ॥

के जना दीर्घायुषो भवन्तीत्याह ॥

कौन मनुष्य दीर्घ आयु वाले होते हैं, यह उपदेश किया है ॥

अग्न॒ ऽ आयूं॑षि पवस॒ ऽ आ सु॒वोर्ज॒मिषं॑ च नः। आ॒रे बा॑धस्व दु॒च्छुना॑म् ॥ १६ ॥

पदार्थः—(**अग्ने**) परमेश्वर विद्वन् वा (**आयूंषि**) अन्नादीनि जीवनानि वा। **आयुरित्यन्ननाम। निघं० २। १ ॥** (**पवसे**) पवित्रीकरोषि (**आ**) (**सुव**) जनय (**ऊर्जम्**) बलम् (**इषम्**) विज्ञानम (**च**) (**नः**) अस्मभ्यम् (**आरे**) दूरे निकटे वा (**बाधस्व**) (**दुच्छुनाम्**) दुष्टाः श्वान इव वर्त्तमानास्तान् हिंस्यान्प्राणिनः। **अत्र कर्मणि षष्ठी ॥ १६ ॥**

प्रमाणार्थ—(**आयूंषि**) अन्नादीनि जीवनानि वा। 'आयु' यह पद निघण्टु (२। १) में अन्न-नामों में पठित है। (**दुच्छुनाम्**) यहाँ कर्म में षष्ठी विभक्ति है।

अन्वयः—हे अग्ने ! त्वमायूंषि पवसे न ऊर्जमिषं चासुव दुच्छुनामारे बाधस्व ॥ १६ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **अग्ने** ! परमेश्वर विद्वन् वा ! **त्वमायूंषि** अन्नादीनि जीवनानि वा **पवसे** पवित्रीकरोषि **नः** अस्मभ्यम् **ऊर्जं** बलम् **इषं** विज्ञानं **चासुव** जनय। **दुच्छुनां** दुष्टाः श्वान इव वर्त्तमानास्तान् हिंस्यान्प्राणिनः **आरे** दूरे निकटे वा **बाधस्व** ॥ ३५ । १६ ॥

भाषार्थ—हे (अग्ने) परमेश्वर वा विद्वान् ! तू—(आयूंषि) अन्न आदि वा जीवन को (पवसे) पवित्र करता है; (नः) हमारे लिए (ऊर्जम्) बल और (इषम्) विज्ञान को (आसुव) उत्पन्न कर (दुच्छुनाम्) दुष्ट कुत्तों के तुल्य हिंसा के योग्य प्राणियों को (आरे) दूर वा निकट देश में (बाधस्व) बाधित कर, उनकी ताड़ना कर ॥ ३५ । १६ ॥

भावार्थः—ये मनुष्या दुष्टाचरणदुष्टसङ्गौ विहाय परमेश्वराप्तयोः सेवां कुर्वन्ति; ते धनधान्ययुक्ताः सन्तो दीर्घायुषो भवन्ति ॥ ३५ । १६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य दुष्ट आचरण और दुष्टों के संग को छोड़कर परमेश्वर और आप्त विद्वानों की सेवा करते हैं; वे धन-धान्य से युक्त होकर दीर्घायु होते हैं ॥ ३५ । १६ ॥

भा० पदार्थः—दुच्छुनाम्=दुष्टाचरणदुष्टानाम्। आरे=सङ्गः। अग्ने=परमेश्वर आप्तश्च। आयूंषि=धनधान्यानि, दीर्घायुषः ॥

भाष्यसार—कौन दीर्घायु होते हैं—परमेश्वर वा आप्त विद्वान् अन्नादि पदार्थों वा जीवन को पवित्र करता है। हमारे लिए बल और विज्ञान को उत्पन्न करता है। दुष्ट कुत्तों के तुल्य हिंसा के योग्य प्राणियों को दूर हटाता है। अतः जो मनुष्य दुष्ट आचरण और दुष्टों के सङ्ग का परित्याग करके परमेश्वर की उपासना और आप्त जनों की सेवा करते हैं, वे धन-धान्य से युक्त होकर दीर्घायु होते हैं ॥ ३५ । १६ ॥ ●

वैखानसः । **अग्निः=राजा** । स्वराट्त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

अथ राजधर्मविषयमाह ॥

अब राजधर्म विषय का उपदेश किया जाता है ॥

आयुष्मानग्ने हविषा वृधानो घृतप्रतीको घृतयोनिरेधि ।
घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रमभि रक्षतादिमान्त्स्वाहा ॥ १७ ॥

पदार्थः—(**आयुष्मान्**) बह्वायुर्विद्यते यस्य सः (**अग्ने**) अग्निरिव वर्त्तमान राजन् (**हविषा**) घृतादिना (**वृधानः**) वर्द्धमानः । अत्र **बहुलं छन्दसीति शानचि शपो लुक्** । (**घृतप्रतीकः**) यो घृतमुदकं प्रत्याययति सः (**घृतयोनिः**) घृतं=प्रदीप्तं तेजो योनिः=कारणं गृहं वा यस्य सः (**एधि**) भव (**घृतम्**) (**पीत्वा**) (**मधु**) मधुरम् (**चारु**) सुन्दरम् (**गव्यम्**) गोविकारम् (**पितेव**) (**पुत्रम्**) (**अभि**) आभिमुख्ये (**रक्षतात्**) रक्ष (**इमान्**) (**स्वाहा**) सत्यया क्रियया ॥ १७ ॥

प्रमाणार्थ—(**वृधानः**) वर्द्धमानः । यहाँ 'बहुलं छन्दसि' । (अ० २ । ४ । ७३) इस सूत्र से 'शानच्' प्रत्यय के परे होने पर 'शप्' का लुक् है ॥

अन्वयः—हे अग्ने ! यथा हविषा वृधानो घृतप्रतीको घृतयोनिरग्निर्वर्द्धते तथाऽऽयुष्मांस्त्वमेधि । मधु चारु गव्यं घृतं पीत्वा पुत्रं पितेव स्वाहेमानभि रक्षतात् ॥ १७ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे अग्ने** अग्निरिव वर्त्तमान राजन् ! **यथा हविषा** घृतादिना **वृधानः** वर्द्धमानः **घृतप्रतीकः** यो घृतमुदकं प्रत्याययति सः, **घृतयोनिः=अग्निः** घृतं=प्रदीप्तं तेजो योनिः=कारणं गृहं वा यस्य सः, **वर्द्धते; तथाऽऽयुष्मान्** बह्वायुर्विद्यते यस्य सः, **त्वमेधि** भव; **मधु** मधुरं **चारु** सुन्दरं **गव्यं** गोविकारं **घृतं पीत्वा पुत्रं पितेव स्वाहा** सत्यया क्रियया **इमानभि+रक्षतात्** आभिमुख्येन रक्ष ॥ ३५ । १७ ॥

भाषार्थ—हे (अग्ने) अग्नि के तुल्य वर्त्तमान राजन् ! जैसे (हविषा) घृतादि हवि से (वृधानः) बढ़ने वाला, (घृतप्रतीकः) घृत=जल को प्रसिद्ध करने वाला, (घृतयोनिः) प्रदीप्त तेज जिसका कारण वा घर है; वह अग्नि बढ़ता है; वैसे—(आयुष्मान्) बहुत आयु वाला तू (एधि) हो, और (मधु) मधुर, (चारु) सुन्दर, (गव्यम्) गौ के (घृतम्) घृत को (पीत्वा) पीकर (पुत्रम्) पुत्र को (पितेव) पिता के तुल्य (स्वाहा) सत्याचरण से (इमान्) इन प्रजा जनों की (अभि+रक्षतात्) सदा रक्षा कर ॥ ३५ । १७ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । यथा सूर्यादिरूपेणाग्निर्बाह्याभ्यन्तरः सन् सर्वान् रक्षति, तथैव राजा पितृवद् वर्त्तमानः सन् पुत्रमिवेमाः प्रजाः सततं रक्षेत् ॥ ३५ । १७ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। जैसे सूर्य आदि रूप से अग्नि बाहर और अन्दर रहकर सब की रक्षा करता है; वैसे ही राजा पिता के तुल्य वर्त्ताव करने वाला होकर पुत्र के तुल्य इस प्रजा की सदा रक्षा करे ॥ ३५ । १७ ॥

भा० पदार्थः—अभिरक्षतात्=सततं रक्षेत् ।

भाष्यसार—१. **राजधर्म का उपदेश**—जैसे सूर्य आदि रूप से अग्नि बाहर और अन्दर विद्यमान होकर सब की रक्षा करता है; वैसे राजा सब की रक्षा करे । घृतादि हवि से बढ़ने वाला, घृत=जल को प्रकट करने वाला, प्रदीप्त तेज का कारण वा घर अग्नि जैसे बढ़ता है वैसे राजा आयु को बढ़ाने वाला हो । जैसे पिता पुत्र की सदा रक्षा करता है; वैसे राजा मधुर तथा सुन्दर गोघृत का पान करके सत्याचरण से प्रजा की सदा रक्षा करे ।

२. **अलङ्कार**—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । उपमा यह है कि राजा अग्नि के तुल्य बाहर और अन्दर वर्त्तमान होकर सब की रक्षा करे ; तथा जैसे पिता पुत्र की रक्षा करता है वैसे प्रजा की सदा रक्षा करे ॥ ३५ । १७ ॥

भरद्वाजः शिरम्बिठः । **इन्द्रः=राजा** । विराडनुष्टुप् । गान्धारः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

राजधर्म का फिर उपदेश किया है ॥

परीमे गामनेषत पर्य्यग्निमहृषत । देवेष्वक्रत श्रवः क ऽ इमाँ२ऽ आ दधर्षति ॥ १८ ॥

पदार्थः—(**परि**) सर्वतः (**इमे**) (**गाम्**) वाणीं पृथिवीं वा (**अनेषत**) (**परि**) सर्वतः (**अग्निम्**) (**अहृषत**) हरत (**देवेषु**) विद्वत्सु (**अक्रत**) कुरुत । **अत्र मन्त्रे घसेति च्लेर्लुक्** (**श्रवः**) अन्नम् (**कः**) (**इमान्**) (**आ**) (**दधर्षति**) धर्षयितुं शक्नोति । **अत्र लटि व्यत्ययेन श्लुः** ॥ १८ ॥

प्रमाणार्थ—(**अक्रत**) कुरुत । यहाँ 'मन्त्रे घस०' (अ० २ । ४) इस सूत्र से 'च्लि' का लुक् है । (**दधर्षति**) यहां लेट् लकार में व्यत्यय से 'शप्' को 'श्लु' है ।

अन्वयः—हे राजजना य इमे यूयं गां पर्य्यनेषताऽग्निं पर्य्यहृषत । एषु देवेषु श्रवोऽक्रतैवं भूतानिमान्भवतः क आ दधर्षति ॥ १८ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे राजजनाः ! य इमे यूयं गां** वाणीं पृथिवीं वा **परि+अनेषत** सर्वतोऽनेषत, **अग्निं परि+अहृषत** सर्वतो हरत । **एषु देवेषु** विद्वत्सु **श्रवः** अन्नम् **अक्रत** कुरुत, **एवं भूतानिमान्भवतः क आ दधर्षति** धर्षयितुं शक्नोति ॥१८॥

भाषार्थ—हे राजा लोगो ! जो (इमे) ये तुम—(गाम्) वाणी वा पृथिवी को (परि+अनेषत) सब ओर ले जाओ; (अग्निम्) अग्नि को (परि+अहृषत) सब ओर पहुँचाओ; इन (देवेषु) विद्वानों में (श्रवः) अन्न को (अक्रत) उत्पन्न करो; इस प्रकार आचरण करने वाले आप लोगों को (क) कौन (आ+दधर्षति) दबा सकता है ॥ ३५ । १८ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । ये राजजनाः पृथिवीवद्धीरा, अग्निवत्तेजस्विनो, ऽन्नवदायुष्कराः सन्तो धर्मेण प्रजा रक्षन्ति, तेऽतुलां राजश्रियमाप्नुवन्ति ॥ ३५ । १८ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलङ्कार है । जो राजा पृथिवी के तुल्य धीर, अग्नि के तुल्य तेजस्वी, अन्न के तुल्य आयु को बढ़ाने वाले होकर धर्म से प्रजा की रक्षा करते हैं; वे अतुल राजलक्ष्मी को प्राप्त होते हैं ॥ ३५ । १८ ॥

भा० पदार्थः—गाम्=पृथिवीवद्धीरम् । अग्निम्=अग्निवत्तेजस्विनम् । श्रवः=अन्नवदायुष्करम् ।

भाष्यसार—**१. राजधर्म का उपदेश**--राजा लोग वेदवाणी को सब ओर पहुंचावें। पृथिवी के तुल्य धीर हों। धीरता आदि गुणों का सर्वत्र प्रसार करें। अग्नि के तुल्य तेजस्वी हों, अग्नि के तेजस्विता आदि गुणों को सर्वत्र पहुँचावें। अन्न के तुल्य आयु को बढ़ाने वाले हों। विद्वानों के मध्य में उत्तम अन्न को उत्पन्न करें। धर्म से प्रजा की रक्षा करें। जो राजा मन्त्रोक्त प्रकार से आचरण करते हैं उन्हें कोई नहीं दबा सकता और वे अतुल राजलक्ष्मी को प्राप्त होते हैं।

२. अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि राजा लोग पृथिवी के तुल्य धीर हों, अग्नि के तुल्य तेजस्वी हों, अन्न के तुल्य आयु को बढ़ाने वाले हों ॥ ३५ । १८ ॥

दमनः । **अग्निः**=न्यायाधीशः । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

राजधर्म का फिर उपदेश किया है ॥

क्रव्यादम॒ग्निं प्र हि॑णोमि दू॒रं य॑म॒राज्यं॑ गच्छतु रिप्रवा॒हः ।
इ॒हैवायमित॑रो जा॒तवे॑दा दे॒वेभ्यो॑ ह॒व्यं व॑हतु प्र॒जा॒नन् ॥ १९ ॥

पदार्थः—(**क्रव्यादम्**) यः क्रव्यं=मांसमत्ति तम् (**अग्निम्**) अग्निमिवाऽन्यान् परितापकम् (**प्र**) (**हिणोमि**) गमयामि (**दूरम्**) (**यमराज्यम्**) यमस्य=न्यायाधीशस्य स्थानम् (**गच्छतु**) (**रिप्रवाहः**) ये रिप्रं=पापं वहन्ति तान् (**इह**) अस्मिन् संसारे (**एव**) (**अयम्**) (**इतरः**) भिन्नः (**जातवेदाः**) जातप्रज्ञानः (**देवेभ्यः**) धार्मिकेभ्यो विद्वद्भ्यः (**हव्यम्**) आदातुमर्हं विज्ञानम् (**वहतु**) प्राप्नोतु (**प्रजानन्**) प्रकर्षेण जानन् सन् ॥ १९ ॥

अन्वयः--प्रजानन्नहं क्रव्यादमग्निमिव वर्त्तमानं यं दूरं प्रहिणोमि याश्च रिप्रवाहश्च दूरं प्रहिणोमि स यमराज्यं गच्छतु ते च इहेतरोऽयं जातवेदा देवेभ्यो हव्यमेव वहतु ॥ १९ ॥

सपदार्थान्वयः—**प्रजानन्** प्रकर्षेण जानन् सन् **अहं क्रव्यादं** यः क्रव्यं=मांसमत्ति तं, **अग्निमिव वर्त्तमानम्** अग्निमिवाऽन्यान् परितापकं **यं दूरं प्र+हिणोमि** गमयामि; **याश्च रिप्रवाहः** ये रिप्रं=पापं वहन्ति तान् **च दूरं प्रहिणोमि** गमयामि, **स यमराज्यं** यमस्य=न्यायाधीशस्य स्थानं **गच्छतु, ते च इह** अस्मिन् संसारे **इतरः** भिन्नः **अयं जातवेदाः** जातप्रज्ञानः **देवेभ्यः** धार्मिकेभ्यो विद्वद्भ्यः **हव्यम्** आदातुमर्हं विज्ञानम् **एव वहतु** प्राप्नोतु ॥ ३५ । १९ ॥

भावार्थ—(प्रजानन्) उत्तम ज्ञान वाला मैं—(क्रव्यादम्) क्रव्य=मांस खाने वाले तथा (अग्निम्) अग्नि के तुल्य अन्यों को तपाने वाले दुष्ट पुरुष को; (दूरम्) दूर (प्र+हिणोमि) भेजता हूँ; और जो (रिप्रवाहः) पाप को प्राप्त हुए दुष्टों को (दूरम्) दूर (प्र+हिणोमि) भेजता हूँ; वह मांस भक्षक (यमराज्यम्) यम=न्यायाधीश का स्थान अर्थात् न्यायालय में (गच्छतु) जावे, और वे पापी लोग (इह) इस संसार में तथा (इतरः) उनसे भिन्न (अयम्) यह (जातवेदाः) प्रज्ञान वाला विद्वान् (देवेभ्यः) धार्मिक विद्वानों के लिए (हव्यम्) ग्रहण करने योग्य विज्ञान को ही (वहतु) प्राप्त करे ॥ ३५ । १९ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। हे न्यायाधीशाः! यूयं दुष्टाचारिणः संताड्य, प्राणादपि वियोज्य, श्रेष्ठान् सत्कृत्येह सृष्टौ साम्राज्यं कुरुत ॥ ३५ । १९ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। हे न्यायाधीश लोगो! तुम दुष्टाचारियों का ताड़न तथा प्राणों से भी वियुक्त करके तथा श्रेष्ठों का सत्कार करके इस सृष्टि में साम्राज्य करो ॥ ३५ । १९ ॥

भा० पदार्थः—क्रव्यादम्=दुष्टाचारिणम्।

भाष्यसार—**१. राजधर्म का उपदेश**—उत्तम ज्ञान वाला न्यायाधीश राजा मांस भक्षण करने वाले, अग्नि के तुल्य अन्यों को सन्ताप देने वाले दुष्टाचारी तथा पापी को न्यायालय में भेजे। उसका ताडन करे तथा उसे प्राणों से भी वियुक्त कर देवे। प्रज्ञान को प्राप्त हुआ राजा धार्मिक विद्वानों के लिए विज्ञान को प्राप्त करे; उनका सत्कार करके इस संसार में साम्राज्य को स्थापित करे।

२. अलङ्कार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि—राजा अग्नि के तुल्य सन्तापकारी दुष्टजनों का ताडन करे ॥३५।१९॥

आदित्या देवाः। **जातवेदाः**=विद्वान्। स्वराट् त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

अथ पितृसेवनविषयमाह ॥

अब पितर लोगों की सेवा का उपदेश किया जाता है ॥

वह व॒पां जा॑तवेदः पि॒तृभ्यो॒ यत्रै॑ना॒न्वेत्थ॒ निहि॑तान् परा॒के।
मेद॑सः कु॒ल्याऽउप॒ तान्त्स्र॑वन्तु स॒त्या ऽ ए॑षामा॒शिष॒ः सं न॑मन्ता॒ᳬ स्वाहा॑ ॥ २० ॥

पदार्थः—(**वह**) प्राप्नुहि (**वपाम्**) वपन्ति यस्यां भूमौ ताम् (**जातवेदः**) जातप्रज्ञान (**पितृभ्यः**) जनकेभ्यो विद्याशिक्षादातृभ्यो वा (**यत्र**) (**एनान्**) (**वेत्थ**) जानासि (**निहितान्**) (**पराके**) दूरे (**मेदसः**) स्निग्धाः (**कुल्याः**) जलप्रवाहधाराः (**उप**) (**तान्**) जनान् (**स्रवन्तु**) प्राप्नुवन्तु (**सत्याः**) सत्सु साध्व्यः (**एषाम्**) (**आशिषः**) इच्छाः (**सम्**) सम्यक् (**नमन्ताम्**) प्राप्नुवन्तु (**स्वाहा**) सत्यया क्रियया ॥ २० ॥

अन्वयः—हे जातवेदस्त्वं यत्रैतान् पराके निहितान् वेत्थ तत्र पितृभ्यो वपां वह यथा मेदसः कुल्यास्तानुपस्रवन्तु यथा स्वाहैषामाशिषः सत्याः सन्नमन्ताम् ॥ २० ॥

सपदार्थान्वयः—हे **जातवेदः**! जातप्रज्ञान! **त्वं यत्रैतान् पराके** दूरे **निहितान् वेत्थ** जानासि, **तत्र पितृभ्यः** जनकेभ्यो विद्याशिक्षादातृभ्यो वा **वपां** वपन्ति यस्यां भूमौ तां **वह** प्राप्नुहि।

यथा मेदसः स्निग्धाः **कुल्याः** जलप्रवाहधाराः **तान्** जनान् **उपस्रवन्तु** प्राप्नुवन्तु, **तथा स्वाहा** सत्यया क्रियया **एषामाशिषः** इच्छाः **सत्याः** सत्सु साध्व्यः **सम्+नमन्ताम्** सम्यक् प्राप्नुवन्तु ॥ २० ॥

भाषार्थ—हे (जातवेदः) प्रज्ञान वाले विद्वान्! तू—जहाँ (एनान्) इन (पराके) दूर देश में (निहितान्) स्थित जनों को (वेत्थ) जानता है; वहाँ (पितृभ्यः) पिता वा विद्या, शिक्षा के दाता जनों के लिए (वपाम्) भूमि को (वह) प्राप्त कर।

जैसे (मेदसः) स्निग्ध (कुल्याः) जलप्रवाह की धाराएँ (तान्) उन जनों को (उपस्रवन्तु) प्राप्त होवें, वैसे (स्वाहा) सत्याचरण से (एषाम्) इन की (सत्याः) सच्ची (आशिषः) इच्छाएँ (सम्+नमन्ताम्) सम्यक् प्राप्त हों ॥ ३५ । २० ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । ये दूरे स्थितान् पितॄन् विदुषश्चाहूय सत्कुर्वन्ति, यथाऽऽरामवृक्षादीन् जलवायू वर्द्धयतस्तथैतेषामिच्छाः सत्याः सत्यः सर्वतो वर्द्धन्ते ॥ ३५ । २० ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । जो दूर देश में स्थित् पितर जनों और विद्वानों को बुलाकर सत्कार करते हैं; जैसे बाग के वृक्ष आदि को जल और वायु बढ़ाते हैं; वैसे इनकी इच्छाएँ सत्य होकर सब ओर बढ़ती हैं ॥ ३५ । २० ॥

भा० पदार्थः—निहितान्=स्थितान् । सन्नमन्ताम्=सर्वतो वर्द्धन्ताम् ॥

भाष्यसार—**१. पितर जनों की सेवा**—दूर देश में रहने वाले पितर जनों को तथा विद्या और शिक्षा प्रदान करने वाले विद्वानों को बुलाकर उनका सत्कार करें । जैसे स्निग्ध जल की धाराएँ इन्हें प्राप्त हों वैसे सत्याचरण से इनकी सत्य इच्छाएँ भी इन्हें प्राप्त हों । जैसे जल और वायु बाग के वृक्षों को बढ़ाते हैं वैसे इनकी सत्य हुई इच्छाएँ सब ओर वृद्धि को प्राप्त होती हैं; सबको बढ़ाती हैं ।

२. **अलङ्कार**—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । उपमा यह है कि जैसे जल की धाराएँ वृक्षों को बढ़ाती हैं वैसे सत्य हुई पितरजनों की इच्छाएँ भी सब को बढ़ाती हैं ॥ ३५ । २० ॥ ●

मेधातिथिः । **पृथिवी=गृहिणी** । निचृद्गायत्री, अप न इति प्राजापत्या गायत्री । षड्जः ॥

गृहिणी कीदृशी स्यादित्याह ॥

गृहिणी कैसी होवे, यह उपदेश किया है ॥

स्योना पृथिवि नो भवानृक्षरा निवेशनी । यच्छा नः शर्म सप्रथाः ।
अप नः शोशुचदघम् ॥ २१ ॥

पदार्थः—(**स्योना**) सुखकरी (**पृथिवि**) भूमिरिव वर्त्तमाने (**नः**) अस्मभ्यम् (**भव**) (**अनृक्षरा**) निष्कण्टका (**निवेशनी**) निविशन्ते यस्यां सा (**यच्छ**) देहि । **अत्र द्व्यचोऽतस्तिङ इति दीर्घः** (**नः**) अस्मभ्यम् (**शर्म**) सुखम् (**सप्रथाः**) विस्तीर्णेन प्रशंसनेन सह वर्त्तमानाः (**अप**) दूरीकरणे (**नः**) अस्माकम् (**शोशुचत्**) भृशं शोधयतु (**अघम्**) पापम् ॥ २१ ॥

प्रमाणार्थ—(**यच्छ**) यहाँ 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (अ० ६ । ३ । १३५) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है ॥

अन्वयः—हे पृथिवि भूमिरिव वर्त्तमाने स्त्रि ! त्वं यथाऽनृक्षरा निवेशनी भूमिः स्योना भवति तथा नो भव सप्रथाः सती नः शर्म यच्छ यथा न्यायेशो नोऽघमपशोशुचत्तथाऽपराधं दूरं गमय ॥ २१ ॥

सपदार्थान्वयः—हे पृथिवि=भूमिरिव वर्त्तमाने स्त्रि ! त्वं यथाऽनृक्षरा निष्कण्टका, **निवेशनी=भूमिः** निविशन्ते यस्यां सा, **स्योना** सुखकरी, **भवति; तथा नः** अस्मभ्यं **भव; सप्रथाः**

भाषार्थ—हे (पृथिवि) भूमि के तुल्य वर्तमान स्त्री ! तू--(अनृक्षरा) निष्कण्टक (निवेशनी) भूमि (स्योना) सुखदायक होती है; वैसे (नः) हमारे लिए (भव) हो; (सप्रथाः) विस्तीर्ण प्रशंसा के

विस्तीर्णेन प्रशंसनेन सह वर्त्तमाना: **सती, नः** अस्माकं **शर्म्म** सुखं **यच्छ** देहि ।

यथा न्यायेशो नः अस्मभ्यम् **अघं** पापम् **अप+शोशुचत्** भृशं शोधयतु, **तथाऽपराधं दूरं गमय** ॥ ३५ । २१ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । या स्त्री पृथिवीवत् क्षमाशीला, क्रूरतादिदोषरहिता, बहुप्रशंसिता, अन्येषामपि दोषनिवारिका भवति; सैव गृहकृत्ये योग्या भवति ॥ ३५ । २१ ॥

साथ वर्तमान हुई (नः) हमें (शर्म्म) सुख (यच्छ) दे ।

जैसे न्यायाधीश (नः) हमारे लिए (अघम्) पाप को (अप+शोशुचत्) अत्यन्त साफ करता है; वैसे अपराध को दूर कर ॥ ३५ । २१ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलङ्कार है । जो स्त्री पृथिवी के तुल्य क्षमाशील, क्रूरता आदि दोषों से रहित, बहुत प्रशंसित, अन्यों के भी दोषों का निवारण करने वाली होती है; वही गृहकार्य में योग्य होती है ॥ ३५ । २१ ॥

भा० पदार्थः—पृथिवि=पृथिवीवत् क्षमाशीला । अनृक्षरा=क्रूरतादिदोषरहिता । सप्रथाः=बहुप्रशंसिताः ॥

भाष्यसार—**१. गृहिणी कैसी हो**—गृहिणी पृथिवी के तुल्य क्षमाशील हो । कण्टक अर्थात् क्रूरता आदि दोषों से रहित हो । प्रवेश करने योग्य भूमि के तुल्य सुखकारी हो । बहुत प्रशंसित हो । जैसे न्यायाधीश पाप का अत्यन्त शोधन करता है, वैसे अन्यों के भी दोषों का निवारण करने वाली हो । ऐसी गृहिणी गृह-कार्य के योग्य होती है ।

२. **अलङ्कार**—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलङ्कार है । उपमा यह है कि गृहिणी पृथिवी के तुल्य क्षमाशील हो; इत्यादि ॥ ३५ । २१ ॥

आदित्या देवाः । **अग्निः=विद्वान्** । स्वराड् गायत्री । षड्जः ॥

पुनर्मनुष्यैः किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

फिर मनुष्यों को क्या करना चाहिए, यह उपदेश किया है ॥

अस्मात्त्वमधि जातोऽसि त्वदयं जायतां पुनः । असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा ॥ २२ ॥

पदार्थः—(**अस्मात्**) लोकात् (**त्वम्**) (**अधि**) उपरिभावे (**जातः**) (**असि**) भवसि (**त्वत्**) तव सकाशादुत्पन्नः (**अयम्**) पुत्रः (**जायताम्**) उत्पद्यताम् (**पुनः**) पश्चात् (**असौ**) विशेषनामा (**स्वर्गाय**) विशेषसुखभोगाय (**लोकाय**) द्रष्टव्याय (**स्वाहा**) सत्यया क्रियया ॥ २२ ॥

अन्वयः—हे विद्वन् ! यतस्त्वमस्माँल्लोकादधिजातोऽसि तस्मादयं त्वत्पुनरसौ स्वाहा स्वर्गाय लोकाय जायताम् ॥ २२ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे विद्वन् ! यतस्त्वमस्मात्**=**लोकात् अधिजातः** (उपरिजातः) **असि** भवसि **तस्मादयं** पुत्रः **त्वत्** तव सकाशादुत्पन्नः **पुनः** पश्चात् **असौ** विशेषनामा **स्वाहा** सत्यया क्रियया **स्वर्गाय** विशेषसुखभोगाय **लोकाय** द्रष्टव्याय **जायताम्** उत्पद्यताम् ॥ ३५ । २२ ॥

भाषार्थ— हे विद्वान् ! क्योंकि तू—(अस्मात्) इस लोक से (अधिजातः) उत्पन्न हुआ (असि) है; अतः (अयं) यह पुत्र (त्वत्) तुझ से उत्पन्न होने के (पुनः) पश्चात् (असौ) विशेष नाम वाला होकर (स्वाहा) सत्याचरण से (स्वर्गाय) विशेष सुखभोग वाले (लोकाय) लोक के लिए (जायताम्) उत्पन्न हो ॥ ३५ । २२ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! युष्माभिरिह मनुष्यशरीरं धृत्वा विद्यासुशिक्षासुशीलधर्मयोग-विज्ञानानि संगृह्य, मुक्तिसुखाय प्रयतितव्यमिदमेव मनुष्यजन्मसाफल्यं वेद्यमिति ।। ३५ । २२ ।।

भावार्थ—हे मनुष्यो ! तुम—इस संसार में मनुष्य के शरीर को धारण करके; विद्या, सुशिक्षा, सुशीलता, धर्म, योग और विज्ञान को ग्रहण करके मुक्ति-सुख के लिए प्रयत्न करो। इसे ही मनुष्य जन्म की सफलता समझो। 'इति' पद अध्याय-समाप्ति का द्योतक है ।। ३५ । २२ ।।

भा० पदार्थः—स्वाहा=विद्यासुशिक्षासुशीलधर्मयोगविज्ञानानि संगृह्य। स्वर्गाय=मुक्ति-सुखाय ।।

भाष्यसार—**मनुष्य क्या करें**—विद्वान् मनुष्य इस लोक से उत्पन्न होता है। और उससे उसका पुत्र पैदा होता है। जो विशेष नाम को धारण करता है। वह मनुष्य के शरीर को धारण करके सत्याचरण से अर्थात् विद्या, सुशिक्षा, सुशीलता, धर्म, योग और विज्ञान को ग्रहण करके विशेष सुख भोग अर्थात् मुक्ति सुख के लिए उत्पन्न होता है। अतः मनुष्य मुक्ति-सुख के लिए प्रयत्न करे। यही मनुष्य जन्म की सफलता है ।। ३५ । २२ ।। ●

[पूर्वापराध्यायार्थसंगतिमाह—]

अस्मिन्नध्याये व्यवहारजीवगतिजन्ममृत्युसत्याऽऽशीरग्निसत्येच्छानां व्याख्यानादेतदध्यायोक्तार्थस्य पूर्वाध्यायोक्तार्थेन सह सङ्गतिरस्तीति वेद्यम्। ।। ३५ ।।

इस अध्याय में व्यवहार (१), जीव की गति (१), जन्म-मृत्यु (८), सत्य (१६), इच्छा (१७), अग्नि (१८-१९), सत्य इच्छा (२०) के व्याख्यान होने से इस अध्याय में प्रतिपादित अर्थ का पूर्व अध्याय में प्रतिपादित अर्थ के साथ संगति है; ऐसा समझें ।। ३५ ।।

इति श्रीयुतपण्डितसुदर्शनदेवाचार्यविरचिते दयानन्द-यजुर्वेदभाष्य-भास्करे

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः सम्पूर्णः ।।

॥ ओ३म् ॥

अथ षट्त्रिंशाऽध्यायारम्भः

ओ३म् विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑ सुव । यद्भ॒द्रं तन्न॒ऽआसु॑व ॥ १ ॥

॥ य० ३० । ३ ॥

दध्यङ्ङाथर्वणः । **अग्निः**=विद्वान् । पङ्क्तिः । पञ्चमः ॥

अथ विद्वत्सङ्गेन किञ्जायत इत्याह ॥

अब छत्तीसवें अध्याय का आरम्भ किया जाता है, इसके प्रथम मन्त्र में विद्वानों के संग से क्या होता है, इस विषय को कहते हैं ॥

ऋचं॒ वाचं॒ प्र प॑द्ये॒ मनो॒ यजुः॒ प्र प॑द्ये॒ साम॑ प्रा॒णं प्र प॑द्ये॒ चक्षुः॒ श्रोत्रं॒ प्र प॑द्ये ।
वागोजः॑ स॒हौजो॒ मयि॑ प्राणापा॒नौ ॥ १ ॥

पदार्थः—(**ऋचम्**) प्रशंसनीयमृग्वेदम् (**वाचम्**) वाणीम् (**प्र**) (**पद्ये**) प्राप्नुयाम् (**मनः**) मननात्मकं चित्तम् (**यजुः**) यजुर्वेदम् (**प्र**) (**पद्ये**) (**साम**) सामवेदम् (**प्राणम्**) (**प्र**) (**पद्ये**) (**चक्षुः**) चष्टे=पश्यति येन तत् (**श्रोत्रम्**) शृणोति येन तत् (**प्र**) (**पद्ये**) (**वाक्**) वाणी (**ओजः**) मानसं बलम् (**सह**) (**ओजः**) शारीरं बलम् (**मयि**) आत्मनि (**प्राणापानौ**) प्राणश्चाऽपानश्च तावुच्छ्वासनिःश्वासौ ॥ १॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा मयि प्राणापानौ दृढौ भवेतां मम वागोजः प्राप्नुयात्तया ताभ्यां च सहाऽहमोजः प्राप्नुयामृचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये तथा यूयमेतानि प्राप्नुत ॥ १ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! यथा **मयि प्राणापानौ** प्राणश्चाऽपानश्च तावुच्छ्वासनिःश्वासौ **दृढौ भवेतां, मम वाग्** वाणी **ओजः** मानसं बलं **प्राप्नुयात्, तया ताभ्यां च सहाऽहमोजः** शारीरं बलं **प्राप्नुयाम्, ऋचं** प्रशंसनीयमृग्वेदं **वाचं** वाणीं

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे (मयि) मुझ में (प्राणापानौ) प्राण=उच्छ्वास, अपान=निःश्वास दृढ़ हैं; मेरी (वाक्) वाणी (ओजः) मानसिक बल को प्राप्त करती है; उस वाणी और उन प्राण-अपान से मैं—(ओजः) शारीरिक बल को प्राप्त

प्रपद्ये प्राप्नुयां; **मनः** मननात्मकं चित्तं **यजुः** यजुर्वेदं **प्रपद्ये** प्राप्नुयां; **साम** सामवेदं **प्राणं प्रपद्ये** प्राप्नुयां; **चक्षुः** चष्टे=पश्यति येन तत् **श्रोत्रं** शृणोति, येन तत् **प्रपद्ये** प्राप्नुयां; **तथा यूयमेतानि प्राप्नुत** ॥ ३६ । १ ॥

करता हूँ; (ऋचम्) प्रशंसनीय ऋग्वेद की (वाचम्) वाणी को (प्रपद्ये) प्राप्त करता हूँ; (मनः) मनन आत्मक चित्त रूप (यजुः) यजुर्वेद को (प्रपद्ये) प्राप्त करता हूँ; (साम) सामवेद रूप (प्राणम्) प्राण को (प्रपद्ये) प्राप्त करता हूँ, (चक्षुः) चक्षु= आँख तथा (श्रोत्रम्) श्रोत्र=कान को (प्रपद्ये) प्राप्त करता हूँ;—वैसे तुम इन्हें प्राप्त करो ॥३६।१॥

भावार्थः--अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। हे विद्वांसो ! युष्मत्सङ्गेन मम ऋगिव प्रशंसनीया वाग्, यजुरिव मनः, साम इव प्राणः सप्तदश-तत्त्वात्मकं लिङ्गं शरीरं च स्वस्थं निरुपद्रवं समर्थं भवतु ॥ ३६ । १ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। हे विद्वान् लोगो ! आपके संग से मेरी ऋग्वेद के तुल्य प्रशंसनीय वाणी, यजुर्वेद के तुल्य मन, साम के तुल्य प्राण और सतरह तत्त्वों से युक्त लिङ्ग शरीर स्वस्थ, उपद्रव रहित एवं समर्थ हो ॥ ३६ । १ ॥

भाष्यसार—**१. विद्वानों का संग**—सब मनुष्य विद्वानों के संग से प्राण और अपान को दृढ़ बनावें। वाणी ओज को प्राप्त करें। शारीरिक बल को भी प्राप्त करें। ऋग्वेद के तुल्य प्रशंसनीय वाणी को प्राप्त करें। यजुर्वेद के तुल्य मन को प्राप्त करें। सामवेद के तुल्य प्राणों को प्राप्त करें। चक्षु, श्रोत्र आदि अर्थात् सतरह तत्त्वों से युक्त लिङ्ग शरीर को स्वस्थ, उपद्रव रहित एवं समर्थ बनावें।

२. अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि सब मनुष्य विद्वानों के तुल्य प्राण-अपान को दृढ़ बनावें, इत्यादि ॥ ३६ । १ ॥

अन्यत्र व्याख्यात—हे करुणाकर परमात्मन् ! आप की कृपा से मैं ऋग्वेदादि-ज्ञानयुक्त होके उसका वक्ता होऊँ तथा यजुर्वेदाभिप्रायार्थ सहित सत्यार्थ मननयुक्त मन को प्राप्त होऊँ, ऐसे ही सामवेदार्थ निश्चय निदिध्यासन सहित प्राण को सदैव प्राप्त होऊँ। "वागोजः" वाग्बल, वक्तृत्वबल, मनोविज्ञानबल मुझ को आप देवें। इस वाक्य के साथ चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये का अर्थ छूटा हुआ है। मूल द्रष्टव्य अन्तर्यामी की कृपा से मैं यथावत् प्राप्त होऊँ "सहोजः" नैरोग्यदृढ़त्वादि गुणयुक्त को मैं आपके अनुग्रह से सदैव प्राप्त होऊँ।

"मयि प्राणापानौ" हे सर्वजनबलशरीरजीवनाधार ! प्राण (जिससे कि ऊर्ध्व चेष्टा होती है) और अपान (अर्थात्) जिससे नीचे की चेष्टा होती है ये दोनों मेरे शरीर में सब इन्द्रिय सब धातुओं को शुद्धि करने तथा नैरोग्य, बल, पुष्टि सरल गति कराने और मर्मस्थलों की रक्षा करने वाले हों, उनके अनुकूल प्राणादि को प्राप्त होके आप की कृपा से हे ईश्वर ! सदैव सुखयुक्त आपकी आज्ञा और उपासना में तत्पर रहूँ (आर्याभिविनय २ । ५) ॥ ३६ । १ ॥ ●

दध्यङ्ङाथर्वणः। **बृहस्पतिः=ईश्वरः**। निचृत्पङ्क्तिः। पञ्चमः ॥

अथेश्वरप्रार्थनाविषयमाह ॥

अब ईश्वर प्रार्थना विषय का उपदेश किया जाता है ॥

यन्मे॑ छि॒द्रं चक्षु॑षो॒ हृद॑यस्य॒ मन॑सो॒ वाति॑तृण्णं॒ बृह॒स्पति॑र्मे॒ तद्द॑धातु ।
शं नो॑ भवतु॒ भुव॑नस्य॒ यस्पति॑ः ॥ २ ॥

पदार्थः—(यत्) (मे) मम (छिद्रम्) न्यूनत्वम् (चक्षुषः) नेत्रस्य (हृदयस्य) (मनसः) अन्तःकरणस्य (वा) (अतितृण्णम्) अतिहिंसितं=व्याकुलत्वम् (बृहस्पतिः) बृहतामाकाशादीनां पालक ईश्वरः (मे) मह्यम् (तत्) (दधातु) पुष्णातु (शम्) (नः) अस्मभ्यम् (भवतु) (भुवनस्य) भवन्ति भूतानि यस्मिँस्तस्य (यः) (पतिः) पालकः स्वामीश्वरः ॥ २ ॥

अन्वयः—यन्मे चक्षुषो हृदयस्य छिद्रं मनसो वातितृण्णमस्ति तद् बृहस्पतिर्मे दधातु यो भुवनस्य पतिरस्ति स नः शम्भवतु ॥ २ ॥

सपदार्थान्वयः—यन्मे मम चक्षुषः नेत्रस्य **हृदयस्य छिद्रं** न्यूनत्वं, **मनसः** अन्तःकरणस्य **वातितृण्णम्** अतिहिंसितं=व्याकुलत्वम् **अस्ति; तद् बृहस्पतिः** बृहतामाकाशादीनां पालक ईश्वरः **मे** मह्यं **दधातु** पुष्णातु; **यो भुवनस्य** भवन्ति भूतानि यस्मिँस्तस्य **पतिः** पालकः स्वामीश्वरः **अस्ति, स नः** अस्मभ्यं **शम्भवतु** ॥ ३६ । २ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो (मे) मेरी (चक्षुषः) नेत्र की तथा (हृदयस्य) हृदय की (छिद्रम्) न्यूनता है; (वा) अथवा (मनसः) अन्तःकरण की (अतितृणम्) अत्यन्त व्याकुलता है; (तत्) उसे (बृहस्पतिः) बृहत् आकाश आदि का पालक ईश्वर (मे) मेरे लिए (दधातु) पुष्ट करे; और जो (भुवनस्य) संसार का (पतिः) पालक, स्वामी ईश्वर है; वह—(नः) हमारे लिए (शम्) सुखदायक (भवतु) होवे ॥ ३६ । २ ॥

भावार्थः—सर्वैर्मनुष्यैः परमेश्वरस्योपासनयाऽऽज्ञापालनेन चाऽहिंसाधर्मं स्वीकृत्य जितेन्द्रियत्वं सम्पादनीयम् ॥ ३६ । २ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य परमेश्वर की उपासना और आज्ञापालन से अहिंसा धर्म को स्वीकार करके जितेन्द्रियता को प्राप्त करें ॥ ३६ । २ ॥

भाष्यसार—**ईश्वर-प्रार्थना**—बृहत् आकाश आदि का पालक ईश्वर जो मेरे नेत्र की तथा हृदय की न्यूनता है उसे पूरा करे और जो मन (अन्तःकरण) की व्याकुलता है उसे दूर करे। लोकों का पालक एवं स्वामी परमेश्वर हमारे लिए सुखदायक हो ॥ ३६ । २ ॥

अन्यत्र व्याख्यात—हे सर्वसन्धायकेश्वर ! मेरे चक्षु, (नेत्र), हृदय (प्राणात्मा), मन, बुद्धि, विज्ञान, विद्या और सब इन्द्रिय, इन के छिद्र, निर्बलता राग, द्वेष, चाञ्चल्य यद्वा मन्दत्वादि विकार इनका निवारण (निर्मूल) करके सत्य धर्मादि में स्थापन आप ही करो, क्योंकि आप बृहस्पति (सब से बड़े) हो, सो अपनी बड़ाई की ओर देख के इस बड़े काम को आप अवश्य करें, जिससे हम लोग आप और आप की आज्ञा के सेवन में यथार्थ तत्पर हों। मेरे सब छिद्रों को आप ही ढांकें।

आप सब भुवनों के पति हैं इसलिए आप से बारम्बार प्रार्थना हम लोग करते हैं कि सब दिन हम लोगों पर कृपादृष्टि से कल्याणकारक हों।

हे परमात्मन्। आप के विना हमारा कल्याणकारक कोई नहीं है। हम को आप का ही सब प्रकार का भरोसा है, सो आप ही पूरा करेंगे (**आर्याभिविनय** २ । ३९) ॥ ३६ । २ ॥

विश्वामित्रः । **सविता**=ईश्वरः । दैवी बृहती । मध्यमः ।।
तत्सवितुरित्यस्य निचृद्गायत्रीछन्दः । षड्जः स्वरः ।।
अथेश्वरोपासनाविषयमाह ।।
अब ईश्वर की उपासना विषय का उपदेश किया जाता है ।।

भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ।। ३ ।।

पदार्थः—(**भूः**) कर्मविद्याम् (**भुवः**) उपासनाविद्याम् (**स्वः**) ज्ञानविद्याम् (**तत्**) इन्द्रियैरग्राह्यं परोक्षम् (**सवितुः**) सकलैश्वर्यप्रदस्येश्वरस्य (**वरेण्यम्**) स्वीकर्त्तव्यम् (**भर्गः**) सर्वदुःखप्रणाशकं तेजःस्वरूपम् (**देवस्य**) कमनीयस्य (**धीमहि**) ध्यायेम (**धियः**) प्रज्ञाः (**यः**) (**नः**) अस्माकम् (**प्रचोदयात्**) प्रेरयेत् ।। ३ ।।

अन्वयः—हे मनुष्या यथा वयं भूर्भुवः स्वरधीत्य यो नो धियः प्रचोदयात्तस्य देवस्य सवितुस्तद्वरेण्यं भर्गो धीमहि तथा यूयमप्येतद्ध्यायत ।। ३ ।।

सपदार्थान्वयः— हे **मनुष्याः ! यथा वयं भूः** कर्मविद्यां, **भुवः** उपासनाविद्यां **स्वः** ज्ञानविद्याम् **अधीत्य यो नः** अस्माकं **धियः** प्रज्ञाः **प्रचोदयात्** प्रेरयेत्; **तस्य देवस्य** कमनीयस्य **सवितुः** सकलैश्वर्यप्रदेश्वरस्य **वरेण्यम्** स्वीकर्त्तव्यं **भर्गः** सर्वदुःखप्रणाशकं तेजःस्वरूपम् **धीमहि** ध्यायेम; **तथा यूयमप्येतद्ध्यायत** ।। ३६ । ३ ।।

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे हम लोग—(भूः) कर्म-विद्या, (भुवः) उपासना-विद्या, (स्वः) ज्ञान-विद्या को पढ़कर; (यः) जो (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को (प्रचोदयात्) प्रेरित करता है; उस (देवस्य) कामना करने योग्य (सवितुः) सकल ऐश्वर्य के दाता ईश्वर के (वरेण्यम्) स्वीकार करने योग्य (भर्गः) सब दुःखों के नाशक, तेजःस्वरूप का (धीमहि) ध्यान करते हैं; वैसे तुम भी इसका ध्यान करो ।। ३६ । ३ ।।

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । ये मनुष्याः कर्मोपासनाज्ञानविद्याः संगृह्याखिलैश्वर्ययुक्तेन परमात्मना सह स्वात्मनो युञ्जते [ते] ऽधर्मानैश्वर्यदुःखानि विधूय धर्मैश्वर्यसुखानि प्राप्नुवन्ति, तानन्तर्यामी जगदीश्वरः स्वयं धर्मानुष्ठानमधर्मत्यागं च कारयितुं सदैवेच्छति ।।३६।३।।

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । जो मनुष्य कर्म-विद्या, उपासना, विद्या और ज्ञान विद्या को ग्रहण करके, अखिल ऐश्वर्य से युक्त परमात्मा के साथ अपने आत्मा को युक्त करते हैं; वे अधर्म, अनैश्वर्य और दुःख को दूर करके, धर्म, ऐश्वर्य और सुख को प्राप्त होते हैं । उनसे अन्तर्यामी जगदीश्वर स्वयं धर्मानुष्ठान और अधर्म का त्याग सदा कराना चाहता है ।। ३६ । ३ ।।

भा० पदार्थः—धीमहि=परमात्मना सह स्वात्मनो युञ्जमहे ।।

भाष्यसार—**१. ईश्वर की उपासना**—विद्वान् लोग कर्म-विद्या, उपासना-विद्या और ज्ञान-विद्या को पढ़कर; जो ईश्वर उनकी बुद्धियों को शुभ गुण-कर्म-स्वभाव में प्रेरित करता है; उस कामना करने के योग्य, सकल ऐश्वर्य प्रदान करने वाले ईश्वर के स्वीकार करने योग्य, सब दुःखों के विनाशक तेजःस्वरूप का ध्यान करें; उसकी उपासना करें । परमात्मा के साथ अपने आत्मा को संयुक्त

करें। अधर्म, अनैश्वर्य और दुःख को दूर करके धर्म, ऐश्वर्य और सुख को प्राप्त करें। अन्तर्यामी जगदीश्वर धर्माचरण तथा अधर्म-त्याग की स्वयं सदा कामना रखता है।

२. अलङ्कार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि सब मनुष्य विद्वानों के तुल्य ईश्वर की उपासना करें ॥ ३६ । ३ ॥

अन्यत्र व्याख्यात—हे इन्द्र! आप परमैश्वर्ययुक्त सब संसार के राजा हो, सर्वप्रकाशक हो। हे रक्षक! आप कृपा से हम लोगों के "द्विपदे" जो पुत्रादि, उनके लिए परमसुखदायक हो, तथा "चतुष्पदे" हस्ती, अश्व और गवादि पशुओं के लिए भी परमसुखकारक हो, जिससे हम लोगों को सदा आनन्द ही रहे। (आर्याभिविनय २ । २१) ॥

हे सर्वनियन्तः! हमारे लिए सुखकारक शीतल, मन्द और सुगन्ध सदैव वायु चले। ऐसे सूर्य भी सुखकारक तपे तथा मेघ भी सुख का शब्द लिये अर्थात् गर्जन पूर्वक सदैव काल-काल में सुखकारक वर्षा वर्षे। जिससे आप के कृपापात्र हम लोग सुखानन्द ही में सदा रहें (आर्याभिविनय २ । २२) ॥ ●

वामदेवः । **इन्द्रः**=ईश्वरः । गायत्री । षड्जः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

ईश्वर उपासना का फिर उपदेश किया है ॥

कया॑ नश्चित्र ऽ आ भु॑वदूती स॒दावृ॑धः॒ सखा॑ । कया॒ शचि॑ष्ठया वृ॒ता ॥ ४ ॥

पदार्थः—(**कया**) (**नः**) अस्माकम् (**चित्रः**) अद्भुतगुणकर्मस्वभावः परमेश्वरः (**आ**) समन्तात् (**भुवत्**) भवेत् (**ऊती**) रक्षणादिक्रियया । **अत्र तृतीयैकवचनस्य सुपां सुलुगिति पूर्वसवर्णः** (**सदावृधः**) सदैव वर्द्धमानः (**सखा**) सुहृत् (**कया**) (**शचिष्ठया**) अतिशयेन शची=प्रज्ञा तया (**वृता**) वर्त्तमानया ॥ ४ ॥

प्रमाणार्थ—(ऊती) रक्षणादिक्रियया। यहाँ तृतीया विभक्ति के एकवचन को 'सुपां सुलुक्०' (अ० ७ । १ । ३९) से पूर्व सवर्ण दीर्घ है ॥

अन्वयः—स सदावृधश्चित्रो नः कयोती सखा आभुवत् कया वृता शचिष्ठयाऽस्मान् शुभेषु गुणकर्मस्वभावेषु प्रेरयेत् ॥ ४ ॥

सपदार्थान्वयः—**स सदावृधः** सदैव वर्द्धमानः **चित्रः** अद्भुतगुणकर्मस्वभावः परमेश्वरः **नः** अस्माकं **कयोती** रक्षणादिक्रियया **सखा** सुहृत् **आ+भुवत्** समन्तात् भवेत् **कया वृता** वर्त्तमानया **शचिष्ठया** अतिशयेन शची=प्रज्ञा तया **अस्मान् शुभेषु गुणकर्मस्वभावेषु प्रेरयेत्** ॥ ३६ । ४ ॥

भाषार्थ—वह (सदावृधः) सदैव बड़ा, (चित्रः) अद्भुत गुण-कर्म-स्वभाव वाला परमेश्वर (नः) हमारी (कया) किस (ऊती) रक्षा आदि क्रिया से (सखा) मित्र (आ+भुवत्) बनता है; (कया) किस (वृता) वर्तमान (शचिष्ठया) अत्यन्त प्रज्ञा से हमें शुभ गुण-कर्म-स्वभाव में प्रेरित करता है ॥ ३६ । ४ ॥

भावार्थः—वयमिदं यथार्थतया न विजानीमः स ईश्वरः कया युक्त्याऽस्मान् प्रेरयति, यस्य सहायेनैव वयं धर्मार्थकाममोक्षान् साद्धुं शक्नुमः ॥ ३६ । ४ ॥

भावार्थ—हम यह यथार्थ रूप में नहीं जानते कि वह ईश्वर किस युक्ति से हमें प्रेरित करता है; जिसकी सहायता से ही हम लोग धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को सिद्ध कर सकते हैं ॥ ३६।४ ॥

भा० पदार्थः—शचिष्ठया=युक्त्या ॥

भाष्यसार—**ईश्वर की उपासना**—हम यह यथार्थ रूप में नहीं जानते कि सदा बड़ा, अद्भुत गुण-कर्म-स्वभाव वाला परमेश्वर किस रक्षादि क्रिया से हमारा सखा बनता है एवं किस युक्ति से हमें शुभ गुण-कर्म-स्वभाव में प्रेरित करता है ? परमेश्वर की सहायता से ही हम धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सिद्ध कर सकते हैं ॥ ३६ । ४ ॥ ●

वामदेवः । **इन्द्रः**=ईश्वरः । निचृद्गायत्री । षड्जः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

ईश्वर उपासना का फिर उपदेश किया है ॥

कस्त्वा सत्यो मदानां मꣳहिष्ठो मत्सदन्धसः । दृढा चिदारुजे वसु ॥ ५ ॥

पदार्थः—(कः) सुखस्वरूपः (त्वा) त्वाम् (सत्यः) सत्सु पदार्थेषु साधुरीश्वरः (**मदानाम्**) आनन्दानां मध्ये (**मंहिष्ठः**) अतिशयेन मंहिता=वृद्धः (**मत्सत्**) आनन्दयति (**अन्धसः**) अन्नादेः सकाशात् (**दृढा**) दृढानि (**चित्**) अपि (**आरुजे**) दुःखभञ्जकाय जीवाय (**वसु**) वसूनि=धनानि । **अत्र सुपां सुलुगिति जसो लुक्** ॥ ५ ॥

प्रमाणार्थ—(**वसु**) वसूनि=धनानि । यहां 'सुपां सुलुक्०' (अ० ७ । १ । ३९) इस सूत्र से 'जस्' विभक्ति का लुक् है ॥

अन्वयः—हे मनुष्या मदानां मंहिष्ठः कः सत्यः प्रजापतिरन्धसस्त्वा मत्सदारुजे तुभ्यं चित् दृढा वसु प्रयच्छति ॥ ५ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे मनुष्याः ! मदानां** आनन्दानां मध्ये **मंहिष्ठः** अतिशयेन मंहिता=वृद्धः, **कः** सुखस्वरूपः **सत्यः**=**प्रजापतिः** सत्सु पदार्थेषु साधुरीश्वरः; **अन्धसः** अन्नादेः सकाशात् **त्वा** त्वां **मत्सत्** आनन्दयति; **आरुजे** दुःखभञ्जकाय जीवाय **तुभ्यं चित्** अपि **दृढा** दृढानि **वसु** वसूनि=धनानि **प्रयच्छति** ॥ ३६ । ५ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! (मदानाम्) आनन्दों के मध्य में (मंहिष्ठः) अत्यन्त बड़ा, (कः) सुखस्वरूप, (सत्यः) सब पदार्थों में श्रेष्ठ ईश्वर एवं प्रजापति—(अन्धसः) अन्नादि से (त्वा) तुझे (मत्सत्) आनन्दित करता है; (आरुजे) दुःखों के भञ्जक तुझ जीव के लिए (चित्) भी (दृढा) दृढ़ (वसु) धन प्रदान करता है ॥ ३६ । ५ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! योऽन्नादिना सत्यविज्ञापनेन च धनानि प्रदाय सर्वानानन्दयति तं सुखस्वरूपं परमात्मानमेव यूयं नित्यमुपाध्वम् ॥५॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जो अन्न आदि से और सत्य के उपदेश से धन प्रदान करके, सबको आनन्दित करता है; उस सुखस्वरूप परमात्मा की ही तुम नित्य उपासना करो ॥ ३६ । ५ ॥

भा० पदार्थः—अन्धसः=अन्नादिना । सत्यः=सत्यविज्ञापनम् ॥

भाष्यसार—**ईश्वर की उपासना**—जो ईश्वर आनन्दों में सबसे बड़ा है, सुखस्वरूप है, प्रजा का पालक है सब पदार्थों में श्रेष्ठ है; अन्नादि से आनन्दित करता है; दुःखभञ्जक जीव को दृढ़ (स्थिर) धन प्रदान करता है । अतः सब मनुष्य परमात्मा की ही नित्य उपासना करें ॥ ३६ । ५ ॥ ●

वामदेवः । **इन्द्रः**=**ईश्वरः** । पादनिचृद्गायत्री । षड्जः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

ईश्वर उपासना का फिर उपदेश किया है ॥

अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम् । शतं भवास्यूतिभिः ॥ ६ ॥

पदार्थः—(**अभि**) सर्वतः । **अत्र निपातस्य चेति दीर्घः** (**सु**) शोभने (**नः**) अस्माकम् (**सखीनाम्**) मित्राणाम् (**अविता**) रक्षिता (**जरितॄणाम्**) सत्यस्तावकानाम् (**शतम्**) असंख्यम् (**भवासि**) भवेः (**ऊतिभिः**) रक्षणादिभिः ॥ ६ ॥

प्रमाणार्थ—(**अभि**) सर्वतः । यहाँ 'निपातस्य च' (अ० ६ । ३ । १३६) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—'अभी' ।

अन्वयः—हे जगदीश्वर ! यतस्त्वं शतं ददास्यूतिभिर्नः सखीनां जरितॄणामविता सुभवासि तस्मादस्माभिः सत्कर्त्तव्योऽसि ॥ ६ ॥

सपदार्थान्वयः— **हे जगदीश्वरः !** **यतस्त्वं शतम्** असंख्यं **ददास्यूतिभिः** रक्षणादिभिः **नः** अस्माकं **सखीनां** मित्राणां **जरितॄणां** सत्यस्तावकानाम् **अविता** रक्षिता **सु+भवासि** शोभनं भवेः; **तस्मादस्माभिरभि** सर्वतः **सत्कर्त्तव्योऽसि** ॥३६।६॥

भाषार्थ—हे जगदीश्वर ! क्योंकि तू—(शतम्) असंख्य ऐश्वर्य देता है; (ऊतिभिः) रक्षादि से (नः) हमारे (सखीनाम्) मित्रों एवं (जरितॄणाम्) सत्य की स्तुति करने वाले जनों का (अविता) रक्षक (सु+भवासि) उत्तम रीति से बनता है; अतः हमारे लिए (अभि) सब ओर से सत्कार के योग्य है ॥ ३६ । ६ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यो रागद्वेषरहितानामजातशत्रूणां सर्वेषां सुहृदां मनुष्याणामसंख्यमैश्वर्यमतुलं विज्ञानं च प्रदाय, सर्वतोऽभि रक्षति; तमेव परमेश्वरं नित्यं सेवध्वम् ॥ ३६ । ६ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जो राग-द्वेष से रहित, अजातशत्रु, सबके मित्र जनों को असंख्य ऐश्वर्य और अतुल विज्ञान प्रदान करके सब ओर से रक्षा करता है; उसी परमेश्वर की नित्य सेवा (उपासना) करो ॥ ३६ । ६ ॥

भा० पदार्थः—सखीनाम्=रागद्वेषरहितानामजातशत्रूणां सर्वेषां सुहृदां मनुष्याणाम् । शतम्=असंख्यमैश्वर्यमतुलं विज्ञानं च ।

भाष्यसार—**ईश्वर की उपासना**—जो परमेश्वर राग-द्वेष से रहित, अजातशत्रु, सब के सखा जनों को असंख्य ऐश्वर्य और अतुल विज्ञान प्रदान करता है; तथा उनकी सब ओर से रक्षा करता है; अतः सब मनुष्य परमेश्वर की ही नित्य सेवा (उपासना) करें ॥ ३६ । ६ ॥ ●

दध्यङ्ङाथर्वणः । **इन्द्रः**=**ईश्वरः** । वर्द्धमाना गायत्री । षड्जः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

ईश्वर उपासना का फिर उपदेश किया है ॥

कया त्वं न ऽ ऊत्याभि प्र मन्दसे वृषन् । कया स्तोतृभ्य ऽ आ भर ॥ ७ ॥

पदार्थः—(**कया**) (**त्वम्**) (**नः**) अस्मान् (**ऊत्या**) रक्षणाद्यया क्रियया (**अभि**) (**प्र**) (**मन्दसे**) सर्वत्र आनन्दयसि (**वृषन्**) सुखाभिवर्षक (**कया**) रीत्या (**स्तोतृभ्यः**) प्रशंसकेभ्यो मनुष्येभ्यः (**आ**) (**भर**) ॥ ७ ॥

अन्वयः—हे वृषन्नीश्वर ! त्वं कयोत्या नोऽभिप्रमन्दसे कया स्तोतृभ्यः सुखमाभर ॥ ७ ॥

सपदार्थान्वयः—हे वृषन्=ईश्वरः ! सुखाभिवर्षक ! त्वं **कयोत्या** रक्षणाद्यया क्रियया **नः** अस्मान् **अभि+प्र+मन्दसे** सर्वत्र आनन्दयसि ? **कया** रीत्या **स्तोतृभ्यः** प्रशंसकेभ्यो मनुष्येभ्यः **सुखमाभर** ? ॥ ३६ । ७ ॥

भाषार्थ—हे (वृषन्) सुख की वर्षा करने वाले ईश्वर ! तू—(कया) किस (ऊत्या) रक्षादि क्रिया से (नः) हमें (अभि+प्र+मन्दसे) सर्वत्र आनन्दित करता है ? (कया) किस रीति से (स्तोतृभ्यः) प्रशंसक जनों के लिए सुख को धारण करता है ? ॥ ३६ । ७ ॥

भावार्थः—हे भगवन् परमात्मन् ! यया युक्त्या त्वं धार्मिकानानन्दयसि; तान् सर्वतः पालयसि; तां युक्तिमस्मान् बोधय ॥ ३६ । ७ ॥

भावार्थ—हे भगवन् परमात्मन् ! जिस युक्ति से तू धार्मिक जनों को आनन्दित करता है; उनका सब ओर से पालन करता है; उस युक्ति को हमें बोध करा ॥ ३६ । ७ ॥

भा० पदार्थः—आभर=सर्वतः पालयसि । वृषन्=भगवन् परमात्मन् ॥

भाष्यसार—**ईश्वर की उपासना**—हे सुख की वर्षा करने वाले ईश्वर ! तू किस रक्षादि क्रिया से हमें सर्वत्र आनन्दित करता है ? किस रीति से अपने स्तोता धार्मिक जनों के लिए सुख को धारण करता है ? सब ओर से उनकी रक्षा करता है ? उस रीति का हमें बोध करा ॥ ३६ । ७ ॥ ●

दध्यङ्ङाथर्वणः । **इन्द्रः**=ईश्वरः । द्विपाद्विराड् गायत्री । षड्जः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

ईश्वर उपासना का फिर उपदेश किया है ॥

इन्द्रो विश्वस्य राजति । शन्नोऽ अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ ८ ॥

पदार्थः—(**इन्द्रः**) विद्युदिवेश्वरः (**विश्वस्य**) संसारस्य मध्ये (**राजति**) प्रकाशते (**शम्**) सुखम् (**नः**) अस्माकम् (**अस्तु**) (**द्विपदे**) पुत्राद्याय (**शम्**) (**चतुष्पदे**) गवाद्याय ॥ ८ ॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर ! यो भवानिन्द्र इव विश्वस्य राजति तस्य भवतः कृपया नो द्विपदे शमस्तु नश्चतुष्पदे शमस्तु ॥ ८ ॥

सपदार्थान्वयः—हे जगदीश्वर ! **यो भवानिन्द्र इव** विद्युदिवेश्वरः **विश्वस्य** संसारस्य मध्ये **राजति** प्रकाशते, **तस्य भवतः कृपया नः** अस्माकं **द्विपदे** पुत्राद्याय **शं** सुखं **अस्तु**; **नश्चतुष्पदे** गवाद्याय **शं** सुखम् **अस्तु** ॥ ३६ । ८ ॥

भाषार्थ—हे जगदीश्वर ! जो आप—(इन्द्रः) विद्युत् के लिए हो; (विश्वस्य) संसार के मध्य में (राजति) प्रकाशमान हो; सो आपकी कृपा से (नः) हमारे (द्विपदे) पुत्रादि के लिए (शम्) सुख (अस्तु) हो; (नः) हमारे (चतुष्पदे) गौ आदि पशुओं के लिए (शम्) सुख (अस्तु) हो ॥ ३६ । ८ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । हे जगदीश्वर ! यतो भवान् सर्वत्राऽभिव्यापको मनुष्यपश्वादीनां सुखमिच्छुरसि, तस्मात् सर्वैरुपासनीयोऽसि ॥ ३६ । ८ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । हे जगदीश्वर ! क्योंकि आप सर्वत्र व्यापक, मनुष्य तथा पशु आदि के सुख के इच्छुक हो; अतः सब के उपासनीय हो ॥ ३६ । ८ ॥

भा० पदार्थः—द्विपदे=मनुष्यादीनाम् । चतुष्पदे=पश्वादीनाम् ॥

भाष्यसार—**१. ईश्वर की उपासना**—हे जगदीश्वर ! क्योंकि आप विद्युत् के तुल्य सर्वत्र व्यापक हो, संसार में प्रकाशमान हो, हम धार्मिक जनों के पुत्रादि मनुष्य तथा गौ आदि पशुओं के लिए सुख के इच्छुक हो । अतः सबके उपासनीय हो ।

२. **अलंकार**—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । उपमा यह है कि ईश्वर विद्युत् के तुल्य सर्वत्र व्यापक है ॥ ३६ । ८ ॥

दध्यङ्ङाथर्वणः । **मित्रादयो लिङ्गोक्ताः**=**मित्र-वरुण-अर्यम-इन्द्र-बृहस्पति-उरुक्रम-विष्णवः** । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ॥

मनुष्यैः स्वार्थपरार्थसुखमेषितव्यमित्याह ॥

मनुष्यों को अपने और दूसरों के लिए सुख की इच्छा करनी चाहिए, यह उपदेश किया है ॥

शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा । शन्न ऽ इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः ॥ ९ ॥

पदार्थः—(**शम्**) सुखकारि (**नः**) अस्मभ्यम् (**मित्रः**) प्राण इव प्रियः सखा (**शम्**) (**वरुणः**) जलमिव शान्तिप्रदः (**शम्**) (**नः**) अस्मभ्यम् (**भवतु**) (**अर्य्यमा**) योऽर्यान् मन्यते स न्यायाधीशः (**शम्**) (**नः**) अस्मभ्यम् (**इन्द्रः**) परमैश्वर्यवान् (**बृहस्पतिः**) बृहत्या वाचः पालको विद्वान् (**शम्**) (**नः**) अस्मभ्यम् (**विष्णुः**) व्यापकेश्वरः (**उरुक्रमः**) उरु=बहुक्रमः संसाररचने यस्य सः ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा नो मित्रः शं भवतु वरुणः शम्भवत्वर्य्यमा नः शं भवतु इन्द्रो बृहस्पतिर्नः शम्भवतु उरुक्रमो विष्णुर्नः शम्भवतु तथा युष्मभ्यमपि भवेत् ॥ ९ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **मनुष्याः ! यथा नः** अस्मभ्यं **मित्रः** प्राणइव प्रियः सखा **शं** सुखकारि **भवतु, वरुणः** जलमिव शान्तिप्रदः **शं** सुखकारि **भवत्वर्य्यमा** योऽर्यान् मन्यते स न्यायाधीशः **नः** अस्मभ्यं **शं** सुखकारि **भवतु इन्द्रः** परमैश्वर्य्यवान् **बृहस्पतिः** बृहत्या वाचः पालको विद्वान् **नः** अस्मभ्यं **शं** सुखकारि **भवतु, उरुक्रमः** उरु=बहु क्रमः संसाररचने यस्य सः **विष्णुः** व्यापकेश्वरः **नः** अस्मभ्यं **शं** सुखकारि **भवतु; तथा युष्मभ्यमपि भवेत्** ॥३६।९॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! (नः) हमारे लिए (मित्रः) प्राण के तुल्य प्रिय सखा (शम्) सुखकारी हो; (वरुणः) जल के तुल्य शान्ति प्रदान करने वाला विद्वान् (शम्) सुखकारी हो; (अर्यमा) अर्य जनों का मान करने वाला न्यायाधीश (नः) हमारे लिए (शम्) सुखकारी (भवतु) हो; (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवाला, (बृहस्पतिः) वाणी का पालक विद्वान्—(नः) हमारे लिए (शम्) सुखकारी हो; (उरुक्रमः) संसार की रचना में अत्युत्तम क्रम वाला (विष्णुः) व्यापक ईश्वर (नः) हमारे लिए (शम्) सुखकारी हो; वैसे तुम्हारे लिए भी हो ॥ ३६ । ९ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । मनुष्यैर्यथा स्वार्थं सुखमेष्टव्यं तथा परार्थमपि, यथा

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलङ्कार है । मनुष्य जैसे अपने लिए सुख की इच्छा

च ते स्वयं सत्सङ्गमिच्छेयुस्तथा तत्रान्यानपि प्रेरयेयुः ॥ ३६ । ९ ॥

करें वैसे दूसरों के लिए भी; और जैसे वे स्वयं सत्संग की इच्छा करें वैसे उसमें अन्यों को भी प्रेरित करें ॥ ३६ । ९ ॥

भाष्यसार—**१. अपने और दूसरों के लिए सुख की इच्छा**—प्राण के तुल्य सखा, जल के तुल्य शान्ति प्रदान करने वाला विद्वान्, न्यायाधीश, परम ऐश्वर्य वाला वेदवाणी का पालक विद्वान्, संसार का रचयिता व्यापक ईश्वर हमारे लिए तथा सब मनुष्यों के लिए सुखकारी हो।

२. अलङ्कार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि मित्र प्राण के तुल्य प्रिय हो। मनुष्य अपने आत्मा के तुल्य सब के लिए सुख की इच्छा करें ॥ ३६ । ९ ॥ ●

दध्यङ्ङाथर्वणः । **वाताद्यः=वायुसूर्यविद्युन्मेघाः** । विराडनुष्टुप् । गान्धारः ॥

पुनर्मनुष्यैः किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

फिर मनुष्य क्या करें, यह उपदेश किया है ॥

शन्नो वातः पवताᳬं शन्नस्तपतु सूर्य्यः । शन्नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्यो ऽ अभि वर्षतु ॥ १० ॥

पदार्थः—(**शम्**) सुखकारकः (**नः**) अस्मभ्यम् (**वातः**) पवनः (**पवताम्**) चलतु (**शम्**) (**नः**) (**तपतु**) (**सूर्य्यः**) (**शम्**) (**नः**) (**कनिक्रदत्**) भृशं शब्दं कुर्वन् (**देवः**) दिव्यगुणयुक्तो विद्युदाख्यः (**पर्जन्यः**) मेघः (**अभि**) आभिमुख्ये (**वर्षतु**) ॥ १० ॥

अन्वयः—हे परमेश्वर विद्वन् वा यथा वातो नः शं पवतां सूर्य्यो नस्तपतु कनिक्रदद्देवो नः शं भवतु पर्जन्यो नोऽभिवर्षतु तथाऽस्मान् शिक्षय ॥ १० ॥

सपदार्थान्वयः—**हे परमेश्वर विद्वन् ! वा यथा वातः** पवनः **नः** अस्मभ्यं **शं** सुखकारकः **पवतां** चलतु; **सूर्य्यो नः** अस्मभ्यं **तपतु, कनिक्रदत्** भृशं शब्दं कुर्वन् **देवः** दिव्यगुणयुक्तो विद्युदाख्यः **नः** अस्मभ्यं **शं** सुखकारकः **भवतु; पर्जन्यः** मेघः **नः** अस्मभ्यम् **अभि+वर्षतु** आभिमुख्येन वर्षतु; **तथाऽस्मान् शिक्षय** ॥ ३६ । १० ॥

भाषार्थ—हे परमेश्वर वा विद्वान् ! जैसे (वातः) वायु (नः) हमारे लिए (शम्) सुखकारक (पवताम्) चले; (सूर्यः) सूर्य (नः) हमारे लिए (शम्) सुखकारक (तपतु) तपे; (कनिक्रदत्) अत्यन्त शब्द करने वाला, (देवः) दिव्य गुणों से युक्त विद्युत् नामक देव (नः) हमारे लिए (शम्) सुखकारक हो; (पर्जन्यः) मेघ=बादल (नः) हमारे लिए (अभि+वर्षतु) सब ओर वर्षा करे; वैसे हमें शिक्षा कर ॥ ३६ । १० ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । हे मनुष्याः ! येन प्रकारेण वायुसूर्यविद्युन्मेघाः सर्वेषां सुखकराः स्युस्तथाऽनुतिष्ठत ॥ ३६ । १० ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। हे मनुष्यो ! जिस प्रकार से वायु, सूर्य, विद्युत् और मेघ सब के लिए सुखकारी हों; वैसा आचरण करो ॥ ३६ । १० ॥

भाष्यसार—**१. मनुष्यों का कर्त्तव्य**—सब मनुष्य परमेश्वर वा विद्वान् से प्रार्थना करें कि जिस प्रकार से वायु, सूर्य, विद्युत् और मेघ सबके लिए सुखकारी हों वैसी शिक्षा कीजिये।

२. अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि मनुष्य वायु आदि पदार्थ जैसे सुखकारी हों वैसा अनुष्ठान करें ॥ ३६ । १० ॥

दध्यङ्ङाथर्वणः । **लिङ्गोक्ताः**=अहरादयः । अतिशक्वरी । पञ्चमः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

मनुष्य क्या करें, यह फिर उपदेश किया है ॥

अहा॑नि॒ शं भव॑न्तु नः॒ शꣳ रात्री॒ः प्रति॑ धीयताम् ।
शन्न॑ऽइन्द्रा॒ग्नी भ॑वता॒मवो॑भि॒ः शन्न॒ऽइन्द्रा॒वरु॑णा रा॒तह॑व्या ।
शन्न॑ऽइन्द्रापू॒षणा॒ वाज॑साता॒ै शमिन्द्रा॒सोमा॑ सुवि॒ताय॒ शंयोः ॥ ११ ॥

पदार्थः—(**अहानि**) दिनानि (**शम्**) सुखकारकाणि (**भवन्तु**) (**नः**) अस्मभ्यम् (**शम्**) (**रात्रीः**) रात्रयः (**प्रति**) (**धीयताम्**) धीयन्ताम् । **अत्र वचनव्यत्ययेनैकवचनम्** (**शम्**) (**नः**) अस्मभ्यम् (**इन्द्राग्नी**) विद्युत्पावकौ (**भवताम्**) (**अवोभिः**) रक्षणादिभिः सह (**शम्**) (**नः**) (**इन्द्रावरुणा**) विद्युज्जले (**रातहव्या**) रातं=दत्तं हव्यमादातव्यं सुखं याभ्यान्ते (**शम्**) (**नः**) (**इन्द्रापूषणा**) विद्युत्पृथिव्यौ (**वाजसातौ**) वाजान्यन्नानि संभजन्ति यया तस्यां युधि (**शम्**) (**इन्द्रासोमा**) विद्युदोषधिगणौ (**सुविताय**) प्रेरणाय (**शंयोः**) सुखस्य ॥ ११ ॥

प्रमाणार्थ—(**धीयताम्**) धीयन्ताम् । यहाँ 'वचन-व्यत्यय' से बहुवचन के स्थान में एकवचन है ॥

अन्वयः—हे परमेश्वर विद्वन् वा ! यथाऽवोभिः सह शंयोः सुविताय नोऽहानि शं भवन्तु रात्रीश्शं प्रतिधीयतामिन्द्राग्नी नः शं भवतां रातहव्या इन्द्रावरुणा नः शं भवतां वाजसाताविन्द्रापूषणा नः शं भवतामिन्द्रासोमा च शं भवतां तथाऽस्माननुशिक्षेताम् ॥ ११ ॥

सपदार्थान्वयः—हे परमेश्वर विद्वन् वा ! यथाऽवोभिः रक्षणादिभिः **सह शंयोः** सुखस्य **सुविताय** प्रेरणाय **नः** अस्मभ्यम् **अहानि** दिनानि **शं** सुखकारकाणि **भवन्तु, रात्रीः** रात्रयः **शं** सुखकारिकाः **प्रतिधीयतां** धीयन्ताम्, **इन्द्राग्नी** विद्युत्पावकौ **नः** अस्मभ्यं **शं** सुखकारकौ **भवतां, रातहव्या** रातं=दत्तं हव्यमादातव्यं सुखं याभ्यान्ते **इन्द्रावरुणा** विद्युज्जले **नः** अस्मभ्यं **शं** सुखकारके **भवताम्; वाजसातौ** वाजान्यन्नानि सम्भजन्ति यया तस्यां युधि **इन्द्रापूषणा** विद्युत्पृथिव्यौ **नः** अस्मभ्यं **शं** सुखकारके **भवताम् । इन्द्रासोमा** विद्युदोषधिगणौ **च शं** सुखकारकौ **भवतां; तथाऽस्माननुशिक्षेताम्** ॥ ११॥

भाषार्थ—हे परमेश्वर वा विद्वान् ! जैसे (अवोभिः) रक्षादि से (शंयोः) सुख की (सुविताय) प्रेरणा के निमित्त (नः) हमारे लिए (अहानि) दिन (शम्) सुखकारक (भवन्तु) हों; (रात्रीः) रात्रियाँ (शम्) सुख को (प्रतिधीयताम्) धारण करें; (इन्द्राग्नी) विद्युत् और अग्नि (नः) हमारे लिए (शम्) सुखकारक (भवताम्) हों; (रातहव्या) देने लेने योग्य सुख के हेतु (इन्द्रावरुणा) विद्युत् और जल (नः) हमारे लिए (शम्) सुखकारक हों; (वाजसातौ) अन्नों के विभाजक युद्ध में (इन्द्रापूषणा) विद्युत् और पृथिवी (नः) हमारे लिए (शम्) सुखकारक हों तथा (इन्द्रासोमा) विद्युत् और ओषधिगण हमारे लिए (शम्) सुखकारक हों; वैसी हमें अनुकूल शिक्षा करो ॥ ३६ । ११ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। हे मनुष्याः! यदीश्वराप्तविदुषां शिक्षायां भवन्तः प्रवर्त्तेरंस्तर्ह्यहर्निशं भूम्यादयः सर्वे पदार्था युष्माकं सुखकराः स्युः ॥ ३६। ११ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। हे मनुष्यो! यदि ईश्वर और आप्त विद्वानों की शिक्षा में आप लोग प्रवृत्त रहें तो दिन रात भूमि आदि सब पदार्थ तुम्हारे लिए सुखकारक हों ॥ ३६। ११ ॥

भाष्यसार—**१. मनुष्यों का कर्त्तव्य**—सब मनुष्य परमेश्वर वा विद्वान् से इस प्रकार प्रार्थना करें कि दिन, रात्रि, विद्युत्-अग्नि, विद्युत्-जल, विद्युत्-पृथिवी, और विद्युत्-ओषधिगण जिस प्रकार से सुखकारक हों; वैसे शिक्षा हमें कीजिए। मनुष्य ईश्वर और आप्त विद्वानों की शिक्षा में रहें जिससे सब पदार्थ सुखदायक हों।

२. अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि परमेश्वर वा आप्त विद्वान् मनुष्यों को वैसी शिक्षा करें जिससे दिन-रात तथा भूमि आदि सब पदार्थ उनके लिए सुखदायक हों ॥ ३६। ११ ॥

अन्यत्र व्याख्यात—हे क्षणादि कालपते! सब दिवस आप के नियम से सुखरूप ही हम को हों, हमारे लिए सर्व रात्रि भी आनन्द से बीतें। हे भगवन्! दिन और रात्रियों को सुखकारक ही आप स्थापन करो जिससे सब समय में हम लोग सुखी ही रहें।

हे सर्व स्वामिन्! "इन्द्राग्नी" सूर्य तथा अग्नि ये दोनों हमको आप के अनुग्रह से और नानाविध रक्षाओं से सुखकारक हों।

"इन्द्रावरुणा रातहव्या" हे प्राणाधार! होम से शुद्धिगुणयुक्त हुए आपकी प्रेरणा से वायु और चन्द्र हम लोगों के लिए सुखरूप ही सदा हों।

"इन्द्रापूषणा, वाजसातौ" हे प्राणपते! आप की रक्षा से पूर्ण आयु और बलयुक्त प्राण वाले हम लोग अपने अत्यन्त पुरुषार्थयुक्त युद्ध में स्थिर रहें, जिससे शत्रुओं के सम्मुख हम निर्बल कभी न हों।

"इन्द्रासोमा सुविताय शंयोः" (प्राणापानौ वा इन्द्राग्नी इत्यादि शतपथे) हे महाराज! आप के प्रबन्ध से राजा और प्रजा परस्पर विद्यादि सत्यगुणयुक्त होके अपने ऐश्वर्य का उत्पादन करें, तथा आप की कृपा से परस्पर प्रीतियुक्त हो, अत्यन्त सुख लाभों को प्राप्त हों।

आप हम पुत्र लोगों को सुखी देख के अत्यन्त प्रसन्न हों और हम भी प्रसन्नता से आप और जो आपकी सत्य आज्ञा, उसमें ही तत्पर हों (आर्याभिविनय २। २३) ॥ ३६। ११ ॥ ●

दध्यङ्ङाथर्वणः। **आपः**=जलानि। गायत्री। षड्जः ॥

कीदृशा जनाः सुखसम्पन्ना भवन्तीत्याह ॥

कैसे मनुष्य सुखों से युक्त होते हैं, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

शन्नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ ऽ आपो॑ भवन्तु पी॒तये॑। शंयोर॒भि स्र॑वन्तु नः ॥ १२ ॥

पदार्थः—(शम्) (नः) अस्मभ्यम् (**देवीः**) दिव्याः (**अभिष्टये**) इष्टसुखसिद्धये (**आपः**) जलानि (**भवन्तु**) (**पीतये**) पानाय (**शंयोः**) सुखस्य (**अभि**) सर्वतः (**स्रवन्तु**) वर्षन्तु (**नः**) अस्मभ्यम् ॥१२॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर विद्वन्! वा यथाऽभिष्टये पीतये देवीरापो नः शं भवन्तु नः शंयोर्वृष्टिमभिस्रवन्तु तथोपदिशतम् ॥ १२ ॥

सपदार्थान्वयः—हे जगदीश्वर विद्वन्! वा **यथाऽभिष्टये** इष्टसुखसिद्धये **पीतये** पानाय **देवीः** दिव्याः **आपः** जलानि **नः** अस्मभ्यं **शं भवन्तु, नः** अस्मभ्यं **शंयोः** सुखस्य **वृष्टिमभि+स्रवन्तु** सर्वतो वर्षन्तु, **तथोपदिशतम्** ॥ ३६ । १२ ॥

भाषार्थ—हे जगदीश्वर वा विद्वान् ! जैसे (अभिष्टये) अभीष्ट सुख की सिद्धि के लिए तथा (पीतये) पीने के लिए (देवीः) दिव्य (आपः) जल (नः) हमारे लिए (शम्) सुखकारक (भवन्तु) हों; (नः) हमारे लिए (शंयोः) सुख की वर्षा (अभि+स्रवन्तु) सब ओर से करें; वैसा उपदेश करो ॥ ३६ । १२ ॥

भावार्थः—ये यज्ञादिना जलादिपदार्थान् शुद्धान् सेवन्ते, तेषामुपरि सुखामृतस्य वृष्टिः सततं भवति ॥ ३६ । १२ ॥

भावार्थ—जो यज्ञ आदि से शुद्ध जल आदि पदार्थों का सेवन करते हैं; उनके ऊपर सुख रूप अमृत की वर्षा सदा होती है ॥ ३६ । १२ ॥

भा० पदार्थः—आपः=यज्ञादिना शुद्धा जलादिपदार्थाः । शंयोः=सुखामृतस्य ॥

भाष्यसार—**सुखसम्पन्न मनुष्य**—मनुष्य जगदीश्वर वा विद्वान् से प्रार्थना करें कि अभीष्ट सुख की सिद्धि तथा पान करने के लिए दिव्य जल सुखदायक हों, वे सब ओर से सुख की वर्षा करें। मनुष्य यज्ञादि से जलादि पदार्थों को शुद्ध करके सेवन करें जिससे उनके ऊपर सुख रूप अमृत वर्षा सदा होती रहे एवं वे सदा सुखसम्पन्न रहें ॥ ३६ । १२ ॥

अन्यत्र व्याख्यात—[क] (शन्नो देवी) आप्लृ व्याप्तौ, इस धातु से अप् शब्द सिद्ध होता है सो यह सदा स्त्रीलिंग और बहुवचनान्त है तथा जिस दिवु धातु के क्रीड़ा आदि अर्थ हैं उससे देवी शब्द सिद्ध होता है (देवीः) अर्थात् जो ईश्वर सब का प्रकाश और सबको आनन्द देने वाला (आपः) सर्वव्यापक है (अभीष्टये) वह इष्ट आनन्द और (पीतये) पूर्णानन्द की प्राप्ति के लिए (नः) हम को सुखी होने के लिए (शं) कल्याणकारी (भवन्तु) हो। वही परमेश्वर (नः) हम पर (शंयोः) सुख की (अभि स्रवन्तु) वृष्टि करे। इस मन्त्र में आप शब्द से परमात्मा के ग्रहण होने में प्रमाण यह है कि (आपो ब्रह्मजना विदुः) अर्थात् विद्वान् लोग ऐसा जानते हैं कि आप परमात्मा का नाम है (ऋग्वेदादि० अधिकारानधिकारविषय) ॥

[ख] (ओं शन्नो देवी इत्यादि) इसका अर्थ यह है कि 'आप्लृ व्याप्तौ' इस धातु से अप् शब्द सिद्ध होता है। वह सदा स्त्रीलिंग और बहुवचनान्त है। 'दिवु' धातु अर्थात् जिसके क्रीड़ा आदि अर्थ हैं, उससे देवी शब्द सिद्ध होता है। (देवीः आपः) सब का प्रकाशक, सब को आनन्द देने वाला और सर्वव्यापक ईश्वर (अभीष्टये) मनोवाञ्छित आनन्द के लिए और (पीतये) पूर्णानन्द की प्राप्ति के लिए (नः) हमको (शम्) कल्याणकारी (भवन्तु) हो अर्थात् हमारा कल्याण करे। वही परमेश्वर (नः) हम पर (शंयोः सुख) की (अभिस्रवन्तु) सर्वदा वृष्टि करे।

यहाँ 'अप्' शब्द से ईश्वर के ग्रहण करने में प्रमाण— (यत्र लोकांश्च०) जिसमें सब लोक लोकान्तर, कोश अर्थात् सब जगत् का कारणरूप खजाना जिसमें असत् अदृश्यरूप आकाशादि और सत् स्थूल प्रकृत्यादि सब पदार्थ स्थित हैं, उसी का नाम अप् है। और वह नाम ब्रह्म का है तथा उसी को स्कम्भ कहते हैं। वह कौन-सा देव और कहाँ है ? इसका यह उत्तर है कि जो (अन्तः) सब के भीतर व्यापक होके परिपूर्ण हो रहा है उसी को तुम उपास्य, पूज्य और इष्टदेव जानो। इस वेदमन्त्र के प्रमाण से अप् नाम ब्रह्म का है ॥ ३६ । १२ ॥ ●

मेधातिथिः । **पृथिवी**=**पतिव्रता स्त्री** । पिपीलिका मध्या निचृद्गायत्री । षड्जः ।।

पतिव्रता कीदृशी स्यादित्याह ।।

पतिव्रता स्त्री कैसी हो, यह उपदेश किया जाता है ।।

स्योना पृथिवि नो भवानृक्षरा निवेशनी । यच्छा नः शर्म सप्रथाः ।। १३ ।।

पदार्थः—(**स्योना**) सुखकरी (**पृथिवि**) भूमिः (**नः**) अस्मभ्यम् (**भव**) भवतु । **अत्र पुरुषव्यत्ययः** (**अनृक्षरा**) कण्टकगर्त्तादिरहिता (**निवेशनी**) या नित्यान् निवेशयति सा (**यच्छ**) ददातु (**नः**) अस्मभ्यम् (**शर्म**) गृहम् (**सप्रथाः**) विस्तारेण सह वर्त्तमानाः ।। १३ ।।

प्रमाणार्थ—(भव) भवतु । यहाँ पुरुष व्यत्यय है । प्रथम पुरुष के स्थान में मध्यम पुरुष है ।।

अन्वयः—हे पृथिवीव वर्त्तमाने स्त्रि ! यथाऽनृक्षरा निवेशनी पृथिवि नो भवति तथा त्वं भव सा सप्रथा नः शर्म यच्छेत्तथा स्योना त्वं नः शर्म्म यच्छ ।। १३ ।।

सपदार्थान्वयः—**हे पृथिवीव वर्त्तमाने स्त्रि ! यथाऽनृक्षरा** कण्टकगर्त्तादिरहिता **निवेशनी** या नित्यान् निवेशयति सा **पृथिवि** भूमिः **नः** अस्मभ्यं **भवति, तथा त्वं भव ।**

सा सप्रथाः विस्तारेण सह वर्त्तमाना **नः** अस्मभ्यं **शर्म** गृहं **यच्छेत् तथा स्योना** सुखकरी **त्वं नः** अस्मभ्यं **शर्म्म** गृहं **यच्छ** ।। ३६ । १३ ।।

भाषार्थ—हे पृथिवी के तुल्य सुखदायक स्त्री ! जैसे—(अनृक्षरा) कण्टक, गर्त्त आदि से रहित, (निवेशनी) नित्य पदार्थों को निविष्ट करने वाली (पृथिवि) भूमि (नः) हमारे लिए सुखदायक है; वैसी तू हो ।

वह—(सप्रथाः) विस्तृत भूमि (नः) हमारे लिए (शर्म) घर प्रदान करे, तथा (स्योना) सुखकारक हो; और तू (नः) हमारे लिए (शर्म) घर (यच्छ) प्रदान कर ।। ३६ । १३ ।।

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । यथा सर्वेषां भूतानां सुखैश्वर्यप्रदा पृथिवी वर्त्तते; तथैव विदुषी पतिव्रता स्त्री पत्यादीनामानन्दप्रदा भवति ।। ३६ । १३ ।।

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । जैसे सब प्राणियों को सुख और ऐश्वर्य प्रदान करने वाली पृथिवी है; वैसे ही विदुषी पतिव्रता स्त्री पति आदि को आनन्द प्रदान करने वाली होती है ।। ३६ । १३ ।।

भाष्यसार—१. **पतिव्रता स्त्री**—जैसे कण्टक, गर्त्त अदि से रहित; नित्य पदार्थों को निविष्ट करने वाली पृथिवी सब भूतों को सुख और ऐश्वर्य प्रदान करने वाली होती है वैसे पतिव्रता स्त्री पति आदि जनों को आनन्द प्रदान करने वाली होती है । जैसे विस्तृत पृथिवी पर घर सुखकारक होते हैं वैसे पतिव्रता स्त्री सुखकारक होती है ।

२. **अलङ्कार**—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । उपमा यह है कि पतिव्रता स्त्री पृथिवी के तुल्य सुखकारक होती है ।। ३६ । १३ ।। ●

सिन्धुद्वीपः । **आपः**=**पतिव्रता स्त्री** । गायत्री । षड्जः ।।

पुनस्तमेव विषयमाह ।।

पतिव्रता स्त्री कैसी हो, इसका फिर उपदेश किया है ।।

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऽ ऊर्जे दधातन । महे रणाय चक्षसे ॥ १४ ॥

पदार्थः— (**आपः**) जलानीव शान्तिशीला विदुष्यः सत्स्त्रियः (**हि**) यतः (**स्थ**) भवत । संहितायामिति दीर्घः (**मयोभुवः**) या मयः=सुखं भावयन्ति ताः । **मय इति सुखना० ॥ निघं० ३ । ६ ॥** (**ताः**) (**नः**) अस्मान् (**ऊर्जे**) पराक्रमाय बलाय वा (**दधातन**) धरत (**महे**) महते (**रणाय**) सङ्ग्रामाय । **रण इति सङ्ग्रामना० ॥ निघं० २ । १७ ॥** (**चक्षसे**) प्रसिद्धाय ॥ १४ ॥

प्रमाणार्थ—(**स्थ**) भवत । यहाँ संहिता में दीर्घ है— 'स्था (ष्ठा)' । (मयोभुवः) या मयः=सुखं भावयन्ति ताः । 'मय' यह पद निघण्टु (३ । ६) में सुख-नामों में पठित है । (**रणाय**) संग्रामाय । 'रण' यह पद निघण्टु (२ । १७) में संग्राम-नामों में पठित है ।

अन्वयः—हे आपः ! स्त्रियो यथा मयोभुव आपो हि नो महे रणाय चक्षस ऊर्जे दधतु तथैता यूयं दधातन प्रियाः स्थः ॥ १४ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे आपः=स्त्रियः !** जलानीव शान्तिशीला विदुष्यः सत्स्त्रियः **यथा मयोभुवः** या मयः=सुखं भावयन्ति ताः **आपो हि** यतः **नः** अस्मान् **महे** महते **रणाय** सङ्ग्रामाय **चक्षसे** प्रसिद्धाय **ऊर्जे** पराक्रमाय बलाय वा **दधतु, तथा** [**ताः**]=**एता यूयं दधातन** धरत; **प्रिया स्थ** भवत ॥ ३६ । १४ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । यथा सत्यः पतिव्रताः स्त्रियः सर्वान् सुखयन्ति, तथैव जलादयः पदार्थाः सुखकराः सन्तीति वेद्यम् ॥ ३६ । १४ ॥

भाषार्थ—हे (आपः) जलों के तुल्य शान्तिशील विदुषी श्रेष्ठ स्त्रियो ! जैसे—(मयोभुवः) सुख को उत्पन्न करने वाले (आपः) जल (हि) जिस हेतु से (नः) हमें (महे) महान् (रणाय) संग्राम तथा (चक्षसे) प्रसिद्ध (ऊर्जे) पराक्रम वा बल के लिए धारण करते हैं; वैसे [ताः] इन्हें तुम (दधातन) धारण करो; तथा प्रिय (स्थ) बनो ॥ १४ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । जैसे सती, पतिव्रता स्त्रियाँ सबको सुख देती हैं; वैसे ही जल आदि पदार्थ सुखकारक हैं; ऐसा समझें ॥ ३६ । १४ ॥

भा० पदार्थः—आपः=सत्यः पतिव्रताः स्त्रियः/जलादयः पदार्थाः ॥

भाष्यसार—१. **पतिव्रता स्त्री**—जैसे सुख को उत्पन्न करने वाले जल धार्मिक जनों का महान् संग्राम तथा प्रसिद्ध बल वा पराक्रम धारण करें वैसे जल के तुल्य शान्तस्वभाव, पतिव्रता, विदुषी स्त्रियाँ इन जलों को धारण करें तथा पति की प्रिया बनें ।

२. **अलङ्कार**—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । उपमा यह है कि पतिव्रता विदुषी स्त्रियाँ जल के तुल्य शान्तिदायक होती हैं । और जलादि पदार्थ भी पतिव्रता स्त्री के तुल्य सुखकारक होते हैं ॥ ३६ । १४ ॥ ●

सिन्धुद्वीपः । **आपः=पतिव्रता स्त्री** । गायत्री । षड्जः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

पतिव्रता स्त्री कैसी हो, इसका उपदेश किया है ॥

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः । उशतीरिव मातरः ॥ १५ ॥

पदार्थः—(यः) (वः) युष्माकम् (**शिवतमः**) अतिशयेन कल्याणकरः (**रसः**) आनन्दवर्द्धकः स्नेहरूपः (**तस्य**) रसम्। अत्र कर्मणि षष्ठी (**भाजयत**) सेवयत (**इह**) अस्मिञ्जगति (**नः**) अस्मान् (**उशतीरिव**) कामयमाना इव। अत्र वाच्छन्दसि ॥ ६ । १ । १०६ ॥ इति पूर्वसवर्णादेशः। (**मातरः**) ॥ १५ ॥

प्रमाणार्थ—(**तस्य**) रसम्। यहाँ कर्म में षष्ठी विभक्ति है। (**उशतीः**) यहाँ 'वाच्छन्दसि' (अ० ६ । १ । १०६) इस सूत्र से 'जस्' को पूर्वसवर्ण दीर्घादेश है ॥ ३६ । १५ ॥

अन्वयः—हे सत्स्त्रियो यो यः शिवतमो रसोऽस्ति तस्येह नो मातरः पुत्रानुशतीरिव भाजयत ॥ १५ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **सत्स्त्रियः! यो वः** युष्माकं **शिवतमः** अतिशयेन कल्याणकरः **रसः** आनन्दवर्द्धकः स्नेहरूपः **अस्ति, तस्य** रसम् **इह** अस्मिञ्जगति **नः** अस्मान् **मातरः पुत्रानुशतीरिव** कामयमाना इव, **भाजयत** सेवयत ॥ ३६ । १५ ॥

भाषार्थ—हे श्रेष्ठ स्त्रियो! (यः) जो (वः) तुम्हारा (शिवतमः) अत्यन्त कल्याणकारी (रसः) आनन्द को बढ़ाने वाला स्नेह रूप रस है, (तस्य) उसको (इह) इस जगत् में (नः) हमें पुत्रों की (उशतीरिव) कामना करने वाली (मातरः) माताओं के तुल्य (भाजयत) सेवन कराओ ॥ १५ ॥

भावार्थः—यदि होमादिनाऽऽपः शुद्धाः क्रियेरँस्तर्ह्येता, मातरोऽपत्यानीव, पतिव्रताः पतीनिव, सर्वान् प्राणिनः सुखयन्ति ॥ ३६ । १५ ॥

भावार्थ—यदि होम आदि से जलों को शुद्ध करें तो ये—जैसे माताएँ सन्तानों को एवं पतिव्रता स्त्रियाँ पतियों को सुख देती हैं; वैसे सब प्राणियों को—सुख देते हैं ॥ ३६ । १५ ॥

भा० पदार्थः—शिवतमः=होमादिना शुद्धः। रसः=आपः ॥

भाष्यसार—**पतिव्रता स्त्री**— जो अत्यन्त कल्याणकारक आनन्द को बढ़ाने वाला, स्नेह रूप रस (जल) है; पतिव्रता श्रेष्ठ स्त्रियाँ इस जगत् में होमादि जलों को शुद्ध करें और इनका सेवन करें। जैसा माताएँ अपने पुत्रों तथा पतिव्रता स्त्रियाँ जैसे पति जनों को सुख देती हैं वैसे सेवन किए हुए उक्त जल सब को सब प्राणियों को सुख देते हैं ॥ ३६ । १५ ॥ ●

सिन्धुद्वीपः। **आपः=पतिव्रता स्त्री**। गायत्री। षड्जः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

पतिव्रता स्त्री कैसी हो, इसका फिर उपदेश किया है ॥

तस्मा॒ ऽअरं॑ गमाम वो॒ यस्य॒ क्षया॑य॒ जिन्व॑थ। आपो॑ ज॒नय॑था च नः ॥ १६ ॥

पदार्थः—(**तस्मै**) (**अरम्**) अलम् (**गमाम**) प्राप्नुयाम (**वः**) युष्मान् (**यस्य**) (**क्षयाय**) निवासाय (**जिन्वथ**) प्रीणयथ (**आपः**) जलानीव (**जनयथ**) अत्र संहितायामिति दीर्घः। (**च**) (**नः**) अस्मान् ॥ १६ ॥

प्रमाणार्थ—(**जनयथ**) यहाँ संहिता में दीर्घ है—'जनयथा ॥

अन्वयः—हे स्त्रियो यथा यूयं नोऽस्मानाप इव शान्ताञ्जनयथ तथा वो युष्मान् शान्ता वयं जनयेम यूयं यस्य क्षयाय जिन्वथ तस्मै वयमरंगमाम ॥ १६ ॥

सपदार्थान्वयः—हे स्त्रियो ! **यथा यूयं नः**=अस्मानापः जलान् **इव शान्ताञ्जनयथ, तथा वः**=युष्मान् **शान्ता वयं जनयेम यूयं यस्य क्षयाय** निवासाय **जिन्वथ** प्रीणयथ, **तस्मै वयमरम्** अलं **गमाम** प्राप्नुयाम ।। ३६ । १६ ।।

भाषार्थ—हे स्त्रियो ! जैसे तुम—(नः) हमें (आपः) जलों के तुल्य शान्त (जनयथ) करते हो; वैसे (वः) तुम्हें शान्त हम करते हैं; तुम—(यस्य) जिस पति के (क्षयाय) निवास के लिए (जिन्वथ) कामना करती हो; (तस्मै) उसके लिए हम लोग (अरम्) अलंकार को (गमाम) प्राप्त करें ।। ३६ । १६ ।।

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । स्त्रीपुरुषैः परस्परस्याऽऽनन्दाय जलवत् सरलतया वर्त्तितव्यम्, शुभाचरणैः परस्परमलंकृतैरेव भवितव्यम् ।। ३६ । १६ ।।

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलङ्कार है। स्त्री-पुरुष पारस्परिक आनन्द के लिए जल के तुल्य सरलता से वर्ताव करें। शुभ आचरणों से परस्पर अलंकृत ही रहें ।।३६ । १६।।

भा० पदार्थः—आपः=जलवत् सरलतया व्यवहारः । अरम्=अलंकृतम् ।

भाष्यसार—**१. पतिव्रता स्त्री**—पतिव्रता स्त्रियाँ पति जनों को जल के तुल्य शान्त करें और पतिजन भी पतिव्रता स्त्रियों को जल के तुल्य शान्त करें। स्त्री-पुरुष पारस्परिक आनन्द के लिए जल के तुल्य सरल व्यवहार करें। पतिव्रता स्त्रियां पति जनों के निवास के लिए कामना करें और पति जन उस निवास के लिए अलङ्कारों को प्राप्त करें; निवास को अलंकृत करें। स्त्री-पुरुष शुभ आचरण से सदा अलंकृत रहें।

२. अलङ्कार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलङ्कार है। उपमा यह है कि पतिव्रता स्त्रियाँ जल के तुल्य शान्तिदायक हों ।। ३६ । १६ ।। ●

दध्यङ्ङाथर्वणः । **ईश्वरः**=**स्पष्टम्** । भुरिक्शक्वरी । धैवतः ।।

मनुष्यैः कथं प्रयतितव्यमित्याह ।।

मनुष्यों को कैसे प्रयत्न करना चाहिए, इस विषय का उपदेश किया जाता है ।।

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः ।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः शान्तिरेव
शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥ १७ ॥

पदार्थः—(**द्यौः**) प्रकाशयुक्तः पदार्थः (**शान्तिः**) शान्तिकरः (**अन्तरिक्षम्**) उभयोर्लोकयोर्मध्यस्थमाकाशम् (**शान्तिः**) (**पृथिवी**) भूमिः (**शान्तिः**) (**आपः**) जलानि प्राणा वा (**शान्तिः**) (**ओषधयः**) सोमाद्याः (**शान्तिः**) (**वनस्पतयः**) वटादयः (**शान्तिः**) (**विश्वे**) सर्वे (**देवाः**) विद्वांसः (**शान्तिः**) (**ब्रह्म**) परमेश्वरो वेदो वा (**शान्तिः**) (**सर्वम्**) अखिलं वस्तु (**शान्तिः**) (**शान्तिः**) (**एव**) (**शान्तिः**) (**सा**) (**मा**) माम् (**शान्तिः**) (**एधि**) भवतु ।। १७ ।।

अन्वयः—हे मनुष्या या द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिर्मैधि सा शान्तिर्युष्माकमपि प्राप्नोतु ।। १७ ।।

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! या **द्यौः** प्रकाशयुक्तः पदार्थः **शान्तिः** शान्तिकरः, **अन्तरिक्षम्** उभयोर्लोकयोर्मध्यस्थमाकाशं **शान्तिः** शान्तिकरम् **पृथिवी** भूमिः **शान्तिः** शान्तिकरा **आपः** जलानि प्राणा वा **शान्तिः** शान्तिकराः, **ओषधयः** सोमाद्याः **शान्तिः** शान्तिकराः, **वनस्पतयः** वटादयः **शान्तिः** शान्तिकराः, **विश्वे** सर्वे **देवाः** विद्वांसः **शान्तिः** शान्तिकराः, **ब्रह्म** परमेश्वरो वेदो वा **शान्तिः** शान्तिकरः, **सर्वम्** अखिलं वस्तु **शान्तिः** शान्तिकरम्, **शान्तिः** शान्तिकरः **एव शान्तिः** शान्तिकरः [**मा**] माम् **एधि** भवतु; **सा शान्तिर्युष्माकमपि प्राप्नोतु** ॥ ३६ । १७ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! (द्यौः) प्रकाशयुक्त पदार्थ (शान्तिः) शान्तिकर हो; (अन्तरिक्षम्) दोनों लोकों के मध्य में स्थित आकाश (शान्तिः) शान्तिकर हो; (पृथिवी) भूमि (शान्तिः) शान्तिकर हो; (आपः) जल वा प्राण (शान्तिः) शान्तिकर हो; (ओषधयः) सोम आदि ओषधियां (शान्तिः) शान्तिकर हो; (वनस्पतयः) वट आदि वनस्पतियां (शान्तिः) शान्तिकर हों; (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् (शान्तिः) शान्तिकर हों; (ब्रह्म) परमेश्वर वा वेद (शान्तिः) शान्तिकर हों; (सर्वम्) सब वस्तुएँ (शान्तिः) शान्तिकर हों; (शान्तिः) शान्तिकर वस्तु (एव) भी (शान्तिः) शान्तिकर [मा] मुझे (एधि) हो; वह शान्ति तुम्हें भी प्राप्त हो ॥ ३६ । १७ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यथा प्रकाशादयः पदार्थाः शान्तिकराः स्युस्तथा यूयं प्रयतध्वम् ॥१७॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे प्रकाश आदि पदार्थ शान्तिकर हों; वैसा तुम प्रयत्न करो ॥१७॥

भाष्यसार—**मनुष्य कैसा प्रयत्न करें**—मनुष्यों को उचित है कि वे ऐसा प्रयत्न करें जिससे—द्युलोक (प्रकाश), अन्तरिक्ष, पृथिवी, जल वा प्राण, सोमादि ओषधियां, वट आदि वनस्पतियाँ, सब विद्वान्, परमेश्वर वा वेद, सब वस्तुएँ शान्तिकारक हों ॥ ३६ । १७ ॥

अन्यत्र व्याख्यात—[क] (द्यौः शा०) हे सर्वशक्तिमन् भगवन् आप की भक्ति और कृपा से ही 'द्यौः' जो सूर्यादि लोकों का प्रकाश और विज्ञान है यह सब दिन हमको सुखदायक होय, तथा जो आकाश में पृथिवी जल ओषधि वनस्पति वट आदि वृक्ष, जो संसार के सब विद्वान् ब्रह्म, जो वेद ये सब पदार्थ और इनमें भिन्न भी जो जगत् है वे सब सुख देने वाले हमको सब काल में होंय, कि सब पदार्थ सब दिन हमारे अनुकूल रहें जिससे इस वेदभाष्य के काम को सुखपूर्वक हम लोग सिद्ध करें। हे भगवन् ! इस सब शान्ति से हमको विद्या, बुद्धि, विज्ञान, आरोग्य और सब उत्तम सहाय को कृपा से दीजिए तथा हम लोगों और सब जगत् को उत्तम गुण और सुख के दान से बढ़ाइए (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, ईश्वर प्रार्थना विषय) ॥

[ख] हे सर्वदुःख की शान्ति करने वाले ! सब लोकों से ऊपर जो आकाश सो सर्वदा हम लोगों के लिए शान्त (निरुपद्रव) सुखकारक ही रहे। अन्तरिक्ष=मध्यस्थ लोक और उसमें स्थित वायु आदि पदार्थ, पृथिवी, पृथिवीस्थ पदार्थ, जल जलस्थ पदार्थ, ओषधि, तत्रस्थ गुण; वनस्पति, तत्रस्थ पदार्थ; विश्वेदेव (जगत् के सब विद्वान्) तथा विश्वद्योतक वेदमन्त्र, इन्द्रिय, सूर्यादि, उनकी किरण, तत्रस्थ गुण; ब्रह्म=परमात्मा तथा वेदशास्त्र, स्थूल और सूक्ष्म, चराचर जगत् ये सब पदार्थ हमारे लिए हे सर्वशक्तिमन् परमात्मन् ! आप की कृपा से शान्त (निरुपद्रव) सदानुकूल सुखदायक हों। मुझ को भी शान्ति प्राप्त हो जिससे मैं भी आप की कृपा से शान्त=दुष्ट क्रोधादि उपद्रव रहित होऊँ, तथा सब संसारस्थ जीव भी दुष्ट क्रोधादि उपद्रव रहित हों (आर्याभिविनय २ । २५) ॥ ३६ । १७ ॥ ●

दध्यङ्ङाथर्वणः । **ईश्वरः**=स्पष्टम् । भुरिग् जगती । निषादः ॥

अथ के धर्मात्मान इत्याह ॥

अब कौन मनुष्य धर्मात्मा हैं, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

दृते दृꣳह मा मित्रस्य॑ मा चक्षु॑षा सर्वा॑णि भूतानि समी॑क्षन्ताम् ।
मित्रस्याहं चक्षु॑षा सर्वा॑णि भूतानि समी॑क्षे । मित्रस्य चक्षु॑षा समी॑क्षामहे ॥ १८ ॥

पदार्थः—(दृते) अविद्यान्धकारनिवारक जगदीश्वर विद्वन् वा (दृꣳह) दृढीकुरु (मा) माम् (मित्रस्य) सुहृदः (चक्षुषा) दृष्ट्या (सर्वाणि) (भूतानि) प्राणिनः (सम्) सम्यक् (ईक्षन्ताम्) प्रेक्षन्तां=पश्यन्तु (मित्रस्य) (अहम्) (चक्षुषा) (सर्वाणि) (भूतानि) (सम्) (ईक्षे) पश्येयम् (मित्रस्य) (चक्षुषा) (सम्) (ईक्षामहे) पश्येम ॥ १८ ॥

अन्वयः—हे दृते ! येन सर्वाणि भूतानि मित्रस्य चक्षुषा मा समीक्षन्तामहं मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे एवं वयं सर्वे परस्परान् मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे तत्रास्मान् दृंह ॥ १८ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे दृते !** अविद्यान्धकारनिवारक जगदीश्वर ! वा विद्वन् **येन सर्वाणि भूतानि** प्राणिनः **मित्रस्य** सुहृदः **चक्षुषा** दृष्ट्या **मा** मां **सम्+ईक्षन्तां** सम्यक् प्रेक्षन्तां=पश्यन्तु; **अहं मित्रस्य** सुहृदः **चक्षुषा** दृष्ट्या **सर्वाणि भूतानि समीक्षे** पश्येयम् । **एवं वयं सर्वे परस्परान् मित्रस्य** सुहृदः **चक्षुषा** दृष्ट्या **समीक्षामहे** पश्येम **तत्रास्मान् दृंह** दृढीकुरु ॥ ३६ । १८ ॥

भाषार्थ—हे (दृते) अविद्या अन्धकार के निवारक जगदीश्वर वा विद्वान् ! जिससे (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणी (मित्रस्य) मित्र की (चक्षुषा) दृष्टि से (मा) मुझे (सम्+ईक्षन्ताम्) अच्छे प्रकार देखें; (अहम्) मैं (मित्रस्य) मित्र की (चक्षुषा) दृष्टि से (सर्वाणि) सब (भूतानि) भूतों को (समीक्षे) देखूँ । इस प्रकार हम सब परस्पर (मित्रस्य) मित्र की (चक्षुषा) दृष्टि से (समीक्षामहे) देखें—उस अवस्था में हमें (दृꣳह) दृढ़ कर स्थिर कर ॥ १८ ॥

भावार्थः—त एव धर्मात्मानो मनुष्या ये स्वात्मवत् सर्वान् प्राणिनो मन्येरन् कञ्चिदपि न द्विषेयुः, मित्रवत् सर्वान् सदोपकुर्युरिति ॥३६।१८॥

भावार्थ—वे ही धर्मात्मा मनुष्य हैं; जो अपने आत्मा के तुल्य सब प्राणियों को मानते हैं, किसी से द्वेष नहीं करते, मित्र के तुल्य सब का सदा उपकार करते हैं ॥ ३६ । १८ ॥

भाष्यसार—**धर्मात्मा कौन हैं**—जिन्हें सब प्राणी मित्र की दृष्टि से देखते हैं और जो स्वयं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखते हैं, सब प्राणियों को अपने आत्मा के तुल्य मानते हैं; किसी से द्वेष नहीं करते, मित्र के तुल्य सबका सदा उपकार करते हैं; वे ही धर्मात्मा मनुष्य हैं ॥ ३६ । १८ ॥

अन्यत्र व्याख्यात—[क] (दृतेदृꣳह०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि सब मनुष्य लोग आपस में सब प्रकार के प्रेमभाव से सब दिन वर्त्तें और सब मनुष्यों को उचित है कि जो वेदों में ईश्वरोक्त धर्म है उसी को ग्रहण करें और वेदरीति से ही ईश्वर की उपासना करें कि जिससे मनुष्यों की धर्म में ही प्रवृत्ति हो (दृते०) हे सब दुःखों के नाश करने वाले परमेश्वर आप हम पर ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे हम लोग आपस में वैर को छोड़ के एक दूसरे के साथ प्रेमभाव से वर्त्तें (मित्रस्य मा०) और सब प्राणी मुझको अपना मित्र जान के बंधु के समान वर्त्तें ऐसी इच्छा से युक्त हम लोगों को (दृꣳह) सत्य, सुख और शुभ गुणों में सदा बढ़ाइये (मित्रस्याहं०) इसी प्रकार से मैं भी सब मनुष्यादि प्राणियों

को अपने मित्र जानूं और हानि लाभ सुख और दुःख में अपने आत्मा के सम तुल्य ही सब जीवों को मानूं (मित्रस्य च०) हम सब लोग आपस में मिलके सदा मित्रभाव रक्खें और सत्यधर्म के आचरण से सत्य सुखों को नित्य बढ़ावें जो ईश्वर का कहा धर्म है यही एक सब मनुष्यों को मानने के योग्य है। (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदोक्तधर्मविषय) ॥

[ख] हे अनन्तबल महावीर ईश्वर ! "दृते" हे दुष्टस्वभावनाशक ! विदीर्णकर्म अर्थात् विज्ञानादि शुभ गुणों का नाशकर्म करनेवाला मुझ को मत रक्खो (मत करो) किन्तु उससे मेरे आत्मादि को विद्या, सत्य धर्मादि शुभगुणों में सदैव अपनी कृपा=सामर्थ्य से स्थित करो।

"दृꣳह मा" हे परमैश्वर्यवन् भगवन् ! धर्मार्थकाममोक्षादि तथा विज्ञानादि दान से अत्यन्त मुझ को बढ़ा।

"मित्रस्येत्यादि०" हे सर्वसुहृदीश्वर सर्वान्तर्यामिन् ! सब भूत प्राणीमात्र मित्रदृष्टि से यथावत् मुझ को देखें सब मेरे मित्र हो जायँ, कोई मुझसे किञ्चिन्मात्र भी वैर न करे।

"मित्रस्याऽहं, चेत्यादि" हे परमात्मन् ! आप की कृपा से मैं भी निर्वैर हो के सब चराचर जगत् को मित्रदृष्टि से अपने प्राणवत् प्रिय जानूं, अर्थात् "मित्रस्य, चक्षुषेत्यादि" पक्षपात छोड़ के सब जीव देहधारीमात्र अत्यन्त प्रेम से परस्पर अपना वर्त्ताव करें।

अन्याय से युक्त होके किसी पर अभी हम लोग न वर्तें। यह परमधर्म का सब मनुष्यों के लिए परमात्मा ने उपदेश किया है, सब को यही मान्य होने के योग्य है (आर्याभिविनय २ । ३) ॥ ३६ । १८ ॥ ●

दध्यङ्ङाथर्वणः । **ईश्वरः=स्पष्टम्** । पादनिचृद्गायत्री । षड्जः ॥

पुनर्मनुष्याः किं कुर्युरित्याह ॥

फिर मनुष्य क्या करें, यह उपदेश किया है ॥

दृते दृꣳह मा । ज्योक्ते सुंदृशि जीव्यासुं ज्योक्ते सुंदृशि जीव्यासम् ॥ १९ ॥

पदार्थः—(दृते) सकलमोहाऽऽवरणविच्छेदकोपदेशक वा परमात्मन् ! (दृंह) **(मा)** माम् **(ज्योक्)** निरन्तरम् (ते) तव **(संदृशि)** सम्यग् दर्शने **(जीव्यासम्)** **(ज्योक्)** निरन्तरम् **(ते)** तव **(संदृशि)** समानदर्शने विषये **(जीव्यासम्)** ॥ १६ ॥

अन्वयः—हे दृते ! येनाऽहन्ते संदृशि ज्योक् जीव्यासं ते संदृशि ज्योग्जीव्यासं तत्र मा दृंह ॥ १६ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **दृते** ! सकलमोहाऽऽवरणविच्छेदकोपदेशक ! वा परमात्मन् ! **येनाहं ते** तव **संदृशि** सम्यग् दर्शने **ज्योक्** निरन्तरं **जीव्यासं, ते** तव **संदृशि** समानदर्शने विषये **ज्योक्** निरन्तरं **जीव्यासं, तत्र मा** मां **दृंह** ॥ ३६ । १६ ॥

भावार्थ—हे (दृते) सकल मोह के आवरण का विच्छेद करने वाले उपदेशक वा परमात्मन् ! जिससे मैं (ते) तेरे (संदृशि) संदर्शन में (ज्योक्) सदा (जीव्यासम्) जीऊँ, (ते) तेरे (संदृशि) समान दृष्टि वाले विषय में (ज्योक्) सदा (जीव्यासम्) जीऊं; वहाँ (मा) मुझे (दृꣳह) दृढ़ कर; स्थिर कर ॥ ३६ । १६ ॥

भावार्थः—मनुष्यैरीश्वराज्ञापालनेन युक्ताहारविहारैश्च शतं वर्षाणि जीवनीयम् ॥३६।१९॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर की आज्ञा का पालन और युक्त आहार-विहार से सौ वर्ष पर्यन्त जीवें ॥ ३६ । १९ ॥

भा० पदार्थः—संदृशि=ईश्वराज्ञापालने । संदृशि=युक्ताहारविहारे ॥

भाष्यसार—**मनुष्यों का कर्त्तव्य**—सब मनुष्य—मोहावरण के विच्छेदक उपदेशक वा परमात्मा से प्रार्थना करें कि जिससे आपके सम्यक् दर्शन में निरन्तर जीवित रहें । ईश्वर की आज्ञापालन और युक्त आहार-विहार से सौ वर्ष की आयु को प्राप्त करें ॥ ३६ । १९ ॥

लोपामुद्रा । **अग्निः**=**ईश्वरः** । भुरिग् बृहती । मध्यमः ॥

अथेश्वरोपासनाविषयमाह ॥

अब ईश्वर उपासना का उपदेश किया जाता है ॥

नम॑स्ते हर॑से शो॒चिषे॒ नम॑स्ते ऽ अस्त्व॒र्चिषे॑ ।
अ॒न्याँस्ते॑ ऽ अ॒स्मत्त॑पन्तु हे॒तय॑ः पाव॒को ऽ अ॒स्मभ्य॑ꣳ शि॒वो भ॑व ॥ २० ॥

पदार्थः—(**नमः**) (**ते**) तुभ्यम् (**हरसे**) हरति पापानि तस्मै (**शोचिषे**) प्रकाशाय (**नमः**) (**ते**) तुभ्यम् (**अस्तु**) (**अर्चिषे**) स्तुतिविषयाय (**अन्यान्**) (**ते**) (**अस्मत्**) (**तपन्तु**) (**हेतयः**) वज्र इव व्यवस्थाः (**पावकः**) पवित्रकर्त्ता (**अस्मभ्यम्**) (**शिवः**) कल्याणकारकः (**भव**) ॥ २० ॥

अन्वयः—हे भगवन् ! हरसे शोचिषे ते नमो अर्चिषे ते नमोऽस्तु हेतयस्तेऽस्मदन्यांस्तपन्तु त्वमस्मभ्यं पावकः शिवो भव ॥ २० ॥

सपदार्थान्वयः—**हे भगवन् ! हरसे** हरति पापानि तस्मै, **शोचिषे** प्रकाशाय **ते** तुभ्यं **नमः**; **अर्चिषे** स्तुतिविषयाय **ते** तुभ्यं **नमोऽस्तु**; **हेतयः** वज्र इव व्यवस्थाः **ते अस्मदन्यांस्तपन्तु**, **त्वमस्मभ्यं पावकः** पवित्रकर्त्ता **शिवः** कल्याणकारकः **भव** ॥ ३६ । २० ॥

भाषार्थ—हे भगवन् ! (हरसे) पापों को हरण करने वाले, (शोचिषे) प्रकाशमान (ते) तेरे लिए (नमः) नमस्कार हो; (अर्चिषे) स्तुति के योग्य (ते) तेरे लिए (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो; (हेतयः, ते) तेरी वज्र के तुल्य व्यवस्थाएँ (अस्मत्) हमसे (अन्यान्) भिन्न लोगों को (तपन्तु) पीडित करें; तू—(अस्मभ्यम्) हमारे लिए (पावकः) पवित्र करने वाला तथा (शिवः) कल्याणकारी (भव) हो ॥ ३६ । २० ॥

भावार्थः—हे परमेश्वर ! वयं भवच्छुभगुणकर्मस्वभावतुल्यानस्मद्गुणकर्मस्वभावान् कर्त्तुं ते नमस्कुर्मः, निश्चितमिदं जानीमोऽधार्मिकाँस्ते शासनाः पीडयन्ति, धार्मिकाँश्चानन्दयन्ति, तस्मान् मङ्गलस्वरूपं भवन्तमेव वयमुपास्महे ॥ ३६ । २० ॥

भावार्थ—हे परमेश्वर ! हम आपके शुभ गुण-कर्म-स्वभाव के तुल्य अपने गुण-कर्म-स्वभाव बनाने के लिए तुझे नमस्कार करते हैं; यह निश्चित जानते हैं कि अधार्मिकों को तेरी व्यवस्थाएँ पीडित करती हैं और धार्मिकों को आनन्द देती हैं; अतः मंगलस्वरूप आपकी ही हम उपासना करते हैं ॥ ३६ । २० ॥

भा० पदार्थः—नमः=भवच्छुभगुणकर्मस्वभावतुल्यानस्मद्गुणकर्मस्वभावान् कर्त्तुं नमस्कुर्मः । हेतयः=शासनाः । अन्यान्=अधार्मिकान् । तपन्तु=पीडयन्ति । शिवः=मङ्गलस्वरूपः ।

भाष्यसार—**ईश्वर की उपासना**—हे पापों को हरण करने वाले, प्रकाशस्वरूप, स्तुति करने योग्य भगवन् ! मैं तुझे आप के गुण-कर्म-स्वभाव के तुल्य अपने गुण-कर्म-स्वभाव को बनाने के लिए नमस्कार करता हूँ । मैं यह निश्चित रूप से जानता हूँ कि वज्र के तुल्य तेरी व्यवस्थाएं अधार्मिक जनों को पीडित करती हैं और धार्मिक जनों को आनन्द देती हैं । तू धार्मिक जनों को पवित्र करने वाला तथा उनका कल्याण करने वाला है । अतः हम आपकी ही उपासना करते हैं ॥ ३६ । २० ॥ ●

दध्यङ्ङाथर्वणः । **ईश्वरः**=स्पष्टम् । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

ईश्वर उपासना का फिर उपदेश किया है ॥

नम॑स्ते ऽ अस्तु वि॒द्युते॒ नम॑स्ते स्तनयि॒त्नवे॑ । नम॑स्ते भगवन्नस्तु॒ यतः॒ स्वः॒ स॒मीह॑से ॥ २१ ॥

पदार्थः—(**नमः**) (**ते**) तुभ्यं परमेश्वराय (**अस्तु**) (**विद्युते**) विद्युदिवाऽभिव्याप्ताय (**नमः**) (**ते**) (**स्तनयित्नवे**) स्तनयित्नुरिव दुष्टानां भयङ्कराय (**नमः**) (**ते**) (**भगवन्**) अत्यन्तैश्वर्य्यसम्पन्न (**अस्तु**) (**यतः**) (**स्वः**) सुखदानाय (**समीहसे**) सम्यक् चेष्टसे ॥ २१ ॥

अन्वयः—हे भगवन् ! यतस्त्वमस्मभ्यं स्वः समीहसे तस्माद्विद्युते ते नमोऽस्तु स्तनयित्नवे ते नमोऽस्तु सर्वाभिरक्षकाय ते नमश्च सततं कुर्य्याम ॥ २१ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **भगवन्** अत्यन्तैश्वर्यसम्पन्न ! **यतस्त्वमस्मभ्यं स्वः** सुखदानाय **सम्+ईहसे** सम्यक् चेष्टसे, **तस्माद्विद्युते** विद्युदिवाऽभिव्याप्ताय **ते** तुभ्यं परमेश्वराय **नमोऽस्तु; स्तनयित्नवे** स्तनयित्नुरिव दुष्टानां भयङ्कराय **ते नमोऽस्तु; सर्वाभिरक्षकाय ते नमश्च सततं कुर्य्याम** ॥ ३६ । २१ ॥

भाषार्थ—हे (भगवन्) अत्यन्त ऐश्वर्य से सम्पन्न भगवन् ! क्योंकि तू हमें (स्वः) सुख देने के लिए (सम्+ईहसे) सम्यक् चेष्टा करता है; अतः (विद्युते) विद्युत् के तुल्य व्यापक (ते) तुझ परमेश्वर को (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो; (स्तनयित्नवे) कड़कने वाली विद्युत् के तुल्य दुष्टों के लिए भयंकर (ते) तुझे (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो; सबके रक्षक तुम को नमस्कार सदा करें ॥ ३६ । २१ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । हे मनुष्याः ! यस्मादीश्वरोऽस्मभ्यं सदाऽऽनन्दाय सर्वाणि साधनोपसाधनानि प्रयच्छति, तस्मादयमस्माभिः सेव्योऽस्ति ॥ ३६ । २१ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । हे मनुष्यो ! क्योंकि ईश्वर हमें सदा आनन्द के लिए सब साधन-उपसाधन प्रदान करता है; अतः हमारा सेव्य (उपास्य) है ॥ ३६ । २१ ॥

भा० पदार्थः—स्वः=सदाऽऽनन्दाय । समीहसे=सर्वाणि साधनोपसाधनानि प्रयच्छसि ॥

भाष्यसार—**१. ईश्वर की उपासना**—अत्यन्त ऐश्वर्य से सम्पन्न भगवान् हमें सुख प्रदान करने के लिए सम्यक् चेष्टा करता है, हमें आनन्द के लिए सब साधन-उपसाधन प्रदान करता है । वह विद्युत् के तुल्य सर्वत्र व्यापक है । वह कड़कने वाली विद्युत् के तुल्य दुष्टों के लिए भयंकर है । सब का रक्षक है । अतः सदा परमेश्वर ही हमारा सेव्य (उपास्य) है ।

२. अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि ईश्वर विद्युत् के तुल्य सर्वत्र व्यापक है। वह विद्युत् के तुल्य दुष्टों के लिए भयंकर है ॥ ३६ । २१ ॥

दध्यङ्ङाथर्वणः । **ईश्वरः=स्पष्टम्** । भुरिगुष्णिक् । ऋषभः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

ईश्वर-उपासना का फिर उपदेश किया है ॥

यतो॑ यतः स॒मीह॑से॒ ततो॑ नो॒ऽअभ॑यं कुरु । शं नः॑ कुरु प्र॒जाभ्योऽभ॑यं नः प॒शुभ्यः॑ ॥ २२ ॥

पदार्थः—(**यतो यतः**) यस्माद्यस्मात्स्थानात् (**समीहसे**) सम्यक् चेष्टसे (**ततः**) तस्मात्तस्मात् (**नः**) अस्मान् (**अभयम्**) निर्भयम् (**कुरु**) (**शम्**) सुखम् (**नः**) अस्माकम् (**कुरु**) (**प्रजाभ्यः**) (**अभयम्**) (**नः**) अस्माकम् (**पशुभ्यः**) गवादिभ्यः ॥ २२ ॥

अन्वयः—हे भगवन्नीश्वर ! त्वं कृपाकटाक्षेण यतो यतः समीहसे ततो नोऽभयं कुरु । नः प्रजाभ्यो नः पशुभ्यश्च शमभयं च कुरु ॥ २२ ॥

सपदार्थान्वयः—हे भगवन्नीश्वर ! **त्वं कृपाकटाक्षेण यतो यतः** यस्माद्यस्मात् स्थानात् **समीहसे** सम्यक् चेष्टसे; **ततः** तस्मात्तस्मात् **नः** अस्मान् **अभयं** निर्भयं **कुरु नः** अस्माकं । **प्रजाभ्यः नः** अस्माकं **पशुभ्यः** गवादिभ्यः **च शं** सुखम् **अभयं** निर्भयं **च कुरु** ॥ ३६ । २२ ॥

भाषार्थ—हे भगवन्, ईश्वर ! तू—कृपा-कटाक्ष से (यतो यतः) जिस-जिस स्थान से (समीहसे) सम्यक् चेष्टा करता है; (ततः) उस-उस स्थान से (नः) हमें (अभयम्) निर्भय (कुरु) कर। (नः) हमारी (प्रजाभ्यः) प्रजा और (नः) हमारे (पशुभ्यः) गौ आदि पशुओं के लिए (शम्) सुख और (अभयम्) निर्भयता (कुरु) उत्पन्न कर ॥२२॥

भावार्थः—हे परमेश्वर ! भवान् यतः सर्वाभिव्याप्तोऽस्ति तस्मादस्मानन्यांश्च सर्वेषु कालेषु, सर्वेषु देशेषु, सर्वेभ्यः प्राणिभ्यो निर्भयान् करोतु ॥ ३६ । २२ ॥

भावार्थ—हे परमेश्वर ! आप—क्योंकि सब में व्यापक हो; अतः हमें तथा अन्यों को भी सब काल तथा सब देशों में सब प्राणियों से निर्भय करो ॥ ३६ । २२ ॥

भा० पदार्थः—समीहसे=सर्वाभिव्याप्तोऽसि । पशुभ्यः=सर्वेभ्यः प्राणिभ्यः ॥

भाष्यसार—**ईश्वर की उपासना**—ईश्वर कृपा-कटाक्ष से जिस-जिस स्थान से सम्यक् चेष्टा करता है; उस-उस देश से हमें निर्भय करता है, हमारी प्रजा और गौ आदि पशुओं को सुख देता है तथा उन्हें निर्भय करता है। अतः वही हमारा उपास्य है ॥ ३६ । २२ ॥

अन्यत्र व्याख्यात—हे महेश्वर, दयालो ! जिस-जिस देश से आप "समीहसे" सम्यक् चेष्टा करते उस-उस देश से हमको अभय करो, अर्थात् जहाँ-जहाँ से हमको भय प्राप्त होने लगे वहाँ-वहाँ से सर्वथा हम लोगों को अभय (भयरहित) करो, तथा प्रजा से हम को सुखी करो। हमारी प्रजा सब दिन सुखी रहे, भय देने वाली कभी न हो, तथा पशुओं से भी हमको अभय करो। किं च—किसी से किसी प्रकार का भय हम लोगों को आप की कृपा से कभी न हो। जिससे हम लोग निर्भय होके सदैव परमानन्द को भोगें और निरन्तर आप का राज्य तथा आपकी भक्ति करें।

(आर्याभिविनय २ । ७) ॥ ३६ । २२ ॥

दध्यङ्ङाथर्वण: । **स्रोम्रः=स्पष्टम्** । विराडनुष्टुप् । गान्धारः ॥

कथं पदार्था हितकारिणो भवन्तीत्याह ॥

कैसे पदार्थ हितकारी होते हैं, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

सुमित्रिया न ऽ आप ऽ ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु ।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥ २३ ॥

पदार्थः—(**सुमित्रियाः**) शोभनं मित्रमिव वर्त्तमानाः (**नः**) अस्मभ्यम् (**आपः**) प्राणा जलानि वा (**ओषधयः**) यवाद्याः (**सन्तु**) (**दुर्मित्रियाः**) शत्रुरिव विरुद्धाः (**तस्मै**) (**सन्तु**) (**यः**) अधर्मी (**अस्मान्**) धार्मिकान् (**द्वेष्टि**) अप्रीतयति (**यम्**) (**च**) (**वयम्**) (**द्विष्मः**) ॥ २३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या या इमा आप ओषधयो नः सुमित्रियाः सन्तु ता योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तस्मै दुर्मित्रियाः सन्तु ॥ २३ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **मनुष्याः** ! **या इमा आपः** प्राणा जलानि वा **ओषधयः** यवाद्याः **नः** अस्मभ्यं **सुमित्रियाः** शोभनं मित्रमिव वर्त्तमानाः **सन्तु**; **ता यः** अधर्मी **अस्मान्** धार्मिकान् **द्वेष्टि** अप्रीतयति; **यं च वयं द्विष्मस्तस्मै दुर्मित्रियाः** शत्रुरिव विरुद्धाः **सन्तु** ॥ ३६ । २३ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जो ये (आपः) प्राण वा जल, तथा (ओषधयः) यव=जौ आदि ओषधियाँ (नः) हमारे लिए (सुमित्रियाः) श्रेष्ठ मित्र के तुल्य हितकारी (सन्तु) हों; और वे—(यः) जो अधर्मी (अस्मान्) हम धार्मिक जनों से (द्वेष्टि) द्वेष=अप्रीति करता है; (यं, च) और जिस अधार्मिक से (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रीति करते हैं; (तस्मै) उस अधार्मिक के लिए (दुर्मित्रियाः) शत्रु के तुल्य विरुद्ध (सन्तु) हों ॥ ३६ । २३ ॥

भावार्थः—यथा जितान्यनुकूलानीन्द्रियाणि मित्रवद्धितकारीणि भवन्ति, तथा जलादयोऽपि पदार्था देशकालानुकूल्येन यथोचितं सेविता हितकराः, विरुद्धं सेविताश्च शत्रुवद् दुःखदा भवन्ति ॥३६।२३॥

भावार्थ—जैसे जीती हुई अनुकूल इन्द्रियाँ मित्र के तुल्य हितकारो होती हैं; वैसे जलादि भी पदार्थ देश, काल की अनुकूलता से यथोचित सेवन किए हुए हितकारी होते हैं; विरुद्ध सेवन किए हुए शत्रु के तुल्य दुःखदायक होते हैं ॥ ३६ । २३ ॥

भा० पदार्थः—सुमित्रियाः=मित्रवद्धितकारिण्यः । दुर्मित्रियाः=शत्रुवद् दुखदाः ॥

भाष्यसार—**पदार्थ हितकारी कैसे हों**—प्राण वा जल, यव (जौ) आदि ओषधियाँ, हमारे लिए मित्र के तुल्य हितकारी हों । और जो अधार्मिक हम धार्मिक जनों से द्वेष करता है और जिस अधार्मिक से हम धार्मिक जन द्वेष करते हैं उसके लिए उक्त पदार्थ शत्रु के तुल्य विरुद्ध (अहितकारी) हों ।

जैसे जीती हुई अनुकूल इन्द्रियाँ मित्र के तुल्य हितकारी होती हैं वैसे ही जल आदि पदार्थ भी देशकाल की अनुकूलता से यथोचित सेवन से हितकारी होते हैं और विरुद्ध सेवन से शत्रु के तुल्य दुःखदायक होते हैं ॥ ३६ । २३ ॥

अन्यत्र व्याख्यात—हे सर्वमित्रसम्पादक ! आप की कृपा से प्राण और जल तथा विद्या और औषधी "सुमित्रिया" (सुखदायक) हम लोगों के लिए सदा हों, कभी प्रतिकूल न हों । और

जो हम से द्वेष=अप्रीति शत्रुता करता है तथा जिस दुष्ट से हम द्वेष करते हैं, हे न्यायकारिन् ! उसके लिए "दुर्मित्रिया" पूर्वोक्त प्राणादि प्रतिकूल दुःखकारक ही हो अर्थात् जो अधर्म करे उसको आप के रचे जगत् के पदार्थ दुःखदायक ही हों, जिससे वह अधर्म न करे और हमको दुःख न दे सके। हम लोग सदा सुखी ही रहें। (आर्याभिविनय २ । २९) ॥ ३६ । २३ ॥

दध्यङ्ङाथर्वणः । **सूर्यः**=परमेश्वरः । भुरिग् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

अथेश्वरप्रार्थनाविषयमाह ॥

अब ईश्वर प्रार्थना का उपदेश किया है ॥

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ २४ ॥

पदार्थः—(**तत्**) चेतनं ब्रह्म (**चक्षुः**) चक्षुरिव सर्वदर्शकम् (**देवहितम्**) देवेभ्यो=विद्वद्भ्यो हितकारि (**पुरस्तात्**) पूर्वकालात् (**शुक्रम्**) शुद्धम् (**उत्**) (**चरत्**) चरति सर्वं जानाति (**पश्येम**) (**शरदः**) (**शतम्**) (**जीवेम**) प्राणान् धारयेम (**शरदः**) (**शतम्**) (**शृणुयाम**) शास्त्राणि मङ्गलवचनानि चेति शेषः (**शरदः**) (**शतम्**) (**प्र, ब्रवाम**) अध्यापयेमोपदिशेम वा (**शरदः**) (**शतम्**) (**अदीनाः**) दीनतारहिताः (**स्याम**) भवेम (**शरदः**) (**शतम्**) (**भूयः**) अधिकम् (**च**) पुनः (**शरदः**) (**शतात्**) ॥ २४ ॥

अन्वयः—हे परमात्मन् ! भवान् यद्देवहितं शुक्रं चक्षुरिव वर्त्तमानं ब्रह्म पुरस्तादुच्चरत्तत्त्वां शतं शरदः पश्येम शतं शरदो जीवेम शतं शरदः शृणुयाम शतं शरदः प्रब्रवाम शतं शरदोऽदीनाः स्याम शताच्छरदो भूयश्च पश्येम जीवेम शृणुयाम प्रब्रवामोऽदीनाः स्याम च ॥ २४ ॥

सपदार्थान्वयः— **हे परमात्मन् ! भवान् यद्देवहितं** देवेभ्यो=विद्वद्भ्यो हितकारि **शुक्रं** शुद्धं **चक्षुः** चक्षुरिव सर्वदर्शकं **वर्त्तमानं ब्रह्म पुरस्तात्** पूर्वकालात् **उच्चरत्** चरति सर्वं जानाति, **तत्** चेतनं ब्रह्म **त्वां शतं शरदः पश्येम, शतं शरदो जीवेम** प्राणान् धारयेम, **शतं शरदः शृणुयाम** शास्त्राणि मङ्गलवचनानि चेति शेषः, **शतं शरदः प्रब्रवाम** अध्यापयेमोपदिशेम वा, **शतं शरदोऽदीनाः** दीनतारहिताः **स्याम** भवेम, **शताच्छरदो भूयः** अधिकं **च पश्येम, जीवेम, शृणुयाम, प्रब्रवामाऽदीनाः स्याम च** ॥ ३६ । २४ ॥

भावार्थ— हे परमात्मन् ! आप—जो (देवहितम्) विद्वानों के लिए हितकारी, (शुक्रम्) शुद्ध, (चक्षुः) नेत्र के तुल्य सब के द्रष्टा ब्रह्म हो तथा (पुरस्तात्) पूर्व काल से (उच्चरत्) सब कुछ जानते हो; (तत्) उस चेतन ब्रह्म आप को हम (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतु पर्यन्त (पश्येम) देखें; (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतु पर्यन्त (जीवेम) प्राणों को धारण करें; (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतु पर्यन्त (शृणुयाम) शास्त्रों और मंगलवचनों को सुनें; (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतु पर्यन्त (प्रब्रवाम) वेदादि पढ़ावें वा सत्य का उपदेश करें, (शतम्) सौ (शरदः) शरदृतु पर्यन्त (अदीनाः) दीनता से रहित (स्याम) होवें; (शतात्) सौ (शरदः) शरद् ऋतुओं से (भूयः) अधिक (च) भी जीवें, सुनें, उपदेश करें और अदीन रहें ॥ ३६ । २४ ॥

भावार्थः— हे परमेश्वर ! भवत्कृपया भवद्विज्ञानेन भवत्सृष्टिं पश्यन्त उपयुञ्जाना अरोगाः समाहिताः सन्तो वयं सकलेन्द्रियैर्युक्ताः शताद् वर्षेभ्योऽप्यधिकं जीवेम; सत्यशास्त्राणि भवद्गुणांश्च शृणुयाम, वेदादीनध्यापयेम सत्यमुपदिशेम, कदाचित् केनापि वस्तुना विना पराधीना न भवेम, सदैवात्मवशाः सन्तः सततमानन्देमाऽन्यांश्चानन्दयेमेति ॥ ३६ । २४ ॥

भावार्थ—हे परमेश्वर ! आपकी कृपा से आप के विज्ञान से आपकी सृष्टि को देखते हुए, उसका उपयोग करते हुए नीरोग एवं समाहित होकर हम लोग सकल इन्द्रियों से युक्त होकर सौ वर्ष से भी अधिक जीवें, सत्यशास्त्रों और आप के गुणों को सुनें, वेदादि शास्त्रों को पढ़ावें, सत्य का उपदेश करें, कभी किसी वस्तु के विना पराधीन न हों; सदा आत्मवश होकर निरन्तर आनन्दित रहें तथा अन्यों को भी आनन्दित करें। 'इति' पद अध्याय-समाप्ति का द्योतक है ॥ ३६ । २४ ॥

भा० पदार्थः—शृणुयाम=सत्यशास्त्राणि भवद्गुणांश्च शृणुयाम। प्रब्रवाम=वेदादीनध्यापयेम सत्यमुपदिशेम। अदीनाः=अपराधीनाः आत्मवशाः ॥

भाष्यसार—**ईश्वर-प्रार्थना**—हे परमात्मन् ! जो विद्वानों के लिए हितकारी, शुद्ध, चक्षु के तुल्य सर्वदर्शक ब्रह्म है; वह पूर्व काल से सब कुछ जानता है। उस चेतन ब्रह्म को हम सौ वर्ष तक देखें; हम सौ वर्ष तक जीवें, हम सौ वर्ष तक शास्त्रों और मंगल वचनों को सुनें, हम सौ वर्ष तक वेदादि शास्त्रों को पढ़ावें तथा सत्य का उपदेश करें। सौ वर्ष पर्यन्त दीनता से रहित रहें। हम सौ वर्ष से अधिक भी देखें, जीवें, सुनें, उपदेश करें तथा अदीन (स्वतन्त्र) रहें। किसी वस्तु के विना पराधीन न हों। सदा आत्मवश होकर आनन्दित रहें तथा अन्यों को भी आनन्दित करें ॥ ३६ । २४ ॥

अन्यत्र व्याख्यात—[क] (तच्चक्षुर्देवहितम्) जो ब्रह्म सब का द्रष्टा, धार्मिक विद्वानों का परम हितकारक तथा (पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्) सृष्टि के पूर्व, पश्चात् और मध्य में सत्यस्वरूप से वर्त्तमान रहता और सब जगत् का करने वाला है। (पश्येम शरदः शतम्) उसी ब्रह्मा को हम लोग सौ वर्ष पर्य्यन्त देखें। (जीवेम शरदः शतम्) जीवें (शृणुयाम शरदः शतम्) सुनें (प्रब्रवाम शरदः०) उसी ब्रह्मा का उपदेश करें (अदीनाः स्याम०) और उसकी कृपा से किसी के आधीन न रहें (भूयश्च शरदः शतात्) उसी परमेश्वर की आज्ञापालन और कृपा से सौ वर्षों के उपरान्त भी लोग देखें, जीवें, सुनें, सुनावें और स्वतन्त्र रहें।

अर्थात् आरोग्य शरीर, दृढ़ इन्द्रिय, शुद्ध मन और आनन्द सहित हमारा आत्मा सदा रहे। यही एक परमेश्वर सब मनुष्यों का उपास्यदेव है। 'जो मनुष्य इसको छोड़ के दूसरे की उपासना करता है वह पशु के समान होके सब दिन दुःख भोगता रहता है (पंचमहायज्ञविधि, सन्ध्योपासन) ॥

[ख] वह ब्रह्म, "चक्षुः" सर्वदृक् चेतन है, तथा देव अर्थात् विद्वानों के लिए वामन आदि इन्द्रियों के लिए हितकारक मोक्षादि सुख का दाता है। "पुरस्तात्" सब का आदि प्रथम कारण वही है। "शुक्रम्" सब का करने वाला किं वा शुद्धस्वरूप है। "उच्चरत्" प्रलय के ऊर्ध्व वही रहता है।

उसी की कृपा से हम लोग शत (१००) वर्ष तक देखें, जीवें, सुनें, कहें, कभी पराधीन न हों, अर्थात् ब्रह्मज्ञान, बुद्धि और पराक्रम सहित इन्द्रिय तथा शरीर सब स्वस्थ रहें। ऐसी कृपा आप करें कि कोई अङ्ग मेरा निर्बल (क्षीण) और रोगयुक्त न हो, तथा शत (१००) वर्ष से अधिक भी आप कृपा करें कि शत (१००) वर्ष के उपरान्त भी हम देखें, जीवें, सुनें, कहें, और स्वाधीन ही रहें (आर्याभिविनय २ । ३७) ॥ ३६ । २४ ॥

[पूर्वापराध्यायार्थसंगतिमाह—]

अत्र परमेश्वरप्रार्थनं सद्गुणप्रापणं, सर्वेषां सुखभानं, परस्परमित्रत्वावश्यकरणं, दिनचर्याशोधनं, धर्मलक्षणमायुर्वर्धनं परमेश्वरविज्ञानं चोक्तमत एतदर्थस्य पूर्वाध्यायोक्तार्थेन सह सङ्गतिरस्तीति वेद्यम् ॥ ३६ ॥

यहां परमेश्वर की प्रार्थना (२), सद्गुणों की प्राप्ति (३), सबके सुख का भान (८), परस्पर मित्रता अवश्य करना (६), दिनचर्या की शुद्धि (११), धर्म का लक्षण (१८), आयु की वृद्धि और परमेश्वर-विज्ञान (२४) का उपदेश किया है; अतः इस अध्याय के अर्थ की पूर्व अध्याय में प्रतिपादित अर्थ के साथ संगति है; ऐसा समझें ॥ ३६ ॥

इति श्रीयुतपण्डितसुदर्शनदेवाचार्यविरचिते दयानन्द-यजुर्वेदभाष्य-भास्करे षट्त्रिंशोऽध्यायः सम्पूर्णः ॥

॥ ओ३म् ॥

* अथ सप्तत्रिंशाऽध्यायारम्भः *

ओ३म् विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑ सुव । यद्भ॒द्रं तन्न॒ऽआसु॑व ॥ १ ॥

य० ३० । ३ ॥

दध्यङ्ङाथर्वणः । **सविता**=ईश्वरः । निचृदुष्णिक् । ऋषभः ॥

अथ मनुष्यैः किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

अब सैंतीसवें अध्याय का आरम्भ किया जाता है, इस के पहले मन्त्र में मनुष्यों को क्या करना चाहिए, यह उपदेश किया है ॥

दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम् । आ द॑दे॒ नारि॑रसि ॥ १ ॥

पदार्थः—(**देवस्य**) सकलसुखप्रदातुः (**त्वा**) त्वाम् (**सवितुः**) जगदुत्पादकस्य (**प्रसवे**) उत्पन्ने जगति (**अश्विनोः**) अध्यापकोपदेशकयोः (**बाहुभ्याम्**) बलवीर्य्याभ्याम् (**पूष्णः**) पोषकस्य (**हस्ताभ्याम्**) कराभ्याम् (**आ**) (**ददे**) समन्ताद् गृह्णामि (**नारिः**) नायकः (**असि**) ॥ १ ॥

अन्वयः—हे विद्वन् ! यतस्त्वं नारिरसि तस्मात् सवितुर्देवस्य प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वाऽऽददे ॥ १ ॥

सपदार्थान्वयः—हे विद्वन ! **यतस्त्वं नारिः** नायकः **असि, तस्मात् सवितुः** जगदुत्पादकस्य **देवस्य** सकलसुखप्रदातुः **प्रसवे** उत्पन्ने जगति **अश्विनोः** अध्यापकोपदेशकयोः **बाहुभ्यां** बलवीर्य्याभ्यां **पूष्णः** पोषकस्य **हस्ताभ्यां** कराभ्यां **त्वा** त्वाम् **आ+ददे** समन्ताद् गृह्णामि ॥ ३७ । १ ॥

भाषार्थ—हे विद्वान् ! क्योंकि तू—(नारिः) नायक है, अतः (सवितुः) जगत् के उत्पादक (देवस्य) सकल सुख प्रदान करने वाले ईश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न किए जगत् में (अश्विनोः) अध्यापक और उपदेशक के (बाहुभ्याम्) बल और वीर्य से, (पूष्णः) पोषक पुरुष के (हस्ताभ्याम्) हाथों से (त्वा) तुझे (आ+ददे) सब ओर से ग्रहण करता हूँ ॥ ३७ । १ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यूयं विद्वद्वरान् प्राप्य संसेव्यैतेभ्यो विद्याशिक्षे गृहीत्वाऽत्र सृष्टौ नायका भवत ॥ ३७ । १ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! तुम—विद्वद्वरों को प्राप्त करके तथा उनकी सेवा करके, विद्या और सुशिक्षा को ग्रहण कर इस सृष्टि में नायक बनो ॥ ३७ । १ ॥

भा० पदार्थः—अश्विनोः=विद्वद्वरयोः । प्रसवे=अत्र सृष्टौ ॥

भाष्यसार—**मनुष्य क्या करें**—जगत् के उत्पादक, सकल सुखों के दाता परमेश्वर की इस सृष्टि में सब मनुष्य अध्यापक और उपदेशक के बल और वीर्य से, एक पोषक पुरुष के हाथों से विद्वान् नेता को प्राप्त करें। उसकी सेवा करें। उस से विद्या और शिक्षा ग्रहण करके स्वयं नायक बनें ॥ ३७ । १ ॥

श्यावाश्वः । **सविता**=ईश्वरः । जगती । निषादः ॥

अथ योगाभ्यासविषयमाह ॥

अब योगाभ्यास का उपदेश किया जाता है ॥

युञ्जते मनं ऽ उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
वि होत्रां दधे वयुनाविदेक ऽ इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥ २ ॥

पदार्थः—(**युञ्जते**) समादधति (**मनः**) संकल्पविकल्पात्मकम् (**उत**) अपि (**युञ्जते**) (**धियः**) प्रज्ञाः कर्माणि वा (**विप्राः**) विविधमेधाव्यापिनो मेधाविनः (**विप्रस्य**) विशेषेण सर्वत्र व्याप्तस्य (**बृहतः**) सर्वेभ्यो महतः (**विपश्चितः**) अनन्तविद्यस्य (**वि**) (**होत्राः**) ये जुह्वत्याददति ते (**दधे**) दधाति (**वयुनावित्**) यो वयुनानि=प्रज्ञानानि वेत्ति सः (**एकः**) अद्वितीयः (**इत्**) एव (**मही**) महती (**देवस्य**) सकलजगत्प्रकाशकस्य (**सवितुः**) सर्वान्तर्यामिणः (**परिष्टुतिः**) परितः=सर्वतः स्तुतिः=प्रशंसा ॥ २ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या य एको वयुनाविज्जगदीश्वरो सर्वं विदधे यस्य सवितुर्देवस्येयं मही परिष्टुतिरस्ति होत्रा विप्रा योगिनो यस्य बृहतो विपश्चितो विप्रस्य मध्ये मनो युञ्जत उत धियो युञ्जते तमिदेवं यूयमुपाध्वम् ॥ २ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे मनुष्याः ! य एकः** अद्वितीयः **वयुनावित्=जगदीश्वरः** यो वयुनानि=प्रज्ञानानि वेत्ति सः **सर्वं वि+दधे** दधाति; **यस्य सवितुः** सर्वान्तर्यामिणः **देवस्य** सकलजगत्प्रकाशकस्य **इयं मही** महती **परिष्टुतिः** परितः=सर्वतः स्तुतिः=प्रशंसा **अस्ति; होत्राः** ये जुह्वत्याददति ते **विप्राः=योगिनो** विविधमेधाव्यापिनो मेधाविनः **यस्य बृहतः** सर्वेभ्यो महतः **विपश्चितः** अनन्तविद्यस्य **विप्रस्य** विशेषेण सर्वत्र व्याप्तस्य **मध्ये मनः** संकल्प-विकल्पात्मकं **युञ्जते** समादधति, **उत** अपि **धियः** प्रज्ञाः कर्माणि वा **युञ्जते तमित्=एव यूयमुपाध्वम्** ॥ ३७ । २ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जो (एकः) अद्वितीय (वयुनावित्) वयुन=प्रज्ञानों को जानने वाला जगदीश्वर सबको (वि+दधे) विशेष रूप से धारण कर रहा है; जिस (सवितुः) सर्वान्तर्यामी (देवस्य) सकल जगत् के प्रकाशक ईश्वर की यह (मही) विशाल पृथिवी (परिष्टुतिः) स्तुति=प्रशंसा है; (होत्राः) ईश्वर को ग्रहण करने वाले, (विप्राः) विविध मेधाओं में व्यापक मेधावी लोग जिस (बृहतः) सबसे महान् (विपश्चितः) अनन्त विद्या से युक्त (विप्रस्य) विशेष रूप से सर्वत्र व्यापक ईश्वर के मध्य में (मनः) संकल्प-विकल्प आत्मक मन को (युञ्जते) समाहित करते हैं; (उत) और

(धियः) प्रज्ञा वा कर्मों को (युञ्जते) लगाते हैं; उसकी (इत्) ही तुम उपासना करो ॥ ३७ । २ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यो योगिभिर्ध्येयो, यस्य प्रशंसादृष्टान्ताः सूर्यादयो वर्त्तन्ते, यः सर्वज्ञोऽसहायः सच्चिदानन्दस्वरूपोऽस्ति, तस्मै सर्वे धन्यवादा दातुमर्हा वर्त्तन्ते, तमेवेष्टदेवं यूयं मन्यध्वम् ॥ ३७ । २ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जो योगी जनों का ध्येय है, जिसके प्रशंसा के दृष्टान्त सूर्यादि हैं; जो सर्वज्ञ, असहाय सच्चिदानन्द स्वरूप है, उसके लिए सब धन्यवाद देने योग्य हैं; उसे ही इष्ट देव तुम मानो ॥ ३७ । २ ॥

भा० पदार्थः—वयुनावित्=सर्वज्ञः । एकः=असहायः सच्चिदानन्दस्वरूपः ।

भाष्यसार—**योगाभ्यास का उपदेश**—एक अर्थात् अद्वितीय जगदीश्वर सब प्रज्ञानों को जानने वाला, (सर्वज्ञ) तथा सबको धारण करता है । उस सर्वान्तिर्यामी, सकल जगत् के प्रकाशक ईश्वर की यह पृथिवी मानो सब ओर से स्तुति (प्रशंसा) कर रही है । उसे ग्रहण करने वाले, मेधावी योगी लोग—सब से महान्, अनन्त विद्या से युक्त, सर्वत्र व्याप्त परमेश्वर में अपने मन को समाहित करते हैं; और अपनी प्रज्ञा और कर्मों को उसमें युक्त करते हैं । अतः सब मनुष्य परमेश्वर को ही अपना इष्टदेव मानें ॥ ३७ । २ ॥

दध्यङ्ङाथर्वणः । **द्यावापृथिव्यौ=अध्यापिकोपदेशिके** । ब्राह्मी गायत्री । षड्जः स्वरः ।

अथ यज्ञविषयमाह ॥

अब यज्ञ विषय का उपदेश किया जाता है ॥

देवीं द्यावापृथिवी मखस्य वामद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः ।
मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे ॥ ३ ॥

पदार्थः—(**देवी**) दिव्यगुणसम्पन्ने (**द्यावापृथिवी**) प्रकाशभूमिवद्वर्त्तमाने (**मखस्य**) यज्ञस्य (**वाम्**) युवयोः (**अद्य**) इदानीम् (**शिरः**) उत्तमाङ्गम् (**राध्यासम्**) संसाधयेयम् (**देवयजने**) देवा=विद्वांसो यजन्ति यस्मिंस्तस्मिन् (**पृथिव्याः**) भूमेर्मध्ये (**मखाय**) यज्ञाय (**त्वा**) त्वाम् (**मखस्य**) यज्ञस्य (**त्वा**) (**शीर्ष्णे**) उत्तमाङ्गाय ॥ ३ ॥

अन्वयः—देवी द्यावापृथिव्यध्यापिकोपदेशिके स्त्रियावद्य पृथिव्या देवयजने वां मखस्य शिरो राध्यासम् । मखस्य शीर्ष्णे त्वा मखाय त्वा राध्यासम् ॥ ३ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **देवी** दिव्यगुणसम्पन्ने **द्यावापृथिवी=अध्यापिकोपदेशिके स्त्रियौ** ! प्रकाशभूमिवद्वर्त्तमाने, **अद्य** इदानीं **पृथिव्याः** भूमेर्मध्ये **देवयजने** देवा=विद्वांसो यजन्ति यस्मिंस्तस्मिन्, **वां** युवयोः **मखस्य** यज्ञस्य **शिरः** उत्तमाङ्गं **राध्यासं** संसाधयेयम् ।

मखस्य यज्ञस्य **शीर्ष्णे** उत्तमाङ्गाय **त्वा** त्वां,

भाषार्थ—हे (देवी) दिव्य गुणों से सम्पन्न, (द्यावापृथिवी) प्रकाश और भूमि के तुल्य अध्यापिका और उपदेशिका स्त्रियो ! (अद्य) आज (पृथिव्याः) भूमि के मध्य में विद्यमान (देवयजने) विद्वानों के यज्ञ-मन्दिर में (वाम्) तुम्हारे (मखस्य) यज्ञ के (शिरः) उत्तमाङ्ग को (राध्यासम्) सिद्ध करता हूँ ।

(मखस्य) यज्ञ के (शीर्ष्णे) उत्तमाङ्ग के लिए

मखाय यज्ञाय त्वा त्वां **राध्यासं** संसाधयेयम् ॥ ३ ॥

(त्वा) तुझ अध्यापिका को, (मखाय) यज्ञ के लिए (त्वा) तुझ उपदेशिका को (राध्यासम्) सिद्ध करता हूँ ॥ ३७ । ३ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥ हे मनुष्याः ! अत्र जगतो यथा सूर्यभूमी उत्तमाङ्गवद् वर्त्तेते तथैव भवन्तः सर्वोत्तमा वर्त्तन्ताम्, येन सर्वसङ्गत्यधिष्ठानो यज्ञः पूर्णः स्यात् ॥ ३७ । ३ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलङ्कार है । हे मनुष्यो ! इस जगत् के जैसे सूर्य और भूमि उत्तमाङ्ग=शिर के तुल्य हैं; वैसे ही आप लोग सर्वोत्तम बनो, जिससे सब की संगति का अधिष्ठान यज्ञ पूर्ण हो ॥ ३७ । ३ ॥

भा० पदार्थः—द्यावापृथिवी=सूर्यभूमी । शिरः=उत्तमाङ्गवत् / सर्वोत्तमः । मखाय=सर्वसङ्गत्यधिष्ठानाय यज्ञाय ॥

भाष्यसार—१. यज्ञ विषयक उपदेश—अध्यापिका और उपदेशिका स्त्रियाँ दिव्य गुणों से सम्पन्न हों । वे सूर्य और भूमि के तुल्य वर्ताव करने वाली हों । जैसे सूर्य और भूमि उत्तमाङ्ग (शिर) के तुल्य हैं वैसे ये सर्वोत्तम हों । पृथिवी के मध्य में विद्यमान यज्ञ-मन्दिर में बैठकर सब मनुष्य उक्त अध्यापिका और उपदेशिका के यज्ञ की उत्तमता को सिद्ध करें जिससे उक्त यज्ञ पूर्ण हो ।

२. अलङ्कार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । उपमा यह है कि सूर्य और भूमि के तुल्य सर्वोत्तम बनें ॥ ३७ । ३ ॥

दध्यङ्ङाथर्वणः । **यज्ञः=उत्तमशिक्षा** । निचृत्पङ्क्तिः । पञ्चमः ॥

अथ विदुष्यः स्त्रियः कीदृश्यः स्युरित्याह ॥

अब विदुषी स्त्रियाँ कैसी होवें, यह उपदेश किया जाता है ॥

दे॒व्यो॑ व॒म्र्यो भू॒तस्य॑ प्रथम॒जा म॒खस्य॑ वो॒ऽद्य शिरो॑ राध्यासं देव॒यज॑ने पृथि॒व्याः । म॒खाय॑ त्वा म॒खस्य॑ त्वा शी॒र्ष्णे ॥ ४ ॥

पदार्थः—(**देव्यः**) देदीप्यमानाः (**वम्र्यः**) अल्पवयस्यः (**भूतस्य**) उत्पन्नस्य (**प्रथमजाः**) प्रथमाज्जाताः (**मखस्य**) यज्ञस्य (**वः**) युष्मान् (**अद्य**) (**शिरः**) शिरोवत् (**राध्यासम्**) (**देवयजने**) विदुषां सङ्गतिकरणे (**पृथिव्याः**) (**मखाय**) यज्ञाय (**त्वा**) त्वाम् (**मखस्य**) यज्ञस्य निर्मापिकाम् (**त्वा**) त्वाम् (**शीर्ष्णे**) शिरोवद्वर्त्तमानाय ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे प्रथमजा वम्र्यो देव्यो विदुष्यो ! भूतस्य मखस्य पृथिव्या देवयजनेऽद्य वः शिरोवदहमाध्यासं मखस्य त्वा मखाय शीर्ष्णे त्वां राध्यासम् ॥ ४ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **प्रथमजाः** प्रथमाज्जाताः **वम्र्यः** अल्पवयस्यः **देव्यः**=**विदुष्यो** देदीप्यमानाः ! **भूतस्य** उत्पन्नस्य **मखस्य** यज्ञस्य **पृथिव्या देवयजने** विदुषां सङ्गतिकरणे **अद्य वः** युष्मान् [**शिरः**]=**शिरोवदहं राध्यासम्** ।

भाषार्थ—हे (प्रथमजाः) प्रथम से उत्पन्न (वम्र्यः) अल्प आयु वाली (देव्यः) विद्या से देदीप्यमान विदुषियो ! (भूतस्य) उत्पन्न हुए (मखस्य) यज्ञ की (पृथिव्याः) पृथिवी के मध्य में तथा (देवयजने) विद्वानों की संगति करने में (अद्य) आज (वः) तुम्हें [शिरः] शिर के तुल्य मैं (राध्यासम्) सिद्ध करता हूँ।

मखस्य यज्ञस्य निर्मापिकां **त्वा** त्वां **मखाय** यज्ञाय **शीर्ष्णे** शिरोवद्वर्तमानाय **त्वा** त्वां **राध्यासम्** ।। ३७ । ४ ।।

(मखस्य) यज्ञ का निर्माण करने वाली (त्वा) तुझ विदुषी को, (मखाय) यज्ञ के लिए (शीर्ष्णे) शिर के तुल्य वर्तमान (त्वा) तुझको मैं (राध्यासम्) सिद्ध करता हूँ ।। ३७ । ४ ।।

भावार्थः--हे मनुष्याः ! यावत् स्त्रियो विदुष्यो न भवन्ति, तावदुत्तमा शिक्षा न वर्द्धते ।। ३७ । ४ ।।

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जब तक स्त्रियाँ विदुषी नहीं होती हैं; तब तक उत्तम शिक्षाएँ नहीं बढ़तीं ।। ३७ । ४ ।।

भा० पदार्थः—देव्यः=स्त्रियो विदुष्यः । मखाय=उत्तमशिक्षायै ।।

भाष्यसार—**विदुषी स्त्रियाँ कैसी हों**—प्रथम से उत्पन्न, थोड़ी आयु वाली, विद्या से देदीप्यमान विदुषी स्त्रियों को सब मनुष्य यज्ञ की भूमि (स्थान) पर तथा विद्वानों की संगति में शिर के तुल्य समझें। यज्ञ का निर्माण करने वाली विदुषी स्त्रियों को यज्ञ के लिए शिर के तुल्य उत्तम समझें। उनका सम्मान करें। क्योंकि जब तक स्त्रियाँ विदुषी नहीं होतीं तब तक उत्तम शिक्षाएँ भी नहीं बढ़ती हैं ।। ३७ । ४ ।। ●

दध्यङ्ङाथर्वणः । **यज्ञः=सुशिक्षा विद्या च** । स्वराड् ब्राह्मी गायत्री । षड्जः ।।

अथाध्यापकविषयमाह ।।

अब अध्यापक विषय का उपदेश किया जाता है ।।

इयत्यग्रऽ आसीन्मखस्य तेऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः ।
मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे ।। ५ ।।

पदार्थः—(**इयति**) एतावति (**अग्रे**) (**आसीत्**) अस्ति (**मखस्य**) यज्ञस्य (**ते**) तव (**अद्य**) (**शिरः**) उत्तमगुणम् (**राध्यासम्**) (**देवयजने**) विदुषां पूजने (**पृथिव्याः**) भूमेः (**मखाय**) सत्काराख्याय (**त्वा**) त्वाम् (**मखस्य**) सङ्गतिकरणस्य (**त्वा**) (**शीर्ष्णे**) उत्तमत्वाय ।। ५ ।।

अन्वयः—हे विद्वन्नहमग्रे मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा राध्यासं यस्य ते मखस्य शिर आसीत् तं त्वामद्य पृथिव्या इयति देवयजने राध्यासम् ।। ५ ।।

सपदार्थान्वयः—**हे विद्वन् ! अहमग्रे मखाय** सत्काराख्याय **त्वा** त्वां **मखस्य** यज्ञस्य **शीर्ष्णे** उत्तमत्त्वाय **त्वा** त्वां **राध्यासम्** ।

भाषार्थ—हे विद्वान् ! मैं—(अग्रे) प्रथम (मखाय) सत्कार नामक यज्ञ के लिए (त्वा) तुझ को तथा (मखस्य) यज्ञ की (शीर्ष्णे) उत्तमता के लिए (त्वा) तुझको (राध्यासम्) सिद्ध करता हूँ।

यस्य ते तव **मखस्य** सङ्गतिकरणस्य **शिरः** उत्तमगुणम् **आसीत्** अस्ति; **तं [त्वा]=त्वामद्य पृथिव्याः** भूमेः **इयति** एतावति **देवयजने** विदुषां पूजने **राध्यासम्** ।। ३७ । ५ ।।

जो (ते) तेरा (मखस्य) संगति करने का (शिरः) उत्तम गुण (आसीत्) है; सो [त्वा] तुझे आज (पृथिव्याः) पृथिवी के (इयति) इतने (देवयजने) देव-पूजन में (राध्यासम्) सिद्ध करता हूँ ।। ३७ । ५ ।।

भावार्थः—त एवाध्यापकाः श्रेष्ठाः सन्ति ये पृथिव्या मध्ये सर्वान् सुशिक्षाविद्यायुक्तान् कर्त्तुं शक्नुवन्ति ॥ ३७ । ५ ॥

भावार्थ—वे ही अध्यापक श्रेष्ठ हैं; जो पृथिवी के मध्य में सब को सुशिक्षा और विद्या से युक्त कर सकते हैं ॥ ३७ । ५ ॥

भा० पदार्थः—इयति=मध्ये ॥

भाष्यसार—**अध्यापक विषयक उपदेश**—सब मनुष्य सत्कार नामक यज्ञ के लिए तथा यज्ञ की उत्तमता के लिए विद्वान् अध्यापक को प्राप्त करें क्योंकि उसकी संगति करने से उत्तम गुणों की प्राप्ति होती है। अतः पृथिवी के निर्धारित विद्वानों के पूजन में उक्त विद्वान् अध्यापक को प्राप्त करें अर्थात् उसका सम्मान करें। श्रेष्ठ विद्वान् अध्यापक लोग पृथिवी के मध्य में विद्यमान सब मनुष्यों को उत्तम शिक्षा तथा विद्या से युक्त करें ॥ ३७ । ५ ॥

दध्यङ्ङाथर्वणः । **यज्ञः=धर्म्यं कर्म** । भुरिगतिजगती । निषादः ॥

पुनर्मनुष्याः किं कुर्युरित्याह ॥

फिर मनुष्य क्या करें, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

इन्द्रस्यौजः स्थ मुखस्य वोऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः ।
मुखाय त्वा मुखस्य त्वा शीर्ष्णे । मुखाय त्वा मुखस्य त्वा शीर्ष्णे ।
मुखाय त्वा मुखस्य त्वा शीर्ष्णे ॥ ६ ॥

पदार्थः—(**इन्द्रस्य**) परमैश्वर्ययुक्तस्य (**ओजः**) पराक्रमम् (**स्थ**) भवत (**मखस्य**) यज्ञस्य (**वः**) युष्मान् (**अद्य**) (**शिरः**) (**राध्यासम्**) (**देवयजने**) (**पृथिव्याः**) भूमेः (**मखाय**) धार्मिकाणां सत्कार-निमित्ताय (**त्वा**) त्वां सत्कारम् (**मखस्य**) प्रियाचरणाख्यस्य व्यवहारस्य (**त्वा**) त्वाम् (**शीर्ष्णे**) शिरः सम्बन्धिने वचसे (**मखाय**) शिल्पयज्ञविधानाय (**त्वा**) त्वाम् (**मखस्य**) (**त्वा**) (**शीर्ष्णे**) उत्तमगुणप्रचार-काय (**मखाय**) विज्ञानोद्भावनाय (**त्वा**) (**मखस्य**) विद्याबुद्धिकरस्य व्यवहारस्य (**त्वा**) (**शीर्ष्णे**) ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथाहमिन्द्रस्यौजो राध्यासं तथाऽद्य पृथिव्या देवयजने शिरोवद् वो राध्यासम् शीर्ष्णे मखाय त्वा मखस्य त्वा राध्यासं शीर्ष्णे मखाय त्वा मखस्य त्वा राध्यासं शीर्ष्णे मखाय त्वा मखस्य त्वा राध्यासं तथा यूयमोजस्विनः स्थ ॥ ६ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! **यथाहमिन्द्रस्य** परमैश्वर्ययुक्तस्य **ओजः** पराक्रमं **राध्यासं, तथाऽद्य पृथिव्याः** भूमेः **देवयजने [शिरः]=शिरोवद् वः** युष्मान् **राध्यासम् शीर्ष्णे** शिरः सम्बन्धिने वचसे **मखाय** धार्मिकाणां सत्कार-निमित्ताय **त्वा** त्वां सत्कारं **मखस्य** प्रियाचरणाख्य-स्य व्यवहारस्य **त्वा** त्वां **राध्यासम्; शीर्ष्णे** उत्तम-गुणप्रचारकाय **मखाय** शिल्पयज्ञविधानाय **त्वा** त्वां **मखस्य** प्रियाचरणाख्यस्य व्यवहारस्य **त्वा** त्वां **राध्यासम्; शीर्ष्णे मखाय** विज्ञानोद्भावनाय **त्वा**

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे मैं—(इन्द्रस्य) परम ऐश्वर्य से युक्त धार्मिक पुरुष के (ओजः) पराक्रम को (राध्यासम्) सिद्ध करता हूँ; वैसे अद्य (आज) (देवयजने) देवों के पूजन में [शिरः] शिर के तुल्य (वः) तुम्हें (राध्यासम्) सिद्ध करूँ; (शीर्ष्णे) शिरः सम्बन्धी वचन के लिए तथा (मखाय) धार्मिक जनों के सत्कार के लिए (त्वा) तुझे; (मखस्य) प्रियाचरण रूप व्यवहार के निमित्त (त्वा) तुझे (राध्यासम्) सिद्ध करूँ; (शीर्ष्णे) उत्तम गुणों का प्रचारक बनने के लिए तथा

त्वां **मखस्य** विद्याबुद्धिकरस्य व्यवहारस्य **त्वा** त्वां **राध्यासम्; तथा यूयमोजस्विनः स्थ** भवत ॥३७।६॥

(मखाय) शिल्प-यज्ञ के विधान के लिए (त्वा) तुझे; और (मखस्य) प्रियाचरण रूप व्यवहार के निमित्त (त्वा) तुझे (राध्यासम्) सिद्ध करूँ; (शीर्ष्णे) उत्तम (मखाय) विज्ञान को उत्पन्न करने के लिए (त्वा) तुझे; (मखस्य) विद्या और बुद्धि को उत्पन्न करने वाले व्यवहार के निमित्त (त्वा) तुझे (राध्यासम्) सिद्ध करूँ;—वैसे तुम ओजस्वी (स्थ) बनो ॥ ३७ । ६ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । ये मनुष्या धर्म्याणि कर्माणि कुर्वन्ति, ते सर्वेषु शिरोवद् भवन्ति ॥ ३७ । ६ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । जो मनुष्य धर्म-युक्त कर्म करते हैं; वे सब मनुष्यों में शिर के तुल्य उत्तम होते हैं ॥ ३७ । ६ ॥

भाष्यसार—१. मनुष्य क्या करें—विद्वान् मनुष्य परम ऐश्वर्य से युक्त धार्मिक पुरुष के पराक्रम को तथा पृथिवी के विद्वानों के पूजन में शिर के तुल्य धार्मिक जनों को प्राप्त करें । उत्तम वचन, धार्मिक जनों का सत्कार, प्रियाचरण रूप व्यवहार, उत्तम गुणों का प्रचार, शिल्प-यज्ञ का विधान, उत्तम विज्ञान की उत्पत्ति, विद्या और बुद्धि को बढ़ाने वाले व्यवहार के निमित्त धार्मिक जनों को प्राप्त करे । और वे धार्मिक जन धर्मयुक्त कर्मों का आचरण करके सब मनुष्यों में शिर के तुल्य उत्तम बनें ।

२. अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । उपमा यह है कि धार्मिक जन सब मनुष्यों में शिर के तुल्य उत्तम हों ॥ ३७ । ६ ॥

कण्वः । **ईश्वरः**=स्पष्टम् । निचृदष्टिः । मध्यमः ॥

स्त्रीपुरुषाः कीदृशाः स्युरित्याह ॥

स्त्री पुरुष कैसे हों, यह उपदेश किया है ॥

प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता । अच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः । मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे । मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे । मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे ॥ ७ ॥

पदार्थः—**(प्र) (एतु)** प्राप्नोतु **(ब्रह्मणः)** धनस्य **(पतिः)** पालकः **(प्र) (देवी)** विदुषी **(एतु) (सूनृता)** सत्यभाषणादि-सुशीलतायुक्ता **(अच्छ)** । अत्र निपातस्य चेति दीर्घः । **(वीरम्)** सर्वदुःखप्रक्षेप्तारम् **(नर्यम्)** नृषु साधुम् **(पङ्क्तिराधसम्)** यः पङ्क्तीः=समुदायान् राध्नोति तम् **(देवाः)** विद्वांसः **(यज्ञम्)** सुखसङ्गमकम् **(नयन्तु)** प्रापयन्तु **(नः)** अस्मान् **(मखाय)** विद्यावृद्धये **(त्वा)** त्वाम् **(मखस्य)** सुखरक्षणस्य **(त्वा) (शीर्ष्णे)** शिरोवद्वर्त्तमानाय **(मखाय)** धर्माचरणनिमित्ताय **(त्वा) (मखस्य)** धर्मरक्षणस्य **(त्वा) (शीर्ष्णे) (मखाय)** सर्वसुखकराय **(त्वा) (मखस्य)** सुखवर्द्धकस्य **(त्वा) (शीर्ष्णे)** उत्तमसुखप्रदाय ॥ ७ ॥

प्रमाणार्थ—(अच्छ) यहाँ 'निपातस्य च' (अ० ६ । ३ । १३६) इस सूत्र से संहिता में दीर्घ है—'अच्छा' ॥

अन्वयः—हे विद्वन् ! यं वीरं नर्य्यं पङ्क्तिराधसं यज्ञं देवा नोऽस्मान्नयन्तु ब्रह्मणस्पतिः प्रैतु सूनृता देव्यच्छ प्रैतु तं मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा वयमाश्रयेम ॥ ७ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे विद्वन् ! यं वीरं** सर्वदुःखप्रक्षेप्तारं, **नर्य्यं** नृषु साधुं, **पङ्क्तिराधसं** यः पङ्क्तीः=समुदायान् राध्नोति तं, **यज्ञं** सुखसङ्गमकं **देवाः** विद्वांसः **नः अस्मान् नयन्तु** प्रापयन्तु; **ब्रह्मणस्पतिः** धनस्य पालकः **प्रैतु** प्राप्नोतु, **सूनृता** सत्यभाषणादिसुशीलतायुक्ता **देवी** विदुषी **अच्छ प्रैतु** प्राप्नोतु; **तं मखाय** विद्यावृद्धये **त्वा** त्वां; **मखस्य** सुखरक्षणस्य **शीर्ष्णे** शिरोवद्वर्त्तमानाय; **त्वा** त्वां; **मखाय** धर्माचरणनिमित्ताय **त्वा** त्वां; **मखस्य** धर्मरक्षणस्य **शीर्ष्णे त्वा** त्वां; **मखाय** सर्वसुखकारकाय, **त्वा** त्वां, **मखस्य** सुखवर्द्धकस्य **शीर्ष्णे** उत्तमसुखप्रदाय **त्वा** त्वां **वयमाश्रयेम** ॥ ३७ । ७ ॥

भाषार्थ—हे विद्वान् ! जिस (वीरम्) सब दुःखों को दूर करने वाले, (नर्य्यम्) नरों में श्रेष्ठ, (पङ्क्तिराधसम्) पंक्ति=समुदाय को सिद्ध करने वाले, (यज्ञम्) सुख प्राप्त कराने वाले यज्ञ को (देवाः) विद्वान् लोग (नः) हमें (नयन्तु) प्राप्त करावें; (ब्रह्मणस्पतिः) धनपति पुरुष उक्त यज्ञ को (प्रैतु) प्राप्त करे; (सूनृता) सत्यभाषण आदि सुशीलता से युक्त (देवी) विदुषी (अच्छ) अच्छे प्रकार से उक्त यज्ञ को (प्रैतु) प्राप्त करे; सो (मखाय) विद्या की वृद्धि के लिए (त्वा) तुझे; (मखस्य) सुख की रक्षा के (शीर्ष्णे) शिर के तुल्य होने के लिए (त्वा) तुझे; (मखस्य) धर्म-रक्षा के (शीर्ष्णे) शिर के तुल्य होने के लिए (त्वा) तुझे; (मखाय) सब के सुखकारक होने के लिए (त्वा) तुझे, (मखस्य) सुख-वर्द्धक पुरुष को (शीर्ष्णे) उत्तम सुख प्रदान करने के लिए (त्वा) तुझे हम आश्रित करते हैं; तेरा आश्रय लेते हैं ॥ ३७ । ७ ॥

भावार्थः—ये मनुष्या याः स्त्रियश्च स्वयं विद्यादिगुणान् प्राप्यान्यान् प्रापय्य, विद्यासुखधर्मवृद्धयेऽधिकान् सुशिक्षितान् विदुषः कुर्वन्ति, ते ताश्च सततमानन्दन्ति । ३७ । ७ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य और जो स्त्रियाँ स्वयं विद्या आदि गुणों को प्राप्त करके अन्यों को प्राप्त करा के विद्या, सुख और धर्म की वृद्धि के लिए अधिक जनों को सुशिक्षित विद्वान् बनाती हैं; वे पुरुष और स्त्रियाँ सदा आनन्द करती हैं ॥३७।७॥

भा० पदार्थः—अच्छ=विद्यादिगुणान् । मखाय=विद्यावृद्धये । मखाय=सुखवृद्धये । मखाय=धर्मवृद्धये ॥

भाष्यसार—स्त्री, पुरुष कैसे हों—विद्वान् लोग—सब दुःखों को दूर करने वाले, नरों में श्रेष्ठ, पंक्ति=समुदायों को सिद्ध करने वाले, सुख को प्राप्त कराने वाले पुरुष को प्राप्त करावें तथा धन का पालक पुरुष भी उक्त जन को प्राप्त करे । सत्यभाषण आदि सुशीलता से युक्त विदुषी स्त्री भी उक्त जन को अच्छे प्रकार प्राप्त करे । सब स्त्री पुरुष—विद्या की वृद्धि, सुख की रक्षा, धर्माचरण, धर्म की रक्षा, सब सुखों की उत्पत्ति, सुखों की वृद्धि तथा उत्तम सुख प्रदान करने के लिए विद्वान् का आश्रय करें, विद्वान् का संग करें ।

स्त्री और पुरुष स्वयं विद्यादि शुभ गुणों को प्राप्त करें तथा अन्यों को प्राप्त करावें । विद्या, सुख और धर्म की वृद्धि के लिए अधिक सुशिक्षित विद्वानों को उत्पन्न करें तथा सदा आनन्द में रहें ॥ ३७ । ७ ॥ ●

दध्यङ्ङाथर्वणः । **यज्ञः**=सत्क्रिया । स्वराडतिधृतिः । मध्यमः ॥

मनुष्या विदुषा सह कथं वर्त्तेरन्नित्याह ॥

मनुष्य विद्वान् के साथ कैसे वर्त्तें, यह उपदेश किया है ॥

मखस्य शिरोऽसि मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे ।
मखस्य शिरोऽसि मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे ।
मखस्य शिरोऽसि मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे ।
मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे । मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे ।
मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे ॥ ८ ॥

पदार्थः—(**मखस्य**) ब्रह्मचर्याख्यस्य (**शिरः**) मूर्द्धेव (**असि**) (**मखाय**) विद्याग्रहणानुष्ठानाय (**त्वा**) (**मखस्य**) ज्ञानस्य (**त्वा**) (**शीर्ष्णे**) उत्तमव्यवहाराय (**मखस्य**) मननाख्यस्य (**शिरः**) उत्तमाङ्गवत् (**असि**) (**मखाय**) गार्हस्थ्यव्यवहाराय (**त्वा**) (**मखस्य**) (**त्वा**) (**शीर्ष्णे**) (**मखस्य**) गृहस्य (**शिरः**) शिरोवत् (**असि**) (**मखाय**) गृहस्थकार्यसङ्गतिकरणाय (**त्वा**) (**मखस्य**) (**त्वा**) (**शीर्ष्णे**) (**मखाय**) (**त्वा**) (**मखस्य**) सद्व्यवहारसिद्धेः (**त्वा**) (**शीर्ष्णे**) शिरोवद्वर्त्तमानाय (**मखाय**) योगाभ्यासाय (**त्वा**) (**मखस्य**) साङ्गोपाङ्गस्य योगस्य (**त्वा**) (**शीर्ष्णे**) शिरोवत्सर्वोपरिवर्त्तमानाय (**मखाय**) ऐश्वर्य्यप्रदाय (**त्वा**) त्वाम् (**मखस्य**) ऐश्वर्य्यप्रदस्य (**त्वा**) (**शीर्ष्णे**) सर्वोत्कर्षाय ॥ ८ ॥

अन्वयः—हे विद्वन् ! यतस्त्वं मखस्य शिरोऽसि तस्मान्मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा । यतस्त्वं मखस्य शिरोऽसि तस्मान्मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा । यतस्त्वं मखस्य शिरोऽसि तस्मान्मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा । तस्मान्मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा वयं सेवेमहि ॥ ८ ॥

सपदार्थान्वयः—हे विद्वन् ! **यतस्त्वं मखस्य** ब्रह्मचर्याख्यस्य **शिरः** मूर्द्धेव **असि, तस्मान् मखाय** विद्याग्रहणानुष्ठानाय **त्वा मखस्य** ज्ञानस्य **शीर्ष्णे** उत्तमव्यवहाराय **त्वा** त्वाम् ।

यतस्त्वं मखस्य मननाख्यस्य **शिरः** उत्तमाङ्गवद् **असि, तस्मान्मखाय** गार्हस्थ्यव्यवहाराय **त्वा** त्वां **मखस्य** ज्ञानस्य **शीर्ष्णे** उत्तमव्यवहाराय **त्वा** त्वाम् ।

यतस्त्वं मखस्य गृहस्य **शिरः** शिरोवद् **असि, तस्मान्मखाय** गृहस्थकार्यसङ्गतिकरणाय **त्वा** त्वां, **मखस्य** ज्ञानस्य **शीर्ष्णे** उत्तमव्यवहाराय **त्वा** त्वाम् ।

भाषार्थ—हे विद्वान् ! क्योंकि तू—(मखस्य) ब्रह्मचर्य नामक यज्ञ का (शिरः) शिर के तुल्य (असि) है; अतः (मखाय) विद्याग्रहण रूप अनुष्ठान के लिए (त्वा) तुझे; तथा (मखस्य) ज्ञान के (शीर्ष्णे) उत्तम व्यवहार के लिए (त्वा) तुझे हम सेवन करते हैं ।

क्योंकि तू— (मखस्य) मनन नामक यज्ञ के (शिरः) उत्तमाङ्ग=शिर के तुल्य (असि) है; अतः (मखाय) गृहस्थ-व्यवहार के लिए (त्वा) तुझे; तथा (मखस्य) ज्ञान के (शीर्ष्णे) उत्तम व्यवहार के लिए (त्वा) तुझे हम सेवन करते हैं;

क्योंकि तू—(मखस्य) घर के (शिरः) शिर के तुल्य (असि) है; अतः (मखाय) गृहस्थ-कार्यों की संगति के लिए (त्वा) तुझे; (मखस्य) ज्ञान के (शीर्ष्णे) उत्तम व्यवहार के लिए (त्वा) तुझे हम

सेवन करते हैं।

तस्मान्मखाय त्वा मखस्य सद्व्यवहारसिद्धेः **शीर्ष्णे** शिरोवद् वर्त्तमानाय **त्वा** त्वां, **मखाय** योगाभ्यासाय **त्वा** त्वां, **मखस्य** साङ्गोपाङ्गस्य योगस्य **शीर्ष्णे** शिरोवत्सर्वोपरिवर्त्तमानाय **त्वा** त्वां, **मखाय** ऐश्वर्यप्रदाय **त्वा** त्वां **मखस्य** ऐश्वर्यप्रदस्य **शीर्ष्णे** सर्वोत्कर्षाय **त्वा** त्वां **वयं सेवेमहि** ॥३७।८॥

अतः—(मखाय) श्रेष्ठ व्यवहार के लिए (त्वा) तुझे, तथा (मखस्य) श्रेष्ठ व्यवहार की सिद्धि के (शीर्ष्णे) शिर के तुल्य होने के लिए (त्वा) तुझे; (मखाय) योगाभ्यास के लिए (त्वा) तुझे; (मखस्य) साङ्गोपाङ्ग योग के (शीर्ष्णे) शिर के तुल्य सर्वोपरि होने के लिए (त्वा) तुझे, (मखाय) ऐश्वर्य प्रदाता होने के लिए (त्वा) तुझे, (मखस्य) ऐश्वर्य प्रदाता के (शीर्ष्णे) सब उत्कर्ष=उन्नति के लिए (त्वा) तुझे हम सेवन करते हैं; तेरी हम सेवा करते हैं ॥ ३७ । ८ ॥

भावार्थः—ये सत्क्रियायामुत्तमाः सन्ति तेऽन्यानपि सत्कारिणो निर्माय मस्तकवदुत्तमाङ्गा भवेयुः ॥ ३७ । ८ ॥

भावार्थ—जो श्रेष्ठ कर्मों में उत्तम हैं वे अन्यों को भी श्रेष्ठ कर्म करने वाले बनाकर मस्तक के तुल्य उत्तम अंगों वाले होते हैं ॥ ३७ । ८ ॥

भाष्यसार—मनुष्य विद्वान् के साथ कैसे वर्त्ताव करें—विद्वान् ब्रह्मचर्य नामक यज्ञ का शिर होता है। अतः विद्या का ग्रहण, ज्ञान सम्बन्धी उत्तम व्यवहार के लिए मनुष्य विद्वान् की सेवा करें। विद्वान् मनन नामक यज्ञ का शिर होता है। अतः गृहस्थ-व्यवहार तथा ज्ञान सम्बन्धी उत्तम व्यवहार के लिए मनुष्य विद्वान् की सेवा करें। विद्वान् गृह-कार्यों का शिर होता है। अतः गृहस्थ के कार्यों की संगति के लिए तथा ज्ञान सम्बन्धी उत्तम व्यवहार के लिए मनुष्य विद्वान् की सेवा करें। विद्वान् सद्व्यवहारों की सिद्धि का शिर होता है अतः योगाभ्यास, सांगोपांग योग, शिर के तुल्य सर्वोपरि वर्त्तमान, ऐश्वर्य-प्रदान, ऐश्वर्यदाता को सर्वोत्कर्ष के लिए मनुष्य विद्वान् की सेवा करें ॥ ३७ । ८ ॥

दध्यङ्ङाथर्वणः । **विद्वान्**=स्पष्टम् । पूर्वस्योत्तरस्य च अतिशक्वरी । पञ्चमः ॥

के मनुष्याः सुखिनो भवन्तीत्याह ॥

कौन मनुष्य सुखी होते हैं, यह उपदेश किया है ॥

अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामि देवयजने पृथिव्याः । मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे ।
अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामि देवयजने पृथिव्याः । मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे ।
अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामि देवयजने पृथिव्याः । मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे ।
मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे । मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे ।
मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे ॥ ९ ॥

पदार्थः—(**अश्वस्य**) वह्न्यादेः (**त्वा**) त्वाम् (**वृष्णः**) बलवतः (**शक्ना**) शकृता=दुर्गन्धादिनिवारणसामर्थ्येन धूमादिना (**धूपयामि**) सन्तापयामि (**देवयजने**) विद्वद्यजनाधिकरणे (**पृथिव्याः**) अन्तरिक्षस्य (**मखाय**) वायुशुद्धिकरणाय (**त्वा**) (**मखस्य**) शोधकस्य (**त्वा**) (**शीर्ष्णे**) (**अश्वस्य**) तुरङ्गस्य (**त्वा**) (**वृष्णः**) वेगवतः (**शक्ना**) शकृता (**धूपयामि**) (**देवयजने**) देवा यजन्ति यस्मिंस्तस्मिन्

(पृथिव्याः) भूमेः **(मखाय)** पृथिव्यादिविज्ञानाय **(त्वा)** **(मखस्य)** तत्त्वबोधस्य (त्वा) (शीर्ष्णे) **(अश्वस्य)** आशुगामिनः (त्वा) (वृष्णः) बलवतः **(शक्ना)** शकृता **(धूपयामि)** **(देवयजने)** विदुषां पूजने **(पृथिव्याः)** भूमेः **(मखाय)** उपयोगाय **(त्वा)** **(मखस्य)** (त्वा) **(शीर्ष्णे)** शिरसे **(मखाय)** **(त्वा)** **(मखस्य)** **(त्वा)** **(शीर्ष्णे)** **(मखाय)** **(त्वा)** **(मखस्य)** **(त्वा)** **(शीर्ष्णे)** **(मखाय)** **(त्वा)** **(मखस्य)** **(त्वा)** **(शीर्ष्णे)** ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे मनुष्य ! यथाऽहं पृथिव्या देवयजने वृष्णोऽश्वस्य शक्ना त्वा मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा धूपयामि । पृथिव्या देवयजने वृष्णोऽश्वस्य शक्ना त्वा मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा धूपयामि । पृथिव्या देवयजने वृष्णोऽश्वस्य शक्ना त्वा मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे, त्वा मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा धूपयामि ॥ ९ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्य ! यथाऽहं **पृथिव्याः** अन्तरिक्षस्य **देवयजने** विद्वद्यजनाधिकरणे **वृष्णः** बलवतः **अश्वस्य** वह्न्यादेः **शक्ना** शकृता=दुर्गन्धादिनिवारणसामर्थ्येन धूमादिना **त्वा** त्वां **मखाय** वायुशुद्धिकरणाय **त्वा** त्वां **मखस्य** शोधकस्य **शीर्ष्णे** **त्वा** त्वां **धूपयामि** सन्तापयामि ।

पृथिव्याः भूमेः **देवयजने** देवा यजन्ति यस्मिंस्तस्मिन् **वृष्णः** वेगवतः **अश्वस्य** तुरङ्गस्य **शक्ना** शकृता **त्वा** त्वां **मखाय** पृथिव्यादिविज्ञानाय **त्वा** त्वां **मखस्य** तत्त्वबोधस्य **शीर्ष्णे** **त्वा** त्वां **धूपयामि** सन्तापयामि ।

पृथिव्याः भूमेः **देवयजने** विदुषां पूजने **वृष्णः** बलवतः **अश्वस्य** आशुगामिनः **शक्ना** शकृता **त्वा** त्वां **मखाय** उपयोगाय **त्वा** **मखस्य** **शीर्ष्णे** शिरसे **त्वा, मखाय त्वा, मखस्य शीर्ष्णे त्वा, मखाय त्वा, मखस्य शीर्ष्णे त्वा, मखाय त्वा, मखस्य शीर्ष्णे त्वा धूपयामि** [तथा त्वमपि धूपय] ॥ ३७ । ९ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्य ! जैसे मैं—(पृथिव्याः) अन्तरिक्ष सम्बन्धी (देवयजने) विद्वानों के यज्ञ-स्थान में (वृष्णः) बलवान् (अश्वस्य) अग्नि आदि के (शक्ना) दुर्गन्ध आदि निवारण में समर्थ धूमादि से (त्वा) तुझे; तथा (मखाय) वायु को शुद्ध करने के लिए (त्वा) तुझे; (मखस्य) शोधक यज्ञ के (शीर्ष्णे) शिर के तुल्य होने के लिए (त्वा) तुझे (धूपयामि) धूपित करता हूँ ।

(पृथिव्याः) भूमि सम्बन्धी (देवयजने) विद्वानों के यज्ञ-स्थान में (वृष्णः) वेगवान् (अश्वस्य) घोड़े के (शक्ना) शकृत्=मल से (त्वा) तुझे; (मखाय) पृथिवी आदि के विज्ञान के लिए (त्वा) तुझे; (मखस्य) तत्त्व-बोध के (शीर्ष्णे) शिर के तुल्य होने के लिए (त्वा) तुझे (धूपयामि) धूपित करता हूँ

(पृथिव्याः) भूमि सम्बन्धी (देवयजने) विद्वानों के पूजन में (वृष्णः) बलवान् (अश्वस्य) शीघ्रगामी घोड़े के (शक्ना) शकृत्=मल से (त्वा) तुझे; (मखाय) पदार्थों के उपयोग के लिए (त्वा) तुझे (मखस्य) उपयोग के (शीर्ष्णे) शिर के तुल्य होने के लिए (त्वा) तुझे (धूपयामि) धूपित करता हूँ; वैसे तू भी धूपित कर ॥ ३७ । ९ ॥

भावार्थः—अत्र पुनर्वचनमतिशयित्वद्योतनार्थम् । ये मनुष्या रोगादिक्लेशनिवृत्तये वह्न्यादीन् पदार्थान् संप्रयुञ्जते ते सुखिनो जायन्ते ॥ ३७ । ९ ॥

भावार्थ—यहाँ 'मखाय त्वा' इत्यादि का पुनर्वचन अधिकता को प्रकाशित करने के लिए है । जो मनुष्य रोगादि क्लेशों की निवृत्ति के लिए अग्नि आदि पदार्थों का संप्रयोग करते हैं; वे सुखी रहते हैं ॥ ३७ । ९ ॥

भाष्यसार—**कौन मनुष्य सुखी होते हैं**—जो मनुष्य—अन्तरिक्ष सम्बन्धी, विद्वानों के यज्ञ-स्थान में बलवान् अग्नि आदि के दुर्गन्धादि के निवारण में समर्थ धूमादि को पहुँचाते हैं; वायु को

शुद्ध करने के लिए तथा शोधकों के शिर (मुख्य) बनने के लिए यज्ञ करते हैं; भूमि सम्बन्धी, विद्वानों के यज्ञ-स्थान में वेगवान् घोड़े के शकृत्=मल से धूमा करते हैं, तथा पृथिवी आदि के विज्ञान के लिए तथा तत्त्वबोध में शिर के तुल्य मुख्य बनने के लिए यज्ञ करते हैं अर्थात् रोगादि क्लेशों की निवृत्ति के लिए अग्नि आदि पदार्थों का संप्रयोग करते हैं; वे सुखी होते हैं ॥ ३७ । ९ ॥

दध्यङ्ङाथर्वणः । **विद्वांसः**=स्पष्टम् । स्वराट् पङ्क्तिः । पञ्चमः ॥

के महद्राज्यं प्राप्नुवन्तीत्याह ॥

कौन बड़े राज्य को प्राप्त करते हैं, यह उपदेश किया जाता है ॥

ऋजवे॑ त्वा सा॒धवे॑ त्वा सुक्षि॒त्यै त्वा॑ । म॒खाय॑ त्वा म॒खस्य॑ त्वा शी॒र्ष्णे । म॒खाय॑ त्वा म॒खस्य॑ त्वा शी॒र्ष्णे । म॒खाय॑ त्वा म॒खस्य॑ त्वा शी॒र्ष्णे ॥ १० ॥

पदार्थः—(**ऋजवे**) सरलाय (**त्वा**) त्वाम् (**साधवे**) परोपकारसाधकाय (**त्वा**) (**सुक्षित्यै**) उत्तमायै भूम्यै (**त्वा**) (**मखाय**) विदुषां सत्काराय (**त्वा**) (**मखस्य**) यज्ञस्य (**त्वा**) (**शीर्ष्णे**) (**मखाय**) (**त्वा**) (**मखस्य**) (**त्वा**) (**शीर्ष्णे**) (**मखाय**) (**त्वा**) (**मखस्य**) (**त्वा**) (**शीर्ष्णे**) ॥ १० ॥

अन्वयः—हे विद्वन् ! ऋजवे त्वा मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा साधवे त्वा मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा सुक्षित्यै त्वा मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा वयं स्थापयामः ॥ १० ॥

सपदार्थान्वयः—**हे विद्वन् ! ऋजवे** सरलाय **त्वा** त्वां, **मखाय** विदुषां सत्काराय **त्वा** त्वां, **मखस्य** यज्ञस्य **शीर्ष्णे त्वा** त्वां, **साधवे** परोपकार-साधकाय **त्वा** त्वां, **मखाय** विदुषां सत्काराय **त्वा** त्वां, **मखस्य** यज्ञस्य **शीर्ष्णे त्वा** त्वां, **सुक्षित्यै** उत्तमायै भूम्यै **त्वा** त्वां, **मखाय** विदुषां सत्काराय **त्वा** त्वां **मखस्य** यज्ञस्य **शीर्ष्णे त्वा** त्वां, **वयं स्थापयामः** ॥ १० ॥

भाषार्थ—हे विद्वान् ! (ऋजवे) सरल होने के लिए (त्वा) तुझे; (मखाय) विद्वानों के सत्कार के लिए (त्वा) तुझे; (मखस्य) यज्ञ के (शीर्ष्णे) शिर के तुल्य होने के लिए (त्वा) तुझे; (साधवे) परोपकार के साधक होने के लिए (त्वा), तुझे; (मखाय) विद्वानों के सत्कार के लिए (त्वा) तुझे; (मखस्य) यज्ञ के (शीर्ष्णे) शिर के तुल्य होने के लिए (त्वा) तुझे; (सुक्षित्यै) उत्तम भूमि के लिए (त्वा) तुझे; (मखाय) विद्वानों के सत्कार के लिए (त्वा) तुझे; (मखस्य) यज्ञ के (शीर्ष्णे) शिर के तुल्य होने के लिए (त्वा) तुझे हम स्थापित करते हैं ॥ ३७ । १० ॥

भावार्थः—ये विनयसाधुत्वाभ्यां युक्ताः प्रयत्नेन सर्वोपकाराख्यं यज्ञं साध्नुवन्ति ते महद्राज्यमाप्नुवन्ति ॥ ३७ । १० ॥

भावार्थ—जो विनय और साधुता से युक्त जन प्रयत्न से सर्वोपकार नामक यज्ञ को सिद्ध करते हैं; वे महान् राज्य को प्राप्त होते हैं ॥ ३७ । १० ॥

भा० पदार्थः—ऋजवे=विनयेन युक्ताय । साधवे=साधुत्वयुक्ताय । मखस्य=सर्वोपकाराख्यस्य यज्ञस्य ॥

भाष्यसार—**कौन महान् राज्य को प्राप्त करते हैं**—जो मनुष्य—सरल, स्वभाव वाले, विद्वानों का सत्कार करने वाले, यज्ञादि शुभ कर्मों के शिर, परोपकार साधक, उत्तम भूमि को प्राप्त करने

वाले विद्वान् को राज्य में स्थापित करते हैं; और जो विनय तथा साधुता से युक्त होकर प्रयत्न से सर्वोपकार नामक यज्ञ को सिद्ध करते हैं वे महान् राज्य को प्राप्त करते हैं ॥ ३७ । १० ॥

दध्यङ्ङाथर्वणः । **सविता**=सज्जनः । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

अथ सज्जनाः कीदृशा भवन्तीत्याह ॥

अब सज्जन कैसे होते हैं, यह उपदेश किया है ॥

यमाय त्वा मखाय त्वा सूर्य्यस्य त्वा तपसे ।
देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु पृथिव्याः सꣳस्पृशस्पाहि ।
अर्चिरसि शोचिरसि तपोऽसि ॥ ११ ॥

पदार्थः—(**यमाय**) (**त्वा**) त्वाम् (**मखाय**) न्यायानुष्ठानाय (**त्वा**) (**सूर्यस्य**) प्रेरकस्येश्वरस्य (**त्वा**) (**तपसे**) धर्मानुष्ठानाय (**देवः**) दाता (**त्वा**) (**सविता**) ऐश्वर्यकर्त्ता (**मध्वा**) मधुरेण (**अनक्तु**) संयुनक्तु (**पृथिव्याः**) भूमेः (**संस्पृशः**) सम्यक् स्पर्शात् (**पाहि**) (**अर्चिः**) प्रदीप्तिः (**असि**) (**शोचिः**) शोचिरिव पवित्रः (**असि**) (**तपः**) धर्मे श्रमकर्त्ता (**असि**) ॥ ११ ॥

अन्वयः—हे विद्वन्! सविता देवो मखाय यमाय त्वा सूर्यस्य तपसे गृह्णातु । पृथिव्यास्त्वा मध्वाऽनक्तु स त्वं संस्पृशः पाहि यतस्त्वमर्चिरसि शोचिरसि तपोऽसि तस्मात्त्वा सत्कुर्य्याम ॥ ११ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **विद्वन्**! **सविता** ऐश्वर्यकर्त्ता **देवः** दाता **मखाय** न्यायानुष्ठानाय **यमाय त्वा** त्वां **सूर्यस्य** प्रेरकस्येश्वरस्य **तपसे** धर्मानुष्ठानाय [**त्वा**]=त्वां **गृह्णातु**; **पृथिव्याः** भूमेः **त्वा** त्वां **मध्वा** मधुरेण **अनक्तु** संयुनक्तु; **स त्वं संस्पृशः** सम्यक् स्पर्शात् **पाहि**; **यतस्त्वमर्चिः** प्रदीप्तिः **असि**; **शोचिः** शोचिरिव पवित्रः **असि**; **तपः** धर्मे श्रमकर्त्ता **असि**; **तस्मात्त्वा** त्वां **सत्कुर्य्याम** ॥३७।११॥

भाषार्थ—हे विद्वान्! (सविता) ऐश्वर्य का उत्पादक, (देवः) दाता जन (मखाय) न्यायाचरण के लिए (यमाय) नियामक होने के लिए (त्वा) तुझे; तथा (सूर्यस्य) प्रेरक ईश्वर के (तपसे) धर्मानुष्ठान के लिए (त्वा) तुझे ग्रहण करता है; (पृथिव्याः) भूमि के (त्वा) तुझे (मध्वा) मधुर गुण से (अनक्तु) संयुक्त करता है; सो तू—(संस्पृशः) दुःख के संस्पर्श से (पाहि) रक्षा कर; क्योंकि तू—(अर्चिः) उत्तम दीप्ति (असि) है; (शोचिः) तेज के तुल्य पवित्र (असि) है; (तपः) धर्म में श्रम करने वाला (असि) है; अतः (त्वा) तुझे हम सत्कृत करते हैं; तेरा सत्कार करते हैं। ॥ ३७ । ११ ॥

भावार्थः— ये न्यायव्यवहारेण प्रदीप्तयशसो भवन्ति, ते दुःखस्पर्शात् पृथग् भूत्वा तेजस्विनो भवन्ति; दुष्टान् परिताप्य श्रेष्ठान् सुखयन्ति च ॥ ३७ । ११ ॥

भावार्थ—जो न्याय व्यवहार प्रदीप्त यश वाले होते हैं; वे दुःख के स्पर्श से पृथक् होकर, तेजस्वी होते हैं; और दुष्ट जनों को परितप्त करके श्रेष्ठों को सुखी करते हैं ॥ ३७ । ११ ॥

भा० पदार्थः—अर्चिः=न्यायव्यवहारेण प्रदीप्तयशाः । संस्पृशः=दुःखस्पर्शात् । शोचिः=तेजस्वी । तपः=दुष्टान् परिताप्य श्रेष्ठानां सुखयिता ॥

भाष्यसार—सज्जन कैसे होते हैं—जो ऐश्वर्य के उत्पादक, दाता पुरुष—न्यायाचरण के लिए, तथा नियन्ता होने के लिए प्रेरक ईश्वर के आदेशानुसार धर्माचरण करने के लिए विद्वान् का ग्रहण करते हैं; पृथिवी के मधुर पदार्थों से विद्वान् को संयुक्त करते हैं; दुःख के स्पर्श से रक्षा करते हैं; जो एक उत्तम दीप्ति हैं; तेज के तुल्य पवित्र हैं; धर्म में श्रम करने वाले हैं; अर्थात् दुष्टों को परितप्त करके श्रेष्ठों को सुखी करते हैं वे सज्जन होते हैं ॥ ३७ । ११ ॥

दध्यङ्ङाथर्वणः । **पृथिवी**=**सुलक्षणा पत्नी** । स्वराडुत्कृतिः । षड्जः ॥

पुनर्मनुष्यैः किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

फिर मनुष्यों को क्या करना चाहिए, यह उपदेश किया है ॥

अनाधृष्टा पुरस्तादग्नेराधिपत्य ऽ आयुर्मे दाः ।
पुत्रवती दक्षिणत ऽ इन्द्रस्याधिपत्ये प्रजां मे दाः ।
सुषदा पश्चाद्देवस्य सवितुराधिपत्ये चक्षुर्मे दाः ।
आश्रुतिरुत्तरतो धातुराधिपत्ये रायस्पोषं मे दाः ।
विधृतिरुपरिष्टाद् बृहस्पतेराधिपत्य ऽ ओजो मे दाः ।
विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्पाहि मनोरश्वासि ॥ १२ ॥

पदार्थः—(**अनाधृष्टा**) परैर्धर्षणरहिता (**पुरस्तात्**) पूर्वदेशात् (**अग्नेः**) पावकस्य (**आधिपत्ये**) अधिपतेर्भावे (**आयुः**) जीवनप्रदमन्नम् । **आयुरित्यन्नना०** ॥ **निघं०** २ । ७ ॥ (**मे**) मह्यम् (**दाः**) दद्याः (**पुत्रवती**) प्रशस्ताः पुत्रा विद्यन्ते यस्याः सा (**दक्षिणतः**) दक्षिणाद्देशात् (**इन्द्रस्य**) विद्युत ऐश्वर्यस्य वा (**आधिपत्ये**) अधिष्ठातृत्वे (**प्रजाम्**) (**मे**) मह्यम् (**दाः**) दद्याः (**सुषदा**) सुष्ठु सीदन्ति यस्यां सा (**पश्चात्**) पश्चिमतः (**देवस्य**) देदीप्यमानस्य (**सवितुः**) सवितृमण्डलस्य (**आधिपत्ये**) (**चक्षुः**) (**मे**) मह्यम् (**दाः**) (**आश्रुतिः**) समन्ताच्छ्रवणं यस्याः सा (**उत्तरतः**) (**धातुः**) धर्त्तुर्वायोः (**आधिपत्ये**) (**रायः**) धनस्य (**पोषम्**) पुष्टिम् (**मे**) (**दाः**) (**विधृतिः**) विविधा धारणा यस्याः सा (**उपरिष्टात्**) ऊर्ध्वात् (**बृहस्पतेः**) बृहतां पालकस्य सूत्रात्मनः (**आधिपत्ये**) (**ओजः**) बलम् (**मे**) (**दाः**) (**विश्वाभ्यः**) सर्वाभ्यः (**मा**) माम् (**नाष्ट्राभ्यः**) नष्टभ्रष्टस्वभावाभ्यो व्यभिचारिणीभ्यः (**पाहि**) (**मनोः**) अन्तःकरणस्य (**अश्वा**) व्यापिका (**असि**) भवसि ॥ १२ ॥

प्रमाणार्थ—(**आयुः**) जीवनप्रदमन्नम् । 'आयु' यह पद निघण्टु (२ । ७) में अन्न-नामों में पठित है ॥

अन्वयः—हे स्त्रि ! त्वमनाधृष्टा सती पुरस्तादग्नेराधिपत्ये म आयुर्दाः पुत्रवती सती दक्षिणत इन्द्रस्याधिपत्ये मे प्रजां दाः सुषदा सती पश्चात्सवितुर्देवस्याधिपत्ये मे चक्षुर्दा आश्रुतिः सत्युत्तरतो धातुराधिपत्ये मे रायस्पोषं दाः । विधृतिः सत्युपरिष्टाद् बृहस्पतेराधिपत्ये म ओजो दाः । यतो मनोरश्वाऽसि तस्माद्विश्वाभ्यो नाष्ट्राभ्यो मा पाहि ॥ १२ ॥

सपदार्थान्वयः—हे स्त्रि ! त्वम्-**अनाधृष्टा** परैर्धर्षणरहिता **सती पुरस्तात्** पूर्वदेशाद् **अग्नेः** पावकस्य **आधिपत्ये** अधिपतेर्भावे **मे** मह्यम्

भाषार्थ—हे स्त्री ! तू—(अनाधृष्टा) दूसरों से न दबने वाली होकर (पुरस्तात्) पूर्व देश से (अग्नेः) अग्नि के (आधिपत्ये) स्वामित्व में

आयुः जीवनप्रदमन्नं **दाः** दद्याः ।

(मे) मेरे लिए (आयुः) जीवन प्रदान करने वाले अन्न को (दाः) दे ।

पुत्रवती प्रशस्ताः पुत्रा विद्यन्ते यस्याः सा **सती दक्षिणतः** दक्षिणाद्देशात् **इन्द्रस्य** विद्युत ऐश्वर्यस्य वा **आधिपत्ये** अधिष्ठातृत्वे **मे** मह्यं **प्रजां दाः** दद्याः ।

(पुत्रवती) प्रशस्त पुत्रों वाली होकर (दक्षिणतः) दक्षिण देश से (इन्द्रस्य) विद्युत् वा ऐश्वर्य के (आधिपत्ये) अधिष्ठातृत्व में (मे) मेरे लिए (प्रजाम्) प्रजा (दाः) दे ।

सुषदा सुष्ठु सीदन्ति यस्यां सा **सती पश्चात्** पश्चिमतः **सवितुः** सवितृमण्डलस्य **देवस्य** देदीप्यमानस्य **आधिपत्ये** अधिपतेर्भावे **मे** मह्यं **चक्षुर्दाः** दद्याः ।

(सुषदा) उत्तम सभा के तुल्य होकर (पश्चात्) पश्चिम देश से (सवितुः) सूर्यमण्डल के (देवस्य) देदीप्यमान (आधिपत्ये) स्वामित्व में (मे) मेरे लिए (चक्षुः) नेत्र (दाः) दे ।

आश्रुतिः समन्ताच्छ्रवणं यस्याः सा **सत्युत्तरतो धातुः** धर्त्तुर्वायोः **आधिपत्ये** अधिपतेर्भावे **मे** मह्यं **रायः** धनस्य **पोषं** पुष्टिं **दाः** दद्याः ।

(आश्रुतिः) सब ओर श्रवण वाली होकर (उत्तरतः) उत्तर देश से (धातुः) धर्त्ता वायु के (आधिपत्ये) स्वामित्व में (मे) मेरे लिए (रायः) धन की (पोषम्) पुष्टि (दाः) दे ।

विधृतिः विविधा धारणा यस्याः सा **सत्युपरिष्टाद्** ऊर्ध्वात् **बृहस्पतेः** बृहतां पालकस्य सूत्रात्मनः **आधिपत्ये** अधिष्ठातृत्वे **मे** मह्यम् **ओजः** बलं **दाः** दद्याः ।

(विधृतिः) विविध धारण शक्ति वाली होकर (उपरिष्टात्) ऊर्ध्व देश से (बृहस्पतेः) बड़ों के पालक सूक्ष्म आत्मा के (आधिपत्ये) स्वामित्व में (मे) मेरे लिए (ओजः) बल (दाः) दे ।

यतो मनोः अन्तःकरणस्य **अश्वा** व्यापिका **असि** भवसि, **तस्माद्विश्वाभ्यः** सर्वाभ्यः **नाष्ट्राभ्यः** नष्टभ्रष्टस्वभावाभ्यो व्यभिचारिणीभ्यः **मा** मां **पाहि** ॥ ३७ । १२ ॥

क्योंकि तू—(मनोः) अन्तःकरण को (अश्वा) व्याप्त करने वाली (असि) है; अतः (विश्वाभ्यः) सब (नाष्ट्राभ्यः) नष्ट-भ्रष्ट स्वभाव वाली व्यभिचारिणी स्त्रियों से (मा) मेरी (पाहि) रक्षा कर ।

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यथाऽग्निर्जीवनं, यथा विद्युत् प्रजां, यथा सविता दर्शनं, धाता श्रियं, महाशयो बलं च ददाति; तथैव सुलक्षणा पत्नी सर्वाणि सुखानि प्रयच्छति, तां यथावद् रक्षत ॥१२॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे अग्नि जीवन, जैसे विद्युत् प्रजा, जैसे सूर्य दर्शन, धाता=वायु श्री, और महाशय विद्वान् बल देता है; वैसे ही सुलक्षणा पत्नी सब सुख प्रदान करती है; उसकी यथावत् रक्षा करो ॥ ३७ । १२ ॥

भा० पदार्थः—आयुः=जीवनम् । चक्षुः=दर्शनम् । रायः=श्रियः । बृहस्पतेः=महाशयस्य ॥

भाष्यसार—**मनुष्य क्या करें**—स्त्री दूसरों से न दबने वाली होकर पूर्वदिशा में अग्नि की अधिपति बनकर जीवनदायक अन्न प्रदान करे । वह पुत्रवती होकर दक्षिण दिशा में विद्युत् वा ऐश्वर्य की अधिपति बनकर प्रजा प्रदान करे । वह उत्तम सभा के तुल्य होकर पश्चिम दिशा में देदीप्यमान सूर्यमण्डल की अधिपति बनकर चक्षु प्रदान करे । सब ओर श्रवण=प्रसिद्धि वाली होकर उत्तर दिशा में वायु की अधिपति बनकर धन की पुष्टि प्रदान करे । विविध धारणा वाली होकर ऊर्ध्व दिशा में सूक्ष्म वायु की अधिपति बनकर बल प्रदान करे । मन अर्थात् अन्तःकरण में व्यापक होकर सब व्यभिचारिणी स्त्रियों

से रक्षा करे। तात्पर्य यह है कि सुलक्षणा पत्नी सब सुख प्रदान करती है अतः मनुष्य मनुष्य की यथावत् रक्षा करें ॥ ३७ । १२ ॥

दध्यङ्ङाथर्वणः । **विद्वान्**=स्पष्टम् । निचृद्गायत्री । षड्जः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

मनुष्यों को क्या करना चाहिए, यह फिर उपदेश किया है ॥

स्वाहा॑ म॒रुद्भिः॒ परि॑ श्रीयस्व दि॒वः स॒ꣳस्पृश॑स्पाहि । मधु॒ मधु॒ मधु॑ ॥ १३ ॥

पदार्थः—(**स्वाहा**) सत्यां क्रियाम् (**मरुद्भिः**) मनुष्यैः सह (**परि**) सर्वतः (**श्रीयस्व**) सेवस्व/ अत्र विकरणव्यत्ययेन श्यन् (**दिवः**) प्रकाशाद्विद्युतः (**संस्पृशः**) यः संस्पृशति तस्मात् (**पाहि**) (**मधु**) कर्म (**मधु**) उपासनम् (**मधु**) विज्ञानम् ॥ १३ ॥

प्रमाणार्थ—(**श्रीयस्व**) यहाँ विकरण-व्यत्यय से 'श्यन्' विकरण है ॥

अन्वयः—हे विद्वँस्त्वं मरुद्भिः स्वाहा मधु मधु मधु श्रीयस्व संस्पृशो दिवोऽस्मान् परि पाहि ॥ १३ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **विद्वन्**! **त्वं मरुद्भिः** मनुष्यैः सह **स्वाहा** सत्यां क्रियां **मधु** कर्म **मधु** उपासनं **मधु** विज्ञानं **श्रीयस्व** सेवस्व ।

संस्पृशः यः संस्पृशति तस्मात् **दिवः** प्रकाशाद्=विद्युतः **अस्मान् परि+पाहि** सर्वतः [पाहि] ॥ ३७ । १३ ॥

भावार्थः—ये पूर्णैर्विद्वद्भिः सह कर्मोपासनाज्ञानविद्यां सत्क्रियां च गृहीत्वा सेवन्ते ते सर्वतो रक्षिताः सन्तो महदैश्वर्यं प्राप्नुवन्ति ॥ ३७ । १३ ॥

भाषार्थ—हे विद्वान्! तू—(मरुद्भिः) मनुष्यों के साथ (स्वाहा) सत्य क्रिया, (मधु) कर्म, (मधु) उपासना और (मधु) विज्ञान का (श्रीयस्व) सेवन कर।

(संस्पृशः) संस्पर्श वाली, (दिवः) विद्युत् से हमारी (परि+पाहि) सब ओर से रक्षा कर ॥ ३७ । १३ ॥

भावार्थ—जो पूर्ण विद्वानों से कर्म, उपासना, ज्ञान, विद्या और उत्तम क्रिया को ग्रहण करके उनकी सेवा करते हैं; वे सब ओर से रक्षित होकर महान् ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं ॥ ३७ । १३ ॥

भा० पदार्थः—मरुद्भिः=पूर्णैर्विद्वद्भिः सह । मधु=कर्मविद्याम् । मधु=उपासनाविद्याम् । मधु=ज्ञानविद्याम् ॥

भाष्यसार—**मनुष्य क्या करें**—विद्वान् मनुष्य सब मनुष्यों के साथ सत्य क्रिया, कर्म, उपासना और विज्ञान का सेवन करे। वह संस्पर्श वाली विद्युत् से मनुष्यों की रक्षा करे जिससे मनुष्य महान् ऐश्वर्य को प्राप्त करें ॥ ३७ । १३ ॥

दध्यङ्ङाथर्वणः । **ईश्वरः**=स्पष्टम् । भुरिगनुष्टुप् । गान्धारः ॥

अथेश्वरोपासनाविषयमाह ॥

अब ईश्वर उपासना का उपदेश किया जाता है ॥

गर्भो देवानां पिता मतीनां पतिः प्रजानाम् ।
सं देवो देवेन सवित्रा गत सꣳ सूर्य्येण रोचते ॥ १४ ॥

पदार्थः—(**गर्भः**) गर्भ इवान्तःस्थितः (**देवानाम्**) विदुषां पृथिव्यादीनां वा (**पिता**) जनक इव (**मतीनाम्**) मननशीलानां मेधाविनां मनुष्याणाम् (**पतिः**) पालकः (**प्रजानाम्**) उत्पन्नानां पदार्थानाम् (**सम्**) एकीभावे (**देवः**) स्वप्रकाशस्वरूपः (**देवेन**) विदुषा (**सवित्रा**) प्रसवहेतुना (**गत**) प्राप्नुत । **अत्र लोटि शपो लुक्** (**सम्**) (**सूर्य्येण**) प्रकाशकेन सह (**रोचते**) प्रकाशते ॥ १४ ॥

प्रमाणार्थ—(**गत**) प्राप्नुत । यहाँ लोट् लकार में 'शप्' का लुक् है ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यो देवानां गर्भो मतीनां पिता प्रजानां पतिर्देवः परमात्मा सवित्रा देवेन सूर्य्येण सह संरोचते तं यूयं संगत ॥ १४ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **मनुष्याः** ! **यो देवानां** विदुषां पृथिव्यादीनां वा **गर्भः** गर्भ इवान्तःस्थितः, **मतीनां** मननशीलानां मेधाविनां मनुष्याणां **पिता** जनक इव, **प्रजानाम्** उत्पन्नानां पदार्थानां **पतिः** पालकः, **देवः**=**परमात्मा** स्वप्रकाशस्वरूपः **सवित्रा** प्रसवहेतुना **देवेन** विदुषा **सूर्य्येण** प्रकाशकेन सह **सम्**+**रोचते** एकीभावेन प्रकाशते, **तं यूयं सङ्गत** एकीभावेन प्राप्नुत ॥ ३७ । १४ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जो (देवानाम्) विद्वानों वा पृथिवी आदि के (गर्भः) गर्भ के तुल्य अन्दर स्थित; (मतीनाम्) मननशील मेधावी मनुष्यों का (पिता) पिता के तुल्य रक्षक; (प्रजानाम्) उत्पन्न पदार्थों का (पतिः) पालक (देवः) स्वप्रकाश-स्वरूप परमात्मा है; वह (सवित्रा) प्रसव के हेतु (देवेन) विद्वान् तथा (सूर्येण) प्रकाशक सूर्य के साथ (सम्+रोचते) एक होकर प्रकाशित हो रहा है; उसे तुम (सं+गत) एक होकर प्राप्त करो । ॥ ३७ । १४ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या ! यः सर्वेषां जनकः, पितृवत्पालकः, सूर्यादीनामपि प्रकाशकः, सर्वत्राऽभिव्याप्तो जगदीश्वरोऽस्ति, तमेव पूर्णं परमात्मानं सदैवोपासताम् ॥ ३७ । १४ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जो सबका जनक, पिता के तुल्य पालक, सूर्य आदि का भी प्रकाशक, सर्वत्र व्यापक जगदीश्वर है; उसी पूर्ण परमात्मा की सदैव उपासना करो ॥ ३७ । १४ ॥

भा० पदार्थः—पिता=सर्वेषां जनकः, पितृवत्पालकः । गर्भः=सर्वत्राऽभिव्याप्तः ॥

भाष्यसार—**ईश्वर की उपासना**—जो देव अर्थात् विद्वानों और पृथिवी आदि पदार्थों में गर्भ के तुल्य अन्दर स्थित है; मननशील मेधावी मनुष्यों का पिता है, उत्पन्न हुए सब पदार्थों का पालक है; वह स्वप्रकाशस्वरूप परमात्मा प्रसव के हेतु विद्वान् तथा सूर्य के साथ एक होकर प्रकाशित हो रहा है । सब मनुष्य मिल कर उसे प्राप्त करें । वही सब का जनक, पिता के तुल्य पालक, सूर्यादि का भी प्रकाशक और सर्वत्र व्यापक है । उसी पूर्ण परमात्मा को सदा उपासना करें ॥ ३७ । १४ ॥

दध्यङ्ङाथर्वणः । **अग्निः**=**ईश्वरः** । निचृद्ब्राह्म्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

ईश्वर-उपासना का फिर उपदेश किया है ॥

समग्निरग्निना गत सं दैवेन सविता सथं सूर्येणारोचिष्ट ।
स्वाहा समग्निस्तपसा गत सं दैव्येन सवित्रा सथं सूर्येणारूरुचत ॥ १५ ॥

पदार्थः—(सम्) सम्यक् (**अग्निः**) प्रकाशकः (**अग्निना**) स्वयंप्रकाशेन जगदीश्वरेण (**गत**) विजानीत (**सम्**) (**दैवेन**) देवेन निर्मितेन (**सवित्रा**) प्रेरकेण (**सम्**) (**सूर्येण**) (**अरोचिष्ट**) प्रकाशते (**स्वाहा**) सत्यया क्रियया (**सम्**) (**अग्निः**) (**तपसा**) धर्मानुष्ठानेन (**गत**) (**सम्**) (**दैव्येन**) देवेषु=पृथिव्यादिषु भवेन (**सवित्रा**) ऐश्वर्यकारकेण (**सम्**) (**सूर्येण**) प्रेरकेण (**अरूरुचत**) सम्यक् प्रकाशते ॥ १५ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या योऽग्निनाऽग्निर्दैवेन सवित्रा सूर्येण सह समरोचिष्ट तं परमात्मानं यूयं स्वाहा सङ्गत योऽग्निर्दैव्येन सवित्रा सूर्य्येण तपसा समरूरुचत तं यूयं सङ्गत ॥ १५ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! **योऽग्निना** स्वयंप्रकाशेन जगदीश्वरेण **अग्निः** प्रकाशकः, **दैवेन** देवेन निर्मितेन **सवित्रा** प्रेरकेण **सूर्येण सह सम्+अरोचिष्ट** सम्यक् प्रकाशते; **तं परमात्मानं यूयं स्वाहा** सत्यया क्रियया **सङ्गत** सम्यक् विजानीत ।

योऽग्निः प्रकाशकः **दैव्येन** देवेषु=पृथिव्यादिषु भवेन **सवित्रा** ऐश्वर्य्य-कारकेण **सूर्येण** प्रेरकेण **तपसा** धर्मानुष्ठानेन **सम्+अरूरुचत** सम्यक् प्रकाशते, **तं यूयं सङ्गत** सम्यक् विजानीत ॥३७।१५॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! (अग्निना) स्वयं प्रकाश वाले जगदीश्वर से (अग्निः) अग्नि प्रकाशक है; (दैवेन) देव से निर्मित (सवित्रा) प्रेरक सूर्य के साथ (सम्+अरोचिष्ट) अच्छे प्रकार प्रकाशित हो रहा है; उस परमात्मा को तुम (स्वाहा) सत्याचरण से (सम्+गत) अच्छे प्रकार जानो ।

जो (अग्निः) प्रकाशक ईश्वर (दैव्येन) देव= पृथिवी आदि पदार्थों में विद्यमान, (सवित्रा) ऐश्वर्य को उत्पन्न करने वाले (सूर्येण) प्रेरक सूर्य तथा (तपसा) धर्माचरण से (सम्+अरूरुचत) अच्छे प्रकार प्रकाशित होता है; उसे तुम (सम्+ गत) अच्छे प्रकार जानो ॥ ३७ । १५ ॥

भावार्थः—ये मनुष्या अग्नेरग्निं, सवितुः सवितारं, सूर्यस्य सूर्यं परमात्मानं विजानीयुस्तेभ्योऽभ्युदयनिःश्रेयसे सुखे सम्यक् प्राप्नुतः ॥ ३७।१५ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य—अग्नि के अग्नि, प्रेरक के प्रेरक, सूर्य के सूर्य परमात्मा को जानते हैं; उनको अभ्युदय और निःश्रेयस् सुख अच्छे प्रकार प्राप्त होते हैं ॥ ३७ । १५ ॥

भाष्यसार—ईश्वर की उपासना—जो प्रकाशक अग्नि स्वयं प्रकाश वाले जगदीश्वर तथा सूर्य से सम्यक् प्रकाशित हो रहा है, उस परमात्मा को मनुष्य सत्याचरण से ठीक-ठीक जानें । जो अग्नि अर्थात् प्रकाशक ईश्वर पृथिवी आदि में विद्यमान होने से, ऐश्वर्य को उत्पन्न करने वाले सूर्य के दृष्टान्त से तथा धर्माचरण से सम्यक् प्रकाशित हो रहा है, उस ईश्वर को मनुष्य अच्छे प्रकार जानें ।

परमात्मा अग्नि का भी अग्नि, ऐश्वर्यकारकों का भी ऐश्वर्यकारक, सूर्य का भी सूर्य है । मनुष्य उस परमात्मा को जानें । उसकी उपासना करें । अभ्युदय और निःश्रेयस् सुख को प्राप्त करें ॥ ३७ । १५ ॥

दध्यङ्ङाथर्वणः । **ईश्वरः=स्पष्टम्** । भुरिग्बृहती । मध्यमः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

ईश्वर उपासना का फिर उपदेश किया है ॥

धर्त्ता दिवो वि भाति तपसस्पृथिव्यां धर्त्ता देवो देवानाममर्त्यस्तपोजाः ।
वाचमस्मे नि यच्छ देवायुवम् ॥ १६ ॥

पदार्थः—(**धर्त्ता**) (**दिवः**) प्रकाशमयस्य सूर्य्यादेः (**वि, भाति**) विशेषेण प्रकाशते (**तपसः**) प्रतापकस्य (**पृथिव्याम्**) अन्तरिक्षे (**धर्त्ता**) (**देवः**) प्रकाशस्वरूपः (**देवानाम्**) पृथिव्यादीनाम् (**अमर्त्यः**) मृत्युधर्मरहितः (**तपोजाः**) यस्तपसो जायते=प्रकटयते सः (**वाचम्**) सुशिक्षितां वाणीम् (**अस्मे**) अस्मभ्यम् (**नि**) नितराम् (**यच्छ**) देहि (**देवायुवम्**) या देवान्=पृथिव्यादीन् दिव्यगुणान्विदुषो वा यावयति ताम् ॥ १६ ॥

अन्वयः—हे विद्वन् ! यः पृथिव्यां तपसो दिवो धर्त्ता यस्तपोजा अमर्त्यो देवो देवानां धर्त्ता जगदीश्वरो विभाति तद्विज्ञानेनाऽस्मे देवायुवं वाचं नियच्छ ॥ १६ ॥

सपदार्थान्वयः—हे विद्वन् ! यः **पृथिव्याम्** अन्तरिक्षे **तपसः** प्रतापकस्य **दिवः** प्रकाशमयस्य सूर्य्यादेः **धर्त्ता, यस्तपोजाः** यस्तपसो जायते=प्रकटयते सः, **अमर्त्यः** मृत्युधर्मरहितः, **देवः** प्रकाशस्वरूपः, **देवानां** पृथिव्यादीनां **धर्त्ता=जगदीश्वरो वि+भाति** विशेषेण प्रकाशते; **तद्विज्ञानेनास्मे** अस्मभ्यं **देवायुवं** या देवान्=पृथिव्यादीन् दिव्यगुणान् विदुषो वा यावयति तां, **वाचं** सुशिक्षितां वा [illegible], **नि+यच्छ** नितरां देहि ।।३७।१६।।

भाषार्थ—हे विद्वान् ! जो (पृथिव्याम्) अन्तरिक्ष में (तपसः) सबको तपाने वाले, (दिवः) प्रकाशमय सूर्य आदि को (धर्त्ता) धारण करने वाला है; जो (तपोजाः) तप से प्रकट होने वाला, (अमर्त्यः) मृत्यु धर्म से रहित, (देवः) प्रकाश स्वरूप, (देवानाम्) पृथिवी आदि को (धर्त्ता) धारण करने वाला जगदीश्वर (वि+भाति) विशेष रूप से प्रकाशित हो रहा है; उसके विज्ञान से (अस्मे) हमें (देवायुवम्) देव अर्थात् पृथिवी आदि पदार्थ, दिव्य गुण वा विद्वानों को प्राप्त कराने वाली (वाचम्) सुशिक्षित वाणी को (नि+यच्छ) सर्वथा प्रदान कर ॥ ३७ । १६ ॥

भावार्थः—हे विद्वांसो ! यः परमेश्वरः सर्वेषां धर्त्ता, प्रकाशकः, तपसा विज्ञातव्योऽस्ति, तज्ज्ञापिकां विद्यामस्मभ्यं दत्त ॥ ३७ । १६ ॥

भावार्थ—हे विद्वानो ! जो परमेश्वर सब को धारण करने वाला, प्रकाशक तथा तप से जानने योग्य है; उस बतलाने वाली विद्या को हमें प्रदान करो ॥ ३७ । १६ ॥

भा० पदार्थः—देवः=प्रकाशकः । तपोजाः=तपसा विज्ञातव्यः । वाचम्=तज्ज्ञापिकां विद्याम् ॥

भाष्यसार—**ईश्वर की उपासना**—जो अन्तरिक्ष में प्रतापक, प्रकाशमय सूर्य आदि को धारण करने वाला है; जो तप से प्रकट होता है; जो मृत्यु धर्म से रहित है; जो प्रकाशस्वरूप है; जो देव अर्थात् पृथिवी आदि पदार्थों को धारण करने वाला है वह विशेष रूप से प्रकाशित हो रहा है। विद्वान् लोग उक्त जगदीश्वर के विज्ञान (उपासना) से सब मनुष्यों को पृथिवी आदि पदार्थ, दिव्य गुण और विद्वानों से मेल कराने वाली सुशिक्षित वाणी प्रदान करें ॥ ३७ । १६ ॥

दीर्घतमाः । **ईश्वरः=स्पष्टम्** । निचृत्त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

ईश्वरोपासकाः कीदृशा भवन्तीत्याह ॥

ईश्वर के उपासक कैसे होते हैं, यह उपदेश किया है ॥

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम् ।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान ऽ आ वरीवर्त्ति भुवनेष्वन्तः ॥ १७ ॥

पदार्थः—(**अपश्यम्**) पश्येयम् (**गोपाम्**) रक्षकम् (**अनिपद्यमानम्**) अपदनशीलमचलम् (**आ**) (**च**) (**परा**) (**च**) (**पथिभिः**) ज्ञानमार्गैः (**चरन्तम्**) प्राप्नुवन्तम् (**सः**) (**सध्रीचीः**) सह वर्त्तमानाः (**सः**) (**विषूचीः**) व्याप्ताः (**वसानः**) आच्छादकः (**आ**) (**वरीवर्त्ति**) समन्ताद्भृशमावृणोति=समन्ताद्वर्त्तते वा (**भुवनेषु**) लोकलोकान्तरेषु (**अन्तः**) मध्ये ॥ १७ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या अहं यं पथिभिराचरन्तं पराचरन्तमनिपद्यमानं गोपं जगदीश्वरमपश्यं स च सध्रीचीः स च विषूचीर्वसानः सन् भुवनेष्वन्तरा वरीवर्त्ति तं यूयमपि पश्यत ॥ १७ ॥

सपदार्थान्वयः— **हे मनुष्याः ! अहं यं पथिभिः** ज्ञानमार्गैः **आचरन्तं पराचरन्तं** प्राप्नुवन्तम्, **अनिपद्यमानम्** अपदनशीलमचलं, **गोपां** रक्षकम् **जगदीश्वरमपश्यम्** पश्येयम्,

स च सध्रीचीः सह वर्त्तमानाः **स च विषूचीः** व्याप्ताः **वसानः** आच्छादकः **सन् भुवनेषु** लोकलोकान्तरेषु **अन्तः** मध्ये **आ+वरीवर्त्ति** समन्ताद् भृशमावृणोति समन्ताद् वर्त्तते वा, **तं यूयमपि पश्यत** । ॥ ३७ । १७ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! मैं जिस (पथिभिः) ज्ञान-मार्गों से (आ+चरन्तम्, परा+चरन्तम्) इधर और उधर प्राप्त होने वाले, (अनिपद्यमानम्) गति रहित, अचल, (गोपाम्) रक्षक, जगदीश्वर को (अपश्यम्) देखता हूँ—

और (सः) वह (सध्रीचीः) साथ वर्त्तमान, दिशाओं को तथा वह (विषूचीः) व्याप्त उपदिशाओं को (वसानः) आच्छादित करने वाला होकर (भुवनेषु) लोक-लोकान्तरों के (अन्तः) मध्य में (आ+वरीवर्त्ति) सब ओर से सब को अत्यन्त आच्छादित कर रहा है; अथवा सब ओर विद्यमान है; उसे तुम भी देखो ॥ ३७ । १७ ॥

भावार्थः—ये मनुष्याः सर्वलोकाभिव्यापिनमन्तर्यामिरूपेण प्राप्तमधार्मिकैरविद्वद्भिरयोगिभिरविज्ञेयं परमात्मानं विज्ञायात्मना युञ्जते, ते सर्वान् धर्म्यान् मार्गान् प्राप्य विशुध्यन्ति ॥ ३७ । १७ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य सब लोकों में व्यापक, अन्तर्यामी रूप से प्राप्त, अधार्मिक अविद्वान्, अयोगी जनों से न जानने योग्य, परमात्मा को जानकर आत्मा को युक्त करते हैं; वे सब धर्मयुक्त मार्गों को प्राप्त करके विशुद्ध होते हैं ॥३७।१७॥

भा० पदार्थः—पथिभिः=सर्वैर्धर्म्यैर्मार्गैः ॥

भाष्यसार—**ईश्वर के उपासक कैसे होते हैं**— ईश्वर के उपासक लोग ज्ञान-मार्गों से इधर और उधर अर्थात् सर्वत्र प्राप्त होने वाले, गति रहित अर्थात् अचल और रक्षक जगदीश्वर को देखते हैं। वह सब दिशाओं और उपदिशाओं को आच्छादित करने वाला है। वह लोक-लोकान्तरों में विद्यमान है। उस जगदीश्वर को उपासक लोग देखते हैं। वे परमात्मा को जानकर आत्मा के साथ युक्त करते हैं। वे सब धर्मयुक्त मार्गों को प्राप्त करके विशुद्ध होते हैं ॥ ३७ । १७ ॥

दध्यङ्ङाथर्वणः । **ईश्वरः=स्पष्टम्** । अत्यष्टिः । गान्धारः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

ईश्वर उपासना का फिर उपदेश किया है ॥

विश्वा॑सां भु॒वां पते॒ विश्व॑स्य मनसस्पते॒ विश्व॑स्य वचसस्पते॒ सर्व॑स्य वचसस्पते ।
दे॒व॒श्रुत्त्वं दे॑व घर्म दे॒वो दे॒वान् पा॒ह्यत्र॒ प्रावी॒रनु॑ वां दे॒ववी॑तये ।
मधु॒ माध्वी॑भ्यां॒ मधु॒ माधू॑ची॒भ्याम् ॥ १८ ॥

पदार्थः— (**विश्वासाम्**) समग्राणाम् (**भुवाम्**) पृथिवीनाम् (**पते**) स्वामिन् (**विश्वस्य**) समग्रस्य (**मनसः**) सङ्कल्पविकल्पादिवृत्तियुक्तस्यान्तःकरणस्य (**पते**) रक्षक (**विश्वस्य**) (**वचसः**) वेदवाचः (**पते**) पालक (**सर्वस्य**) अखिलस्य (**वचसः**) वचनस्य (**पते**) रक्षक (**देवश्रुत्**) यो देवान्=विदुषः शृणोति सः (**त्वम्**) (**देव**) सर्वसुखदातः (**घर्म**) प्रदीपक (**देवः**) रक्षकः सन् (**देवान्**) धार्मिकान् विदुषः (**पाहि**) (**अत्र**) अस्मिन् जगति (**प्र**) (**अवीः**) देहि । **अत्र लोडर्थे लुङडभावश्च** (**अनु**) (**वाम्**) युवाभ्याम् (**देववीतये**) दिव्यानां गुणानां व्याप्तये (**मधु**) मधु=विज्ञानम् (**माध्वीभ्याम्**) मधुरादिगुणयुक्ताभ्यां विद्यासुशिक्षाभ्याम् (**मधु**) मधुरादिगुणयुक्तं धर्मम् (**माधूचीभ्याम्**) यौ मधुविद्यामञ्चतस्ताभ्याम् ।। १८ ।।

प्रमाणार्थ--(**अवीः**) देहि । यहाँ 'लोट्' लकार के अर्थ में 'लुङ्' लकार और 'अट्' आगम का अभाव है ।।

अन्वयः—हे विश्वासां भुवां पते विश्वस्य मनसस्पते विश्वस्य वचसस्पते सर्वस्य वचसस्पते घर्म देव जगदीश्वर ! देवश्रुद्देवस्त्वमत्र देवान्पाहि । माध्वीभ्यां सह मधु प्रावीर्माधूचीभ्यां देववीतये देवाननुपाहीति । हे अध्यापकोपदशकौ ! वां युवाभ्यामहमिदमुपदिशेयम् ।। १८ ।।

सपदार्थान्वयः— हे **विश्वासां** समग्राणां **भुवां** पृथिवीनां **पते** स्वामिन् ! **विश्वस्य** समग्रस्य**मनसः** सङ्कल्पविकल्पादिवृत्तियुक्तस्यान्तः-करणस्य **पते** रक्षक ! **विश्वस्य वचसः** वेदवाचः **पते** पालक ! **सर्वस्य** अखिलस्य **वचसः** वचनस्य **पते** रक्षक ! **धर्म** प्रदीपक, **देव जगदीश्वर** सर्वसुखदातः ! **देवश्रुत्** यो देवान्=विदुषः शृणोति सः, **देवः** रक्षकः सन्, **त्वमत्र** अस्मिन् जगति **देवान्** धार्मिकान् विदुषः **पाहि ।**

माध्वीभ्यां मधुरादिगुणयुक्ताभ्यां विद्यासुशिक्षा-भ्यां **सह मधु** मधु=विज्ञानं **प्रावीः** देहि ।

माधूचीभ्यां यौ मधुविद्यामञ्चतस्ताभ्यां [मधु] मधुरादिगुणयुक्तं धर्मं **देववीतये** दिव्यानां गुणानां व्याप्तये **देवान्** धार्मिकान् विदुषः **अनुपाहीति ।**

हे **अध्यापकोपदेशकौ** ! **वां=युवाभ्यामह-मिदमुपदिशेयम्** ।। ३७ । १८ ।।

भाषार्थ—हे (विश्वासाम्) सब (भुवाम्) पृथिवियों के (पते) स्वामिन् ! (विश्वस्य) सब (मनसः) संकल्प-विकल्प आदि वृत्ति से युक्त अन्तः करण के (पते) रक्षक ! (विश्वस्य) सब (वचसः) वेदवाणी के (पते) पालक ! (सर्वस्य) सब (वचसः) वचनों के (पते) रक्षक ! (धर्म) प्रकाशक ! (देव) सब सुखों के दाता जगदीश्वर! (देवश्रुत्) विद्वानों की प्रार्थना को सुनने वाला तथा (देवः) रक्षक होकर तू (अत्र) इस जगत् में (देवान्) धार्मिक विद्वानों की (पाहि) रक्षा कर ।

तू—(माध्वीभ्याम्) मधुर आदि गुणों से युक्त विद्या और सुशिक्षा के साथ (मधु) विज्ञान को (प्रावीः) प्रदान कर ।

तू—(माधूचीभ्याम्) मधु=विद्या को प्राप्त करने वाले दो विद्वानों के साथ [मधु] मधुर आदि गुणों से युक्त धर्म को, तथा (देववीतये) दिव्य गुणों को प्राप्त करने के लिए (देवान्) धार्मिक विद्वानों की (अनु+पाहि) रक्षा कर ।

हे अध्यापक और उपदेशक ! (वायु) तुम दोनों के लिए मैं यह उपदेश करता हूँ ।। ३७ । १८ ।।

भावार्थः—हे विद्वांसो ! यूयं विश्ववेदात्ममनसां स्वामिनं, सर्वश्रोतारं सर्वस्य रक्षितारं परमात्मानं विज्ञाय, दिव्यं सुखं प्राप्यान्यान् प्रापयत ॥ ३७ । १८ ॥

भावार्थ—हे विद्वानो ! तुम—सब वेद, आत्मा और मन के स्वामी, सबके श्रोता, सब के रक्षक परमात्मा को जानकर, दिव्य सुख को प्राप्त करके अन्यों को प्राप्त कराओ ॥ ३७ । १८ ॥

भा० पदार्थः—पते=स्वामिन् । देवश्रुत्=सर्वश्रोता । मधु । दिव्यं सुखम् ।

भाष्यसार—**ईश्वर की उपासना**—जो जगदीश्वर सब पृथिवियों का स्वामी है, मन अर्थात् संकल्प=विकल्प आदि वृत्ति से युक्त अन्तःकरण का रक्षक है, सकल वेदवाणी का पालक है; सब वचनों का रक्षक है, सब का प्रकाशक तथा सब सुखों का दाता है। वह विद्वानों की प्रार्थना सुनने वाला है तथा धार्मिक विद्वानों की रक्षा करता है। वह माधुर्य आदि गुणों से युक्त विद्या और सुशिक्षा से विज्ञान प्रदान करता है। माधुर्य गुण से युक्त विद्या को प्राप्त करने वाले अध्यापक और उपदेशक से मधुरादि गुणों से युक्त धर्म की तथा दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए धार्मिक विद्वानों की रक्षा करता है। विद्वान् लोग उक्त परमात्मा की उपासना करके अर्थात् उसे जानकर दिव्य सुख को प्राप्त करें और अन्यों को भी प्राप्त करावें ॥ ३७ । १८ ॥ ●

आथर्वणः । **ईश्वरः**=**स्पष्टम्** । विराडुष्णिक् । ऋषभः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

ईश्वर उपासना का फिर उपदेश किया है ॥

हृदे त्वा मन॑से त्वा दि॒वे त्वा॒ सूर्य्या॑य त्वा । ऊ॒र्ध्वो ऽ अ॑ध्व॒रं दि॒वि दे॒वेषु॑ धेहि ॥ १९ ॥

पदार्थः—(**हृदे**) हृदयस्य चेतनत्वाय (**त्वा**) त्वाम् (**मनसे**) विज्ञानवतेऽन्तःकरणाय (**त्वा**) (**दिवे**) विद्याप्रकाशाय विद्युद्विद्यायै वा (**त्वा**) (**सूर्य्याय**) सूर्य्यादिलोकविज्ञानाय (**त्वा**) (**ऊर्ध्वः**) सर्वेभ्य उत्कृष्टः (**अध्वरम्**) अहिंसामयं यज्ञम् (**दिवि**) दिव्ये व्यवहारे (**देवेषु**) विद्वत्सु (**धेहि**) प्रचारय ॥ १९ ॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर ! यं हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे सूर्य्याय त्वा ध्यायेम स ऊर्ध्वस्त्वं दिवि देवेषु चाध्वरं धेहि ॥ १९ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे जगदीश्वर ! यं हृदे** हृदयस्य चेतनत्वाय **त्वा** त्वां, **मनसे** विज्ञानवतेऽन्तःकरणाय **त्वा** त्वां, **दिवे** विद्याप्रकाशाय विद्युद्विद्यायै वा **त्वा** त्वां, **सूर्य्याय** सूर्य्यादिलोकविज्ञानाय **त्वा** त्वां **ध्यायेम; स ऊर्ध्वः** सर्वेभ्य उत्कृष्टः **त्वं दिवि** दिव्ये व्यवहारे, **देवेषु** विद्वत्सु **चाध्वरम्** अहिंसामयं यज्ञं **धेहि** प्रचारय ॥ ३७।१९ ॥

भाषार्थ—हे जगदीश्वर ! (हृदे) हृदय की चेतनता के लिए (त्वा) तुझे, (मनसे) विज्ञानवान् अन्तःकरण के लिए (त्वा) तुझे, (दिवे) विद्याप्रकाश वा विद्युत्-विद्या के लिए (त्वा) तुझे, (सूर्य्याय) सूर्यादि लोकों के विज्ञान के लिए (त्वा) तुझे हम ध्याते हैं; तेरा हम ध्यान करते हैं; सो (ऊर्ध्वः) सबसे उत्कृष्ट तू—(दिवि) दिव्य व्यवहार में और (देवेषु) विद्वानों में (अध्वरम्) अहिंसामय यज्ञ का (धेहि) प्रचार कर ॥ ३७ । १९ ॥

भावार्थः—ये मनुष्याः सत्यभावेनात्मान्तःकरणशुद्धये सृष्टिविद्यायै चेश्वरमुपासते, स

भावार्थ—जो मनुष्य सत्य भाव से आत्मा और अन्तःकरण की शुद्धि के लिए और सृष्टि-

कृपालुरीश्वरो विद्याधर्मदानेन सर्वेभ्यो दुःखेभ्य उद्धरति ॥ ३७ । १९ ॥

विद्या के लिए ईश्वर की उपासना करते हैं; वह कृपालु ईश्वर विद्या और धर्म के दान से सब दुःखों से उद्धार करता है ॥ ३७ । १९ ॥

भा० पदार्थः—हृदे=आत्मशुद्धये । मनसे=अन्तःकरणशुद्धये । सूर्याय=सृष्टिविद्यायै । अध्वरम्=विद्याधर्मदानम् ॥

भाष्यसार—**ईश्वर की उपासना**—सब मनुष्य—हृदय की चेतनता, विज्ञानवान् अन्तःकरण, विद्या-प्रकाश, विद्युत्-विद्या और सूर्यादि लोकों के विज्ञान की प्राप्ति के लिए जगदीश्वर का ध्यान करें; उसकी उपासना करें। वह सर्वोत्कृष्ट, कृपालु ईश्वर—दिव्य व्यवहार में तथा विद्वानों में अहिंसामय यज्ञ का प्रचार करता है। विद्या और धर्म के दान से सब दुःखों से उद्धार करता है। अतः सब मनुष्य सच्ची भावना से आत्मा और अन्तःकरण की शुद्धि के लिए और सृष्टि-विद्या की प्राप्ति के लिए ईश्वर की उपासना करें ॥ ३७ । १९ ॥

आथर्वणः । **ईश्वरः=स्पष्टम्** । निचृदतिजगती । निषादः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

ईश्वर-उपासना का फिर उपदेश किया है ॥

पिता नोऽसि पिता नो बोधि नमस्ते ऽ अस्तु मा मा हिंसीः ।
त्वष्टृमन्तस्त्वा सपेम पुत्रान् पशून् मयि धेहि प्रजामस्मासु धेह्यरिष्टाहꣳ सह पत्या भूयासम् ॥ २० ॥

पदार्थः—(**पिता**) जनक इव (**नः**) अस्माकम् (**असि**) (**पिता**) राजेव पालकः (**नः**) अस्मान् (**बोधि**) बोधय (**नमः**) (**ते**) तुभ्यम् (**अस्तु**) (**मा**) निषेधे (**मा**) माम् (**हिंसीः**) हिंसया युक्तं कुर्य्याः (**त्वष्टृमन्तः**) बहवस्त्वष्टारः=प्रकाशात्मानः पदार्था विद्यन्ते येषु ते (**त्वा**) त्वाम् (**सपेम**) सम्बन्धं कुर्य्याम (**पुत्रान्**) पवित्रगुणकर्मस्वभावान् (**पशून्**) गवादीन् (**मयि**) (**धेहि**) (**प्रजाम्**) राष्ट्रम् (**अस्मासु**) (**धेहि**) (**अरिष्टा**) अहिंसिता (**अहम्**) (**सहपत्या**) स्वामिना सह (**भूयासम्**) ॥ २० ॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर ! त्वं नः पिताऽसि पिता सन्नोऽस्मान् बोधि ते नमोऽस्तु त्वं मा मा हिंसीस्त्वष्टृमन्तो वयं त्वा सपेम त्वं पुत्रान् पशून् मयि धेहि अस्मासु प्रजां धेहि यतोऽहमरिष्टा सती सहपत्या भूयासम् ॥ २० ॥

सपदार्थान्वयः—हे **जगदीश्वर !** **त्वं नः** अस्माकं **पिता** जनक इव **असि; पिता** राजेव पालकः **सन् नः=अस्मान् बोधि** बोधय ।

ते तुभ्यं **नमोऽस्तु, त्वं मा** मां **मा** न **हिंसीः** हिंसया युक्तं कुर्य्याः ।

त्वष्टृमन्तः बहवस्त्वष्टारः = प्रकाशात्मानः पदार्था विद्यन्ते येषु ते, **वयं त्वा** त्वां **सपेम** सम्बन्धं कुर्य्याम ।

भाषार्थ—हे जगदीश्वर ! तू—(नः) हमारे (पिता) पिता के तुल्य (असि) है; तू (पिता) राजा के तुल्य पालक होकर (नः) हमें (बोधि) बोध करा ।

(ते) तेरे लिए (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो; तू (मा) मुझे (मा, हिंसीः) हिंसा से युक्त मत कर ।

(त्वष्टृमन्तः) बहुत से प्रकाशात्मक पदार्थों वाले हम लोग (त्वा) तुझ से (सपेम) सम्बन्ध स्थापित करते हैं ।

त्वं पुत्रान् पवित्रगुणकर्मस्वभावान् **पशून्** गवादीन् **मयि धेहि, अस्मासु प्रजां** राष्ट्रं **धेहि, यतोऽहमरिष्टा** अहिंसिता **सती सहपत्या** स्वामिना सह **भूयासम्** ।। ३७ । २० ।।

तू—(पुत्रान्) पवित्र गुण-कर्म-स्वभाव वाले पुत्रों तथा (पशून्) गौ आदि पशुओं को (मयि) मुझ में (धेहि) स्थापित कर, (अस्मासु) हम में (प्रजाम्) राष्ट्र को (धेहि) स्थापित कर, जिससे (अहम्) मैं (अरिष्टा) अहिंसित होकर (सहपत्या) पति सहित (भूयासम्) रहूँ ।। ३७ । २० ।।

भावार्थः—हे जगदीश्वर! भवान् नोऽस्माकं पिता=स्वामी बन्धुर्मित्रो रक्षकोऽसि, तस्मात् त्वां वयं सततमुपास्महे ।

हे स्त्रियो! यूयं परमात्मन एवोपासनां नित्यं कुरुत, यतः सर्वाणि सुखानि प्राप्नुत ।। ३७ । २० ।।

भावार्थ—हे जगदीश्वर! आप हमारे पिता अर्थात् स्वामी, बन्धु, मित्र एवं रक्षक हो; अतः आपकी हम सदा उपासना करते हैं।

हे स्त्रियो! तुम—परमात्मा की ही उपासना नित्य करो जिससे सब सुखों को प्राप्त करो ।। ३७ । २० ।।

भा० पदार्थः—पिता=स्वामी, बन्धुः, मित्रः, रक्षकः ।।

भाष्यसार—**ईश्वर की उपासना**—जगदीश्वर हमारे पिता के तुल्य है। वह राजा के तुल्य पालक है। वह हमें सब बोध कराता है। हम उसे नमस्कार करते हैं; उसकी उपासना करते हैं। वह हमें हिंसा से युक्त नहीं करता। बहुत प्रकाशात्मक पदार्थ उसमें विद्यमान हैं। हम उससे सम्बन्ध स्थापित करते हैं। वह पवित्र गुण-कर्म-स्वभाव वाले पुत्रों तथा गौ आदि पशुओं को हम में स्थापित करता है। वह हम में राष्ट्र की स्थापना करता है। अतः हम उस जगदीश्वर की उपासना करते हैं।

स्त्रियाँ भी उक्त जगदीश्वर की ही उपासना नित्य किया करें जिससे अहिंसित होकर सदा पति के साथ रहें अर्थात् सब सुखों को प्राप्त करें ।। ३७ । २० ।। ●

आथर्वणः । **ईश्वरः**=**स्पष्टम्** । अनुष्टुप् । गान्धारः ।।

पुनस्तमेव विषयमाह ।।

ईश्वर-उपासना का फिर उपदेश किया है ।।

अहः केतुना जुषताꣳ सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा ।
रात्रिः केतुना जुषताꣳ सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा ॥ २१ ॥

पदार्थः—(**अहः**) दिनम् (**केतुना**) जागरूकेण ज्ञानेन=जागृतावस्थया (**जुषताम्**) सेवताम् (**सुज्योतिः**) विद्याप्रकाशम् (**ज्योतिषा**) सूर्यादिप्रकाशेन वा धर्मादिप्रकाशेन (**स्वाहा**) सत्यया क्रियया (**रात्रिः**) (**केतुना**) प्रज्ञया सुकर्मणा वा (**जुषताम्**) (**सुज्योतिः**) (**ज्योतिषा**) प्रकाशेन सह (**स्वाहा**) सत्यया वाचा ।। २१ ।।

अन्वयः—हे विद्वन् विदुषि स्त्रि वा! भवती स्वाहा केतुना ज्योतिषा चाहः सुज्योतिर्जुषतां स्वाहा केतुना ज्योतिषा सह सुज्योतीरात्रिरस्मान् जुषताम् ।। २१ ।।

सपदार्थान्वयः—हे **विद्वन्**! **विदुषि स्त्रि** ! **वा भवती स्वाहा** सत्यया क्रियया **केतुना** जागरूकेण ज्ञानेन, जागृतावस्थया **ज्योतिषा** सूर्यादिप्रकाशेन वा धर्मादिप्रकाशेन **च अहः** दिनं **सुज्योतिः** विद्याप्रकाशं **जुषतां** सेवताम् ।

स्वाहा सत्यया वाचा **केतुना** प्रज्ञया सुकर्मणा वा **ज्योतिषा** प्रकाशेन **सह सुज्योतिः** विद्याप्रकाशं **रात्रिरस्मान् जुषतां** सेवताम् ।। ३७ । २१ ।।

भाषार्थ—हे विद्वान् ! वा विदुषी स्त्री ! आप—(स्वाहा) सत्य आचरण से, (केतुना) ज्ञान एवं जाग्रत् अवस्था से, और (ज्योतिषा) सूर्यादि के प्रकाश वा धर्मादि के प्रकाश से (अहः) प्रतिदिन (सुज्योतिः) विद्या-प्रकाश का (जुषताम्) सेवन करो। और—

(स्वाहा) सत्यवाणी, (केतुना) प्रज्ञा वा कर्म तथा (ज्योतिषा) प्रकाश के साथ (सुज्योतिः) विद्या-प्रकाश को (रात्रिः) प्रत्येक रात्रि हमें (जुषताम्) सेवन करावे, विद्या-प्रकाश प्रदान करे।। ३७ । २१ ।।

भावार्थः—ये स्त्रीपुरुषा दिवास्वापं रात्रावतिजागरणं विहाय युक्ताहारविहारा ईश्वरोपासनतत्परा भवेयुस्तानहर्निशं सुखकरं वस्तु प्राप्नोति। अतो यथा प्रज्ञा वर्द्धेत तथाऽनुष्ठातव्यमिति ।। ३७ । २१ ।।

भावार्थ—जो स्त्री पुरुष दिन में शयन और रात्रि में अतिजागरण को छोड़कर युक्त आहार-विहार वाले होकर ईश्वर की उपासना में तत्पर होते हैं उन्हें दिन-रात सुखकारक वस्तु प्राप्त होती है। अतः जैसे प्रज्ञा=बुंद्धि बढ़े वैसे सब मनुष्य आचरण करें। 'इति' पद अध्याय-समाप्ति का द्योतक है।। ३७ । २१ ।।

भाष्यसार—**ईश्वर की उपासना**—विद्वान् और विदुषी स्त्री—सत्य क्रिया, जाग्रतावस्था, सूर्यादि के प्रकाश तथा धर्मादि के प्रकाश से प्रतिदिन विद्या-प्रकाश का सेवन करें। सत्य वाणी प्रज्ञा और सुकर्म से तथा धर्मादि के प्रकाश से रात्रि में विद्या-प्रकाश का सेवन करें।

तात्पर्य यह है कि स्त्री और पुरुष दिन में न सोवें। रात्रि में अति जागरण न करें। युक्त आहार-विहार करें। ईश्वर उपासना में तत्पर रहें। दिन-रात विद्या-प्रकाश रूप सुखकर वस्तु को प्राप्त करें। प्रज्ञा और उत्तम कर्मों को बढ़ावें ।। ३७ । २१ ।।

[**पूर्वापराध्यायार्थसंगतिमाह**—]

अत्रेश्वरस्य योगिनः सूर्यपृथिव्योर्यज्ञस्य सन्मार्गस्य स्त्रीपत्योः पितृवद्वर्त्तमानस्य परमेश्वरस्य च वर्णनं युक्ताहारविहारस्य चानुष्ठानमुक्तमत एतदर्थस्य पूर्वाध्यायेन सह संगतिरस्तीति वेद्यम् ।। ३७ ।।

यहाँ ईश्वर (१), (योगी) (२), सूर्य और पृथिवी (३), यज्ञ (६-१०), सन्मार्ग (१७), स्त्री और पति तथा पिता के तुल्य वर्त्तमान (२०), परमेश्वर (१६-२१) और युक्त आहार-विहार के अनुष्ठान (२१) का उपदेश है; अतः इस अध्याय के अर्थ की पूर्व के साथ संगति है; ऐसा समझें ।। ३७ ।।

इति श्रीयुतपण्डितसुदर्शनदेवाचार्यविरचिते दयानन्द-यजुर्वेदभाष्य-भास्करे सप्तत्रिंशोऽध्यायः सम्पूर्णः ।।

॥ ओ३म् ॥

❋ अथाष्टात्रिंशोऽध्याय आरभ्यते ❋

ओ३म् विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑ सुव । यद्भ॒द्रं तन्न॒ऽआसु॑व ॥ १ ॥

य० ३० । ३ ॥

आथर्वणः । **सविता**=सूर्यः । निचृत्त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

अथ पत्न्या किंभूतया भवितव्यमित्याह ॥

अब अड़तीसवें अध्याय का आरम्भ है । इसके प्रथम मन्त्र में पत्नी कैसी होनी चाहिए, यह उपदेश किया है ॥

दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्या॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम् । आ द॒देऽदि॑त्यै॒ रास्ना॑सि ॥ १ ॥

पदार्थः—(**देवस्य**) कमनीयस्य (**त्वा**) त्वाम् (**सवितुः**) सकलजगदुत्पादकस्य (**प्रसवे**) उत्पत्तिधर्मके (**अश्विनोः**) सूर्याचन्द्रमसोः (**बाहुभ्याम्**) बलवीर्य्याभ्यामिव भुजाभ्याम् (**पूष्णः**) पोषकस्य (**हस्ताभ्याम्**) गतिधारणाभ्यामिव कराभ्याम् (**आ**) (**ददे**) गृह्णीयाम् (**अदित्यै**) नाशरहितायै नीत्यै (**रास्ना**) दात्री (**असि**) भवसि ॥ १ ॥

अन्वयः—हे विदुषि ! यतस्त्वमदित्यै रास्नासि तस्मात्सवितुर्देवस्य प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वाददे ॥ १ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे विदुषि ! यतस्त्वमदित्यै** नाशरहितायै नीत्यै **रास्ना** दात्री **असि** भवसि; **तस्मात् सवितुः** सकलजगदुत्पादकस्य **देवस्य** कमनीयस्य **प्रसवे** उत्पत्तिधर्मके, **अश्विनोः** सूर्याचन्द्रमसोः **बाहुभ्यां** बलवीर्य्याभ्यामिव भुजाभ्यां **पूष्णः** पोषकस्य **हस्ताभ्यां** गतिधारणाभ्यामिव कराभ्यां **त्वा** त्वाम् **आददे** गृह्णीयाम् ॥ ३८ । १ ॥

भाषार्थ—हे विदुषी स्त्री ! क्योंकि तू—(अदित्यै) नाश रहित नीति के लिए (रास्ना) सुख देने वाली (असि) है; अतः (सवितुः) सकल जगत् के उत्पादक (देवस्य) कामना करने योग्य ईश्वर के (प्रसवे) उत्पत्ति धर्मा जगत् में (अश्विनोः) सूर्य और चन्द्रमा के (बाहुभ्याम्) बल और वीर्य को तुल्य भुजाओं से, (पूष्णः) पोषक वायु के (हस्ता-

भ्याम्) गति और धारणशक्ति के तुल्य हाथों से (त्वा) तुझे (आददे) ग्रहण करता हूँ ।। ३८ । १ ।।

भावार्थः—हे स्त्रि ! यथा सूर्यो भूगोलान्, प्राणः शरीरम्, अध्यापकोपदेशकौ सत्यं गृह्णन्ति, तथैव त्वामहं गृह्णामि; त्वं सततमनुकूला सुखप्रदा च भव ।। ३८ । १ ।।

भावार्थ—हे स्त्री ! जैसे सूर्य भूगोलों को, प्राण शरीर को, अध्यापक और उपदेशक सत्य को ग्रहण करते हैं; वैसे ही तुझे मैं ग्रहण करता हूँ । तू सदा अनुकूल और सुख प्रदान करने वाली हो । ।। ३८ । १ ।।

भा० पदार्थः—अश्विनोः=अध्यापकोपदेशकौ । पूष्णः=प्राणस्य । रास्ना=सततमनुकूला सुखप्रदा च ।।

भाष्यसार—**पत्नी कैसी हो**—विदुषी पत्नी नाशरहित नीति के लिए सुखदायक हो । सकल जगत् के उत्पादक, कामना करने के योग्य ईश्वर के उत्पत्तिधर्मा जगत् में सूर्य और चन्द्रमा के बल और वीर्य के तुल्य दोनों भुजाओं तथा पोषक के वायु की गति और धारण शक्ति के तुल्य दोनों हाथों से उक्त पत्नी को पुरुष ग्रहण करे । जैसे सूर्य भूगोलों को, प्राण शरीर को, अध्यापक और उपदेशक सत्य को ग्रहण करते हैं वैसे पुरुष पत्नी को ग्रहण करे । और पत्नी सदा अनुकूल और सुखदायक हो ।।३८।१।।

आथर्वणः । **सरस्वती**=**प्रशस्तविज्ञानयुक्ता स्त्री** । निचृद्गायत्री । षड्जः ।।

स्त्रीपुरुषौ कथं विवहेतामित्याह ।।

स्त्री पुरुष कैसे विवाह करें, इस विषय का उपदेश किया जाता है ।।

इड॒ऽ एह्यदि॑त॒ऽ एहि॒ सर॑स्व॒त्येहि॑ । अस॒ावेह्यस॒ावेह्यस॒ावेहि॑ ।। २ ।।

पदार्थः—(**इडे**) सुशिक्षिता वागिव (**एहि**) प्राप्नुहि (**अदिते**) अखण्डितानन्ददे (**एहि**) (**सरस्वति**) प्रशस्तविज्ञानयुक्ते (**एहि**) (**असौ**) (**एहि**) (**असौ**) (**एहि**) (**असौ**) (**एहि**) ।। २ ।।

अन्वयः—हे इडे ! त्वं मामेहि योऽसौ त्वां प्राप्नुयात् तमेहि । हे अदिते ! त्वमखण्डितानन्दमेहि योऽसौ त्वामखण्डितानन्दं दद्यात्तमेहि । हे सरस्वति ! त्वं विद्वांसमेहि योऽसौ सुशिक्षकः स्यात्तमेहि ।। २ ।।

सपदार्थान्वयः—हे **इडे** सुशिक्षितावागिव ! **त्वं मामेहि** प्राप्नुहि; **योऽसौ त्वां प्राप्नुयात्; तमेहि** प्राप्नुहि ।

हे **अदिते** ! अखण्डितानन्ददे ! **त्वमखण्डितानन्दमेहि** प्राप्नुहि; **योऽसौ त्वामखण्डितानन्दं दद्यात्तमेहि** प्राप्नुहि ।

हे सरस्वति ! प्रशस्तविज्ञानयुक्ते ! **त्वं विद्वांसमेहि** प्राप्नुहि; **योऽसौ सुशिक्षकः स्यात्तमेहि** प्राप्नुहि ।। ३८ । २ ।।

भाषार्थ—हे (इडे) सुशिक्षित वाणी के तुल्य स्त्री ! तू—मुझे (एहि) प्राप्त हो; जो (असौ) पुरुष तुझे प्राप्त हो, उसे तू (एहि) प्राप्त हो ।

हे (अदिते) अखण्डित आनन्द देने वाली स्त्री ! तू—अखण्डित आनन्द को (एहि) प्राप्त कर । जो (असौ) पुरुष तुझे अखण्डित आनन्द प्रदान करे, उसे तू (एहि) प्राप्त हो ।

हे (सरस्वति) प्रशस्त विज्ञान से युक्त स्त्री ! तू—विद्वान् को (एहि) प्राप्त कर; जो (असौ) यह पुरुष उत्तम शिक्षक हो उसे (एहि) प्राप्त कर ।। ३८ । २ ।।

भावार्थः—यदा स्त्रीपुरुषौ विवाहं कर्त्तुमिच्छेतां; तदा ब्रह्मचर्येण विद्यया स्त्रीपुरुषधर्माचरणे विदित्वैव कुर्याताम् ॥ ३८ । २ ॥

भावार्थ—जब स्त्री-पुरुष विवाह करना चाहें तब ब्रह्मचर्य से विद्या के द्वारा स्त्री-पुरुष और धर्माचरण को जानकर ही करें ॥ ३८ । २ ॥

भा० पदार्थः—इडे [इडा]=विद्या । अदिते [अदितिः] ब्रह्मचर्यम् । सरस्वति [सरस्वती]=धर्माचरणम् ॥

भाष्यसार—स्त्री-पुरुष कैसे विवाह करें—जब विवाह करने की इच्छा हो तब पुरुष स्त्री से कहे—हे सुशिक्षित वाणी के तुल्य स्त्री ! तू मुझे प्राप्त हो । और जो पुरुष तुझे प्राप्त हो, उसे तू प्राप्त कर । हे अखण्डित आनन्द प्रदान करने वाली स्त्री ! तू मुझे अखण्डित आनन्द को प्राप्त करा । और जो पुरुष तुझे अखण्डित आनन्द प्रदान करे उसे तू प्राप्त कर । हे प्रशस्त विज्ञान से युक्त स्त्री ! तू विद्वान् पुरुष को प्राप्त कर । और जो उत्तम शिक्षक पुरुष हो उसे तू प्राप्त कर ।

तात्पर्य यह है कि जब स्त्री-पुरुष विवाह करना चाहें तब ब्रह्मचर्य से विद्या के द्वारा परस्पर स्त्री पुरुष को तथा धर्माचरण को जान कर ही विवाह करें ॥ ३८ । २ ॥ ●

आथर्वणः । **पूषा=पोषिका स्त्री** । भुरिक्साम्नी बृहती । मध्यमः ॥

स्त्रिया किं कार्य्यमित्याह ॥

स्त्री को क्या करना चाहिए, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

अदि॑त्यै॒ रास्ना॑सीन्द्रा॒ण्या ऽ उ॒ष्णीषः॑ । पू॒षासि॑ घ॒र्माय॑ दीष्व ॥ ३ ॥

पदार्थः—(**अदित्यै**) नित्यविज्ञानम् । **अत्र कर्मणि चतुर्थी** । (**रास्ना**) दात्री (**असि**) (**इन्द्राण्यै**) परमैश्वर्य्यकारिण्यै राजनीत्यै (**उष्णीषः**) शिरोवेष्टनमिव (**पूषा**) भूमिरिव पोषिका (**असि**) (**घर्माय**) प्रसिद्धाऽप्रसिद्धसुखप्रदाय यज्ञाय (**दीष्व**) देहि । **अत्र शपो लुक् छन्दस्युभयथेत्यार्द्धधातुकत्वम्** ॥ ३ ॥

प्रमाणार्थ—(**आदित्यै**) नित्यविज्ञानम् । यहाँ कर्म में चतुर्थी विभक्ति है । (**दीष्व**) देहि यहाँ 'शप्' का लुक् तथा 'छन्दस्युभयथा' (अ० ३ । ४ । ११७) से आर्धधातुकत्व है ॥

अन्वयः—हे कन्ये ! या त्वमदित्यै रास्नासि उष्णीष इवेन्द्राण्यै पूषासि सा त्वं घर्माय दीष्व ॥ ३ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **कन्ये** ! या **त्वमदित्यै** नित्यविज्ञानं **रास्ना** दात्री **असि; उष्णीषः** शिरोवेष्टनम् **इवेन्द्राण्यै** परमैश्वर्यकारिण्यै राजनीत्यै **पूषा** भूमिरिव पोषिका **असि, सा त्वं घर्माय** प्रसिद्धाऽप्रसिद्धसुखप्रदाय यज्ञाय **दीष्व** देहि ॥३८।३॥

भाषार्थ—हे कन्या ! जो तू—(अदित्यै) नित्य विज्ञान को (रास्ना) देने वाली (असि) है; (उष्णीषः) पगड़ी आदि के तुल्य सुखदायक है; तथा (इन्द्राण्यै) परम ऐश्वर्य को उत्पन्न करने वाली राजनीति के लिए (पूषा) भूमि के तुल्य पोषिका (असि) है; सो तू—(घर्माय) प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध सुखदायक यज्ञ के लिए (दीष्व) दान कर ॥ ३८ । ३ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । हे स्त्रि ! यथोष्णीषादीनि वस्त्राणि सुखप्रदानि

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । हे स्त्री ! जैसे पगड़ी आदि वस्त्र

सन्ति, तथाऽपत्याय सुखानि प्रयच्छ ॥ ३८ । ३ ॥

सुखदायक होते हैं वैसे-वैसे तू सन्तान को सुख प्रदान कर ॥ ३८ । ३ ॥

भा० पदार्थः—उष्णीषः=उष्णीषादीनि वस्त्राणि । घर्माय=अपत्याय ॥ ३८ । ३ ॥

भाष्यसार—**१. स्त्री क्या करे**—स्त्री नित्य विज्ञान को देने वाली हो । पगड़ी आदि के तुल्य सन्तानों के लिए सुखदायक हो । परम ऐश्वर्य को उत्पन्न करने वाली राजनीति के लिए भूमि के तुल्य पोषक हो । प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध सुख देने वाले यज्ञ के लिए दान करने वाली हो ।

२. अलंकार—इस मन्त्र में उपमावाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । उपमा यह है कि जैसे पगड़ी आदि वस्त्र सुखदायक होते हैं । वैसे स्त्री सन्तानों के लिए सुखदायक हो ॥ ३८ । ३ ॥

आथर्वणः । **सरस्वती**=स्त्री । आर्ची पङ्क्तिः । पञ्चमः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

स्त्री को क्या करना चाहिए, यह फिर उपदेश किया है ॥

अश्विभ्यां पिन्वस्व सरस्वत्यै पिन्वस्वेन्द्राय पिन्वस्व ।
स्वाहेन्द्रवत् स्वाहेन्द्रवत् स्वाहेन्द्रवत् ॥ ४ ॥

पदार्थः—(**अश्विभ्याम्**) चन्द्रसूर्य्याभ्याम् (**पिन्वस्व**) तृप्नुहि (**सरस्वत्यै**) सुशिक्षितायै वाचे (**पिन्वस्व**) (**इन्द्राय**) परमैश्वर्याय (**पिन्वस्व**) (**स्वाहा**) सत्यया क्रियया (**इन्द्रवत्**) इन्द्रं=परमैश्वर्यं विद्यते यस्मिंस्तद् गृहीत्वा (**स्वाहा**) सत्यया वाचा (**इन्द्रवत्**) चेतनात्मगुणसंयुक्तं शरीरं प्राप्य (**स्वाहा**) (**इन्द्रवत्**) विद्युद्वत् ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे विदुषि स्त्रि ! त्वमिन्द्रवत्स्वाहाऽश्विभ्यां पिन्वस्वेन्द्रवत्स्वाहा सरस्वत्यै पिन्वस्वेन्द्रवत्स्वाहेन्द्राय पिन्वस्व ॥ ४ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **विदुषि स्त्रि ! त्वमिन्द्रवत्** इन्द्रं=परमैश्वर्यं विद्यते यस्मिंस्तद् गृहीत्वा **स्वाहा** सत्यया क्रियया **अश्विभ्यां** चन्द्र-सूर्य्याभ्यां **पिन्वस्व** तृप्नुहि ।

इन्द्रवत् चेतनात्मगुणसंयुक्तं शरीरं प्राप्य **स्वाहा** सत्यया वाचा **सरस्वत्यै** सुशिक्षितायै वाचे **पिन्वस्व** तृप्नुहि ।

इन्द्रवत् विद्युद्वत् **स्वाहा** सत्यया क्रियया **इन्द्राय** परमैश्वर्याय **पिन्वस्व** तृप्नुहि ॥ ३८ । ४ ॥

भाषार्थ—हे विदुषी स्त्री ! तू—(इन्द्रवत्) परम ऐश्वर्य से युक्त वस्तु को ग्रहण करके (स्वाहा) सत्य आचरण से (अश्विभ्याम्) सूर्य और चन्द्रमा के लिए (पिन्वस्व) तृप्त हो । और—

(इन्द्रवत्) चेतन आत्मा के गुणों से युक्त शरीर को प्राप्त करके (स्वाहा) सत्य वाणी से (सरस्वत्यै) सुशिक्षित वाणी के लिए (पिन्वस्व) तृप्त हो ।

(इन्द्रवत्) विद्युत् वाली विद्या को प्राप्त करके (स्वाहा) सत्य आचरण से (इन्द्राय) परम ऐश्वर्य के लिए (पिन्वस्व) तृप्त हो ॥ ३८ । ४ ॥

भावार्थः—ये स्त्रीपुरुषा विद्युदादिविद्यैश्वर्यमुन्नयेयुस्ते सुखमपि लभेरन् ॥ ३८ । ४ ॥

भावार्थ—जो स्त्री-पुरुष विद्युत् आदि विद्या से ऐश्वर्य को उन्नत करते हैं; वे सुख को भी प्राप्त होते हैं ॥ ३८ । ४ ॥

भा० पदार्थः—पिन्वस्व=सुखं लभस्व ॥

भाष्यसार—स्त्री क्या करे— विदुषी स्त्री परम ऐश्वर्य से युक्त वस्तु को प्राप्त करके सत्य क्रिया के द्वारा चन्द्र और सूर्य की विद्या से तृप्त हो। वह चेतन आत्मा के गुणों से युक्त शरीर को प्राप्त करके सत्य वाणी के द्वारा सुशिक्षित वाणी से तृप्त हो। विद्युत् वाले पदार्थों को प्राप्त करके सत्य क्रिया के द्वारा परम ऐश्वर्य से तृप्त हो। तात्पर्य यह है कि स्त्री-पुरुष विद्युदादि विद्या को जानकर ऐश्वर्य को बढ़ावें तथा सुख को प्राप्त करें ॥ ३८ । ४ ॥

दीर्घतमाः । **वाग्**=विज्ञानवती स्त्री । निचदतिजगती । निषादः ॥

पुनः स्त्रीपुरुषौ किं कुर्य्यातामित्याह ॥

फिर स्त्री पुरुष क्या करें, यह उपदेश किया है ॥

यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः ।

येन विश्वा पुष्यसि वार्य्याणि सरस्वति तमिह धातवेऽकः । उर्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥ ५ ॥

पदार्थः—(**यः**) (**ते**) तव (**स्तनः**) दुग्धधारमङ्गम् (**शशयः**) शेते यस्मिन् सः (**यः**) (**मयोभूः**) यो मयः=सुखं भावयति सः (**यः**) (**रत्नधाः**) यो रत्नानि दधाति सः (**वसुवित्**) यो वसूनि=धनानि विन्दति=प्राप्नोति सः (**यः**) (**सुदत्रः**) शोभनं दत्रं=दानं यस्य सः (**येन**) (**विश्वा**) समग्राणि (**पुष्यसि**) (**वार्याणि**) वरितुमर्हाणि (**सरस्वति**) बहुविज्ञानयुक्ते (**तम्**) (**इह**) अस्मिन् संसारे (**धातवे**) धातुम् (**अकः**) कुर्य्याः (**उरु**) बहु (**अन्तरिक्षम्**) आकाशम् (**अनु**) (**एमि**) प्राप्नोमि ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे सरस्वति स्त्रि ! यस्ते शशयः स्तनो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रो येन विश्वा वार्य्याणि पुष्यसि तमिह धातवेऽकः । तेनाहमुर्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥ ५ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे सरस्वति !** बहु विज्ञानयुक्ते **स्त्रि ! यस्ते** तव **शशयः** शेते यस्मिन् सः, **स्तनः** दुग्धाधारमङ्गं, **यो मयोभूः** यो मयः=सुखं भावयति सः, **यो रत्नधाः** यो रत्नानि दधाति सः, **वसुवित्** यो वसूनि=धनानि विन्दति=प्राप्नोति सः, **यः सुदत्रः** शोभनं दत्रं=दानं यस्य सः, **येन विश्वा** समग्राणि **वार्याणि** वरितुमर्हाणि **पुष्यसि**; **तमिह** अस्मिन् संसारे **धातवे** धातुम् **अकः** कुर्य्याः, **तेनाहमुरु** बहु **अन्तरिक्षम्** आकाशम् **अन्वेमि** प्राप्नोमि ॥ ३८ । ५ ॥

भाषार्थ—हे (सरस्वति) बहुत विज्ञान से युक्त स्त्री ! (यः) जो (ते) तेरा (शशयः) जिसके आश्रय पर बालक सोता है वह (स्तनः) दूध का आधार स्तन है, और (यः) जो (मयोभूः) मय= सुख को उत्पन्न करने वाला, (यः) जो (रत्नधाः) रत्नों को धारण करने वाला, (वसुवित्) वसु= धनों को प्राप्त करने वाला, (यः) जो (सुदत्रः) उत्तम दान करने वाला पति है; (येन) जिससे (विश्वा) सब (वार्याणि) वरण=ग्रहण करने योग्य बालकों को (पुष्यसि) पुष्ट करती है; (तम्) उस पति को (इह) इस संसार में (धातवे) धारण करने के लिए (अकः) स्वीकार कर। उससे मैं (उरु) बहुत विस्तृत (अन्तरिक्षम्) सुख को (अन्वेमि) प्राप्त करता हूँ ॥ ३८ । ५ ॥

भावार्थः—यदि स्त्री न स्यात् तर्हि बालकानां पालनमशक्यं भवेत् ।

भावार्थ—यदि स्त्री न हो तो बालकों का पालन नहीं हो सकता ।

यया पुरुषो बहुसुखं, येन स्त्री च पुष्कलं सुखमाप्नुयात् तौ द्वावितरेतरं विवहेताम् ॥ ३८ । ५ ॥

जिस स्त्री से पुरुष बहुत सुख और जिस पुरुष से स्त्री पुष्कल सुख को प्राप्त हो वे दोनों परस्पर विवाह करें ॥ ३८ । ५ ॥

भा० पदार्थः—वार्याणि=बालकाः । उरु=पुष्कलम् । अन्तरिक्षम्=सुखम् ॥

भाष्यसार—स्त्री-पुरुष क्या करें—बहुत विज्ञान से युक्त स्त्री जिसके आश्रय से बालक शयन करता है उस स्तन से तथा सुख को उत्पन्न करने वाले, रत्नों को धारण करने वाले, धनों को प्राप्त करने वाले, उत्तम दान करने वाले पति के आश्रय से सब वरण=ग्रहण करने योग्य सन्तानों का पालन-पोषण करे। स्त्री के विना बालकों का पालन असम्भव है। स्त्री से पुरुष बहुत सुख को प्राप्त करता है और स्त्री भी पुरुष से बहुत सुख को प्राप्त करती है। अतः तुल्य गुण-कर्म-स्वभाव वाले स्त्री-पुरुष परस्पर विवाह करें ॥ ३८ । ५ ॥

दीर्घतमाः । **अश्विनौ=स्त्रीपुरुषौ** । निचृदत्यष्टिः । गान्धारः ॥

पुनः स्त्रीपुरुषयोः कीदृशः सम्बन्धः स्यादित्याह ॥

स्त्री पुरुष का कैसा सम्बन्ध हो, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

गायत्रं छन्दोऽसि त्रैष्टुभं छन्दोऽसि द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परि गृह्णाम्यन्तरिक्षेणोप यच्छामि ॥
इन्द्राश्विना मधुनः सारघस्य घर्मं पात वसवो यजत वाट् ।
स्वाहा सूर्य्यस्य रश्मये वृष्टिवनये ॥ ६ ॥

पदार्थः—(**गायत्रम्**) गायत्री छन्दसा प्रकाशितम् (**छन्दः**) स्वतन्त्राह्लादकरमिव (**असि**) (**त्रैष्टुभम्**) त्रिष्टुभा व्याख्यातमर्थजातम् (**छन्दः**) स्वतन्त्रमिव (**असि**) (**द्यावापृथिवीभ्याम्**) सूर्यभूमीभ्याम् (**त्वा**) त्वाम् (**परि**) सर्वतः (**गृह्णामि**) स्वीकरोमि (**अन्तरिक्षेण**) उदकेन सह प्रतिज्ञाताम् (**उपयच्छामि**) गृह्णामि (**इन्द्र**) परमैश्वर्य्ययुक्त (**अश्विना**) प्राणाऽपानाविव कार्य्यसाधकौ (**मधुनः**) मधुरादिगुणयुक्तस्य (**सारघस्य**) सरधाभिर्मधुमक्षिकाभिर्निर्मितस्य (**घर्मम्**) सुखवर्षकं यज्ञम् (**पात**) रक्षत (**वसवः**) पृथिव्यादय इव प्रथमविद्याकल्पाः (**यजत**) सङ्गच्छध्वम् (**वाट्**) सुष्ठु (**स्वाहा**) सत्यया क्रियया (**सूर्य्यस्य**) (**रश्मये**) शोधनाय (**वृष्टिवनये**) वृष्टेः संविभाजकाय ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे इन्द्र ! यथा त्वं गायत्रं छन्द इव हृद्यां स्त्रियं प्राप्तवानसि त्रैष्टुभं छन्द इव प्रशंसितां लब्धवानसि तथाऽहं त्वा दृष्ट्वा द्यावापृथिवीभ्यां प्रियां स्त्रियं परिगृह्णाम्यन्तरिक्षेणोपयच्छामि। हे अश्विना ! स्त्रीपुरुषौ युवां तथैव वर्त्तेयाथाम् । हे वसवो विद्वांसो यूयं स्वाहा मधुनः सारघस्य घर्मं पात सूर्य्यस्य वृष्टिवनये रश्मये वाट् यजत ॥ ६ ॥

सपदार्थान्वयः—हे इन्द्र परमैश्वर्ययुक्त ! **यथा त्वं गायत्रं** गायत्री छन्दसा प्रकाशितं छन्दः स्वतन्त्राह्लादकरम् **इव हृद्यां स्त्रियं प्राप्तवानसि; त्रैष्टुभं** त्रिष्टुभा व्याख्यातमर्थजातं छन्दः स्वतन्त्रम् **इव प्रशंसितां लब्धवानसि; तथाऽहं त्वा** त्वां **दृष्ट्वा द्यावापृथिवीभ्यां** सूर्य्यभूमीभ्यां

भावार्थ—हे (इन्द्र) परम ऐश्वर्य से युक्त पुरुष ! जैसे तू—(गायत्रम्) गायत्री छन्द से प्रकाशित (छन्दः) स्वतन्त्र आनन्दकारक अर्थ के तुल्य प्रिया स्त्री को प्राप्त कर चुका (असि) है; (त्रैष्टुभम्) त्रिष्टुप् छन्द से व्याख्यात (छन्दः) स्वतन्त्र अर्थ के तुल्य प्रशंसित स्त्री को प्राप्त कर

प्रियां स्त्रियं परि+गृह्णामि सर्वतः स्वीकरोमि, **अन्तरिक्षेण** उदकेन सह प्रतिज्ञाताम् **उपयच्छामि** गृह्णामि।

चुका (असि) है; वैसे मैं—(त्वा) तुझे देखकर (द्यावापृथिवीभ्याम्) सूर्य और भूमि के लिए प्रिया स्त्री को (परि+गृह्णामि) सब ओर से स्वीकार करता हूँ; (अन्तरिक्षेण) जल=आचमन के साथ प्रतिज्ञात स्त्री को (उप+यच्छामि) ग्रहण करता हूँ।

हे अश्विना=स्त्रीपुरुषौ प्राणाऽपानाविव कार्य साधकौ ! **युवां तथैव वर्तेयाथाम्।**

हे (अश्विना) प्राण और अपान के तुल्य कार्य-साधक स्त्री-पुरुषो ! तुम दोनों वैसे ही वर्ताव करो।

हे वसवः=विद्वांसः पृथिव्यादय इव प्रथम-विद्याकल्पाः ! **यूयं स्वाहा** सत्यया क्रियया **मधुनः** मधुरादिगुणयुक्तस्य **सारघस्य** सरघाभिर्मधु-मक्षिकाभिर्निर्मितस्य **घर्मं** सुखवर्षकं यज्ञं **पात** रक्षत; **सूर्यस्य वृष्टिवनये** वृष्टेः संविभाजकाय **रश्मये** शोधनाय **वाट्** सुष्ठु **यजत** सङ्गच्छध्वम् ॥ ३८।६॥

हे (वसवः) पृथिवी आदि के तुल्य प्रथम कोटि के विद्वानो ! तुम—(स्वाहा) सत्याचरण से (मधुनः) मधुर आदि गुणों से युक्त (सारघस्य) सरघा=मधु मक्खियों से निर्मित मधु के (घर्मम्) सुख-वर्षक यज्ञ की (पात) रक्षा करो। (सूर्यस्य) सूर्य की (वृष्टिवनये) वर्षा की विभाजक (रश्मये) किरणों की शुद्धि के लिए (वाट्) अच्छे प्रकार (यजत) यज्ञ करो; विद्वानों का संग करो ॥ ३८।६॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथा शब्दानामर्थैः सह वाच्यवाचकसम्बन्धः, सूर्येण सह पृथिव्या, रश्मिभिः सह वृष्टेः, यज्ञेन सह यजमानस्यर्त्विजा चास्ति, तथैव विवाहितयोः स्त्रीपुरुषयो, सम्बन्धो भवतु॥ ३८।६॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। जैसे शब्दों के अर्थों के साथ वाच्य-वाचक सम्बन्ध है, सूर्य के साथ पृथिवी का, किरणों के साथ वर्षा का, यज्ञ के साथ यजमान का और ऋत्विक् के साथ भी यजमान का सम्बन्ध है वैसे ही विवाहित स्त्री-पुरुषों का सम्बन्ध हो॥ ३८।६॥

भाष्यसार—१. स्त्री-पुरुष का कैसा सम्बन्ध हो—परम ऐश्वर्य से युक्त पुरुष गायत्री पुरुष छन्द से प्रकाशित, स्वतन्त्र एवं आनन्दकारक अर्थ के तुल्य हृदय को प्यारी लगने वाली स्त्री को प्राप्त करे। वह त्रिष्टुप् छन्द से व्याख्यात, स्वतन्त्र अर्थ के तुल्य प्रशंसित स्त्री को प्राप्त करे। उसका अनुकरण करके अन्य पुरुष भी सूर्य और भूमि के लिए प्रिय स्त्री को स्वीकार करे। जल (आचमन) के साथ प्रतिज्ञात स्त्री को स्वीकार करे। प्राण और अपान के तुल्य परस्पर कार्य-साधक स्त्री-पुरुष प्रेमपूर्ण वर्ताव करें।

पृथिवी आदि के तुल्य सुखदायक प्रथम कोटि के 'वसु' नामक विद्वान् लोग—'स्वाहा' नामक सत्य क्रिया से मधु की सुखमय वर्षा करने वाले यज्ञ की रक्षा करें। वृष्टि की विभाजक सूर्य की किरणों के शोधन के लिए अच्छे प्रकार यज्ञ करें।

जैसे गायत्री आदि छन्दों के शब्दों का अर्थों के साथ वाच्य-वाचक सम्बन्ध है, जैसे सूर्य के साथ पृथिवी सम्बन्ध है, जैसे किरणों के साथ वर्षा का सम्बन्ध है, यज्ञ और ऋत्विक् के साथ यजमान का सम्बन्ध है, वैसा ही विवाहित स्त्री और पुरुष का परस्पर सम्बन्ध है॥ ३८।६॥

२. अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि गायत्री आदि छन्दों के शब्दार्थ सम्बन्ध के तुल्य स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध है इत्यादि ॥ ३८ । ६ ॥

दीर्घतमाः। वातः=सृष्टिविद्या। भुरिगष्टिः। मध्यमः ॥

पुनः कृतविवाहौ स्त्रीपुंसौ किं कुर्यातामित्याह ॥

विवाहित स्त्री पुरुष क्या करें, यह उपदेश किया है ॥

समुद्राय त्वा वाताय स्वाहा। सरिराय त्वा वाताय स्वाहा।
अनाधृष्याय त्वा वाताय स्वाहा। अप्रतिधृष्याय त्वा वाताय स्वाहा।
अवस्यवे त्वा वाताय स्वाहा। अशिमिदाय त्वा वाताय स्वाहा ॥ ७ ॥

पदार्थः—(**समुद्राय**) अन्तरिक्षे गमनाय (**त्वा**) त्वाम् (**वाताय**) वायुविद्यायै वायोः शोधनाय वा (**स्वाहा**) सत्यया वाचा क्रियया वा (**सरिराय**) उदकशोधनाय (**त्वा**) (**वाताय**) गृहस्थाय वायवे (**स्वाहा**) (**अनाधृष्याय**) भयघर्षणराहित्याय (**त्वा**) (**वाताय**) ओषधिस्थवायुविज्ञानाय (**स्वाहा**) (**अप्रतिधृष्याय**) अधर्षितुं योग्यान् प्रति वर्त्तमानाय (**त्वा**) (**वाताय**) वायुवेगगतिविज्ञानाय (**स्वाहा**) (**अवस्यवे**) आत्ममनोऽवमिच्छवे (**त्वा**) (**वाताय**) प्राणशक्तिविज्ञानाय (**स्वाहा**) (**अशिमिदाय**) यदश्यते=भुज्यते तदन्नं तन्मेदते यस्मिंस्तस्मै रसाय (**त्वा**) (**वाताय**) उदानाय (**स्वाहा**) ॥ ७ ॥

अन्वयः—हे स्त्रि पुरुष वाऽहं स्वाहा समुद्राय वाताय त्वा स्वाहा सरिराय वाताय त्वा स्वाहाऽनाधृष्याय वाताय त्वा स्वाहाऽप्रतिधृष्याय वाताय त्वा स्वाहाऽवस्यवे वाताय त्वा स्वाहाऽशिमिदाय वाताय त्वोपयच्छामि ॥ ७ ॥

सपदार्थान्वयः—हे स्त्रि ! पुरुष वा ! अहं **स्वाहा** सत्यया वाचा क्रियया वा **समुद्राय** अन्तरिक्षे गमनाय **वाताय** वायुविद्यायै वायोः शोधनाय वा **त्वा** त्वां; **स्वाहा** सत्यया वाचा क्रियया वा **सरिराय** उदकशोधनाय **वाताय** गृहस्थाय वायवे **त्वा** त्वां, **स्वाहा** सत्यया वाचा क्रियया वा **अनाधृष्याय** भयघर्षणराहित्याय **वाताय** ओषधिस्थवायुविज्ञानाय **त्वा** त्वां, **स्वाहा** सत्यया वाचा क्रियया वा **अप्रतिधृष्याय** अधर्षितुं योग्यान् प्रति वर्त्तमानाय **वाताय** वायुवेगगतिविज्ञानाय **त्वा** त्वां, **स्वाहा** सत्यया वाचा क्रियया वा **अवस्यवे** आत्म-मनोऽवमिच्छवे **वाताय** प्राणशक्तिविज्ञानाय **त्वा** त्वां, **स्वाहा** सत्यया वाचा क्रियया वा **अशिमिदाय** यदश्यते=भुज्यते तदन्नं तन्मेदते यस्मिँस्तस्मै रसाय **वाताय** उदानाय **त्वा** त्वाम् **उपयच्छामि** ॥ ३८।७ ॥

भाषार्थ— हे स्त्री ! वा पुरुष ! मैं—(स्वाहा) सत्य वाणी वा क्रिया से (समुद्राय) अन्तरिक्ष में जाने के लिए तथा (वाताय) वायुविद्या वा वायु के शोधन के लिए (त्वा) तुझे; (स्वाहा) सत्य वाणी वा क्रिया से (सरिराय) जल के शोधन के लिए तथा (वाताय) घर की वायु के लिए (त्वा) तुझे; (स्वाहा) सत्यवाणी वा क्रिया से (अनाधृष्याय) भयं एवं धर्षण से रहित होने के लिए तथा (वाताय) औषधि के वायु-विज्ञान के लिए (त्वा) तुझे; (स्वाहा) सत्य वाणी वा क्रिया से (अप्रतिधृष्याय) अधर्षण के योग्य जनों के प्रति वर्ताव के लिए तथा (वाताय) वायु के वेग और गति के विज्ञान के लिए (त्वा) तुझे; (स्वाहा) सत्य वाणी वा क्रिया से (अवस्यवे) आत्मा और मन की रक्षा के इच्छुक के लिए तथा (वाताय) प्राण शक्ति के

विज्ञान के लिए (त्वा) तुझे; (स्वाहा) सत्य वाणी वा क्रिया से (अशिमिदाय) अन्न और रस के लिए तथा (वाताय) उदान वायु के लिए (त्वा) तुझे (उप+यच्छामि) ग्रहण करता हूँ ॥ ३८ । ७ ॥

भावार्थः— अत्र पूर्वस्मान्मन्त्राद् उप+यच्छामीति पदे अनुवर्त्तेते ।

कृतविवाहौ स्त्रीपुरुषौ सृष्टिविद्योन्नतये प्रयतेयाताम् ॥ ३८ । ७ ॥

भावार्थ—यहाँ पूर्व मन्त्र से 'उप' और 'यच्छामि' इन दो पदों की अनुवृत्ति है ।

विवाहित स्त्री-पुरुष सृष्टि-विद्या की उन्नति के लिए प्रयत्न करें ॥ ३८ । ७ ॥

भा० पदार्थः—वाताय=सृष्टिविद्योन्नतये ॥

भाष्यसार—**विवाहित स्त्री-पुरुष क्या करें**—स्त्री और पुरुष—सत्य वाणी वा सत्य क्रिया से आकाश में गमन वायु-विद्या की प्राप्ति तथा वायु का शोधन, जल का शोधन, गृहस्थ वायु का शोधन, भय से रहित होने, ओषधियों में स्थित वायु के विज्ञान, अधर्षण के योग्य जनों के प्रति वर्त्ताव करने, वायु के वेग और गति के विज्ञान, आत्मा और मन की रक्षा की इच्छा, प्राण-शक्ति के विज्ञान, अन्न और रस के उपभोग तथा उदान के विज्ञान के लिए विवाह करें । विवाहित स्त्री और पुरुष मन्त्रोक्त सृष्टि-विद्या की उन्नति के लिए प्रयत्न करें ॥ ३८ । ७ ॥

दीर्घतमाः । **इन्द्रः**=परमैश्वर्यम् । अष्टिः । मध्यमः ॥

पुनः स्त्रीपुरुषैः किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

स्त्री पुरुषों को क्या करना चाहिए, यह फिर उपदेश किया है ॥

इन्द्रा॑य त्वा॒ वसु॑मते रु॒द्रव॑ते॒ स्वाहेन्द्रा॑य त्वादि॒त्यव॑ते॒ स्वाहेन्द्रा॑य त्वाभिमाति॒घ्ने स्वाहा॑ । स॒वि॒त्रे त्वं॑ ऽ ऋभु॒मते॑ विभु॒मते॒ वाज॑वते॒ स्वाहा॒ । बृह॒स्पत॑ये त्वा वि॒श्वदे॑व्यावते॒ स्वाहा॑ ॥ ८ ॥

पदार्थः— (**इन्द्राय**) परमैश्वर्याय (**त्वा**) त्वां स्त्रियं पुरुषं वा (**वसुमते**) बहुधनयुक्ताय (**रुद्रवते**) बहवो रुद्राः=प्राणा विद्यन्ते यस्मिँस्तस्मै (**स्वाहा**) सत्यया वाचा क्रियया वा (**इन्द्राय**) दुःखविदारकाय (**त्वा**) (**आदित्यवते**) पूर्णविद्यायुक्तपाण्डित्यवते (**स्वाहा**) (**इन्द्राय**) परमैश्वर्यप्रदाय (**त्वा**) (**अभिमातिघ्ने**) योऽभिमातीन्=शत्रून् हन्ति तस्मै (**स्वाहा**) (**सवित्रे**) सवितृविद्याविदे (**त्वा**) (**ऋभुमते**) बहव ऋभवो=मेधाविनो विद्यन्ते यस्मिँस्तस्मै (**विभुमते**) विभवः=पदार्था=विदिता येन तस्मै (**वाजवते**) पुष्कलान्नयुक्ताय (**स्वाहा**) (**बृहस्पते**) बृहत्या वाचः पत्ये (**त्वा**) (**विश्वदेव्यावते**) विश्वानि देव्यानि विद्यन्ते यस्मिँस्तस्मै (**स्वाहा**) ॥ ८ ॥

अन्वयः—हे स्त्रि पुरुष ! वाऽहं स्वाहा वसुमत इन्द्राय त्वा स्वाहाऽऽदित्यवते रुद्रवत इन्द्राय त्वा स्वाहाऽभिमातिघ्न इन्द्राय त्वा स्वाहा सवित्र ऋभुमते विभुमते वाजवते त्वा स्वाहा बृहस्पतये विश्वदेव्यावते त्वोपयच्छामि ॥ ८ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **स्त्रि** पुरुष वा ! **अहं स्वाहा** सत्यया वाचा क्रियया वा **वसुमते** बहुधनयुक्ताय **इन्द्राय** परमैश्वर्याय **त्वा** त्वां स्त्रियं

भाषार्थ—हे स्त्री वा पुरुष ! मैं—(स्वाहा) सत्य वाणी वा सत्य क्रिया से (वसुमते) बहुत धन से युक्त तथा (इन्द्राय) परम ऐश्वर्यवान् होने के

पुरुषं वा **स्वाहा** सत्यया वाचा क्रियया वा **आदित्यवते** पूर्णविद्यायुक्तपाण्डित्यवते **रुद्रवते** बहवो रुद्राः=प्राणा विद्यन्ते यस्मिँस्तस्मै **इन्द्राय** दुःखविदारकाय **त्वा स्वाहा** सत्यया वाचा क्रियया वा **अभिमातिघ्ने** योऽभिमातीन्=शत्रून् हन्ति तस्मै **इन्द्राय** परमैश्वर्यप्रदाय **त्वा स्वाहा** सत्यया वाचा क्रियया वा **सवित्रे** सवितृविद्याविदे **ऋभुमते** बहव ऋभवो=मेधाविनो विद्यन्ते यस्मिँस्तस्मै **विभुमते** विभवः=पदार्था विदिता येन तस्मै **वाजवते** पुष्कलान्नयुक्ताय **त्वा स्वाहा** सत्यया वाचा क्रियया वा **बृहस्पतये** बृहत्याः=वाचः पत्ये **विश्वदेव्यावते** विश्वानि देव्यानि विद्यन्ते यस्मिँस्तस्मै **त्वा उपयच्छामि** ।। ३८ । ८ ।।

लिए (त्वा) तुझे; स्त्री वा पुरुष को (स्वाहा) सत्य वाणी वा सत्य क्रिया से (आदित्यवते) पूर्ण विद्या से युक्त पाण्डित्य वाला होने, (रुद्रवते) बहुत रुद्र=प्राणों वाला होने तथा (इन्द्राय) दुःखों का विदारक बनने के लिए (त्वा) तुझे; (स्वाहा) सत्य वाणी वा सत्य क्रिया (अभिमातिघ्ने) शत्रुओं को घातक होने तथा (इन्द्राय) परम ऐश्वर्य का दाता बनने के लिए (त्वा) तुझे; (स्वाहा) सत्य वाणी वा सत्य क्रिया से (सवित्रे) सूर्य-विद्या का ज्ञाता, (ऋभुमते) बहुत मेधावी जनों से युक्त, (विभुमते) नाना पदार्थों का वेत्ता, (वाजवते) पुष्कल अन्न से युक्त होने के लिए (त्वा) तुझे; (स्वाहा) सत्य वाणी वा सत्य क्रिया से (बृहस्पतये) वाणी का पति तथा (विश्वदेव्यावते) सब दिव्य गुणों वाला होने के लिए (त्वा) तुझे; (उप+यच्छामि) स्वीकार करता/करती हूँ ।। ३८ । ८ ।।

भावार्थः— अत्राप्युप+यच्छामीति पदे अनुवर्त्तेते।

ये स्त्रीपुरुषा वसुभिरादित्यैरैश्वर्यमुन्नयन्ति ते, विघ्नान् हत्वा, बुद्धिमतः सन्तानान् प्राप्य, सर्वस्य रक्षां विधातुं शक्नुवन्ति ।। ३८ । ८ ।।

भावार्थ—यहाँ 'उप' और 'यच्छामि' इन दो पदों की अनुवृत्ति है ।

जो स्त्री-पुरुष वसु और आदित्यों से ऐश्वर्य को बढ़ाते हैं वे विघ्नों को नष्ट कर बुद्धिमान् सन्तानों को प्राप्त करके, सब की रक्षा कर सकते हैं ।।३८।८।।

भा० पदार्थः—अभिमातिघ्ने=विघ्नविनाशकाय । ऋभुमते=बुद्धिमत्सन्तानान् प्राप्य । विश्वदेव्यावते=सर्वरक्षकाय ।।

भाष्यसार—**स्त्री पुरुष क्या करें**—स्त्री और पुरुष सत्य भाषण और सत्याचरण से बहुत धन से युक्त, परम ऐश्वर्यवान्, पूर्ण विद्या से युक्त पाण्डित्य वाले, बहुत प्राणों वाले, दुःखों के विदारक, शत्रुओं के घातक, परम ऐश्वर्य के दाता, सूर्य-विद्या के ज्ञाता, मेधावी सन्तानों से युक्त, सब पदार्थों के ज्ञाता, पुष्कल अन्न से युक्त, वेदवाणी के पति तथा सब दिव्य गुणों से युक्त होने के लिए एक दूसरे को स्वीकार करें अर्थात् परस्पर विवाह करें ।। ३८ । ८ ।।

दीर्घतमाः । **वायुः**=**प्राणः** । भुरिग्गायत्री । षड्जः ।।

पुनस्तमेव विषयमाह ।।

स्त्री पुरुषों को क्या करना चाहिए, यह फिर उपदेश किया है ।।

यमाय त्वाङ्गिरस्वते पितृमते स्वाहा । स्वाहा घर्माय स्वाहा घर्मः पित्रे ॥ ९ ॥

पदार्थः—(**यमाय**) न्यायाधीशाय (**त्वा**) त्वाम् (**अङ्गिरस्वते**) विद्युदादिविद्या यस्मिन् विद्यन्ते तस्मै (**पितृमते**) पितरः=पालका विज्ञानिनो विद्यन्ते यस्मिंस्तस्मै (**स्वाहा**) (**स्वाहा**) (**घर्माय**) यज्ञाय (**स्वाहा**) (**घर्मः**) यज्ञः (**पित्रे**) पालकाय ।। ९ ।।

अन्वयः—हे स्त्रि पुरुष वा घर्मोऽहं स्वाहाऽङ्गिरस्वते यमाय पितृमते स्वाहा घर्माय स्वाहा पित्रे त्वोपयच्छामि ॥ ९ ॥

सपदार्थान्वयः—हे स्त्रि ! पुरुष वा ! **घर्मः** यज्ञः **अहं स्वाहाऽङ्गिरस्वते** विद्युदादि-विद्या यस्मिन् विद्यन्ते तस्मै **यमाय** न्यायाधीशाय **पितृमते** पितरः=पालका विज्ञानिनो विद्यन्ते यस्मिंस्तस्मै, **स्वाहा घर्माय** यज्ञाय, **स्वाहा पित्रे** पालकाय **त्वा** त्वाम् **उपयच्छामि** ॥ ३८ । ९ ॥

भाषार्थ—हे स्त्री वा पुरुष ! (घर्मः) यज्ञ स्वरूप मैं—(स्वाहा) सत्यवाणी वा क्रिया से (अङ्गिरस्वते) विद्युत्-आदि विद्या वाले (यमाय) न्यायाधीश तथा (पितृमते) पितर=पालक विज्ञानी लोग जिसमें हैं उस यज्ञ के लिए; (स्वाहा) सत्य वाणी वा क्रिया से (घर्माय) यज्ञ के लिए; (स्वाहा) सत्य वाणी वा क्रिया से (पित्रे) पालक पिता के लिए (त्वा) तुझे (उप+यच्छामि) ग्रहण करता हूँ ॥ ३८ । ९ ॥

भावार्थः—अत्रोप+यच्छामीति पदे अनु-वर्त्तेते ।

यौ स्त्रीपुरुषौ प्राणवन्न्यायं जनकान् विदुषश्च सेवेतां तौ यज्ञवत् सर्वेषां सुखकरौ स्याताम् ॥ ३८ । ९ ॥

भावार्थ—यहाँ 'उप' और 'यच्छामि' इन दो पदों की अनुवृत्ति है ।

जो स्त्री-पुरुष प्राण के तुल्य न्याय, जनक और विद्वानों की सेवा करते हैं; वे दोनों यज्ञ के तुल्य सब को सुख देने वाले होते हैं ॥ ३८ । ९ ॥

भा० पदार्थः—अङ्गिरस्वते=प्राणवते । यमाय=न्यायाय । पितृमते=विदुषे । पित्रे=जनकाय । घर्माय=यज्ञवत् सर्वेषां सुखकराय ॥

भाष्यसार—**स्त्री-पुरुष क्या करें**—यज्ञस्वरूप पुरुष—'स्वाहा' नामक सत्य क्रिया से विद्युदादि विद्या से युक्त न्यायाधीश, पितृमान् (विज्ञानी जनों वाले महापुरुष), यज्ञ तथा पितर जनों की सेवा के लिए विवाह करे । स्त्री भी इसी उद्देश्य से विवाह करे । विवाहित स्त्री-पुरुष प्राण के तुल्य न्याय से माता-पिता और विद्वानों की सेवा करें । यज्ञ के तुल्य सबके सुखकारी हों ॥ ३८ । ९ ॥

दीर्घतमाः । **अश्विनौ=अध्यापकोपदेशकौ** । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

पुनरध्यापकोपदेशकौ किं कुर्यातामित्याह ॥

फिर अध्यापक और उपदेशक क्या करें, यह उपदेश किया है ॥

विश्वा॒ऽ आशा॑ दक्षिण॒सद्विश्वा॑न्दे॒वानया॑डि॒ह । स्वाहा॑कृतस्य घ॒र्मस्य॒ मधोः॑ पिबतमश्विना ॥ १० ॥

पदार्थः—(**विश्वाः**) सर्वाः (**आशाः**) दिशः (**दक्षिणसत्**) यो दक्षिणे देशे सीदति (**विश्वान्**) समग्रान् (**देवान्**) शुभान् गुणान् विदुषो वा (**अयाट्**) यजेत्सङ्गच्छेत् (**इह**) अस्मिन् संसारे (**स्वाहाकृतस्य**) सत्यक्रियानिष्पन्नस्य (**घर्मस्य**) यज्ञस्य (**मधोः**) मधुरादिगुणयुक्तस्य (**पिबतम्**) (**अश्विना**) अध्यापकोपदेशकौ ॥ १० ॥

अन्वयः—हे अश्विना ! यथा युवामिह स्वाहाकृतस्य घर्मस्य मधोरवशिष्टं भागं पिबतं तथाऽयं दक्षिणसज्जनो विश्वा आशा विश्वान्देवानयाट् सङ्गच्छेत ॥ १० ॥

सपदार्थान्वयः—हे अश्विना ! अध्यापकोपदेशकौ ! **यथा युवामिह** अस्मिन् संसारे **स्वाहाकृतस्य** सत्यक्रियानिष्पन्नस्य **घर्मस्य** यज्ञस्य **मधोः** मधुरादिगुणयुक्तस्य **अवशिष्टं भागं पिबतम्;** **तथाऽयं दक्षिणसत्** यो दक्षिणे देशे सीदति **जनो** **विश्वाः** सर्वाः **आशाः** दिशः, **विश्वान्** समग्रान् **देवान्** शुभान् गुणान् विदुषो वा **अयाद्**=सङ्गच्छेत यजेत् ॥ ३८ । १० ॥

भाषार्थ—हे (अश्विना) अध्यापक और उपदेशक ! जैसे तुम दोनों—(इह) इस संसार में (स्वाहाकृतस्य) सत्य क्रिया से निष्पन्न (घर्मस्य) यज्ञ के (मधोः) मधुर आदि गुणों से युक्त पदार्थ के अवशिष्ट भाग का (पिबतम्) पान करते हो; वैसे यह (दक्षिणसत्) दक्षिण देश में बैठने वाला ब्रह्मा (विश्वाः) सब (आशाः) दिशाओं एवं (विश्वान्) सब (देवान्) शुभ गुणों वा विद्वानों का (अयाद्) संग करे ॥ ३८ । १० ॥

भावार्थः—यथोपदेशकाऽध्यापकाः शिक्षेरन्नध्यापयेयुश्च तथैव सर्वे सङ्गृह्णीयुः ॥ ३८।१० ॥

भावार्थ—जैसे उपदेशक और अध्यापक लोग शिक्षा करें और पढ़ावें वैसे ही सब लोग ग्रहण करें ॥ ३८ । १० ॥

भा० पदार्थः—अयाद्=संगृह्णीयात् ॥

भाष्यसार—**अध्यापक और उपदेशक क्या करें**—अध्यापक और उपदेशक लोग इस संसार में 'स्वाहा' नामक सत्य-क्रिया से निष्पन्न यज्ञ के मधुरादि गुणों से युक्त पदार्थ के अवशिष्ट भाग का पान करें। यज्ञवेदी के दक्षिण देश में बैठने वाला ब्रह्मा सब दिशाओं, सब शुभ गुणों तथा विद्वानों का संग करे। जैसे उपदेशक लोग शिक्षा करें तथा अध्यापक लोग पढ़ावें वैसे ही सब लोग उनकी शिक्षा और विद्या को ग्रहण करें ॥ ३८ । १० ॥

दीर्घतमाः । **यज्ञः**=**वैदिककर्म** । विराडुष्णिक् । ऋषभः ॥

पुनः स्त्रीपुरुषाः किं कुर्य्युरित्याह ॥

स्त्री और पुरुष क्या करें, यह फिर उपदेश किया है ॥

दि॒वि धा॑ऽ इ॒मं य॒ज्ञमि॒मं य॒ज्ञं दि॒वि धाः॑ । स्वाहा॒ग्नये॑ य॒ज्ञिया॑य॒ शं यजु॑र्भ्यः ॥ ११ ॥

पदार्थः—(**दिवि**) सूर्य्यादिप्रकाशे (**धाः**) धेहि (**इमम्**) गृहाश्रमव्यवहारोपयोगिनम् (**यज्ञम्**) सङ्गन्तुमर्हम् (**इमम्**) परमार्थसिद्धिकरं संन्यासाश्रमोपयोगिनम् (**यज्ञम्**) विद्वत्संगयुक्तम् (**दिवि**) विज्ञानप्रकाशे (**धाः**) धेहि (**स्वाहा**) सत्यया क्रियया (**अग्नये**) पावकाय (**यज्ञियाय**) यज्ञार्हाय (**शम्**) सुखम् (**यजुर्भ्यः**) याजकेभ्यो यजुर्वेदविभागेभ्यो वा ॥ ११ ॥

अन्वयः—हे स्त्रि ! पुरुष वा त्वं यजुर्भ्यः स्वाहाऽग्नये यज्ञियाय दिवीमं यज्ञं शं धाः । दिवीमं यज्ञं शं धाः ॥ ११ ॥

सपदार्थान्वयः—हे स्त्रि ! पुरुष ! वा त्वं **यजुर्भ्यः** याजकेभ्यो यजुर्वेदविभागेभ्यो वा **स्वाहा** सत्यया क्रियया **अग्नये** पावकाय **यज्ञियाय** यज्ञार्हाय **दिवि** सूर्य्यादिप्रकाशे **इमं** गृहाश्रमव्यवहारोपयोगिनं **यज्ञं** विद्वत्सङ्गयुक्तं **शं** सुखं **धाः** धेहि।

भाषार्थ—हे स्त्री वा पुरुष ! तू—(यजुर्भ्यः) याजक लोगों के लिए वा यजुर्वेद के विभागों के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया से (अग्नये) अग्नि तथा (यज्ञियाय) यज्ञ के योग्य पुरुष के लिए (दिवि) सूर्यादि के प्रकाश में (इमम्) इस गृहाश्रम व्यवहार

दिवि विज्ञानप्रकाशे **इमं** परमार्थसिद्धिकरं संन्यासाश्रमोपयोगिनं **यज्ञं** सङ्गन्तुमर्हं **शं सुखं धाः** धेहि ॥ ३८ । ११ ॥

के उपयोगी (यज्ञम्) विद्वानों के संग से युक्त यज्ञ को तथा (शम्) सुख को (धाः) धारण कर। और—(दिवि) विज्ञान के प्रकाश में (इमम्) इस परमार्थ की सिद्धि करने वाले संन्यास आश्रम के उपयोगी (यज्ञम्) संगति के योग्य यज्ञ को तथा (शम्) सुख को (धाः) धारण कर॥ ३८ । ११ ॥

भावार्थः—ये स्त्रीपुरुषा ब्रह्मचर्येणाऽखिलां विद्यासुशिक्षां प्राप्य वेदरीत्या कर्माण्यनुतिष्ठेयुस्तेऽतुलं सुखं लभेरन् ॥ ३८ । ११ ॥

भावार्थ—जो स्त्री-पुरुष ब्रह्मचर्यपूर्वक अखिल विद्या और सुशिक्षा को प्राप्त करके वेद-रीति से कर्मों का अनुष्ठान करते हैं; वे अतुल सुख को प्राप्त होते हैं ॥ ३८ । ११ ॥

भा० पदार्थः—यजुर्भ्यः=वेदरीत्या कर्मभ्यः । यज्ञम्=ब्रह्मचर्येणाखिलां विद्यासुशिक्षाम् । शम्=अतुलं सुखम् ॥

भाष्यसार—स्त्री और पुरुष क्या करें—स्त्री और पुरुष याजक लोगों के लिए तथा यजुर्वेद के विभागों की रक्षा के लिए 'स्वाहा' नामक सत्य क्रिया से अग्नि की शुद्धि के लिए तथा यज्ञार्ह पुरुष के लिए द्युलोक (सूर्यादि के प्रकाश) में इस गृहाश्रम के उपयोगी विद्वानों के संग से युक्त यज्ञ को तथा सुख को धारण करें। वे विज्ञान के प्रकाश में इस परमार्थ की सिद्धि करने वाले संन्यासाश्रम के उपयोगी यज्ञ को तथा सुख को धारण करें।

तात्पर्य यह है कि स्त्री और पुरुष ब्रह्मचर्य से सब विद्या और सुशिक्षा को प्राप्त करके, वेद की रीति से यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करें तथा अतुल सुख को प्राप्त करें ॥ ३८ । ११ ॥

दीर्घतमाः । **अश्विनौ=सुशिक्षितौ स्त्रीपुरुषौ** । आर्ची पङ्क्तिः । पञ्चमः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

स्त्री और पुरुष क्या करें, यह फिर उपदेश किया है ॥

अश्विना घर्मं पातꣳहार्द्वानमहर्दिवाभिरूतिभिः । तन्त्रायिणे नमो द्यावापृथिवीभ्याम् ॥ १२ ॥

पदार्थः—(**अश्विना**) सुशिक्षितौ स्त्रीपुरुषौ (**घर्मम्**) (**पातम्**) रक्षतम् (**हार्द्वानम्**) हृदं वनति=सम्भजति येन तदेव (**अहः**) प्रतिदिनम् (**दिवाभिः**) अहर्निशवर्त्तमानाभिः (**ऊतिभिः**) रक्षादिभिः (**तन्त्रायिणे**) तन्त्राणि=कलाशास्त्राणि अयितुं=ज्ञातुं प्राप्तुं वा शीलं यस्य तस्मै (**नमः**) अन्नम् (**द्यावापृथिवीभ्याम्**) सूर्यान्तरिक्षाभ्याम् ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे अश्विना स्त्रीपुरुषौ ! युवामहर्दिवाभिरूतिभिस्तन्त्रायिणे हार्द्वानं घर्मं पातं द्यावापृथिवीभ्यां तन्त्रायिणे नमो दत्तम् ॥ १२ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **अश्विना** != स्त्रीपुरुषौ ! सुशिक्षितौ स्त्रीपुरुषौ ! **युवाम् अहः** प्रतिदिनं **दिवाभिः** अहर्निशवर्त्तमानाभिः **ऊतिभिः** रक्षादिभिः **तन्त्रायिणे** तन्त्राणि=कलाशास्त्राणि

भाषार्थ—हे (अश्विना) सुशिक्षित स्त्री-पुरुषो ! तुम दोनों—(अहः) प्रतिदिन (दिवाभिः) दिन-रात वर्तमान रहने वाली (ऊतिभिः) रक्षादि से (तन्त्रायिणे) तन्त्र=कला-शास्त्रों को जानने वा

अयितुं=ज्ञातुं प्राप्तुं वा शीलं यस्य तस्मै, **हार्द्वानं** हृदं वनति=सम्भजति येन तदेव **घर्मं पातम्** रक्षतम्। **द्यावापृथिवीभ्यां** सूर्यान्तरिक्षाभ्यां **तन्त्रायिणे** तन्त्राणि=कलाशास्त्राणि अयितुं=ज्ञातुं प्राप्तुं वा शीलं यस्य तस्मै **नमः** अन्नं **दत्तम्** ॥ ३८ । १२ ॥

प्राप्त करने वाले विद्वान् के लिए (हार्द्वानम्) हृदय का संसेवन करने वाले (घर्मम्) यज्ञ की (पातम्) रक्षा करो। (द्यावापृथिवीभ्याम्) सूर्य और पृथिवी के लिए तथा (तन्त्रायिणे) तन्त्र=कलाशास्त्रों को जाने वा प्राप्त करने वाले विद्वानों के लिए (नमः) अन्न (दत्तम्) प्रदान करो ॥ ३८ । १२ ॥

भावार्थः—यथा भूमिसूर्यौ सदा परस्परोपकारिणौ सह वर्तेते तथा सौहार्देन सहितौ सततं स्त्रीपुरुषौ वर्त्तेयाताम् ॥ ३८ । १२ ॥

भावार्थ—जैसे भूमि और सूर्य सदा परस्पर उपकारी होकर साथ रहते हैं वैसे सौहार्द के साथ सदा स्त्री-पुरुष वर्ताव करें ॥ ३८ । १२ ॥

भा० पदार्थः—द्यावापृथिवीभ्याम्=भूमिसूर्याभ्याम्।

भाष्यसार—स्त्री और पुरुष क्या करें—सुशिक्षित स्त्री और पुरुष रक्षादि क्रियाओं से कला-शास्त्रों के ज्ञाता विद्वान् के लिए हृदय के लिए हितकारी यज्ञ की रक्षा करें। सूर्य और अन्तरिक्ष के लिए तथा कला शास्त्रों के ज्ञाता विद्वान् के लिए अन्न का दान करें। जैसे भूमि और सूर्य परस्पर उपकारी होकर साथ रहते हैं वैसे स्त्री और पुरुष सौहार्दपूर्वक वर्ताव करें ॥ ३८ । १२ ॥ ●

दीर्घतमाः । **अश्विनौ**=स्त्रीपुरुषौ । निचृदुष्णिक् । ऋषभः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

स्त्री और पुरुष क्या करें, यह फिर उपदेश किया है ॥

अपा॑ताम॒श्विना॑ घ॒र्मम॑नु॒ द्यावा॑पृथि॒वी ऽ अ॑मꣳसाताम् । इ॒हैव रा॒तयः॑ सन्तु ॥ १३ ॥

पदार्थः—(**अपाताम्**) रक्षेतम् (**अश्विना**) सुरीत्या वर्त्तमानौ स्त्रीपुरुषौ (**घर्मम्**) गृहाश्रमव्यवहाराऽनुष्ठानम् (**अनु**) आनुकूल्ये (**द्यावापृथिवी**) सूर्यभूमी इव (**अमंसाताम्**) मन्येताम् (**इह**) अस्मिन्नाश्रमे (**एव**) (**रातयः**) विद्यादिसुखदानानि (**सन्तु**) ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे अश्विना ! युवां वायुविद्युताविव घर्ममपातां द्यावापृथिवी इव घर्ममन्वमंसातां यत इह रातय एव सन्तु ॥ १३ ॥

सपदार्थान्वयः—हे अश्विना ! सुरीत्या वर्त्तमानौ स्त्रीपुरुषौ ! **युवां वायुविद्युताविव घर्मं** गृहाश्रमव्यवहाराऽनुष्ठानम् **अपातां** रक्षेतम्। **द्यावापृथिवी** सूर्यभूमी इव **घर्मं** गृहाश्रमव्यवहाराऽनुष्ठानम् **अनु**+**अमंसाताम्** अनुकूलं मन्येताम्। **यत इह** अस्मिन्नाश्रमे **रातयः** विद्यादिसुखदानानि **एव सन्तु** ॥ ३८ ॥ १३ ॥

भाषार्थ—हे (अश्विना) सुरीति से वर्ताव करने वाले स्त्री-पुरुषो ! तुम दोनों—वायु और विद्युत् के तुल्य (घर्मम्) गृहाश्रम व्यवहार के अनुष्ठान की (अपाताम्) रक्षा करो। और (द्यावापृथिवी) सूर्य और भूमि के तुल्य (घर्मम्) गृहाश्रम-व्यवहार के अनुष्ठान को (अनु+अमंसाताम्) अनुकूलता पूर्वक स्वीकार करो। जिससे (इह) इस आश्रम में (रातयः) विद्यादि सुखों के दान (एव) ही (सन्तु) हों ॥ ३८ । १३ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथा वायुविद्युतौ भूमिसूर्यौ सह वर्त्तित्वा सुखानि

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। जैसे वायु और विद्युत्, भूमि और

दत्तस्तथैव स्त्रीपुरुषौ प्रीत्या सह वर्त्तमानौ सर्वेभ्योऽतुलं सुखं दद्याताम् ॥ ३८ । १३ ॥

सूर्य साथ रहकर सुख देते हैं; वैसे ही स्त्री-पुरुष प्रीतिपूर्वक वर्ताव करके सबको अतुल सुख देवें ॥ ३८ । १३ ॥

भा० पदार्थः—अश्विनौ=वायुविद्युतौ ॥

भाष्यसार—स्त्री और पुरुष क्या करें—उत्तम रीति से वर्ताव करने वाले स्त्री और पुरुष वायु और विद्युत् के तुल्य परस्पर मिलकर गृहाश्रम के व्यवहार की रक्षा करें। भूमि और सूर्य के तुल्य परस्पर मिलकर गृहाश्रम के व्यवहार को अनुकूलतापूर्वक स्वीकार करें। जिससे इस गृहाश्रम में विद्यादि सुखों का दान होता रहे। स्त्री और पुरुष प्रीतिपूर्वक साथ रहें तथा सबको अतुल सुख प्रदान करें ॥ ३८ । १३ ॥ ●

दीर्घतमाः । **द्यावापृथिवी=भूमिसूर्यवत् स्त्रीपुरुषौ** । अतिशक्वरी । पञ्चमः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

स्त्री और पुरुष क्या करें, यह फिर उपदेश किया है ॥

इ॒षे पि॑न्वस्वो॒र्जे पि॑न्वस्व॒ ब्रह्म॑णे पिन्वस्व क्ष॒त्राय॑ पिन्वस्व॒ द्यावा॑पृथि॒वीभ्यां॑ पिन्वस्व ।
धर्मा॑सि सु॒धर्मामे॑न्य॒स्मे नृ॒म्णानि॑ धारय॒ ब्रह्म॑ धारय क्ष॒त्रं धा॑रय॒ विशं॑ धारय ॥ १४ ॥

पदार्थः—**(इषे)** अन्नाद्याय **(पिन्वस्व)** सेवस्व **(ऊर्जे)** बलाद्याय **(पिन्वस्व)** **(ब्रह्मणे)** वेदविज्ञानाय परमेश्वराय वेदविदे ब्राह्मणाय वा **(पिन्वस्व)** **(क्षत्राय)** राज्याय **(पिन्वस्व)** **(द्यावापृथिवीभ्याम्)** भूमिसूर्याभ्याम् **(पिन्वस्व)** **(धर्म)** सत्यधारक **(असि)** **(सुधर्म)** शोभनो धर्मो यस्य तत्सम्बुद्धौ **(अमेनि)** अहिंसकः सन् । अत्र सुपां सुलुगिति सुलोपः **(अस्मे)** अस्मभ्यम् **(नृम्णानि)** धनानि **(धारय)** **(ब्रह्म)** वेदं ब्राह्मणं वा **(धारय)** **(क्षत्रम्)** क्षत्रियं राज्यं वा **(धारय)** **(विशम्)** प्रजाम् **(धारय)** ॥ १४ ॥

प्रमाणार्थ—**(अमेनि)** अहिंसकः सन् । यहाँ 'सुपां सुलुक्'० (अ० ७ । १ । ३९) इस सूत्र से 'सु' का लोप है ॥

अन्वयः—हे धर्म सुधर्म पुरुष स्त्रि वा त्वममेन्यसि येनाऽस्मे नृम्णानि धारय ब्रह्म धारय क्षत्रं धारय विशं धारय तेनेषे पिन्वस्वोर्जे पिन्वस्व ब्रह्मणे पिन्वस्व क्षत्राय पिन्वस्व द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व ॥ १४ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **धर्म** सत्यधारक **सुधर्म** शोभनो धर्मो यस्य तत्सम्बुद्धौ **पुरुष स्त्रि ! वा त्वममेनि** अहिंसकः सन् **असि । येनाऽस्मे** अस्मभ्यं **नृम्णानि** धनानि **धारय; ब्रह्म** वेदं ब्राह्मणं वा **धारय, क्षत्रं** क्षत्रियं राज्यं वा **धारय, विशं** प्रजां **धारय; तेनेषे** अन्नाद्याय **पिन्वस्व** सेवस्व, **ऊर्जे** बलाद्याय **पिन्वस्व** सेवस्व, **ब्रह्मणे** वेदविज्ञानाय परमेश्वराय वेदविदे ब्राह्मणाय वा **पिन्वस्व** सेवस्व, **क्षत्राय** राज्याय **पिन्वस्व** सेवस्व, **द्यावापृथिवीभ्यां** भूमिसूर्याभ्यां **पिन्वस्व** सेवस्व ॥ ३८ । १४ ॥

भाषार्थ—हे (धर्म) सत्य को धारण करने वाले (सुधर्म) उत्तम धर्म वाले पुरुष वा स्त्री ! तू—(अमेनि) अहिंसक (असि) है; जिससे (अस्मे) हमारे लिए (नृम्णानि) धनों को (धारय) धारण कर; (ब्रह्म) वेद वा ब्राह्मण को (धारय) धारण कर; (क्षत्रम्) क्षत्रिय वा राज्य को (धारय) धारण कर; (विशम्) प्रजा को (धारय) धारण कर। उससे (इषे) अन्नादि के लिए (पिन्वस्व) सेवा कर; (ऊर्जे) बलादि के लिए (पिन्वस्व) सेवा कर, (ब्रह्मणे) वेद-विज्ञान, परमेश्वर वा वेदज्ञ ब्राह्मण

के लिए (पिन्वस्व) सेवा कर, (क्षत्राय) राज्य के लिए (पिन्वस्व) सेवा कर, (द्यावापृथिवीभ्याम्) भूमि और सूर्य के लिए (पिन्वस्व) सेवा कर ।। ३८ । १४ ।।

भावार्थः—ये स्त्रीपुरुषा अहिंसका धार्मिकाः सन्तः स्वयं धनानि, विद्यां, राज्यं प्रजां च धृत्वाऽन्यान् धारयेयुः, तेऽन्न-बल-विद्या-राज्यानि प्राप्य, भूमिसूर्यवत् दृष्टसुखा जायरेन् ।। ३८ । १४ ।।

भावार्थ--जो स्त्री-पुरुष अहिंसक और धार्मिक होकर स्वयं धन, विद्या, राज्य और प्रजा को धारण करके अन्यों को धारण कराते हैं; वे अन्न, बल, विद्या और राज्य को प्राप्त करके भूमि और सूर्य के तुल्य प्रत्यक्ष सुख वाले हों ।। ३८ । १४ ।।

भा० पदार्थः—सुधर्म=धार्मिकः । ब्रह्म=विद्याम् ।

भाष्यसार—स्त्री और पुरुष क्या करें—सत्य को धारण करने वाला तथा श्रेष्ठ धर्म वाला पुरुष तथा स्त्री अहिंसक हों। वे धन, वेद, ब्राह्मण, क्षत्रिय, राज्य और प्रजा को धारण करें। वे अन्न, बल, वेद-विज्ञान और राज्य को प्राप्त करें और वे भूमि और सूर्य के तुल्य प्रत्यक्ष सुख वाले हों ।। ३८ । १४ ।।

अन्यत्र व्याख्यात—[क]—(इषे पिन्वस्व०) हे भगवन् (इषे) हमारी शुभकर्म करने ही की इच्छा हो और हमारे शरीरों को उत्तम अन्न से सदा पुष्टि युक्त रखिए (ऊर्जे०) अर्थात् अपनी कृपा से हम को सदा उत्तम पराक्रम युक्त और दृढ़ प्रयत्न वाले कीजिए (ब्रह्मणे०) सत्य शास्त्र अर्थात् वेदविद्या के पढ़ने-पढ़ाने और उससे यथावत् उपकार लेने में हमको अत्यन्त समर्थ कीजिए अर्थात् जिस में हम लोग उत्तम विद्यादि गुणों और कर्मों को करके ब्राह्मण वर्ण हों (क्षत्राय०) हे परमेश्वर आप के अनुग्रह से हम लोग चक्रवर्त्ति राज्य और शूरवीर पुरुषों की सेना से युक्त हों कि क्षत्रिय वर्ण के अधिकारी हम को कीजिए (द्यावापृ०) जैसे पृथिवी सूर्य्य अग्नि जल और वायु आदि पदार्थों से सब जगत् का प्रकाश और उपकार होता है वैसे ही कला कौशल विमान आदि यान चलाने के लिए हम को उत्तम सुख सहित कीजिए कि जिससे हम लोग सब सृष्टि के उपकार करने वाले हों (धर्मासि०) हे सुधर्मन् न्याय करने हारे ईश्वर आप न्यायकारी हैं वैसे हम को भी न्यायकारी कीजिए (अमे०) हे भगवन् जैसे आप निर्वैर होके सबसे वर्त्तते हो वैसे ही सब से वैर रहित हम को भी कीजिए (अस्मे०) हे परम कारुणिक हमारे लिए (नृम्णानि) उत्तम राज्य उत्तम धन और शुभगण दीजिए (ब्रह्म०) हे परमेश्वर आप ब्राह्मणों को हमारे बीच में उत्तम विद्या युक्त कीजिए (क्षत्रम्०) हमको अत्यन्त चतुर शूरवीर और क्षत्रिय वर्ण का अधिकारी कीजिए (विशम्०) अर्थात् वैश्य वर्ण और हमारी प्रजा का रक्षण सदा कीजिए कि जिससे हम शुभगुण वाले होकर अत्यन्त पुरुषार्थी हों (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, प्रार्थनायाचनासमर्पण विषय) ।।

[ख] हे सर्वसौख्यप्रदेश्वर ! हमको "इषे" उत्तमान्न के लिए पुष्ट कर, अन्न के अपचन वा कुपच के रोगों से बचा तथा बिना अन्न के दुखी हम लोग कभी न हों। हे महाबल ! "ऊर्जे" अत्यन्त पराक्रम के लिए हमको पुष्ट कर। हे वेदोत्पादक ! "ब्रह्मणे" सत्य वेदविद्या के लिए बुद्धयादि बल से सदैव हम को पुष्ट और बलयुक्त कर। हे महाराजाधिराज परब्रह्मन् ! "क्षत्राय" अखण्ड चक्रवर्त्ती राज्य के लिए शौर्य, धैर्य, नीति, विनय, पराक्रम और बलादि उत्तम गुणयुक्त कृपा से हम लोगों को यथावत्

पुष्ट कर। अन्य देशवासी राजा हमारे देश में कभी न हों तथा हम लोग पराधीन कभी न हों। हे स्वर्ग-पृथिवीश! "द्यावापृथिवीभ्याम्" स्वर्ग (परमोत्कृष्ट मोक्ष-सुख) पृथिवी (संसारसुख) इन दोनों के लिए हमको समर्थ कर।

हे सुष्ठु धर्मशील! तू धर्मकारी हो तथा धैर्यस्वरूप ही हो, हम लोगों को भी कृपा से धर्मात्मा कर। "अमेनि" तू निर्वैर है हमको भी निर्वैर कर, तथा कृपादृष्टि से "अस्मै" (अस्मभ्यम्) हमारे लिए "नृम्णानि" विद्या, पुरुषार्थ, हस्ती, अश्व, सुवर्ण, हीरादि रत्न, उत्कृष्ट राज्य, उत्तम पुरुष और प्रीत्यादि पदार्थों को धारण कर। जिससे हम लोग किसी पदार्थ के विना दुखी न हों।

हे सर्वाधिपते! ब्राह्मण (पूर्णविद्यादिसद्गुणयुक्त), क्षत्र (बुद्धि विद्या तथा शौर्यादिगुणयुक्त), "विश" अनेक विद्योद्यम, बुद्धि, विद्या, धन और धान्यादि बलयुक्त तथा शूद्रादि भी सेवादि गुणयुक्त उत्तम हमारे राज्य में हों। इन सब का धारण आप ही करो जिससे अखण्ड ऐश्वर्य हमारा आप की कृपा से सदा बना रहे (आर्याभिविनय २। ३१)॥ ३८। १४॥

दीर्घतमाः। **पूषाद्यो लिङ्गोक्ताः**=पुष्टिकारकादयः स्त्रीपुरुषाः। स्वराड् जगती। निषादः॥

पुनस्तमेव विषयमाह॥

स्त्री और पुरुष क्या करें, यह फिर उपदेश किया है॥

स्वाहा पूष्णे शरसे स्वाहा ग्रावभ्यः स्वाहा प्रतिरवेभ्यः।
स्वाहा पितृभ्य ऽ ऊर्ध्वबर्हिभ्यो घर्मपावभ्यः स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याᳬ
स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः॥ १५॥

पदार्थः—(**स्वाहा**) सत्या क्रिया (**पूष्णे**) पुष्टिकारकाय (**शरसे**) हिंसकाय (**स्वाहा**) सत्या वाक् (**ग्रावभ्यः**) गर्जकेभ्यो मेघेभ्यः। ग्रावेति मेघना०। निघं० १। १०॥ (**स्वाहा**) (**प्रतिरवेभ्यः**) ये रवान् प्रतिरुवन्ति=शब्दायन्ते तेभ्यः (**स्वाहा**) (**पितृभ्यः**) पालकेभ्य ऋतव इव वर्त्तमानेभ्यः (**उद्ध्वर्बर्हिभ्र्यः**) ऊद्ध्वमुत्कृष्टं बर्हिर्वर्द्धनं येभ्यस्तेभ्यः (**घर्मपावभ्यः**) घर्मेण=यज्ञेन पवित्रीकर्तृभ्यः (**स्वाहा**) (**द्यावापृथिवीभ्याम्**) सूर्य्यान्तिरिक्षाभ्याम् (**स्वाहा**) (**विश्वेभ्यो**) समग्रेभ्यः (**देवेभ्यः**) दिव्येभ्यो पृथिव्यादिभ्यो विद्वद्भ्यो वा॥ १५॥

प्रमाणार्थ—(ग्रावभ्यः) गर्जकेभ्यो मेघेभ्यः। 'ग्रावा' यह पद निघण्टु (१। १०) में मेघ-नामों में पठित है॥

अन्वयः—स्त्रीपुरुषैः पूष्णे शरसे स्वाहा प्रतिरवेभ्यः स्वाहा ग्रावभ्यः स्वाहोद्ध्वर्बर्हिभ्यो घर्मपावभ्यः पितृभ्यः स्वाहा द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यश्च स्वाहा सदा प्रयोज्या॥ १५॥

सपदार्थान्वयः—स्त्रीपुरुषैः **पूष्णे** पुष्टिकारकाय **शरसे** हिंसकाय **स्वाहा** सत्या क्रिया, **प्रतिरवेभ्यः** ये रवान् प्रति रुवन्ति=शब्दायन्ते तेभ्यः **स्वाहा** सत्या वाक्, **ग्रावभ्यः** गर्जकेभ्यो मेघेभ्यः **स्वाहा** सत्या क्रिया, **ऊर्ध्वबर्हिभ्यः** ऊदुर्ध्वमुत्कृष्टं बर्हिर्वर्द्धनं येभ्यस्तेभ्यः **घर्मपावभ्यः** घर्मेण=यज्ञेन पवित्रीकर्त्तृभ्यः **पितृभ्यः** पालकेभ्य ऋतव इव वर्त्तमानेभ्यः **स्वाहा** सत्यवाक् **द्यावापृथिवीभ्यां** सूर्यान्तिरिक्षाभ्यां **स्वाहा** सत्या क्रिया, **विश्वेभ्यः** समग्रेभ्यः **देवेभ्यः** दिव्येभ्यो पृथिव्यादिभ्यो विद्वद्भ्यो वा **च स्वाहा** सत्या क्रिया वाग् वा, **सदा प्रयोज्या** ॥ ३८ । १५ ॥

भाषार्थ—स्त्री और पुरुष—(पूष्णे) पुष्टिकारक तथा (शरसे) हिंसक के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (प्रतिरवेभ्यः) प्रति शब्द करने वालों के लिए (स्वाहा) सत्य वाणी, (ग्रावभ्यः) गर्जना करने वाले मेघों के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (ऊर्ध्वबर्हिभ्यः) उत्तम वृद्धि के निमित्त (घर्मपावभ्यः) घर्म=यज्ञ से पवित्र करने वाले, (पितृभ्यः) ऋतुओं के तुल्य पालक जनों के लिए (स्वाहा) सत्य वाणी; (द्यावापृथिवीभ्याम्) सूर्य और अन्तरिक्ष के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (विश्वेभ्यः) सब (देवेभ्यः) दिव्य पृथिवी आदि वा विद्वानों के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया वा सत्य वाणी का सदा प्रयोग करें ॥ ३८ । १५ ॥

भावार्थः—स्त्रीपुरुषैः सत्येन विज्ञानेन, सत्यया क्रिययेदृशः पुरुषार्थः कर्त्तव्यो, येन विश्वं पुष्टमानन्दितं स्यात् ॥ ३८ । १५ ॥

भावार्थ—स्त्री और पुरुष सत्य विज्ञान तथा सत्य क्रिया से ऐसा पुरुषार्थ करें जिससे विश्व पुष्ट और आनन्दित हो ॥ ३८ । १५ ॥

भा० पदार्थः—स्वाहा=सत्येन विज्ञानेन, सत्यया क्रियया ॥

भाष्यसार—**स्त्री और पुरुष क्या करें**—स्त्री और पुरुष पुष्टिकारक तथा हिंसक पुरुष के लिए यथायोग्य 'स्वाहा' नामक सत्य क्रिया का प्रयोग करें। प्रतिशब्द करने वाले पुरुषों के लिए सत्य वाणी का प्रयोग करें। गर्जने वाले मेघों के लिए 'स्वाहा' नामक सत्य क्रिया का प्रयोग करें। उत्तम रीति से वृद्धि के हेतु, यज्ञ से पवित्र करने वाले, ऋतुओं के तुल्य पालक पितर जनों के लिए सत्य वाणी का प्रयोग करें। सूर्य और अन्तरिक्ष के शोधन के लिए 'स्वाहा' नामक सत्य क्रिया का प्रयोग करें। दिव्य गुणों से युक्ति पृथिवी आदि पदार्थों की शुद्धि के लिए 'स्वाहा' नामक सत्य क्रिया का प्रयोग करें। दिव्य गुणों से युक्त विद्वानों के लिए सत्यवाणी का प्रयोग करें। स्त्री और पुरुष सत्य विज्ञान और 'स्वाहा' नामक सत्य क्रिया से ऐसा पुरुषार्थ करें कि जिससे सब पुष्ट और आनन्दित रहें ॥ ३८ । १५ ॥ ●

दीर्घतमाः । **रुद्रादयः**=प्राणादयः । भुरिगतिधृतिः । षड्जः ॥

पुनर्मनुष्यैः किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

फिर मनुष्यों को क्या करना चाहिए, यह उपदेश किया है ॥

स्वाहा रुद्राय रुद्रहूतये स्वाहा सं ज्योतिषा ज्योतिः ।
अहः केतुना जुषताꣳ सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा ।
रात्रिः केतुना जुषताꣳ सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा ।
मधु हुतमिन्द्रतमे ऽ अग्नावश्याम ते देव घर्म नमस्तेऽअस्तु मा मा हिꣳसीः ॥ १६ ॥

पदार्थः—(**स्वाहा**) (**रुद्राय**) जीवाय (**रुद्रहूतये**) रुद्राः=प्राणा जीवा वा हूयन्ते=स्तूयन्ते येन तस्मै (**स्वाहा**) (**सम्**) (**ज्योतिषा**) प्रकाशेन (**ज्योतिः**) प्रकाशम् (**अहः**) दिनम् (**केतुना**) प्रज्ञया। केतुरिति प्रज्ञाना० ॥ निघं० ३ । ९ ॥ (**जुषताम्**) सेवताम् (**सुज्योतिः**) शोभनं विद्यादिसद्‌गुणप्रकाशम् (**ज्योतिषा**) सत्यविद्योपदेशरूपप्रकाशेन (**स्वाहा**) (**रात्रिः**) रात्रिम्। अत्र विभक्तिव्यत्ययः (**केतुना**) संकेत-रूपचिह्नेन (**जुषताम्**) (**सुज्योतिः**) धर्मादिसद्‌गुणप्रकाशम् (**ज्योतिषा**) मननादिरूपप्रकाशेन (**स्वाहा**) (**मधु**) मधुरादिगुणयुक्तं घृतादि (**हुतम्**) वह्नौ प्रक्षिप्तम् (**इन्द्रतमे**) अतिशयेनैश्वर्य्यकारके विद्युद्रूपे (**अग्नौ**) पावके (**अश्याम**) प्राप्नुयाम (**ते**) तुभ्यम् (**देव**) विद्वन् (**घर्म**) प्रकाशमान (**नमः**) (**ते**) (**अस्तु**) (**मा**) निषेधे (**मा**) माम् (**हिंसीः**) हिंस्याः ॥ १६ ॥

प्रमाणार्थ—(केतुना) प्रज्ञया। 'केतु' यह पद निघण्टु (३ । ९) में प्रज्ञा-नामों में पठित है—प्रज्ञा=बुद्धि। (रात्रिः) रात्रिम्। यहाँ विभक्ति का व्यत्यय है। द्वितीया विभक्ति के स्थान में प्रथमा विभक्ति है ॥

अन्वयः—हे स्त्रि पुरुष वा भवति भवन्वा केतुना रुद्राय रुद्रहूतये स्वाहा ज्योतिषा ज्योतिः स्वाहा ज्योतिषा सुज्योतिरहः स्वाहा संजुषताम्। केतुना ज्योतिषा सुज्योतिः रात्री रात्रि स्वाहा जुषताम्। हे देव घर्म ! येन त इन्द्रतमेऽग्नौ मधु हुतमश्याम ते नमोऽस्तु त्वं मा मा हिंसीः ॥ १६ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे स्त्रि ! पुरुष वा ! भवति ! भवन् ! वा केतुना** प्रज्ञया **रुद्राय** जीवाय **रुद्रहूतये** रुद्राः=प्राणा जीवा वा हूयन्ते=स्तूयन्ते येन तस्मै **स्वाहा, ज्योतिषा** प्रकाशेन **ज्योतिः** प्रकाशं **स्वाहा, ज्योतिषा** सत्यविद्योपदेशरूपप्रकाशेन **सुज्योतिः** शोभनं विद्यादिसद्‌गुणप्रकाशम् **अहः** दिनं **स्वाहा संजुषतां** सेवताम्।

भाषार्थ—हे स्त्री वा पुरुष ! आप—(केतुना) प्रज्ञा=बुद्धि के द्वारा (रुद्राय) जीव के लिए तथा (रुद्रहूतये) प्राणों वा जीवों के स्तुति निमित्त के लिए (स्वाहा) सत्य वाणी से, (ज्योतिषा) प्रकाश से (ज्योतिः) प्रकाश को (स्वाहा) सत्य क्रिया से, (ज्योतिषा) सत्य विद्या के उपदेश रूप प्रकाश से (सुज्योतिः) उत्तम विद्यादि शुभ गुणों के प्रकाश को (अहः) प्रतिदिन (स्वाहा) सत्य वाणी से (संजुषताम्) सेवन करो। और—

केतुना संकेतरूपचिह्नेन **ज्योतिषा** मननादिरूप-प्रकाशेन **सुज्योतिः** धर्मादिसद्‌गुणप्रकाशं **रात्रिः**= **रात्रिं स्वाहा जुषतां** सेवताम्।

(केतुना) संकेत रूप चिह्न से तथा (ज्योतिषा) मनन आदि रूप प्रकाश से (सुज्योतिः) धर्मादि शुभ गुणों के प्रकाश को तथा (रात्रिः) रात्रि को (स्वाहा) सत्य वाणी वा सत्य क्रिया से (जुषताम्) सेवन करो।

हे देव विद्वन् **घर्म** ! प्रकाशमान ! **येन ते** तुभ्यम् **इन्द्रतमे** अतिशयेनैश्वर्य्यकारके विद्युद्रूपे **अग्नौ** पावके **मधु** मधुरादिगुणयुक्तं घृतादि **हुतं** वह्नौ प्रक्षिप्तम् **अश्याम** प्राप्नुयाम, **ते** तुभ्यं **नमोऽस्तु; त्वं मा मां मा न हिंसीः** हिंस्याः ॥ ३८ । १६ ॥

हे (देव) विद्वन् ! (घर्म) प्रकाशमान ! जिससे (ते) तेरे लिए (इन्द्रतमे) अत्यन्त ऐश्वर्यकारक विद्युत् रूप (अग्नौ) अग्नि में (मधु) मधुरादि गुणों से युक्त (हुतम्) अग्नि में होम किये हुए घृतादि को (अश्याम) प्राप्त करते हैं; अतः (ते) तेरे लिए (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो; तू (मा) मुझे (मा, हिंसीः) हिंसित मत कर; मेरी हिंसा मत कर ॥ ३८ । १६ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः प्राणानां जीवनस्य समाजस्य च रक्षणाय विज्ञानेन कर्माण्यहोरात्रश्च युक्त्या सेवनीयः ।

प्रतिदिनं प्रातः सायं कस्तूर्यादिसुगन्धियुक्तं घृतं वह्नौ हुत्वा वाय्वादिशुद्धिद्वारा नित्यं मोदनीयम् ।। ३८ । १६ ।।

भावार्थ—मनुष्य प्राण, जीवन और समाज की रक्षा के लिए विज्ञान से कर्मों और दिन-रात का युक्ति से सेवन करें ।

प्रतिदिन प्रातः सायं कस्तूरी आदि सुगन्धि से युक्त घृत का अग्नि में होम करके वायु आदि की शुद्धि के द्वारा नित्य हर्षित रहें ।। ३८ । १६ ।।

भा० पदार्थः—रुद्रहूतये=प्राणानां जीवनस्य समाजस्य च रक्षणाय । ज्योतिषा=विज्ञानेन । सुज्योतिः=कर्माणि । संजुषताम्=युक्त्या सेवताम् । मधु=कस्तूर्यादिसुगन्धियुक्तं घृतम् ।

भाष्यसार—**मनुष्य क्या करें**—स्त्री और पुरुष बुद्धिपूर्वक जीव के लिए तथा प्राणों वा जीवों के स्तुति के निमित्त पदार्थ विशेष के लिए 'स्वाहा' नामक सत्य क्रिया का सेवन करें । प्रकाश के द्वारा प्रकाश को उक्त सत्य क्रिया से सेवन करें । सत्य-विद्या के उपदेश रूप ज्योति से उत्तम विद्यादि सद्गुणों की ज्योति का प्रतिदिन सत्य वाणी से सेवन करें ।

संकेत रूप चिह्न अर्थात् पताकादि से तथा मननादि रूप प्रकाश से धर्मादि सद्गुणों के प्रकाश को तथा रात्रि को सत्यक्रिया तथा सत्य वाणी से सेवन करें । तात्पर्य यह है कि मनुष्य प्राण, जीवन और समाज की रक्षा के लिए विज्ञानपूर्वक कर्मों का और दिन-रात का युक्ति से सेवन करें ।

मनुष्य विद्या से प्रकाशमान विद्वान् के लिए अत्यन्त ऐश्वर्यकारक विद्युत् रूप अग्नि में मधुरादि गुणों से युक्त घृतादि पदार्थों का होम करें और उससे वायु आदि की शुद्धि करके सदा हर्षित रहें; हिंसित कभी न होवें ।। ३८ । १६ ।।

दीर्घतमाः । **अग्निः**=विद्वान् । निचृदतिशक्वरी । पञ्चमः ।।

पुनस्तमेव विषयमाह ।।

मनुष्यों को क्या करना चाहिए, यह फिर उपदेश किया है ।।

अभीमं महिमा दिवं विप्रो बभूव सप्रथाः ।
उत श्रवसा पृथिवीꣳ सꣳसीदस्व महाँ२ऽ असि रोचस्व देववीतमः ।
वि धूममग्ने ऽ अरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम् ।। १७ ।।

पदार्थः—(**अभि**) आभिमुख्ये (**इमम्**) (**महिमा**) (**दिवम्**) अविद्यागुणप्रकाशम् (**विप्रः**) मेधावी (**बभूव**) भवति (**सप्रथाः**) सुकीर्त्तिप्रख्यातियुक्तः (**उत**) अपि (**श्रवसा**) श्रवणेनाऽन्नेन वा (**पृथिवीम्**) भूमिम् (**सम्**) (**सीदस्व**) सम्यगास्व (**महान्**) (**असि**) (**रोचस्व**) अभितः प्रीतो भव (**देववीतमः**) यो देवान्=दिव्यान् गुणान् विदुषो वेति व्याप्नोति=प्राप्नोति सोऽतिशयितः (**वि**) (**धूमम्**) (**अग्ने**) अग्निरिव प्रकाशमान विद्वन् ! (**अरुषम्**) आरक्तरूपविशिष्टम् (**मियेध्य**) दुष्टानां प्रक्षेपणशील ! (**सृज**) सर्जय (**प्रशस्त**) (**दर्शतम्**) दर्शनीयम् ।। १७ ।।

अन्वयः—हे प्रशस्त मियेध्याऽग्ने महिमा सप्रथा विप्रस्त्वमिमं दिवमभि बभूव । उतापि श्रवसा पृथिवी सं सीदस्व यतो देववीतमो महानसि तस्माद्रोचस्वारुषं धूमं विसृज ।। १७ ।।

सपदार्थान्वयः—हे प्रशस्त मियेध्य दुष्टानां प्रक्षेपणशील **अग्ने** अग्निरिव प्रकाशमान विद्वन् ! **महिमा सप्रथाः** सुकीर्तिप्रख्यातियुक्तः **विप्रः** मेधावी **त्वमिमं दिवम्** अविद्यागुणप्रकाशं **अभि+बभूव** आभिमुख्येन भवति ।

उत=अपि **श्रवसा** श्रवणेनाऽन्नेन वा **पृथिवीं** भूमिं **सं+सीदस्व** सम्यगास्स्व, **यतो देववीतमः** यो देवान्=दिव्यान् गुणान् विदुषो वेति व्याप्नोति=प्राप्नोति सोऽतिशयितः, **महानसि; तस्माद्रोचस्व** अभितः प्रीतो भव, **अरुषम्** आरक्तरूपविशिष्टं **[दर्शतं]** दर्शनीयं **धूमं विसृज** सर्जय ॥ ३८ । १७ ॥

भावार्थः—अयमेव मनुष्याणां महिमा यद् ब्रह्मचर्येण विद्यां प्राप्य, सर्वत्र विस्तार्य, शुभानां गुणानां प्रचारं कृत्वा सृष्टिविद्यामुन्नयन्ति ।।३८।१७।।

भाषार्थ—हे प्रशस्त, (मियेध्य) दुष्टों को दूर करने वाले (अग्ने) अग्नि के तुल्य प्रकाशमान विद्वान् ! (महिमा) महान्, (सप्रथः) उत्तम कीर्ति और ख्याति से युक्त (विप्रः) मेधावी तू--(इमम्) इस (दिवम्) अविद्या गुण के प्रकाश को (अभि+बभूव) अभिभूत करता है—

(उत) और—(श्रवसा) श्रवण वा अन्न के निमित्त (पृथिवीम्) भूमि पर (सं+सीदस्व) अच्छे प्रकार बैठ, क्योंकि तू (देववीतमः) दिव्य गुणों वा विद्वानों को अत्यन्त प्राप्त करने वाला तथा (महान्) महान् (असि) है, अतः (रोचस्व) सब ओर से प्रसन्न हो, (अरुषम्) थोड़े लाल रूप से युक्त [दर्शतम्] दर्शनीय (धूमम्) धूम को (वि+सृज) विशेष रूप से उत्पन्न कर ॥ ३८ । १७ ॥

भावार्थ—यही मनुष्यों की महिमा है कि ब्रह्मचर्य से विद्या को प्राप्त करके, सर्वत्र उसका विस्तार करके, शुभ गुणों का प्रचार करके, सृष्टि-विद्या को उन्नत करते हैं ॥ ३८ । १७ ॥

भाष्यसार—विद्वान् मनुष्य क्या करें—प्रशंसनीय, दुष्टों को दूर भगाने वाला, विद्या से अग्नि के तुल्य प्रकाशमान विद्वान् उत्तम कीर्ति तथा ख्याति से युक्त हो तथा मेधावी हो। वह अविद्या को अभिभूत करे, दबावे। श्रवण वा अन्न के निमित्त भूमि पर अच्छे प्रकार बैठे। दिव्य गुणों वा विद्वानों को अत्यन्त प्राप्त करने वाला होकर महान् बने। विद्वान् मनुष्य की यही महिमा है कि वह ब्रह्मचर्य से विद्या को प्राप्त करे, सर्वत्र उसका विस्तार करे, शुभ गुणों को प्रचार करे, सृष्टि विद्या को उन्नत करे। सब ओर से प्रसन्न रहे। आरक्त (थोड़ा लाल), दर्शनीय धूम (यज्ञीय) को विशेष रूप से उत्पन्न करे। ।। ३८ । १७ ॥

दीर्घतमाः । **यज्ञः=विद्वान् विदुषी वा** । भुरिगाकृतिः । पञ्चमः ॥

पुनः स्त्रीपुरुषौ किं कुर्युरित्याह ॥

स्त्री और पुरुष क्या करें, यह फिर उपदेश किया है ॥

या ते॑ घर्म दि॒व्या शुग्या गा॑य॒त्र्याᳬं ह॑वि॒र्धाने॑ । सा त॒ ऽ आ प्या॑यता॒न्नि॒ष्ट्या॑यता॒ं तस्यै॑ ते॒ स्वाहा॑ । या ते॑ घ॒र्मान्तरि॑क्षे॒ शुग्या त्रि॒ष्टुब्भ्याग्नी॑ध्रे । सा त॒ ऽ आ प्या॑यता॒न्नि॒ष्ट्या॑यता॒ं तस्यै॑ ते॒ स्वाहा॑ । या ते॑ घर्म पृ॒थि॒व्याᳬं शुग्या जग॑त्याᳬं सद॒स्या॒ । सा त॒ ऽ आ प्या॑यता॒न्नि॒ष्ट्या॑यता॒ं तस्यै॑ ते॒ स्वाहा॑ ॥ १८ ॥

पदार्थः—(या) (ते) (घर्म) प्रकाशात्मन् (दिव्या) दिव्येषु गुणेषु भवा (शुक्) शोचन्ति=विचारयन्ति यया सा (या) (गायत्र्याम्) गायतो रक्षिकायां विद्यायाम् (हविर्धाने) हविषां धारणे (सा)

(ते) तव **(आ)** **(प्यायताम्)** सर्वतो वर्द्धताम् **(निः)** नितराम् **(स्त्यायताम्)** **अत्र व्यत्ययेनात्मनेपदम्।** संहता भवतु **(तस्यै)** **(ते)** तुभ्यम् **(स्वाहा)** प्रशंसिता वाक् **(या)** **(ते)** तव **(घर्म)** दिनमिव विशालविद्य **(अन्तरिक्षे)** आकाशे **(शुक्)** सूर्य्यस्येव प्रदीप्तिः **(या)** **(त्रिष्टुभि)** त्रिष्टुब्-निर्मितेऽर्थे **(आग्नीध्रे)** अग्नीध्रः शरणे **(सा)** **(ते)** तव **(आ)** **(प्यायताम्)** **(निः)** **(स्त्यायताम्)** **(तस्यै)** **(ते)** **(स्वाहा)** **(या)** **(ते)** तव **(घर्म)** विद्युतः प्रकाश इव वर्त्तमान **(पृथिव्याम्)** भूमौ **(शुक्)** प्रदीप्तिः **(या)** **(जगत्याम्)** जगदन्वितायां सृष्टौ **(सदस्या)** सदसि=सभायां **(सा)** **(ते)** तव **(आ)** **(प्यायताम्)** **(निः)** **(स्त्यायताम्)** **(तस्यै)** **(ते)** **(स्वाहा)** भवा **(सत्यविद्या)** ॥ १८ ॥

प्रमाणार्थ—(स्त्यायताम्) यहाँ व्यत्यय से आत्मनेपद है ॥

अन्वयः—हे घर्म विद्वन्! विदुषि वा! या ते गायत्र्यां हविर्धाने शुग्या च दिव्या वर्त्तते सा त आप्यायतां निष्टचायतां तस्यै ते स्वाहा स्यात्। हे घर्म! या तेऽन्तरिक्षे शुग्या आग्नीध्रे त्रिष्टुभि शुगस्ति सा त आप्यायतां निष्टचायतां तस्यै ते स्वाहा। हे घर्म! या ते पृथिव्यां या सदस्या जगत्यां शुगस्ति सा त आप्यायतां निष्टचायतां तस्यै ते स्वाहा भवतु ॥ १८ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **घर्म=विद्वन्! विदुषि वा!** प्रकाशात्मन्! **या ते गायत्र्यां** गायतो रक्षिकायां विद्यायां, **हविर्धाने** हविषां धारणे, **शुक्** शोचन्ति=विचारयन्ति यया सा **या च दिव्या** दिव्येषु गुणेषु भवा **वर्त्तते; सा ते** तव **आ+प्यायतां** सर्वतो वर्द्धतां, **नि+ष्टचायतां** नितरां संहता भवतु, **तस्यै ते** तुभ्यं **स्वाहा** प्रशंसिता वाक् **स्यात्।**

हे **घर्म** दिनमिव विशालविद्य! **या ते** तव **अन्तरिक्षे** आकाशे **शुक्** सूर्य्यस्येव प्रदीप्तिः; **या आग्नीध्रे** अग्नीध्रः शरणे **त्रिष्टुभि** त्रिष्टुब्निर्मितेऽर्थे **शुक्** सूर्य्यस्येव प्रदीप्तिः, **सा ते** तव **आप्यायतां** सर्वतो वर्द्धतां, **निष्टचायतां** नितरां संहता भवतु, **तस्यै ते** तुभ्यं **स्वाहा** प्रशंसिता वाक् स्यात्।

हे **घर्म!** विद्युतः प्रकाश इव वर्त्तमान! **या ते** तव **पृथिव्यां** भूमौ, **या सदस्या** सदसि=सभायां, **जगत्यां** जगदन्वितायां सृष्टौ **शुक्** प्रदीप्तिः **अस्ति; सा ते** तव **आप्यायतां** सर्वतो वर्द्धतां **निष्टचायतां**

भाषार्थ—हे (घर्म) प्रकाशित आत्मा वाले विद्वान् वा विदुषी! (या) जो (ते) आपकी (गायत्र्याम्) गाते हुए की रक्षा करने वाली विद्या में तथा (हविर्धाने) हवियों के धारण करने में (शुक्) विचार करने का साधन बुद्धि और (या) जो (दिव्या) दिव्य क्रिया है; (सा) वह (ते) तेरी बुद्धि तथा दिव्य क्रिया (आ+प्यायताम्) सब ओर बढ़े तथा (निष्टचायताम्) सर्वथा संहत हो; (तस्यै) उस बुद्धि तथा दिव्य क्रिया की प्राप्ति के लिए (ते) आपके लिए (स्वाहा) प्रशंसिता वाणी हो।

हे (घर्म) दिन के तुल्य विशाल विद्या वाले विद्वान्! (या) जो (ते) आपकी (अन्तरिक्षे) आकाश में (शुक्) सूर्य के तुल्य चमक है; तथा (या) जो (आग्नीध्रे) अग्नियों की शरण रूप (त्रिष्टुभि) त्रिष्टुप् छन्द से प्रतिपादित अर्थ में (शुक्) सूर्य के तुल्य चमक है; (सा) वह (ते) आपकी दीप्ति (आ+प्यायताम्) सब ओर बढ़े तथा (निष्टचायताम्) सर्वथा संहत हो (तस्यै) उस दीप्ति की प्राप्ति के लिए (ते) आपके लिए (स्वाहा) प्रशंसित वाणी हो।

हे (घर्म) विद्युत् के प्रकाश के तुल्य वर्तमान विद्वान्! (या) जो (ते) आपकी (पृथिव्याम्) भूमि पर, (या) जो (सदस्या) सभा में तथा (जगत्याम्) जगत् से युक्त सृष्टि में (शुक्) चमक है; (सा) वह

नितरां संहता भवतु; **तस्यै ते** तुभ्यं **स्वाहा** भवा (सत्यविद्या) **भवतु** ।। ३८ । १८ ।।

(ते) आपकी (आप्यायताम्) सब ओर बढ़े, वह (निष्टचायताम्) सर्वथा संहत हो, (तस्यै) उस दीप्ति की प्राप्ति के लिए (ते) आपके लिए (स्वाहा) सत्य विद्या हो ।। ३८ । १८ ।।

भावार्थः—ये स्त्रीपुरुषा दिव्यां क्रियां शुद्धामुपासनां पवित्रं विज्ञानं च प्राप्य प्रकाशन्ते, त एव मनुष्यजन्मफलापन्ना भवन्ति; अन्यानपि तथैव कुर्युः ।। ३८ । १८ ।।

भावार्थ—जो स्त्री-पुरुष दिव्य क्रिया, शुद्ध उपासना और पवित्र विज्ञान को प्राप्त करके प्रकाशित होते हैं; वे ही मनुष्य-जन्म के फल को प्राप्त होते हैं; वे अन्यों को भी वैसा ही बनावें ।। ३८ । १८ ।।

भा० पदार्थः—दिव्या=दिव्या क्रिया । शुग्=शुद्धोपासना । गायत्र्याम्=पवित्रविज्ञाने ।

भाष्यसार—स्त्री और पुरुष क्या करें—विद्या से प्रकाशित आत्मा वाला विद्वान् और विदुषी स्त्री विद्या में तथा हवियों के धारण करने में बुद्धि और दिव्य क्रिया को सब ओर से बढ़ावें । वह बुद्धि और दिव्य क्रिया सर्वथा संहत हो । उसके लिए वे प्रशंसित वाणी को प्राप्त करें ।

दिन के तुल्य विशाल विद्या वाला विद्वान् तथा विदुषी स्त्री की आकाश में सूर्य की चमक के तुल्य विद्या की चमक बढ़े । अग्नियों के शरण रूप त्रिष्टुप् छन्द से प्रतिपादित अर्थ में उनकी जो सूर्य के तुल्य दीप्ति है वह सब ओर बढ़े तथा सर्वथा संहत हो । उसके लिए उनकी प्रशंसित वाणी हो ।

विद्युत् के प्रकाश के तुल्य विद्या-प्रकाश से युक्त विद्वान् और विदुषी स्त्री की जो पृथिवी पर, सभा में तथा जगत् में जो विद्या की चमक है वह सब ओर बढ़े । वह सर्वथा संहत हो । उसके लिए उनकी सत्य विद्या हो ।

तात्पर्य यह है कि विद्वान् पुरुष और विदुषी स्त्री दिव्य क्रिया, शुद्ध उपासना और पवित्र विज्ञान को प्राप्त करके सर्वत्र प्रकाशित हों । मनुष्य-जन्म के फल से युक्त हों तथा अन्यों को भी उक्त विधि से मनुष्य-जन्म के फल से युक्त करें ।। ३८ । १८ ।। ●

दीर्घतमाः । **यज्ञः=विद्वान् राजा** । निचृदुपरिष्टाद्बृहती । मध्यमः ।।

अथ राजप्रजे किं कुर्य्यातामित्याह ।।

अब राजा और प्रजा क्या करें, यह उपदेश किया है ।।

क्षत्रस्यं त्वा पुरस्पाय ब्रह्मणस्तन्वं पाहि ।
विशस्त्वा धर्मणा वयमनु क्रामाम सुविताय नव्यसे ॥ १९ ॥

पदार्थः—(**क्षत्रस्य**) राजन्यकुलस्य राष्ट्रस्य वा (**त्वा**) त्वाम् (**परस्पराय**) येन परानन्यान् पाति तस्मै (**ब्रह्मणः**) ब्रह्मविदः (**तन्वम्**) शरीरम् (**पाहि**) (**विशः**) मनुष्यादिप्रजाः । **विश इति मनुष्यना० ।। निघं० २ । ३ ।।** (**त्वा**) त्वाम् (**धर्मणा**) धर्मेण (**वयम्**) (**अनु**) (**क्रामाम**) अनुक्रमेण गच्छेम (**सुविताय**) ऐश्वर्य्यप्राप्तये (**नव्यसे**) अतिशयेन नवीनाय ।। १९ ।।

प्रमाणार्थ—(विशः) मनुष्यादिप्रजाः । 'विश' यह पद निघण्टु (२ । ३) में मनुष्य-नामों में पठित है ।।

अन्वयः—हे राजन् ! राज्ञि वा ! त्वं परस्पाय क्षत्रस्य ब्रह्मणस्त्वा तन्वं पाहि यथा वयं नव्यसे सुविताय धर्मणाऽनुकामाय तथैव धर्मेण वर्त्तमानं त्वा विशोऽनुगच्छन्तु ।। १९ ।।

सपदार्थान्वयः—हे राजन् ! राज्ञि वा ! **त्वं परस्पाय** येन परानन्यान् पाति तस्मै, **क्षत्रस्य** राजन्यकुलस्य राष्ट्रस्य वा **ब्रह्मणः** ब्रह्मविदः **त्वा** त्वां **तन्वं** शरीरं **पाहि** ।

यथा वयं नव्यसे अतिशयेन नवीनाय **सुविताय** ऐश्वर्यप्राप्तये **धर्मणा** धर्मेण **अनु+क्रामाम** अनुक्रमेण गच्छेम, **तथैव धर्मेण वर्त्तमानं त्वा** त्वां **विशः** मनुष्यादिप्रजाः **अनुगच्छन्तु** ॥ ३८ । १९ ॥

भावार्थः—राज्ञा राजपुरुषैश्च धर्मेण विदुषः प्रजाश्च संरक्षणीयाः । एवं प्रजाभी राजपुरुषैश्च राजा सदा संरक्षणीयः । एवं न्यायविनयाभ्यां वर्त्तित्वा राजप्रजे नूतनमैश्वर्यमुन्नयेताम् ॥ ३८ । १९ ॥

भाषार्थ—हे राजन् ! वा रानी ! तू—(परस्पराय) दूसरों की रक्षा करने के साधन की प्राप्ति के लिए (क्षत्रस्य) क्षत्रिय कुल वा राष्ट्र—तथा (ब्रह्मणः) ब्रह्मज्ञानी विद्वान् के तथा (त्वा) अपने (तन्वम्) शरीर की (पाहि) रक्षा कर ।

जैसे हम लोग—(नव्यसे) अत्यन्त नवीन (सुविताय) ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए (धर्मणा) धर्म से (अनुक्रमाम) अनुक्रम से चलते हैं, वैसे ही धर्मपूर्वक वर्ताव करने वाले (त्वा) आपका (विशः) मनुष्य आदि प्रजा (अनुगमन) करे ॥ ३८ । १९ ॥

भावार्थ—राजा और राजपुरुष धर्म से विद्वानों और प्रजा का संरक्षण करें । इस प्रकार प्रजा और राजपुरुष राजा का सदा संरक्षण करें । इस प्रकार न्याय और विनय से वर्ताव करके राजा और प्रजा नवीन ऐश्वर्य को उन्नत करें; बढ़ावें ॥ ३८ । १९ ॥

भा० पदार्थः—ब्रह्मणः=विदुषः । क्षत्रस्य=प्रजायाः । धर्मणा=न्यायविनयाभ्यां वर्त्तनेन । नव्यसे=नूतनाय । सुविताय=ऐश्वर्याय ॥

भाष्यसार—राजा और प्रजा क्या करें—राजा और रानी अन्यों की रक्षा के साधनों की प्राप्ति के लिए क्षत्रिय कुल, राष्ट्र, ब्रह्मज्ञानी विद्वान् तथा अपने शरीर की रक्षा करें । अर्थात् राजा और राजपुरुष धर्म से विद्वानों का और प्रजा का संरक्षण करें । इसी प्रकार प्रजा और राजपुरुष भी राजा का सदा संरक्षण करें । राजा और प्रजा दोनों मिलकर धर्म अर्थात् न्याय और विनय से अत्यन्त नवीन ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए अनुक्रम से चलें अर्थात् ऐश्वर्य को बढ़ावें ॥ ३८ । १९ ॥

दीर्घतमाः । **यज्ञः=विद्वान् परमेश्वरश्च** । निचृत्त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

पुनर्मनुष्याः किं कुर्युरित्याह ॥

मनुष्य क्या करें, यह फिर उपदेश किया है ॥

चतुः स्रक्तिर्नाभिर्ऋतस्य सप्रथाः स नो विश्वायुः सप्रथाः स नः सर्वायुः सप्रथाः ।
अप द्वेषो ऽअप ह्वरोऽन्यव्रतस्य सश्चिम ॥ २० ॥

पदार्थः—(**चतुःस्रक्तिः**) चतुरस्रा (**नाभिः**) नाभिरिव (**ऋतस्य**) सत्यस्वरूपस्य (**सप्रथाः**) विस्तारेण सह वर्त्तमानः (**सः**) (**नः**) अस्मान् (**विश्वायुः**) सर्वमायुर्यस्य (**सप्रथाः**) विस्तारेण सह वर्त्तमानः (**सः**) (**नः**) अस्मान् (**सर्वायुः**) सम्पूर्णजीवनम् (**सप्रथाः**) विस्तीर्णसुखः (**अप**) दूरीकरणे (**द्वेषः**) ये द्विषन्ति तान् (**अप**) (**ह्वरः**) ये ह्वरन्ति=कुटिलं गच्छन्ति तान् (**अन्यव्रतस्य**) अन्येषां पालने व्रतं=शीलं यस्य तस्य (**सश्चिम**) दूरे प्राप्नुयाम गमयेम वा ॥ २० ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा चतुःस्रवितर्नाभिरिव सप्रथा अन्यव्रतस्यर्त्तस्य परमात्मनः सेवां

करोति स सप्रथा विश्वायुर्नोऽस्मान् बोधयतु स सप्रथाः सर्वायुर्नः परमेश्वरविद्यां ग्राहयतु येन वयं द्वेषोपसश्चिम तथा यूयमपि कुरुत ॥ २० ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! **यथा चतुःस्रक्तिः** चतुरस्रा [**नाभिः**]=**नाभिरिव सप्रथाः** विस्तरेण सह वर्त्तमानः, **अन्यव्रतस्य** अन्येषां पालने व्रतं=शीलं यस्य तस्य **ऋतस्य=परमात्मनः** सत्यस्वरूपस्य **सेवां करोति, स सप्रथाः** विस्तरेण सह वर्त्तमानः **विश्वायुः** सर्वमायुर्यस्य, **नः अस्मान् बोधयतु।**

स सप्रथाः विस्तीर्णसुखः **सर्वायुः** सम्पूर्णजीवनं **नः** अस्मान् **परमेश्वरविद्यां ग्राहयतु; येन वयं द्वेषः** ये द्विषन्ति तान् [**ह्वरः**] ये ह्वरन्ति=कुटिलं गच्छन्ति तान्, **अप+सश्चिम** दूरे प्राप्नुयाम गमयेम वा; **तथा यूयमपि कुरुत** ॥ ३८ । २० ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे—(चतुःस्रक्तिः) चार कोणों वाली (नाभिः) नाभि के तुल्य (सप्रथाः) विस्तार से युक्त पुरुष (अन्यव्रतस्य) अन्यों के पालन करने वाले (ऋतस्य) सत्य स्वरूप परमात्मा की सेवा=उपासना करता है; (सः) वह (सप्रथाः) विस्तार से युक्त (विश्वायुः) पूर्ण आयु वाला विद्वान् (नः) हमें बोध करावे।

(सः) वह (सप्रथाः) विस्तीर्ण सुख वाला तथा (सर्वायुः) सम्पूर्ण आयु वाला विद्वान् (नः) हमें परमेश्वर-विद्या को ग्रहण करावे; जिससे हम लोग (द्वेषः) द्वेष करने वाले तथा [ह्वरः] कुटिल गति वाले लोगों को (अप+सश्चिम) दूर करें—वैसे तुम भी करो ॥ ३८ । २० ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। हे मनुष्याः ! यथा प्राप्तरसा नाभी रसमुत्पाद्य सर्वान् शरीरावयवान् पुष्णाति; तथा सेविता विद्वांस उपासितः परमेश्वरश्च द्वेषं कुटिलतादिदोषांश्च निवार्य सर्वान् जीवान् संरक्षतीति मत्वा, तेषां तस्य च सततं सेवा कार्या ॥ ३८ । २० ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलङ्कार है। हे मनुष्यो ! जैसे रस को प्राप्त हुई नाभि रस को उत्पन्न करके सब शरीर के अवयवों को पुष्ट करती है; वैसे सेवा किये हुए विद्वान् तथा उपासना किया हुआ परमेश्वर द्वेष और कुटिलता आदि दोषों का निवारण करके सब जीवों का संरक्षण करता है, ऐसा मानकर उन विद्वानों की और उस परमेश्वर की सदा सेवा एवं उपासना करो ॥ ३८ । २० ॥

भा० पदार्थः—चतुःस्रक्तिः=प्राप्तरसा।

भाष्यसार—१. मनुष्य क्या करें—चार कोणों वाली नाभि के तुल्य विस्तार से युक्त अर्थात् विशाल हृदय वाला विद्वान् पुरुष अन्यों का पालन करने वाले, सत्यस्वरूप परमात्मा की सेवा (उपासना) करे। वह विशाल हृदय वाला होकर तथा पूर्ण आयु को प्राप्त करके मनुष्यों को विद्या का बोध करावे। वह विस्तीर्ण सुख वाला तथा सम्पूर्ण आयु वाला होकर मनुष्यों को परमेश्वर-सम्बन्धी विद्या का उपदेश करे। जिससे सब मनुष्य द्वेष करने वाले तथा कुटिल गति वाले लोगों को दूर भगा सकें। अतः सब मनुष्य विद्वानों की सेवा और परमेश्वर की उपासना अवश्य करें।

२. अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त हैं; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि सब मनुष्य विद्वान् पुरुष के तुल्य अनुष्ठान करें ॥ ३८ । २० ॥

अन्यत्र व्याख्यात—हे महावैद्य ! सर्वरोगनाशकेश्वर ! चार कोणो वाली नाभि (मर्मस्थान) ऋतु की भरी, नैरोग्य और विज्ञान का घर "सप्रथाः" विस्तीर्ण सुखयुक्त आप की कृपा से हो, तथा आप की कृपा से "विश्वायुः" पूर्ण आयु हो। आप जैसे सर्व सामर्थ्य विस्तीर्ण हो वैसे ही विस्तृत सुख से विस्तार सहित सर्वायु हमको दीजिए।

हे ईश ! हम "अपद्वेषः रहित आपकी कृपा से तथा "अपह्वरः" (कम्पन) रहित हों। आपकी आज्ञा और आप से भिन्न व्रत को कभी न मानें किन्तु आप को "सश्चिम" सदा सेवें यही हमारा परम निश्चय है इस परम निश्चय की रक्षा आप ही कृपा से करें ॥ आर्याभिविनय २। ४१ ॥ ३८। २० ॥

दीर्घतमाः। **यज्ञः=विद्वान् जगदीश्वरो वा**। अनुष्टुप्। गान्धारः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

मनुष्य क्या करें, यह फिर उपदेश किया है ॥

घर्मैतत्ते पुरीषं तेन वर्द्धस्व चा च प्यायस्व। वर्द्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि ॥ २१ ॥

पदार्थः—(**घर्म**) पूजनीयतम ! (**एतत्**) (**ते**) तव (**पुरीषम्**) व्यापनं पालनं वा (**तेन**) (**वर्द्धस्व**) (**च**) (**आ**) (**च**) (**प्यायस्व**) पुषाण (**वर्द्धिषीमहि**) पूर्णां वृद्धिं प्राप्नुयाम (**च**) (**वयम्**) (**आ**) (**च**) (**प्यासिषीमहि**) सर्वतो वर्द्धेम ॥ २१ ॥

अन्वयः—हे घर्म सर्वतः प्रकाशमय जगदीश्वर विद्वन् ! वा यदेतत्ते पुरीषमस्ति तेन त्वं वर्द्धस्व चाऽन्यान् वर्द्धय स्वयमाप्यायस्वाऽन्यांश्च पोषय तव कृपया शिक्षया वा यथा वयं वर्द्धिषीमहि तथा चाऽन्यान् वयं वर्द्धयेम यथा च वयमाप्यासिषीमहि तथाऽन्यान् समन्ततः पोषयेम तथा यूयमपि कुरुत ॥२१॥

[विद्वान्]

सपदार्थान्वयः—हे **घर्म=सर्वतो प्रकाशमय विद्वन्** पूजनीयतम ! **यदेतत्ते** तव **पुरीषं** पालनम् **अस्ति; तेन त्वं वर्द्धस्व, च=अन्यान् वर्द्धय; स्वयमाप्यायस्व** पुषाण, **अन्यांश्च पोषय।**

तव शिक्षया यथा वयं वर्द्धिषीमहि पूर्णां वृद्धिं प्राप्नुयाम, **तथा चाऽन्यान् वयं वर्द्धयेम।**

यथा च वयमाप्यासिषीमहि सर्वतो वर्द्धेम, **तथाऽन्यान् समन्ततः पोषयेम, तथा यूयमपि कुरुत** ॥ ३८। २१ ॥

भाषार्थ—हे (घर्म) सब ओर प्रकाशमय, पूज्यतम विद्वान् ! जो (एतत्) यह (ते) तेरा (पुरीषम्) पालन है, (तेन) उससे तू (वर्द्धस्व) बढ़, (च) और अन्यों को बढ़ा; स्वयं (आप्यायस्व) पुष्ट हो तथा अन्यों को पुष्ट कर।

आपकी शिक्षा से जैसे हम लोग (वर्द्धिषीमहि) पूर्ण वृद्धि को प्राप्त करते हैं वैसे अन्यों को हम बढ़ावें।

और जैसे हम लोग (आप्यासिषीमहि) सब ओर बढ़ते हैं तथा अन्यों को सब ओर से पुष्ट करते हैं; वैसे तुम भी करो ॥ ३८। २१ ॥

[ईश्वरः]

सपदार्थान्वयः—हे **घर्म=सर्वतो प्रकाशमय जगदीश्वर ! यदेतत्ते** तव **पुरीषं** व्यापनम् **अस्ति, तेन त्वं वर्द्धस्व, च=अन्यान् वर्द्धय, स्वयमाप्यायस्व** पुषाण **अन्यांश्च पोषय तव कृपया यथा वयं, वर्द्धिषीमहि** पूर्णां वृद्धिं प्राप्नुयाम **तथा चाऽन्यान् वयं वर्द्धयेम।**

यथा च वयमा+प्यासिषीमहि सर्वतो वर्द्धेम

भाषार्थ—हे (घर्म) सब ओर से प्रकाशमय, जगदीश्वर ! जो (एतत्) यह (ते) तेरा (पुरीषम्) व्यापन है, (तेन) उससे तू (वर्द्धस्व) बढ़ (च) और अन्यों को बढ़ा; स्वयम् (आप्यायस्व) पुष्ट हो और अन्यों को पुष्ट कर। आपकी कृपा से जैसे हम (वर्द्धिषीमहि) पूर्ण वृद्धि को प्राप्त करें वैसे अन्यों को हम बढ़ावें।

और जैसे (वयम्) हम लोग (आप्यासिषीमहि)

तथाऽन्यान् समन्ततः पोषयेम तथा यूयमपि कुरुत ॥ ३८ । २१ ॥

भावार्थः — अत्र श्लेषवाचकलुप्तोपमालङ्कारौ । हे मनुष्याः ! यथेश्वरेण सर्वत्राभिव्याप्तेन सर्वं रक्ष्यते पोष्यते च, तथैव पुष्टैरस्माभिः सर्वे जीवा वर्द्धनीयाः पोषणीयाश्च ॥ ३८ । २१ ॥

सब ओर बढ़ते हैं तथा अन्यों को सब ओर से पुष्ट करते हैं; वैसे तुम भी करो ॥ ३८ । २१ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलङ्कार है । हे मनुष्यो ! जैसे सर्वत्र व्यापक ईश्वर सब का रक्षण और पोषण करता है; वैसे ही पुष्ट हुए हम लोग सब जीवों को बढ़ावें और पुष्ट करें ॥ ३८ । २१ ॥

भा० पदार्थः—पुरीषम्=सर्वत्राभिव्याप्तम् ।

भाष्यसार—१. **ईश्वर**—सब ओर प्रकाशमय जगदीश्वर का स्वरूप व्यापक है । अतः वह सब ओर बढ़ता है तथा अपने उपासकों को भी बढ़ाता है । स्वयं सब ओर पुष्ट है तथा अपने उपासकों का भी पोषण करता है ।

ईश्वर के उपासक लोग जैसे उसकी कृपा से पूर्ण वृद्धि को प्राप्त करें वैसे अन्य जनों को भी बढ़ाया करें । जैसे उपासक लोग स्वयं सब ओर से बढ़ें वैसे अन्य जनों का भी सब ओर से पोषण किया करें ।

२. **विद्वान्**—विद्या से सब ओर प्रकाशमय, पूजनीयतम विद्वान् का मनुष्यादि का पालन करता है उससे वह बढ़ता है तथा अन्यों को बढ़ाता है, स्वयं सब ओर से पुष्ट होता है तथा अन्यों को पुष्ट करता है । उक्त विद्वान् की शिक्षा से मनुष्य पूर्ण वृद्धि को प्राप्त करते हैं तथा अन्यों को भी बढ़ाते हैं तथा उनका पोषण करते हैं ।

३. **अलंकार**—इस मन्त्र में श्लेष अलङ्कार है । अतः मन्त्र का अर्थ ईश्वरपरक और विद्वान् परक है । उपमा-वाचक पद को लुप्त मानकर वाचक लुप्तोपमा अलंकार भी है । उपमा यह है कि मन्त्र में प्रतिपादित ईश्वर और विद्वान् के तुल्य मनुष्य सब जीवों की वृद्धि और उनका पोषण करें ॥ ३८ । २१ ॥

दीर्घतमाः । **यज्ञः**=विद्युत् । परोष्णिक् । ऋषभः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

मनुष्य क्या करें, इसका फिर उपदेश किया है ॥

अचिक्रदद्वृषा हरिर्महान्मित्रो न दर्शतः । सꣳ सूर्येण दिद्युतदुदधिर्निधिः ॥ २२ ॥

पदार्थः—(**अचिक्रदत्**) शब्दं कुर्वन् (**वृषा**) वर्षकः (**हरिः**) आशुगन्ता (**महान्**) सर्वेभ्यो ज्येष्ठः (**मित्रः**) सखा (**न**) इव (**दर्शतः**) द्रष्टव्यः (**सम्**) (**सूर्येण**) सवित्रा (**दिद्युतत्**) विद्योतते (**उदधिः**) उदकानि धीयन्ते यस्मिँस्तस्समुद्रोऽन्तरिक्षं वा (**निधिः**) निधीयन्ते पदार्था यस्मिन् सः ॥ २२ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यो वृषा हरिर्महानचिक्रदन्मित्रो न दर्शतः सूर्येण सह उदधिर्निधिरिव संदिद्युतत्स एव विद्युद्रूपोऽग्निः सर्वैः संप्रयोज्यः ॥ २२ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! यो **वृषा** वर्षकः, **हरिः** आशुगन्ता, **महान्** सर्वेभ्यो ज्येष्ठः, **अचिक्रदत्** शब्दं कुर्वन्, **मित्रः** सखा **न** इव

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जो (वृषा) वर्षा करने वाला, (हरिः) शीघ्रगामी, (महान्) सबसे बड़ा (अचिक्रदत्) शब्द करने वाला, (मित्रः) मित्र

दर्शतः द्रष्टव्यः, **सूर्य्येण** सवित्रा सह **उदधिः** उदकानि धीयन्ते यस्मिँस्तत्समुद्रोऽन्तरिक्षं वा, **निधिः** निधीयन्ते पदार्थाः यस्मिन् सः **संदिद्युतत्** विद्योतते; **स एव विद्युद्रूपोऽग्निः सर्वैः सम्प्रयोज्यः** ॥ ३८ । २२ ॥

(न) के तुल्य (दर्शतः) दर्शनीय, तथा (सूर्येण) सूर्य के साथ—(उदधिः) जल को धारण करने वाला समुद्र वा आकाश जो (निधिः) पदार्थों को धारण करने वाला है वह (संदिद्युतत्) सम्यक् प्रकाशित होता है; उसी विद्युत् रूप अग्नि का सब संप्रयोग करें ॥ ३८ ॥ २२ ॥

भावार्थः — अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ। हे मनुष्याः! यथा वृषभास्तुरङ्गाश्च शब्दायन्ते, यथा सखा सखीन् प्रीतयति, तथैव सर्वैर्लोकैः सह वर्त्तमाना विद्युत् सर्वान् प्रकाशयति; तां विजानीत ॥ ३८ । २२ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपमा और वाचक लुप्तोपमा अलंकार हैं। हे मनुष्यो! जैसे बैल और घोड़े शब्द करते हैं; जैसे मित्र मित्रों से प्रेम करता है; वैसे ही सब लोकों के साथ वर्तमान विद्युत् सबको प्रकाशित करता है; उसे जानो ॥३८।२२॥

भा० पदार्थः—वृषा=वृषभः। हरिः=तुरङ्गः। सूर्येण=सर्वैर्लोकैः। निधिः=विद्युत्। संदिद्युतत्=सर्वान् प्रकाशयति ॥

भाष्यसार—**१. मनुष्य क्या करें**—वर्षा करने वाला, शीघ्रगामी, सब से बड़ा बैल और घोड़े के तुल्य शब्द करने वाला, मित्र के तुल्य दर्शनीय, सूर्य के साथ जलों को धारण करने वाले समुद्र वा अन्तरिक्ष के तुल्य, पदार्थों को धारण करने वाला जो विद्युत् रूप अग्नि चमक रहा है, एवं सब को प्रकाशित कर रहा है; विद्वान् मनुष्य उस अग्नि को जानें तथा उसका सम्यक् प्रयोग करें।

२. अलंकार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'न' पद है; अतः उपमा अलंकार है। उपमा यह है कि विद्युत् रूप अग्नि मित्र के तुल्य दर्शनीय है। उपमा-वाचक पद को लुप्त मानकर वाचक लुप्तोपमा अलंकार भी है। उपमा यह है कि विद्युत् रूप अग्नि बैल और घोड़े के तुल्य शब्द करने वाला है ॥ ३८ ॥ २२ ॥

दीर्घतमाः। **आपः**=प्राणाः। निचृदनुष्टुप्। गान्धारः ॥

अथ सज्जनदुर्जनकृत्यमाह ॥

अब सज्जन और दुर्जनों के कार्य का उपदेश किया जाता है ॥

सुमित्रिया न ऽआप ऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु
योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥ २३ ॥

पदार्थः—(**सुमित्रियाः**) सुष्ठु सखाय इव (**नः**) अस्मभ्यम् (**आपः**) प्राणाः (**ओषधयः**) सोमाद्याः (**सन्तु**) (**दुर्मित्रियाः**) दुष्टानि मित्राणीव (**तस्मै**) (**सन्तु**) (**यः**) पक्षपातेनाऽधर्मी (**अस्मान्**) (**द्वेष्टि**) (**यम्**) (**च**) (**वयम्**) (**द्विष्मः**) न प्रीणीमः ॥ २३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या आप ओषधयो नोऽस्मभ्यं सुमित्रिया इव सन्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यश्च वयं द्विष्मस्तस्मै आप ओषधयश्च दुर्मित्रिया इव सन्तु

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः! **आपः** प्राणाः **ओषधयः** सोमाद्याः **नः** अस्मभ्यं **सुमित्रियाः**

भाषार्थ—हे मनुष्यो! (आपः) प्राण तथा (ओषधयः) सोम आदि ओषधियां (नः) हमारे लिए,

सुष्ठु सखाय इव सन्तु ।

(सुमित्रियाः) उत्तम मित्रों के तुल्य सुखदायक (सन्तु) हों।

यः पक्षपातेनाधर्मी **अस्मान् द्वेष्टि, यञ्च वयं द्विष्मः न** प्रीणीमः, **तस्मै आपः ओषधयश्च दुर्मित्रियाः** दुष्टानि मित्राणि **इव सन्तु** ॥ ३८ । २३ ॥

(यः) जो पक्षपात करने से अधर्मी पुरुष (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) द्वेष करता है, (यं च) और जिससे (वयम्) हम (द्विष्मः) द्वेष करते हैं; (तस्मै) उस अधर्मी के लिए प्राण और ओषधियां (दुर्मित्रियाः) दुष्ट मित्रों के तुल्य दुःखदायक (सन्तु) हों। ॥ ३८ । २३ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । ये मनुष्या अन्येषां सुपथ्यौषधिप्राणवद् रोगदुःख-निवारकास्ते धन्याः, ये च कुपथ्यदुष्टौषधमृत्यु-वदन्येषां दुःखप्रदास्तान् धिग्धिक् ॥ ३८ । २३ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा। अलंकार है। जो मनुष्य अन्यों के सुपथ्य, ओषधि प्राणों के तुल्य रोग और दुःखों का निवारण करने वाले हैं; वे धन्य हैं; और जो कुपथ्य, दुष्ट औषध तथा मृत्यु के तुल्य अन्यों को दुःख देने वाले हैं उन्हें बार-बार धिक्कार है ॥ ३८ । २३ ॥

भा० पदार्थः—सुमित्रियाः=दुःखनिवारकाः । दुर्मित्रियाः=दुःखप्रदाः ॥

भाष्यसार—**१. सज्जनों का कार्य**—सज्जन पुरुष सुपथ्य, सोमादि ओषधि तथा प्राणों के तुल्य रोगों और दुःखों का निवारण करने वाले होते हैं। ये सज्जन पुरुष धन्य हैं।

२. दुर्जनों का कार्य—पक्षपात से अधर्म करने वाले, धार्मिक पुरुष जिनसे द्वेष करते हैं; कुपथ्य दुष्ट औषध और मृत्यु के तुल्य दुर्जन पुरुष अन्यों को दुःख देने वाले होते हैं। उन्हें बार-बार धिक्कार है।

२. अलङ्कार—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि सुपथ्य, ओषधि और प्राणों के तुल्य रोगों और दुःखों के निवारक सज्जन पुरुष होते हैं; तथा कुपथ्य, दुष्ट औषध और मृत्यु के तुल्य अन्यों को दुःख देने वाले दुर्जन पुरुष होते हैं ॥ ३८ । २३ ॥

दीर्घतमाः । **सविता**=परमात्मा । विराडनुष्टुप् । गान्धारः ॥

कीदृशो जनः सुखमाप्नुयादित्याह ॥

कैसा पुरुष सुख को प्राप्त होता है, यह उपदेश किया है ॥

उद्वयन्तमसस्परि स्वः पश्यन्त ऽ उत्तरम् । देवं देवत्रा सूर्य्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ २४ ॥

पदार्थः—(उत्) (वयम्) (तमसः) अन्धकारात् (**परि**) वर्जने (**स्वः**) सुखम् (**पश्यन्तः**) (**उत्तरम्**) सर्वेभ्यः पदार्थेभ्य उत्तरस्मिन् वर्त्तमानम् (**देवम्**) दिव्यगुणकर्मस्वभावम् (**देवत्रा**) देवेषु=दिव्येषु पदार्थेषु (**सूर्य्यम्**) सवितृवत् प्रकाशमयम् (**अगन्म**) (**ज्योतिः**) सर्वस्य प्रकाशकम् (**उत्तमम्**) सर्वोत्कृष्टम् ॥२४॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथा वयं यं तमसः पृथक् वर्त्तमानमुत्तरं देवत्रा देवमुत्तमं ज्योतिः सूर्यं पश्यन्तः सन्तः स्वः सुखं पर्युदगन्म तथैव यूयमपि प्राप्नुत ॥ २४ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! **यथा वयं यं तमसः** अन्धकारात् [परि]=**पृथक् वर्त्तमानमुत्तरं** सर्वेभ्यः पदार्थेभ्य उत्तरस्मिन् वर्त्तमानं, **देवत्रा** देवेषु=दिव्येषु पदार्थेषु **देवं** दिव्यगुणकर्मस्वभावम्, **उत्तमं** सर्वोत्कृष्टं, **ज्योतिः** सर्वस्य प्रकाशकं **सूर्यं** सवितृवत् प्रकाशमयं **पश्यन्तः सन्तः स्वः**=**सुखं पर्युदगन्म; तथैव यूयमपि प्राप्नुत** ।। ३८ । २४ ।।

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे हम लोग (तमसः) अन्धकार से [परि] पृथक्, (उत्तरम्) सब पदार्थों से उत्तर में वर्त्तमान (देवत्रा) दिव्य पदार्थों में (देवम्) दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव से युक्त (उत्तमम्) सब से उत्कृष्ट, (ज्योतिः) सब के प्रकाशक (सूर्यम्) सूर्य के तुल्य प्रकाशमय परमात्मा को देखते हुए (स्वः) सुख को (पर्युदगन्म) सब ओर से उत्तमतापूर्वक प्राप्त करते हैं; वैसे ही तुम भी प्राप्त करो ।। ३८ । २४ ।।

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । ये मनुष्या विद्युदादिविद्यां प्राप्य परमात्मानं साक्षात् पश्येयुस्ते प्रकाशिताः सन्तः सुखमाप्नुयुः ।।३८।२४।।

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलङ्कार है । जो मनुष्य विद्युत् आदि विद्या को प्राप्त करके परमात्मा को साक्षात् देखते हैं; वे प्रकाशित होकर सुख को प्राप्त करते हैं ।। ३८ । २४ ।।

भा० पदार्थः—सूर्यम्=विद्युदादिविद्याम् परमात्मानम् ।।

भाष्यसार--१. **कैसे पुरुष सुख को प्राप्त होते हैं**—जो विद्वान् मनुष्य अन्धकार से पृथक्, सब पदार्थों से उत्तर में वर्त्तमान, दिव्य पदार्थों में दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव वाले, सब से उत्कृष्ट, सबके प्रकाशक, सूर्य के तुल्य प्रकाशमय परमात्मा को साक्षात् देखते हैं; वे प्रकाशित आत्मा वाले होकर सुख को प्राप्त होते हैं ।

२. **अलङ्कार**—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलङ्कार है। उपमा यह है कि सब मनुष्य विद्वानों के तुल्य मन्त्रोक्त परमात्मा का साक्षात्कार करें ।। ३८ । २४ ।। ●

दीर्घतमाः । **ईश्वरः**=**स्पष्टम्** । साम्नी पङ्क्तिः । पञ्चमः ।।

अथाऽग्निमिषेण योगिकृत्यमाह ।।

अब अग्नि के मिष से योगियों के कर्त्तव्य का उपदेश किया जाता है ।।

एधौऽस्येधिषीमहि समिदसि तेजौऽसि तेजो मयि धेहि ॥ २५ ॥

पदार्थः—(एधः) इन्धते=प्रदीपयन्ति येन तद्वत् (**असि**) (**एधिषीमहि**) सर्वतो वर्द्धयेम (**समित्**) सम्यक् प्रदीप्तेव (**असि**) (**तेजः**) प्रकाशमयः (**असि**) (**तेजः**) (**मयि**) (**धेहि**) ।। २५ ।।

अन्वयः—हे परमेश्वर ! यस्त्वमस्मदात्मस्वेध इव प्रकाशकोऽसि समिदिवाऽसि तेजोवत्सर्वविद्यादर्शकोऽसि स त्वं मयि तेजो धेहि भवन्तं प्राप्य वयमेधिषीमहि ।। २५ ।।

सपदार्थान्वयः—हे परमेश्वर ! **यस्त्वमस्मदात्मस्वेधः** इन्धते प्रदीपयन्ति येन तद्वत् (**इव**) **प्रकाशकोऽसि, समित्** सम्यक् प्रदीप्तेव **असि,**

भाषार्थ—हे परमेश्वर ! जो तू—हमारे आत्माओं में (एधः) इन्धन के तुल्य प्रकाश करने वाला (असि) है; (समित्) सम्यक् प्रदीप्त हुई

[तेजः]=तेजोवत्सर्वविद्यादर्शकः प्रकाशमयः **असि, त्वं मयि तेजो धेहि। भवन्तं प्राप्य वयमेधिषीमहि** सर्वतो वर्द्धयेम ॥ ३८ । २५ ॥

समिधा के तुल्य (असि) है; [तेजः] तेज के तुल्य सब विद्याओं का दर्शक एवं प्रकाशमय (असि) है; सो तू (मयि) मुझ में (तेजः) तेज को (धेहि) स्थापित कर। आपको प्राप्त करके हम लोग (एधिषीमहि) सब ओर बढ़ें ॥ ३८ । २५ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या! यथेन्धनेन घृतेन चाग्नेर्ज्वाला वर्द्धते तथैवोपासितेन जगदीश्वरेण योगिनामात्मानः प्रकाशिता भवन्तिं ॥ ३८ । २५ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो! जैसे इन्धन और घृत से अग्नि की ज्वाला बढ़ती है, वैसे ही जगदीश्वर की उपासना से योगी जनों की आत्माएँ प्रकाशित होती हैं ॥ ३८ । २५ ॥

भा० पदार्थः—एधः=इन्धनम्/घृतम्। तेजः=अग्नेर्ज्वाला ॥

भाष्यसार—अग्नि के मिष से योगी के कार्य का उपदेश—परमेश्वर योगी जनों की आत्मा में अग्नि में डाले हुए इन्धन के तुल्य प्रकाश करने वाला है; वह प्रदीप्त हुई समिधा के तुल्य प्रकाशित है; अग्नि के तुल्य सब विद्याओं का दर्शक एवं प्रकाशक है। वह योगी जनों की आत्मा में तेज को स्थापित करता है। योगी जन उसे प्राप्त करके सब ओर बढ़ाते हैं; योग-विद्या का सर्वत्र प्रसार करते हैं ॥ ३८ । २५ ॥

दीर्घतमाः। **इन्द्रः**=विद्वान्। स्वराट् पङ्क्तिः। पञ्चमः ॥

पुनर्विद्वांसः किं कुर्य्युरित्याह ॥

विद्वान् लोग क्या करें, यह उपदेश किया जाता है ॥

यावती द्यावापृथिवी यावच्च सप्त सिन्धवो वितस्थिरे।
तावन्तमिन्द्र ते ग्रहमूर्जा गृह्णाम्यक्षितं मयि गृह्णाम्यक्षितम् ॥ २६ ॥

पदार्थः—**(यावती)** यावत्परिमाणे **(द्यावापृथिवी)** भूमिसूर्यौ **(यावत्)** यावत्परिमाणाः **(च)** (सप्त) **(सिन्धवः)** समुद्राः **(वितस्थिरे)** विशेषेण तिष्ठन्ति **(तावन्तम्)** **(इन्द्र)** विद्युदिव वर्त्तमान **(ते)** तव **(ग्रहम्)** गृह्णाति येन तम् **(ऊर्जा)** बलेन **(गृह्णामि)** **(अक्षितम्)** क्षयरहितम् **(मयि)** **(गृह्णामि)** **(अक्षितम्)** नाशरहितम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—हे इन्द्र! ते यावती द्यावापृथिवी यावच्च सप्त सिन्धवो वितस्थिरे तावन्तमक्षितं ग्रहमूर्जाऽहं गृह्णामि तावन्तमक्षितमहं मयि गृह्णामि ॥ २६ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **इन्द्र** विद्युदिव वर्त्तमान! **ते** तव **यावती** यावत्परिमाणे **द्यावापृथिवी** भूमिसूर्यौ, **यावत्** यावत्परिमाणाः **च सप्त सिन्धवः** समुद्राः **वि+तस्थिरे** विशेषेण तिष्ठन्ति; **तावन्तमक्षितं** क्षयरहितं **ग्रहं** गृह्णाति येन तम्, **ऊर्जा** बलेन **अहं गृह्णामि; तावन्तमक्षितं** नाशरहितं **मयि गृह्णामि** ॥ ३८ । २६ ॥

भाषार्थ—हे (इन्द्र) विद्युत् के तुल्य वर्तमान विद्वान्! (ते) तेरे (यावती) जितने (द्यावापृथिवी) भूमि और सूर्य (यावच्च) और जितने (सप्त) सात (सिन्धवः) समुद्र (वि+तस्थिरे) स्थित हैं; (तावन्तम्) उतने (अक्षितम्) क्षय=नाश रहित (ग्रहम्) ग्रहण करने योग्य विद्युत् आदि के गुणों को (ऊर्जा) बल से मैं (गृह्णामि)

ग्रहण करता हूँ, (तावन्तम्) उतने (अक्षितम्) नाश रहित सुख को (मयि) अपने में (गृह्णामि) ग्रहण करता हूँ ॥ ३८ । २६ ॥

भावार्थः—विद्वद्भिर्यावच्छक्यं तावत् पृथिवीविद्युदादिगुणान् गृहीत्वाऽक्षयं सुखमाप्तव्यम् ॥ ३८ । २६ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग जहाँ तक हो सके वहाँ तक पृथिवी और विद्युत् आदि पदार्थों के गुणों को ग्रहण करके अक्षय सुख को प्राप्त करें ॥ २६ ॥

भा० पदार्थः—द्यावापृथिवी=पृथिवीविद्युदादिगुणाः । अक्षितम्=अक्षयं सुखम् । ऊर्जा=यावच्छक्यम् ॥

भाष्यसार—**विद्वान् लोग क्या करें**—विद्युत् के तुल्य तेजस्वी विद्वान् जहाँ तक हो सके वहाँ तक भूमि, सूर्य (विद्युत्), और सात समुद्रों के गुणों को ग्रहण करके अक्षय सुख को प्राप्त करें ॥ ३८ । २६ ॥ ●

दीर्घतमाः । **यज्ञः**=सुखम् । पङ्क्तिः । पञ्चमः ॥

अथ मनुष्यान् किं सुखयतीत्याह ॥

अब मनुष्यों को क्या वस्तु सुख देती है, यह उपदेश किया जाता है ॥

मयि त्यदिन्द्रियं बृहन्मयि दक्षो मयि क्रतुः ।
घर्मस्त्रिशुग्वि राजति विराजा ज्योतिषा सह ब्रह्मणा तेजसा सह ॥ २७ ॥

पदार्थः—(**मयि**) इन्द्रे जीवात्मनि (**त्यत्**) तत् (**इन्द्रियम्**) मन आदि (**बृहत्**) महत् (**मयि**) (**दक्षः**) बलम् (**मयि**) (**क्रतुः**) प्रज्ञा कर्म वा (**घर्मः**) प्रतापो यज्ञो वा (**त्रिशुक्**) तिस्रो मृदुमध्यतीव्रा दीप्तयो यस्य सः (**विराजति**) (**विराजा**) विशेषेण प्रकाशेन (**ज्योतिषा**) द्योतमानेन (**सह**) (**ब्रह्मणा**) धनेन (**तेजसा**) तीक्ष्णेन (**सह**) ॥ २७ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा विराजा ज्योतिषा सह ब्रह्मणा तेजसा सह च त्रिशुक् घर्मो विराजति तथा मयि बृहत् त्यदिन्द्रियं मयि दक्षो मयि क्रतुर्विराजति तथा युष्मासु स्वयं विराजताम् ॥ २७ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! **यथा विराजा** विशेषेण प्रकाशेन **ज्योतिषा** द्योतमानेन **सह ब्रह्मणा** धनेन **तेजसा** तीक्ष्णेन **सह च त्रिशुक्** तिस्रो मृदुमध्यतीव्रा दीप्तयो यस्य सः **घर्मः** प्रतापो यज्ञो वा **विराजति; तथा मयि** इन्द्रे=जीवात्मनि **बृहत्** महत् **त्यत्** तत् **इन्द्रियं** मन आदि, **मयि** इन्द्रे=जीवात्मनि **दक्षः** बलं, **मयि** इन्द्रे=जीवात्मनि **क्रतुः** प्रज्ञां कर्म वा **विराजति; तथा युष्मासु स्वयं विराजताम्** ॥ ३८ । २७ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे—(विराजा) विशेष प्रकाश तथा (ज्योतिषा) ज्योति के साथ, (ब्रह्मणा) धन और (तेजसा) तेज के साथ वर्तमान (त्रिशुक्) मृदु, मध्य और तीव्र तीन प्रकार की दीप्ति वाला (घर्मः) प्रताप वा यज्ञ (विराजति) प्रकाशित होता है; तथा (मयि) मुझ इन्द्र=जीवात्मा में (बृहत्) महान् (त्यत्) वह (इन्द्रियम्) मन आदि, (मयि) मुझ इन्द्र=जीवात्मा में (दक्षः) बल, (मयि) मुझ इन्द्र=जीवात्मा में (क्रतुः) प्रज्ञा वा कर्म (विराजति) प्रकाशित होता है; वैसे तुम लोगों में भी स्वयं प्रकाशित हो ॥ ३८ । २७ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। हे मनुष्याः ! यथाऽग्निविद्युत्सूर्यरूपेण त्रिविधः प्रकाशो जगत् प्रकाशयति, तथोत्तमं बलं कर्म, प्रज्ञा-धर्मसंचितं धनं, जितमिन्द्रियं बृहत् सुखं प्रयच्छति ॥ ३८ । २७ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। हे मनुष्यो ! जैसे अग्नि, विद्युत् और सूर्य रूप से तीन प्रकार का प्रकाश जगत् को प्रकाशित करता है; वैसे उत्तम बल, कर्म, बुद्धि धर्मपूर्वक संचित धन और जीती हुई इन्द्रियाँ बहुत सुख देती हैं ॥ ३८ । २७ ॥

भा० पदार्थः—त्रिशुक् = अग्निविद्युत्सूर्यरूपेण त्रिविधः [प्रकाशः] घर्मः = प्रकाशः। दक्षः = उत्तमं बलम्। क्रतुः = कर्म, प्रज्ञासंचितं धनम्। इन्द्रियम् = जितमिन्द्रियम् ॥

भाष्यसार—१. **मनुष्यों को क्या वस्तु सुख देती है**—मृदु, मध्य और तीव्र दीप्ति वाला अग्नि, विद्युत् और सूर्य रूप में तीन प्रकार का प्रकाश है; जो विशेष प्रकाश से युक्त ज्योति, धन और तेज से युक्त है। इसी प्रकार जीवात्मा में महान् मन आदि इन्द्रियाँ, बल, प्रज्ञा और कर्म विराजमान हैं। उत्तम बल, उत्तम कर्म, प्रज्ञा से धर्मपूर्वक संचित धन तथा वश में किया हुआ मन इन्द्रिय मनुष्यों को बहुत सुख प्रदान करता है।

२. **अलंकार**—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। उपमा यह है कि मनुष्य अग्नि आदि के तुल्य आत्मा को उत्तम गुणों से प्रकाशित करें ॥ ३८ । २७ ॥

दीर्घतमाः। **यज्ञः**=सुखम्। स्वराड्धृतिः। पञ्चमः ॥

पुनर्मनुष्याः किं किं कुर्य्युरित्याह ॥

फिर मनुष्य क्या क्या करें, यह उपदेश किया है ॥

पय॑सो रेत॒ऽआभृ॑तं॒ तस्य॒ दोह॑मशीम॒ह्युत्त॑रामुत्त॒राꣳ समा॑म्।
त्विषः॑ सं॒वृक् क्रत्वे॒ दक्ष॑स्य ते सुषु॒म्णस्य॑ ते सुषु॒म्णाग्निहु॒तः ॥
इन्द्र॑पीतस्य प्र॒जाप॑तिभक्षितस्य॒ मधु॑मत॒ऽउप॑हूत॒ऽउप॑हूतस्य भक्षयामि ॥ २८ ॥

पदार्थः—(**पयसः**) उदकस्य दुग्धस्य वा (**रेतः**) वीर्य्यम् (**आभृतम्**) समन्तात् पुष्टं धृतं वा (**तस्य**) (**दोहम्**) प्रपूर्त्तिम् (**अशीमहि**) प्राप्नुयाम (**उत्तरामुत्तराम्**) आगामिनीमागामिनीम् (**समाम्**) वेलाम् (**त्विषः**) प्रदीप्तस्य (**संवृक्**) यः संवृक्ते सः (**क्रत्वे**) प्रज्ञायै (**दक्षस्य**) बलस्य (**ते**) तव (**सुषुम्णस्य**) शोभनं सुम्नं=सुखं यस्य (**ते**) तव (**सुषुम्ण**) शोभनसुखयुक्त (**अग्निहुतः**) अग्नौ हुतं=प्रक्षिप्तं येन (**इन्द्रपीतस्य**) सूर्य्येण जीवेन वा पीतस्य (**प्रजापतिभक्षितस्य**) प्रजास्वामिनेश्वरेण सेवितस्य भक्षितस्य वा (**मधुमतः**) मधुरादिगुणयुक्तस्य (**उपहूतः**) उप=समीपे कृताऽऽह्वानः (**उपहूतस्य**) समीपमाहूतस्य (**भक्षयामि**) ॥ २८ ॥

अन्वयः—हे सुषुम्ण ! यथा त्वया यस्य पयसो रेत आभृतं तस्य दोहमुत्तरामुत्तरां समां वयमशीमहि तस्य ते क्रत्वे त्विषो दक्षस्य त आभृतमशीमहि सुषुम्णस्येन्द्रपीतस्य प्रजापतिभक्षितस्योपहूतस्य मधुमतः पयसो दोषान् संवृक् सन्नुपहूतोऽग्निहुतोऽहं भक्षयामि ॥ २८ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे सुषुम्ण !** शोभन-सुखयुक्त ! **यथा त्वया यस्य पयसः** उदकस्य दुग्धस्य वा **रेतः** वीर्य्यम् **आ+भृतं** समन्तात्पुष्टं धृतं वा, **तस्य दोहं** प्रपूर्त्तिम् **उत्तरामुत्तराम्** आगामिनी-मागामिनीं **समां** वेलां **वयमशीमहि** प्राप्नुयाम।

भाषार्थ—हे (सुषुम्ण) उत्तम सुख से युक्त विद्वान् मनुष्य ! जैसे तूने जिस (पयसः) जल वा दूध के (रेतः) बल को (आ+भृतम्) सब ओर से पुष्ट वा धारण किया है; (तस्य) उसकी (दोहम्) पूरणता को तथा उसके (उत्तरामुत्तराम्) प्रत्येक आगामी (समाम्) काल को हम (अशीमहि) प्राप्त करें।

तस्य ते तव **क्रत्वे** प्रज्ञायै **त्विषः** प्रदीप्तस्य **दक्षस्य** बलस्य **ते** तव **आभृतं** समन्तात्पुष्टं धृतं वा **अशीमहि** प्राप्नुयाम।

सो (ते) तेरी (क्रत्वे) प्रज्ञा के लिए (त्विषः) प्रदीप्त (दक्षस्य) बल की (ते) तेरी (आभृतम्) सब ओर से पुष्टि वा धारण को हम (अशीमहि) प्राप्त करें।

सुषुम्णस्य शोभनं सुम्नं=सुखं यस्य, **इन्द्रपीतस्य** सूर्येण जीवेन वा पीतस्य, **प्रजापतिभक्षितस्य** वा प्रजास्वामिनेश्वरेण सेवितस्य भक्षितस्य वा, **उपहूतस्य** समीपमाहूतस्य, **मधुमतः** मधुरादिगुण-युक्तस्य, **पयसः** उदकस्य दुग्धस्य वा **दोषान् संवृक्** यः संवृक्ते सः **सन्नुपहूतः** उप=समीपे कृताऽऽह्वानः **अग्निहुतः** अग्नौ हुतं=प्रक्षिप्तं येन **अहं भक्षयामि** ॥ ३८। २८॥

(सुषुम्णस्य) उत्तम सुखदायक (इन्द्रपीतस्य) सूर्य वा जीव के द्वारा पान किये हुए (प्रजापति-भक्षितस्य) प्रजा के स्वामी राजा के द्वारा सेवन वा भक्षण किये हुए, (उपहूतस्य) समीप लाये हुए (मधुमतः) मधुरादि गुणों से युक्त (पयसः) जल वा दूध के दोषों को (संवृक्) दूर करने वाला होकर (उपहूतः) आमन्त्रित तथा (अग्निहुतः) अग्नि में होम करने वाला मैं अन्नादि का (भक्षयामि) भक्षण करता हूँ॥ ३८। २८॥

भावार्थः—मनुष्यैः सदा वीर्यं वर्द्धनीयं, विद्यादिशुभगुणा धर्त्तव्याः, प्रतिदिनं सुखं वर्द्धनीयं, यथा स्वस्य सुखमिच्छेयुस्तथाऽन्येषामप्याकाङ्क्षे-रन्निति॥ ३८। २८॥

भावार्थ—मनुष्य सदा वीर्य को बढ़ावें, विद्यादि शुभ गुणों को धारण करें, प्रतिदिन सुख को बढ़ावें, जैसे अपने सुख की इच्छा करें वैसे अन्यों के लिए भी सुख की कामना करें। इति पद अध्याय-समाप्ति का द्योतक है॥ ३८। २८॥

भाष्यसार—**मनुष्य क्या-क्या करें**—विद्वान् मनुष्य जल वा दूध के बल को सब ओर से पुष्ट करे तथा बल को धारण करे। उस बल की पूरणता को भविष्य में अन्य मनुष्य भी प्राप्त करें। उक्त विद्वान् की प्रज्ञा की प्राप्ति के लिए प्रदीप्त बल की पुष्टि को प्राप्त करें तथा उक्त बल को धारण करें। उत्तम सुख देने वाले, सूर्य वा जीव से पान किये गए, राजा के द्वारा सेवित, समीप प्राप्त हुए, मधुरादि गुणों से युक्त जल वा दूध के दोषों का निवारण करके उसका सेवन करें। विद्वान् मनुष्य निमन्त्रित होकर अग्नि में घृतादि पदार्थों का होम करके अन्नादि पदार्थों का भक्षण करें।

मनुष्य सदा वीर्य को बढ़ावें। विद्यादि शुभ गुणों को धारण करें। प्रतिदिन सुख को बढ़ावें। अपने समान अन्यों के सुख की भी कामना करें॥ ३८। २८॥

[पूर्वापराध्यायार्थसंगतिमाह—]

अस्मिन्नध्यायेऽस्यां सृष्टौ शुभगुणग्रहणं, स्वस्य परस्य च पोषणं, यज्ञेन जगत्पदार्थशोधनं, सर्वत्र सुखप्राप्तिसाधनं, धर्मानुष्ठानं, पुष्टिवर्द्धनमीश्वर-गुणव्याख्या, सर्वतो बलवर्द्धनं सुखभोगश्चोक्तोऽत एतदध्यायोक्तार्थस्य पूर्वाऽध्यायेन सह सङ्गति-रस्तीति वेद्यम् ॥ ३८ ॥

इस अध्याय में—इस सृष्टि में शुभ गुणों का ग्रहण (१), अपना और दूसरों का पोषण (१५), यज्ञ से जगत् के पदार्थों का शोधन (१६), सर्वत्र सुख प्राप्ति के साधन (११—१५), धर्मानुष्ठान (१६), पुष्टि का बढ़ाना (२१), ईश्वर के गुणों की व्याख्या (२४), सब ओर बल की वृद्धि (२५), और सुखभोग (२८) का उपदेश किया है; अतः इस अध्याय में प्रतिपादित अर्थ की पूर्व अध्याय के साथ संगति है; ऐसा समझें ॥ ३८ ॥

इति श्रीयुतपण्डितसुदर्शनदेवाचार्यविरचिते दयानन्द-यजुर्वेद-भाष्य-भास्करे अष्टात्रिंशोऽध्यायः सम्पूर्णः ॥

॥ ओ३म् ॥

अथैकोनचत्वारिंशोऽध्याय आरभ्यते

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्न आ सुव ॥ १ ॥

य० ३० । ३ ॥

दीर्घतमाः । **प्राणादयो लिङ्गोक्ताः**=प्राण-पृथिवी-अन्तरिक्ष-वायु-दिव्-सूर्याः ।

पङ्क्ति । पञ्चमः ॥

अथान्त्येष्टिकर्मविषयमाह ॥

अब उनतालीसवें अध्याय का आरम्भ है। इसके प्रथम मन्त्र में अन्त्येष्टि कर्म का विषय कहते हैं ॥

स्वाहा प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्यः। पृथिव्यै स्वाहाग्नये स्वाहान्तरिक्षाय स्वाहा वायवे स्वाहा दिवे स्वाहा सूर्याय स्वाहा ॥ १ ॥

पदार्थः—(स्वाहा) सत्यक्रिया (**प्राणेभ्यः**) जीवनहेतुभ्यः (**साधिपतिकेभ्यः**) अधिपतिना=जीवेन सह वर्त्तमानेभ्यः (**पृथिव्यै**) भूम्यै (**स्वाहा**) सत्या वाक् (**अग्नये**) पावकाय (**स्वाहा**) (**अन्तरिक्षाय**) आकाशे गमनाय (**स्वाहा**) (**वायवे**) वायुप्राप्तये (**स्वाहा**) (**दिवे**) विद्युत्प्राप्तये (**स्वाहा**) (**सूर्याय**) सवितृप्रापणाय (**स्वाहा**) ॥ १ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या युष्माभिः साधिपतिकेभ्यः प्राणेभ्यः स्वाहा पृथिव्यै स्वाहाऽग्नये स्वाहाऽन्तरिक्षाय स्वाहा वायवे स्वाहा दिवे स्वाहा सूर्याय स्वाहा च यथावत् संप्रयोज्या ॥ १ ॥

सपदार्थान्वयः— हे **मनुष्याः** ! **युष्माभिः साधिपतिकेभ्यः** अधिपतिना=जीवेन सह वर्त्तमानेभ्यः **प्राणेभ्यः** जीवनहेतुभ्यः **स्वाहा** सत्या क्रिया, **पृथिव्यै** भूम्यै **स्वाहा** सत्या वाक् **अग्नये** पावकाय **स्वाहा** सत्यावाक्, **अन्तरिक्षाय** आकाशे गमनाय **स्वाहा** सत्या क्रिया, **वायवे** वायुप्राप्तये

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! तुम—(साधिपतिकेभ्यः) अधिपति=जीव के साथ वर्तमान (प्राणेभ्यः) जीवन के हेतु प्राणों के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (पृथिव्यै) भूमि के लिए (स्वाहा) सत्य वाणी, (अग्नये) अग्नि के लिए (स्वाहा) सत्य वाणी, (अन्तरिक्षाय) आकाश में गमन करने के

स्वाहा सत्या क्रिया, **दिवे** विद्युत्प्राप्तये **स्वाहा** सत्या क्रिया, **सूर्याय** सवितृप्रापणाय **स्वाहा** सत्या क्रिया **च यथावत् संप्रयोज्या** ॥ ३९ । १ ॥

लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (वायवे) शुद्ध वायु की प्राप्ति के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (दिवे) विद्युत् की प्राप्ति के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, और (सूर्याय) सूर्य को प्राप्त करने के लिए (स्वाहा) स्वाहा नामक सत्य क्रिया का यथावत् संप्रयोग करो ॥ ३९ । १ ॥

भावार्थः—अस्मिन्नध्यायेऽन्त्येष्टिर्यस्या नृमेधः पुरुषमेधो दाहकर्मेत्यनर्थान्तरं नामोच्यते । यदा कश्चिन्म्रियेत तदा शरीरभारेण तुल्यं घृतं गृहीत्वा तत्र प्रतिप्रस्थमेकरक्तिकामात्रां कस्तूरीं माषकमात्रं केसरं चन्दनादीनि काष्ठानि च यथायोग्यं संभृत्य यावानूर्ध्वबाहुकः पुरुषस्तावदायामप्रमितां सार्द्धत्रि-हस्तमात्रामुपरिष्टाद्विस्तीर्णां तावद्गभीरां वितस्ति-मात्रामवार्ग्वेदीं निर्मायाऽधस्तादर्धमात्रां समिद्भिः प्रपूर्य्य तदुपरि शवं निधाय पुनः पार्श्वयोरुपरिष्टाच्च सम्यक् समिधः सञ्चित्य वक्षःस्थलादिषु कर्पूरं संस्थाप्य कर्पूरेण प्रदीप्तमग्निं चितायां प्रवेश्य यदा प्रदीप्तोऽग्निर्भवेत्तदैतैः स्वाहान्तैरेतदध्यायस्थैर्मन्त्रैः पुनः पुनरनुवृत्त्या घृतं हुत्वा शवं सम्यक् प्रदहेयुरेवं कृते दाहकानां यज्ञफलं प्राप्नुयान्न कदाचिच्छवं भूमौ निदध्युर्नारण्ये त्यजेयुर्न जले निमज्जयेयुर्विना दाहेन सम्बन्धिनो महत्पापं प्राप्नुयुः कुतः प्रेतस्य विकृतस्य शरीरस्य सकाशादधिकदुर्गन्धोन्नतेः प्राण्यप्राणिष्व-संख्यरोगप्रादुर्भावात्तस्मात्पूर्वोक्तविधिना शवस्य दाहएव कृते भद्रं नान्यथा ॥ ३९ । १ ॥

भावार्थ—इस अध्याय में अन्त्येष्टि कर्म का उपदेश है। जिसको नरमेध, पुरुषमेध, और दाहकर्म भी कहते हैं। जब कोई मर जाये तब शरीर-भार के तुल्य घृत लेकर, उसमें प्रति सेर में एक रत्ती कस्तूरी, एक मासा केसर और चन्दनादि काष्ठों को यथायोग्य लेकर, ऊर्ध्वबाहु पुरुष प्रमाण लम्बी, साढ़े तीन हाथ प्रमाण ऊपर से चौड़ी और उतनी ही गहरी, एक बालिश्त नीचे तले में वेदी बनाकर, नीचे से आधी वेदी को समिधाओं से भरकर, उसके ऊपर शव को रखकर, फिर दोनों पार्श्व भागों में और ऊपर अच्छे प्रकार समिधाओं को चुनकर, वक्षःस्थल (छाती) आदि में कपूर रखकर, कपूर से प्रदीप्त की हुई अग्नि को चिता में प्रविष्ट करके, जब अग्नि प्रविष्ट हो जाये तब इन स्वाहान्त इस अध्याय के मन्त्रों से बार-बार घृत होम कर, शव को अच्छे प्रकार दग्ध करें। ऐसा करने से दाह करने वालों को यज्ञ के फल की प्राप्ति होती है। शव को कभी भूमि में न गाड़ें, न जंगल में छोड़ें, न जल में डुबोवें। शव के दाह किये विना उसके सम्बन्धी महापाप को प्राप्त होते हैं; प्रेत के विकृत शरीर से अधिक दुर्गन्ध के बढ़ने से तथा प्राणी और अप्राणियों में असंख्य रोगों के प्रादुर्भाव होने से। अतः पूर्वोक्त विधि से शव के दाह करने में ही कल्याण है; अन्यथा नहीं ॥ ३९ । १ ॥

भाष्यसार—**अन्त्येष्टि कर्म**—सब मनुष्य अन्त्येष्टि कर्म में इस अध्याय के मन्त्रों का प्रयोग करें। जीव के साथ वर्तमान प्राण, भूमि, अग्नि, आकाश, वायु, विद्युत् और सूर्य के शोधन के लिए अन्त्येष्टि कर्म में 'स्वाहा' नामक सत्य क्रिया का यथावत् संप्रयोग करें ॥ ३९ । १ ॥

दीर्घतमाः । **दिगाद्यो लिङ्गोक्ताः**=दिक्-चन्द्र-नक्षत्र-अप्-वरुण-नाभि-पूताः ।

भुरिगनुष्टुप् । गान्धारः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

अन्त्येष्टिकर्म का फिर उपदेश किया है ॥

दिग्भ्यः स्वाहा॑ चन्द्राय॒ स्वाहा॒ नक्ष॑त्रेभ्यः॒ स्वाहा॒द्भ्यः स्वाहा॒ वरु॑णाय॒ स्वाहा॑ ।
नाभ्यै॒ स्वाहा॑ पू॒ताय॒ स्वाहा॑ ॥ २ ॥

पदार्थः—(**दिग्भ्यः**) दिक्षु हुतद्रव्यस्य गमनाय (**स्वाहा**) (**चन्द्राय**) चन्द्रलोकस्य प्राप्तये (**स्वाहा**) (**नक्षत्रेभ्यः**) नक्षत्रप्रकाशप्राप्तये (**स्वाहा**) (**अद्भ्यः**) अप्सु गमनाय (**स्वाहा**) (**वरुणाय**) समुद्रादिषु गमनाय (**स्वाहा**) (**नाभ्यै**) नाभेर्दहनाय (**स्वाहा**) (**पूताय**) पवित्रकरणाय (**स्वाहा**) ॥ २ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः यूयं शरीरस्य दाहे दिग्भ्यः स्वाहा चन्द्राय स्वाहा नक्षत्रेभ्यः स्वाहा-ऽद्भ्यः स्वाहा वरुणाय स्वाहा नाभ्यै स्वाहा पूताय स्वाहा सत्यां क्रियां सम्प्रयुङ्ध्वम् ॥ २ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **मनुष्याः** ! **यूयं शरीरस्य दाहे दिग्भ्यः** दिक्षु हुतद्रव्यस्य गमनाय **स्वाहा, चन्द्राय** चन्द्रलोकस्य प्राप्तये **स्वाहा, नक्षत्रेभ्यः** नक्षत्रप्रकाशप्राप्तये **स्वाहा, अद्भ्यः** अप्सु गमनाय **स्वाहा, वरुणाय** समुद्रादिषु गमनाय **स्वाहा, नाभ्यै** नाभेर्दहनाय **स्वाहा, पूताय** पवित्र-करणाय **स्वाहा**=**सत्यां क्रियां सम्प्रयुङ्ध्वम्** ॥ ३९ । २ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! तुम—शरीर के जलाने में (दिग्भ्यः) दिशा में होम किए हुए द्रव्य के गमन के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (चन्द्राय) चन्द्रलोक की प्राप्ति के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (नक्षत्रेभ्यः) नक्षत्रों के प्रकाश की प्राप्ति के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (अद्भ्यः) जलों में गमन करने के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (वरुणाय) समुद्रादि में गमन करने के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (नाभ्यै) नाभि को जलाने के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (पूताय) पवित्र करने के लिए (स्वाहा) स्वाहा नामक सत्य क्रिया का संप्रयोग करो ॥ ३९ । २ ॥

भावार्थः—मनुष्याः पूर्वोक्तविधिना शरीरं दग्ध्वा सर्वासु दिक्षु शरीरावयवानग्निद्वारा गमयेयुः ॥ ३९ । २ ॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्वोक्त विधि से शरीर को जलाकर, सब दिशाओं में शरीर के अवयवों को अग्नि के द्वारा पहुँचावें ॥ ३९ । २ ॥

भाष्यसार—अन्त्येष्टि कर्म—सब मनुष्य पूर्वोक्त विधि से शरीर का दाह-कर्म करें तथा सब दिशाएँ, चन्द्र, नक्षत्र, जल और समुद्र में शरीर के अवयवों को अग्नि के द्वारा (स्वाहा, नामक सत्य क्रिया से) पहुँचावें । शरीर की नाभि के दहन के लिए तथा समस्त वातावरण को पवित्र करने के लिए 'स्वाहा' नामक सत्य किया का संप्रयोग करें ॥ ३९ । २ ॥ ●

दीर्घतमाः । **वागादयो लिङ्गोक्ताः**=वाक्-प्राण-चक्षुः-श्रोत्राणि ।
स्वराडनुष्टुप् । गान्धारः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

अन्त्येष्टि कर्म का फिर उपदेश किया है ॥

वा॒चे स्वाहा॑ प्रा॒णाय॒ स्वाहा॑ प्रा॒णाय॒ स्वाहा॑ । चक्षु॑षे॒ स्वाहा॒ चक्षु॑षे॒ स्वाहा॒ ।
श्रोत्रा॑य॒ स्वाहा॒ श्रोत्रा॑य॒ स्वाहा॑ ॥ ३ ॥

पदार्थः—(**वाचे**) वागिन्द्रियहोमाय (**स्वाहा**) (**प्राणाय**) शरीरस्याऽवयवान् जगत्प्राणे गमनाय (**स्वाहा**) (**प्राणाय**) धनञ्जयगमनाय (**स्वाहा**) (**चक्षुषे**) एकस्य चक्षुर्गोलकस्य दहनाय (**स्वाहा**) (**चक्षुषे**) इतरस्य नेत्रगोलकस्य दहनाय (**स्वाहा**) (**श्रोत्राय**) एकस्य श्रोत्रगोलकस्य विभागाय (**स्वाहा**) (**श्रोत्राय**) द्वितीयस्य श्रोत्रगोलकस्य विभागाय (**स्वाहा**) ॥ ३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यूयं मृतशरीरस्य वाचे स्वाहा प्राणाय स्वाहा प्राणाय स्वाहा चक्षुषे स्वाहा चक्षुषे स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा श्रोत्राय स्वाहोक्ता घृताहुतीश्चितायां प्रक्षिपत ॥ ३ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे मनुष्याः! यूयं मृतशरीरस्य वाचे** वागिन्द्रियहोमाय **स्वाहा, प्राणाय** शरीरस्याऽवयवान् जगत्प्राणे गमनाय **स्वाहा प्राणाय** धनञ्जयगमनाय **स्वाहा, चक्षुषे** एकस्य चक्षुर्गोलकस्य दहनाय **स्वाहा, चक्षुषे** इतरस्य नेत्रगोलकस्य दहनाय **स्वाहा, श्रोत्राय** एकस्य श्रोत्रगोलकस्य विभागाय **स्वाहा, श्रोत्राय** द्वितीयस्य श्रोत्रगोलकस्य विभागाय **स्वाहोक्ता घृताहुतीश्चितायां प्रक्षिपत** ॥ ३९ । ३ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो! तुम—मृत शरीर की (वाचे) वाणी इन्द्रिय के होम के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (प्राणाय) शरीर के अवयवों को जगत् के वायु में पहुँचाने के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (प्राणाय) धनंजय नामक प्राण के गमन के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (चक्षुषे) एक चक्षु-गोलक को जलाने के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (चक्षुषे) दूसरे नेत्रगोलक को जलाने के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (श्रोत्राय) एक श्रोत्रगोलक के विभाग के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (श्रोत्राय) दूसरे श्रोत्र गोलक के विभाग के लिए (स्वाहा) स्वाहा नामक सत्य क्रिया अर्थात् उक्त घृताहुतियों को चिता में छोड़ो ॥ ३९ । ३ ॥

भावार्थः—ये सुगन्धियुक्तेन घृतादि-सम्भारेण मृतं शरीरं दाहयेयुस्ते पुण्यभाजो जायन्ते ॥ ३९ । ३ ॥

भावार्थ—जो सुगन्धि-युक्त घृतादि संभार से मृत शरीर को जलाते हैं वे पुण्य भागी बनते हैं ॥ ३९ । ३ ॥

भाष्यसार—**अन्त्येष्टि कर्म**—सब मनुष्य मृतक शरीर की वागिन्द्रिय, प्राण, धनंजय नामक प्राण, दोनों चक्षुओं के गोलक, दोनों श्रोत्रों के गोलकों को दग्ध करने के लिए स्वाहा-युक्त घृताहुतियों को चिता में छोड़ें; अर्थात् सुगन्धियुक्त घृतादि संभार से मृतक शरीर का दाहकर्म करके पुण्य के भागी बनें ॥ ३९ । ३ ॥

दीर्घतमाः । **श्रीः**=**प्रजाधनधान्यादीनि** । निचृद्बृहती । मध्यमः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

अन्त्येष्टि कर्म का फिर उपदेश किया है ॥

मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीय ।

पशूनाꣳ रूपमन्नस्य रसो यशः श्रीः श्रयतां मयि स्वाहा ॥ ४ ॥

पदार्थः—(**मनसः**) अन्तःकरणस्य (**कामम्**) इच्छापूर्तिम् (**आकूतिम्**) उत्साहम् (**वाचः**) वाण्याः (**सत्यम्**) सत्सु साधु वचः (**अशीय**) प्राप्नुयाम् (**पशुनाम्**) गवादीनाम् (**रूपम्**) सुन्दरं स्वरूपम्

(**अन्नस्य**) अत्तुमर्हस्यौदनादेः (**रसः**) मधुरादिः (**यशः**) कीर्तिः (**श्रीः**) शोभनैश्वर्यं च (**श्रयताम्**) सेवताम् (**मयि**) जीवात्मनि (**स्वाहा**) सत्यया क्रियया ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथाहं स्वाहैवं पूर्वपरोक्तप्रकारेण मृतानि शरीराणि दग्ध्वा मनसो वाचश्च सत्यं काममाकूतिं पशूनां रूपमशीय यथा मय्यन्नस्य रसो यशः श्रीः श्रयतां तथैव कृत्वा यूयमेनं प्राप्नुत एता युष्मासु श्रयन्ताम् ॥ ४ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! **यथाहं स्वाहा** सत्यया क्रियया **एवं पूर्वपरोक्तप्रकारेण मृतानि शरीराणि दग्ध्वा मनसः** अन्तःकरणस्य, **वाचः** वाण्याः **च सत्यं** सत्सु साधु वचः, **कामम्** इच्छापूर्तिम्, **आकूतिम्** उत्साहं, **पशूनां** गवादीनां **रूपं** सुन्दरं स्वरूपम् **अशीय** प्राप्नुयाम्; **यथा मयि** जीवात्मनि **अन्नस्य** अत्तुमर्हस्यौदनादेः **रसः** मधुरादिः, **यशः** कीर्तिः, **श्रीः** शोभनैश्वर्यं च **श्रयतां** सेवताम्; **तथैव कृत्वा यूयमेनं प्राप्नुत, एता युष्मासु श्रयन्ताम्** ॥ ३९ । ४ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे मैं—(स्वाहा) सत्य क्रिया से एवं पूर्व तथा पश्चात् उक्त प्रकार से मृत शरीरों को जलाकर (मनसः) अन्तःकरण और (वाचः) वाणी के (सत्यम्) सत्य वचन को, (कामम्) इच्छा-पूर्ति को, (आकूतिम्) उत्साह को (पशूनाम्) पशुओं के (रूपम्) सुन्दर स्वरूप को (अशीय) प्राप्त करता हूँ; और—जैसे (मयि) मुझ जीवात्मा में (अन्नस्य) भक्षण करने योग्य ओदन=भात आदि के (रसः) मधुरादि रस (यशः) कीर्ति और (श्रीः) उत्तम ऐश्वर्य (श्रयताम्) प्राप्त हों; वैसे ही करके तुम इसे प्राप्त करो, तथा ये वाणी आदि तुम में प्राप्त हों ॥ ३९ । ४ ॥

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः । ये मनुष्याः सुविज्ञानोत्साहसत्यवचनैर्मृतानि शरीराणि विधिना दाहयन्ति, ते पशून्, प्रजाधन-धान्यादीनि पुरुषार्थेन लभन्ते ॥ ३९ । ४ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । जो मनुष्य उत्तम विज्ञान, उत्साह तथा सत्य-वचन से मृत शरीरों को विधिपूर्वक जलाते हैं; वे पशुओं तथा प्रजा के लिए धन धान्य आदि को पुरुषार्थ से प्राप्त करते हैं ।। ३९ । ४ ।।

भा० पदार्थः—मनसः=सुविज्ञानेन । सत्यम्=सत्यवचनम् । श्रीः=प्रजाधनधान्यादीनि ॥

भाष्यसार—१. अन्त्येष्टि कर्म—विद्वान् मनुष्य 'स्वाहा' नामक सत्य क्रिया से एवं पूर्वोक्त तथा परोक्त प्रकार से मृत शरीरों का दाह-कर्म करके मन और वाणी की सत्य कामना, उत्साह और गौ आदि पशुओं के सुन्दर रूप को प्राप्त करता है । और उसके आत्मा में ओदन (भात) आदि का मधुर रस, कीर्ति और उत्तम ऐश्वर्य प्राप्त होता है । अर्थात् वह पशु, प्रजा और धन-धान्य आदि को पुरुषार्थ से प्राप्त होता है ।

२. **अलङ्कार**—इस मन्त्र में उपमा-वाचक 'इव' आदि पद लुप्त है; अतः वाचक लुप्तोपमा अलंकार है । उपमा यह है कि सब मनुष्य विद्वान् के तुल्य मन्त्रोक्त अन्त्येष्टि कर्म का अनुष्ठान करें ॥ ३९ । ४ ॥

दीर्घतमाः । **प्रजापतिः=जीवः** । कृतिः । निषादः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

अन्त्येष्टि कर्म का फिर उपदेश किया है ॥

प्रजापतिः सम्भ्रियमाणः सम्राट् सम्भृतो वैश्वदेवः सꣳसन्नो घर्मः
प्रवृक्तस्तेज ऽ उद्यत ऽ आश्विनः पयस्यानीयमाने पौष्णो विष्पन्दमाने मारुतः क्लथन् ।
मैत्रः शरसि सन्ताय्यमाने वायव्यो ह्रियमाण ऽ आग्नेयो हूयमानो वाग्घुतः ॥ ५ ॥

पदार्थः—(**प्रजापतिः**) प्रजायाः पालको जीवः (**सम्भ्रियमाणः**) सम्यक् पोष्यमाणो भ्रियमाणो वा (**सम्राट्**) यः सम्यग्राजते सः (**संभृतः**) सम्यक् पोषितो धृतो वा (**वैश्वदेवः**) विश्वेषां देवानां=दिव्यानां जीवानां पदार्थानां वा यः सम्बन्धी (**संसन्नः**) सम्यक् गच्छन्=प्राप्नुवन् (**घर्मः**) (**प्रवृक्तः**) शरीरात्पृथक्भूतः (**तेजः**) (**उद्यतः**) ऊर्ध्वं गच्छन् (**आश्विनः**) आश्विनोः=प्राणापानगत्योरयं सम्बन्धी (**पयसि**) उदके (**आनीयमाने**) समन्तात्प्राप्ते (**पौष्णः**) पूष्णः=पृथिव्या अयं सम्बन्धी (**विस्पन्दमाने**) विशेषेण गम्यमाने (**मारुतः**) मनुष्यदेहानामयम् (**क्लथन्**) हिंसां कुर्वन् (**मैत्रः**) मित्रस्यायं सम्बन्धी (**शरसि**) तडागे (**सन्ताय्यमाने**) विस्तार्यमाणे पाल्यमाने वा (**वायव्यः**) वायौ भवः (**ह्रियमाणः**) यो ह्रियते सः (**आग्नेयः**) अग्निदेवताकः (**हूयमानः**) शब्द्यमानः (**वाक्**) यो वदति सः (**हुतः**) शब्दितः ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या येनेश्वरेण सम्भ्रियमाणः सम्राड् वैश्वदेवः संसन्नो घर्मस्तेजः प्रवृक्त उद्यत आश्विन आनीयमाने पयसि पौष्णो विस्पन्दमाने मारुतः क्लथन्मैत्रः सन्ताय्यमाने शरसि वायव्यो ह्रियमाण आग्नेयो हूयमानो वाग्घुतः प्रजापतिः सम्भृतोऽस्ति तमेव परमात्मानं यूयमुपाध्वम् ॥ ५ ॥

सपदार्थान्वयः— **हे मनुष्याः ! येनेश्वरेण सम्भ्रियमाणः** सम्यक् पोष्यमाणो भ्रियमाणो वा, **सम्राड्** यः सम्यग्राजते सः, **वैश्वदेवः** विश्वेषां देवानां=दिव्यानां जीवानां पदार्थानां वा यः सम्बन्धी, **संसन्नः** सम्यक् गच्छन्=प्राप्नुवन्, **घर्मस्तेजः**, **प्रवृक्तः** शरीरात्पृथक्भूतः, **उद्यतः** ऊर्ध्वं गच्छन् **आश्विनः** अश्विनोः=प्राणापानगत्योरयं सम्बन्धी, **आनीयमाने** समन्तात्प्राप्ते **पयसि** उदके **पौष्णः** पूष्णः=पृथिव्या अयं सम्बन्धी, **विस्पन्दमाने** विशेषेण गम्यमाने **मारुतः** मनुष्यदेहानामयं **क्लथन्** हिंसां कुर्वन्, **मैत्रः** मित्रस्यायं सम्बन्धी, **सन्ताय्यमाने** विस्तार्यमाणे पाल्यमाने वा **शरसि** तडागे **वायव्यः** वायौ भवः, **ह्रियमाणः** यो ह्रियते सः **आग्नेयः** अग्निदेवताकः **हूयमानः** शब्द्यमानः, **वाग्** यो वदति स, **हुतः** शब्दितः **प्रजापतिः** प्रजायाः पालको जीवः **सम्भृतः** सम्यक् पोषितो धृतो वा **अस्ति**; **तमेव परमात्मानं यूयमुपाध्वम्** ॥ ३९ । ५ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जिस ईश्वर के द्वारा—(सम्भ्रियमाणः) सम्यक् पोषण वा धारण करने योग्य, (सम्राट्) सम्यक् प्रकाशमान, (वैश्वदेवः) सब देव अर्थात् दिव्य जीवों वा पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाला, (संसन्नः) सम्यक् प्राप्त होने वाला, (घर्मः) पवित्र (तेजः) तेजःस्वरूप, (प्रवृक्तः) शरीर से पृथक्, (उद्यतः) ऊपर को गति करने वाला, (आश्विनः) प्राण और अपान से सम्बन्ध रखने वाला, (आनीयमाने) सब ओर से प्राप्त (पयसि) जल में (पौष्णः) पूषा=पृथिवी से सम्बन्ध रखने वाला, (विस्पन्दमाने) विशेष गति में (मारुतः) मनुष्य देह से सम्बन्ध रखने वाला तथा (क्लथन्) हिंसा करने वाला, (मैत्रः) मित्र से सम्बन्ध रखने वाला, (सन्ताय्यमाने) विस्तार वा पालन किये हुए (शरसि) तालाब में (वायव्यः) वायु में विद्यमान, (ह्रियमाणः) लज्जाशील, (आग्नेयः) अग्नि के गुणों से युक्त, (हूयमानः) उपदेश करने योग्य, (वाक्) बोलने वाला, (हुतः) उपदेश किया हुआ (प्रजापतिः) प्रजा का पालक जीव (सम्भृतः) सम्यक् पोषण वा धारण किया

हुआ है; उसी परमात्मा की तुम उपासना करो ॥ ३९ । ५ ॥

भावार्थः— यदाऽयं देहं त्यक्त्वा सर्वेषु पृथिव्यादिपदार्थेषु भ्रमन् यत्र कुत्र प्रविशन्, यतस्ततो गच्छन्, कर्मानुसारेणेश्वरव्यवस्थया जन्म प्राप्नोति, तदैव सुप्रसिद्धो भवति ॥ ३९ । ५ ॥

भावार्थ—जब यह जीव देह को छोड़कर सब पृथिवी आदि पदार्थों में भ्रमण करता हुआ, जहां कहीं प्रविष्ट होकर, जहां-तहां गति करता हुआ कर्मानुसार ईश्वर की व्यवस्था से जन्म प्राप्त करता है तभी जीव सुप्रसिद्ध होता है ॥ ३९ । ५ ॥

भाष्यसार—**अन्त्येष्टि कर्म**—जो जीव पोषण और धारण करने योग्य है। जो सम्राट् अर्थात् सम्यक् प्रकाशमान है। सब जीवों तथा पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाला है। अच्छे प्रकार प्राप्त होने वाला है। पवित्र, तेजःस्वरूप है। शरीर से पृथक् है। ऊपर को गति करने वाला है। प्राण और अपान की गति से सम्बन्ध रखने वाला है। सब ओर से प्राप्त जल में पृथिवी से सम्बन्ध रखने वाला है। विशेष गति में मनुष्य देह से सम्बन्ध रखने वाला, हिंसा करने वाला तथा मित्रों से सम्बन्ध करने वाला है। विस्तीर्ण तालाब में वायु में रहने वाला है। लज्जाशील है। अग्नि के गुणों से युक्त है। उपदेश करने के योग्य है। बोलने वाला है। उपदेश किया हुआ है। प्रजा का पालक है। इस जीव का पोषण और धारण ईश्वर करता है। अतः परमात्मा की सब मनुष्य उपासना करें।

तात्पर्य यह है कि जब जीव शरीर को छोड़कर पृथिवी आदि पदार्थों में भ्रमण करता है। जहां-तहां प्रविष्ट होता है। जहां-तहां गति करता है। कर्मानुसार ईश्वर की व्यवस्था से जन्म पाता है। तभी सुप्रसिद्ध=प्रकट होता है ॥ ३९ । ५ ॥ ●

दीर्घतमाः । **सवित्रादयः**=सूर्यप्रकाशादयः । विराड्धृतिः । धैवतः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

अन्त्येष्टि कर्म का फिर उपदेश किया है ॥

सविता प्रथमेऽहन्नग्निर्द्वितीये वायुस्तृतीय ऽ आदित्यश्चतुर्थे चन्द्रमाः
पञ्चम ऽ ऋतुः षष्ठे मरुतः सप्तमे बृहस्पतिरष्टमे ।
मित्रो नवमे वरुणो दशम ऽ इन्द्र ऽ एकादशे विश्वे देवा द्वादशे ॥ ६ ॥

पदार्थः—(**सविता**) सूर्यः (**प्रथमे**) आदिमे (**अहन्**) दिने (**अग्निः**) वह्निः (**द्वितीये**) द्वयोः पूर्णे (**वायुः**) (**तृतीये**) (**आदित्यः**) (**चतुर्थे**) (**चन्द्रमाः**) (**पञ्चमे**) (**ऋतुः**) (**षष्ठे**) (**मरुतः**) मनुष्यादयः (**सप्तमे**) (**बृहस्पतिः**) बृहतां पालकः सूत्रात्मा (**अष्टमे**) (**मित्रः**) प्राणः (**नवमे**) (**वरुणः**) उदानः (**दशमे**) (**इन्द्रः**) विद्युत् (**एकादशे**) (**विश्वे**) सर्वे (**देवाः**) दिव्यगुणाः (**द्वादशे**) ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या अनेन जीवेन प्रथमेऽहन् सविता द्वितीयेऽग्निस्तृतीये वायुश्चतुर्थ आदित्यः पञ्चमे चन्द्रमाः षष्ठ ऋतुः सप्तमे मरुतोऽष्टमे बृहस्पतिर्नवमे मित्रो दशमे वरुण एकादश इन्द्रो द्वादशेऽहनि विश्वे देवाश्च प्राप्यन्ते ॥ ६ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **मनुष्याः** ! **अनेन जीवेन प्रथमे**, आदिमे **अहन्** दिने **सविता** सूर्यः,

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! यह जीव—(प्रथमे) पहले (अहन्) दिन (सविता) सूर्य,

द्वितीये द्वयोः पूर्णे **अग्निः** वह्निः, **तृतीये वायुश्चतुर्थ आदित्यः, पञ्चमे चन्द्रमाः, षष्ठ ऋतुः, सप्तमे मरुतः** मनुष्यादयः, **अष्टमे बृहस्पतिः** बृहतां पालकः सूत्रात्मा, **नवमे मित्रः** प्राणः, **दशमे वरुणः** उदानः, **एकादशे इन्द्रः** विद्युत्, **द्वादशेऽहनि विश्वे सर्वे देवाः** दिव्यगुणाः **च प्राप्यन्ते** ॥ ३९ । ६ ॥

(द्वितीये) दूसरे दिन (अग्निः) अग्नि, (तृतीये) तीसरे दिन (वायुः) वायु, (चतुर्थे) चौथे दिन (आदित्यः) आदित्य (पञ्चमे) पांचवें दिन (चन्द्रमाः) चन्द्रमा, (षष्ठे) छठे दिन (ऋतुः) ऋतुः, (सप्तमे) सातवें दिन (मरुतः) मनुष्यादि, (अष्टमे) आठवें दिन (बृहस्पतिः) बड़ों का पालक सूक्ष्म वायु, (नवमे) नवमे दिन (मित्रः) प्राण, (दशमे) दशमे दिन (वरुणः) उदान, (एकादशे) ग्यारहवें दिन (इन्द्रः) विद्युत् और (द्वादशे) बारहवें दिन (विश्वे) सब (देवाः) दिव्य गुणों को प्राप्त करता है ॥ ३९ । ६ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यदेमे जीवाः शरीरं त्यजन्ति तदा सूर्यप्रकाशादीन् पदार्थान् प्राप्य किञ्चित्कालं भ्रमणं कृत्वा, स्वकर्मानुयोगेन गर्भाशयं गत्वा, शरीरं धृत्वा जायन्ते; तदैव पुण्यपापकर्मणा सुखदुःखादिफलानि भुञ्जते ॥३९।६॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जब ये जीव शरीर को छोड़ते हैं, तब सूर्य-प्रकाश आदि पदार्थों को प्राप्त करके, कुछ काल भ्रमण करके अपने कर्मों के अनुसार गर्भाशय को प्राप्त करके, शरीर को धारण करके उत्पन्न होते हैं; तभी पुण्य-पाप कर्म के द्वारा सुख-दुःख रूप फलों को भोगते हैं ॥ ३९ । ६ ॥

भा० पदार्थः—सविता=सूर्यप्रकाशः ॥

भाष्यसार—**अन्त्येष्टि कर्म**—जब ये जीव शरीर को छोड़ते हैं तब पहले दिन सूर्य, दूसरे दिन अग्नि, तीसरे दिन वायु, चौथे दिन आदित्य, पाँचवें दिन चन्द्रमा, छठे दिन ऋतु, सातवें दिन मनुष्यादि प्राणी, आठवें दिन सूक्ष्म वायु, नवमे दिन प्राण, दशमे दिन उदान, ग्यारहवें दिन विद्युत् और बारहवें दिन सब दिव्य गुणों को प्राप्त करते हैं। कुछ काल भ्रमण करके अपने कर्मानुसार गर्भाशय में पहुँचकर शरीर को धारण करके उत्पन्न होते हैं। तभी पाप-पुण्य कर्म से सुख-दुःख रूप फलों को भोगते हैं ॥ ३९ । ६ ॥ ●

दीर्घतमाः । **मरुतः**=जीवाः । भुरिग्गायत्री । षड्जः ॥

पुनः के जीवाः किं गुणाः सन्तीत्याह ॥

कौन जीव किस गुण वाले हैं, यह उपदेश किया है ॥

उ॒ग्रश्च॑ भी॒मश्च॒ ध्वा॒न्तश्च॒ धुनि॑श्च । सा॒स॒ह्वाँश्चा॑भियु॒ग्वा च॑ वि॒क्षिपः॒ स्वाहा॑ ॥ ७ ॥

पदार्थः—(**उग्रः**) तीव्रस्वभावः (**च**) शान्तः (**भीमः**) बिभेति यस्मात्स भयंकरः (**च**) निर्भयः (**ध्वान्तः**) ध्वान्तमन्धकारं प्राप्तः (**च**) प्रकाशं गतः (**धुनिः**) कम्पमानः (**च**) निष्कम्पः (**सासह्वान्**) भृशं सहमानः (**च**) असहमानो वा (**अभियुग्वा**) योऽभितो युङ्क्ते स (**च**) वियुक्तः (**विक्षिपः**) यो विक्षिपति=विक्षेपं प्राप्नोति सः (**स्वाहा**) स्वकीयया क्रियया ॥ ७ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या मरणं प्राप्तो जीवः स्वाहोग्रश्च भीमश्च ध्वान्तश्च धुनिश्च सासह्वांश्चाभियुग्वा च विक्षिपो जायते ॥ ७ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! **मरणं प्राप्तो जीवः स्वाहा** स्वकीयया क्रियया **उग्रः** तीव्र-स्वभावः, **च** शान्तः, **भीमः** बिभेति यस्मात्स भयङ्करः, **च** निर्भयः, **ध्वान्तः** ध्वान्तमन्धकारं प्राप्तः, **च** प्रकाशं गतः, **धुनिः** कम्पमानः, **च** निष्कम्पः, **सासह्वान्** भृशं सहमानः, **च** असहमानो वा, **अभियुग्वा** योऽभितो युङ्क्ते सः, **च** वियुक्तः **विक्षिपः** यो विक्षिपति=विक्षेपं प्राप्नोति सः **जायते** ॥३९।७॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! मृत्यु को प्राप्त हुआ जीव—(स्वाहा) अपनी क्रिया=कर्म से (उग्रः) तीव्र (च) और शान्त स्वभाव वाला, (भीमः) भयंकर (च) और निर्भय, (ध्वान्तः) अन्धकार (च) और प्रकाश को प्राप्त, (धुनिः) कम्पमान (च) और कम्पन रहित, (सासह्वान्) अत्यन्त सहनशील (च) और सहन न करने वाला, (अभियुग्वा) संयुक्त (च) और वियुक्त होने वाला (विक्षिपः) विक्षेप को प्राप्त होने वाला उत्पन्न होता है ॥ ३९ । ७ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या ! ये जीवाः पापचरणास्त उग्रा, ये धर्माचरणास्ते शान्ता, ये भयप्रदास्ते भीमा, ये भयं प्राप्तास्ते भीता, येऽभयप्रदास्ते निर्भया, येऽविद्यायुक्तास्तेऽन्धकारावृता, ये विद्वांसो योगिनस्ते प्रकाशयुक्ता, येऽजितेन्द्रियास्ते चञ्चलाः, ये जितेन्द्रियास्तेऽचञ्चलाः, स्वस्वकर्मफलानि सहमानाः, संयुक्ता, विक्षेपं प्राप्ताः सन्तोऽत्र जगति नित्यं भ्रमन्तीति विजानीत ॥ ३९ । ७ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जो जीव पापाचरण वाले हैं वे उग्र जो धर्माचरण वाले हैं वे शान्त, जो भय प्रदान करने वाले हैं वे भयंकर, जो भय को प्राप्त हैं वे भीत, जो अभय प्रदान करने वाले हैं वे निर्भय, जो अविद्या से युक्त हैं वे अन्धकार से आवृत, जो विद्वान् योगी हैं वे प्रकाश से युक्त, जो अजितेन्द्रिय हैं वे चंचल, जो जितेन्द्रिय हैं वे अचंचल=शान्त, अपने-अपने कर्म-फलों को सहन करने वाले, संयुक्त तथा विक्षेप को प्राप्त हुए इस जगत् में नित्य भ्रमण करते हैं; ऐसा जानो ॥ ३९ । ७ ॥

भा० पदार्थः— उग्रः=पापाचरणः । च=धर्माचरणः शान्तः । भीमः=भयप्रदः, भयं प्राप्तः स भीतः । च=अभयप्रदो निर्भयः । ध्वान्तः=योऽविद्यायुक्तः सोऽन्धकारावृतः । च=यो विद्वान् योगी स प्रकाशयुक्तः । धुनिः=योऽजितेन्द्रियः स चञ्चलः । च=यो जितेन्द्रियः सोऽचञ्चलः । सासह्वान्=स्वस्वकर्मफलानि सहमानः । अभियुग्वा=संयुक्तः । च=वियुक्तः । विक्षिप्तः=विक्षेपं प्राप्तः ।

भाष्यसार—**कौन जीव किस गुण वाले हैं**—मृत्यु के उपरान्त अपनी पापाचरण रूप क्रिया से जीव तीक्ष्णस्वभाव वाला धर्माचरण से शान्त स्वभाव वाला, उत्पन्न होता है । अपने कर्मों के अनुसार ही भीम अर्थात् भयंकर, भीत और निर्भय उत्पन्न होता है । जो अविद्या से युक्त है वह अन्धकार से आवृत और जो विद्वान् योगी है वह प्रकाश से युक्त उत्पन्न होता है और जो अजितेन्द्रिय है वह कम्पमान चंचल तथा जो जितेन्द्रिय है वह निष्कम्प=अचंचल उत्पन्न होता है । कर्मानुसार ही अत्यन्त सहनशील तथा असहिष्णु, अभियोगी (सब से सम्पर्क करने वाला), वियोगी (सम्पर्क न करने वाला) तथा विक्षिप्त उत्पन्न होता है ॥ ३९ । ७ ॥ ●

दीर्घतमाः । **अग्न्यादयो लिङ्गोक्ताः**=अग्न्यादयः । निचृदत्यष्टिः । गान्धारः ॥

के जना उभयजन्मनोः सुखमाप्नुवन्तीत्याह ॥

कौन मनुष्य दोनों जन्म में सुख पाते हैं, यह उपदेश किया जाता है ॥

अ॒ग्निꣳ हृद॑येनाश॒निꣳ हृ॑दया॒ग्रेण॑ पशु॒पतिं॑ कृ॒त्स्नहृ॑दयेन भ॒वं य॒क्ना।
श॒र्वं म॑त॒स्नाभ्या॒मीशा॑नं म॒न्युना॑ महादे॒वम॒न्तः प॑र्श॒व्येनो॒ग्रं दे॒वं व॑नि॒ष्ठुना॑
वसि॒ष्ठहनुः शि॒ङ्गीनि॑ को॒श्याभ्या॑म् ॥ ८ ॥

पदार्थः—(**अग्निम्**) पावकम् (**हृदयेन**) हृदयावयवेन (**अशनिम्**) विद्युतम् (**हृदयाग्रेण**) हृदयस्य पुरोभागेन (**पशुपतिम्**) पशूनां पालकं जगद्धर्त्तारं रुद्रं सर्वप्राणम् (**कृत्स्नहृदयेन**) सम्पूर्णहृदयावयवेन (**भवम्**) यस्सर्वत्र भवति तम् (**यक्ना**) यकृता शरीराऽवयवेन (**शर्वम्**) विज्ञातारम् (**मतस्नाभ्याम्**) हृदयपार्श्वाऽवयवाभ्याम् (**ईशानम्**) सर्वस्य जगतः स्वामिनम् (**मन्युना**) दुष्टाचारिणः पापं च प्रति वर्त्तमानेन क्रोधेन (**महादेवम्**) महांश्चासौ देवश्च तं परमात्मानं (**अन्तःपर्शव्येन**) अन्तःपार्श्वावयवभावेन (**उग्रम्**) तीक्ष्णस्वभावम् (**देवम्**) देदीप्यमानम् (**वनिष्ठुना**) आन्त्रविशेषेण (**वसिष्ठहनुः**) वसिष्ठस्यातिशयेन वासहेतोर्हनुरिव हनुर्यस्य तम्। **अत्र सुपां सुलुगित्यमः स्थाने सुः** (**शिङ्गीनि**) ज्ञातुं, प्राप्तुं योग्यानि। **अत्र स्रगिधातोः पृषोदरादिनाभीष्टरूपसिद्धिः** (**कोश्याभ्याम्**) कोश=उदरे भवाभ्यां मांसपिण्डाभ्याम् ॥ ८ ॥

प्रमाणार्थ—(**वसिष्ठहनुः**) यहाँ 'सुपां सुलुक्०' (अ० ७।१।३९) से 'अम्' विभक्ति के स्थान में 'सु' विभक्ति है। (शिङ्गीनि) ज्ञातुं, प्राप्तुं योग्यानि। यहाँ 'स्रगि' धातु से (पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्, अ० ६।३।१०९) इस सूत्र से अभीष्ट रूप की सिद्धि है ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ये ते मृता जीवा हृदयेनाग्निं हृदयाग्रेणाशनिं कृत्स्नहृदयेन पशुपतिं यक्ना भवं मतस्नाभ्यां शर्वं मन्युनेशानमन्तःपर्शव्येन महादेवमुग्रं देवं वनिष्ठुना वसिष्ठहनुः कोश्याभ्यां शिङ्गीनि प्राप्नुवन्तीति यूयं विजानीत ॥ ८ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! ये ते **मृता जीवा हृदयेन** हृदयावयवेन **अग्निं** पावकं, **हृदयाग्रेण** हृदयस्य पुरोभागेन **अशनिं** विद्युतं, **कृत्स्नहृदयेन** सम्पूर्णहृदयावयवेन **पशुपतिं** पशूनां पालकं जगद्धर्त्तारं रुद्रं सर्वप्राणं, **यक्ना** यकृता—शरीराऽवयवेन **भवं** यस्सर्वत्र भवति तं, **मतस्नाभ्यां** हृदयपार्श्वाऽवयवाभ्यां **शर्वं** विज्ञातारं, **मन्युना** दुष्टाचारिणः पापं च प्रति वर्त्तमानेन क्रोधेन **ईशानं** सर्वस्य जगतः स्वामिनम्, **अन्तःपर्शव्येन** अन्तःपार्श्वावयवभावेन **महादेवं** महांश्चासौ देवश्च तं परमात्मानम्, **उग्रं** तीक्ष्णस्वभावं **देवं** देदीप्यमानं, **वनिष्ठुना** आन्त्रविशेषेण **वसिष्ठहनुः** वसिष्ठस्यातिशयेन वासहेतोर्हनुरिव हनुर्यस्य तं, **कोश्याभ्यां** कोश=उदरे भवाभ्यां मांसपिण्डाभ्यां **शिङ्गीनि** ज्ञातुं, प्राप्तुं योग्यानि **प्राप्नुवन्तीति यूयं विजानीत** ॥ ३९।८ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जो ये मृत जीव हैं वे (हृदयेन) हृदय रूप अवयव से (अग्निम्) अग्नि को, (हृदयाग्रेण) हृदय के अग्रभाग से (अशनिम्) विद्युत् को, (कृत्स्नहृदयेन) संपूर्ण हृदय रूप अवयव से (पशुपतिम्) पशुओं के पालक, जगत् के धर्ता, रुद्र, सब प्राणों को, (यक्ना) यकृत् रूप शरीर के अवयवों से (भवम्) सर्वत्र व्यापक को, (मतस्नाभ्याम) हृदय के पार्श्व अवयवों से (शर्वम्) विज्ञाता को, (मन्युना) दुष्टाचारी और पाप के प्रति वर्तमान क्रोध से (ईशानम्) सब जगत् के स्वामी को, (अन्तःपर्शव्येन) आन्तरिक पार्श्व अवयव से (महादेवम्) महान् देव को, (उग्रम्) तीक्ष्ण स्वभाव वाले (देवम्) प्रकाशमान परमात्मा को, (वनिष्ठुना) आँत विशेष से (वसिष्ठहनुः) अत्यन्त वास के हेतु राजा के तुल्य ठोढ़ी वाले जन को, (कोश्याभ्याम्) कोश=उदर में विद्यमान दो मांस पिण्डों से (शिङ्गीनि) जानने एवं प्राप्त करने योग्य सुखों को—प्राप्त करते हैं; ऐसा तुम जानो ॥ ३९।८ ॥

भावार्थः—ये मनुष्याः सर्वाङ्गैर्धर्माचरणं, विद्याग्रहणं, सत्सङ्गं, जगदीश्वरोपासनं च कुर्वन्ति ते वर्त्तमानभविष्यतोर्जन्मनोः सर्वाणि सुखानि प्राप्नुवन्ति ॥ ३९ । ८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य सब अंगों से धर्माचरण, विद्या का ग्रहण, सत्संग और जगदीश्वर की उपासना करते हैं; वे वर्तमान और भविष्यत् के जन्मों के सब सुखों को प्राप्त करते हैं ॥ ३९ । ८ ॥

भाष्यसार—कौन मनुष्य दोनों जन्मों में सुख पाते हैं—जो मनुष्य हृदय से अग्नि, हृदय के अग्रभाग से विद्युत्, सम्पूर्ण हृदय से सब प्राण, यकृत् से सर्वत्र विद्यमान ईश्वर, मतस्न अर्थात् हृदय के पार्श्ववर्ती दो अवयव-विशेषों से विज्ञाता ईश्वर, मन्यु=क्रोध से सब जगत् के स्वामी, आन्तरिक पार्श्व भाग से, तीक्ष्ण स्वभाव वाले, प्रकाशमान महादेव परमात्मा, 'वनिष्ठु' नामक आन्त्र (आँत) विशेष से अत्यन्त वास के हेतु राजा के तुल्य ठोड़ी वाले विशिष्ट पुरुष, कोश्य अर्थात् उदर में विद्यमान दो विशेष मांसपिण्डों से जानने और प्राप्त करने योग्य सुखों को प्राप्त करते हैं वे दोनों जन्मों में सुखी रहते हैं।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य सब अङ्गों से धर्माचरण, विद्या ग्रहण, सत्संग और जगदीश्वर की उपासना करें तथा वर्तमान और भविष्यत् दोनों जन्मों में सब सुखों को प्राप्त करें ॥ ३९ । ८ ॥ ●

दीर्घतमाः । **उग्राद्यो लिङ्गोक्ताः**=तीव्रगुणादयः । भुरिगष्टिः । मध्यमः ॥

मनुष्याः कथमुग्रस्वभावादीन् प्राप्नुवन्तीत्याह ॥

मनुष्य कैसे उग्र स्वभाव आदि को प्राप्त होते हैं, यह उपदेश किया है ॥

उग्रं लोहितेन मित्रꣳ सौव्रत्येन रुद्रं दौर्व्रत्येनेन्द्रं प्रक्रीडेन मरुतो बलेन साध्यान् प्रमुदा । भवस्य कण्ठ्यꣳ रुद्रस्यान्तः पार्श्व्यं महादेवस्य यकृच्छर्वस्य वनिष्ठुः पशुपतेः पुरीतत् ॥ ९ ॥

पदार्थः—(**उग्रम्**) तीव्रं गुणम् (**लोहितेन**) शुद्धेन रक्तेन (**मित्रम्**) प्राणमिव सखायम् (**सौव्रत्येन**) श्रेष्ठेन कर्मणा (**इन्द्रम्**) परमैश्वर्य्यं विद्युतं वा (**रुद्रम्**) रोदयितारम् (**दौर्व्रत्येन**) दुष्टाचारेण (**प्रक्रीडेन**) (**मरुतः**) उत्तमान् मनुष्यान् (**बलेन**) (**साध्यान्**) साद्धुं योग्यान् (**प्रमुदा**) प्रकृष्टेन हर्षेण (**भवस्य**) यः प्रशंसितो भवति तस्य (**कण्ठ्यम्**) कण्ठे भवं स्वरम् (**रुद्रस्य**) दुष्टानां रोदयितुः (**अन्तःपार्श्व्यम्**) अन्तः पार्श्वे भवम् (**महादेवस्य**) महतो विदुषः (**यकृत्**) हृदयस्थो रोहितः पिण्डः (**शर्वस्य**) सुखप्रापकस्य (**वनिष्ठुः**) आन्त्रविशेषः । **अत्र सुपां सुलिगित्यमः स्थाने सुरादेशः** (**पशुपतेः**) (**पुरीतत्**) हृदयस्य नाडी ॥ ९ ॥

प्रमाणार्थ—(**वनिष्ठुः**) आन्त्रविशेषः । यहाँ 'सुपां सुलुक्०' (७ । १ । ३९) इस सूत्र से 'अम्' विभक्ति के स्थान में 'सु' आदेश है ॥

अन्वयः—हे मनुष्या गर्भाशयस्था जीवा बाह्या वा लोहितेनोग्रं सौव्रत्येन मित्रं दौर्व्रत्येन रुद्रं प्रक्रीडेनेन्द्रं बलेन मरुतः प्रमुदा साध्यान् भवस्य कण्ठ्यं रुद्रस्यान्तः पार्श्व्यं महादेवस्य यकृच्छर्वस्य वनिष्ठुः पशुपतेः पुरीतत् प्राप्नुवन्ति ॥ ९ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! **गर्भाशयस्था जीवा बाह्या वा लोहितेन** शुद्धेन रक्तेन उग्रं तीव्रं गुणं, **सौव्रत्येन** श्रेष्ठेन कर्मणा

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! गर्भाशय में स्थित वा बाह्य जीव—(लोहितेन) शुद्ध रक्त से (उग्रम्) तीव्र गुण को; (सौव्रत्येन) श्रेष्ठ कर्म से (मित्रम्)

मित्रं प्राणमिव सखायं, **दौर्वंत्येन** दुष्टाचारेण **रुद्रं** रोदयितारं, **प्रक्रीडेनेन्द्रं** परमैश्वर्य्यं विद्युतं वा **बलेन मरुतः** उत्तमान् मनुष्यान्, **प्रमुदा** प्रकृष्टेन हर्षेण **साध्यान्** साद्धुं योग्यान्, **भवस्य** यः प्रशंसितो भवति तस्य **कण्ठ्यं** कण्ठे भवं स्वरं, **रुद्रस्य** दुष्टानां रोदयितुः **अन्तःपार्श्व्यं** अन्तःपार्श्वे भवं, **महादेवस्य** महतो विदुषः **यकृत्** हृदयस्थो रोहितः पिण्डः, **शर्वस्य** सुखप्रापकस्य **वनिष्ठुः** आन्त्रविशेषः, **पशुपतेः पुरीतत्** हृदयस्य नाडी **प्राप्नुवन्ति** ॥ ३९ । ९ ॥

प्राण के तुल्य मित्र को, (दौर्वंत्येन) दुष्टाचरण से (रुद्रम्) रुलाने वाले को, (प्रक्रीडेन) उत्तम विहार से (इन्द्रम्) परम ऐश्वर्य वा विद्युत् को, (बलेन) बल से (मरुतः) उत्तम मनुष्यों को, (प्रमुदा) अत्यन्त हर्ष से (साध्यान्) सिद्ध करने योग्य पदार्थों को, (भवस्य) प्रशंसित होने वाले पुरुष के (कण्ठ्यम्) कण्ठ में विद्यमान स्वर को, (रुद्रस्य) दुष्टों को रुलाने वाले के (अन्तःपार्श्व्यम्) आन्तरिक पार्श्व अवयव को (महादेवस्य) महान् विद्वान् के (यकृत्) हृदय में स्थित लाल पिण्ड को, (शर्वस्य) सुख प्रापक पुरुष के (वनिष्ठुः) आँत विशेष को, (पशुपतेः) पशुओं के रक्षक पुरुष की (पुरीतत्) हृदय की नाड़ी को प्राप्त करते हैं ॥ ३९ । ९ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यथा देहिनो रुधिराद्यैरुग्रादिस्वभावादीन् प्राप्नुवन्ति, तथा गर्भाशयेऽपि लभन्ते ॥ ३९ । ९ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे देहधारी रुधिर आदि से उग्र आदिस्वभाव आदि को प्राप्त करते हैं; वैसे जीव गर्भाशय में भी प्राप्त करते हैं ॥ ३९ । ९ ॥

भा० पदार्थः—लोहितेन=रुधिरेण । उग्रम्=उग्रस्वभावम् ॥

भाष्यसार—मनुष्य कैसे उग्र स्वभाव आदि को प्राप्त होते हैं—गर्भस्थ वा बाह्य जीव शुद्ध रक्त से उग्र स्वभाव, श्रेष्ठ कर्म से प्राण के तुल्य मित्र, दुष्टाचरण से रुद्र, उत्तम विहार से परम ऐश्वर्य वा विद्युत्, बल से उत्तम मनुष्य, अत्यन्त हर्ष से--साध्य जन, प्रशंसित हुए पुरुष के स्वर, दुष्टों को रुलाने वाले पुरुष के आन्तरिक पार्श्व अवयव, महान् विद्वान् के यकृत्, सुख प्रापक पुरुष की 'वनिष्ठु' नामक आँत, पशुओं के पालक पुरुष की पुरीतत् (हृदय-नाड़ी) नामक नाड़ी को प्राप्त होते हैं ।

तात्पर्य यह है कि जैसे देहधारी मनुष्य रुधिर आदि से उग्रस्वभाव आदि को प्राप्त होते हैं वैसे गर्भाशय में भी जीव मन्त्रोक्त आचरण से उग्र स्वभाव आदि गुणों को प्राप्त होते हैं ॥ ३९ । ९ ॥ ●

दीर्घतमाः । **अग्निः=भौतिकः** । आकृतिः । पञ्चमः ॥

मनुष्यैर्भस्मान्तं शरीरं मन्त्रैर्दाह्यमित्याह ॥

मनुष्य को भस्म होने तक शरीर का मन्त्रों से दाह करना चाहिए, यह उपदेश किया है ॥

लोमभ्यः स्वाहा लोमभ्यः स्वाहा त्वचे स्वाहा त्वचे स्वाहा लोहिताय स्वाहा लोहिताय स्वाहा मेदोभ्यः स्वाहा मेदोभ्यः स्वाहा माꣳसेभ्यः स्वाहा माꣳसेभ्यः स्वाहा स्नावभ्यः स्वाहा स्नावभ्यः स्वाहास्थभ्यः स्वाहास्थभ्यः स्वाहा मज्जभ्यः स्वाहा मज्जभ्यः स्वाहा । रेतसे स्वाहा पायवे स्वाहा ॥ १० ॥

पदार्थः— (**लोमभ्यः**) त्वगुपरिस्थेभ्यो बालेभ्यः (**स्वाहा**) (**लोमभ्यः**) नखादिभ्यः (**स्वाहा**)

(**त्वचे**) शरीरावरणदाहाय (**स्वाहा**) (**त्वचे**) तदन्तरावरणदाहाय (**स्वाहा**) (**लोहिताय**) रक्ताय (**स्वाहा**) (**लोहिताय**) हृदयस्थाय लोहितपिण्डाय (**स्वाहा**) (**मेदोभ्यः**) स्निग्धेभ्यो धातुविशेषेभ्यः (**स्वाहा**) (**मेदोभ्यः**) सर्वशरीरावयवार्द्रीकरेभ्यः (**स्वाहा**) (**मांसेभ्यः**) बहिःस्थेभ्यः (**स्वाहा**) (**मांसेभ्यः**) शरीरान्तर्गतेभ्यः (**स्वाहा**) (**स्नावभ्यः**) स्थूलनाडीभ्यः (**स्वाहा**) (**स्नावभ्यः**) सूक्ष्माभ्यः शिराभ्यः (**स्वाहा**) (**अस्थभ्यः**) शरीरस्थकठिनावयवेभ्यः (**स्वाहा**) (**अस्थभ्यः**) सूक्ष्मावयवाऽस्थिरूपेभ्यः (**स्वाहा**) (**मज्जभ्यः**) अस्थ्यन्तर्गतेभ्यो धातुभ्यः (**स्वाहा**) (**मज्जभ्यः**) तदन्तर्गतेभ्यः (**स्वाहा**) (**रेतसे**) वीर्य्याय (**स्वाहा**) (**पायवे**) गुह्यावयवदाहाय (**स्वाहा**) ॥ १० ॥

अन्वयः—मनुष्यैः प्रेतक्रियायां घृतादेर्लोमभ्यः स्वाहा लोमभ्यः स्वाहा त्वचे स्वाहा त्वचे स्वाहा लोहिताय स्वाहा लोहिताय स्वाहा मेदोभ्यः स्वाहा मेदोभ्यः स्वाहा मांसेभ्यः स्वाहा मांसेभ्यः स्वाहा स्नावभ्यः स्वाहा स्नावभ्यः स्वाहाऽस्थभ्यः स्वाहाऽस्थभ्यः स्वाहा मज्जभ्यः स्वाहा मज्जभ्यः स्वाहा रेतसे स्वाहा पायवे स्वाहा सततं प्रयोज्या ॥ १० ॥

सपदार्थान्वयः—**मनुष्यैः प्रेतक्रियायां घृतादेर्लोमभ्यः** त्वगुपरिस्थेभ्यो बालेभ्यः **स्वाहा, लोमभ्यः** नखादिभ्यः **स्वाहा, त्वचे** शरीरावरणदाहाय **स्वाहा, त्वचे** तदन्तरावरणदाहाय **स्वाहा, लोहिताय** रक्ताय **स्वाहा लोहिताय** हृदयस्थाय लोहितपिण्डाय **स्वाहा, मेदोभ्यः** स्निग्धेभ्यो धातुविशेषेभ्यः **स्वाहा मेदोभ्यः** सर्वशरीरावयवार्द्रीकरेभ्यः **स्वाहा, मांसेभ्यः** बहिःस्थेभ्यः **स्वाहा, मांसेभ्यः** शरीरान्तर्गतेभ्यः **स्वाहा, स्नावभ्यः** स्थूलनाडीभ्यः **स्वाहा, स्नावभ्यः** सूक्ष्माभ्यः शिराभ्यः **स्वाहाऽस्थभ्यः** शरीरस्थकठिनावयवेभ्यः **स्वाहा, ऽस्थभ्यः** सूक्ष्मावयवाऽस्थिरूपेभ्यः **स्वाहा, मज्जभ्यः** अस्थ्यन्तर्गतेभ्यो धातुभ्यः **स्वाहा, मज्जभ्यः** तदन्तर्गतेभ्यः **स्वाहा, रेतसे** वीर्य्याय **स्वाहा, पायवे** गुह्यावयवदाहाय **स्वाहा सततं प्रयोज्या** ॥ ३९ । १० ॥

भाषार्थ—मनुष्य— प्रेतक्रिया में घृतादि की (लोमभ्यः) त्वचा के ऊपर विद्यमान बालों के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (लोमभ्यः) नख आदि के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (त्वचे) शरीर के आवरण रूप त्वचा के दाह के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (लोहिताय) रक्त के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (लोहिताय) हृदय में स्थित लाल पिण्ड के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (मेदोभ्यः) स्निग्ध धातु विशेषों के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (मेदोभ्यः) सब शरीर के अवयवों को आर्द्र करने वाले अवयवों के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (मांसेभ्यः) बाह्य मांसों के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (मांसेभ्यः) शरीर के अन्तर्गत मांसों के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (स्नावभ्यः) स्थूल नाड़ियों के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया,(स्नावभ्यः) सूक्ष्म नाड़िओं के लिए स्वाहा सत्य क्रिया, (अस्थभ्यः) अस्थि=हड्डी रूप सूक्ष्म अवयवों के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (मज्जभ्यः) अस्थि अन्तर्गत धातुओं के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (मज्जभ्यः) उक्त धातुओं के अन्तर्गत पदार्थों के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (रेतसे) वीर्य के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (पायवे) गुह्य अवयवों के दाह के लिए (स्वाहा) स्वाहा नामक सत्य क्रिया का सदा प्रयोग करें ॥ ३९ । १० ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यावल्लोमान्यारभ्य वीर्यपर्यन्तस्य तच्छरीरस्य भस्म न स्यात् तावद्

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जब तक लोमों से लेकर वीर्य पर्यन्त मृतक शरीर का भस्म न हो जाये

घृतेन्धनानि प्रक्षिपत ।। ३९ । १० ।। तब तक घृत एवं इन्धन डालते रहें ।। ३९ । १० ।।

भा० पदार्थः—स्वाहा=घृतेन्धनप्रक्षेपः ।।

भाष्यसार—भस्मान्त शरीर का मन्त्रों से दाह-कर्म—सब मनुष्य प्रेत-क्रिया में घृतादि की 'स्वाहा' नामक सत्य क्रिया का—बाल, त्वचा, रक्त, मेद (चर्बी), मांस, स्नायु अर्थात् स्थूल नाडी, अस्थि (हड्डी), मज्जा, वीर्य और पायु को भस्म करने के लिए—सदा प्रयोग करें। तात्पर्य यह है कि जब तक लोम से लेकर वीर्य पर्यन्त शरीर भस्म न हो जाये तब तक घृत और इन्धन डालते रहें। ।। ३९ । १० ।। ●

दीर्घतमाः । **अग्निः**=भौतिकः । स्वराड् जगती । निषादः ।।

पुनर्मनुष्यैर्जन्मान्तरे सुखार्थं किं कर्त्तव्यमित्याह ।।

मनुष्यों को जन्मान्तर में सुख के लिए क्या करना चाहिए, इस विषय का उपदेश किया जाता है ।।

आ॒या॒साय॒ स्वाहा॑ प्रा॒या॒साय॒ स्वाहा॑ संया॒साय॒ स्वाहा॑ विया॒साय॒ स्वाहो॑द्या॒साय॒ स्वाहा॑ । शु॒चे स्वाहा॒ शोच॑ते॒ स्वाहा॒ शोच॑मानाय॒ स्वाहा॒ शोका॑य॒ स्वाहा॑ ॥ ११ ॥

पदार्थः—**(आयासाय)** समन्तात्प्रापणाय **(स्वाहा)** **(प्रायासाय)** प्रयाणाय **(स्वाहा)** **(संयासाय)** सम्यग्गमनाय **(स्वाहा)** **(वियासाय)** विविधप्राप्तये **(स्वाहा)** **(उद्यासाय)** ऊर्ध्वं गमनाय **(स्वाहा)** **(शुचे)** पवित्राय **(स्वाहा)** **(शोचते)** शुद्धिकर्त्रे **(स्वाहा)** **(शोचमानाय)** विचारप्रकाशाय **(स्वाहा)** **(शोकाय)** शोचन्ति यस्मिँस्तस्मै **(स्वाहा)** ।। ११ ।।

अन्वयः—हे मनुष्या यूयमायासाय स्वाहा प्रायासाय स्वाहा संयासाय स्वाहा वियासाय स्वाहोद्यासाय स्वाहा शुचे स्वाहा शोचते स्वाहा शोचमानाय स्वाहा शोकाय स्वाहा प्रयुङ्ग्ध्वम् ।। ११ ।।

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! **यूयमायासाय** समन्तात्प्रापणाय **स्वाहा, प्रायासाय** प्रयाणाय **स्वाहा, संयासाय** सम्यग्गमनाय **स्वाहा, वियासाय** विविधप्राप्तये **स्वाहा, उद्यासाय** ऊर्ध्वं गमनाय **स्वाहा, शुचे** पवित्राय **स्वाहा, शोचते** शुद्धिकर्त्रे **स्वाहा, शोचमानाय** विचारप्रकाशाय **स्वाहा, शोकाय** शोचन्ति यस्मिँस्तस्मै **स्वाहा प्रयुङ्ग्ध्वम्** ।। ३९ । ११ ।।

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! तुम—(आयासाय) सब ओर सुख प्राप्त करने के लिए (स्वाहा) सत्य वाणी, (प्रायासाय) प्रयत्न करने के लिए (स्वाहा) सत्य मति, (संयासाय) सम्यक् गति के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (वियासाय) विविध प्राप्ति के लिए स्वाहा (सत्य) क्रिया, (उद्यासाय) ऊर्ध्व गति के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (शुचे) पवित्र होने के लिए (स्वाहा) सत्य वाणी, (शोचते) शुद्धि करने वाले के लिए (स्वाहा) सत्य वाणी, (शोच-(मानाय) विचारों के प्रकाश के लिए (स्वाहा) सत्य वाणी (शोकाय) शोधन-स्थान शरीर के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया का प्रयोग करो ।। ३९ । ११ ।।

भावार्थः—मनुष्यैः पुरुषार्थसिद्धये सत्या वाग्, मतिः, क्रिया चानुष्ठेया, येन देहान्तरे

भावार्थ—मनुष्य पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए सत्य वाणी, सत्य मति और सत्य क्रिया का

जन्मान्तरे च मङ्गलं स्यात् ॥ ३६ । ११ ॥

अनुष्ठान करें; जिससे देहान्तर में और जन्मान्तर में मंगल होवे ॥ ३६ । ११ ॥

भा० पदार्थः—आयासाय=पुरुषार्थसिद्धये । स्वाहा=सत्या वाक्; सत्या मतिः, सत्या क्रिया ॥

भाष्यसार—मनुष्य जन्मान्तर में सुख के लिए क्या करें—सब मनुष्य—सब ओर सुख की प्राप्ति, प्रयाण, सम्यक् गति, विविध प्राप्ति और ऊर्ध्व गमन अर्थात् नाना प्रकार के पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए स्वाहा अर्थात् सत्यवाणी, सत्य मति और सत्य क्रिया का अनुष्ठान करें। स्वयं पवित्र होने के तथा शुद्धि कर्त्ता पुरुष के लिए विचारों के प्रकाश तथा शुद्धि के स्थान शरीर के लिए 'स्वाहा' नामक सत्य क्रिया का प्रयोग करें। जिससे देहान्तर एवं जन्मान्तर में मङ्गल हो ॥ ३६ । ११ ॥

दीर्घतमाः । **अग्निः=भौतिकः** । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

पुनर्मनुष्यैः कैः साधनैः सुखं प्राप्तव्यमित्याह ॥

मनुष्यों को किन साधनों से सुख प्राप्त करना चाहिए, इस विषय का उपदेश किया जाता है ॥

तप॑से॒ स्वाहा॒ तप्य॑ते॒ स्वाहा॒ तप्य॑मानाय॒ स्वाहा॑ त॒प्ताय॒ स्वाहा॑ घ॒र्माय॒ स्वाहा॑ । निष्कृ॑त्यै॒ स्वाहा॒ प्राय॑श्चित्यै॒ स्वाहा॑ भे॒ष॒जाय॒ स्वाहा॑ ॥ १२ ॥

पदार्थः—(**तपसे**) प्रतापाय (**स्वाहा**) (**तप्यते**) यस्तापं प्राप्नोति तस्मै (**स्वाहा**) (**तप्यमानाय**) प्राप्ततापाय (**स्वाहा**) (**तप्ताय**) (**स्वाहा**) (**घर्माय**) दिनाय (**स्वाहा**) (**निष्कृत्यै**) निवारणाय (**स्वाहा**) (**प्रायश्चित्यै**) पापनिवारणाय (**स्वाहा**) (**भेषजाय**) सुखाय । **भेषजमिति सुखना० ॥ निघं० ३।६ ॥** (**स्वाहा**) ॥ १२ ॥

प्रमाणार्थ—(**भेषजाय**) सुखाय । 'भेषज' यह पद निघण्टु (३ । ६) में सुख-नामों में पठित है ॥

अन्वयः—मनुष्यैस्तपसे स्वाहा तप्यते स्वाहा तप्यमानाय स्वाहा तप्ताय स्वाहा घर्माय स्वाहा निष्कृत्यै स्वाहा प्रायश्चित्यै स्वाहा भेषजाय स्वाहा च निरन्तरं प्रयोक्तव्या ॥ १२ ॥

सपदार्थान्वयः—**मनुष्यैस्तपसे** प्रतापाय **स्वाहा, तप्यते** यस्तापं प्राप्नोति तस्मै **स्वाहा, तप्यमानाय** प्राप्ततापाय **स्वाहा, तप्ताय स्वाहा, घर्माय** दिनाय **स्वाहा, निष्कृत्यै** निवारणाय **स्वाहा, प्रायश्चित्यै** पापनिवारणाय **स्वाहा, भेषजाय** सुखाय **स्वाहा च निरन्तरं प्रयोक्तव्या** ॥ ३६ । १२ ॥

भाषार्थ—मनुष्य—(तपसे) प्रताप के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (तप्यते) ताप को प्राप्त करने वाले के लिए (स्वाहा) सत्य=क्रिया, (तप्यमानाय) ताप को प्राप्त हुए के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (तप्ताय) तपे हुए के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (घर्माय) दिन के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (निष्कृत्यै) निवारण के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (प्रायश्चित्यै) पाप निवारण के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया और (भेषजाय) सुख के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया का सदा प्रयोग करें ॥ ३६ । १२ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः प्राणायामादिसाधनैः सर्वं किल्विषं निवार्य्य, सुखं प्राप्तव्यं, प्रापयितव्यं च ॥ ३९ । १२ ॥

भावार्थ—मनुष्य—प्राणायाम आदि साधनों से पाप का निवारण करके सुख को स्वयं प्राप्त करें तथा अन्यों को भी करावें ॥ ३९ । १२ ॥

भा० पदार्थः—प्रायश्चित्यै=प्राणायामादिसाधनैः सर्वं किल्विषं निवारयितुम् । भेषजाय=सुखप्राप्तये ॥

भाष्यसार—**मनुष्य किन साधनों से सुख प्राप्त करें**—तप अर्थात् प्राणायाम आदि साधनों से प्रतिदिन सब पापों के निवारण तथा सब सुखों की प्राप्ति करने कराने के लिए 'स्वाहा' नामक सत्य क्रिया का प्रयोग करें ॥ ३९ । १२ ॥ ●

दीर्घतमाः । **अग्निः=भौतिकः** । निचृत्त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

पुनर्मनुष्यैः किं कर्त्तव्यमित्याह ॥

फिर मनुष्यों को क्या करना चाहिए, यह उपदेश किया है ॥

यमाय स्वाहान्तकाय स्वाहा मृत्यवे स्वाहा । ब्रह्मणे स्वाहा ब्रह्महत्यायै स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याᳬं स्वाहा ॥ १३ ॥

पदार्थः—(**यमाय**) नियन्त्रे न्यायाधीशाय वायवे वा (**स्वाहा**) (**अन्तकाय**) नाशकाय कालाय (**स्वाहा**) (**मृत्यवे**) प्राणत्यागकारिणे समयाय (**स्वाहा**) (**ब्रह्मणे**) बृहत्तमाय परमात्मने ब्रह्मविदुषे वा (**स्वाहा**) (**ब्रह्महत्यायै**) ब्रह्मणो=वेदस्येश्वरस्य विदुषो वा हनननिवारणाय (**स्वाहा**) (**विश्वेभ्यः**) अखिलेभ्यः (**देवेभ्यः**) विद्वद्भ्यो दिव्येभ्यो जलादिभ्यो वा (**स्वाहा**) (**द्यावापृथिवीभ्याम्**) सूर्य्यभूमिशोधनाय (**स्वाहा**) ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यूयं यमाय स्वाहाऽन्तकाय स्वाहा मृत्यवे स्वाहा ब्रह्मणे स्वाहा ब्रह्महत्यायै स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा च प्रयुङ्ध्वम् ॥ १३ ॥

सपदार्थान्वयः—हे **मनुष्याः! यूयं यमाय** नियन्त्रे न्यायाधीशाय वायवे वा **स्वाहा, अन्तकाय** नाशकाय कालाय **स्वाहा, मृत्यवे** प्राणत्यागकारिणे समयाय **स्वाहा, ब्रह्मणे** बृहत्तमाय परमात्मने ब्रह्मविदुषे वा **स्वाहा, ब्रह्महत्यायै** ब्रह्मणो=वेदस्येश्वरस्य विदुषो वा हनननिवारणाय **स्वाहा, विश्वेभ्यः** अखिलेभ्यः **देवेभ्यः** विद्वद्भ्यो दिव्येभ्यो जलादिभ्यो वा **स्वाहा, द्यावापृथिवीभ्यां** सूर्य्यभूमिशोधनाय **स्वाहा च प्रयुङ्ध्वम्** ॥ ३९ । १३ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! तुम—(यमाय) नियन्ता न्यायाधीश वा वायु के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (अन्तकाय) नाशक काल के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (मृत्यवे) प्राणों के त्यागकारी समय के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (ब्रह्मणे) सबसे बड़े परमात्मा वा ब्रह्मज्ञानी के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया, (ब्रह्महत्यायै) ब्रह्म अर्थात् वेद, ईश्वर वा विद्वान् की हत्या के निवारण के लिए (स्वाहा) सत्यक्रिया, (विश्वेभ्यः) सब (देवेभ्यः) विद्वानों वा दिव्य जलादि पदार्थों के लिए (स्वाहा) सत्य क्रिया और (द्यावापृथिवीभ्याम्) सूर्य तथा भूमि के शोधन के लिए (स्वाहा) स्वाहा नामक सत्य क्रिया का प्रयोग करो ॥ ३९ । १३ ॥

भावार्थः—ये मनुष्या न्यायव्यवस्थां पालयित्वाऽल्पमृत्युं विनिवार्य, ईश्वरविदुषः संसेव्य, ब्रह्महत्यादिदोषान् निवार्य, सृष्टिविद्यां विदित्वाऽन्त्येष्टिं विदधति, ते सर्वेषां मङ्गलप्रदा भवन्ति। सर्वदैवं मृतकशरीरं दग्ध्वा सर्वेषां सुखमुन्नेयमिति ॥ ३९ । १३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य न्याय-व्यवस्था का पालन, अल्पायु में मृत्यु का निवारण, ईश्वर और विद्वानों की सेवा, ब्रह्महत्या आदि दोषों का निवारण तथा सृष्टिविद्या को जानकर अन्त्येष्टि करते हैं; वे सब को मंगल प्रदान करने वाले होते हैं। सदा इस प्रकार मृतक शरीर को जलाकर सबके सुख को बढ़ावें। 'इति' पद अध्याय-समाप्ति का द्योतक है ॥ ३९ । १३ ॥

भा० पदार्थः—यमाय=न्यायव्यवस्थां पालयितुम्। मृत्यवे=अल्पमृत्युं विनिवारयितुम्। ब्रह्मणे=ईश्वरं विद्वांसं च सेवितुम्। द्यावापृथिवीभ्याम्=सृष्टिविद्यां वेत्तुम् ॥

भाष्यसार—**मनुष्य क्या करें**—सब मनुष्य नियन्ता न्यायाधीश की न्यायव्यवस्था (स्वाहा) का पालन करें। अल्पायु में मृत्यु का निवारण (स्वाहा) करें। ब्रह्म अर्थात् ईश्वर और विद्वान् की सेवा (स्वाहा) करें। ब्रह्म अर्थात् वेद ईश्वर और विद्वान् की हत्या का निवारण (स्वाहा) करें। सब विद्वान् तथा दिव्य जलादि पदार्थ सूर्य और भूमि के शोधन के लिए 'स्वाहा' नामक सत्य क्रिया का प्रयोग करें। सृष्टिविद्या को जानें। इस प्रकार मृतक शरीर का दाह कर्म करके सबके सुख को बढ़ावें ॥ ३९ । १३ ॥ ●

[पूर्वापराध्यायार्थसंगतिमाह—]

अत्रान्त्येष्टिकर्मवर्णनादेतदर्थस्य पूर्वाध्यायोक्तार्थेन सह सङ्गतिरस्तीति वेदितव्यम् ॥ ३९ ॥

यहाँ अन्त्येष्टि कर्म के वर्णन से इस अध्याय के अर्थ की पूर्व अध्याय में प्रतिपादित अर्थ के साथ संगति है; ऐसा समझें ॥ ३९ ॥

इति श्रीयुतपण्डितसुदर्शनदेवाचार्यविरचिते दयानन्द-यजुर्वेदभाष्य-भास्करे
एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः सम्पूर्णः ॥

॥ ओ३म् ॥

* अथ चत्वारिंशाऽध्यायारम्भः *

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव । यद्भद्रं तन्नऽआसुव ॥ १ ॥

य० ३० । ३ ॥

दीर्घतमाः । **आत्मा**=परमात्मा । अनुष्टुप् छन्दः । धैवतः ॥

अथ मनुष्याः परमात्मानं विज्ञाय किं कुर्युरित्याह ॥

अब चालीसवें अध्याय का आरम्भ है । मनुष्य परमात्मा को जानकर क्या करें, यह उपदेश किया है ॥

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥ १ ॥

पदार्थः—(**ईशा**) ईश्वरेण=सकलैश्वर्य्यसम्पन्नेन सर्वशक्तिमता परमात्मना (**वास्यम्**) आच्छादयितुं योग्यं=सर्वतोऽभिव्याप्यम् (**इदम्**) प्रकृत्यादिपृथिव्यन्तम् (**सर्वम्**) अखिलम् (**यत्**) (**किम्**) (**च**) (**जगत्याम्**) गम्यमानायां सृष्टौ (**जगत्**) यद् गच्छति तत् (**तेन**) (**त्यक्तेन**) वर्जितेन तच्चित्तरहितेन (**भुञ्जीथाः**) भोगमनुभवेः (**मा**) निषेधे (**गृधः**) अभिकांक्षीः (**कस्य**) (**स्वित्**) कस्यापि स्विदिति प्रश्ने वा (**धनम्**) वस्तुमात्रम् ॥ १ ॥

अन्वयः— हे मनुष्य ! त्वं यदिदं सर्वं जगत्यां जगदीशाऽऽवास्यमस्ति तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः किञ्च कस्य स्विद्धनं मा गृधः ॥ १ ॥

सपदार्थान्वयः— **हे मनुष्य ! त्वं यदिदं** प्रकृत्यादिपृथिव्यन्तं **सर्वम्** अखिलं **जगत्यां** गम्यमानायां सृष्टौ **जगत्** यद् गच्छति तत् **ईशा** ईश्वरेण=सकलैश्वर्यसम्पन्नेन सर्वशक्तिमता परमात्मना **वास्यम्** आच्छादयितुं योग्यं=सर्वतोऽभिव्याप्यम् **अस्ति; तेन त्यक्तेन** वर्जितेन तच्चित्तरहितेन **भुञ्जीथाः** भोगमनुभवेः ।

भाषार्थ—हे मनुष्य ! तू (यत्) जो (इदम्) प्रकृति से लेकर पृथिवी पर्यन्त (सर्वम्) सब (जगत्याम्) चलायमान सृष्टि में (जगत्) जड़ चेतन जगत् है, वह (ईशा) ईश्वर अर्थात् सकल ऐश्वर्य से सम्पन्न, सर्वशक्तिमान् परमात्मा के द्वारा (वास्य) आच्छादित अर्थात् सब ओर से अभिव्याप्त किया हुआ है । (तेन) इसलिए (त्यक्तेन) त्याग-

पूर्वक अर्थात् जगत् से चित्त को हटा के (भुञ्जीथाः) भोगों का उपभोग कर।

किञ्च कस्य स्वित् कस्यापि **धनं** वस्तुमात्रं **मा न गृधः** अभिकांक्षीः ॥ ४० । १ ॥

(किं च) और (कस्यस्वित्) यह धन किसका है अर्थात् किसी का नहीं; अतः किसी के भी (धनम्) धन अर्थात् वस्तुमात्र की (मा) मत (गृधः) अभिलाषा कर ॥ ४० । १ ॥

भावार्थः—ये मनुष्या ईश्वराद् बिभ्यत्य-यमस्मान् सर्वदा सर्वतः पश्यति, जगदिदमीश्वरेण व्याप्तं, सर्वत्रेश्वरोऽस्तीति व्यापकमन्तर्यामिणं निश्चित्य, कदाचिदप्यन्यायाचरणेन कस्यापि किञ्चि-दपि द्रव्यं ग्रहीतुं नेच्छेयुस्ते; धार्मिका भूत्वाऽत्र परत्राऽभ्युदयनिःश्रेयसे फले प्राप्य सदाऽऽनन्देयुः ॥ ४० । १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य ईश्वर से डरते हैं कि यह हमको सब काल में सब ओर से देखता है; यह जगत् ईश्वर से व्याप्त अर्थात् सब स्थानों में ईश्वर विद्यमान है। इस प्रकार उस व्यापक अन्तर्यामी को जानकर कभी भी अन्याय-आचरण से किसी का कुछ भी द्रव्य ग्रहण करना नहीं चाहते; वे इस त्याग से धार्मिक होकर इस लोक में अभ्युदय और परलोक में निःश्रेयस रूप फलों को भोग कर सदा आनन्द में रहते हैं ॥ ४० । १ ॥

भा० पदार्थः—ईशा=ईश्वरेण। वास्यम्=व्याप्तम्। कस्यस्वित्=कस्यापि। धनम्=किञ्चिदपि द्रव्यम्। मा=न। गृधः=कदाचिदप्यन्यायाचरणेन ग्रहीतुमिच्छ। भुञ्जीथाः=अत्र परत्राऽभ्युदयनिःश्रेयसे फले प्राप्य सदाऽऽनन्देः ॥

भाष्यसार—**मनुष्य परमात्मा को जानकर क्या करें**—इस चलायमान सृष्टि से प्रकृति से लेकर पृथिवी पर्यन्त जो जड़-चेतन जगत् है, वह सब सकल ऐश्वर्य से सम्पन्न, सर्वशक्तिमान् परमात्मा से आच्छादित अर्थात् सब ओर से व्याप्त है। ईश्वर सर्वत्र है। वह सर्वव्यापक और अन्तर्यामी है। वह सर्वदा सब ओर से मनुष्यों को देख रहा है। ऐसा निश्चित जानकर परमात्मा से डरते रहें। त्यागपूर्वक पदार्थों का उपभोग करें। धार्मिक होकर इस लोक में अभ्युदय फल और परलोक में निःश्रेयस फल को प्राप्त करके सदा आनन्द में रहें। यह धन किस का है ? अर्थात् किसी का नहीं। यह सब धन परमात्मा का है। उसी ने कर्मानुसार सब को दिया है। अतः कभी भी अन्याय से किसी के भी द्रव्य को ग्रहण करने की इच्छा न करें।

अन्यत्र व्याख्यात— हे मनुष्य ! तू जो कुछ इस संसार में जगत् है, उस सब में व्याप्त होकर नियन्ता है, वह ईश्वर कहाता है। उससे डर कर तू अन्याय से किसी के धन की आकांक्षा मत कर। अन्याय के त्याग और न्यायाचरण रूप धर्म से अपने आत्मा से आनन्द भोग (सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास) ॥ ४० । १ ॥

समीक्षा

१. इस अध्याय के विषय में श्री शंकराचार्य जी लिखते हैं—"ईशावास्यमित्यादयो मन्त्राः कर्मस्वविनियुक्ताः। तेषामकर्मशेषस्यात्मनो याथात्म्यप्रकाशकत्वात्। याथात्म्यं चात्मनः शुद्धत्वापाप-विद्धत्वैकत्वनित्यत्वाशरीरत्वसर्वगतत्वादिवक्ष्यमाणम्। तच्च कर्मणा विरुध्येतेति युक्त एवैषां कर्मस्वविनियोगः (ईशो० शांकरभाष्य)।

अर्थ—'ईशावास्यम्०' इत्यादि मन्त्रों का कर्म में विनियोग नहीं है, क्योंकि ये आत्मा के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करने वाले हैं। आत्मा का यथार्थ स्वरूप—शुद्धत्व, निष्पापत्व, एकत्व, नित्यत्व, अशरीरत्व और सर्वगतत्व आदि है; जो आगे कहा जायेगा। इसका कर्म से विरोध है। अतः इन मन्त्रों का कर्म में विनियोग न होना ठीक ही है।

समीक्षा—श्री शंकराचार्य जी का यह कथन अयुक्त है कि 'ईशावास्यम्' इत्यादि मन्त्रों का कर्म में विनियोग इसलिए नहीं होना चाहिए कि इन में आत्मा के यथार्थ स्वरूप का वर्णन है। यजुर्वेद के ३२वें अध्याय में भी आत्मा के स्वरूप का वर्णन है और उसका सर्वमेध यज्ञ में विनियोग किया गया है। इस अध्याय में आत्मा (परमात्मा) के यथार्थ स्वरूप का ही केवल वर्णन हो, यह बात भी नहीं है। श्री शंकराचार्य जी का उक्त हेतु अनैकान्तिक है। क्योंकि इस अध्याय में आत्मा (परमात्मा) के यथार्थ स्वरूप के वर्णन के अतिरिक्त अन्य वर्णन भी विद्यमान हैं। जैसे 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः' इस दूसरे ही मन्त्र में आत्मा (जीव) को वैदिक कर्म करते हुए सौ वर्ष जीने का उपदेश किया है। श्री शंकराचार्य जी का यह कथन भी ठीक नहीं कि इस अध्याय में आत्मा (परमात्मा) के यथार्थ स्वरूप का वर्णन होने से विरोध है। आत्मा के यथार्थ स्वरूप का वर्णन शुभ कर्मों के अनुष्ठान के लिए ही किया जाता है। यदि वह वर्णन कर्म-विरोधी है, तो वर्णन है किसलिए? परमात्मा का जो शुद्धत्व और निष्पापत्व आदि का वर्णन है, वह इसलिए है कि जीव ऐसे कर्मों का अनुष्ठान करे जिससे वह भी शुद्ध एवं निष्पाप हो जाये। अतः आत्मा (परमात्मा) के यथार्थ स्वरूप का वर्णन कर्म-विरोधो कदापि नहीं अपितु कर्म-समर्थक है।

इसी अध्याय के 'अग्ने नय सुपथा रायेऽस्मान्०' इस मन्त्र का यज्ञ-कर्म में विनियोग है और 'वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्' मन्त्र अन्त्येष्टि कर्म को समझा रहा है। अतः श्री शंकराचार्य जी का यह कथन काल्पनिक है कि 'ईशावास्यम्' इत्यादि मन्त्रों का कर्म में विनियोग नहीं है।

२. श्री उवट यहाँ लिखते हैं—'समाप्तं कर्मकाण्डमिदानीं ज्ञानकाण्डं प्रस्तूयते'। अर्थात् यजुर्वेद के ३९ अध्याय में कर्मकाण्ड पूरा हो गया और इस ४०वें अध्याय में ज्ञान-काण्ड का उपदेश किया जाता है।

समीक्षा—श्री उवट महोदय इतना भी नहीं जानते कि सारा यजुर्वेद कर्मकाण्ड है। ज्ञान-काण्ड तो ऋग्वेद कहलाता है। श्री उवट महोदय को इतना भी ध्यान नहीं कि इसी अध्याय के दूसरे मन्त्र में सौ वर्ष जीते हुए यज्ञादि शुभ कर्मों के अनुष्ठान का उपदेश किया गया है। इसी अध्याय का 'अग्ने नय सुपथा राये०' मन्त्र यज्ञ-कर्म में विनियुक्त है। 'भस्मान्तꣳ शरीरम्' अन्त्येष्ट्रि कर्म को बतला रहा है।

३. श्री महीधर लिखते हैं—"एकोनचत्वारिंशदध्यायैः कर्मकाण्डं निरूपितम्। इदानीं कर्माचरणशुद्धान्तःकरणं प्रति ज्ञानकाण्डमेकेनाध्यायेन निरूप्यते"।

अर्थ—यजुर्वेद के ३९ अध्यायों में कर्मकाण्ड का निरूपण किया गया है। अब कर्माचरण से शुद्ध अन्तःकरण वाले पुरुष के प्रति ज्ञानकाण्ड का इस अध्याय से उपदेश किया जाता है।

समीक्षा—श्री महीधर इतना भी नहीं जानते कि पहले ज्ञान काण्ड का उपदेश होना चाहिए अथवा कर्मकाण्ड का। प्रथम ऋग्वेद (ज्ञानकाण्ड) है दूसरा यजुर्वेद (कर्मकाण्ड) है। ज्ञान पूर्वक कर्माचरण संगत है न कि कर्माचरण पूर्वक ज्ञान। यदि कर्माचरण से ही अन्तःकरण शुद्ध हो चुका है तो ज्ञान का क्या उपयोग है? महाराज मनु लिखते हैं—'बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्धयति' अर्थात् बुद्धि आदि अन्तःकरण ज्ञान से शुद्ध होता है और महीधर कहते हैं कि अन्तःकरण कर्म से शुद्ध होता है। महीधर का यह लेख

वस्तुतः अज्ञानपूर्ण है। वेद के भाष्यकार श्री महीधर को इतना भी ध्यान नहीं कि इस अध्याय में कर्मकाण्ड का भी वर्णन है; जिसे हम पहले दर्शा चुके हैं।

४. 'ईशावास्यमिदं सर्वं' की व्याख्या में श्री शंकराचार्य लिखते हैं—"ईशेन प्रत्यगात्मतया-हमेवेदं सर्वमिति, परमार्थसत्यरूपेणानृतमिदं सर्वं चराचरमाच्छादनीयं स्वेन परमात्मना।"

अर्थ—प्रत्येक का आत्मा होने से, परमार्थ सत्य स्वरूप से मैं ही यह सब कुछ हूँ, और यह सब चराचर अनृत है, जो मुझ खुद परमात्मा से आच्छादनीय है।

समीक्षा—यहाँ मन्त्र में त्रैतवाद का स्पष्ट उल्लेख है। ईश्वर, उससे आच्छादित यह सब जगत् और उसका त्याग पूर्वक भोक्ता जीव। किन्तु श्री शंकराचार्य अपने जीव-ब्रह्म की एकता के सिद्धान्त के दुराग्रह में वेदार्थ का गला घोट रहे हैं। जो व्यक्ति यथार्थवाद को छोड़ कर हठवाद को स्वीकार करता है उसे पदे पदे ठोकरें खानी पड़ती हैं। यहाँ श्री शंकराचार्य एक ही वाक्य में 'अहमिदं सर्वम्' मैं (ब्रह्म) ही यह सब कुछ है तथा 'अनृतमिदं सर्वं चराचरम्' अर्थात् यह सब चराचर जगत् अनृत है; ऐसा लिख रहे हैं। यह सब कुछ ब्रह्म है, और यह सब कुछ चराचर जगत् अनृत है। कैसा बुद्धि पूर्वक लेख है! ब्रह्म को ही अनृत बना बैठे! यह सब हठ एवं दुराग्रह का परिणाम नहीं तो और क्या है?

५. 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इस मन्त्रखण्ड की व्याख्या में श्री शंकराचार्य लिखते हैं—भुञ्जीथाः =पालयेथाः।

समीक्षा—धातु है—'भुज पालनाभ्यवहारयोः'। भुज धातु के पालन और अभ्यवहार दो अर्थ हैं। 'भुजोऽनवने' (अ० १।३।६६) इस पाणिनीय सूत्र के नियम से अभ्यवहार (खाना-पीना) अर्थ में आत्मनेपद होता है और पालन अर्थ में परस्मैपद होता है। 'भुञ्जीथाः' प्रयोग आत्मनेपद में है; परस्मैपद में नहीं। अतः 'भुञ्जीथाः' पद का 'पालयेथाः' (पालन कर) अर्थ व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है। यहाँ इससे बढ़कर और आश्चर्य यह है कि 'कर्म-त्याग से आत्मा का पालन कर,' यह वेदार्थ किया गया है। कर्म-त्याग से आत्मा का पालन कैसे सम्भव है? श्री शंकराचार्य जी ही बतला सकते हैं।

दीर्घतमाः। **आत्मा**=परमात्मा। भुरिगनुष्टुप्। धैवतः॥

अथ वैदिककर्मणः प्राधान्यमुच्यते।

अब वैदिक कर्म की प्रधानता का उपदेश किया जाता है॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ २॥

पदार्थः—(**कुर्वन्**) (**एव**) (**इह**) अस्मिन् संसारे (**कर्माणि**) धर्म्याणि वेदोक्तानि निष्काम-कृत्यानि (**जिजीविषेत्**) जीवितुमिच्छेत् (**शतम्**) (**समाः**) संवत्सरान् (**एवम्**) अमुना प्रकारेण (**त्वयि**) (**न**) निषेधे (**अन्यथा**) (**इतः**) अस्मात् प्रकारात् (**अस्ति**) भवति (**न**) निषेधे (**कर्म**) अधर्म्यमवैदिकं मनोऽर्थसम्बन्धिकर्म (**लिप्यते**) (**नरे**) नयनकर्त्तरि॥ २॥

अन्वयः—मनुष्य इह कर्माणि कुर्वन्नेव शतं समा जिजीविषेदेवं धर्म्ये कर्मणि प्रवर्त्तमाने त्वयि नरे न कर्म लिप्यते, इतोऽन्यथा नास्ति लेपाभावः॥ २॥

सपदार्थान्वयः—मनुष्य **इह** अस्मिन् संसारे **कर्माणि** धर्म्याणि वेदोक्तानि निष्काम-कृत्यानि **कुर्वन्नेव शतं समाः** संवत्सरान् **जिजीविषेत्** जीवितुमिच्छेत् ।

एवम् अमुना प्रकारेण **धर्म्ये कर्मणि प्रवर्त्तमाने त्वयि नरे** नयनकर्त्तरि **न—कर्म** अधर्म्यमवैदिकं मनोरथसम्बन्धिकर्म **लिप्यते ।**

इतः अस्मात् प्रकाराद् **अन्यथा नास्ति** न भवति **लेपाभावः** ।। ४० । २ ।।

भाषार्थ—मनुष्य (इह) इस संसार में (कर्माणि) धर्मयुक्त, वेदोक्त, निष्काम-कर्मों को (कुर्वन्नेव) करता हुआ ही (शतम्) सौ (समाः) वर्ष (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे ।

(एवम्) इस प्रकार से धर्मयुक्त कर्म में लगे हुए (त्वयि) तुझ (नरे) व्यवहारों के नायक नर में (कर्म) अपने मनोरथ से किए अधर्म युक्त, अवैदिक कर्म का (न लिप्यते) लेप नहीं रहता है ।

(इतः) इस वेदोक्त प्रकार से भिन्न (अन्यथा) अन्य प्रकार से कर्म के लेप का अभाव (न) नहीं (अस्ति) है ।। ४० । २ ।।

भावार्थः—मनुष्या आलस्यं विहाय सर्वस्य द्रष्टारं न्यायाधीशं परमात्मानं कर्त्तुमर्हां तदाऽऽज्ञां च मत्वा शुभानि कर्माणि कुर्वन्तोऽशुभानि त्यजन्तो ब्रह्मचर्येण विद्यासुशिक्षे प्राप्योपस्थेन्द्रियनिग्रहेण वीर्यमुन्नीयाऽल्पमृत्युं घ्नन्तु, युक्ताऽऽहारविहारेण च शतवार्षिकमायुः प्राप्नुवन्तु ।

यथा यथा मनुष्याः सुकर्मसु चेष्टन्ते, तथा तथैव पापकर्मतो बुद्धिर्निवर्त्तते । विद्याऽऽयुः सुशीलता च वर्द्धते ।। ४० । २ ।।

भावार्थ—मनुष्य लोग आलस्य को छोड़ कर सबके द्रष्टा न्यायाधीश परमात्मा को, और आचरण करने योग्य उसकी आज्ञा को मानकर शुभ-कर्मों को करते हुए और अशुभ कर्मों को छोड़ते हुए, ब्रह्मचर्य के द्वारा विद्या और उत्तम-शिक्षा को प्राप्त करके उपस्थ-इन्द्रिय के संयम से वीर्य को बढ़ाकर, अल्पायु में मृत्यु को हटावें, और युक्त आहार-विहार से सौ वर्ष की आयु को प्राप्त करें ।

जैसे-जैसे मनुष्य श्रेष्ठ-कर्मों की ओर बढ़ते हैं, वैसे-वैसे ही पाप-कर्मों से उनकी बुद्धि हटने लगती है । जिसका फल यह होता है कि—विद्या, आयु और सुशीलता आदि गुणों की वृद्धि होती हैं ।। ४० । २ ।।

भा० पदार्थः—शतं समाः=शतवार्षिकमायुः । कर्म=पापकर्म न लिप्यते=निवर्त्तते ।।

भाष्यसार—वैदिक कर्म की प्रधानता—मनुष्य इस संसार में वैदिक निष्काम कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे । तात्पर्य यह है कि मनुष्य आलस्य को छोड़कर, सबके द्रष्टा, न्यायाधीश, परमात्मा को तथा आचरण करने योग्य उसकी आज्ञा को मानकर शुभ कर्म करता हुआ और अशुभ कर्मों को छोड़ता हुआ, ब्रह्मचर्य से विद्या और सुशिक्षा को प्राप्त करके, उपस्थेन्द्रिय के संयम से वीर्य को बढ़ाकर अल्पायु का विनाश करे । युक्त आहार-विहार से सौ वर्ष की आयु को प्राप्त करे ।

इस प्रकार से वैदिक (धर्मयुक्त) कर्म में प्रवृत्त होने से मनुष्य अपने मनोरथ से किये अवैदिक (अधर्मयुक्त) कर्म में लिप्त नहीं होता । जैसे-जैसे मनुष्य वैदिक कर्मों में प्रवृत्त होता है वैसे-वैसे पाप कर्म से उसकी बुद्धि निवृत्त होती जाती है । विद्या, आयु और सुशीलता बढ़ती है । इस प्रकार को छोड़कर कर्म में लेपाभाव का अन्य कोई प्रकार नहीं है ।। ४० । २ ।।

अन्यत्र व्याख्यात—जो परमेश्वर की पुरुषार्थ करने की इच्छा है, उसको जो कोई तोड़ेगा वह सुख कभी न पावेगा । जैसे कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः" (य० ४० । २)

परमेश्वर आज्ञा देता है कि मनुष्य सौ वर्ष पर्यन्त अर्थात् जब तक जीवे तब तक कर्म करता हुआ जीने की इच्छा करे, आलसी कभी न हो (सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास) ।। ४० । २ ।।

समीक्षा

१. यहाँ शंकराचार्य लिखते हैं—"कुर्वन्नेव इह निवर्तयन्नेव कर्माण्यग्निहोत्रादीनि जिजीविषेज्जीवितुमिच्छेच्छतं शतसंख्याकाः समाः संवत्सरान् । तावद्धि पुरुषस्य परमायुर्निरूपितम्" । अर्थ—इस लोक में अग्निहोत्रादि कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे। पुरुष की बड़ी से बड़ी आयु इतनी ही बतलाई गई है ।

समीक्षा—श्री शंकराचार्य जी का यह लेख वेद के विरुद्ध है कि पुरुष की बड़ी से बड़ी आयु सौ वर्ष की है। 'तच्चक्षुर्देवहितं०' (यजु० ३६ । २४) मन्त्र को हम प्रतिदिन प्रातः सायं सन्ध्या में पढ़ते हैं। इस मन्त्र में लिखा है—"भूयश्च शरदः शतात्' हम सौ वर्ष से अधिक देखें, जीवें, सुनें, उपदेश करें । 'त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् (यजु० ३ । ६२) यजुर्वेद के इस मन्त्र के अनुसार पुरुष की पूर्ण आयु ४०० वर्ष है। श्री शंकराचार्य जी का यह लेख प्रत्यक्ष प्रमाण के भी विरुद्ध है। आज भी अनेक पुरुष १०० वर्ष से अधिक आयु वाले विद्यमान हैं ।

२. यहां श्री शंकराचार्य जी लिखते हैं—"कथं पुनरिदमवगम्यते पूर्वेण संन्यासिनो ज्ञाननिष्ठोक्ता द्वितीयेन तदशक्तस्य कर्मनिष्ठेति, उच्यते—ज्ञानकर्मणोर्विरोधं पर्वतवदकम्प्यं यथोक्तं न स्मरसि किम् ? अर्थ—यह कैसे जाना जाता है कि पूर्व मन्त्र से संन्यासी की ज्ञाननिष्ठा का तथा द्वितीय मन्त्र से संन्यास में असमर्थ पुरुष की कर्मनिष्ठा का वर्णन किया गया है ? कहते हैं—क्या तुम्हें स्मरण नहीं है कि जैसे पहले कह चुके हैं कि ज्ञान और कर्म का विरोध पर्वत के समान अविचल है ।

समीक्षा—श्री शंकराचार्य जी इस अध्याय के प्रथम मन्त्र में संन्यासी के लिए ज्ञान का उपदेश और जो संन्यास ग्रहण करने में असमर्थ हैं उसके लिए दूसरे मन्त्र में कर्म का उपदेश बतला रहे हैं। इन दोनों मन्त्रों में उक्त उपदेश का लेश भी नहीं है। प्रथम मन्त्र में मनुष्य मात्र के लिए ईश्वर की सर्वव्यापकता, जगत् का त्यागपूर्वक (अनासक्ति) भोग और लोभ के परित्याग का उपदेश है और दूसरे मन्त्र में आजीवन यज्ञादि शुभ कर्मों के अनुष्ठान का उपदेश है। महान् आश्चर्य यह है कि श्री शंकराचार्य जी ने यहाँ ज्ञान और कर्म का विरोध बड़े ही गर्वपूर्ण शब्दों में लिखा है। जैसे पर्वत अचल हैं वैसे ही ज्ञान और कर्म का विरोध अचल है। ज्ञान और कर्म के विरोध को कोई हिला नहीं सकता। यहां श्री शंकराचार्य ज्ञान और कर्म के समुच्चय का खण्डन कर रहे हैं और इसी अध्याय में ज्ञान और कर्म के समुच्चय का उपदेश किया गया है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।। यजु० ४० । १४ ।।

अर्थ—जो विद्या (ज्ञान) और अविद्या (कर्म) को साथ-साथ जान लेता है वह अविद्या (शुभकर्म) से मृत्यु को पार करके विद्या (ज्ञान) से अमृत को प्राप्त करता है। ज्ञान के विना कर्म और कर्म के विना ज्ञान दोनों परस्पर अधूरे हैं। ज्ञानपूर्वक कर्मानुष्ठान सर्वांगपूर्ण है। क्या श्री शंकराचार्य के अनुयायी बतलाने का कष्ट करेंगे कि कर्म के विना ज्ञान का क्या उपयोग है ? और विना ज्ञान के किया हुआ कर्म क्या उन्मत्त (पागल) के तुल्य नहीं है ।

३. इस मन्त्र की व्याख्या में ब्र० जगदीश विद्यार्थी लिखते हैं—"जो मनुष्य निठल्ले और निकम्मे होते हैं उन्हें ईश्वर शीघ्र ही अपने समीप बुला लेते हैं" ।

समीक्षा—श्री विद्यार्थी जी ने 'कुर्वन्नेव हि कर्माणि' इस मन्त्रांश का अभिप्राय पुरुषार्थ करना लिया है। जो पुरुषार्थ नहीं करते उन्हें ईश्वर शीघ्र ही अपने पास बुला लेते हैं। अर्थापत्ति से यह आया कि जो पुरुषार्थ करते हैं उन्हें ईश्वर अपने पास शीघ्र नहीं बुलाते। श्री विद्यार्थी जी का यह लेख कितना भ्रान्तिपूर्ण है कि जीव और ईश्वर पृथक्-पृथक् देश में स्थित हैं जहाँ से वे आलसी जनों को अपने पास बुला लेते हैं। पुरुषार्थी जन वहीं पुरुषार्थ करते रहते हैं। पुरुषार्थी से आलसी अच्छे हुए जो ईश्वर के पास जल्दी पहुँच जाते हैं। ईश्वर सर्वव्यापक है। बुलाने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। साधारण मनुष्य और ऋषियों की भाषा में यही महान् अन्तर है कि साधारण मनुष्य की भाषा भ्रान्तियुक्त होकर अनर्थ का कारण बनती है और ऋषियों की भाषा भ्रान्ति को दूर करके सत्य पथ का प्रदर्शन करती है।

४. श्री ब्र० जगदीश विद्यार्थी ने इस मन्त्र की व्याख्या में 'समाः' पद के चार अर्थ किए हैं। जो इस प्रकार हैं—१–समाः=गड़बड़ रहित उलझन रहित (कर्म)। २–स=सहित 'मा माने' निर्माणात्मक कर्मों के साथ ३–समाः=स=सहित, मा=लक्ष्मी। शोभायुक्त कर्म। ४–स=सहित, मा=माता, विश्वजनीन माता। (ईशोपनिषद् पृ० ६६-६८)।

समीक्षा—आजकल वेदार्थ ज्ञान से शून्य कुछ एक विद्वान् वेदार्थ के साथ बड़ा अनर्थ कर रहे हैं। वे मन्त्र के किसी एक पद को लेकर मनोवांछित विधि से उसे तोड़-मोड़ कर अर्थ करते रहते हैं। एक पद को इस प्रकार तोड़ने मोड़ने से शेष मन्त्र पर क्या प्रभाव पड़ेगा, इस बात का उन्हें कोई ज्ञान नहीं अथवा कोई ध्यान नहीं। इसी तथ्य का यह बड़ा सुन्दर उदाहरण श्री विद्यार्थी जी ने अपने ईशोपनिषद् व्याख्या में प्रस्तुत किया है।

(क)—श्री विद्यार्थी जी ने 'समाः' पद को यहां 'कर्माणि' पद का विशेषण मानकर पहले तीन अर्थ किये हैं। उन्हें इतना भी ज्ञान नहीं कि 'समाः' पद स्त्रीलिङ्ग बहुवचन है और 'कर्माणि' नपुंसक बहुवचन है। ये दोनों परस्पर विशेषण और विशेष्य नहीं हो सकते। और जब 'समाः' पद 'कर्माणि' पद का विशेषण बन जायेगा तब मन्त्र में 'वर्ष' अर्थ को बतलाने वाला कोई पद नहीं रहेगा। मन्त्रार्थ अधूरा रह जायेगा।

श्री विद्यार्थी जी 'समाः' विशेषण से जो अर्थ प्रकट करना चाहते हैं, वे सब अर्थ 'कर्माणि' पद में आ जाते हैं। कर्माणि पद का महर्षि ने— धर्म्याणि वेदोक्तानि निष्कामकृत्यानि' [धर्मयुक्त, वेदोक्त, निष्काम कर्म] अर्थ किया है। इसमें सब शुभ कर्मों का उल्लेख है। 'समाः' विशेषण से तीन अर्थ बतलाने पर भी सब शुभ कर्मों का उल्लेख नहीं हो पाया। विशेषण मानने से कर्म का अर्थ केवल उतने में ही सीमित हो गया। जैसे काला घोड़ा कहने पर घोड़ा पद का अर्थ सीमित हो जाता है। श्री विद्यार्थी जी मन्त्र का विस्तृत अर्थ करने चले थे, और मन्त्रार्थ को संकुचित कर बैठे।

(ख) ईशोपनिषद् की अनेक व्याख्याएँ मेरे सामने हैं। उनमें प्रायः एक दोष यह भी दृष्टिगोचर हो रहा है कि वे पदार्थ एवं शब्दार्थ कुछ करते हैं और भावार्थ लिखते समय भाव के प्रवाह में बह जाते हैं। पदार्थ को सर्वथा भूल जाते हैं। वेदार्थ की यह रीति नहीं है! जैसे श्री विद्यार्थी जी ने यहां 'शतं समाः' पदों का शब्दार्थ में सौ वर्ष अर्थ किया है किन्तु भावार्थ लिखते समय 'समाः' पद के उक्त चार मनोवांछित और अप्रामाणिक अर्थ कर डाले।

(ग) श्री विद्यार्थी जी ने 'समाः' पद का चौथा अर्थ बड़ा ही निराला किया है। समाः=विश्व-जनीन माता। अब इस चौथे अर्थ में 'समाः' पद 'कर्माणि' का भी विशेषण नहीं रहा। और ही कुछ

निराला अर्थ बतलाने लगा। 'समाः' शब्द संस्कृत में माता अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता। श्री विद्यार्थी जी का यह अपना मनोवांछित अर्थ है, जो अप्रामाणिक है। और इस अर्थ में भी वही उक्त दोष है कि जब 'समाः' पद का अर्थ विश्वजनीन माता हो गया। तब वर्ष अर्थ के लिए कोई पद नहीं रहेगा। एक वाक्य में एक पद एक ही अर्थ का प्रकाशक होता है। यह नहीं हो सकता कि एक ही वाक्य में 'समाः' पद वर्ष अर्थ का भी बोधक हो तथा अन्य भी अनेक अर्थों को प्रकाशित करे। यदि कोई विद्वान् किसी पद का नवीन अर्थ प्रकाशित करता है तो उसे उसको अपने अर्थ को पुष्टि में निघण्टु, निरुक्त एवं व्याकरण आदि का प्रमाण अवश्य देना चाहिए। विना प्रमाण के किया हुआ अर्थ अप्रामाणिक ही माना जायेगा।

५. 'नरे' पद की व्याख्या में श्री पं० सातवलेकर जी लिखते हैं—नरः=(न रमते) जो भोगों में रमता नहीं वह (ईशोपनिषद् पृ० ५८)।

समीक्षा—निरुक्त की पद्धति से विद्वान् वेद के पदों का निर्वचन करने का प्रयास करते हैं। जैसे कि यहां क्लिष्ट कल्पना करके 'रम' धातु से 'नरः' पद का निर्वचन किया गया है। 'अर्थनित्यः परीक्षेत' इस निरुक्त-वचन के अनुसार प्रकृत अर्थ का पूरा विचार नहीं करते। यहाँ शुभ कर्मों के आचरण का एवं शुभ कर्मों को प्राप्त करने का प्रकरण है। अतः महर्षि दयानन्द ने यहां 'नरः' पद का नृ धातु से निर्वचन किया है—नरे=नयनकर्त्तरि। जिसका अर्थ है शुभ कर्मों को प्राप्त करने वाले नर में अशुभ कर्मों का लेप नहीं रहता। जो नर शुभ कर्मों को प्राप्त नहीं होता वह अशुभ कर्मों में लिप्त रहता है। यहाँ भोगों में फंसने का कोई प्रकरण नहीं है; अतः 'नरः' पद का रम धातु से निर्वचन करना अप्रासङ्गिक है।

श्री पं० सातवलेकर जी का ही अन्धानुकरण करते हुए श्री पं० हरिशरण जी सिद्धान्तालंकार तथा उनके शिष्य श्री ब्र० जगदीशचन्द्र जी विद्यार्थी ने भी 'नरे' पद का 'न रमते' यह निर्वचन स्वीकार किया है और तदनुसार ही व्याख्या की है। महर्षि के सुसंगत अर्थ का आदर नहीं किया। नवीन अर्थ करने की जो धुन हुई। नकल करते समय अकल से भी काम लेना चाहिए।

६. श्री पं० हरिशरण जी सिद्धान्तालंकार इस मन्त्र की व्याख्या में लिखते हैं—'मैं पापी हो जाऊँगा—कर्म मुझे बांध लेंगे', इस अज्ञान को नष्ट करके यह व्यक्ति 'दीर्घतमाः' बना है। (ईशोपनिषद् पृ० ६)।

समीक्षा—कुछ एक आर्य विद्वानों का ऐसा मत है कि मन्त्र का ऋषि भी मन्त्रार्थ में सहायक होता है। वे मन्त्र के ऋषि का निर्वचन करते हैं और निर्वचन में जो अर्थ प्रकट होता है उसे मन्त्रार्थ में संगत करने का प्रयास करते हैं। इस ४०वें अध्याय का ऋषि 'दीर्घतमाः' है। श्री सिद्धान्तालंकार जी ने अपने ईशोपनिषद् की व्याख्या में प्रथम दो मन्त्रों में ही 'दीर्घतमाः' ऋषि के अर्थ को मन्त्रार्थ में घटाने का असफल प्रयास किया है। 'दीर्घतमाः' पद का शाब्दिक अर्थ तो विस्तृत अन्धकार वाला है। मन्त्र में अर्थ को घटाने के लिए ऋषि पद का भी अर्थ बदलना पड़ा। 'दीर्घतमाः' को 'दीर्णतमाः' बनाना पड़ा और तत्पश्चात् अन्धकार को विदीर्ण करने वाला अर्थ किया। मिथ्या सिद्धान्त को मानकर चलने से यही दुरवस्था होती है।

कुछ एक विद्वान् इस अध्याय का ऋषि 'दध्यङ् आथर्वण' मानते हैं। श्री सिद्धान्तालंकार जी ने केवल प्रथम दो मन्त्रों में ही इस अध्याय के दूसरे ऋषि का भी अर्थ मन्त्रार्थ में घटाने का असफल प्रयास किया है। श्री सिद्धान्तालंकार जी को इस पथ में इतनी कठिनाई पड़ी कि दो मन्त्रों से आगे 'दीर्घतमाः' ऋषि के अर्थ को नहीं निभा सके। और इन दो मन्त्रों में भी फिट बैठाया हुआ ऋषि पद का अर्थ

लड़खड़ा रहा है। "सदा अपने लक्ष्य को आँख से ओझल न करने के कारण यह 'दध्यङ्' है। फलासक्ति न रहने से यह डावांडोल नहीं होता सो आथर्वण हो गया है" (ईशोपनिषद् पृ० ६)। मन्त्र में शुभ कर्मों के अनुष्ठान का उपदेश है। लक्ष्य का आँखों से ओझल न होना तथा डावांडोल न होने का कोई वर्णन नहीं। यह सब केवल कल्पना मात्र है। वास्तविकता का इसमें लेश भी नहीं। यह वेदार्थ के साथ अनर्थ नहीं तो और क्या है ?

महर्षि दयानन्द मन्त्रों के ऋषियों को ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं। वे महाशय महर्षि लोग उन उन मन्त्रों के अर्थ-प्रकाशक थे। उनका नाम उनके द्वारा प्रकाशित अर्थ वाले मन्त्रों के साथ आज तक उनकी स्मृति में लिखा आता है। मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय के साथ मन्त्र के ऋषि का कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि श्री माननीय सिद्धान्तालंकार जी महर्षि द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त को स्वीकार करते तो ईशोपनिषद् की व्याख्या में ऐसी दुर्दशा कदापि नहीं होती ॥ ४० । २ ॥

दीर्घतमाः । **आत्मा**=स्पष्टम् । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

अथात्महन्तारो जनाः कीदृशा इत्याह ॥

अब आत्मा के हननकर्त्ता अर्थात् आत्मा के विरुद्ध आचरण करने वाले जन कैसे होते हैं, यह उपदेश किया है ॥

असुर्य्या नाम ते लोकाऽअन्धेन तमसावृताः ।
ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ ३ ॥

पदार्थः—(**असुर्य्याः**) असुराणां=प्राणपोषणतत्पराणामविद्यादियुक्तानामिमे सम्बन्धिनस्तत्सदृशः पापकर्माणः (**नाम**) प्रसिद्धौ (**ते**) (**लोकाः**) लोकन्ते=पश्यन्ति ते जनाः (**अन्धेन**) अन्धकाररूपेण (**तमसा**) अत्यावरकेण (**आवृताः**) समन्ताद्युक्ता=आच्छादिताः (**तान्**) दुःखान्धकारावृतान् भोगान् (**ते**) (**प्रेत्य**) मरणं प्राप्य (**अपि**) जीवन्तोऽपि (**गच्छन्ति**) प्राप्नुवन्ति (**ये**) (**के**) (**च**) (**आत्महनः**) य आत्मानं घ्नन्ति=तद्विरुद्धमाचरन्ति ते (**जनाः**) मनुष्याः ॥ ३ ॥

अन्वयः—ये लोका अन्धेन तमसावृता ये के चात्महनो जनाः सन्ति तेऽसुर्य्या नाम, ते प्रेत्यापि तान् गच्छन्ति ॥ ३ ॥

सपदार्थान्वयः—**ये लोकाः** लोकन्ते=पश्यन्ति ते जनाः **अन्धेन** अन्धकाररूपेण **तमसा** अत्यावरकेण **आवृताः** समन्ताद्युक्ता=आच्छादिताः **ये के चात्महनः** य आत्मानं घ्नन्ति=तद्विरुद्धमाचरन्ति ते **जनाः** मनुष्याः **सन्ति तेऽसुर्य्याः** असुराणां = प्राणपोषणतत्पराणामविद्यादियुक्तानामिमे सम्बन्धिनस्तत्सदृशः पापकर्माणः **नाम** प्रसिद्धाः; **ते प्रेत्य** मरणं प्राप्य **अपि** जीवन्तोऽपि **तान्** दुःखान्धकारावृतान् भोगान् **गच्छन्ति** प्राप्नुवन्ति ॥ ४० । ३ ॥

भाषार्थ—जो (लोकाः) लोग (अन्धेन) अन्धकाररूप (तमसा) अज्ञान के आवरण से (आवृताः) सब ओर से ढके हुए (ये, के, च) और जो कोई (आत्महनः) आत्मा के विरुद्ध आचरण करने हारे (जनाः) मनुष्य हैं; (ते) वे (असुर्याः) अपने प्राणपोषण में तत्पर, अविद्या आदि दोषों से युक्त लोगों एवं उनके सम्बन्धियों के सदृश पाप कर्म करने वाले (नाम) प्रसिद्ध हैं, (ते) वे (प्रेत्य) मरने के पीछे (अपि) और जीते हुए भी (तान्) उन दुःख अज्ञान रूप अन्धकार से युक्त भोगों को (गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं ॥ ४० । ३ ॥

भावार्थः—त एव असुरा, दैत्या, राक्षसाः, पिशाचा, दुष्टा मनुष्या य आत्मन्यन्यद्वाच्यन्यत्कर्मण्यन्यदाचरन्ति । ते न कदाचिदविद्यादुःखसागरादुत्तीर्याऽऽनन्दं प्राप्तुं शक्नुवन्ति ।

ये च यदात्मना तन्मनसा, यन्मनसा तद्वाचा, यद्वाचा तत्कर्मणाऽनुतिष्ठन्ति; त एव देवा, आर्याः, सौभाग्यवन्तोऽखिलजगत्पवित्रयन्त इहाऽमुत्राऽतुलं सुखमश्नुवते ॥ ४० । ३ ॥

भावार्थ—वे ही मनुष्य असुर, दैत्य, राक्षस, पिशाच एवं दुष्ट हैं; जो आत्मा में और वाणी में और तथा कर्म में कुछ और ही करते हैं। वे कभी अविद्या रूप दुःखसागर से पार होकर आनन्द को नहीं प्राप्त कर सकते।

और जो लोग जो आत्मा में सो मन में, जो मन में सो वाणी में, जो वाणी में सो कर्म में कपटरहित आचरण करते हैं; वे ही देव, आर्य, सौभाग्यवान् जन सब जगत् को पवित्र करते हुए इस लोक तथा परलोक में अनुपम सुख को प्राप्त करते हैं ॥ ४० । ३ ॥

भा० पदार्थः—आत्महनः=आत्मन्यन्यद्वाच्यन्यत्कर्मण्यन्यदाचरणकर्त्तारः । गच्छन्ति=प्राप्तुं शक्नुवन्ति ॥

भाष्यसार—**आत्महन्ता लोग कैसे होते हैं**—जो लोग अन्धकार रूप अज्ञान के आवरण से आच्छादित हैं; सब ओर से ढके हुए हैं; और जो आत्मा के विरुद्ध आचरण करने वाले हैं, वे आत्महन्ता कहलाते हैं। वे ही असुर अर्थात् प्राण-पोषण में तत्पर, अविद्यादि दोषों से युक्त, पापकर्म करने वाले हैं। जो आत्मा में और, वाणी में और तथा कर्म में और ही आचरण करते हैं, वे ही असुर, दैत्य, राक्षस, पिशाच और दुष्ट मनुष्य हैं। वे मर कर तथा जीते हुए भी दुःख एवं अन्धकार से युक्त भोगों को प्राप्त होते हैं। वे कभी भी अविद्या रूप दुःखसागर से पार होकर आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकते।

इसके विपरीत—जो मनुष्य जो आत्मा में सो मन में, जो मन में सो वाणी में, जो वाणी में सो कर्म में निष्कपट भाव से आचरण करते हैं; वे ही देव, आर्य, सौभाग्यशाली, सकल, जगत् को पवित्र करने वाले होते हैं; जो इस लोक और परलोक में अतुल सुख को प्राप्त करते हैं ॥ ४० । ३ ॥

अन्यत्र व्याख्यात— (ये) जो (आत्महनः) आत्महत्यारे अर्थात् आत्मस्थ ज्ञान से विरुद्ध कहने, मानने और करने हारे हैं (ते) वे ही (लोकाः) लोग (असुर्या नाम) असुर अर्थात् दैत्य, राक्षस नाम वाले मनुष्य हैं; और वे ही (अन्धेन तमसावृताः) बड़े अधर्म रूप अन्धकार से युक्त होके जीते हुए और मरण को प्राप्त होकर (तान्) दुःखदायक देहादि पदार्थों को (अभिगच्छन्ति) सर्वथा प्राप्त होते हैं; और जो आत्मरक्षक अर्थात् आत्मा के अनुकूल ही कहते, मानते और आचरण करते हैं; वे मनुष्य विद्यारूप शुद्ध प्रकाश से युक्त होकर देव अर्थात् विद्वान् नाम से प्रख्यात हैं। वे ही सर्वदा सुख को प्राप्त होकर मरने के पीछे भी आनन्द युक्त देहादि पदार्थों को प्राप्त होते हैं (व्यवहारभानु) ॥

समीक्षा

१. यहाँ श्री शंकराचार्य जी लिखते हैं—"असुर्याः परमात्मभावमद्वयमपेक्ष्य देवादयोऽप्यसुराः" **अर्थ**—अद्वय (एक) परमात्मभाव की अपेक्षा से देवता आदि भी असुर ही हैं। (ईशोपनिषद् पृ० २०)

समीक्षा—श्री शंकराचार्य जी का सिद्धान्त है कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह सब ब्रह्म है। अतः उन्होंने यह लिखा है कि एक परमात्मा की दृष्टि से देव (विद्वान्) आदि भी असुर हैं। श्री शंकराचार्य जी की इसी युक्ति से असुर भी देव हैं। फिर देव और असुर में क्या भेद रहा। क्या ही अद्भुत भाष्य किया है? ब्रह्म को भी असुर बना बैठे। देव भी असुर और असुर भी देव। गुड़ और

गोबर सब एक कर डाला। यह सब जीव-ब्रह्म की एकता के अवैदिक सिद्धान्त को शिर पर रखने का फल है।

२. 'लोकाः' शब्द की व्याख्या में श्री शंकराचार्य जी लिखते हैं— ते लोकाः कर्मफलानि, लोक्यन्ते=दृश्यन्ते=भुज्यन्त इति जन्मानि। अर्थात् लोक शब्द का अर्थ कर्मफल तथा जन्म है।

समीक्षा—यहाँ श्री शंकराचार्य जी ने लोक शब्द के दो अर्थ दर्शाये हैं। पहला कर्मफल और दूसरा जन्म। 'लोक' शब्द 'लोकृ दर्शने' धातु से बनता है किन्तु श्री शंकराचार्य जी ने अपने अर्थ की कल्पना में धातु का अर्थ ही बदल डाला है। 'लोकृ' धातु का अर्थ देखना है; भोगना नहीं। यदि इसी प्रकार से धातुओं के अर्थ को बदल कर अपने मनचाहे अर्थ करने हैं तो किसी भी धातु का कुछ भी अर्थ किया जा सकता है। इससे धात्वर्थ स्थिर नहीं रह सकता। अतः श्री शंकराचार्य जी का अर्थ कल्पित होने से अशुद्ध है। यह अर्थ मन्त्रार्थ में भी संगत नहीं होता। असुर नामक कर्मफल कोई नहीं है। देव और असुर तो मनुष्य जाति के भेद हैं।

श्री शंकराचार्य जी यहाँ कर्म-फल का सिद्धान्त स्वीकार कर रहे हैं। इस सिद्धान्त को मान लेने पर श्री शंकराचार्य जी द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद का सिद्धान्त खड़ा नहीं रह सकता। कर्म-फल मानने पर आत्मा की सत्ता को स्वीकार करना होगा, जो कर्मफलों को भोगता है। श्री शंकराचार्य जी कल्पित अर्थ करते हुए अपने प्रिय सिद्धान्त को भी छोड़ बैठे।

३. श्री उवट लिखते हैं—ये के चात्महनो जनाः—आत्मानं घ्नन्ति ये जनाः ते आत्महनः। आत्मानं च ते घ्नन्ति ये स्वर्गप्राप्तिहेतूनि कर्माणि कुर्वन्ति। **अर्थ**—जो लोग आत्मा का हनन करते हैं वे 'आत्महन्' कहलाते हैं। और आत्मा का हनन वे लोग करते हैं जो स्वर्गप्राप्ति के निमित्त कर्म करते हैं।

समीक्षा—श्री शंकराचार्य जी के तुल्य उवट और महीधर ने भी 'देवा असुराः' देवों को असुर कहा है। 'स्वर्गकामो यजेत' के अनुसार स्वर्ग की कामना से यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान देव लोग करते हैं। श्री शंकराचार्य जी तथा उवट और महीधर की दृष्टि में वे असुर हैं। स्वर्गप्राप्ति के लिए जो यज्ञादि कर्म करते हैं वे आत्मघाती हैं। क्या ही अद्भुत भाष्य किया है! जब यज्ञादि शुभ कर्म करने वाले लोग असुर एवं आत्मघाती हैं तो देवता कौन हैं?

४. श्री पं० सातवलेकर जी लिखते हैं—यह असुर शब्द वेद में आत्मा, परमात्मा, ईश्वर का वाचक है। अतः उनकी जो प्राणशक्ति हैं, उनका नाम असुर्य है। प्राणियों को प्राणशक्ति देने वाले देव की प्राणशक्ति—यह इसका अर्थ है। (ईशोपनिषद् पृ० ५६)

समीक्षा—यहाँ श्री पं० सातवलेकर जी ने वेद के अनुसार असुर शब्द का अर्थ आत्मा, परमात्मा और ईश्वर बतलाया है। परमात्मा और ईश्वर में क्या अन्तर है यह विचारणीय है। इन दोनों में से एक पद लिखना ही पर्याप्त था। आत्मा का तो प्राणशक्ति से सम्बन्ध ठीक है किन्तु परमात्मा का प्राण-शक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं। जीवात्मा का ही प्राण से सम्बन्ध होता है ईश्वर से नहीं। यदि दुर्जनतोष न्याय से यह अर्थ मान भी लिया जाए तब भी मन्त्रार्थ में संगत नहीं होता। असुर्य अर्थात् ईश्वर की प्राणशक्ति अत्यन्त अन्धकार से आवृत है। यह कोई वेदार्थ नहीं।

(क)—श्री पण्डित सातवलेकर जी 'लोकाः' पद के अर्थ में भी अस्पष्ट हैं। एक स्थान पर लिखते हैं—'असुर्या नाम ते लोकाः' बल के लिए प्रसिद्ध ऐसे वे लोग। दूसरे स्थान पर लिखते हैं—'असुर्या नाम ते लोकाः, केवल जो शारीरिक बल के लिए प्रसिद्ध हैं ऐसे जो लोक हैं। यहाँ 'लोकाः' पद का अर्थ

लोग है अथवा लोक यह श्री सातवलेकर जी के भाष्य में अस्पष्ट है। शारीरिक बल के लिए प्रसिद्ध लोक विशेष कोई नहीं है।

महर्षि दयानन्द के भाष्य में मन्त्र का अर्थ अत्यन्त स्पष्ट है। मनुष्य जाति के दो भेद हैं देव और असुर। इस मन्त्र में असुर लोगों का वर्णन है। जो लोग घोर अन्धकार से आवृत हैं एवं जो आत्महन् लोग आत्मा के विरुद्ध आचरण करते हैं वे असुर कहलाते हैं। वे मृत्यु के उपरान्त भी असुरत्व को प्राप्त होते हैं।

५. इस सरल मन्त्र के अत्यन्त स्पष्ट अभिप्राय को विद्वान् लोग नहीं समझ सके और मन्त्रगत 'लोकाः' पद को देखकर अनेक विद्वान् भ्रान्त हो गये। असुर-लोक की कल्पना कर बैठे। जैसे कि श्री पण्डित हरिशरण जी सिद्धान्तालंकार लिख रहे हैं—(ते लोकाः) जो लोक के (असुर्या नाम) असुरों के लिए हितकर होने से 'असुर्य' इस नाम वाले हैं। श्री सिद्धान्तालंकार जी अपने अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए आगे लिखते हैं—"**ते लोकाः**" वे लोक **'असुर्या नाम'** असुर्य (असुरों के लिए हितकर) इस नाम वाले हैं। ये लोक **'अन्धेन तमसा'** घने अन्धकार से **'आवृताः'** आच्छादित हैं। इन लोकों में प्रकाश नहीं। पशु देखते हैं (पश्यन्ति) समझते थोड़े ही हैं (ईशोपनिषद् पृ० ८)॥

समीक्षा—श्री सिद्धान्तालंकार जी के उल्लिखित लेख से उनका अभिप्राय स्पष्ट हो गया कि 'असुर्या नाम ते लोकाः' का अर्थ यह है कि पशु योनियाँ असुर्य लोक हैं। क्या श्री सिद्धान्तलंकार जी इतना भी नहीं जानते कि देव और असुर मनुष्य जाति के भेद हैं पशु जाति के नहीं। श्री सिद्धान्तालंकार जी बतलाने का कष्ट करें कि पशुओं को असुर किस प्रामाणिक ग्रन्थ में बतलाया गया है। और साथ-साथ श्री सिद्धान्तालंकार जी पशु योनि को असुरों के लिए हितकारी बतला रहे हैं। यहाँ असुरों से अभिप्राय मनुष्य जाति से है अथवा पशु जाति से ? यदि यहाँ मनुष्य जाति से अभिप्राय है तो असुर्य लोक का अर्थ मनुष्य जाति भी मानना होगा। यदि कहो पशु जाति से अभिप्राय है तो वह असुरों (पशुओं) के लिए कैसे हितकारी है ?

६. यहाँ श्री सिद्धान्तालंकार जी ने मन्त्र में 'प्रेत्यापि गच्छन्ति' पाठ स्वीकार किया है और पदार्थ में "प्रेत्य अभिगच्छन्ति" पाठ का उल्लेख किया है। वेद का पाठ—'प्रेत्यापि गच्छन्ति' है। उपनिषद् का पाठ प्रेत्याभिगच्छन्ति है श्री सिद्धान्तालंकार जी ने दोनों पाठों को मिला दिया है। श्री सिद्धान्तालंकार जी ने वेद के 'अपि' पद पर कोई ध्यान नहीं दिया। 'अपि' पद इस मन्त्र में बहुत महत्त्वपूर्ण है। आत्मघाती (आत्मा के विरुद्ध आचरण करने वाले) लोग 'प्रेत्यापि' मरने के उपरान्त भी असुरत्व को प्राप्त होते हैं। इसका अभिप्राय अत्यन्त स्पष्ट है कि यहाँ पशु जाति का कोई वर्णन नहीं है। आत्मा के विरुद्ध आचरण करने वाले असुरों (मनुष्य जाति) का ही वर्णन है। वे इस लोक में और परलोक में भी घोर अन्धकार से आवृत=आच्छादित रहते हैं। मन्त्र के 'अपि' पद की ओर ध्यान न देने से श्री ब्र० जगदीश विद्यार्थी आदि अनेक भाष्यकार भ्रान्त हुए हैं और 'असुर्या नाम ते लोकाः' का अभिप्राय पशु योनि समझकर व्याख्याएँ की हैं। वे मन्त्रगत 'अपि' पद के साथ असंगत होने से अप्रामाणिक हैं॥ ४०। ३॥ ●

दीर्घतमाः। **ब्रह्म**=स्पष्टम्। निचृत्त्रिष्टुप्। धैवतः॥

कीदृशो जन ईश्वरं साक्षात्करोतीत्याह॥

कैसा मनुष्य ईश्वर को साक्षात् करता है, यह उपदेश किया है॥

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा ऽ आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥ ४ ॥

पदार्थः—(**अनेजत्**) न एजते=कम्पते तदचलत्=स्वावस्थायाश्च्युतिः कम्पनं तद्रहितम् (**एकम्**) अद्वितीयं ब्रह्म (**मनसः**) मनोवेगात् (**जवीयः**) अतिशयेन वेगवत् (**न**) (**एनत्**) (**देवाः**) चक्षुरादीनीन्द्रियाणि वा (**आप्नुवन्**) प्राप्नुवन्ति (**पूर्वम्**) पुरःसरं पूर्णं (**अर्षत्**) गच्छत् (**धावतः**) विषयान् प्रति पततः (**अन्यान्**) स्वरूपाद्विलक्षणान्मनोवागिन्द्रियादीन् (**अति**) उल्लङ्घने (**एति**) प्राप्नोति=गच्छति (**तिष्ठत्**) स्वस्वरूपेण स्थिरं सत् (**तस्मिन्**) सर्वत्राऽभिव्याप्ते (**अपः**) कर्म क्रियां वा (**मातरिश्वा**) मातर्य्यन्तरिक्षे श्वसिति=प्राणान्धरति वायुस्तद्वद्वर्त्तमानो जीवः (**दधाति**) ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे विद्वांसो मनुष्याः ! यदेकमनेजन्मनसो जवीयः पूर्वमर्षद्ब्रह्माऽस्त्येनद्देवा नाप्नुवँस्तत्स्वयं तिष्ठत्सत्स्वानन्तव्याप्त्या धावतोऽन्यानत्येति तस्मिन्स्थिरे सर्वत्राभिव्याप्ते मातरिश्वा वायुरिव जीवोऽपो दधातीति विजानीत ॥ ४ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे विद्वांसो मनुष्याः ! यदेकम्** अद्वितीयं ब्रह्म **अनेजत्** न एजते=कम्पते तदचलत्=स्वावस्थायाश्च्युतिः कम्पनं तद्रहितं, **मनसः** मनोवेगात् **जवीयः** अतिशयेन वेगवत् **पूर्वं** पुरः सरं पूर्णम् **अर्षत्** गच्छत् **ब्रह्माऽस्त्येनद्देवाः** चक्षुरादीनीन्द्रियाणि वा **नाप्नुवन्** प्राप्नुवन्ति; **तत्स्वयं तिष्ठत्** स्वस्वरूपेण स्थिरं **सत् स्वानन्तव्याप्त्या धावतः** विषयान् प्रति पततः **अन्यान्** स्वस्वरूपाद्विलक्षणान्मनोवागिन्द्रियादीन् **अति+एति** उल्लङ्घ्य प्राप्नोति=गच्छति ।

तस्मिन्=स्थिरे सर्वत्राभिव्याप्ते मातरिश्वा=वायुरिव जीवः मातर्य्यन्तरिक्षे श्वसिति=प्राणान् धरति वायुस्तद्वद् वर्त्तमानो जीवः **अपः** कर्म क्रियां वा **दधातीति विजानीत** ॥ ४० । ४ ॥

भावार्थः—ब्रह्मणोऽनन्तत्वाद्यत्र यत्र मनो याति, तत्र तत्र पुरस्तादेवाऽभिव्याप्तमग्रस्थं ब्रह्म वर्त्तते; तद्विज्ञानं शुद्धेन मनसैव जायते । चक्षुरादिभिरविद्वद्भिश्च द्रष्टुमशक्यमस्ति । स्वयं निश्चलं सत् सर्वान् जीवान् नियमेन चालयति धरति च । तस्याऽतिसूक्ष्मत्वादतीन्द्रियत्वाद्धार्मिकस्य विदुषो योगिन एव साक्षात्कारो भवति, नेतरस्य ॥४०।४॥

भाषार्थ—हे विद्वान् मनुष्यो ! जो (एकम्) अद्वितीय ब्रह्म है, वह (अनेजत्) कम्पन रहित अर्थात् अपनी अवस्था-स्वरूप से कभी विचलित नहीं होता; वह (मनसः) मन के वेग से भी (जवीयः) अति वेगवान् (पूर्वम्) सब का अग्रणी, पूर्ण (अर्षत्) सर्वत्र मन से पहले पहुँचा हुआ ब्रह्म है । (एनत्) इस ब्रह्म को (देवाः) अविद्वान् अथवा चक्षु आदि इन्द्रियाँ (न) नहीं (आप्नुवन्) प्राप्त कर सकती हैं । (तत्) वह स्वयं (तिष्ठत्) अपने स्वरूप में स्थिर हुआ अपनी अनन्त व्यापकता से (धावतः) विषयों की ओर भागने वाले (अन्यान्) उसके अपने स्वरूप से भिन्न मन, वाणी, इन्द्रिय आदिकों को (अत्येति) प्राप्त नहीं होता ।

(तस्मिन्) उस सर्वत्र व्यापक स्थिर ब्रह्म में (मातरिश्वा) जैसे अन्तरिक्ष में वायु क्रियाशील रहता है वैसे ही जीव (उस ब्रह्म में) (अपः) कर्म वा क्रिया को धारण करता है, ऐसा जानो ॥४०।४॥

भावार्थ—ब्रह्म अनन्त है, अतः जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहाँ-वहाँ पहले से ही वह व्यापक एवं आगे-आगे स्थित है; उस ब्रह्म का ज्ञान शुद्ध मन से ही होता है । उसे चक्षु आदि इन्द्रियाँ और अविद्वान् लोग नहीं देख सकते । वह स्वयं स्थिर रहता हुआ सब जीवों को नियम में चलाता है और उनको धारण करता है उस ब्रह्म के अति

सूक्ष्म एवं अतीन्द्रिय होने से धार्मिक, विद्वान्, योगी को ही उसका साक्षात्कार होता है; अन्य को नहीं ॥ ४० । ४ ॥

भा० पदार्थः—अर्षत्=अग्रस्थं वर्त्तते । देवाः=विद्वांसश्चक्षुरादीनि च । आप्नुवन्=द्रष्टुं शक्नुवन्ति । अनेजत्=निश्चलं सत् ॥

भाष्यसार—कैसा मनुष्य ईश्वर का साक्षात्कार करता है—अद्वितीय ब्रह्म कम्पन रहित है अर्थात् अपने स्वरूप से कभी विचलित नहीं होता। वह मनोवेग से अधिक वेगवान् है अर्थात् ब्रह्म अनन्त है; जहाँ-जहाँ मन जाता है वहाँ-वहाँ ब्रह्म पहले से ही व्यापक है। उसका विशिष्ट ज्ञान शुद्ध मन से ही होता है। चक्षु आदि इन्द्रियाँ और अविद्वान् लोग उसका साक्षात्कार नहीं कर सकते; उसे प्राप्त नहीं कर सकते। वह अपने स्वरूप में स्थिर है। विषयों की ओर दौड़ने वाली, ब्रह्म के स्वरूप से भिन्न मन और वाणी आदि इन्द्रियों को वह अपनी अनन्त व्याप्ति से लांघ जाता है। वह स्वयं निश्चल है तथा सब जीवों को नियम से चलाता है और उन्हें धारण करता है। उस सर्वत्र व्याप्त तथा स्थिर ब्रह्म में जीव अपने कर्मों को स्थापित करता है। वह अति सूक्ष्म और अतीन्द्रिय है। धार्मिक विद्वान् योगी ही उसका साक्षात्कार करता है ॥ ४० । ४ ॥

अन्यत्र व्याख्यात—"नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् (य० ४० । ४)"—इस वचन में देव शब्द से इन्द्रियों का ग्रहण होता है; जो कि श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जीभ, नाक और मन ये छः देव कहाते हैं। क्योंकि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सत्य और असत्य इत्यादि अर्थों का इनसे प्रकाश होता है। और 'देव' शब्द से स्वार्थ में 'तल्' प्रत्यय करने से देवता शब्द सिद्ध होता है (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका वेद विषयविचार) ॥ ४० । ४ ॥

समीक्षा

१. यहाँ श्री शंकराचार्य जी 'अनेजदेकम्' की व्याख्या में लिखते हैं—"अनेजत् न एजत्। एजृ कम्पने, कम्पनं चलनं स्वावस्थाप्रच्युतिस्तद् वर्जितं सर्वदैकरूपमित्यर्थः" (ईशावास्योपनिषद् पृ० २१। **अर्थ**—वह आत्म तत्त्व (ब्रह्म) अपनी अवस्था से च्युत नहीं होता अर्थात् सर्वदा एक रूप ही रहता है।

समीक्षा—श्री शंकराचार्य जी ब्रह्म को सर्वदा एक रूप में रहने वाला स्वीकार कर रहे हैं। और आगे चल कर इसी मन्त्र की व्याख्या में निरुपाधिक ब्रह्म (शुद्ध ब्रह्म) और सोपाधिक ब्रह्म (जीव) की कल्पना कर रहे हैं। जो प्रकृत वेद मन्त्र के आशय से कोसों दूर हैं। वे लिखते हैं—"व्योमवद् व्यापित्वात् सर्वव्यापि तदात्मतत्त्वं सर्वसंसारधर्मवर्जितं स्वेन निरुपाधिकेन स्वरूपेणाविक्रियमेव सदुपाधिकृताः सर्वाः संसारविक्रिया अनुभवतीत्यविवेकिनां मूढानामनेकमिव च प्रतिदेहं प्रत्यवभासते"। **अर्थ**—वह आत्म तत्त्व आकाश के समान व्यापक होने से सर्वव्यापक है, संसार के सब धर्मों से वर्जित है और अपने निरुपाधिक स्वरूप से निर्विकार है। उपाधिकृत सब संसार के विकारों को अनुभव करता है। अविवेकी अर्थात् मूढ़ जनों को वह प्रत्येक देह में अनेक प्रतीत होता है।

श्री शंकराचार्य जी का यह लेख एक ही वाक्य में ब्रह्म के परस्पर विरुद्ध स्वरूप को बतला रहा है। प्रथम आत्मतत्त्व (ब्रह्म) को संसार के सब धर्मों से रहित बतलाया जा रहा है और आगे चल कर इसी वाक्य में उपाधि की कल्पना करके संसार के सब विकारों को अनुभव करने वाला कहा जा रहा

है और प्रथम यह भी लिखा था कि वह सर्वदा एक रूप रहता है। अतः शंकराचार्य जी का यह लेख परस्पर विरोधी एवं काल्पनिक होने से अप्रामाणिक है।

२. "नैनद्देवा आप्नुवन्' की व्याख्या में उवट लिखते हैं—'न चैतत्तत्वं देवा अपि प्राप्तुं शक्ताः'। **अर्थ**—इस तत्त्व (ब्रह्म) को देव भी प्राप्त नहीं कर सकते (उवट भाष्य)।

समीक्षा—जब ब्रह्म को देव (विद्वान्) भी प्राप्त नहीं कर सकते तो कौन प्राप्त कर सकते हैं? मनुष्य जाति के दो भेद हैं। असुर और देव। असुर तो अन्धकार से आवृत हैं वे तो ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकते, यह ठीक है। जब देव भी ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकते तो ब्रह्म की प्राप्ति में अव्याप्ति दोष आता है। उसके निराकरण में महर्षि दयानन्द तथा श्री शंकराचार्य ने भी यहाँ 'देवाः' पद का अर्थ चक्षुरादि इन्द्रियां किया है। अतः श्री उवट महोदय का यहाँ 'देवा अपि' भाष्य दोषपूर्ण है।

(क) 'पूर्वमर्षत्' की व्याख्या में श्री उवट ने 'अर्शत्' पद यहाँ स्वीकार किया है और उसे 'रिशति-हिंसाकर्मा' धातु से सिद्ध करके अर्शत् पद का अर्थ 'अविनश्यत्' अर्थात् अविनाशी किया है। मन्त्र के क्रम के अनुसार अर्थ हुआ—वह ब्रह्म पहले अविनाशी है। क्या पीछे विनाशी हो जाता है? यदि कहो नहीं तो 'पहले अविनाशी है ऐसा कहना असंगत है। यदि कहो हाँ तो ब्रह्म विनाशी हो गया। अतः उवट महोदय अर्षत् पद का अर्थ नहीं समझ सके।

(ख) श्री महीधर ने भी 'अर्शत्' पद ही स्वीकार किया है तथा उसे 'ऋश गतौ' धातु से सिद्ध किया है। 'ऋश गतौ' धातु की उनकी अपनी कल्पना है। वर्तमान धातुपाठ में 'ऋषी गतौ' पाठ है। इसी से मन्त्र का यह 'अर्षत्' पद बनता है। श्री महीधर ने उवट के मतानुसार इस पद को रिश धातु से सिद्ध करने का असफल प्रयास किया है। रिश धातु से 'अरिशत्' पद बनाया है और यहाँ इकार लोप छान्दस माना है ('अर्शत्—रिश हिंसायां, रिश्यति=नश्यति, रिशत् न रिशदरिशत्—अर्शत्, धातोरिकार-लोपश्छान्दसः)। श्री महीधर ने अर्शत् पद को रिश धातु से सिद्ध करने का प्रयास किया फिर भी अर्षत्' मन्त्रगत पद को सिद्ध नहीं कर सके। रिश धातु से 'अर्शत्' पद की सिद्धि करते समय मन्त्रार्थ की ओर भी कोई ध्यान नहीं दिया। 'रिश' धातु से उक्त पद को सिद्ध मानने पर मन्त्रार्थ यह होता है कि ब्रह्म पहले अविनाशी है। यह अर्थ दोषपूर्ण है। यह पहले कहा जा चुका है।

३. 'तस्मिन्नपो मातरिश्वा, दधाति' मन्त्र के इस चरण में एक पद 'मातरिश्वा' है। जो वायु अर्थ में प्रसिद्ध है। अतः श्री शंकराचार्य, उवट, महीधर आदि सभी भाष्यकारों ने यहाँ 'मातरिश्वा' पद का अर्थ वायु किया है। उन्होंने यहाँ प्रकरण का कोई विचार नहीं किया। मन्त्र के प्रथम तीन चरणों में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन है। उसी का स्मारक 'तस्मिन्' पद इस चरण में विद्यमान है। यदि यहाँ 'मातरिश्वा' पद का अर्थ वायु है तो मन्त्रार्थ यह होगा—उस ब्रह्म में वायु कर्मों को स्थापित करता है। यह कोई अर्थ नहीं बना। वायु जड़ है, वह ब्रह्म में क्या कर्मों को स्थापित करेगा। अतः यहाँ 'मातरिश्वा' पद का अर्थ वायु नहीं हो सकता।

महर्षि दयानन्द ने मातरिश्वा पद का यहाँ बड़ा सुन्दर अर्थ किया है—(मातरिश्वा) मातर्य-न्तरिक्षे श्वसिति, प्राणान् धरति, वायुस्तद्वद्वर्त्तमानो जीवः। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे अन्तरिक्ष में रहने से वायु मातरिश्वा कहलाता है। इसी प्रकार जीव भी ब्रह्म में रहने से मातरिश्वा है। ब्रह्म उसकी माता है, वह उसके आश्रय में रहता है! मातरिश्वा=जीव अपने कर्मों को उक्त ब्रह्म में स्थापित करता है। जीव कर्म करता है और ब्रह्म उसे कर्मों का फल देता है।

४. 'मनसो जवीयः' की व्याख्या में श्री पं० हरिशरण जो सिद्धान्तालंकार लिखते हैं—"वे

प्रभु मन से भी अधिक वेगवान् हैं। मन सर्वाधिक वेग वाला है। एक सैकण्ड में एक लाख छयासी हजार (१८६०००) मील के करीब इसकी गति है। प्रभु इस मन से भी अधिक वेगवान् है। (ईशोपनिषद् पृ० ६)

समीक्षा—श्री सिद्धान्तालंकार जी ने यहाँ मनोगति के काल-परिमाण का उल्लेख किया है। इसमें प्रमाण कोई नहीं दिया। श्री ब्र० जगदीशचन्द्र जी ने उक्त काल-परिमाण प्रकाश की गति का बतलाया है। वे लिखते हैं—"प्रकाश की गति १,८६००० मील प्रति सैकण्ड है। परन्तु मन की गति इससे भी तीव्र है" (ईशोपनिषद् पृ० ८४)। गुरु और शिष्य मिलकर निर्णय करके बतलाने की कृपा करें कि उक्त गति मन की है अथवा प्रकाश की ? ॥ ४० । ४ ॥ ●

दीर्घतमाः। **आत्मा**=परमात्मा। निचृदनुष्टुप्। गान्धारः॥

विदुषां निकटेऽविदुषां च ब्रह्म दूरेऽस्तीत्याह॥

विद्वानों के निकट और अविद्वानों से ब्रह्म दूर है, यह उपदेश किया है॥

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ ५॥

पदार्थः—(तत्) (एजति) कम्पते=चलति मूढदृष्ट्या (तत्) (न) (एजति) कम्पते कम्प्यते वा (तत्) (दूरे) अधर्मात्मभ्योऽविद्वद्भ्योऽयोगिभ्यः (तत्) (उ) (अन्तिके) धर्मात्मनां विदुषां समीपे (तत्) (अन्तः) आभ्यन्तरे (अस्य) (सर्वस्य) अखिलस्य जगतो जीवसमूहस्य वा (तत्) (उ) (सर्वस्य) समग्रस्य (अस्य) प्रत्यक्षाऽप्रत्यक्षात्मकस्य (बाह्यतः) बहिरपि वर्त्तमानः॥ ५॥

अन्वयः—हे मनुष्यास्तद्ब्रह्मैजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके तदस्य सर्वस्यान्तस्तदु सर्वस्याऽस्य बाह्यतो वर्त्तत इति निश्चिनुत॥ ५॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः! तद्=ब्रह्मैजति कम्पते=चलति मूढदृष्ट्या तन्नैजति कम्पते कम्प्यते वा तद्दूरे अधर्मात्मभ्योऽविद्वद्भ्योऽयोगिभ्यः तद्वन्तिके धर्मात्मनां विदुषां योगिनां समीपे। तदस्य सर्वस्य अखिलस्य जगतो जीवसमूहस्य वा अन्तः आभ्यन्तरे, तदु सर्वस्य समग्रस्य अस्य प्रत्यक्षाऽप्रत्यक्षात्मकस्य [जगतः] बाह्यतः बहिरपि वर्त्तमानः वर्तत इति निश्चिनुत॥४०।५॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो! (तद्) वह ब्रह्म (एजति) चलता है ऐसा मूढ़ समझते हैं; (तत्) वह (न) नहीं (एजति) चलता है और न कोई उसको चला सकता है। (तत्) वह दूरे अधर्मात्मा अविद्वान् अयोगियों से दूर है; (तत्) वह (उ) निश्चय से (अन्तिके) धर्मात्मा विद्वान् योगियों के समीप है। (तत्) वह ब्रह्म (अस्य) इस (सर्वस्य) सब जगत् एवं जीवों के (अन्तः) अन्दर विराजमान है। (तत्) वह (उ) निश्चय से (अस्य) इस प्रत्यक्ष—अप्रत्यक्ष जगत् के (बहिः) बाहर भी विराजमान हैं; ऐसा निश्चित जानो॥ ४०। ५॥

भावार्थः—हे मनुष्याः! तद् ब्रह्म मूढदृष्टौ कम्पत इव। तत् स्वतो व्यापकत्वात् कदाचिन्न चलति।

भावार्थ—हे मनुष्यो! वह ब्रह्म चलता सा है, ऐसा मूढ़ मानते हैं; वह व्यापक होने से अपने स्वरूप से कभी भी चलायमान नहीं होता है।

ये तदाज्ञाविरुद्धास्ते इतस्ततो धावन्तोऽपि तन्न विजानन्ति; ये चेश्वराऽऽज्ञाऽनुष्ठातारस्ते स्वाऽऽत्मस्थमतिनिकटं ब्रह्म प्राप्नुवन्ति ।

जो लोग उसकी आज्ञा के विरुद्ध आचरण करते हैं, वे उसकी प्राप्ति के लिए इधर-उधर भागते हुए भी उसको नहीं जान सकते; और जो ईश्वर की आज्ञा के अनुसार आचरण करते हैं, वे अति निकट अपने आत्मा में स्थित ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं ।

यद् ब्रह्म सर्वस्य प्रकृत्यादेर्बाह्याऽभ्यन्तराऽवयवान-भिव्याप्य सर्वेषां जीवानामन्तर्यामिरूपतया सर्वाणि पाप-पुण्यात्मककर्माणि विजानन् याथातथ्यं फलं, प्रयच्छत्येतदेव सर्वैर्ध्येयमस्मादेव सर्वैर्भेतव्य-मिति ॥ ४० । ५ ॥

जो ब्रह्म सब प्रकृति आदि के बाहर और भीतर के अवयवों में व्यापक होकर सब जीवों के अन्तर्यामी रूप से सब पाप और पुण्य कर्मों को जानता हुआ ठीक-ठीक फल प्रदान करता है; अतः इसी ब्रह्म का ही सब को ध्यान (उपासना) करनी चाहिए और इसी से सबको डरना चाहिए ॥ ४० । ५ ॥

भा० पदार्थः—तद्=ब्रह्म । एजति=मूढदृष्टौ कम्पत इव । अन्तिके=अतिनिकटम् । अस्य=प्रकृत्यादेः ।

भाष्यसार—ब्रह्म विद्वानों के निकट और अविद्वानों से दूर है—वह ब्रह्म मूढ़ों की दृष्टि में चलता है । वास्तव में वह न चलता है और न उसको कोई चला सकता है । वह स्वतः व्यापक होने से कभी नहीं चलता । अधर्मात्मा, अविद्वान् और अयोगी जनों से वह दूर है । जो उसकी आज्ञा के विरुद्ध आचरण करते हैं, वे इधर-उधर दौड़ते हुए भी उसे नहीं जान सकते । वह धर्मात्मा, विद्वान् योगी जनों के समीप है । अर्थात् जो ईश्वर की आज्ञा का पालन करते हैं; वे अपने आत्मा में स्थित, अति निकट ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं । वह इस सब जगत् के तथा जीवों के अन्दर विद्यमान है तथा वह इस प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष जगत् के बाहर भी है । तात्पर्य यह है कि ब्रह्म सब प्रकृति आदि पदार्थों के बाह्य और आन्तरिक अवयवों को व्याप्त करके सब जीवों के अन्तर्यामी रूप से सब पाप-पुण्य रूप कर्मों को जानता है; और ठीक-ठीक फल देता है । सब मनुष्य इसी ब्रह्म का ध्यान करें, इसी की उपासना करें; और इसी से डरते रहें ॥ ४० । ५ ॥

अन्यत्र व्याख्यात—[क]—यह मन्त्र महर्षि ने—'तदेजति०' ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदविषय विचार प्रकरण में उपासना के प्रमाण में उद्धृत किया है ॥

[ख]—'तद् एजति' वह परमात्मा सब जगत् को अपनी-अपनी चाल पर चला रहा है, सो अविद्वान् लोग ईश्वर में भी आरोप करते हैं कि वह भी चलता होगा, परन्तु वह सब में पूर्ण है, कभी चलायमान नहीं होता । अतएव 'तन्नैजति' (यह प्रमाण है) । स्वतः वह परमात्मा कभी नहीं चलता, एक रस निश्चल होके भरा है । विद्वान् लोग इसी रीति से ब्रह्म को जानते हैं ।

'तद् दूरे'—अधर्मात्मा, अविद्वान्, विचार शून्य अजितेन्द्रिय, ईश्वर-भक्ति रहित इत्यादि दोषयुक्त मनुष्यों से वह ईश्वर बहुत दूर है; अर्थात् वे कोटि-कोटि वर्ष तक उसको नहीं प्राप्त होते । इससे वे तब तक जन्म मरणादि दुःख-सागर में इधर-उधर घूमते फिरते हैं कि जब तक उसको नहीं जानते । 'तद्वन्तिके,' सत्यवादी, सत्यकारी, सत्यमानी, जितेन्द्रिय, सर्वजनोपकारक विद्वान् विचारशील पुरुषों के 'अन्तिक' अत्यन्त निकट है ।

किं च—वह सबके आत्माओं के बीच में अन्तर्यामी, व्यापक होके सर्वत्र पूर्ण भर रहा है । वह

आत्मा का भी आत्मा है; क्योंकि परमेश्वर सब जगत् के भीतर और बाहर तथा मध्य अर्थात् एक तिलमात्र भी उसके विना खाली नहीं है। वह अखण्डैकरस, सब में व्यापक हो रहा है। उसी को जानने से सुख और मुक्ति होती है; अन्यथा नहीं (आर्याभिविनय २। १२)॥

[ग] "तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः" वह सबके भीतर और बाहर परिपूर्ण है (वेदविरुद्धमतखंडन)॥ ४०। ५॥

समीक्षा

१. 'तदेजति तन्नैजति' इस चरण की व्याख्या में श्री शंकराचार्य लिखते है—'तदात्मतत्त्वं यत्प्रकृतं तदेजति चलति, तदेव च नैजति स्वतो नैव चलति, स्वतोऽचलमेव सत् चलतीवेत्यर्थः'। **अर्थ**—जिसका यहाँ प्रकरण है वह आत्मतत्त्व चलता है, वही स्वयं नहीं भी चलता अर्थात् स्वयं अचल रहकर ही चलता हुआ सा प्रतीत होता है। (ईशावास्योपनिषद् पृ० २५)

समीक्षा—यहाँ विरोधाभास अलंकार है कि वह ब्रह्म चलता है और नहीं चलता है। इस विरोधाभास का श्री शंकराचार्य ने कोई परिहार नहीं किया। उनका भाष्य भ्रान्तिजनक है कि वह ब्रह्म स्वयं नहीं चलता, और अचल रह कर चलता हुआ सा प्रतीत होता है। यदि ब्रह्म अचल है तो चलता हुआ कैसे प्रतीत होता है और चलता हुआ प्रतीत होता है तो अचल कैसे है?

महर्षि दयानन्द ने इस विरोधाभास का यह परिहार किया है कि "(एजति) कम्पते=चलति मूढदृष्ट्या" मूढ़ ऐसा मानते हैं कि वह ब्रह्म चलता है, वास्तव में वह ब्रह्म नहीं चलता, अचल है। आर्याभिविनय में महर्षि दयानन्द ने 'एजति' पद में अन्तर्भावित णिच् मानकर अर्थ किया है कि "परमात्मा सब जगत् को यथायोग्य अपनी-अपनी चाल पर चला रहा है"। इस प्रकार महर्षि दयानन्द के भाष्य में मन्त्रगत विरोधाभास का सुन्दर परिहार विद्यमान है; श्री शंकराचार्य के भाष्य में नहीं।

२. श्री उवट ने इस मन्त्र का जो अद्भुत भाष्य किया है, वह देखिए। 'तदेजति तन्नैजति' की व्याख्या में श्री उवट लिखते हैं—'तदेव सर्वप्राणिरूपेणावस्थितं सत् एजति, कम्पवद् भवति, क्रियावद् भवति। तन्नैजति, तदेव च न चलति स्थावररूपावस्थितं सत्। **अर्थ**—वह ब्रह्म सब प्राणियों के रूप में अवस्थित होकर चलता है, कम्पनशील होता है, क्रियावान् हो रहा है, और वही ब्रह्म स्थावर रूप में अवस्थित होकर नहीं चलता है (उवटभाष्यम्)॥

समीक्षा—यहाँ उवट ने ब्रह्म के दो रूप स्वीकार किए हैं। एक—ब्रह्म प्राणी रूप में चल रहा है। दूसरा—ब्रह्म स्थावर (वृक्ष, पर्वत) आदि रूप में है, जो नहीं चलता। अर्थात् ब्रह्म चेतन भी है और जड़ भी है। श्री उवट इतना भी नहीं जानते कि जड़ और चेतन परस्पर विरोधी दो गुण एक काल में ब्रह्म में कैसे रह सकते हैं।

यहाँ श्री उवट को इतना भी ध्यान नहीं कि वेद का पद 'एजति' है। जिसका अर्थ कम्पन होता है (एजृ कम्पने)। स्थावर वृक्षादि में भी कम्पन होता है। अतः 'तन्नैजति' का जो अर्थ उवट ने किया है वह अशुद्ध है। पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आदि गतिशील हैं। ऐसी अवस्था में 'तन्नैजति' का क्या अभिप्राय होगा? श्री उवट मन्त्र का अभिप्राय समझते ही नहीं। और आगे देखिए—

३. 'तद् दूरे तद्वन्तिके' की व्याख्या में श्री उवट लिखते हैं—तद् दूरे तदेव च दूरे आदित्य-नक्षत्रादिरूपेणावस्थितम्।......तदेव चान्तिके पृथिव्यादिरूपेणावस्थितम्। **अर्थ**—आदित्य (सूर्य) नक्षत्र आदि रूप में अवस्थित वह ब्रह्म दूर है। पृथिवी आदि रूप में अवस्थित वह ब्रह्म समीप भी है।

समीक्षा—यहाँ श्री उवट ने अखण्ड ब्रह्म को खण्ड-खण्ड मान लिया है। ब्रह्म का एक खण्ड आदित्य (सूर्य) है। ब्रह्म का एक खण्ड नक्षत्र हैं। ब्रह्म का एक खण्ड पृथिवी है इत्यादि। क्या ही अद्भुत भाष्य किया है। अखण्ड ब्रह्म को खण्ड-खण्ड बना दिया। श्री उवट ने यहाँ यह नहीं बतलाया कि वह खण्ड-खण्ड ब्रह्म किससे दूर है, और किसके समीप है, यदि कहो कि ब्रह्म से ब्रह्म दूर है तो क्या स्वयं से कोई दूर होता है? और कहो कि ब्रह्म स्वयं ब्रह्म के समीप है तो प्रत्येक स्वयं के समीप होता ही है, इसके कहने की क्या आवश्यकता है। यदि कहो कि खण्ड-खण्ड भूत ब्रह्म आदित्य आदि रूप में जीव से दूर है और पृथिवी आदि रूप में जीव के समीप है तो जीव और ब्रह्म की पृथक्-पृथक् सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी। श्री उवट आदि द्वारा स्वीकृत 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का सिद्धान्त यहाँ धड़ाम से गिर रहा है।

श्री उवट मन्त्रगत विरोधाभास का कोई परिहार न कर सके। सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (यह सब ब्रह्म है) के सिद्धान्त को स्वीकार करके उलझ कर बैठ गये। उन्होंने इतना भी स्वीकार नहीं किया कि मन्त्र के अन्तिम भाग में क्या कुछ कहा जा रहा है। 'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः'। वह ब्रह्म इस सब जगत् के अन्दर है और वह इस जगत् के बाहर भी है। अर्थात् ब्रह्म सर्वव्यापक है। सर्वव्यापक खण्ड-खण्ड नहीं हो सकता।

वास्तविकता यह है कि इस मन्त्र के अनुसार ब्रह्म, जीव और जगत् तीन सत्ताओं को स्वीकार करना आवश्यक है। जीव (मनुष्य)—मूढ और विद्वान् दो प्रकार के हैं। वह ब्रह्म मूढ़ों की दृष्टि में चलता है, विद्वानों की दृष्टि में अचल है। वह ब्रह्म मूढ़ों से दूर है और विद्वानों के समीप है। वह ब्रह्म इस जड़ और चेतन जगत् के अन्दर भी है और बाहर भी है। श्री शंकराचार्य 'उवट और महीधर आदि मन्त्र के इस सार को नहीं समझ सके। सर्वं खल्विदं ब्रह्म (यह सब ब्रह्म है) की कल्पना में फंसकर मन्त्र के सत्यार्थ से कोसों दूर चले गये ॥ ४० । ५ ॥ ●

दीर्घतमाः । **आत्मा**=परमात्मा । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ॥

अथेश्वरविषयमाह ॥

अब ईश्वर विषयक का उपदेश किया जाता है ॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति ॥ ६ ॥

पदार्थः—(यः) विद्वान् जनः (तु) पुनरर्थे (**सर्वाणि**) अखिलानि (**भूतानि**) प्राण्यप्राणिरूपाणि (**आत्मन्**) परमात्मनि (**एव**) (**अनुपश्यति**) विद्याधर्मयोगाभ्यासानन्तरं समीक्षते (**सर्वभूतेषु**) सर्वेषु प्रकृत्यादिषु (**च**) (**आत्मानम्**) अतति=सर्वत्र व्याप्नोति तम् (**ततः**) तदनन्तरम् (**न**) (**वि**) (**चिकित्सति**) संशयं प्राप्नोति ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! य आत्मन्नेव सर्वाणि भूतान्यनुपश्यति, यस्तु सर्वभूतेष्वात्मानं च समीक्षते, स ततो न विचिकित्सतीति यूयं विजानीत ॥ ६ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! यः विद्वान् जनः **आत्मन्** परमात्मनि **एव सर्वाणि**

भावार्थ—हे मनुष्यो ! (यः) जो विद्वान् जन (आत्मन्) परमात्मा में ही (सर्वाणि) सब

अखिलानि **भूतानि** प्राण्यप्राणिरूपाणि **अनु+पश्यति** विद्याधर्मयोगाभ्यासानन्तरं समीक्षते।

यः विद्वान् जनः **तु** पुनः **सर्वभूतेषु** सर्वेषु प्रकृत्यादिषु **आत्मानम्** अतति=सर्वत्र व्याप्नोति तं **च समीक्षते स ततः** तदनन्तरं **न वि+चिकित्सति** संशयं प्राप्नोति **इति यूयं विजानीत** ॥ ४० । ६ ॥

(भूतानि) जड़ चेतनों को (अनुपश्यति) विद्या, धर्माचरण और योगाभ्यास के पश्चात् देखता है।

(यः, तु) और जो विद्वान् (सर्वभूतेषु) सब प्रकृत्यादि पदार्थों में (आत्मानम्) सर्वत्र व्यापक परमात्मा को देखता है, वह (ततः) ऐसे सम्यग्दर्शन के पीछे (न, वि चिकित्सति) सर्वथा सन्देह को प्राप्त नहीं होता, ऐसा तुम जानो ॥ ४० । ६ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः! ये सर्वव्यापिनं, न्यायकारिणं, सर्वज्ञं, सनातनं, सर्वात्मानं, सर्वस्य द्रष्टारं परमात्मानं विदित्वा, सुख-दुःख-हानि-लाभेषु स्वाऽऽत्मवत् सर्वाणि भूतानि विज्ञाय, धार्मिका जायन्ते, त एव मोक्षमश्नुवते ॥ ४० । ६ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो! जो लोग सर्व-व्यापक, न्यायकारी, सर्वज्ञ, सनातन, सर्वात्मा, सब के द्रष्टा परमात्मा को जानकर; सुख-दुःख और हानि-लाभ में अपने आत्मा के समान सब प्राणियों को समझकर, धार्मिक बनते हैं वे ही मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥ ४० । ६ ॥

भा० पदार्थः—आत्मनि=सर्वस्य द्रष्टरि परमात्मनि। न विचिकित्सति=धार्मिको जायते, मोक्षमश्नुते ॥ ४० । ६ ॥

भाष्यसार—**ईश्वर विषयक उपदेश**—जो विद्वान् मनुष्य—परमात्मा में सब प्राणी=चेतन और अप्राणी=जड़ रूप भूतों को विद्या, धर्म और योगाभ्यास के उपरान्त भली-भाँति देखता है; तथा सब प्रकृति आदि पदार्थों में परमात्मा को व्यापक रूप में देखता है। तात्पर्य यह है कि परमात्मा को सर्वव्यापक, न्यायकारी, सर्वज्ञ, सनातन, सर्वात्मा और सब का द्रष्टा समझता है; सुख-दुःख और हानि-लाभ में अपने आत्मा के तुल्य सब प्राणियों को जानता है; वह संशय को प्राप्त नहीं होता। वह सन्देह-रहित हो जाता है। वह धार्मिक बन जाता है और मोक्ष को प्राप्त करता है ॥ ४० । ६ ॥

अन्यत्र व्याख्यात—(यः) जो संन्यासी (तु) पुनः (आत्मन्नेव) आत्मा में अर्थात् परमेश्वर ही में तथा अपने आत्मा के तुल्य (सर्वाणि भूतानि) संपूर्ण जीव और जगत्स्थ पदार्थों को (अनुपश्यति) अनुकूलता से देखता है; (च) और (सर्वभूतेषु) संपूर्ण प्राणी, अप्राणियों में (आत्मानम्) परमात्मा को देखता है; (ततः) इस कारण वह किसी व्यवहार में (न, विचिकित्सति) संशय को प्राप्त नहीं होता अर्थात् परमेश्वर को सर्वव्यापक सर्वान्तिर्यामी, सर्वसाक्षी जान के अपने आत्मा के तुल्य सब प्राणिमात्र को हानि-लाभ, सुख-दुःखादि व्यवस्था में देखे, वही उत्तम संन्यास धर्म को प्राप्त होता है (संस्कारविधि, संन्यासप्रकरण) ॥ ४० । ६ ॥

समीक्षा

इस मन्त्र का अर्थ अत्यन्त सरल है। जो विद्वान् मनुष्य सब भूतों को आत्मा (परमात्मा) और सब भूतों में आत्मा (परमात्मा) को विद्यमान समझता है वह इस संसार और परमात्मा (ब्रह्म) के विषय में सन्देहरहित हो जाता है अर्थात् वह मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

इस मन्त्र में त्रैतवाद स्पष्ट है। प्रथम द्रष्टा विद्वान् (जीव), दूसरे सब भूत (प्रकृति) तीसरा परमात्मा। किन्तु श्री शंकराचार्य जो अपने अद्वैतवाद के हठ से इस मन्त्र की व्याख्या में लिखते हैं—

१. "यः परिव्राड् मुमुक्षुः सर्वाणि भूतान्यव्यक्तादीनि स्थावरान्तानि आत्मन्येवानुपश्यत्यात्म-व्यतिरिक्तानि न पश्यतीत्यर्थः"। **अर्थ**—जो मुमुक्षु संन्यासी अव्यक्त से लेकर स्थावर पर्यन्त सब भूतों को आत्मा में देखता है, आत्मा से अभिन्न समझता है। (ईशावास्योपनिषद्)

समीक्षा—मन्त्र के पद अत्यन्त सरल हैं जो उपरिलिखित हमारे अभिप्राय को साफ-साफ प्रकट कर रहे हैं। किन्तु श्री शंकराचार्य जी ने 'आत्मन्येवानुपश्यति' तक तो भाष्य ठीक किया है किन्तु 'आत्मव्यतिरिक्तानि न पश्यतीत्यर्थः' (आत्मा से भिन्न नहीं देखता) लिखकर मन्त्र के अभिप्राय को मरोड़ने का प्रयास किया है। वेद के पदों से यह अभिप्राय नहीं निकल रहा था, अतः श्री शंकराचार्य जी को ऐसा लिखना पड़ा। पवित्र वेद-मन्त्रों के सत्य अभिप्राय को छोड़ कर अपने पूर्वाग्रह के अनुरूप उन्हें ढालने का दुःसाहस करना एक विद्वान् संन्यासी के लिए कदापि शोभनीय नहीं कहा जा सकता। इस मन्त्र में अद्वैतवाद का लेशमात्र भी नहीं है। त्रैतवाद स्पष्ट है।

२. श्री उवट ने भी मन्त्र के सत्यार्थ के विरुद्ध इस मन्त्र का अपना मनोवांछित अर्थ किया है। वे इस मन्त्र की व्याख्या में लिखते हैं:—

"यः पुनः सर्वाणि भूतानि चेतनाचेतनानि आत्मन्नेव अनुपश्यति। मय्येव सर्वाणि भूतान्यव-स्थितानि न मद्व्यतिरिक्तानि। अहमेव परं ब्रह्मेति। सर्वभूतेषु चात्मानम् अवस्थितं तद्व्यतिरिक्तं पश्यति, ततो न विचिकित्सति न संशेते"। **अर्थ**—जो सब चेतन और अचेतन भूतों को आत्मा (ब्रह्म) में ही देखता है, अर्थात् मुझ में ही सब भूत अवस्थित हैं, मुझ से भिन्न नहीं हैं, मैं ही पर ब्रह्म हूँ। और सब भूतों में आत्मा (ब्रह्म) को अवस्थित देखता है अर्थात् उनसे भिन्न समझता है फिर वह संशय रहित हो जाता है (उवट भाष्य) ॥

समीक्षा—यहाँ उवट ने 'भूतानि' पद से चेतन अर्थात् प्राणी और अचेतन अर्थात् पृथिवी आदि जड़ जगत् का ग्रहण किया है; सो ठीक है। किन्तु 'आत्मन्नेवानुपश्यति' की जो व्याख्या की है कि सब जड़-चेतन (भूत) मुझ में ही अवस्थित हैं, यह बात प्रत्यक्ष प्रमाण के विरुद्ध है। सब जड़ और चेतन भूत किसी भी व्यक्ति में स्थित नहीं है। मैं ही परब्रह्म हूँ; यह लेख वेदमन्त्र में कहीं नहीं है। श्री उवट की यह अपनी कल्पना है। जादू वह है जो सिर पर चढ़ कर बोले। सच्चाई का छुपाना सरल नहीं आगे स्वयं लिखते हैं कि सब भूतों में आत्मा (ब्रह्म) को अवस्थित देखता है, अर्थात् उनसे भिन्न समझता है। यहां श्री उवट के एक ही वाक्य में परस्पर विरोध स्पष्ट प्रकट हो रहा है। पहले लिख रहे हैं कि सब भूत 'न मद्व्यतिरिक्तानि' मुझ (ब्रह्म) से भिन्न नहीं हैं और फिर लिख रहे हैं, 'आत्मानं तद्व्यतिरिक्तं पश्यति' अर्थात् आत्मा (ब्रह्म) को उन भूतों से पृथक् देखता है। इस लेख में अनायास ही मन्त्र का सत्य अर्थ प्रकाशित हो गया कि ब्रह्म भूतों से पृथक् है। यदि श्री शंकराचार्य और उवट वेद-प्रतिपादित त्रैतवाद को स्वीकार करके वेदभाष्य लिखते तो स्थान-स्थान पर ऐसी दुर्दशा कभी नहीं होती।

३. 'विचिकित्सति' पद की व्याख्या में श्री महीधर लिखते हैं—"कित रोगापनयने संशये च' इति धातोः 'गुप्तिजकिद्भ्यः सन्' (पा० ३। १। ५) इति स्वार्थे सन् प्रत्ययः" (महीधरभाष्य) ॥ **अर्थ**—'विचिकित्सति' यह पद कित रोगापनयने संशये च इस धातु से 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' इस सूत्र से स्वार्थ में सन् प्रत्यय है ॥

समीक्षा—श्री महीधर ने यहाँ अशुद्ध धातुपाठ उद्धृत किया है। पाणिनीय धातुपाठ इस प्रकार है—'कित निवासे रोगापनयने च' अर्थात् कित धातु का अर्थ निवास और रोगापनयन (रोग दूर करना) है। यहाँ महीधर ने 'कित' धातु का निवास अर्थ छोड़ दिया और अपना वांछित संशय अर्थ जोड़ दिया।

महीधर इतना भी नहीं जानते कि शुद्ध 'कित' धातु संशय अर्थ में प्रयुक्त नहीं होती अपितु वि—उपसग पूर्वक संशय अर्थ में प्रयुक्त होती है, 'उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते' उपसर्ग से धात्वर्थ में परिवर्तन हो जाता है।

४. श्री पण्डित हरिशरण जी सिद्धान्तालंकार इस मन्त्र के पदार्थ में लिखते हैं— (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणियों को (आत्मनि एव) सर्वव्यापक प्राणतत्त्व में। (ईशोपनिषद् पृ० ११)

समीक्षा—यहाँ महर्षि दयानन्द ने 'भूतानि' पद का अर्थ प्राणी तथा अप्राणी (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश पांच भूत) का ग्रहण किया है (भूतानि=प्राण्यप्राणिरूपाणि) यहाँ 'भूतानि' पद का यह अर्थ पूरा है; अधूरा नहीं। क्योंकि प्राणी (चेतन) और अप्राणी (जड़) जगत् आत्मा (ब्रह्म) में अवस्थित है। श्री सिद्धान्तालंकार जी ने 'भूतानि' पद का अर्थ केवल प्राणी (चेतन जगत्) किया है। यह अधूरा अर्थ है। इससे जड़ जगत् में ब्रह्म की व्यापकता को हानि पहुँच रही है।

श्री सिद्धान्तालंकार जी ने 'आत्मनि एव' का जो सर्वव्यापक प्राणतत्त्व अर्थ किया है वह सर्वथा अशुद्ध है। प्राणतत्त्व सर्वव्यापक नहीं। यदि कहो कि इसका अर्थ ब्रह्म है तो भी ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्म 'अकाय' होने से प्राणतत्त्व से रहित है। श्री सिद्धान्तालंकार जी ने उक्त अर्थ में कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया। अतः यह अर्थ काल्पनिक और सर्वथा अशुद्ध है।

५. श्री पण्डित हरिशरण जी सिद्धान्तालंकार ईशोपनिषद् की व्याख्या लिख रहे हैं; यजुर्वेद के ४० वें अध्याय के नाम से नहीं। ईशोपनिषद् और यजुर्वेद के ४० वें अध्याय के मन्त्रों में यत्र-तत्र पाठ-भेद है। उपनिषद् का भाष्य करते समय उसी का पाठ स्वीकार करना चाहिये; वेद का नहीं। श्री सिद्धान्तालंकार जी को इस बात का कोई ध्यान नहीं। वे इस मन्त्र के द्वितीय चरण में उपनिषद् का पाठ स्वीकार कर रहे हैं—आत्मन्येवानुपश्यति (वेद का पाठ—आत्मन्नेवानुपश्यति), और चतुर्थ चरण में वेद का पाठ अपना रहे हैं—ततो न विचिकित्सति (उपनिषद् का पाठ—ततो न विजुगुप्सते)। इस प्रकार श्रीं सिद्धान्तालंकार जी ने मन्त्र के ईशोपनिषद् पाठ और वेदपाठ की खिचड़ी बना दी है; जो अनुचित है।

६. श्री शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद के संस्कार आर्य विद्वानों में भी प्रबल रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। इसका एक सुन्दर उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है। श्री ब्र० जगदीशचन्द्र जी विद्यार्थी इस मन्त्र के 'सर्वभूतेषु चात्मानम्' इस तृतीय चरण की व्याख्या में लिखते हैं—

"एक बार की बात है, सन्त नामदेव जी जंगल में रोटी बना रहे थे। भोजन बना कर वे लघुशंका आदि से निवृत्त होने चले गये। लौटकर आये तो क्या देखते हैं कि एक कुत्ता रोटी मुंह में दबाये भागा जा रहा है। नामदेव जी ने भी घी का कटोरा उठाया और कहते हुए उसके पीछे दौड़े—'प्रभो! रोटियाँ रूखी हैं, घी लगा लेने दीजिये, फिर भोग लगा लेना"। संसार में जितने भी प्राणी हैं उन सभी में परमेश्वर है। अतः—

तुलसी या संसार में सबसे मिलिये धाय।
को जाने केहि वेश में नारायण मिलि जाय॥

समीक्षा—श्री विद्यार्थी जी के इस लेख से विद्वान् अनुमान लगा सकते हैं कि यह सब जीव-ब्रह्म की एकता के संस्कार नहीं तो और क्या हैं? यहाँ वेद मन्त्र में 'सर्वभूतेषु चात्मानम्' सब भूतों में आत्मा (ब्रह्म) को विद्यमान समझने का उल्लेख है। यह नहीं कि सब भूतों को ब्रह्म ही समझ लिया

जाये। जैसे कि श्री सन्त नामदेव जी ने कुत्ते को ही ब्रह्म समझ लिया और उसके पीछे ब्रह्म की लालसा में दौड़ पड़े। और जो यहाँ तुलसीदास का दोहा उद्धृत किया गया है उसमें भी यही दोष है। 'को जाने केहि वेश में नारायण मिलि जाये'। इसका अभिप्राय यह है कि कुत्ता, बिल्ली आदि सब नारायण (ब्रह्म) के रूप हैं। मनुष्य को किसी भी रूप में नारायण (ब्रह्म) मिल सकते हैं। यह बात समझ में नहीं आ रही कि जब सब ब्रह्म ही ब्रह्म है तो मनुष्य को कुत्ता, बिल्ली आदि के रूप में ब्रह्म को ढूंढने की क्या आवश्यकता है? वह भी तो स्वयं ब्रह्म का ही रूप है। स्वयं ब्रह्म कुत्ता; बिल्ली आदि के रूप में ब्रह्म को ढूंढ़ रहा है? कैसी विडम्बना है?

मुझे महान् आश्चर्य तो यहाँ हो रहा है कि श्री ब्र० जगदीशचन्द्र जी विद्यार्थी जैसे सुप्रसिद्ध आर्य विद्वान् ने भी अद्वैतवाद के सिद्धान्त को कैसे स्वीकार कर लिया और सन्त नामदेव के दृष्टान्त तथा श्री तुलसीदास जी के इस वचन को अपने भाष्य में कैसे स्थान दे दिया ॥ ४० । ६ ॥

दीर्घतमाः । **आत्मा**=परमात्मा । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ॥

अथ केऽविद्यादिदोषान् जहतीत्याह ॥

अब कौन अविद्यादि दोषों को छोड़ते हैं, यह उपदेश किया जाता है ॥

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक॑ऽ एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

पदार्थः—(**यस्मिन्**) परमात्मनि ज्ञाने विज्ञाने धर्मे वा (**सर्वाणि**) (**भूतानि**) (**आत्मा**) आत्मवत् (**एव**) (**अभूत्**) भवन्ति। **अत्र वचनव्यत्ययेनैकवचनम्।** (**विजानतः**) विशेषेण समीक्षमाणस्य (**तत्र**) तस्मिन् परमात्मनि स्थितस्य (**कः**) (**मोहः**) मूढावस्था (**कः**) (**शोकः**) परितापः (**एकत्वम्**) परमात्मनोऽद्वितीयत्वम् (**अनुपश्यतः**) अनुकूलेन योगाभ्यासेन साक्षाद्द्रष्टुः ॥ ७ ॥

प्रमाणार्थ—(अभूत्) भवन्ति। यहाँ वचन-व्यत्यय से बहुवचन के स्थान में एकवचन है।

अन्वयः—हे मनुष्याः! यस्मिन् परमात्मनि विजानतः सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूत् तत्रैकत्वमनुपश्यतो योगिनः को मोहोऽभूत्कः शोकश्च ॥ ७ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः! **यस्मिन्=परमात्मनि** परमात्मनि ज्ञाने विज्ञाने धर्मे वा **विजानतः** विशेषेण समीक्षमाणस्य **सर्वाणि भूतान्यात्मा** आत्मावत् **एवाभूत्** भवन्ति; **तत्र** तस्मिन् परमात्मनि स्थितस्य **एकत्वं** परमात्मनोऽद्वितीयत्वम् **अनुपश्यतः=योगिनः** अनुकूलेन योगाभ्यासेन साक्षाद्द्रष्टुः **को मोहः** मूढावस्था **अभूत्** भवति, **कः शोकः** परितापः **च** ॥ ४० । ७ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो! (यस्मिन्) जिस परमात्मा, ज्ञान, विज्ञान अथवा धर्म के विषय में (विजानतः) सम्यग्ज्ञाता जन के लिए (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणी (आत्मा) अपने आत्मा के समान (एव) ही (अभूत्) होते हैं; (तत्र) उस परमात्मा में विराजमान, (एकत्वम्) परमात्मा के एकत्व को (अनुपश्यतः) ठीक-ठीक योगाभ्यास के द्वारा साक्षात् देखने वाले योगी जन को (कः) क्या (मोहः) मोह और (कः) क्या (शोकः) क्लेश (अभूत्) होता है ॥ ४० । ७ ॥

भावार्थः—ये विद्वांसः संन्यासिनः परमात्मना सहचरितानि प्राणिजातानि स्वात्मवद्वि-

भावार्थ—जो विद्वान् संन्यासी लोग परमात्मा के सहचारी प्राणी-मात्र को अपने आत्मा

जानन्ति, यथा स्वाऽऽत्मनो हितमिच्छन्ति तथैव तेषु वर्त्तन्ते; एकमेवाऽद्वितीयं परमात्मनः शरणमुपागताः सन्ति, तान् मोह-शोकलोभादयो दोषाः कदाचिन्नाऽऽप्नुवन्ति ।

ये च स्वाऽऽत्मानं यथावद् विज्ञाय परमात्मानं विदन्ति, ते सदा सुखिनो भवन्ति ॥ ४० । ७ ॥

के समान समझते हैं, अर्थात् जैसा अपना हित चाहते हैं वैसे अन्य प्राणियों के साथ वर्ताव करते हैं; एक (अद्वितीय) परमात्मा की शरण को प्राप्त हो चुके हैं, उन्हें मोह, शोक, लोभ आदि दोष कभी भी प्राप्त नहीं होते ।

और जो अपने आत्मा को ठीक-ठीक जानकर परमात्मा को जानते हैं; वे सदा सुखी रहते हैं ॥ ४० । ७ ॥

भा० पदार्थः—भूतानि=परमात्मना सह चरितानि प्राणिजातानि । एकम्=अद्वितीयम् ॥ ७ ॥

भाष्यसार—**कौन अविद्यादि दोषों को छोड़ते हैं**—परमात्मा, ज्ञान, विज्ञान वा धर्म के विषय में विशेष रूप से जानने वाले विद्वानों के लिए सब प्राणी अपने आत्मा के समान हो जाते हैं । वे विद्वान् संन्यासी परमात्मा के साथ विद्यमान सब प्राणियों को अपने आत्मा के तुल्य जानते हैं । जैसे अपने आत्मा का हित चाहते हैं वैसे ही वे सब के प्रति व्यवहार करते हैं । वे एक (अद्वितीय) परमात्मा की शरण को प्राप्त हो चुके होते हैं । परमात्मा में स्थित, योगाभ्यास से परमात्मा को साक्षात् देखने वाले योगी लोगों को अविद्यादि दोष प्राप्त नहीं होते । वे मोह, शोक, लोभादि दोषों को छोड़ देते हैं । वे अपने आत्मा को यथावत् जानकर परमात्मा को जान लेते हैं और सदा सुखी रहते हैं ॥ ४० । ७ ॥

अन्यत्र व्याख्यात—(विजानतः) विज्ञानयुक्त संन्यासी का (यस्मिन्) जिस पक्षपातरहित धर्मयुक्त संन्यास में (सर्वाणि, भूतानि) सब प्राणी मात्र (आत्मैव) आत्मा ही के तुल्य जानना अर्थात् जैसा अपना आत्मा अपने को प्रिय है, उसी प्रकार का निश्चय (अभूत्) होता है (तत्र) उस संन्यासाश्रम में (एकत्वमनुपश्यतः) आत्मा के एक भाव को देखने वाले संन्यासी को (को मोहः) कौन सा मोह और (कः शोकः) कौन सा शोक होता है; अर्थात् न उसको किसी से कभी मोह और न शोक होता है । इसलिए संन्यासी मोह, शोकादि दोषों से रहित होकर सदा सबका उपकार करता रहे । (संस्कारविधि, संन्यासाश्रमप्रकरण) । ४० । ७ ॥

समीक्षा

इस मन्त्र में परमात्मा के विज्ञान से युक्त एवं उसके साक्षात् द्रष्टा योगी एवं संन्यासी पुरुष का वर्णन है । मन्त्र का अभिप्राय यह है कि जिस पूर्वोक्त आत्मा (ब्रह्म) के विषय में विशेष ज्ञान से युक्त पुरुष के लिए सब प्राणी उसकी आत्मा के तुल्य ही हो जाते हैं । अर्थात् वह अपने आत्मा के तुल्य सब प्राणी मात्र का हित चाहता है । वह एक अर्थात् अद्वितीय जिसके समान दूसरा कोई नहीं । ब्रह्म का योगाभ्यास के उपरान्त दर्शन कर लेता है । उस परमात्मा में स्थित होने से योगी मोह, शोकादि दोषों से रहित हो जाता है ।

१. इस मन्त्र की व्याख्या में श्री शंकराचार्य जी लिखते हैं—"शोकश्च मोहश्च कामकर्मबीजम् अजानतो भवति, न त्वात्मैकत्वं विशुद्धं गगनोपमं पश्यतः ।"

अर्थ—शोक और मोह तो कामना और कर्म बीज को न जानने वाले को ही हुआ करते हैं, जो आकाश के समान आत्मा का विशुद्ध एकत्व देखने वाला है, उसको नही होते । (ईशावास्योपनिषद् पृष्ठ २८)

समीक्षा—क्या 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (यह सब ब्रह्म है) के सिद्धान्त को मानने वाले श्री शंकराचार्य जी तथा उसके अनुयायी बतलाने का कष्ट करेंगे कि कामना और कर्म बीज को न जानने वाला कौन है; जो शोक और मोह के चक्र में आ जाता है ? जब यह सब ब्रह्म है, तो ब्रह्म ही हो सकता है; अन्य कोई नहीं ।

यहाँ श्री शंकराचार्य जी ने आकाश के समान आत्मा (ब्रह्म) का एकत्व भी स्वीकार कर लिया है । जैसे आकाश एक है वैसे ब्रह्म भी एक है । जो उस एक ब्रह्म को देख लेता है वह शोक और मोह से मुक्त हो जाता है । यहाँ शोक और मोह से मुक्त होने वाले जीव तथा एक ब्रह्म का भी स्पष्ट उल्लेख स्वीकार किया जा रहा है श्री शंकराचार्य जी का अद्वैतवाद का सिद्धान्त सर्वत्र असफल (फेल) हो रहा है ।

श्री पं० आर्यमुनि जी ने अद्वैतवाद की समीक्षा करते हुए यहाँ लिखा है—"मायावादी इस मन्त्र का जप अहर्निश करते हैं, और शांकरभाष्य में जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध करने के लिए यह मन्त्र सहस्रों स्थानों में लिखा गया है । अधिक क्या, जीव ब्रह्म को एक बनाने के लिए एक मात्र यही मन्त्र इनके पास है । जिसका यह यों बलपूर्वक भाष्य करते हैं, कोई कहता है—'मूलाविद्यानिवृत्तौ तत्कार्ययोः शोकमोहयोरात्यन्तिकाभावादिति भावः' मूलाविद्या के निवृत्त होने पर इसके कार्य, शोक, मोहादिकों का भी अत्यन्ताभाव हो जाता है । इनके मत में ब्रह्म को आच्छादन करने वाली अविद्या का नाम 'मूलाविद्या' है । कोई कहता है कि जब यह सारा संसार रज्जु सर्पवत् भ्रान्ति रूप प्रतीत होता है तब शोक मोह की निवृत्ति हो जाती है; इत्यादि । मायावादियों के अनेक मत हैं, पर सब का तत्त्व यही है कि शोक, मोह की निवृत्ति जीव ब्रह्म के एकत्व ज्ञान से ही होती है; अन्यथा नहीं । परन्तु **जीव ब्रह्म की एकता का भाव इस मन्त्र में गन्धमात्र भी नहीं है ।** (उपनिषदार्य्यभाष्य पृ० ७)

२. इस मन्त्र के प्रथम भाग में विद्वान् योगी के लिए सब भूतों (प्राणियों) के प्रति आत्मा के तुल्य व्यवहार करने का उपदेश है तथा द्वितीय भाग में योगाभ्यास के पश्चात् एक (अद्वितीय) परमात्मा के दर्शन का वर्णन है । जिससे मोह, शोक की निवृत्ति होती है । इस मन्त्र के 'एकत्वमनुपश्यतः' इस अन्तिम चरण की व्याख्या में श्री पं० सातवलेकर, स्वामी दर्शनानन्द, श्री पं० हरिशरण सिद्धान्तालंकार, श्री ब्र० जगदीशचन्द्र जी विद्यार्थी आदि अनेक व्याख्याकार अत्यन्त भ्रान्त हुए हैं । उन्होंने जीव और ब्रह्म को एक समझने तथा सब प्राणियों को एक मानने के अभिप्राय से व्याख्या की है । व्याख्याएँ इस प्रकार हैं—

(क)—'एकत्वमनुपश्यतः'=सर्वत्र एक आत्म तत्त्व का अनुभव लेने वाले उस ज्ञानी मनुष्य को । (पं० सातवलेकर, ईशोपनिषद् पृ० ६६)

(ख) '(एकत्वम्) समभाव को (अनुपश्यतः) देखते हुए । (स्वामी दर्शनानन्द, ईशोपनिषद् पृ० १६)

(ग) श्री पं० हरिशरण जी सिद्धान्तालंकार 'एकत्वमनुपश्यतः' की व्याख्या में लिखते हैं—गंगा जब तक समुद्र में नहीं मिली तब तक गंगा, और समुद्र में मिलते ही गंगा नाम समाप्त है और समुद्र ही रह जाता है ।……अद्वैतानुभव ही कल्याण है ।……सब जीव प्रभु में हैं, सो पृथक्-पृथक् स्थान में न होने से सब आत्मा ही आत्मा है । (ईशोपनिषद् पृ० १३)

(घ) 'तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः' की व्याख्या में श्री ब्र० जगदीशचन्द्र विद्यार्थी जी ने एक समदर्शी का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है । जो सभी प्राणियों में ईश्वर के दर्शन करता है । दृष्टान्त

इस प्रकार से है—'एक महात्मा संसार के सभी प्राणियों में प्रभु के दर्शन किया करते थे। एक दिन किसी गुण्डे ने उन्हें मारा, और इतना मारा कि वे बेहोश हो गए। किसी व्यक्ति ने उन्हें अस्पताल पहुँचा दिया। वहाँ डाक्टर महोदय उनकी चिकित्सा करने लगे। थोड़ी देर में महात्मा जी को होश आया, तो डाक्टर ने दूध का एक गिलास उनके सम्मुख प्रस्तुत कर दिया। महात्मा जी ने दूध का गिलास ले लिया और कहने लगे—'तुम बड़े बहुरूपिया हो। अभी तो तुमने मुझे डण्डों से पीटा था, और अब दूध लेकर आये हो। डाक्टर महोदय बड़े चकित हुए। कहने लगे महात्मन्! मैंने तो आपको मारा नहीं है, मैं तो आपकी सेवा में लगा हुआ हूँ। महात्मा जी बोले—अरे! झूठ भी बोलते हो। डाक्टर और अधिक चकित हुए। तब महात्मा जी के एक शिष्य ने बताया कि ये दुष्ट और सज्जन सभी में परमात्मा को ही देखते हैं। ऐसे समदर्शी को मोह और शोक कैसा? (ईशोपनिषद् पृ० १०६-७)

समीक्षा—उपर्युक्त सभी व्याख्याएँ भ्रान्तिमूलक हैं। श्री पं० हरिशरण जी सिद्धान्तालंकार ने तो अद्वैतानुभव का स्पष्ट ही उल्लेख कर दिया है। वे तो अद्वैतवाद से ही मोह और शोक की निवृत्ति मानते हैं। प्रतीत होता है कि सब अद्वैतवादी मोह और शोक से सर्वथा निर्मल हो गए होंगे? श्री सिद्धान्तालंकार जी को इतना भी ध्यान नहीं कि अद्वैतानुभव तो मिथ्याज्ञान है। दो पृथक् सत्ताओं को एक समझना मिथ्याज्ञान नहीं तो और क्या है? मिथ्या ज्ञान से मोह और शोक की निवृत्ति मानना भारी भूल है।

श्री सिद्धान्तालंकार जी ने समुद्र और गंगा का उदाहरण देकर आत्मा की सत्ता को ही समाप्त कर दिया है और साफ लिख दिया है कि—'गंगा नाम समाप्त है और समुद्र ही रह जाता है'। यहां तो श्री सिद्धान्तालंकार जी श्री शंकराचार्य जी से भी बढ़कर विशुद्ध अद्वैतवादी बन गए हैं। यहाँ इतना तो श्री शंकराचार्य जी ने भी नहीं लिखा।

श्री ब्र० जगदीशचन्द्र जी विद्यार्थी ने 'एकत्वमनुपश्यतः' की व्याख्या में जो दृष्टान्त प्रस्तुत किया है, उसमें उन्होंने सब व्याख्याकारों को पीछे छोड़ दिया है। पाठक विचार कर निर्णय कर सकते हैं कि उक्त दृष्टान्त किसी पागल का है अथवा सब प्राणियों में ईश्वर के दर्शन करने वाले समदर्शी महात्मा का? जो सेवा करने वाले डाक्टर को बहुरूपिया बता रहा है। और उसे ही डण्डों से पीटने वाला समझ रहा है। डंडों से पीटने वाले गुण्डे के प्रति उसके मन में शोक (परिताप) विद्यमान है जिससे डाक्टर को झूठा कह रहा है? वास्तविकता तो यह है कि ये व्याख्याकार 'एकत्वमनुपश्यतः' का अभिप्राय समझे ही नहीं। यहाँ योगाभ्यास के द्वारा एक (अद्वितीय) ब्रह्म के दर्शन का उपदेश है जिससे अविद्या अर्थात् मोह, शोकादि की निवृत्ति होती है। साधारण विद्वान् लोग वेद-मन्त्रों के सत्यार्थ को ठीक-ठीक कभी नहीं समझ सकते। महर्षि लोग ही वेदार्थ को ठीक-ठीक समझ कर प्रकाशित करते हैं। आर्य विद्वानों से निवेदन है कि वे मन्त्र-व्याख्या करने से पूर्व महर्षि दयानन्द कृत वेदभाष्य का मनन करने का कष्ट करें। जिससे वे स्वयं भूल से बचें और जनता को भी भ्रान्ति में न डालें॥ ४०। ७॥

दीर्घतमाः। **आत्मा**=परमात्मा। स्वराड्जगती। निषादः॥

पुनः परमेश्वरः कीदृश इत्याह॥

परमेश्वर कैसा है, यह फिर उपदेश किया है॥

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ ८॥

पदार्थः—(**सः**) परमात्मा (**परि**) सर्वतः (**अगात्**) व्याप्तोऽस्ति (**शुक्रम्**) आशुकरं=सवशक्तिमत् (**अकायम्**) स्थूलसूक्ष्मकारणशरीररहितम् (**अव्रणम्**) अच्छिद्रमच्छेद्यम् (**अस्नाविरम्**) नाड्यादिसम्बन्धबन्धरहितम् (**शुद्धम्**) अविद्यादिदोषरहितत्वात्सदा पवित्रम् (**अपापविद्धम्**) यत् पापयुक्तं पापकारि पापप्रियं कदाचिन्न भवति तत् (**कविः**) सर्वज्ञ (**मनीषी**) सर्वेषां जीवानां मनोवृत्तीनां वेत्ता (**परिभूः**) यो दुष्टान् पापिनः परि भवति=तिरस्करोति सः (**स्वयम्भूः**) अनादिस्वरूपो, यस्य संयोगेनोत्पत्तिर्वियोगेन विनाशो, मातापितरौ, गर्भवासो, जन्मवृद्धिक्षयौ च न विद्यन्ते (**याथातथ्यतः**) यथार्थतया (**अर्थान्**) वेदद्वारा सर्वान् पदार्थान् (**वि**) विशेषेण (**अदधात्**)विधत्ते (**शाश्वतीभ्यः**) सनातनीभ्योऽनादिस्वरूपाभ्यः स्वस्वरूपेणोत्पत्तिविनाशरहिताभ्यः (**समाभ्यः**) प्रजाभ्यः ॥ ८ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यद्ब्रह्म शुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धं पर्यगाद्यः कविर्मनीषीः परिभूः स्वयम्भूः परमात्मा शाश्वतीभ्यः समाभ्यो याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधात्स एव युष्माभिरुपासनीयः ॥ ८ ॥

सपदार्थान्वयः—**हे मनुष्याः ! यद् ब्रह्म शुक्रम्** आशुकरं सर्वशक्तिमद् **अकायं** स्थूलसूक्ष्मकारणशरीररहितम् **अव्रणम्** अच्छिद्रमच्छेद्यम् **अस्नाविरं** नाड्यादिसम्बन्धबन्धरहितं **शुद्धम्** अविद्यादिदोषरहितत्वात्सदा पवित्रम् **अपापविद्धं** यत् पापयुक्तं पापकारि पापप्रियं कदाचिन्न भवति तत् **परि+अगात्** सर्वतः व्याप्तोऽस्ति; **यः कविः** सर्वज्ञः **मनीषी** सर्वेषां जीवानां मनोवृत्तीनां वेत्ता **परिभूः** यो दुष्टान्=पापिनः परिभवति=तिरस्करोति सः **स्वयम्भूः=परमात्मा** अनादिस्वरूपो यस्य संयोगेनोत्पत्तिर्वियोगेन विनाशो मातापितरौ, गर्भवासो, जन्मवृद्धिक्षयौ च न विद्यन्ते **शाश्वतीभ्यः** सनातनीभ्योऽनादिस्वरूपाभ्यः स्वस्वरूपेणोत्पत्तिविनाशरहिताभ्यः **समाभ्यः** प्रजाभ्यः **याथातथ्यतः** यथार्थतया **अर्थान्** वेदद्वारा सर्वान् पदार्थान् **वि+अदधात्** विशेषेण विधत्ते । **सः** परमात्मा **एव युष्माभिरुपासनीयः** ॥ ४० । ८ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जो ब्रह्म (शुक्रम्) शीघ्रकारी, सर्वशक्तिमान् (अकायम्) स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से रहित है, (अव्रणम्) छिद्र रहित एवं जिसके दो टुकड़े नहीं हो सकते, (अस्नाविरम्) नाड़ी आदि के बन्धन से रहित है, (शुद्धम्) अविद्या आदि दोषों से रहित होने से सदा पवित्र है, (अपापविद्धम्) जो कभी भी पाप से युक्त, पाप करने वाला और पाप से प्रेम करने वाला नहीं है, वह (परि+अगात्) सर्वत्र व्यापक है; जो (कविः) सर्वज्ञ, (मनीषी) सब जीवों की मनोवृत्तियों को जानने वाला, (परिभूः) दुष्ट पापियों का तिरस्कार करने वाला, (स्वयम्भूः) अनादिस्वरूप वाला, जिसकी संयोग से उत्पत्ति और वियोग से विनाश नहीं होता, जिसके माता-पिता कोई नहीं और जिसका गर्भवास, जन्म, बृद्धि और क्षय नहीं होते हैं; वह परमात्मा (शाश्वतीभ्यः) सनातन, अनादि स्वरूप वाली, अपने स्वरूप की दृष्टि से उत्पत्ति और विनाश से रहित (समाभ्यः) प्रजा के लिए (याथातथ्यतः) यथार्थता से (अर्थान्) वेद के द्वारा सब पदार्थों का (व्यदधात्) अच्छी तरह से उपदेश करता है। (सः) वह परमात्मा ही तुम्हारे लिए उपासना करने योग्य है ॥ ४० । ८ ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यद्यनन्तशक्तिमदजं, निरन्तरं, सदामुक्तं, न्यायकारि, निर्मलं, सर्वज्ञं, सर्वस्य साक्षि, नियन्तृ, अनादिस्वरूपं

भावार्थ—हे मनुष्यो ! यदि अनन्त शक्तिशाली, अजन्मा, अखण्ड, सदा से मुक्त, न्यायकारी, पापरहित, सर्वज्ञ, सब का द्रष्टा, नियन्ता और

ब्रह्म कल्पादौ जीवेभ्यः स्वोक्तैर्वेदैः शब्दार्थ-सम्बन्धविज्ञापिकां विद्यां नोपदिशेत्तर्हि कोऽपि विद्वान् न भवेत्; न च धर्मार्थकाममोक्षफलं प्राप्तुं शक्नुयात्। तस्मादिदमेव सदैवोपाध्वम् ॥ ४० । ८ ॥

अनादिस्वरूप वाला ब्रह्म सृष्टि के आदि में स्वय प्रोक्त वेदों के द्वारा शब्द, अर्थ और सम्बन्ध को बतलाने वाली विद्या का उपदेश न करे तो कोई भी विद्वान् न बन सके; और न धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप फल को प्राप्त कर सके। इसलिए इस ब्रह्म की उपासना सदा करो ॥ ४० । ८ ॥

भा० पदार्थः—शुक्रम्=अनन्तशक्तिमत् (ब्रह्म)। अकायम्=अजम् (ब्रह्म)। अव्रणम्=निरन्तरं (अखण्डम्)। अस्नाविरम्=सदामुक्तम्। शुद्धम्=निर्मलम्। अपापविद्धम्=न्यायकारि। मनीषी=सर्वस्य साक्षि। परिभूः=नियन्तृ। स्वयम्भूः=अनादिस्वरूपं (ब्रह्म)। समाभ्यः=जीवेभ्यः। अर्थान्=स्वोक्तैर्वेदैः शब्दार्थसम्बन्धविज्ञापिकां विद्याम्। व्यदधात्=उपदिशेत्। सः=इदमेव ब्रह्म ॥ ८ ॥

भाष्यसार—परमेश्वर कैसा है—जो ब्रह्म—शीघ्रकारी, सर्वशक्तिमान्, स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से रहित, छिद्र रहित एवं अखण्ड, नाड़ी आदि के बन्धन से रहित, अविद्यादि दोषों से रहित होने से सदा पवित्र, या जो कभी पापयुक्त, पापकारी और पापप्रिय नहीं है; वह सर्वत्र व्यापक है। वह सर्वज्ञ, सब जीवों की मनोवृत्तियों का ज्ञाता, दुष्ट पापी जनों का तिरस्कार करने वाला, स्वयम्भू अर्थात् अनादि है, उसकी संयोग से उत्पत्ति और वियोग से विनाश नहीं होता। उसके माता-पिता कोई नहीं। वह कभी गर्भवास नहीं करता। वह जन्म, वृद्धि और क्षय से रहित है।

अनन्त शक्ति वाला, अज, निरन्तर, सदामुक्त, न्यायकारी, निर्मल, सर्वज्ञ, सब का साक्षी, नियन्ता, अनादि स्वरूप ब्रह्म—सृष्टि के आदि में सनातन, अनादि स्वरूप, अपने स्वरूप से उत्पत्ति और विनाश से रहित जीवों के लिए यथार्थ रूप में वेद के द्वारा सब पदार्थों का उपदेश करता है। यदि ब्रह्म स्वयं प्रोक्त वेदों के द्वारा शब्द-अर्थ-सम्बन्ध की विज्ञापक विद्या का उपदेश न करे तो कोई भी मनुष्य विद्वान् न हो सके और न कोई धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप फल को प्राप्त कर सके। अतः सब मनुष्य मन्त्रोक्त ब्रह्म की ही उपासना करें ॥ ४० । ८ ॥

अन्यत्र व्याख्यात—[क] 'स पर्यगाच्छु०'॥ ईश्वर की स्तुति—वह परमात्मा सब में व्यापक, शीघ्रकारी और अनन्त बलवान्, जो शुद्ध, सर्वज्ञ, सबका अन्तर्यामी, सर्वोपरि विराजमान, सनातन, स्वयं सिद्ध परमेश्वर अपनी जीव रूप सनातन अनादि प्रजा को अपनी सनातन विद्या से यथावत् अर्थों का बोध वेद द्वारा कराता है। यह सगुण स्तुति अर्थात् जिस-जिस गुण सहित परमेश्वर की स्तुति करना वह सगुण; (अकाय) अर्थात् वह कभी शरीर धारण वा जन्म नहीं लेता, जिसमें छिद्र नहीं होता, नाड़ी आदि के बन्धन में नहीं आता और कभी पापाचरण नहीं करता, जिसमें क्लेश, दुःख, अज्ञान कभी नहीं होता; इत्यादि जिस-जिस राग, द्वेषादि गुण से पृथक् मानकर परमेश्वर की स्तुति करना है, वह निर्गुण स्तुति है। इससे अपने गुण, कर्म, स्वभाव भी करना, जैसे वह न्यायकारी है तो आप भी न्यायकारी होवे, और जो केवल भांड के समान परमेश्वर के गुण-कीर्तन करता जाता और अपने चरित्र नहीं सुधारता उसका स्तुति करना व्यर्थ है (सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास)॥

[ख]—स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः (यजु० ४० । ८)॥ जो स्वयम्भू, सर्वव्यापक, शुद्ध, सनातन, निराकार परमेश्वर है वह सनातन जीव रूप प्रजा के कल्याणार्थ यथावत् रीतिपूर्वक वेद द्वारा सब विद्याओं का उपदेश करता है (सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास)॥

[ग]—"शाश्वतीभ्यः समाभ्यः" (अर्थात् अनादि सनातन जीवरूप प्रजा के लिए वेद द्वारा

परमात्मा ने सब विद्याओं का बोध किया है (सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समुल्लास) ॥

[घ]—"अज एकपात्" "अकायम्" इत्यादि विशेषणों से परमेश्वर को जन्म, मरण और शरीर धारण रहित वेदों में कहा है (सत्यार्थप्रकाश, एकादश समुल्लास) ॥

[ङ]—"स पर्यगाच्छु०" जो परमेश्वर—(कविः) सबका जानने वाला, (मनीषी) सबके मन का साक्षी, (परिभूः) सब के ऊपर विराजमान और (स्वयम्भूः) अनादि स्वरूप है, जो अपनी अनादि स्वरूप प्रजा को अन्तर्यामी रूप से और वेद के द्वारा सब व्यवहारों का उपदेश किया करता है; (स पर्यगात्) सो सब में व्यापक (शुक्रं) अत्यन्त पराक्रम वाला, (अकायं) सब प्रकार के शरीर से रहित (अव्रणं) कटना और सब रोगों से रहित (अस्नाविरं) नाड़ी आदि के बन्धन से पृथक्, (शुद्धं) सब दोषों से अलग और (अपापविद्धं) सब पापों से न्यारा इत्यादि लक्षणयुक्त परमात्मा है; वही सबको उपासना के योग्य है। ऐसा ही सबको मानना चाहिए; क्योंकि इस मन्त्र से भी शरीर धारण करके जन्म-मरण होना इत्यादि बातों का निषेध परमेश्वर विषय में पाया ही गया। इससे इसकी पत्थर आदि की मूर्ति बनाकर पूजना किसी प्रमाण वा युक्ति से सिद्ध नहीं हो सकता (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषय) ॥

[च]—"स, पर्यगात्" वह परमात्मा आकाश के समान सब जगह में परिपूर्ण (व्यापक) है, "शुक्रम्" सब जगत् का करने वाला वही है "अकायम्" और वह कभी शरीर (अवतार) नहीं धारण करता, क्योंकि वह अखण्ड और अनन्त, निर्विकार है, इससे देहधारण कभी नहीं करता, उससे अधिक कोई पदार्थ नहीं है, इससे ईश्वर का शरीर धारण करना कभी नहीं बन सकता। "अव्रणम्" वह अखण्डैकरस, अच्छेद्य, अभेद्य, निष्कम्प और अचल है इससे अंशांशीभाव भी उस में नहीं है, क्योंकि उसमें छिद्र किसी प्रकार से नहीं हो सकता, "अस्नाविरम्" नाड़ी आदि का प्रतिबन्ध (निरोध) भी उसका नहीं हो सकता, अतिसूक्ष्म होने से ईश्वर का कोई आवरण नहीं हो सकता, "शुद्धम्" वह परमात्मा सदैव निर्मल, अविद्यादि जन्म, मरण, हर्ष, शोक, क्षुधा, तृष्णादि दोषोपाधियों से रहित है, शुद्ध की उपासना करने वाला शुद्ध ही होता है और मलिन का उपासक मलिन ही होता है, "अपापविद्धम्" परमात्मा कभी अन्याय नहीं करता क्योंकि वह सदैव न्यायकारी ही है, "कविः" त्रैकालज्ञ (सर्ववित्) महाविद्वान् जिसकी विद्या का अन्त कोई कभी नहीं ले सकता, "मनीषी" सब जीवों के मन (विज्ञान) का साक्षी सब के मन का दमन करने वाला है, "परिभूः" सब दिशा और सब जगह में परिपूर्ण हो रहा है, सब के ऊपर विराजमान है, "स्वयम्भूः" जिसका आदिकारण माता, पिता, उत्पादक कोई नहीं किन्तु वही सबका आदिकारण है।

"याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः, समाभ्यः" उस ईश्वर ने अपनी प्रजा को यथावत् सत्य, सत्यविद्या जो चार वेद उनका सब मनुष्यों के परमहितार्थ उपदेश किया है। उस हमारे दयामय पिता परमेश्वर ने बड़ी कृपा से अविद्यान्धकार का नाशक, वेदविद्यारूप सूर्य्य प्रकाशित किया है और सबका आदिकारण परमात्मा है, ऐसा अवश्य मानना चाहिये। ऐसे विद्यापुस्तक का भी आदिकारण ईश्वर को ही निश्चित मानना चाहिए।

विद्या का उपदेश ईश्वर ने अपनी कृपा से किया है, क्योंकि हम लोगों के लिए उसने सब पदार्थों का दान दिया है तो विद्यादान क्यों न करेगा ?

सर्वोत्कृष्ट विद्यापदार्थ का दान परमात्मा ने अवश्य किया है तो वेद के विना अन्य कोई पुस्तक संसार में ईश्वरोक्त नहीं है। जैसा पूर्ण विद्यावान् और न्यायकारी ईश्वर है वैसा ही वेद पुस्तक भी है। अन्य कोई पुस्तक ईश्वरकृत वेदतुल्य वा अधिक नहीं है।

अधिक विचार इस विषय का "सत्यार्थप्रकाश" और "ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका" मेरे किये ग्रन्थों में देख लेना। (आर्याभिविनय २ । २)

समीक्षा

१. इस मन्त्र में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन है। यहाँ 'अकायम्' अव्रणम्' अस्नाविरम्' ये तीन पद बतला रहे हैं कि ब्रह्म कभी भी शरीर धारण नहीं करता। श्री शंकराचार्य जी ने भी इनकी बड़ी अच्छी व्याख्या की है। वे लिखते हैं—

"अकायमशरीरो लिङ्गशरीरवर्जित इत्यर्थः। अव्रणम् अक्षतम्। अस्नाविरं स्नावाः शिरा यस्मिन्न विद्यन्त इत्यस्नाविरम्। अव्रणमस्नाविरमित्याभ्यां स्थूलशरीरप्रतिषेधः"। **अर्थ**—वह ब्रह्म 'अकायम्' अर्थात् सूक्ष्म शरीर से रहित है। 'अव्रणम्' अर्थात् घाव से रहित है। 'अस्नाविरम्' अर्थात् शिरा नाड़ी आदि बन्धन से रहित है। अव्रणम्, और अस्नाविरम् पदों से ब्रह्म के स्थूल शरीर का निषेध है। ईशावास्योपनिषद् पृ० २९)

समीक्षा—श्री शंकराचार्य जी के मतानुसार 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह सब ब्रह्म है। यहाँ श्री शंकराचार्य जी ब्रह्म के सूक्ष्म और स्थूल शरीर का निषेध कर रहे हैं। सब को ब्रह्म मानने वाले श्री शंकराचार्य जी ने इस मन्त्र की व्याख्या में सब शरीरधारी प्राणियों को ब्रह्म मानने से स्वयं निषेध कर दिया है। श्री शंकराचार्य जी करते भी क्या ? और कोई चारा ही नहीं। मन्त्र ही इतना स्पष्ट है कि इसका कोई भी व्यक्ति अन्यथा अर्थ नहीं कर सकता।

२. 'अपापविद्धम्' की व्याख्या में श्री शंकराचार्य जी लिखते हैं—'अपापविद्धं धर्माधर्मादिपाप-वर्जितम्' अर्थात् ब्रह्म धर्म, अधर्म आदि पाप से रहित है। (ईशावास्योपनिषद् पृ० २९)

समीक्षा—यहाँ श्री शंकराचार्य जी ने पाप की बड़ी अद्भुत व्याख्या की है। अधर्म को तो पाप लिखना ठीक है। किन्तु श्री शंकराचार्य जी ने धर्म को भी पाप लिख डाला। जब धर्म और अधर्म दोनों ही पाप हैं तो पुण्य क्या है ? ब्रह्म धर्म से रहित कदापि नहीं हो सकता। सृष्टि, स्थिति और प्रलय करना ब्रह्म के धर्म हैं। सृष्टि के द्वारा वह जीवों का महान् उपकार करता है। उपकार करना धर्म है। सब जीवों के कल्याण के लिए वेद का उपदेश करता है। सब जीवों को कर्मानुसार फल प्रदान करता है। उसके न्याय में कभी कोई अन्तर नहीं आता। न्यायाचरण धर्म है। अतः ब्रह्म को धर्मरहित मानना सर्वथा असंगत है। जीव धर्माचरण की शिक्षा ब्रह्म से ही ग्रहण करता है।

३. परिभूः और स्वयम्भूः पदों की भी श्री शंकराचार्य जी की व्याख्या देखिए—'परिभूः सर्वेषां पर्युपरि भवतीति परिभूः। स्वयम्भूः स्वयमेव भवतीति। येषामुपरि भवति, यश्चोपरि भवति, स सर्वः स्वयमेव भवतीति स्वयम्भूः।" **अर्थ**—परिभू—सब के परि अर्थात् ऊपर है इसलिए परिभू है। स्वयम्भू—स्वयं ही होता है। जिनके ऊपर है, और जो ऊपर है वह सब स्वयं ही है, इसलिए स्वयम्भू है। (ईशावास्योपनिषद् पृ० ३०)

समीक्षा—यहाँ 'परिभूः' की व्याख्या की कि ब्रह्म सब के ऊपर होने से 'परिभूः' कहलाता है। इस व्याख्या में दो सत्ताएँ मानी जा रही हैं। एक सब जगत् और दूसरा उस सब के ऊपर होना वाला ब्रह्म। श्री शंकराचार्य जी ने 'परिभूः' पद की व्याख्या कर तो दी किन्तु मन में असन्तोष बना रहा। अतः 'परिभूः' पद की व्याख्या को 'स्वयम्भूः' पद की व्याख्या करते समय फिर घसीटने लगे। दोनों पदों की व्याख्याओं को मिलाते हुए लिखा कि 'जिनके ऊपर होता है और जो ऊपर होता है वह स्वयं

ही है"। यह इसलिए लिखा कि कभी अद्वैतवाद का सिद्धान्त टूट न जाये, जो कि स्थान-स्थान पर टूटा पड़ा है। श्री शंकराचार्य जी उसकी कहाँ-कहाँ रक्षा करेंगे। इस प्रकार दो पदों को मिलाकर व्याख्या करना सर्वथा अनुचित है। इस व्याख्या-पद्धति को कोई भी बुद्धिमान् स्वीकार नहीं कर सकता।

४. श्री उवट ने 'अर्थान् व्यदधात्' का बड़ा विचित्र अर्थ किया है। देखिये वे लिखते हैं—'अर्थान् विहितवान् त्यक्तस्वस्वामिसम्बन्धैश्चेतनाचेतनैरुपभोगं कृतवान्'। **अर्थ**—'अर्थान् व्यदधात्' अर्थात् पदार्थों को बनाया, उसका तात्पर्य यह है कि स्व-स्वामी सम्बन्ध से रहित चेतन और अचेतन पदार्थों से उपभोग किया। (उवटभाष्य)

समीक्षा—'अर्थान् व्यदधात्' का जो 'अर्थान् विदितवान्' अर्थ किया है कि पदार्थों को बनाया सो तो ठीक है किन्तु उसका जो असम्भव तात्पर्यार्थ निकाला है वह सर्वथा अशुद्ध है। और जो चेतन-अचेतन पदार्थों में स्व-स्वामी सम्बन्ध का निषेध किया है वह सर्वथा असंगत है। क्योंकि अचेतन पदार्थों में स्व-स्वामी सम्बन्ध होता ही नहीं। चेतन अर्थात् मनुष्यों में ही स्व-स्वामी सम्बन्ध उपलब्ध होता है। मनुष्य ही किसी जड़ वा चेतन पदार्थ को अपना 'स्व' समझता है और उसका स्वयं को स्वामी मानता है। जब जड़ पदार्थों में स्व-स्वामी सम्बन्ध संभव ही नहीं तो उसके छोड़ने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। उक्त चेतन और अचेतन पदार्थों से ब्रह्म का उपभोग को प्राप्त करना भी नहीं बनता। इसी मन्त्र में ब्रह्म को 'अकायम्' शरीर रहित बतलाया है। शरीर के विना उपभोग सम्भव नहीं। उपभोग की उसे आवश्यकता भी नहीं। अतः श्री उवट का यह प्रमत्त प्रलाप है।

५. 'अर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः' की व्याख्या में श्री पं० सातवलेकर जी लिखते हैं—'अनादि काल से सब अर्थों की व्यवस्था की है'। (ईशोपनिषद् पृ० ६८)

समीक्षा—यहाँ श्री पण्डित सातवलेकर जी ने 'शाश्वतीभ्यः समाभ्यः' का अर्थ 'अनादिकाल से' स्वीकार किया है। श्री पं० हरिशरण जी सिद्धान्तालंकार तथा श्री ब्र० जगदीशचन्द्र जी विद्यार्थी ने भी यही अर्थ किया है। इन विद्वानों ने 'समाः' पद को कालवाची मान कर तथा उसमें पञ्चमी विभक्ति स्वीकार करके उक्त अर्थ किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त विद्वानों को व्याकरणशास्त्र का कोई विशेष ज्ञान नहीं। सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये (पा० २।३।७) इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार कालवाची शब्दों में पञ्चमी विभक्ति वहाँ होती है जहां कालवाची शब्द दो कारक-शक्तियों के मध्य में हो। यहाँ 'समाः' कालवाची पद का दो कारक-शक्तियों से सम्बन्ध नहीं है, अपितु एक कर्तृ-कारक (ब्रह्म) से ही सम्बन्ध है। अतः यहाँ पञ्चमी विभक्ति मानकर अर्थ करना व्याकरणशास्त्रीय भूल है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 'शाश्वतीभ्यः समाभ्यः' में 'समाः' पद का अर्थ प्रजा किया है। और यहाँ चतुर्थी विभक्ति मानी है। श्री शंकराचार्य जी ने 'समाभ्यः' पद का अर्थ 'प्रजापतिभ्यः' किया है, और चतुर्थी विभक्ति ही स्वीकार की है। देखिये महर्षि का अर्थ कितना उपयुक्त है—(सः) परमात्मा (शाश्वतीभ्यः) सनातनीभ्योऽनादिस्वरूपाभ्यः स्वस्वरूपेणोत्पत्तिविनाशरहिताभ्यः (समाभ्यः) प्रजाभ्यः (याथातथ्यतः) यथार्थतया (अर्थान्) वेदद्वारा सर्वान् पदार्थान् (वि) विशेषेण (अदधात्) विधत्ते"। **भावार्थ**—(सः) वह परमात्मा (शाश्वतीभ्यः) सनातन, अनादि स्वरूप वाली, अपने स्वरूप से उत्पत्ति और विनाश से रहित[1], (समाभ्यः) प्रजाओं के लिए (यथातथ्यतः) यथार्थता से (अर्थान्) वेद के द्वारा सब पदार्थों का (वि+अदधात्) विशेष रूप से उपदेश करता है (वेदभाष्य)॥

१. जीवात्मा स्वरूप से नित्य है।

६. श्री पण्डित हरिशरण जी सिद्धान्तालंकार के भी कुछ शब्दार्थों पर दृष्टि डालिए—(कविः) प्रत्येक वस्तु के तत्त्व को जानते हैं (मनीषी) पूर्ण ज्ञानी (परिभूः) चारों ओर सर्वत्र होने वाले हैं। (ईशोपनिषद् पृ० १३)

समीक्षा—यहाँ श्री सिद्धान्तालंकार जी ने जो वेद के 'कवि' और 'मनीषी' पदों का शब्दार्थ किया है उन दोनों के अभिप्राय में कोई अन्तर नहीं। केवल शब्दों का ही भेद है। प्रत्येक वस्तु के तत्त्व को जानने वाला कहो अथवा पूर्ण ज्ञानी कहो; एक ही बात है। अतः उक्त पदों का अर्थ दोष-पूर्ण है। (परिभूः) पद का अर्थ किया है--चारों ओर सर्वत्र होने वाला। यही अर्थ 'स पर्यगात्' (चारों ओर गये हुए) की व्याख्या में कही गई है। अतः अर्थ में पुनरुक्ति दोष है। पाठक इन पदों का सत्यार्थ महर्षि दयानन्द के भाष्य में देख सकते हैं।

७. श्री ब्र० जगदीशचन्द्र जी विद्यार्थी का अद्भुत शब्दार्थ भी देखिये—"(अकायम्) स्थूल शरीर से रहित (अव्रणम्, अस्नाविरम्) घाव, छिद्र तथा नस-नाड़ी के बन्धन से रहित, अतएव **सूक्ष्म शरीर से रहित है।** (ईशोपनिषद् पृ० ११०)

समीक्षा—महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 'अकायम्' पद की व्याख्या में ब्रह्म के तीनों प्रकार के शरीर का निषेध किया है। स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, और कारण शरीर ये तीन शरीर कहलाते हैं। (अकायम्=स्थूल-सूक्ष्मकारणशरीररहितम्)। श्री विद्यार्थी जी 'अकायम्' पद के शब्दार्थ में केवल ब्रह्म के स्थूल शरीर का निषेध कर रहे हैं और 'अव्रणम्' 'अस्नाविरम्' पदों के शब्दार्थ में ब्रह्म को सूक्ष्म शरीर से रहित बतला रहे हैं। जिससे यह ध्वनित होता है कि श्री विद्यार्थी जी के मतानुसार घाव और नस नाड़ी आदि का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर से है; स्थूल शरीर से नहीं। श्री विद्यार्थी जी ने क्या ही अद्भुत व्याख्या की है? सूक्ष्म शरीर में व्रण (घाव), और नस-नाड़ी का सम्बन्ध मान बैठे। श्री विद्यार्थी जी ने कारण शरीर का कहीं निषेध नहीं किया। हो सकता है श्री विद्यार्थी जी के मत में ब्रह्म का कारण शरीर हो। जैसे कि सूक्ष्म शरीर में घाव, और नाड़ी आदि का सम्बन्ध है। पाठकगण तनिक विचार करें यह वेदार्थ के साथ उपहास नहीं तो और क्या है? इस प्रकार के अध-कचरे मिथ्या वेदार्थ से कोई लाभ नहीं ॥ ४० । ८ ॥ ●

दीर्घतमाः। **आत्मा**=**स्पष्टम्**। अनुष्टुप्। गान्धारः ॥

के जना अन्धन्तमः प्राप्नुवन्तीत्याह ॥

कौन मनुष्य घोर अन्धकार को प्राप्त होते हैं, यह उपदेश किया है ॥

अन्धन्तमः प्र विशन्ति येऽसंभूतिमुपासते।
ततो भूयऽइव ते तमो यऽउ सम्भूत्याᳬ रताः ॥ ९ ॥

पदार्थः—(**अन्धम्**) आवरकम् (**तमः**) अन्धकारम् (**प्र**) प्रकर्षेण (**विशन्ति**) (**ये**) (**असम्भूतिम्**) अनाद्यनुत्पन्नं प्रकृत्याख्यं सत्वरजस्तमोगुणमयं जडवस्तु (**उपासते**) उपास्यतया जानन्ति (**ततः**) तस्मात् (**भूय इव**) अधिकमिव (**ते**) (**तमः**) अविद्यामयमन्धकारम् (**ये**) (**उ**) वितर्केण सह (**संभूत्याम्**) महदादिस्वरूपेण परिणतायां सृष्टौ (**रताः**) ये रमन्ते ते ॥ ९ ॥

अन्वयः—ये परमेश्वरं विहायाऽसम्भूतिमुपासते तेऽन्धन्तमः प्रविशन्ति, ये सम्भूत्यां रतास्त उ ततो भूय इव तमः प्रविशन्ति ॥ ९ ॥

सपदार्थान्वयः—**ये** परमेश्वरं **विहायाऽसम्भूतिम्** अनाद्यनुत्पन्नं प्रकृत्याख्यं सत्वरजस्तमोगुणमयं जडवस्तु **उपासते** उपास्यतया जानन्ति **तेऽन्धम्** आवरकम् **तमः** अन्धकारम् **प्र+विशन्ति** प्रकर्षेण विशन्ति।

ये सम्भूत्यां महदादिस्वरूपेण परिणतायां सृष्टौ **रताः** ये रमन्ते ते **त उ** वितर्केण सह **ततः** तस्मात् **भूय इव** अधिकमिव **तमः** अविद्यामयमन्धकारं **प्रविशन्ति** प्रकर्षेण विशन्ति ॥ ४० । ६ ॥

भाषार्थ—जो लोग परमेश्वर को छोड़कर (असम्भूतिम्) अनादि, जिसकी उत्पत्ति कभी नहीं होती, सत्त्व रज तम गुण रूप प्रकृति नामक जड़ वस्तु को (उपासते) उपासनीय समझते हैं (ते) वे (अन्धम्) ढकने वाले (तमः) अन्धकार में (प्र) अच्छी तरह से (विशन्ति) प्रविष्ट होते हैं।

(ये) जो लोग (सम्भूत्याम्) महत्तत्त्वादि स्वरूप में परिणत हुई सृष्टि में (रताः) रमण करने वाले हैं, (ते) वे (उ) निस्सन्देह (ततः) उससे (भूय, इव) कहीं अधिक (तमः) अविद्यारूप अन्धकार में (प्रविशन्ति) प्रविष्ट होते हैं ॥ ४० । ६ ॥

भावार्थः—ये जनाः सकलजडजगतोऽनादि-नित्यं कारणमुपास्यतया स्वीकुर्वन्ति, तेऽविद्यां प्राप्य सदा क्लिश्यन्ति।

ये च तस्मात्कारणादुत्पन्नं पृथिव्यादिस्थूलं, सूक्ष्मं कार्यकारणाऽऽख्यमनित्यं संयोगजन्यं कार्यं जगदिष्टमुपास्यं मन्यन्ते, ते गाढामविद्यां प्राप्या-ऽधिकतरं क्लिश्यन्ति तस्मात्—सच्चिदानन्दस्वरूपं परमात्मानमेव सर्वे सदोपासीरन् ॥ ४० । ६ ॥

भावार्थ—जो लोग सकल जड़ जगत् के अनादि नित्य कारण प्रकृति को उपास्य समझते हैं, वे अविद्या को प्राप्त करके सदा दुःखी रहते हैं।

और जो उस कारण प्रकृति से उत्पन्न हुए पृथिव्यादि स्थूल, कार्य कारण रूप सूक्ष्म, अनित्य संयोग से उत्पन्न कार्य जगत् को अपना इष्ट उपास्य देव मानते हैं; वे गाढ़ अविद्या को प्राप्त करके उससे अधिक दुःखी रहते हैं। इसलिए सच्चिदानन्द-स्वरूप परमात्मा की ही सब सदा उपासना करें ॥ ४० । ६ ॥

भाष्यसार—**कौन मनुष्य घोर अन्धकार को प्राप्त होते हैं**—जो मनुष्य परमेश्वर को छोड़कर असम्भूति अर्थात् अनादि, अनुत्पन्न, प्रकृति नामक सत्त्व, रज, तम गुणमय जड़वस्तु को उपास्य मानते हैं, वे घोर अन्धकार को प्राप्त होते हैं अर्थात् अविद्या को प्राप्त होकर सदा दुःखी रहते हैं। और जो सम्भूति अर्थात् उस कारण प्रकृति से उत्पन्न, महदादि स्वरूप में परिणत हुई सृष्टि अर्थात् पृथिव्यादि स्थूल जगत्, कार्य-कारण रूप सूक्ष्म, अनित्य संयोगजन्य कार्य जगत् को उपास्य मानते हैं; उसमें रमण करते हैं वे उससे भी कहीं अधिक गाढ़ अविद्या अन्धकार को प्राप्त होकर दुःखी रहते हैं। अतः सब मनुष्य सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा की ही सदा उपासना करें ॥ ४० । ६ ॥

अन्यत्र व्याख्यात—'अन्धन्तमः प्रविशन्ति०'—जो असम्भूति अर्थात् अनुत्पन्न, अनादि, प्रकृति कारण की ब्रह्म के स्थान में उपासना करते हैं, वे अन्धकार अर्थात् अज्ञान और दुःखसागर में डूबते हैं। और सम्भूति जो कारण से उत्पन्न हुए कार्यरूपी पृथिवी आदि भूत, पाषाण और वृक्षादि अवयव और मनुष्यादि के शरीर की उपासना ब्रह्म के स्थान में करते हैं; वे उस अन्धकार से भी अधिक अन्धकार अर्थात् महामूर्ख चिरकाल घोर दुःखरूप नरक में गिरके महाक्लेश भोगते हैं (सत्यार्थप्रकाश, एकादश समुल्लास) ॥ ४० । ६ ॥

दीर्घतमाः । **आत्मा**=मनुष्यः । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

पुनर्मनुष्याः किं कुर्य्युरित्याह ॥

फिर मनुष्य क्या करें, यह उपदेश किया है ॥

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १० ॥

पदार्थः—(**अन्यत्**) कार्य्यं फलं वा (**एव**) (**आहुः**) कथयन्ति (**सम्भवात्**) संयोगजन्यात्कार्य्यात् (**अन्यत्**) भिन्नम् (**आहुः**) कथयन्ति (**असम्भवात्**) अनुत्पन्नात्कारणात् (**इति**) अनेन प्रकारेण (**शुश्रुम**) शृणुमः (**धीराणां**) मेधाविनां, विदुषां, योगिनाम् (**ये**) (**नः**) अस्मान् प्रति (**तत्**) तयोर्विवेचनम् (**विचचक्षिरे**) व्याचक्षते ॥ १० ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा वयं धीराणां सकाशाद्यद्वचः शुश्रुम, ये नस्तद्विचचक्षिरे, ते सम्भवादन्यदेवाहुरसम्भवादन्यदाहुरिति यूयमपि शृणुत ॥ १० ॥

सपदार्थान्वयः—हे **मनुष्याः ! यथा वयं धीराणां** मेधाविनां, विदुषां, योगिनां **सकाशाद्यद्वचः शुश्रुम** शृणुमः, **ये नः** अस्मान् प्रति **तत्** तयोर्विवेचनं **विचचक्षिरे** व्याचक्षते; **ते सम्भवाद्** संयोगजन्यात्कार्य्यात् **अन्यत्** कार्य्यं फलं वा **एवाहुः** कथयन्ति; **असम्भवात्** अनुत्पन्नात्कारणात् **अन्यत्** भिन्नम् **आहुः** कथयन्ति **इति** अनेन प्रकरेण **यूयमपि शृणुत** ॥ ४० । १० ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे हमने (धीराणाम्) मेधावी, विद्वान्, योगी जनों के वचन [उपदेश] (शुश्रुमः) सुनें हैं (ये) जिन्होंने (नः) हमें (तत्) उस सम्भूति और असम्भूति दोनों का विवेचन (विचचक्षिरे) व्याख्यापूर्वक समझाया है; वे योगी जन (सम्भवात्) संयोग से उत्पन्न कार्य से (अन्यत् एव) और ही कार्य वा फल (आहुः) बतलाते हैं तथा (असम्भवात्) उत्पन्न न होने वाले कारण से (अन्यत्) भिन्न कार्य वा फल (आहुः) बतलाते हैं। (इति) इस प्रकार तुम भी सुनो ॥ ४० । १० ॥

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यथा विद्वांसः कार्यात्कारणाद्वस्तुनो भिन्नं भिन्नं वक्ष्यमाणमुपकारं गृह्णन्ति, ग्राहयन्ति;

तद्गुणान् विज्ञायाऽधिज्ञापयन्त्येवमेव यूयमपि निश्चिनुत ॥ ४० । १० ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे विद्वान् लोग कार्य-वस्तु और कारण-वस्तु से आगे कहे जाने वाले भिन्न-भिन्न उपकार ग्रहण करते तथा अन्यों को भी ग्रहण करवाते हैं;

उन कार्य और कारण के गुणों को जानकर अन्यों को समझते हैं; इसी प्रकार तुम भी निश्चय करो ॥ ४० । १० ॥

भा० पदार्थः—धीराः=विद्वांसः । सम्भवात्=कार्याद्वस्तुनः । असम्भवात्=कारणाद्वस्तुनः । अन्यत्=भिन्नं भिन्नं वक्ष्यमाणमुपकारम् । विचचक्षिरे=अधिज्ञापयन्ति ॥ ४० । १० ॥

भाष्यसार—**मनुष्य क्या करें**—विद्वान् मनुष्य धीर अर्थात् मेधावी विद्वान् योगी जनों से जिन सम्भूति और असम्भूति विषयक वचनों का श्रवण करें उनका विवेचन करके सब मनुष्यों को

समझावें। सम्भव (संभूति) अर्थात् संयोग से उत्पन्न कार्य जगत् से उक्त विद्वान् अन्य फल बतलाते हैं और असम्भव (असम्भूति) अर्थात् अनुत्पन्न कारण जगत् से अन्य फल बतलाते हैं।

उक्त विद्वान् मनुष्य सम्भव (कार्यवस्तु), असम्भव (कारण वस्तु) से भिन्न-भिन्न वक्ष्यमाण उपकार ग्रहण करते और कराते हैं। कार्य वस्तु और कारण वस्तु के गुणों को स्वयं जानकर उनका उपदेश करते हैं। अतः सब मनुष्य कार्य और कारण वस्तु को जानें ॥ ४० । १० ॥

दीर्घतमाः । **आत्मा**=विद्वान् । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

पुनर्मनुष्यैः कार्य्यकारणाभ्यां किं किं साधनीयमित्याह ॥

फिर मनुष्यों को कार्य और कारण वस्तु से क्या-क्या सिद्ध करना चाहिए यह उपदेश किया है ॥

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयंꣳ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥ ११ ॥

पदार्थः—(**सम्भूतिम्**) सम्भवन्ति यस्यां तां कार्य्याख्यां सृष्टिम् (**च**) तस्या गुणकर्मस्वभावान् (**विनाशम्**) विनश्यन्त्यदृश्याः पदार्था भवन्ति यस्मिन् (**च**) तद्गुणकर्म्मस्वभावान् (**यः**) (**तत्**) (**वेद**) जानाति (**उभयम्**) कार्य्यकारणस्वरूपं जगत् (**सह**) (**विनाशेन**) नित्यस्वरूपेण विज्ञातेन कारणेन सह (**मृत्युम्**) शरीरवियोगजन्यं दुःखम् (**तीर्त्वा**) उल्लङ्घ्य (**सम्भूत्या**) शरीरेन्द्रियान्तःकरणरूपयोत्पन्नया कार्य्यरूपया धर्म्ये प्रवर्त्तयित्र्या सृष्ट्या (**अमृतम्**) मोक्षम् (**अश्नुते**) प्राप्नोति ॥ ११ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यो विद्वान् सम्भूतिं च विनाशं च सहोभयं तद्वेद, स विनाशेन सह मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्या सहामृतमश्नुते ॥ ११ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! **यो**=**विद्वान् सम्भूतिं** सम्भवन्ति यस्यां तां कार्य्याख्यां सृष्टिं **च** तस्या गुण-कर्मस्वभावान् **विनाशं** विनश्यन्त्यदृश्याः पदार्था भवन्ति यस्मिन् **च** तदगुण-कर्म-स्वभावान् **सहोभयं** कार्य्यकारण-स्वरूपं जगत् **तद्वेद** जानाति; **स विनाशेन** नित्यस्वरूपेण विज्ञातेन कारणेन **सह मृत्युं** शरीरवियोगजन्यं दुःखं **तीर्त्वा** उल्लङ्घ्य **सम्भूत्या** शरीरेन्द्रियान्तःकरण-रूपयोत्पन्नया कार्य्यरूपया, धर्म्ये प्रवर्त्तयित्र्या सृष्ट्या **सहामृतं** मोक्षम् **अश्नुते** प्राप्नोति ॥४०।११॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! (यः) जो विद्वान् (सम्भूतिम्) जिसमें पदार्थ उत्पन्न होते हैं उस कार्यरूप सृष्टि को (च) और सृष्टि के गुण-कर्म-स्वभाव को एवं (विनाशम्) जिसमें पदार्थ विनष्ट=अदृश्य हो जाते हैं उस कारणरूप प्रकृति को तथा (च) उसके गुण-कर्म-स्वभाव को (सह) एक साथ (उभयं तत्) उस कार्य कारण रूप जगत् को (वेद) जानता है; वह (विनाशेन) नित्य स्वरूप को समझने के कारण (मृत्युम्) शरीर और आत्मा के वियोग से उत्पन्न दुःख को (तीर्त्वा) पार करके (सम्भूत्या) शरीर इन्द्रिय अन्तःकरण रूप उत्पन्न होने वाली कार्य रूप, धर्म कार्य में प्रवृत्त कराने वाली सृष्टि के सहयोग से (अमृतम्) मोक्ष-सुख को (अश्नुते) प्राप्त होता है ॥ ४०।११ ॥

भावार्थः--हे मनुष्याः ! कार्य-कारणाऽऽख्ये वस्तुनी निरर्थके न स्तः; किन्तु कार्य-कारणयोर्गुण-कर्मस्वभावान् विदित्वा, धर्मादिमोक्षसाधनेषु

भावार्थ—हे मनुष्यो ! कार्य (सृष्टि), कारण (प्रकृति) नामक वस्तुएँ निरर्थक नहीं हैं, किन्तु कार्य, कारण इन दोनों के गुण, कर्म, स्वभाव

संप्रयोज्य; स्वाऽऽत्मकार्यकारणयोर्विज्ञातेन नित्यत्वेन मृत्युभयं त्यक्त्वा मोक्षसिद्धिं सम्पादयतेति कार्य-कारणाभ्यामन्यदेव फलं निष्पादनीयमिति।

को जानकर, इनका धर्मादि, मोक्ष के साधनों में उपयोग करके, अपने-अपने स्वरूप से कार्य और कारण की नित्यता के विज्ञान से मृत्यु के भय को हटा कर मोक्ष की सिद्धि करो। इस प्रकार कार्य (सृष्टि), कारण (प्रकृति) के द्वारा भिन्न-भिन्न धर्मादि और मोक्षसिद्धि रूप फल प्राप्त करना चाहिए।

अनयोर्निषेधो हि परमेश्वरस्थान उपासना-प्रकरणे वेदितव्यः॥ ४०। ११॥

उपासना के प्रकरण में परमेश्वर के स्थान में इन कार्य (सृष्टि), कारण (प्रकृति) की उपासना करने का निषेध समझना चाहिए॥ ४०। ११॥

भा० पदार्थः—सम्भूतिम्=कार्याऽऽख्यं वस्तु। विनाशम्=कारणाऽऽख्यं वस्तु। उभयम्=कार्यकारणयोर्गुण-कर्म-स्वभावम्। मृत्युम्=मृत्यु भयम्। अमृतम्=मोक्षसिद्धिम्॥ ४०। ११॥

भाष्यसार—मनुष्य कार्य और कारण वस्तु से क्या-क्या सिद्ध करें—विद्वान् मनुष्य सम्भूति अर्थात् कार्य नामक सृष्टि और उसके गुण-कर्म-स्वभाव, विनाश (असम्भूति) अर्थात् जिसमें सब पदार्थ विनष्ट=अदृश्य हो जाते हैं उस कारण रूप प्रकृति और उसके गुण-कर्म-स्वभाव को साथ-साथ जानें। विनाश (असम्भूति) नित्य प्रकृति को जानकर मृत्यु अर्थात् शरीर के वियोग से उत्पन्न दुःख को पार करें। सम्भूति अर्थात् शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण रूप उत्पन्न कार्य जगत् तथा धर्म में प्रवृत्त करने वाली सृष्टि को जानकर, इस।। सदुपयोग करके मोक्ष-फल को प्राप्त करें। इस प्रकार कारण वस्तु से मृत्यु-भय का त्याग और कार्य वस्तु से मोक्ष-फल की सिद्धि रूप भिन्न-भिन्न फल की प्राप्ति करें। कारण और कार्य वस्तु का परमेश्वर के स्थान में उपासना करने का निषेध है; इनसे यथायोग्य उपयोग लेने का नहीं॥ ४०। ११॥

समीक्षा

इस अध्याय के ९, १० और ११ ये तीन मन्त्र सम्भूति और असम्भूति के उपयोग को समझा रहे हैं। यहाँ प्रथम मन्त्र में बतलाया गया है कि जो लोग असम्भूति की उपासना करते हैं वे गाढ़ अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं और जो लोग सम्भूति में ही रत रहते हैं वे उससे भी कहीं अधिक घोर अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं। यहाँ दूसरे मन्त्र में बतलाया गया है कि जिन मेधावी विद्वान् योगी जनों ने हमारे लिए उक्त सम्भूति और असम्भूति का उपदेश किया है उनसे हमने ऐसा सुना है कि सम्भूति (सम्भव) का कुछ और फल है और असम्भूति (असम्भव) का कुछ और है फल यहाँ तीसरे मन्त्र में सम्भूति और असम्भूति के फल का उपदेश किया गया है। इस मन्त्र में बतलाया गया है कि जो विद्वान् सम्भूति और असम्भूति को साथ-साथ जान लेता है वह असम्भूति (विनाश) से मृत्यु के भय को पार कर सकता है; तथा सम्भूति से अमृत (मोक्ष) को प्राप्त कर सकता है।

अब यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि असम्भूति और सम्भूति क्या वस्तु है? भाष्यकारों ने असम्भूति और सम्भूति के भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं। किन्तु महर्षि दयानन्द के भाष्य के अनुसार असम्भूति का अर्थ—प्रकृति है। जो (सत्त्व) शुद्ध (रजः) मध्य (तमः) जाड्य अर्थात् जड़ता इन तीन वस्तुओं का नाम है। यह अनादि है। इसकी कभी उत्पत्ति नहीं होती। यह जड़ वस्तु है। उक्त प्रकृति से जो महत्त-

त्वादि उत्पन्न होते हैं, उन्हें सम्भूति कहते हैं। उनकी उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार है—प्रकृति से महत्तत्व अर्थात् बुद्धि, बुद्धि से अहंकार, अहंकार से पंचतन्मात्रा अर्थात् सूक्ष्म भूत, दश इन्द्रियाँ और ग्यारहवां मन, पाँच तन्मात्राओं से पृथिव्यादि पाँच स्थूल भूत उत्पन्न होते हैं। यह सब प्रकृति से उत्पन्न पदार्थ सम्भूति कहलाते हैं क्योंकि प्रकृति से सम्भूत (उत्पन्न) हुए हैं।

अब यहाँ फिर प्रश्न उत्पन्न होता है कि उक्त असम्भूति और सम्भूति का आत्मा के लिए क्या उपयोग है ? यहाँ प्रथम ९ मन्त्र में बतलाया है कि असम्भूति अर्थात् प्रकृति आत्मा के लिए उपासना की वस्तु नहीं है। जो मनुष्य उसकी उपासना करते हैं वे गाढ़ अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं अर्थात् अविद्या को प्राप्त होकर सदा दुःखी रहते हैं और जो लोग सम्भूति अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न पृथिवी आदि जड़ वस्तुओं की उपासना करते हैं वे उनसे भी कहीं अधिक घोर अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा के लिए न तो असम्भूति (जड़ प्रकृति) उपासना के योग्य है और न ही सम्भूति (प्रवृति से उत्पन्न अन्य पाषाणादि जड़ पदार्थ) उपास्य हैं। सार यह है कि इस मन्त्र में आत्मा के लिए जड़ की उपासना का निषेध किया गया है। आत्मा के लिये एक मात्र चेतन ब्रह्म ही उपासना करने योग्य है; अन्य कोई जड़ पदार्थ नहीं।

यहाँ प्रथम मन्त्र में असम्भूति (प्रकृति) और सम्भूति (महत्तत्वादि) की उपासना का निषेध तो कर दिया किन्तु इनका उपयोग कोई नहीं बतलाया। इस जिज्ञासा का उत्तर दूसरे और तीसरे (१०-११) मन्त्र में दिया गया है। दूसरे मन्त्र में कहा गया है कि सम्भूति (सम्भव) का और फल है तथा असम्भूति (असम्भव=प्रकृति) का और फल है। तीसरे मन्त्र से उस फल का उपदेश किया गया है। असम्भूति और सम्भूति आत्मा के लिये अत्यन्त उपयोगी वस्तु हैं। आत्मा—सम्भूति असम्भूति का साथ-साथ ज्ञान प्राप्त करे अर्थात् इन दोनों में से किसी को भी न छोड़े। दोनों से उपयोग ग्रहण करे।

यहाँ तीसरे मन्त्र में असम्भूति न लिखकर उसे 'विनाश' के नाम से लिखा है। क्योंकि सब उत्पन्न हुये पदार्थ प्रलय काल में प्रकृति में विनाश (अदर्शन=लोप) को प्राप्त हो जाते हैं। जो इस विनाश के विज्ञान को समझ लेता है वह मृत्यु के भय से पार हो जाता है। क्योंकि मृत्यु से भी विनाश (अदर्शन=लोप) ही होता है। अतः तीसरे मन्त्र में विनाश (असम्भूति=प्रकृति) के विज्ञान से मृत्यु के भय को पार करने का उपदेश किया गया है।

आत्मा सम्भूति अर्थात् महत्तत्व (बुद्धि), अहंकार, पाँच तन्मात्रा, दश इन्द्रियाँ, ग्यारहवाँ मन तथा पृथिवी आदि पाँच भूतों का जीवन में वेदोक्त रीति से ठीक-ठीक उपयोग करे। वेदादि शास्त्रों के अध्ययन एवं विद्वानों के संग से इनका उपयोग करना सीखे। यह सम्भूति आत्मा के लिये उपयोग करने की वस्तु है; उपासना की नहीं। इस सम्भूति के सदुपयोग से आत्मा अमृत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करे।

इन तीनों मन्त्रों का सार यह है कि असम्भूति और सम्भूति आत्मा के लिए उपासना की वस्तु नहीं है, अपितु उपयोग की वस्तु है। आत्मा अपने जीवन में इनका सदुपयोग करके मृत्यु को पार करे तथा अमृत को प्राप्त करे।

१. अनेक भाष्यकार इस असम्भूति और सम्भूति के रहस्य को नही समझ सके, अतः उन्होंने इनके अपने कल्पित अर्थ किये हैं। श्री शंकराचार्य जी इस मन्त्र की व्याख्या में लिखते हैं—'असम्भूतिः प्रकृतिः कारणम्······सम्भूत्यां कार्यब्रह्मणि हिरण्यगर्भाख्ये'। अर्थ—सम्भूति अर्थात् प्रकृति, कारण······ सम्भूति अर्थात् कार्य ब्रह्म हिरण्यगर्भ नामक। (ईशावास्योपनिषद् पृ० ३७)

समीक्षा—यहाँ श्री शंकराचार्य जी ने 'असम्भूति' पद का अर्थ तो ठीक किया हैं किन्तु 'सम्भूति' शब्द का अर्थ करते समय मताग्रहवश विचलित हो गये। 'सम्भूति' पद का अर्थ हिरण्यगर्भ नामक कार्य-ब्रह्म किया है। यदि 'सम्भूति' पद का अर्थ कार्य ब्रह्म है तो 'असम्भूति' पद का अर्थ अवश्य कारण-ब्रह्म होना चाहिये, यदि असम्भूति का अर्थ प्रकृति है तो सम्भूति का अर्थ अवश्य ही विकृति (प्रकृति से उत्पन्न महत्तत्वादि) हैं। अतः श्री शंकराचार्य जी ने सम्भूति का जो कार्य ब्रह्म अर्थ किया है वह काल्पनिक है।

२. दूसरे मन्त्र की व्याख्या में श्री शंकराचार्य लिखते हैं—"सम्भवात् सम्भूतेः कार्यब्रह्मोपासनादणिमाद्यैश्वर्यलक्षणं व्याख्यातवन्त इत्यर्थः।......असम्भवादसम्भूतेरव्याकृताद् अव्याकृतोपासनात्, यदुक्तमन्धन्तमः प्रविशन्तीति प्रकृतिलय इति च पौराणिकैरुच्यते"। **अर्थ**—सम्भूति अर्थात् कार्यब्रह्म की उपासना से प्राप्त होने वाला अणिमादि ऐश्वर्यरूप और ही फल बतलाया है।......असम्भूति अर्थात् अव्याकृत (प्रकृति) की उपासना से जिसे 'अन्धन्तम् प्रविशन्ति' इस वाक्य से कह चुके हैं तथा पौराणिक लोग जिसे प्रकृतिलय कहते हैं। (ईशावास्योपनिषद् पृ० ३८)

समीक्षा—श्री शंकराचार्य जी इस मन्त्र में सम्भूति की उपासना का विधान कर रहे हैं तथा उसकी उपासना से अणिमादि ऐश्वर्य की प्राप्ति बतला रहे हैं। जब कि इससे पहले मन्त्र में बतलाया गया है कि जो लोग सम्भूति की उपासना करते हैं वे घोरतम अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं। जिसका अभिप्राय स्पष्ट है कि वह उपासना की वस्तु नहीं है। इसी प्रकार श्री शंकराचार्य जी असम्भूति का उपासना का भी उल्लेख कर रहे हैं और उसका पूर्व मन्त्रोक्त फल का निर्देश कर रहे हैं कि जो असम्भूति की उपासना करते हैं वे गाढ़ अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं जिसे पौराणिक लोग प्रकृतिलय कहते हैं। श्री शंकराचार्य जी ने इतना नहीं विचारा कि पहले मन्त्र में असम्भूति की उपासना का फल नहीं बतलाया गया है अपितु असम्भूति (प्रकृति) की उपासना की निन्दा की गई है। जो उसकी उपासना करते हैं वे घोर अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं। इसका स्पष्ट तात्पर्य यही है कि वह उपासना की वस्तु नहीं है। यह बात तो पहले मन्त्र में ही बतलता दी गई थी। इस मन्त्र में क्या विशेष बतलाया गया है?

सम्भूति अर्थात् कार्य ब्रह्म की उपासना से अणिमादि ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है, श्री शंकराचार्य जी का यह कथन भी कल्पना से पूर्ण है क्योंकि तीनों मन्त्रों में इस फल का ही कहीं उल्लेख नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि श्री शंकराचार्य जी इस मन्त्र के तात्पर्य को समझे ही नहीं। इसमें सम्भूति और असम्भूति की उपासना की कोई चर्चा ही नहीं है। इसमें तो केवल यही कहा गया है कि सम्भूति का अन्य फल है तथा असम्भूति का अन्य फल है, वह फल क्या है? सो तीसरे मन्त्र में बतलाया गया है; असम्भूति विज्ञान से मृत्यु को पार करना तथा सम्भूति के विज्ञान से अमृत (मोक्ष) को प्राप्त करना।

३. श्री शंकराचार्य जी ने तीसरे मन्त्र की व्याख्या में लिखा है—"सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह, विनाशधर्मो यस्य कार्यस्य स तेन धर्मिणा अभेदेनोच्यते विनाश इति। तेन तदुपासनेनानैश्वर्यमधर्मकामादिदोषजातं च मृत्युं तीर्त्वा—हिरण्यगर्भोपासनेन ह्यणिमादिप्राप्तिः फलम्, तेनानैश्वर्यादिमृत्युमतीत्य, असम्भूत्या अव्याकृतोपासनया अमृतं प्रकृतिलक्षणमश्नुते। **अर्थ**—कार्य (उत्पन्न पदार्थ=सम्भूति) का धर्म विनाश है, अतः यहाँ धर्म और धर्मी का अभेद से कथन किया गया है। अर्थात् यहाँ सम्भूति (कार्य) विनाश नाम से कहा गया है। उसकी उपासना से अनैश्वर्य तथा अधर्म कामना आदि दोष से उत्पन्न मृत्यु को पार करता है—हिरण्यगर्भ (सम्भूति) की उपासना से अणिमा

आदि ऐश्वर्य की प्राप्ति फल है। उससे अनैश्वर्य आदि तथा मृत्यु को लांघता है। असम्भूति (अव्याकृत=प्रकृति) की उपासना से अमृत अर्थात् प्रकृतिलयत्व को प्राप्त होता है (ईशावस्योपनिषद् पृ० ३९)॥

समीक्षा—यहाँ श्री शंकराचार्य जी मन्त्रोक्त 'विनाश' पद का अर्थ नहीं समझे। उन्होंने विनाश का अर्थ विनाश होने वाला कार्य-पदार्थ किया है। क्या श्री शंकराचार्य जी इतना भी नहीं जानते कि कार्य-पदार्थ के लिए तो मन्त्र में सर्वप्रथम पद 'सम्भूति' पढ़ा ही है। जिसका वे पहले कार्य ब्रह्म अर्थ कर चुके हैं। यदि यहां 'सम्भूति' का अर्थ भी कार्य और 'विनाश' का अर्थ भी कार्य है तो अर्थ में पुनरुक्ति दोष है।

यह तो पहले हम बतला चुके हैं कि इस मन्त्र में सम्भूति और असम्भूति की उपासना की कोई चर्चा नहीं है। इस मन्त्र में तो सम्भूति और असम्भूति के विज्ञान से जो फल प्राप्त होता है उसका निर्देश किया जा रहा है। यहां 'उपासते' क्रिया नहीं है अपितु 'वेद' क्रिया है। अतः सम्भूति और असम्भूति के विज्ञान का उपदेश है। पुनरपि श्री शंकराचार्य जी यहाँ विनाश अर्थात् कार्य-पदार्थ (सम्भूति) की उपासना से अनैश्वर्य तथा अधर्म कामना दोषों आदि से उत्पन्न मृत्यु को पार करने का वर्णन कर रहे हैं। वेद में विनाश के विज्ञान से मृत्यु को पार करना रूप एक फल निर्देश किया है। श्री शंकराचार्य जी दो फल बतला रहे हैं। आत्मा विनाश के विज्ञान से अनैश्वर्य को पार करता है तथा अधर्मकामनादि से उत्पन्न मृत्यु को भी पार करता है। अनैश्वर्य को पार करने का वेद-मन्त्र में कोई वर्णन नहीं है; यह श्री शंकराचार्य जी की अपनी कल्पना है।

श्री शंकराचार्य जी यहाँ विनाश पद का अर्थ कार्य (सम्भूति) कर बैठे। अब मन्त्र का अर्थ अटक रहा है। मन्त्र के उत्तरार्द्ध में कहा जा रहा है—"विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते"। यदि विनाश पद का भी अर्थ सम्भूति है तो मन्त्र के उत्तरार्द्ध का अर्थ यह होगा—विनाश अर्थात् सम्भूति से मृत्यु को पार करके, सम्भूति से अमृत को प्राप्त करता है। यहाँ असम्भूति के फल का कोई निर्देश नहीं। अतः स्पष्ट है कि मन्त्रार्थ दोषपूर्ण है। मन्त्र के अन्तिम चरण में 'सम्भूत्याऽमृतमश्नुते' सम्भूति से अमृत की प्राप्ति का स्पष्ट उल्लेख है। अतः 'विनाश' पद का अर्थ सम्भूति कदापि नहीं, अपितु 'विनाश' पद का अर्थ अवश्य ही असम्भूति है जो कि सम्भूति का विपरीतार्थक है।

श्री शंकराचार्य जी के सामने जब मन्त्रार्थ उपर्युक्त रीति से अटकने लगा तब मन्त्र को बदलने का ही दुःसाहस कर बैठे और लिखा—"सम्भूतिं च विनाशं चेत्यत्रावर्णलोपेन निर्देशो द्रष्टव्यः" अर्थात् सम्भूतिं च विनाशं च' यहाँ अवर्ण लोप पूर्वक निर्देश समझें। अभिप्राय यह है कि मन्त्र 'सम्भूतिं च विनाशं च०' इस प्रकार नहीं है; अपितु मन्त्र को—'असम्भूतिं च विनाशं च' इस प्रकार समझना चाहिए।'

क्या ही अद्भुत भाष्य रचा है मन्त्र को ही बदलने पर तुल गये। यदि मन्त्रार्थ ठीक-ठीक समझ में नहीं आता था तो स्पष्ट लिख देते कि इस मन्त्र का तात्पर्य मैं नहीं समझ सका, विद्वान् और विचार करें। ऐसे लेख से श्री शंकराचार्य जी का गौरव बढ़ता; घटता नहीं।

दूसरे मन्त्र की व्याख्या में श्री शंकराचार्य जी ने असम्भूति की उपासना का फल बतलाते हुए लिखा है—'असम्भावादसम्भूतेरव्याकृताद् अव्याकृतोपासनात्यदुक्तमन्धन्तमः प्रविशन्तीति, प्रकृतिलय इति च पौराणिकैरुच्यते"। इसका अभिप्राय यह है कि असम्भूति की उपासना से गाढ़ अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं, जिसे पौराणिक लोग प्रकृतिलय कहते हैं। और इस तृतीय मन्त्र की व्याख्या में असम्भूति की उपासना का फल प्रकृतिलय रूप अमृत बतला रहे हैं। श्री शंकराचार्य जी के इस लेख में परस्पर

कितना भयंकर विरोध है। कहाँ अन्धकार में प्रवेश और कहाँ अमृत की प्राप्ति ? यह वेदार्थ के साथ अन्याय की चरम सीमा है।

श्री महर्षि दयानन्द और श्री शंकराचार्य जी के इस मन्त्रार्थ में आकाश-पाताल का अन्तर है। पाठक मनन करके सत्यार्थ और मिथ्यार्थ का स्वयं निर्णय कर सकते हैं।

४. श्री उवट ने यहां प्रथम मन्त्र की व्याख्या में 'असम्भूति' पद का अर्थ अपुनर्जन्म, और सम्भूति का अर्थ आत्मज्ञान किया है। वे लिखते हैं—'येऽसंभूतिमुपासते, मृतस्य सतः पुनः संभवो नास्ति, अतः शरीरग्रहणादस्माकं मुक्तिरेव। न हि विज्ञानात्मा कश्चिदनुच्छित्तिधर्माऽस्ति यो यमनियमैः सम्बध्यते ……। ये सम्भूत्यामेव रताः……………आत्मज्ञान एव रताः। (उवटभाष्य)॥

समीक्षा—ये तीन मन्त्र इस प्रकार के हैं कि असम्भूति और सम्भूति का जो भी कोई अर्थ स्वीकार किया जाये, वह सर्वत्र घटना चाहिये। यदि स्वीकृत अर्थ कही घटता है और कहीं नहीं तो यह समझ लेना चाहिए कि अर्थ में अवश्य कोई दोष है। यहाँ प्रथम मन्त्र में असम्भूति और सम्भूति पद हैं। द्वितीय मन्त्र में इन्हीं के पर्यायवाची असम्भव और सम्भव पद हैं। तृतीय मन्त्र में असम्भूति का पर्याय-वाची 'विनाश' पद है। सम्भूति शब्द प्रथम मन्त्र के तुल्य वही है। श्री उवट ने द्वितीय मन्त्र में असम्भव और सम्भव पद का कोई अर्थ नहीं किया। तृतीय मन्त्र में सम्भूति का अर्थ परब्रह्म और विनाश का अर्थ विनाशी शरीर किया है। यहाँ तृतीय मन्त्र में सम्भूति का एक नया अर्थ और कर डाला—पर-ब्रह्म। और विनाश पद का भी विनाशी शरीर प्रथम मन्त्र के अर्थ से भिन्न अर्थ किया है। असम्भूति पद का प्रथम मन्त्र में अपुनर्जन्म तथा तृतीय मन्त्र में विनाशी शरीर। श्री उवट स्थान-स्थान पर असम्भूति और सम्भूति का अर्थ बदल रहे हैं। अतः उनके किए पदार्थों पर स्वयं उन्हें सन्तोष नहीं।

श्री उवट ने संभूति पद का अर्थ प्रथम मन्त्र में आत्मज्ञान तथा तृतीय मन्त्र में परब्रह्म किया है। प्रथम मन्त्र में सम्भूति=आत्मज्ञान से घोर अन्धकार की प्राप्ति का वर्णन किया जा रहा है और तृतीय मन्त्र में सम्भूति=पर ब्रह्म के ज्ञान से अमृत की प्राप्ति बतलाई जा रही है। यह अर्थ परस्पर विरोधी होने से अशुद्ध है। और विनाश पद का जो शरीरग्रहण अर्थ किया है सो भी तर्कसंगत नहीं। शरीरग्रहण से मृत्यु का भय दूर नहीं होता, अपितु भय उत्पन्न होता है। अतः उवट के सम्भूति और असम्भूति पदों के अर्थ मिथ्या हैं।

५. (क) श्री पं० सातवलेकर जी ने असम्भूति और सम्भूति का और ही विचित्र अर्थ दर्शाया है। वे लिखते हैं—(१) जो केवल व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के भक्त होते हैं वे गिरते हैं परन्तु जो केवल संघ-शक्ति में ही रमते हैं वे भी उनसे अधिक गिरते हैं। (२) व्यक्तिभाव का और संघभाव का फल भिन्न-भिन्न है, ऐसा हम ज्ञानियों के उपदेश से सुनते आये हैं। (३) जो व्यक्तिभाव और संघभाव को साथ-साथ उपयोगी समझते हैं। वे व्यक्तिभाव से दुःखों को दूर करके संघ भाव से अमर होते हैं (ईशोपनिषद्-भूमिका पृ० ४१)॥

(ख) प्रतीत होता है कि श्री पं० सातवलेकर जी के उक्त अर्थ की नकल करते हुए श्री पं० हरिशरण जी सिद्धान्तालंकार ने असम्भूति का अर्थ व्यक्तिवाद और सम्भूति का अर्थ समाजवाद करके इन तीन मन्त्रों की व्याख्या की है।

समीक्षा—असम्भूति पद का मूल अर्थ उत्पन्न न होना है। व्यक्ति उत्पत्ति से रहित नहीं अपितु उत्पत्ति वाला है। अतः असम्भूति का अर्थ व्यक्ति नहीं हो सकता। सम्भूति का अर्थ उत्पन्न होना है। उत्पत्ति व्यक्ति की होती है, समाज की कोई उत्पत्ति नहीं। व्यक्तियों के समुदाय को ही समाज कहते हैं।

अतः सम्भूति का अर्थ 'समाज' करना सर्वथा काल्पनिक है। असम्भूति पद व्यक्ति अर्थ में तथा सम्भूति पद समाज अर्थ में कहीं प्रयुक्त नहीं है। अतः उक्त अर्थ को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। हां! सम्भूति पद उत्पत्ति अर्थ में अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।

मनुस्मृति का यह श्लोक देखिये—

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः।
संभूति तस्य तां विद्याद् यद्योनावभिजायते ॥

मनु० २।१४७॥

इस श्लोक में 'सम्भूति' पद उत्पत्ति अर्थ में प्रयुक्त है। जब 'सम्भूति' पद का अर्थ उत्पत्ति है तो उसके विपरीतार्थक 'असम्भूति' पद का अर्थ अनुत्पत्ति है।

अभ्युपगम सिद्धान्त से यदि असम्भूति का अर्थ व्यक्ति और सम्भूति का अर्थ समाज मान भी लिया जाये, तब भी इन तीनों मन्त्रों में उक्त अर्थ ठीक नहीं बैठता।

इन तीन मन्त्रों में निम्न उपदेश है—

१. असम्भूति की उपासना का निषेध। २. सम्भूति की उपासना का निषेध।
३. असम्भूति से अन्य फल का विधान। ४. सम्भूति से अन्य फल का विधान।
५. असम्भूति से मृत्यु को पार करना। ६. सम्भूति से अमृत की प्राप्ति।

असम्भूति और सम्भूति का व्यक्तिवाद और समाजवाद अर्थ करने वाले भाष्यकारों ने प्रथम मन्त्र में विद्यमान 'उपासते' क्रिया की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। वे विद्वान् हैं, इस तथ्य को अवश्य जानते होंगे कि बिना क्रियापद के कोई वाक्य नहीं बनता। वाक्य का अर्थ तभी समझ में आता है जब क्रिया पद का प्रयोग किया जाता है। यहाँ क्रियापद 'उपासते' है। जो लोग असम्भूति (प्रकृति) की उपासना करते हैं वे गाढ़ अन्ध में प्रविष्ट होते हैं और जो सम्भूति (कार्य जगत्) की उपासना में रत हैं वे और भी अधिक गाढ़ अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं। यहाँ आत्मा के लिए प्रकृति और प्रकृतिजन्य कार्य अर्थात् सब जड़ पदार्थों की उपासना का निषेध किया जा रहा है। जड़ पदार्थों की उपासना आत्मा को अन्धकार की ओर ले जाती है, ब्रह्म की उपासना प्रकाश की ओर। प्रकृति प्रकाश से रहित है ब्रह्म प्रकाश स्वरूप है। इन मन्त्रों के व्यक्तिवाद और समाजवाद परक अर्थ में सबसे बड़ा दोष यह है कि ये भाष्यकार पृथक्-पृथक् व्यक्ति और समाज की उपासना का तो निषेध करते हैं किन्तु समुच्चय रूप में उसका विधान करते हैं। जब कि आत्मा के लिए न कोई व्यक्ति उपास्य है और न कोई समाज। व्यक्ति और समाज आत्मा के लिए आदरणीय तो हो सकते हैं, उपास्य कदापि नहीं। आत्मा के लिए तो एक-मात्र उपास्य चेतन ब्रह्म ही है।

यहाँ दूसरे मन्त्र में असम्भूति और सम्भूति के पृथक्-पृथक् फलों का निर्देश है, और तृतीय मन्त्र में उन फलों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। असम्भूति का फल—मृत्यु से पार करना और सम्भूति का फल अमृत की प्राप्ति है। किन्तु व्यक्तिवाद और समाजवाद अर्थ के पक्षपाती भाष्यकार विद्वान् ऐसे प्रवाह में बहे जा रहे हैं कि कोई ठिकाना नहीं। अपनी व्याख्या में व्यक्तिवाद और समाजवाद के बड़े-बड़े फलों का वर्णन कर रहे हैं। वेद मन्त्रों की ओर उनका कोई ध्यान नहीं कि वेद-मन्त्र क्या कह रहे हैं। किस फल का निर्देश कर रहे हैं।

व्यक्तिवाद के फल की व्याख्या में श्री ब्र० जगदीशचन्द्र जी विद्यार्थी ने एक उदाहरण प्रस्तुत किया है। जिसे मैं यहाँ उद्धृत करना आवश्यक समझता हूँ। उदाहरण इस प्रकार है—"यदि मनुष्य वैयक्तिक उन्नति में लग जाये तो कहाँ तक पहुँच सकता है, यह बात दो दृष्टान्तों से स्पष्ट हो जायेगी। एक कृषक था। वह अपने खेतों में कार्य करता, साथ ही व्यायाम भी करता। उसकी भैंस ब्याई। उसने कटड़े को अपने कन्धे पर उठाया और उसे लेकर छत पर चढ़ गया। उसने इस कार्य को अपना जीवन का एक नियम बना लिया। वह प्रतिदिन प्रातःकाल उस कटड़े को उठाता और छत पर चढ़ता। **तीन वर्ष में कटरा पूरी भैंस बन गई।** यह कृषक उस भैंस को कन्धे पर उठाकर आराम से छत पर चढ़ जाता था। दैनिक अभ्यास से मनुष्य अपने व्यक्तित्व का निर्माण करते हुए कहाँ तक पहुँच जाता है"। (ईशोपनिषद् पृ० १२४)॥

वैसे तो यह घटना ही असम्भव प्रतीत होती है। किन्तु इस असम्भव घटना में श्री विद्यार्थी जी ने एक असंभव बात और लिख डाली कि तीन वर्ष में कटड़ा पूरी भैंस बन गई। श्री विद्यार्थी जी! तीन वर्ष में क्या सारी आयु में भी कटड़ा भैंस नहीं बन सकती।

यहाँ तृतीय मन्त्र में वेद कह रहा है—कि असम्भूति से आत्मा मृत्यु को पार कर सकता है 'विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा०'। और व्यक्तिवाद और समाजवाद अर्थ के पक्षपाती कह रहे हैं कि असम्भूति अर्थात् व्यक्तिवाद से मनुष्य भैंस को उठाकर छत पर चढ़ सकता है। अब पाठक ही स्वयं निर्णय कर सकते हैं कि वे वेद की बातें मानें अथवा श्री विद्यार्थी जी की।

तृतीय मन्त्र का तात्पर्य यह है कि असम्भूति के विज्ञान से आत्मा मृत्यु पार करता है और सम्भूति के विज्ञान से अमृत अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है। व्यक्तिवाद से मृत्यु को पार करना तथा समाजवाद से मोक्ष को प्राप्त करने की कोई तुक नहीं। क्योंकि इस मन्त्र के अनुसार जब तक प्रकृति और प्रकृतिजन्य सब कार्य जगत् के स्वरूप को यथार्थ रूप में नहीं समझ लिया जाता तब तक कोई भी आत्मा मृत्यु के भय से पार नहीं हो सकता और न ही अमृत (मोक्ष) को प्राप्त कर सकता है। वैयक्तिक नियमों के पालन से कोई दीर्घजीवी हो सकता है मृत्यु-दुःख से पार होना कुछ और बात है। समाज-सेवा से कोई यश कमा सकता है, मोक्ष को प्राप्त करना कुछ और बात है। कहाँ मृत्यु के दुःख से पार होना और मोक्ष को प्राप्त करना और कहाँ दीर्घजीवी होना तथा सांसारिक यश कमाना। इन दोनों अर्थों में आकाश-पाताल का अन्तर है। व्यक्तिवाद और समाजवाद अर्थ के पक्षपाती भाष्यकारों ने यहाँ उच्च वेदार्थ को कितना तुच्छ बनाकर रख दिया है, यह पाठक स्वयं अनुभव कर सकते हैं॥ ४०। ११॥ ●

दीर्घतमाः। **आत्मा**=स्पष्टम्। निचृदनुष्टुप्। गान्धारः॥

अथ विद्याऽविद्योपासनफलमाह॥

अब विद्या और अविद्या की उपासना के फल का उपदेश किया जाता है॥

अन्धन्तमः प्र विशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूयऽइव ते तमो यऽउं विद्यायांश्रं रताः॥ १२॥

पदार्थः—(अन्धम्) दृष्ट्यावरकम् (तमः) गाढमज्ञानम् (प्र) (विशन्ति) (ये) (अविद्याम्) अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्येति=ज्ञानादिगुणरहितं वस्तु कार्य्यकारणात्मकं जडं परमेश्वराद्भिन्नम् (उपासते) अभ्यस्यन्ति (ततः) (भूय इव) अधिकमिव (ते) (तमः) अज्ञानम् (ये)

पण्डितंमन्यमानाः (उ) (**विद्यायाम्**) शब्दार्थसम्बन्धविज्ञानमात्रेऽवैदिके आचरणे (**रताः**) रममाणाः ॥१२॥

अन्वयः—ये मनुष्या अविद्यामुपासते तेऽन्धन्तमः प्रविशन्ति ये विद्यायां रतास्त उ ततो भूय इव तमः प्रविशन्ति ॥ १२ ॥

सपदार्थान्वयः—**ये मनुष्याः अविद्याम्** अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्येति=ज्ञानादिगुणरहितं वस्तु=कार्य्यकारणात्मकं जडं परमेश्वराद्भिन्नम् **उपासते** अभ्यस्यन्ति; **तेऽन्धं** दृष्ट्यावरकं **तमः** गाढमज्ञानं **प्रविशन्ति**।

ये पण्डितंमन्यमानाः **विद्यायां** शब्दार्थसम्बन्धविज्ञानमात्रेऽवैदिके आचरणे **रताः** रममाणाः **त उ ततः भूय इव** अधिकमिव **तमः** अज्ञानं **प्रविशन्ति** ॥ ४० । १२ ॥

भाषार्थ—(ये) जो मनुष्य, (अविद्याम्) अनित्य को नित्य, अपवित्र को पवित्र, दुःख को सुख, अनात्मा को आत्मा जानना रूप अविद्या है, अतः ज्ञानादि गुणों से रहित, कार्यकारण रूप परमेश्वर से भिन्न जड़ वस्तु की (उपासते) उपासना करते हैं (ते) वे (अन्धम्) ज्ञान दृष्टि को ढकने वाले (तमः) गाढ़ अज्ञान में (प्रविशन्ति) प्रविष्ट होते हैं। और—

(ये) जो अपने आपको पण्डित मानने वाले (विद्यायाम्) शब्द, अर्थ और सम्बन्ध के जानने मात्र तथा अवैदिक आचरण में (रताः) रमण करते हैं (ते) वे (उ) निश्चय ही (ततः) उससे (भूयः इव) कहीं अधिक (तमः) अज्ञान में प्रविष्ट होते हैं ॥ ४० । १२ ॥

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः। यद्यच्चेतनं ज्ञानादिगुणयुक्तं वस्तु तज्ज्ञातृ, यदविद्यारूपं तज्ज्ञेयम्; यच्च चेतनं ब्रह्म विद्वदात्मस्वरूपं वा तदुपासनीयं सेवनीयं च। यदतो भिन्नं तन्नोपासनीयं, किन्तूपकर्त्तव्यम्।

ये मनुष्या अविद्याऽस्मिता-राग-द्वेषाऽभिनिवेशैः क्लेशैर्युक्तास्ते परमेश्वरं विहायाऽतोभिन्नं जडं वस्तूपास्य महति दुःख-सागरे निमज्जन्ति।

ये च शब्दार्थाऽन्वयमात्रं संस्कृतमधीत्य सत्यभाषण-पक्षपातरहितन्यायाचरणाख्यं धर्मं नाऽऽचरन्त्यभिमानाऽरूढाः सन्तो विद्यां तिरस्कृत्याविद्यामेव मन्यन्ते, ते चाऽधिकतमसि दुःखार्णवे सततं पीडिता जायन्ते ॥ ४० । १२ ॥

भावार्थ—यहाँ उपमालंकार है। जो जो ज्ञानादि गुणों से युक्त चेतन वस्तु है, वह ज्ञाता; और जो अविद्यारूप है वह ज्ञेय कहलाता है और जो चेतन ब्रह्म अथवा विद्वान् आत्मा है, उसी की उपासना और सेवा करनी चाहिए, और जो इससे भिन्न हैं, उसकी उपासना नहीं करनी चाहिए, किन्तु उससे उपकार ग्रहण करना चाहिए।

जो मनुष्य अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पाँच क्लेशों से युक्त हैं; वे परमेश्वर को छोड़कर इससे भिन्न जड़ वस्तु की उपासना करके महान् दुःख-सागर में डूबते हैं।

और जो शब्द, अर्थ, सम्बन्ध मात्र संस्कृत भाषा पढ़कर सत्य भाषण, पक्षपात रहित न्यायाचरण रूप धर्म का आचरण नहीं करते, अपितु अभिमानी होकर विद्या का अपमान करके अविद्या का मान करते हैं, वे अत्यन्त अज्ञानरूप दुःखसागर में पड़े सदा दुःखी रहते हैं ॥ ४० । १२ ॥

भा० पदार्थः—अविद्याम्=परमेश्वराद्भिन्नं जडं वस्तु। विद्यायाम्=शब्दार्थाऽन्वयमात्रं

संस्कृतमधीत्य सत्यभाषणपक्षपातरहितन्यायाचरणाख्यधर्मस्याऽनाचरणे। रताः=अभिमानारूढाः सन्तो विद्यां तिरस्कृत्याऽविद्यामेव मन्यमानाः। अन्धन्तमः=महद्दुःखसागरम्। भूयः=अधिकम् ॥ ४० । १२ ॥

भाष्यसार—विद्या और अविद्या की उपासना का फल—जो अनित्य को नित्य, अपवित्र को पवित्र, दुःख को सुख, अनात्मा को आत्मा जानना रूप अविद्या है, अतः ज्ञानादि गुणों से रहित, कार्य कारण आत्मक, परमेश्वर से भिन्न वस्तु की जो उपासना करते हैं वे घोर अज्ञान को प्राप्त होते हैं। अपने आपको पंडित मानने वाले, विद्या अर्थात् शब्द-अर्थ-सम्बन्ध के विज्ञानमात्र में तथा अवैदिक आचरण में रमण करते हैं वे उससे भी कहीं अधिक अज्ञान को प्राप्त होते हैं।

तात्पर्य यह है कि चेतन, ज्ञानादि गुणों से युक्त आत्मा ज्ञाता है। ज्ञानादि गुणों से रहित अविद्या रूप वस्तु ज्ञेय है। चेतन ब्रह्म उपासनीय है और विद्वानों का आत्मा सेवा करने योग्य है। विद्या अर्थात् चेतन ब्रह्म और आत्मा से भिन्न अर्थात् अविद्या (जड़) वस्तु उपासना के योग्य नहीं होती किन्तु उपकार लेने योग्य होती है।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष अभिनिवेश पाँच क्लेश हैं। इनसे युक्त मनुष्य परमेश्वर को छोड़कर उससे भिन्न जड़ (अविद्या) वस्तु की उपासना करते हैं तथा महान् दुःखसागर में डूबते हैं। और जो शब्द-अर्थ-सम्बन्ध मात्र संस्कृत पढ़कर सत्यभाषण, पक्षपात रहित न्यायाचरण रूप धर्म का आचरण नहीं करते, अभिमानी होकर विद्या (चेतन ब्रह्म) का तिरस्कार करके अविद्या (जड़ पदार्थ) को ही अधिक मानते हैं; वे अधिक अन्धकार रूप दुःखसागर में सदा पीड़ित रहते हैं ॥ ४० । १२ ॥ ●

दीर्घतमाः। **आत्मा**=स्पष्टम्। अनुष्टुप्। गान्धारः ॥

अथ जडचेतनयोर्विभागमाह ॥

अब जड़ चेतन का विभाग कहते हैं ॥

अन्यदे॒वाहुर्वि॒द्याया॑ऽ अ॒न्यदा॑हु॒रवि॑द्यायाः।
इति॑ शुश्रुम॒ धीरा॑णां॒ ये न॒स्तद्वि॑चचक्षि॒रे ॥ १३ ॥

पदार्थः— (**अन्यत्**) अन्यदेव कार्यं फलं वा (**एव**) (**आहुः**) कथयन्ति (**विद्यायाः**) पूर्वोक्तायाः (**अन्यत्**) (**आहुः**) (**अविद्यायाः**) पूर्वमन्त्रेण प्रतिपादितायाः (**इति**) (**शुश्रुम**) श्रुतवन्तः (**धीराणाम्**) आत्मज्ञानां विदुषां सकाशात् (**ये**) (**नः**) अस्मभ्यम् (**तत्**) विद्याऽविद्याजं फलं द्वयोः स्वरूपं वा (**विचचक्षिरे**) व्याख्यातवन्तः ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! ये विद्वांसो नो विचचक्षिरे विद्याया अन्यदाहुरविद्याया अन्यदेवाहुरिति, तेषां धीराणां तद्वचो वयं शुश्रुमेति विजानीत ॥ १३ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः ! ये= **विद्वांसो नः** अस्मभ्यं **विचचक्षिरे** व्याख्यातवन्तः, **विद्यायाः** पूर्वोक्तायाः **अन्यत्** अन्यदेव कार्यं फलं वा **आहुः** कथयन्ति। **अविद्यायाः** पूर्वमन्त्रेण प्रतिपादितायाः **अन्यत्** अन्यदेव कार्यं फलं वा **एवाहुः** कथयन्ति **इति तेषां धीराणाम्** आत्मज्ञानां विदुषां

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जो विद्वान् लोग (नः) हमारे लिए (विचचक्षिरे) बतला गये हैं कि (विद्यायाः) पूर्वमन्त्र में कही विद्या का (अन्यत्) और ही कार्य वा फल होता है ऐसा (आहुः) कहते हैं। (अविद्यायाः) पूर्व मन्त्र में प्रतिपादित अविद्या का (अन्यत्) और ही फल होता है, ऐसा उन (धीरा-

सकाशात् तत् विद्याऽविद्याजं फलं द्वयोः स्वरूपं वा **वचो वयं शुश्रुम** श्रुतवन्तः; **इति विजानीत** ॥ ॥ ४० । १३ ॥

भावार्थः—ज्ञानादिगुणयुक्तस्य चेतनस्य सकाशाद्य उपयोगो भवितुं योग्यो न स अज्ञानयुक्तस्य जडस्य सकाशात्; यच्च जडात्प्रयोजनं सिध्यति, न तच्चेतनादिति सर्वैर्मनुष्यैर्विद्वत्सङ्गेन, विज्ञानेन, योगेन, धर्माचरणेन चाऽनयोर्विवेकं कृत्वोभयोरुपयोगः कर्त्तव्यः ॥ ४० । १३ ॥

णाम्) आत्मज्ञानी विद्वानों के पास से (तत्) उपदेश हमने (शुश्रुम) सुना है; ऐसा तुम जानो ॥ ४० । १३ ॥

भावार्थ—ज्ञान आदि गुण से युक्त चेतन से जो उपयोग लिया जा सकता है; वह अज्ञानयुक्त जड़ वस्तु से नहीं। और जो जड़ वस्तु से प्रयोजन सिद्ध होता है, वह चेतन से नहीं हो सकता। ऐसा सब मनुष्यों को विद्वानों के संग, विज्ञान, योग और धर्माचरण से इन दोनों का विवेचन करके, जड़ और चेतन दोनों का ठीक-ठीक उपयोग करना चाहिए ॥ ४० । १३ ॥

भा० पदार्थः—विद्यायाः=ज्ञानादिगुणस्य । अविद्यायाः=अज्ञानादिगुणस्य ॥

भाष्यसार—**जड़ और चेतन का विभाग**—विद्वान् मनुष्यों ने पूर्व मन्त्रोक्त विद्या (चेतन वस्तु) का अविद्या से अन्य (भिन्न) ही कार्य वा फल बतलाया है। पूर्व मन्त्रोक्त अविद्या (जड़-वस्तु) का विद्या से अन्य (भिन्न) ही कार्य वा फल बतलाया है। आत्मज्ञानी विद्वानों से विद्या और अविद्या से उत्पन्न फल तथा उनका स्वरूप हम भिन्न-भिन्न सुनते हैं।

तात्पर्य यह है कि विद्या अर्थात् ज्ञानादि गुणों से युक्त चेतन से जो उपयोग लिया जा सकता है; वह अविद्या अर्थात् अज्ञान युक्त जड़ पदार्थ से नहीं। और जो अविद्या अर्थात् जड़ पदार्थ से प्रयोजन सिद्ध होता है; वह विद्या अर्थात् चेतन पदार्थ से नहीं। इसलिए सब मनुष्य विद्वानों के संग से विज्ञान, योग और धर्माचरण से विद्या और अविद्या का विवेचन करें। तथा इनका यथावत् उपयोग करें ॥ ४० । १३ ॥ ●

दीर्घतमाः । **आत्मा**=स्पष्टम् । स्वराडुष्णिक् । ऋषभः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह ॥

जड़ और चेतन के विभाग का फिर उपदेश किया है ॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥ १४ ॥

पदार्थः—(**विद्याम्**) पूर्वोक्ताम् (**च**) तत्सम्बन्धिसाधनोपसाधनम् (**अविद्याम्**) प्रतिपादितपूर्वाम् (**च**) एतदुपयोगिसाधनकलापम् (**यः**) (**तत्**) (**वेद**) विजानीत (**उभयम्**) (**सह**) (**अविद्यया**) शरीरादिजडेन पदार्थसमूहेन कृतेन पुरुषार्थेन (**मृत्युम्**) मरणदुःखभयम् (**तीर्त्वा**) उल्लङ्घ्य (**विद्यया**) आत्मशुद्धान्तःकरणसंयोगधर्मजनितेन यथार्थदर्शनेन (**अमृतम्**) नाशरहितं स्वस्वरूपं परमात्मानं वा (**अश्नुते**) ॥ १४ ॥

अन्वयः—यो विद्वान् विद्यां चाऽविद्यां च तदुभयं सह वेद सोऽविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥ १४ ॥

सपदार्थान्वयः—यो=विद्वान् **विद्यां** पूर्वोक्तां **च** तत्सम्बन्धिसाधनोपसाधनम् **अविद्यां** प्रतिपादितपूर्वां **च** एतदुपयोगिसाधनकलापं **तदुभयं सह वेद** विजानीत **सोऽविद्यया** शरीरादिजडेन पदार्थसमूहेन कृतेन पुरुषार्थेन **मृत्युं** मरणदुःखभयं **तीर्त्वा** उल्लङ्घ्य **विद्यया** आत्मशुद्धान्तःकरण-संयोगधर्मजनितेन यथार्थदर्शनेन **अमृतं** नाशरहितं स्वस्वरूपं परमात्मानं वा **अश्नुते** ॥ ४० । १४ ॥

भाषार्थ—(यः) जो विद्वान् (विद्याम्) पूर्वमन्त्र में कही विद्या, (च) और उसके साधन उपसाधनों को तथा (अविद्याम्) पूर्व प्रतिपादित अविद्या (च) और उसके उपयोगी नाना साधनों (तत्, उभयम्, सह) उन दोनों को साथ-साथ (वेद) जानता है; (सः) वह (अविद्यया) शरीर आदि जड़ पदार्थों के द्वारा किये पुरुषार्थ से (मृत्युम्) प्राण-त्याग में होने वाले दुःख के भय को (तीर्त्वा) पार करके (विद्यया) आत्मा और शुद्ध-अन्तःकरण के संयोग रूप धर्म से उत्पन्न यथार्थ ज्ञान से (अमृतम्) अविनाशी आत्मस्वरूप को अथवा परमात्मा को (अश्नुते) प्राप्त करता है ॥४०।१४॥

भावार्थः—ये मनुष्या विद्याऽविद्ये स्वरूपतो विज्ञायाऽनयोर्जडचेतनौ साधकौ वर्त्तेत, इति निश्चित्य सर्वं शरीराऽऽदिजडं चेतनमात्मानं चधर्मार्थ-काम-मोक्षसिद्धये सहैव संप्रयुञ्जते, ते लौकिकं दुःखं विहाय पारमार्थिकं सुखं प्राप्नुवन्ति ।

भावार्थ—जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को जानकर और इनके जड़ एवं चेतन पदार्थ साधक हैं; ऐसा निश्चय करके शरीर आदि जड़ और चेतन आत्मा का धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के लिए एक साथ प्रयोग करते हैं; वे लोग लौकिक दुःख से छूट कर पारमार्थिक सुख (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं ।

यदि जडं प्रकृत्यादिकारणं शरीरादिकार्यं वा न स्यात्तर्हि परमेश्वरो जगदुत्पत्तिं, जीवः कर्मोपासने ज्ञानं च कर्त्तुं कथं शक्नुयात् ?

यदि जड़ (अविद्या) प्रकृति आदि कारण वस्तु अथवा शरीर आदि कार्य वस्तु न हो तो परमात्मा जगत् की उत्पत्ति तथा जीव कर्मोपासना और ज्ञान की प्राप्ति कैसे कर सकते हैं ।

तस्मान्न न केवलेन जडेन, न च केवलेन चेतनेन; अथवा न केवलेन कर्मणा न च केवलेन ज्ञानेन कश्चिदपि धर्मादिसिद्धिं कर्त्तुं समर्थो भवति ॥ ४० । १४ ॥

इसलिए न केवल जड़ (अविद्या) के द्वारा और न केवल चेतन (विद्या) के द्वारा; अथवा न केवल कर्म (अविद्या) के द्वारा और न केवल ज्ञान (विद्या) के द्वारा कोई भी व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि कर सकता है ॥ ४० । १४ ॥

भा० पदार्थः—मृत्युम्=लौकिकं दुःखम् । तीर्त्वा=विहाय । अमृतम्=पारमार्थिकं सुखम् । अश्नुते=प्राप्नोति । अविद्याम्=कर्मोपासने । विद्याम्=ज्ञानम् ॥ ४० । १४ ॥

भाष्यसार—**१. जड़ और चेतन का विभाग**—जो विद्वान् पूर्व मन्त्रोक्त विद्या (चेतन वस्तु) और तत्सम्बन्धी साधन-उपसाधन तथा पूर्व मन्त्र में प्रतिपादित अविद्या (जड़ वस्तु) और उसके उपयोगी सब साधनों को साथ-साथ जानता है वह अविद्या अर्थात् शरीरादि जड़ पदार्थों से किये पुरुषार्थ के द्वारा मृत्यु के दुःख को पार कर सकता है; और विद्या अर्थात् आत्मा और अन्तःकरण के संयोग से उत्पन्न यथार्थ ज्ञान (दर्शन) से अमृत अर्थात् अविनाशी आत्मस्वरूप तथा परमात्मा को प्राप्त कर लेता है ।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को समझें । जड़ और चेतन पदार्थ इनके

साधक हैं; ऐसा निश्चय करें। शरीर आदि जड़ वस्तु (अविद्या), और चेतन आत्मा (विद्या) का धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के लिए साथ-साथ उपयोग करें। लौकिक दुःख (मृत्यु) को छोड़कर पारमार्थिक सुख (अमृत=मोक्ष) को प्राप्त करें।

२. जड़ और चेतन की आवश्यकता—यदि अविद्या अर्थात् जड़ प्रकृति आदि कारण वस्तु अथवा शरीरादि कार्य वस्तु न हो तो परमेश्वर जगत् की उत्पत्ति नहीं कर सकता। जीव कर्म, उपासना और ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए न केवल जड़ (अविद्या) और न केवल चेतन (विद्या) अथवा न केवल कर्म (अविद्या) और न केवल ज्ञान (विद्या) से कोई भी मनुष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि नहीं कर सकता। अतः विद्या और अविद्या दोनों का सह-ज्ञान आवश्यक है ॥ ४०। १४॥

अन्यत्र व्याख्यात—"विद्यां चाविद्यां च०" (यजु० ४०। १४) ॥ जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को साथ ही जानता है; वह अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तर के विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है। (सत्यार्थप्रकाश, नवम समुल्लास)

समीक्षा

इस अध्याय के १२, १३ और १४ ये तीन मन्त्र अविद्या और विद्या के उपयोग को समझा रहे हैं। यहाँ प्रथम मन्त्र में बतलाया गया है कि जो लोग अविद्या की उपासना करते हैं वे गाढ़ अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं और जो लोग विद्या में रत रहते हैं वे उससे भी कहीं अधिक घोर अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं। यहाँ दूसरे मन्त्र में बतलाया गया है कि जिन मेधावी विद्वान् योगी जनों ने हमारे लिए उक्त विद्या और अविद्या का उपदेश किया है उनसे हमने ऐसा सुना है कि विद्या का कुछ और फल है और अविद्या का कुछ और फल है। यहाँ तीसरे मन्त्र में विद्या और अविद्या के फल का उपदेश किया गया है। इस मन्त्र में बतलाया गया है कि जो विद्वान् विद्या और अविद्या को साथ-साथ जान लेता है वह अविद्या से मृत्यु के भय को पार करके विद्या से अमृत (मोक्ष) को प्राप्त कर सकता है।

अब यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि अविद्या और विद्या क्या वस्तु हैं। भाष्यकारों ने अविद्या और विद्या के भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं, किन्तु महर्षि दयानन्द के वेद-भाष्य के अनुसार अविद्या का अर्थ परमेश्वर से भिन्न ज्ञानादि गुणों से रहित कार्य-कारणात्मक जड़ वस्तु है। जो अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्मा स्वरूप है। जिसे यह अज्ञानी मनुष्य नित्य, शुचि, सुख और आत्मा स्वरूप समझ लेता है। केवल शब्द, अर्थ और सम्बन्ध के विज्ञान मात्र को यहाँ विद्या कहा गया है।

अब यहाँ फिर प्रश्न उत्पन्न होता है कि उक्त अविद्या और विद्या का आत्मा के लिए क्या उपयोग है ? यहाँ प्रथम मन्त्र में बताया है कि अविद्या आत्मा के लिए उपासना की वस्तु नहीं है। जो जो मनुष्य उसकी उपासना करते हैं; वे अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश रूप क्लेश से मुक्त होकर महान् दुःखसागर में डूबते हैं। और जो लोग शब्द, अर्थ, सम्बन्ध मात्र विज्ञान में रत रहते हैं और सत्यभाषण, पक्षपात रहित न्यायाचरण रूप धर्म का अनुष्ठान नहीं करते, अभिमानी होकर विद्या का तिरस्कार करते हैं वे उनसे भी कहीं अधिक घोर अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं अर्थात् वे दुःखसागर में पड़े रहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा के लिए न तो अविद्या (जड़ वस्तु) उपासना के योग्य है और न ही विद्या (शब्दार्थ सम्बन्ध मात्र) रमणीय है। आत्मा के लिए एक मात्र चेतन ब्रह्म ही उपासना करने योग्य है।

यहाँ प्रथम मन्त्र में अविद्या (जड़ पदार्थ) और विद्या की उपासना का निषेध तो कर दिया किन्तु इनका उपयोग कोई नहीं बतलाया। इस जिज्ञासा का उत्तर दूसरे और तीसरे (१३-१४) मन्त्र

में दिया गया है। दूसरे मन्त्र में कहा गया है कि अविद्या (जड़ वस्तु) का और फल है तथा विद्या का और फल है। तीसरे मन्त्र में उस फल का उपदेश किया गया है। अविद्या और विद्या आत्मा के लिए अत्यन्त उपयोगी वस्तु हैं। आत्मा-अविद्या और विद्या का साथ-साथ ज्ञान प्राप्त करे अर्थात् इन दोनों में से किसी को भी न छोड़े। दोनों से उपयोग ग्रहण करे। आत्मा अविद्या और विद्या का जीवन में वेदोक्त रीति से ठीक-ठीक उपयोग करे। वेदादि शास्त्रों के अध्ययन एवं विद्वानों के संग से इनका उपयोग करना सीखे। यह अविद्या और विद्या आत्मा के लिए उपयोग करने की वस्तु है; उपासना की नहीं। अविद्या के सदुपयोग से आत्मा मृत्यु के भय को पार करे तथा विद्या के सदुपयोग से अमृत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करे।

१. इन तीन मन्त्रों की व्याख्या में भाष्यकारों ने अविद्या और विद्या के भिन्न-भिन्न अर्थ किए हैं। श्री शंकराचार्य ने प्रथम मन्त्र की व्याख्या में लिखा है—"ये ऽविद्यां विद्याया अन्या अविद्या, तां कर्म इत्यर्थः। कर्मणो विद्याविरोधित्वात् तामविद्यामग्निहोत्रादिलक्षणामेव केवलामुपासते............ ये तु विद्यायामेव देवताज्ञान एव अभिरताः"। **अर्थ**—विद्या से भिन्न वस्तु अविद्या का अर्थ कर्म है, क्योंकि कर्म विद्या का विरोधी है। अविद्या, अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्म............विद्या अर्थात् देवता ज्ञान। (ईशावास्योपनिषद् पृ० ३४)

समीक्षा—श्री शंकराचार्य जी ने यहाँ अविद्या का अर्थ अग्निहोत्रादि कर्म किया है तथा विद्या का अर्थ देवताज्ञान। श्री शंकराचार्य जी का अविद्या का अर्थ अधूरा है। ज्ञान, कर्म उपासना तीन वस्तु हैं। मन्त्र में विद्या अविद्या दो पद हैं। विद्या का अर्थ ज्ञान है, तो अविद्या का अर्थ क्या होगा? उत्तर स्पष्ट है ज्ञान को छोड़ कर जो शेष रह गया वह अर्थात् कर्म और उपासना। महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश (नवम समुल्लास) में अविद्या का अर्थ कर्म और उपासना किया है। वे लिखते हैं—"कर्म और उपासना अविद्या इसलिए है कि यह बाह्य और अन्तर क्रिया विशेष नाम है; ज्ञान विशेष नहीं"। अतः अविद्या का अर्थ केवल कर्म नहीं; उपासना भी है।

विद्या पद का अर्थ श्री शंकराचार्य जी ने 'देवता-ज्ञान' किया है। यह अर्थ अस्पष्ट है। देवता-ज्ञान से उनका क्या अभिप्राय है; यह नहीं कहा जा सकता। विद्या में ज्ञान-मात्र का समावेश है। केवल देवता-ज्ञान अर्थ करने से विद्या का अर्थ सीमित हो जाता है। किसी भी पद के विस्तृत अर्थ को सीमित करना अनुचित है।

२. यहाँ दूसरे मन्त्र की व्याख्या में श्री शंकराचार्य जी लिखते हैं—'अन्यत् पृथगेव विद्यया क्रियते फलमित्याहुर्वदन्ति—"विद्यया देवलोकः" (बृ० उ० १।५।१६)...........अन्यदाहुरविद्यया कर्मणा क्रियते "कर्मणा पितृलोकः (बृ० उ० १।५।१६) इति श्रुतेः। **अर्थ**—विद्या से और ही फल मिलता है। विद्या से देवलोक की प्राप्ति होती है। अविद्या अर्थात् कर्म से और ही फल मिलता है। कर्म से पितृलोक की प्राप्ति होती है। (ईशावास्योपनिषद् पृ० ३५)

समीक्षा—यहां दूसरे मन्त्र में बतलाया जा रहा है कि विद्या का अन्य फल है तथा अविद्या का अन्य फल है। मन्त्र में विद्या और अविद्या के पृथक्-पृथक् फल का कोई उल्लेख नहीं है, किन्तु यहाँ श्री शंकराचार्य जी बृहदारण्यकोपनिषद् के प्रमाण से विद्या और अविद्या के फल का पृथक्-पृथक् निर्देश कर रहे हैं कि विद्या से देवलोक की प्राप्ति होती है और कर्म से पितृलोक की। यह व्याख्या इन तीन मन्त्रों के मूल-अर्थ से विरुद्ध है। तृतीय मन्त्र के अनुसार जो व्यक्ति विद्या और अविद्या को साथ-साथ जान लेगा उसे तो दोनों की प्राप्ति एक साथ होनी चाहिए। क्या फिर वह देवलोक में रहेगा अथवा

पितृलोक में। अतः श्री शंकराचार्य जी का उक्त अर्थ सर्वथा कल्पित है। वस्तुतः श्री शंकराचार्य जी इस द्वितीय मन्त्र का तात्पर्य समझे ही नहीं। यहाँ दूसरे मन्त्र में तो केवल इतना ही निर्देश है कि अविद्या और विद्या का फल पृथक्-पृथक् है। वह फल क्या है? फल का वर्णन तीसरे मन्त्र में स्पष्ट बतलाया कि अविद्या से मृत्यु को पार करना और विद्या से अमृत को प्राप्त करना चाहिए। अतः दूसरे मन्त्र की व्याख्या में किसी भी कल्पित फल का उल्लेख करना भारी भूल है।

३. श्री शंकराचार्य जी ने तृतीय मन्त्र की व्याख्या में मृत्यु और अमृत पद का बड़ा अद्भुत अर्थ किया है। वे लिखते हैं—"अविद्यया=कर्मणा=अग्निहोत्रादिना **मृत्युं=स्वाभाविकं कर्म ज्ञानं च,** मृत्युशब्दवाच्यमुभयं तीर्त्वा=अतिक्रम्य विद्यया=देवताज्ञानेनामृतं=देवतात्मभावमश्नुते=प्राप्नोति"। **अर्थ**—अविद्या अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्म से मृत्यु अर्थात् स्वाभाविक कर्म और ज्ञान को पार करके (यहाँ मृत्यु शब्द से ज्ञान और कर्म दोनों का ग्रहण है) विद्या अर्थात् देवता ज्ञान से अमृत अर्थात् देवता के प्रति आत्मभाव को प्राप्त होता है। (ईशोपनिषद् पृ० ३६)

समीक्षा—यहाँ श्री शंकराचार्य जी ने मृत्यु शब्द का अर्थ किया है स्वाभाविक कर्म और ज्ञान, और अविद्या का अर्थ उन्होंने बतलाया है कर्म। अब आप श्री शंकराचार्य जी के अनुसार 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा' का यही अर्थ करेंगे कि—"कर्म से स्वाभाविक कर्म और ज्ञान को पार करके। यह कोई मन्त्रार्थ नहीं। आत्मा अग्निहोत्रादि कर्म से स्वाभाविक कर्म को कैसे पार करता है, तथा कर्म से ज्ञान को कैसे पार करता है? इसका एक मात्र उत्तर श्री शंकराचार्य ही दे सकते हैं।

'विद्ययाऽमृतमश्नुते' की व्याख्या भी अनोखी है। विद्या का अर्थ देवता ज्ञान और अमृत का अर्थ देवता के प्रति आत्मभाव किया है। श्री शंकराचार्य जी के मृत्यु, विद्या और अमृत इन तीनों के अर्थ सर्वथा काल्पनिक हैं। 'मृत्यु' पद 'मृङ् प्राणत्यागे' धातु से बनता है अतः इसका अर्थ प्राणत्याग है। इसका स्वाभाविक कर्म और ज्ञान अर्थ निराधार हैं। इसी प्रकार से 'अमृत' पद 'मृङ् प्राणत्यागे' धातु से सिद्ध होता है तथा मृत्यु का विपरीतार्थक है। अमृत का अर्थ हुआ प्राण-त्याग का अभाव। जन्म-मरण का अभाव मोक्ष में ही है; अन्यत्र नहीं, अतः अमृत का अर्थ मोक्ष है। देवता के प्रति आत्मभाव मात्र से जन्म-मरण का अभाव नहीं होता। अतः श्री शंकराचार्य जी का उक्त तीनों पदों का अर्थ सर्वथा काल्पनिक एवं मिथ्या है।

४. श्री उवट महोदय ने विद्या का अर्थ आत्मज्ञान तथा अविद्या का अर्थ कर्म किया है। वे लिखते हैं—"विद्यां च आत्मज्ञानं च अविद्यां च कर्म च०"। **अर्थ**—विद्या अर्थात् आत्मज्ञान, अविद्या अर्थात् कर्म (उवटभाष्य)॥

समीक्षा—यहाँ उवटभाष्य में १२वें मन्त्र में तो विद्या अर्थात् आत्मज्ञान और अविद्या अर्थात् कर्म से घोर अन्धकार की प्राप्ति बतलाई जा रही है। और १४वें मन्त्र में उक्त विद्या (आत्मज्ञान) से मोक्ष की प्राप्ति तथा अविद्या (कर्म) से मृत्यु पर विजय का वर्णन किया जा रहा है। श्री उवट इन तीनों मन्त्रों की ठीक-ठीक संगति नहीं लगा सके। उक्त विरोध का उनके भाष्य में कोई परिहार नहीं। यही दोष महर्षि के वेदभाष्य को छोड़ कर प्रायः सभी भाष्यों में उपलब्ध हो रहा है। १४ वां मन्त्र १२वें मन्त्र का विरोध कर रहा है। इसका परिहार महर्षि के भाष्य में ही उपलब्ध होता है। परिहार यह है—१२वें मन्त्र में विद्या और अविद्या (कर्म, उपासना तथा जड़ वस्तु) की उपासना का निषेध है। जो लोग इनकी उपासना करते हैं वे घोर अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं। १४वें मन्त्र में विद्या और अविद्या को जानकर उसका ठीक-ठीक उपयोग करके उससे विशिष्ट फल प्राप्त करने का उपदेश है।

अविद्या को जानकर आत्मा मृत्यु को पार करे तथा विद्या को जानकर आत्मा अमृत (मोक्ष) को प्राप्त करे। महर्षि के भाष्य में विरोध का यह बड़ा ही सुन्दर समाधान है।

५. श्री पण्डित आर्यमुनि जी उपनिषदार्यभाष्य में लिखते हैं—"जो पुरुष विद्या=यथार्थ ज्ञान और अविद्या=विपरीत ज्ञान इन दोनों के स्वरूप को ठीक-ठीक जानता है वह अविद्या=विपरीत ज्ञान के द्वारा मृत्यु को तरकर अर्थात् निन्दित कर्मों को न करके विद्या=यथार्थ ज्ञान से मुक्ति को भोगता है"। (उपनिषदार्य भाष्य पृ० १३)

समीक्षा—(क) श्री पण्डित आर्यमुनि जी ने यहाँ विद्या का अर्थ तो यथार्थ ज्ञान ठीक किया किन्तु अविद्या का अर्थ करते समय भटक गये। जब अविद्या का अर्थ विपरीत ज्ञान है तो 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा' का अर्थ यह हुआ कि विपरीत ज्ञान से आत्मा मृत्यु को पार कर सकता है। जब मन्त्र का यह अर्थ होने लगा तब श्री आर्यमुनि जी के हृदय में कुछ घबराहट उत्पन्न होने लगी कि वेद यह क्या कह रहा है कि विपरीत ज्ञान से मृत्यु को पार किया जा सकता है। अतः ऐसी विकट स्थिति में आर्यमुनि जी 'मृत्यु' पद का अर्थ बदलने लगे। वेद का मृत्यु पद जो लोक-प्रसिद्ध है। उसकी 'अर्थात्' लगा कर व्याख्या करने लगे कि निन्दित कर्मों को न करके इत्यादि। एक त्रुटि अनेक त्रुटियों को जन्म देती है। पहली त्रुटि तो यह हुई कि यहाँ अविद्या का अर्थ विपरीत ज्ञान किया। दूसरी त्रुटि यह करनी पड़ी कि मृत्यु का 'निन्दित कर्म न करना' यह अर्थ करना पड़ा। भटकने पर ऐसी ही दुरवस्था होती है।

(ख) श्री पण्डित आर्यमुनि जी के भाष्य में यहाँ यह भी दोष है कि उन्होंने १२वें तथा १४वें मन्त्र के अर्थ का कोई समन्वय नहीं किया। १२वें मन्त्र में अविद्या=विपरीत ज्ञान से घोर अन्धकार में प्रवेश की बात कही जा रही है और १४वें मन्त्र में उसी अविद्या=विपरीत ज्ञान से मृत्यु को पार करने का कथन किया जा रहा है। इस विरोध का कोई परिहार नहीं। अतः मन्त्रार्थ दोषपूर्ण है।

६. श्री पण्डित सातवलेकर जी लिखते हैं—'जो अनात्मज्ञान की उपासना करते हैं वे गाढ़ अन्धकार में जाते हैं, जो केवल आत्मज्ञान में रत रहते हैं वे तो उनसे भी मानो अधिक अन्धकार में जाते हैं। (ईशोपनिषद् पृ० ६८-६९)

समीक्षा—(क) यहां श्री पं० सातवलेकर जी ने अविद्या का अर्थ अनात्मज्ञान और विद्या का अर्थ आत्मज्ञान स्वीकार किया है। इस अर्थ के अनुसार 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा' का अर्थ यह होगा कि आत्मा अनात्मज्ञान से मृत्यु को तर सकता है। जब यह अर्थ खटकने लगा तब १४वें मन्त्र में अविद्या पद का अर्थ बदलने लगे। वहां अनातमज्ञान के साथ प्राकृतिक विज्ञान भी अर्थ लिख दिया। आत्मा प्राकृतिक विज्ञान से मृत्यु के दुःख को दूर कर सकता है। यह अर्थ भी जब ठीक नहीं बैठा तब प्राकृतिक विज्ञान से सांसारिक दुःखों को दूर करने की बात लिखी है। अपने किये अर्थ पर यह असन्तोष ही बतला रहा है कि अविद्या पद का अर्थ करने में अवश्य कोई भूल हुई है।

(ख) श्री पण्डित सातवलेकर जी के भाष्य में भी १२वें और १४वें मन्त्र के अर्थ में अन्य भाष्यों के तुल्य विरोध डट कर खड़ा हुआ है। उसका कोई परिहार नहीं है। अतः मन्त्रार्थ भ्रान्तिपूर्ण है।

७. श्री पं० हरिशरण जी सिद्धान्तालंकार तथा श्री ब्र० जगदीशचन्द्र जी विद्यार्थी ने भी अविद्या और विद्या की अन्यथा ही व्याख्या की है। पाठक उसे उनके किये ईशोपनिषद् भाष्य में स्वयं देख सकते हैं। यहाँ विस्तार भय से सबकी समीक्षा नहीं की जा सकती ॥ ४० । १४ ॥

दीर्घतमाः। **आत्मा**=स्पष्टम्। स्वराडुष्णिक्। ऋषभः॥

अथ देहान्तसमये किं कार्य्यमित्याह॥

अब देहान्त के समय क्या करना चाहिए, यह उपदेश किया है॥

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्।
ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतꣳ स्मर॥ १५॥

पदार्थः—(**वायुः**) धनञ्जयादिरूपः (**अनिलम्**) कारणरूपं वायुम् (**अमृतम्**) नाशरहितं कारणम् (**अथ**) (**इदम्**) (**भस्मान्तम्**) भस्म अन्ते यस्य तत् (**शरीरम्**) यच्छीर्य्यते=हिंस्यते तदाश्रयम् (**ओ३म्**) एतन्नामवाच्यमीश्वरम् (**क्रतो**) यः करोति जीवस्तत्सम्बुद्धौ (**स्मर**) पर्य्यालोचय (**क्लिबे**) स्वसामर्थ्याय (**स्मर**) (**कृतम्**) यदनुष्ठितं तत् (**स्मर**)॥ १५॥

अन्वयः—हे क्रतो! त्वं शरीरत्यागसमये (ओ३म्) स्मर, क्लिबे परमात्मानं स्वस्वरूपं च स्मर, कृतं स्मर। अत्रस्थो वायुरनिलमनिलोऽमृतं धरति। अथेदं शरीरं भस्मान्तं भवतीति विजानीत॥ १५॥

सपदार्थान्वयः— **हे क्रतो!** यः करोति जीवस्तत्सम्बुद्धौ! **त्वं शरीरत्यागसमये ओ३म्** एतन्नामवाच्यमीश्वरं **स्मर** पर्य्यालोचय; **क्लिबे** स्वसामर्थ्याय **परमात्मानं स्वस्वरूपं च स्मर** पर्य्यालोचय; **कृतं** यदनुष्ठितं तत् **स्मर** पर्य्यालोचय।

अत्रस्थो वायुः धनञ्जयादिरूपः **अनिलम्** कारणरूपं वायुम् **अनिलेऽमृतं** नाशरहितं कारणं **धरति।**

अथेदं शरीरं यच्छीर्य्यते=हिंस्यते तदाश्रयं **भस्मान्तं** भस्म अन्ते यस्य तत् **भवतीति विजानीत**॥ ४०। १५॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यथा मृत्युसमये चित्तवृत्तिर्जायते, शरीरादात्मनः पृथग्भावश्च भवति; तथैवेदानीमपि विज्ञेयम्।

एतच्छरीरस्य भस्मान्ता क्रिया कार्य्या; नाऽतो दहनात्परः कश्चित्संस्कारः कर्त्तव्यः।

भाषार्थ—हे (क्रतो) कर्म करने वाले जीव! देहान्त के समय (ओ३म्) ओ३म्, यह जिसका निज नाम है उस ईश्वर को (स्मर) चारों तरफ देख; (क्लिबे) अपने सामर्थ्य की प्राप्ति के लिए परमात्मा और अपने स्वरूप को (स्मर) याद कर; (कृतम्) और जो कुछ जीवन में किया है उसको (स्मर) स्मरण कर।

यहाँ विद्यमान (वायुः) धनञ्जयादि रूप वायु (अनिलम्) कारण रूप वायु को और अनिल (अमृतम्) नाशरहित कारण को धारण करता है।

(अथ) और (इदम्) यह (शरीरम्) चेष्टादि का आश्रय, विनाशी शरीर (भस्मान्तम्) अन्त में भस्म होने वाला होता है, ऐसा जानो॥ ४०। १५॥

भावार्थ—जैसे मृत्यु के समय चित्त की वृत्ति होती है; और शरीर से आत्मा का पृथक् भाव होता है; वैसी ही चित्त की वृत्ति तथा शरीर-आत्मा के सम्बन्ध को जीवनकाल में भी सब मनुष्य जानें।

इस शरीर की भस्मान्त-क्रिया (अन्त्येष्टि) करनी चाहिए; इस दहन-क्रिया के पश्चात् कोई भी संस्कार नहीं करना चाहिए।

वर्त्तमानसमय एकस्य परमेश्वरस्यैवाऽऽज्ञापालनमुपासनं; स्वसामर्थ्यवर्द्धनञ्चैव कार्यम् ।

जीवन काल में एक परमेश्वर की ही आज्ञा का पालन, उपासना तथा अपनी शक्ति की वृद्धि करनी चाहिए ।

कृतं कर्म विफलं न भवतीति मत्वा, धर्मे रुचिरधर्मेऽप्रीतिश्च कर्त्तव्या ॥ ४० । १५ ॥

किया हुआ कर्म कभी निष्फल नहीं होता, ऐसा मानकर धर्म में रुचि और अधर्म में अप्रीति रखनी चाहिए ॥ ४० । १५ ॥

भा० पदार्थः—इदम्=एतत् । ओ३म्=एकः परमेश्वरः । स्मर=आज्ञा-पालनमुपासनञ्च कुरु । क्लिबे=स्वसामर्थ्यवर्द्धनाय । कृतम्=कृतं कर्म ॥ ४० । १५ ॥

भाष्यसार—**देहान्त के समय क्या करें**—कर्म करने वाला जीव देहान्त अर्थात् शरीर-त्याग के समय में 'ओ३म्' नाम का स्मरण करे । अपने सामर्थ्य की प्राप्ति के लिए परमात्मा को और अपने स्वरूप को स्मरण करे । जो कुछ जीवन में किया है उसको स्मरण करे ।

इस शरीर में स्थित धनंजय आदि नामक वायु कारण रूप सूक्ष्म वायु के और सूक्ष्म वायु नाशरहित कारण (प्रकृति) के आश्रित है । शरीर से आत्मा का पृथग्भाव उक्त वायु के आश्रित है । शरीर से आत्मा के पृथग्भाव अर्थात् मृत्यु के समय में यहाँ जैसी चित्तवृत्ति बतलाई है; वैसी ही चित्तवृत्ति अब जीवन-काल में भी रखें ।

देहान्त के समय इस शरीर की भस्मान्त क्रिया (अन्त्येष्टि कर्म) करें । भस्मान्त क्रिया के उपरान्त इस शरीर का कोई संस्कार कर्त्तव्य शेष नहीं रहता ।

जीवन-काल में एक परमेश्वर की ही आज्ञा का पालन, उसकी उपासना और अपने सामर्थ्य की वृद्धि करें । किया हुआ कर्म विफल नहीं होता, ऐसा समझ कर धर्म में रुचि और अधर्म में अप्रीति रखें ॥ ४० । १५ ॥

अन्यत्र व्याख्यात—"भस्मान्त ँ शरीरम्" (य० ४० । १५) ॥ इस शरीर का संस्कार (भस्मान्तम्) अर्थात् भस्म करने पर्यन्त है (संस्कारविधि, अन्त्येष्टिकर्म) ॥ ४० । १५ ॥

समीक्षा

१. यहाँ श्री शंकराचार्य जी इस मन्त्र की व्याख्या में लिखते हैं—'ओमिति यथोपासनम् ओम् प्रतीकात्मकत्वात् सत्यात्मकमग्न्याख्यं ब्रह्माभेदेनोच्यते । **अर्थ**—'ओ३म्' ऐसा कहकर यहाँ उपासना के अनुसार सत्यस्वरूप अग्निसंज्ञक ब्रह्म ही अभेदरूप से कहा गया है क्योंकि 'ओ३म्' उसका प्रतीक है । (ईशावास्योपनिषद् पृ० ४४)

समीक्षा—यहाँ श्री शंकराचार्य जी ने 'ओ३म्' का अभिप्राय अग्नि नामक ब्रह्म बतलाया है । क्या अग्नि नामक कोई विशेष ब्रह्म है ? सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म एक ही है । अग्नि नामक विशेष ब्रह्म कोई नहीं । अतः उक्त अर्थ अशुद्ध है । और यह कहना भी ठीक नहीं कि 'ओ३म्' ब्रह्म का प्रतीक है । प्रतीक तो स्मृति-चिह्न होता है । 'ओ३म्' ब्रह्म का प्रतीक नहीं अपितु उसका मुख्य निज नाम है । अतः इस मन्त्र में केवल इसी नाम को स्मरण करने का आत्मा के लिए उपदेश है ।

२. श्री शंकराचार्य जी इस मन्त्र की व्याख्या में आगे लिखते हैं—"हे क्रतो ! संकल्पात्मक स्मर यन्मम स्मर्तव्यम्" **अर्थ**—हे क्रतो अर्थात् संकलपात्मक मन ! स्मरण कर जो मेरा स्मरणीय है । (ईशावास्योपनिषद् पृ० ४४)

समीक्षा—यहाँ क्रतु पद का जो संकल्पात्मक मन अर्थ किया है; वह अशुद्ध है । यहाँ क्रतु पद का अर्थ जीव है । जिसके लिए 'ओ३म्' के स्मरण का उपदेश किया जा रहा है । शेष भी जो अर्थ किया है

वह सर्वथा अस्पष्ट है। हे मन ! जो स्मरणीय है उसका स्मरण कर। जब कि मन्त्र में स्पष्ट उल्लेख है कि 'ओ३म् क्रतो स्मर' हे जीव ! 'ओ३म्' का स्मरण कर। अत्यन्त स्पष्ट मन्त्र को व्याख्या में अस्पष्ट करना अनुचित है। व्याख्या अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए होती है। श्री शंकराचार्य जी 'क्रतु' पद का अर्थ जीव स्वीकार कर भी नहीं सकते क्योंकि उन्हें सिद्धान्त हानि का भय है। इसीलिए 'कृतं स्मर' का कोई अर्थ नहीं किया। यहाँ मन अर्थ फिट नहीं बैठता था। 'कृतं स्मर' का अर्थ है अपने किये हुए कर्मों को याद कर। कर्मों का कर्त्ता जीव है; मन नहीं। 'कृतं स्मर' का आग्रह है कि 'क्रतो' पद का अर्थ जीव है; मन नहीं।

३. यहाँ श्री उवट महोदय लिखते हैं—"इदानीं योगिन आलम्बनभूतमक्षरं कथ्यते—ओम् इति नाम वा प्रतिमा वा ब्रह्मणः"। **अर्थ**—अब योगी के आलम्बनभूत अक्षर का कथन किया जाता है। ओम् यह नाम योगी का आलम्बन है, अथवा ब्रह्म की प्रतिमा योगी का आलम्बन है। (उवट भाष्य)

समीक्षा— इस मन्त्र में 'क्रतु' अर्थात् आत्मा के लिए 'ओ३म्' नाम-स्मरण का उपदेश है। यहाँ श्री उवट ने उसे केवल योगी के लिए सीमित कर दिया है; जो अनुचित है। 'ओ३म्' नाम को योगी के लिए आलम्बन बतलाया है वह तो कुछ ठीक है किन्तु आगे अपनी कल्पना के आधार पर 'वा' लगाकर वेद-मन्त्र के विरुद्ध 'ब्रह्म की प्रतिमा' को योगी के लिए आलम्बन कहा है वह सर्वथा अनुचित है क्योंकि ब्रह्म की कोई प्रतिमा नहीं होती 'न तस्य प्रतिमास्ति' वेद-मन्त्र का सहारा लेकर अपने मन की बात लिखना वेद के साथ अन्याय करना है। ऐसा करना विद्वान् के लिए शोभा की बात नहीं।

४. श्री पंडित आर्यमुनि जी ने यहाँ 'क्लिबे' पद का अर्थ किया है—(क्लिबे) अपने भविष्य के लिए। यह अर्थ ठीक नहीं। 'क्लिबे' पद 'कृपू सामर्थ्ये' धातु से बना है। अतः इस पद का यहाँ स्वसामर्थ्य अर्थ है। यहाँ उपदेश यह हैं कि आत्मा अपने सामर्थ्य की प्राप्ति के लिए 'ओ३म्' का स्मरण करे।

५. श्री पं० सातवलेकर जो ने यहाँ 'वायुरनिलममृतम्' की विचित्र व्याख्या की है। वे लिखते हैं—'वायुः अनिलम् अमृतम्' प्राण अपार्थिव अमृत है। नीचे व्याख्या में लिखते हैं—'मर जाने वाले शरीर की अपेक्षा अमर प्राणशक्ति की आराधना करनी उचित है'। (ईशोपनिषद् पृ० ८१-२८)

समीक्षा—यहाँ श्री पं० सातवलेकर जी ने 'अनिलम्' का अर्थ 'अन्+इलम्' ऐसा छेद करके अपार्थिव अर्थ किया है। 'इला' पद पृथिवी का वाचक है, अतः 'अनिलम्' का अर्थ अपार्थिव हुआ। कोई भी विद्वान् किसी पद को तोड़-मरोड़ कर जैसा चाहे वैसा अर्थ कर सकता है किन्तु पद का अर्थ करने से पूर्व तनिक विचार करना परम आवश्यक है। श्री पं० सातवलेकर जी ने वायु को अपार्थिव होने से अमृत बतलाया है; यह ठीक नहीं। श्री पं० सातवलेकर जी जिस रूप में वायु को अमर बतला रहे हैं, उस रूप में तो पृथिवी भी अमर है। अपार्थिव होने से ही वायु अमर है, यह कोई हेतु नहीं। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश ये पांचों जब तक सृष्टि है तब तक अमर हैं। अतः उक्त अपार्थिव हेतु नहीं, हेत्वाभास है। और 'अनिलम्' का अर्थ जो अपार्थिव किया है वह भी काल्पनिक है। श्री पं० हरिशरण जी सिद्धान्तालंकार तथा श्री ब्र० जगदीशचन्द्र जी विद्यार्थी ने भी 'अनिलम्' का अर्थ अपार्थिव किया है जो श्री पं० सातवलेकर जी की नकल प्रतीत होती है।

श्री पं० सातवलेकर जी ने वायु=प्राण को अमर बतला कर प्राण-शक्ति की आराधना का जो उल्लेख किया है; वह मन्त्र के आशय से विरुद्ध है। प्राण जड़ हैं। जड़ की आराधना=उपासना का वेद में निषेध है। यहाँ मन्त्र में प्राण-शक्ति की आराधना का कोई वर्णन नहीं है।

६. श्री स्वामी दर्शनानन्द जी सरस्वती ने 'उपनिषत् प्रकाश' में 'अनिलम्' का 'आपसे मिली हुई शक्ति' अर्थ किया है। इस अर्थ का कोई धातु आदि आधार प्रतीत नहीं होता। अतः निराधार अर्थ प्रामाणिक नहीं हो सकता। वे आगे लिखते हैं—वायु और अग्नि से मिली हुई शक्ति अर्थात् प्राण। इस लेख से प्रकट होता है कि ऊपर 'आपसे मिली हुई शक्ति' के स्थान में आग (अग्नि) से मिली हुई शक्ति अर्थ होना चाहिए। फिर भी अर्थ ठीक नहीं। अनिल का अर्थ अग्नि नहीं होता, अनल का अर्थ अग्नि होता है। अनिल का अर्थ सूक्ष्म वायु है। यहाँ 'अनिल और अनल' पदों के सादृश्य से भ्रान्ति हुई प्रतीत होती है।

७. (क) श्री पं० हरिशरण जी सिद्धान्तालंकार तथा ब्र० श्री जगदीशचन्द्र जी विद्यार्थी ने 'वायुरनिलममृतम्' यहाँ वायु का अर्थ आत्मा किया है क्योंकि आत्मा' पद भी 'अत सातत्यगमने' तथा 'वायु' पद 'वा गतिगन्धनयोः' धातु से बनता है। दोनों पदों में गति अर्थ के सादृश्य से जो आत्मा का अर्थ है वही वायु का है। यदि धातु के एक गति के अर्थ के सादृश्य से अनेक पदों का एक अर्थ करना ठीक है तो 'गच्छति' और 'धावति' के अर्थ में भी कोई अन्तर नहीं होना चाहिए, क्योंकि दोनों पदों में गति अर्थ समान है। (गम्लृ गतौ, धावु गतिशुद्धयोः)। केवल एक गति अर्थ के सादृश्य से आत्मा और वायु का एक अर्थ मानना सर्वथा अनुचित है। इस युक्ति से तो जीव और ब्रह्म को भी एक माना जा सकता है क्योंकि दोनों चेतन हैं। निर्णय साधर्म्य और वैधर्म्य दोनों से होता है; एक से नहीं।

(ख) यहाँ यह भी विचार करना चाहिए कि जब इस मन्त्र का देवता ही 'आत्मा' है तो 'आत्मा' अर्थ के लिए मन्त्र में किसी पद को सिद्ध करने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। देवता से 'आत्मा' का अर्थ स्वयं गृहीत हो जायेगा। अतः 'वायु' पद को आत्मा अर्थ में ढालने का प्रयास व्यर्थ है।

(ग) 'वायुरनिलममृतम्' का जो यह अर्थ किया है कि आत्मा अनिल=अपार्थिव (अभौतिक) होने से अमर है, यह अर्थ मन्त्र-पदों की रचना के अनुसार भी ठीक नहीं बनता। यह 'अनिलम्' पद 'द्वितीयान्त' है, प्रथमान्त नहीं। क्योंकि 'अनिलः' पद पुल्लिङ्ग है, उसका यह द्वितीयान्त पद 'अनिलम्' है। जब उक्त पद द्वितीयान्त है तब यह अर्थ कैसे बनेगा कि आत्मा अनिल (अभौतिक) होने से अमृत (अमर) है। अतः उक्त अर्थ स्पष्ट काल्पनिक है; प्रामाणिक नहीं।

वस्तुतः ये भाष्यकार 'वायुरनिलममृतम्' के तात्पर्य को समझे ही नहीं। इसका अभिप्राय यह है कि देहान्त के समय वायु अर्थात् धनंजयादि अनिल अर्थात् उनके कारणरूप वायु को प्राप्त हो जाता है जो कि अमृत अर्थात् नाश रहित है। 'भस्मान्त७ृ शरीरम्' और शरीर अन्त में भस्म हो जाता है ॥४०।१५॥ ●

दीर्घतमाः। **आत्मा**=स्पष्टम्। निचृत्त्रिष्टुप्छन्दः। धैवतः॥

ईश्वरः काननुगृह्णातीत्याह ॥

ईश्वर किन मनुष्यों पर कृपा करता है, यह उपदेश किया है॥

अग्ने नय॑ सुपथा॑ राये ऽ अस्मान्विश्वा॑नि देव वयुना॑नि विद्वान्।
युयोध्य॒स्मज्जु॑हुराणमेनो भूयि॑ष्ठां ते नम॑ ऽ उक्तिं विधेम ॥ १६ ॥

पदार्थः— (**अग्ने**) स्वप्रकाशस्वरूप करुणामय जगदीश्वर! (**नय**) गमय (**सुपथा**) धर्म्येण मार्गेण (**राये**) विज्ञानाय, धनाय, वसुसुखाय (**अस्मान्**) जीवान् (**विश्वानि**) अखिलानि (**देव**) दिव्यस्वरूप (**वयुनानि**) प्रशस्यानि प्रज्ञानानि। वयुनमिति प्रशस्यना०॥ निघं० ३।८॥ प्रज्ञानामसु निघं० ३।९॥ (**विद्वान्**) यः सर्वं वेत्ति सः (**युयोधि**) पृथक्कुरु (**अस्मत्**) अस्माकं सकाशात् (**जुहुराणम्**)

कौटिल्यम् (एनः) पापाचरणम् (**भूयिष्ठाम्**) बहुतमाम् (**ते**) तुभ्यम् (**नमउक्तिम्**) सत्कारपुरःसरां प्रशंसाम् (**विधेम**) परिचरेम ॥ १६ ॥

प्रमाणार्थ—(वयुनानि) प्रशस्यानि प्रज्ञानानि ! 'वयुन' यह पद निघण्टु (३ । ८) में प्रशस्य-नामों में पठित है—प्रशस्य=श्रेष्ठ । और 'वयुन' यही पद निघण्टु (३ । ६) में प्रज्ञा-नामों में भी पठित है । अतः यहां 'प्रशस्यानि प्रज्ञानानि' ऐसा अर्थ है ॥

अन्वयः—हे देवाग्ने परमेश्वर ! यतो वयं ते भूयिष्ठां नमउक्ति विधेम तस्माद्विद्वांस्त्वमस्मज्जुहुराणमेनो युयोध्यस्मान् राये सुपथा विश्वानि वयुनानि नय प्रापय ॥ १६ ॥

सपदार्थान्वयः—हे देव दिव्यस्वरूप **अग्ने=परमेश्वर** स्वप्रकाशस्वरूप करुणामय जगदीश्वर ! **यतो वयं ते** तुभ्यं **भूयिष्ठां** बहुतमां **नमउक्तिं** सत्कारपुरःसरां प्रशंसां **विधेम** परिचरेम; **तस्माद्विद्वान्** यः सर्वं वेत्ति सः **त्वमस्मत्** अस्माकं सकाशात् **जुहुराणं** कौटिल्यम् **एनः** पापाचरणं **युयोधि** पृथक्कुरु । **अस्मान्** जीवान् **राये** विज्ञानाय, धनाय, वसुसुखाय **सुपथा** धर्म्येण मार्गेण **विश्वानि** अखिलानि **वयुनानि** प्रशस्यानि प्रज्ञानानि **नय=प्रापय** गमय ॥ ४० । १६ ॥

भाषार्थ—हे (देव) दिव्यस्वरूप (अग्ने) स्वप्रकाशस्वरूप करुणामय जगदीश्वर ! जिससे हम (ते) तेरे लिए (भूयिष्ठाम्) बहुत अधिक (नमः उक्तिम्) सत्कारपूर्वक प्रशंसा (विधेम) करते हैं; इससे (विद्वान्) सर्वज्ञ तू (अस्मत्) हम से (जुहुराणम्) कुटिलता और (एनः) पापाचरण को (युयोधि) दूर कर। (अस्मान्) हम जीवों को (राये) विज्ञान, धन और धन से प्राप्त होने वाले सुख की प्राप्ति के लिए (सुपथा) धर्म-पथ से (विश्वानि) सब (वयुनानि) श्रेष्ठ ज्ञान एवं श्रेष्ठ बुद्धि (नय) प्राप्त करा ॥ ४० । १६ ॥

भावार्थः—ये सत्यभावेन परमेश्वरमुपासते, तदाज्ञां पालयन्ति; सर्वोपरि सत्कर्त्तव्यं परमात्मानं मन्यन्ते; तान् दयालुरीश्वरः पापाचरणमार्गात्पृथक्कृत्य, धर्म्यमार्गे चालयित्वा, विज्ञानं दत्त्वा, धर्मार्थकाममोक्षान् साद्धुं समर्थान् करोति । तस्मात् सर्वम् एकमद्वितीयमीश्वरं विहाय कस्याप्युपासनं कदाचिन्नैव कुर्य्युः ॥ ४० । १६ ॥

भावार्थ—जो सच्ची भावना से परमात्मा की उपासना करते हैं, उसकी आज्ञा का पालन करते हैं तथा सब से अधिक सत्कार करने योग्य परमात्मा को मानते हैं; उनको दयालु ईश्वर पापाचरण के मार्ग से हटाकर; धर्म-मार्ग में चलाकर, उन्हें विज्ञान देकर, धर्म-अर्थ, काम-मोक्ष की सिद्धि के लिए समर्थ बना देता है । इसलिए सब मनुष्य एक अद्वितीय ईश्वर को छोड़ कर किसी की भी उपासना न करें ॥ ४० । १६ ॥

भा० पदार्थः—नम उक्तिम्=सत्यभावेन परमेश्वरोपासनं तदाज्ञापालनञ्च । विद्वान्=दयालुरीश्वरः । एनः=पापाचरणमार्गम् । युयोधि=पृथक्कुरु । सुपथा=धर्म्यमार्गेण । वयुनानि=विज्ञानानि, धर्मार्थकाममोक्षान् । नय=साद्धुं समर्थान् कुरु ॥ ४० । १६ ॥

भाष्यसार—**ईश्वर किन मनुष्यों पर कृपा करता है**—जो मनुष्य दिव्यस्वरूप, स्वप्रकाशस्वरूप, करुणामय जगदीश्वर की बहुत अधिक सत्कारपूर्वक प्रशंसा करते हैं अर्थात् सच्ची भावना से परमेश्वर की उपासना और उसकी आज्ञा का पालन करते हैं, सब से ऊपर सत्कार के योग्य परमात्मा को ही मानते हैं; उन पर विद्वान्, दयालु परमेश्वर बड़ी कृपा करता है । कुटिलता और पापाचरण के मार्ग से पृथक् करता है । धर्मयुक्त मार्ग में चलाकर उन्हें विज्ञान, धन और धन से प्राप्त होने वाले सुख प्रदान करता है । उन्हें श्रेष्ठ प्रज्ञान एवं श्रेष्ठ बुद्धि प्राप्त कराता है । धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की

सिद्धि के लिए उन्हें समर्थ बनाता है। अतः सब मनुष्य एक, अद्वितीय ईश्वर को छोड़कर किसी अन्य की उपासना कभी न करें ॥ ४० । १६ ॥

अन्यत्र व्याख्यात—[क]—"अग्ने नय सुपथा०" (य० ४० । १६) ॥ हे सुख के दाता ! स्वप्रकाशस्वरूप ! सबको जानने हारे परमात्मन् ! आप हमको श्रेष्ठ मार्ग से संपूर्ण प्रज्ञानों को प्राप्त कराइये; और जो हम में कुटिल पापाचरण रूप मार्ग है उससे पृथक् कीजिये। इसीलिए हम लोग नम्रता-पूर्वक आपकी बहुत सी स्तुति करते हैं; कि आप हमको पवित्र करें। (सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास)

[ख]—हे (अग्ने) स्वप्रकाश, ज्ञानस्वरूप, सब जगत् के प्रकाश करने हारे (देव) सकल सुखदाता परमेश्वर ! आप जिससे (विद्वान्) सम्पूर्ण विद्या युक्त हैं; कृपा करके (अस्मान्) हम लोगों को (राये) विज्ञान वा राज्यादि ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए (सुपथा) अच्छे धर्मयुक्त आप्त लोगों के मार्ग से (विश्वानि) संपूर्ण (वयुनानि) प्रज्ञान और उत्तम कर्म (नय) प्राप्त कराइये और (अस्मत्) हमसे (जुहुराणम्) कुटिलतायुक्त (एनः) पापरूप कर्म को (युयोधि) दूर कीजिये। इस कारण हम लोग (ते) आपकी (भूयिष्ठाम्) बहुत प्रकार की स्तुतिरूप (नम उक्तिम्) नम्रतापूर्वक प्रशंसा (विधेम) सदा किया करें और सर्वदा आनन्द में रहें। (संस्कारविधि, ईश्वर स्तुतिप्रार्थनोपासना)

[ग]—हे (अग्ने) स्वप्रकाशस्वरूप, सब दुःखों के दाहक (देव) सब सुखों के दाता परमेश्वर ! (विद्वान्) आप (राये) योग—विज्ञान रूप धन की प्राप्ति के लिए (सुपथा) वेदोक्त धर्म-मार्ग से (अस्मान्) हमको (विश्वानि) संपूर्ण (वयुनानि) प्रज्ञान और उत्तम कर्मों को (नय) कृपा से प्राप्त कीजिये; और (अस्मत्) हमसे (जुहुराणम्) कुटिल पक्षपात सहित (एनः) अपराध पापकर्म को (युयोधि) दूर रखिये और इस अधर्माचरण से हमको सदा दूर रखिए, इसीलिए (ते) आप ही की (भूयिष्ठाम्) बहुत प्रकार (नम उक्तिम्) नमस्कारपूर्वक प्रशंसा को नित्य (विधेम) किया करें। (संस्कारविधि, संन्यासाश्रम-प्रकरण) ॥ ४० । १६ ॥

समीक्षा

१. श्री शंकराचार्य जी ने यहाँ 'सुपथा' पद की बड़ी अद्भुत व्याख्या की है। वे लिखते हैं— "सुपथेति विशेषणं दक्षिणमार्गनिवृत्त्यर्थम्। निर्विण्णो ऽहं दक्षिणेन मार्गेण गतागतलक्षणेनातो याचे त्वां पुनः पुनर्गमनागमनवर्जितेन शोभनेन पथा नय।" **अर्थ**—'सुपथा' यह विशेषण दक्षिण मार्ग की निवृत्ति के लिए हैं। मैं गमन-आगमन रूप दक्षिण मार्ग से विरक्त हो चुका हूँ इसलिए आपसे याचना करता हूँ कि पुनः पुनः गमन-आगमन से रहित उत्तम पथ से मुझे ले चल। (ईशावास्योपनिषद् पृ० ४५)

समीक्षा—श्री शंकराचार्य जी ने यहाँ वेद के 'सुपथा' पद को अदक्षिणमार्ग का विशेषण माना है। विशेषण के साथ विशेष्य पद का होना अत्यन्त आवश्यक है। वाक्य में विशेष्य पद अवश्य होता है, विशेषण कुछ कम भी हो सकते हैं। ऐसा कभी नहीं होता कि विशेषण पद तो विद्यमान हो और विशेष्य पद का नाम भी न हो। श्री शंकराचार्य जी जिसे विशेष्य बतला रहे हैं वह 'अदक्षिणमार्ग' पद वेद-मन्त्र में है ही नहीं; अतः 'सुपथा' पद को विशेषण लिखना बड़ी भारी भूल है। गमनागमन रूप दक्षिण मार्ग भी कल्पित है। उक्त भूल का मूल अदक्षिणमार्ग की कल्पना ही है।

२. यहाँ श्री ब्र० जगदीशचन्द्र जी विद्यार्थी 'राये' पद की सिद्धि में लिखते हैं—'राये' शब्द राध संसिद्धौ धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है समृद्धि। वैदिक निघण्टु २ । १० में इसे ब्रह्म और धन का वाचक माना गया है। धन अनेक प्रकार का है। यहाँ इस शब्द का प्रयोग सांसारिक ऐश्वर्य और परब्रह्म परमात्मा के लिए हुआ है। (ईशोपनिषद् पृ० १५२)

समीक्षा—यहाँ श्री विद्यार्थी जी ने जो 'राये' पद को 'राध संसिद्धौ' धातु से सिद्ध माना है, वह अशुद्ध है। 'रायः' पद 'रा दाने' धातु से सिद्ध होता है 'राध संसिद्धौ' धातु से नहीं। 'राध संसिद्धौ' धातु से तो धन का पर्यायवाची 'राध' शब्द सिद्ध होता है। श्री पं० हरिशरण जी सिद्धान्तालंकार ने 'राये' पद की सिद्धि 'रा दाने' धातु से की है; जो ठीक है। वे लिखते हैं—"'राये' धन के लिए, उस धन के लिए (रा दाने) जो कि वस्तुतः दान देने के लिए हैं" (ईशोपनिषद् पृ० २४)

श्री विद्यार्थी जी ने जो संसिद्धि पद का अर्थ समृद्धि किया है वह भी अशुद्ध है। संसिद्धि का अर्थ कार्य की सफलता है और समृद्धि का अर्थ ऐश्वर्य है। संसिद्धि और समृद्धि पद पर्यायवाची नहीं हैं।

श्री विद्यार्थी जी ने वैदिक निघण्टु (२। १०) के प्रमाण से 'राये' पद का जो धन अर्थ किया वह तो ठीक है किन्तु ब्रह्म अर्थ किया है; वह अशुद्ध है। वैदिक निघण्टु (२। १०) में २८ नाम धन के पढ़े हैं। उनमें एक नाम 'ब्रह्म' भी है। वहां 'ब्रह्म' नाम धन का है। श्री विद्यार्थी जी ने वहां 'ब्रह्म' नाम को देखकर 'रायः' पद को धन का और ब्रह्म का भी पर्यायवाची मान लिया। यह कोई प्रकार नहीं। इसे शास्त्र सम्बन्धी महान् अज्ञान ही कहा जायेगा। यदि इसी प्रकार से अर्थ करना है तो उन २८ धन-नामों में 'भोजनम्' पद भी पढ़ा हुआ है। तो 'राये' पद प्रसिद्ध भोजन पद का भी पर्यायवाची हो जाएगा। विद्वानों को उचित है कि इस प्रकार के भ्रष्ट मन्त्रार्थ का सर्वथा बहिष्कार करें और सत्य वेदार्थ को ही प्रकाशित करें ॥ ४०। १६ ॥

दीर्घतमाः। **आत्मा**=स्पष्टम्। अनुष्टुप्। गान्धारः ॥

अथान्ते मनुष्यानीश्वर उपदिशति ॥

अब अन्त में मनुष्यों को ईश्वर उपदेश करता है ॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म ॥ १७ ॥

पदार्थः—(**हिरण्मयेन**) ज्योतिर्मयेन (**पात्रेण**) रक्षकेण (**सत्यस्य**) अविनाशिनः यथार्थस्य कारणस्य (**अपिहितम्**) आच्छादितम् (**मुखम्**) मुखवदुत्तमाङ्गम् (**यः**) (**असौ**) (**आदित्ये**) प्राणे सूर्यमण्डले वा (**पुरुषः**) पूर्णः परमात्मा (**सः**) (**असौ**) (**अहम्**) (**ओ३म्**) योऽवति सकलं जगत्तदाख्या (**खम्**) आकाशवद्व्यापकम् (**ब्रह्म**) सर्वेभ्यो गुणकर्मस्वरूपतो बृहत् ॥१७॥

अन्वयः—हे मनुष्या येन हिरण्मयेन पात्रेण मया सत्यस्यापिहितं मुखं विकाश्यते, योऽसावादित्ये पुरुषोऽस्ति सोऽसावहं खम्ब्रह्मास्म्यो३मिति विजानीत ॥ १७ ॥

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः! **येन हिरण्मयेन** ज्योतिर्मयेन **पात्रेण** रक्षकेण **मया—सत्यस्य** अविनाशिनः यथार्थस्य कारणस्य **अपिहितम्** आच्छादितं मुखं मुखवदुत्तमाङ्गं **विकाश्यते; योऽसावादित्ये** प्राणे सूर्यमण्डले वा **पुरुषः** पूर्णः परमात्मा **अस्ति, सोऽसावहं खम्** आकाशवद्व्यापकं **ब्रह्म** सर्वेभ्यो गुणकर्मस्वरूपतो बृहत् **अस्म्योऽम्** योऽवति सकलं जगत्तदाख्या **इति विजानीत** ॥ ४०। १७ ॥

भाषार्थ—हे मनुष्यो! जिस (हिरण्यमयेन) ज्योति से परिपूर्ण (पात्रेण) सब के रक्षक मेरे द्वारा (सत्यस्य) कभी नष्ट न होने वाले सत्रूप कारण [प्रकृति] का (अपिहितम्) ढके हुए (मुखम्) मुख के समान उत्तम अङ्ग का विकास किया जाता है; (यः) जो (असौ) वह (आदित्ये) प्राण वा सूर्य-मण्डल में (पुरुषः) पूर्ण परमात्मा है (सः) वह (असौ) परोक्ष (अहम्) मैं—(खम्) आकाश के समान व्यापक, (ब्रह्म) गुण कर्म स्वभाव की दृष्टि

से सबसे बड़ा हूँ, (ओ३म्) मैं सब जगत् का रक्षक 'ओ३म्' हूँ; ऐसा जानो ॥ ४० । १७ ॥

भावार्थः—सर्वान् मनुष्यान् प्रतीश्वर उपदिशति—हे मनुष्याः ! योऽहमत्राऽस्मि, स एवाऽन्यत्र सूर्यादौ, योऽन्यत्र सूर्यादावस्मि स एवात्रास्मि; सर्वत्र परिपूर्णः, खवद् व्यापको, न मत्तः किञ्चिदन्यद् बृहद्०, अहमेव सर्वेभ्यो महानस्मि;

मदीयं सुलक्षणपुत्रवत्प्राणप्रियं निजस्य मम ओ३मिति वर्त्तते।

यो मम प्रेमसत्याचरणभावाभ्यां शरणं गच्छति; तस्याऽन्तर्यामिरूपेणाऽहमविद्यां विनाश्य, तदात्मानं प्रकाश्य, शुभगुणकर्मस्वभावं कृत्वा, सत्यस्वरूपाऽऽचरणं स्थापयित्वा, शुद्धं योगजं विज्ञानं दत्त्वा, सर्वेभ्यो दुःखेभ्यः पृथक्कृत्य मोक्षसुखं प्रापयामीत्योउ३म् ॥ ४० । १७ ॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को ईश्वर उपदेश करता है। हे मनुष्यो ! जो मैं यहाँ हूँ, वही अन्यत्र सूर्य आदि में हूँ; और जो अन्यत्र सूर्यादि में हूँ, वही यहाँ हूँ। मैं सर्वत्र परिपूर्ण, आकाश के समान व्यापक हूँ; मुझ से कोई भी दूसरा बड़ा नहीं है, मैं ही सब से महान्=बड़ा हूँ;

सुलक्षण पुत्र के तुल्य प्राणों से प्रिय मेरा अपना नाम 'ओ३म्' है।

जो मेरी प्रीति और सत्याचरण के भावों से शरण=भक्ति को प्राप्त करता है, तो मैं उसकी अन्तर्यामी रूप से अविद्या को विनष्ट करके, उसकी आत्मा को प्रकाशित कर, उसके शुभ, गुण, कर्म-स्वभाव बनाकर, सत्य के स्वरूप का आचरण स्थापित कर, योग से उत्पन्न हुए शुद्ध विज्ञान को देकर, सब दुःखों से छुड़ा कर, मोक्ष-सुख को प्रदान करता हूँ। यजुर्वेद-भाष्य की समाप्ति पर अन्त में 'ओ३म्' नाम का स्मरण किया है ॥ ४० । १७ ॥

भा० पदार्थः—आदित्ये=सूर्यादौ। पुरुषः=अहमीश्वरः। खम्=सर्वत्र परिपूर्णः सर्वव्यापकः। ब्रह्म=सर्वेभ्यो महान्। ओ३म्=सुलक्षणपुत्रवत्प्राणप्रियं नाम। सत्यस्य=सत्यस्वरूपस्य ॥

भाष्यसार—**अन्त में मनुष्यों को ईश्वर का उपदेश**—मैं ज्योतिर्मय, रक्षक ईश्वर—सत्य अर्थात् अविनाशी, यथार्थ, कारण (प्रकृति) के आच्छादित मुख को खोलता हूँ। जो मैं यहाँ हूँ, सो ही सूर्यादि में हूँ। और जो अन्यत्र सूर्यादि में हूँ, सो ही यहाँ हूँ। मैं सर्वत्र परिपूर्ण, आकाश के तुल्य व्यापक हूँ। मुझ से कोई और बड़ा नहीं है। मैं ही गुण, कर्म, स्वभाव से सब से बड़ा हूँ। जैसे उत्तम लक्षणों से युक्त पुत्र प्राणों के तुल्य प्रिय होता है वैसे सब से प्यारा निज नाम 'ओ३म्' है। प्रेमभाव और सत्याचरण से जो मेरी शरण में आता है मैं अन्तर्यामी रूप से उसकी अविद्या का विनाश करता हूँ। उसकी आत्मा को प्रकाशित करता हूँ। उसके शुभ गुण, कर्म, स्वभाव बनाता हूँ। उसमें सत्यस्वरूप आचरण को स्थापित करता हूँ। शुद्ध योगज विज्ञान का दान करता हूँ। सब दुःखों से पृथक् करके मोक्ष सुख प्राप्त कराता हूँ। इति ओ३म् ॥ ४० । १७ ॥

अन्यत्र व्याख्यात—[क] "ओं खम्ब्रह्म" ॥ १ ॥ (यजु० ४० । १७) ॥ देखिये वेदों में ऐसे-ऐसे प्रकरणों में ओम् आदि परमेश्वर के नाम हैं। (सत्यार्थप्रकाश, प्रथम समुल्लास)

[ख] 'ओ३म् खं ब्रह्म (यजु० अ० ४०) ॥ ओमिति ब्रह्म। तैत्तिरीयारण्यके। प्र० २ अनु० ८ ॥ ओं और खं ये दोनों ब्रह्म के नाम हैं। (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदविषयविचार) ॥ ४० । १७ ॥

समीक्षा

१. श्री शंकराचार्य जी इस मन्त्र की व्याख्या में लिखते हैं—'हिरण्मयमिव हिरणमयं ज्योतिर्मयमित्येतत्। तेन पात्रेणेव अपिधानभूतेन सत्यस्यैवादित्यमण्डलस्थस्य ब्रह्मणोऽपिहितं आच्छादितम्

मुखं द्वारम्'। **अर्थ**—हिरण्मय अर्थात् ज्योतिर्मय पात्र अर्थात् आच्छादन से सत्य अर्थात् आदित्य मण्डल में स्थित ब्रह्म मुख अर्थात् द्वार आच्छादित है। (ईशोवास्योपनिषद् पृ० ४२)

समीक्षा—श्री शंकराचार्य जी ने यहाँ 'सत्य' पद का अर्थ किया है कि आदित्य मण्डल में स्थित ब्रह्म। आदित्य मण्डल में कोई विशेष ब्रह्म स्थित नहीं है, वह तो सर्वत्र व्यापक है। और यहाँ जो उक्त ब्रह्म का द्वार ज्योतिर्मय आच्छादन से आच्छादित बतलाया है, वह भी अयुक्त है। ब्रह्म में द्वार का कोई सम्भव नहीं। इसी अध्याय के नवम मन्त्र में ब्रह्म को 'अव्रणम्' छिद्र रहित बतलाया गया है। अतः यह उक्त सब अर्थ कल्पना से परिपूर्ण हैं।

२. यहाँ सभी भाष्यकारों ने 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्' इस मन्त्र-भाग का यह अर्थ किया है कि ज्योतिर्मय ढकने से सत्य का मुख ढका हुआ है, किन्तु इसकी कोई प्रामाणिक व्याख्या नहीं की कि वह ज्योतिर्मय ढक्कन क्या वस्तु है, सत्य क्या है, और उसका मुख क्या है। इस अर्थ में यह भी एक दोष है कि यह अर्थ सारे मन्त्रार्थ के साथ संगत नहीं होता। उक्त अर्थ करने वाले भाष्यकारों के पक्ष में मन्त्र का पूरा अर्थ इस प्रकार से होगा—"ज्योतिर्मय ढक्कन से सत्य का मुख ढका हुआ है। जो आदित्य पुरुष है सो वह मैं हूँ। मैं ओ३म् आकाश के समान व्यापक हूँ, और सब से बड़ा हूँ।

इस अर्थ में मन्त्र के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध की परस्पर कोई संगति नहीं। अतः मन्त्रार्थ दोषपूर्ण है।

यहाँ सभी भाष्यकार 'पात्र' पद को देखकर अधिक भ्रान्त हुए हैं। उन्होंने 'पात्र' शब्द का अर्थ ढक्कन समझ लिया, क्योंकि आगे 'अपिहितम्' (आच्छादित) पद पड़ा हुआ है। महर्षि दयानन्द सरस्वती को यह 'पात्र' पद मन्त्रार्थ में भ्रान्त न कर सका। उन्होंने उणादिकोष (४।१५६) के अनुसार 'पात्र' पद का अर्थ रक्षक किया है। महर्षि दयानन्द के मन्त्रार्थ में मन्त्र के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में पूर्ण संगति है। महर्षि के भाष्य के अनुसार मन्त्र का पूर्ण अर्थ इस प्रकार है—"मैं ज्योतिर्मय रक्षक ईश्वर सत्य अर्थात् प्रकृति के आच्छादित अङ्ग को प्रकट करता हूँ। प्राण वा सूर्यमण्डल में जो पुरुष (परमात्मा) है वह मैं ही हूँ, अर्थात् मैं ओ३म् आकाश के तुल्य सर्वत्र व्यापक हूँ। मैं सबसे बड़ा हूँ"।

पाठकों के समक्ष सब भाष्यकारों तथा महर्षि दयानन्द कृत दोनों मन्त्रार्थ विद्यमान हैं। मन्त्र के सत्यार्थ और मिथ्यार्थ का वे स्वयं बुद्धिपूर्वक विचार करके निर्णय कर सकते हैं॥ ४०। १७॥

ब्रह्म-लोक-नभः-पक्षैर्युते वैक्रमवत्सरे । अतिभाद्रपदे मासे पूर्णिमायां च पर्वणि ॥ १ ॥

जयन्ते (जींद) लोकविख्याते पुरे समाजमन्दिरे। वेदभास्करसमाख्या व्याख्येयं पूर्त्तिमागता ॥ २ ॥

हरयाणाप्रान्तीयरोहतकमण्डलान्तर्गतझज्जरगुरुकुलाधिगतविद्येन, गुरुकुलकांगड़ीविश्वविद्यालय-कृतस्नानेन, श्रीमहाशयशिवदत्तार्यरजकांदेवीतनयेन, श्रीभगवान्देवाचार्यपण्डितविश्वप्रियशास्त्रिमहाविदुषां शिष्येण, श्रीपण्डितसुदर्शनदेवाचार्येण विरचिते दयानन्द-यजुर्वेदभाष्य-भास्करे चत्वारिंशोऽध्यायः सम्पूर्णः ॥

प्रभुकृपया समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥ इति ॥

[पूर्वापराध्यायार्थसंगतिमाह—]

अत्रेश्वरगुणवर्णनमधर्मत्यागोपदेशः सर्वदा सत्कर्मानुष्ठानावश्यकत्वमधर्माचरणनिन्दा परमेश्वरस्यातिसूक्ष्मस्वरूपवर्णनं विदुषा ज्ञेयत्वमविदुषामविज्ञेयत्वं सर्वत्रात्मभावेनाहिंसाधर्मपालनं तेन मोहशोकादित्याग ईश्वरस्य जन्मादिदोषराहित्यं वेदविद्योपदेशनं कार्य्यकारणात्मकस्य जडस्योपासननिषेधस्ताभ्यां कार्य्यकारणाभ्यां मृत्युं निवार्य्य मोक्षसिद्धि-

इस अध्याय में ईश्वर के गुणों का वर्णन (१), अधर्म त्याग का उपदेश (१), सदा शुभ कर्म के अनुष्ठान की आवश्यकता (२), अधर्माचरण की निन्दा (३), परमेश्वर के अतिसूक्ष्म स्वरूप का वर्णन (४), ईश्वर का विद्वान् के द्वारा ज्ञेयत्व और अविद्वानों के लिए अज्ञेयत्व (५), सर्वत्र आत्मभाव से अहिंसा धर्म का पालन और उससे मोह, शोकादि

करणं जडवस्तुन उपासननिषेधश्चेतनोपासनविधिस्तदुभयस्वरूपविज्ञानाऽऽवश्यकत्वं शरीरस्वभाववर्णनं समाधिना परमेश्वरमात्मनि निधाय शरीरत्यागकरणं शरीरदाहादूर्ध्वमन्यक्रियानुष्ठाननिषेधोऽधर्मत्यागाय धर्मवर्द्धनाय परमेश्वरप्रार्थनमीश्वरस्वरूपवर्णनं सर्वेभ्यो नामभ्यः ओ३मित्यस्य प्राधान्यप्रतिपादनं च कृतमत एतदर्थस्य पूर्वाऽध्यायोक्तार्थेन सह सङ्गतिरस्तीति वेद्यम् ।। इति ओ३म् ।।

का त्याग (६, ७), ईश्वर का जन्मादि दोषों से रहितत्व (८), वेद-विद्या का उपदेश (८), कार्य-कारण आत्मक जड़ की उपासना का निषेध (६), उन कार्य और कारण से मृत्यु का निवारण करके मोक्ष की सिद्धि करना (११), जड़ वस्तु की उपासना का निषेध (१२), चेतन की उपासना का विधान (१२), जड़-चेतन दोनों के स्वरूप के विज्ञान की आवश्यकता (१४), शरीर के स्वभाव का वर्णन (१५), परमेश्वर को आत्मा में स्थापित करके शरीर का त्याग करना (१५), शरीर के दाह कर्म के उपरान्त अन्य क्रिया के अनुष्ठान का निषेध (१५), अधर्म के त्याग और धर्म की वृद्धि के लिए परमेश्वर से प्रार्थना (१६), ईश्वर के स्वरूप का वर्णन (१७), और सब नामों से ईश्वर के 'ओ३म्' इस नाम की प्रधानता का प्रतिपादन (१७) किया है; अतः इस अध्याय के अर्थ की पूर्व अध्याय में प्रतिपादित अर्थ के साथ संगति है; ऐसा समझें।

इति श्रीयुतपण्डितसुदर्शनदेवाचार्यविरचिते दयानन्द-यजुर्वेदभाष्य-भास्करे चत्वारिंशोऽध्यायः सम्पूर्णः ।।

विद्या-वंशावली

श्री पूर्णानन्द सरस्वती
|
श्री विरजानन्द सरस्वती
|
श्री दयानन्द सरस्वती — श्री पण्डित उदयभान प्रकाश
|
श्री पण्डित गङ्गाराम
|
श्री राजेन्द्रनाथ शास्त्री
|
श्री भगवान्देव आचार्य — श्री विश्वप्रिय शास्त्री
|
श्री सुदर्शनदेव आचार्य

हे गुरुवर ! तेरे चरणों में मेरा है शत शत प्रणाम ।
ज्ञान अंजन की शलाका से खोल दिया है नेत्र महान् ।। —**सुदर्शनदेव**

अ० भाद्रपद पूर्णिमा २०३१ वि०

* * *